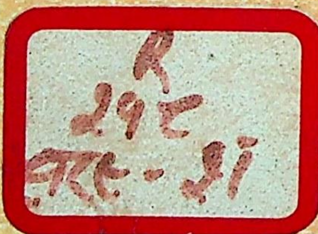
।। ओ३म् ।।

शुक्ल यजुर्वेदीय

शतपथ ब्राह्मण

माध्यन्दिनी शाखा



सम्पादक
स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती

।।ओ३म्।।

शुक्ल यजुर्वेदीय

शतपथ ब्राह्मण

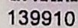
माध्यन्दिनी शाखा

सम्पादक
स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती

शतपथ ब्राह्मण

(तीन खण्डों में, तथा अंग्रेजी में आलोचनात्मक समीक्षा)

वेदार्थ और कर्मकाण्ड का अत्यन्त प्रसिद्ध, अति प्राचीन ग्रन्थ, महर्षि याज्ञवल्क्य और शाण्डिल्य मुनि की कृति, मूल ग्रन्थ में 14 काण्ड हैं, 100 अध्याय और 7625 कण्डिकायें हैं। शतपथ ब्राह्मण की दो शाखायें प्रसिद्ध हैं– माध्यन्दिनीय शाखा और काण्व शाखा, प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद माध्यन्दिनीय शाखा का है। शतपथ ब्राह्मण का अन्तिम काण्ड बृहदारण्यक उपनिषद् के नाम से विख्यात है, जो अध्यात्म की सर्वश्रेष्ठ रचना है। डॉ० अलबेर्त वेबेर ने बड़े परिश्रम से माध्यन्दिनी शाखा के शतपथ ब्राह्मण का स्वर–संयुक्त संस्करण बर्लिन से प्रकाशित किया था (1849) उसे ही हिन्दी अनुवाद के साथ दिया जा रहा है, स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती ने शतपथ ब्राह्मण का सांस्कृतिक अध्ययन विस्तार पूर्वक किया, यह भी पृथक ग्रन्थ के रूप में अंग्रेजी में प्रकाशित किया जा रहा है।


139910

शतपथब्राह्मण

प्रथम भाग

ओ३म्

श्री शुक्लयजुर्वेदीय

शतपथब्राह्मण



माध्यन्दिनी शाखा
मूल संस्करण
डॉ० अल्बेर्त वेबेर

हिन्दी अनुवाद
पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय
(रत्नदीपिका भाष्य)

प्रथम भाग





विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द

ISBN : 81-7077- 016-5 (Set)
ISBN : 81-7077 - 017 - 3 (Volume I)

प्रकाशक : **विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द**
4408, नई सड़क, दिल्ली – 110006(भारत)
दूरभाष : 31023714, 23977216
E - Mail : ajayarya@vsnl.com
Web : www.vedicbooks.com
संस्करण : 2003
मूल्य : 1000-00 रुपये (तीनों भाग)
मुद्रक : स्पीडो ग्राफिक्स, दिल्ली - 51

भूमिका

वैदिक ऋचाओं के आविर्भाव के सहस्रों वर्षों के अनन्तर, ईश्वर, ईश्वरीय सृष्टि, ईश्वरीय ज्ञान और ईश्वरीय व्यवस्था को समझने के लिए आर्यावर्त्त देश के आर्यमनीषियों ने वैदिक वाङ्मय का सृजन आरम्भ किया। यह वाङ्मय आज भी हमारी परम्परा की अमूल्य धरोहर है। सम्भवतया वैदिक वाङ्मय की ऐतिहासिक परम्परा में वेदांगों की रचना सबसे प्राचीन हो। मनुष्य ने परम्परा से ऋचाओं का उच्चारण सीखा हो, और बाद में उसे इस बात का पता चला हो कि वाक् और श्रोत्र के माध्यम से जिस ज्ञान का आदान-प्रदान हो रहा है, वह कुछ मूल ध्वनियों की संहति है जो हमारे वाक्यन्त्र से स्थान-स्थान से, और विशेष प्रयत्नों से प्रसूत होती हैं। यह पहला **वेदांग** रहा होगा, जिसका अत्यन्त प्राञ्जल रूप हमें पाणिनि की वेदांग "शिक्षा" में उपलब्ध है। महर्षि पाणिनि की यह रचना अपने विषय की न तो प्रथम रचना है, और न अन्तिम। संसार में आज अनेक वर्णमालाएँ हैं, जिनमें स्वरों और व्यञ्जनों के अनेकानेक भेदोपभेद हैं; आज के "शिक्षा-शास्त्री" इनकी ध्वनियों का भी बड़ी सूक्ष्मता से अध्ययन कर रहे हैं। 'शिक्षा' के बाद दूसरे वेदांग का नाम **व्याकरण** होना चाहिए, और फिर **छन्द**, क्योंकि ऋचाएँ छन्दोबद्ध थीं। पाणिनि की जो व्याकरण मिलती है वह लौकिक संस्कृत के भी काम की है, और वैदिक के भी काम की, और यही स्थिति पिंगल के छन्दशास्त्र की भी है। संसार के विभिन्न वाङ्मयों में व्याकरण और छन्द की विविधता प्रत्येक युग के साथ परिवर्तित और विकसित होती रहेगी। ज्योतिष और कल्प वेदांग भी इसी प्रकार विकासशील हैं। केवल एक वेदांग ऐसा है, जो केवल वेद (चार संहिताओं) के लिए है—वह है यास्क का निघण्टु, और उस ग्रन्थ पर उनकी लिखी टीका निरुक्त। शब्दार्थ समझने में नैरुक्तिक पद्धति के उपयोग का एकमात्र अधिकार हमें ऋग्वेद, और अनुवर्ती वैदिक संहिताओं के क्षेत्र में है, जिनके शब्द आख्यातज, यौगिक और योगरूढ़ि हैं। प्रत्येक तत्त्वज्ञान, दर्शन या विज्ञान की शब्दावली अपने-अपने अर्थों और अभिप्रायों में रूढ़ि हो जाती है।

महर्षि दयानन्द के अनुसार आर्यावर्त्त में ब्रह्मा से जैमिनि-पर्यन्त जितना भी साहित्य रचा गया, उसका केन्द्रबिन्दु **वेद** था। इस वेद को समझने-समझाने के लिए उपांग बने (छह दर्शन-शास्त्र)। चार कोटि के उपवेदों का विकास हुआ, जिनकी कथावस्तु आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद और अर्थवेद कहलाई, और वेद के अभिप्राय से ही प्रातिशाख्यों की रचना हुई। हमारे ब्राह्मण-ग्रन्थ, गृह्यसूत्र, श्रौतसूत्र, आरण्यक और उपनिषदें भी इसी वेद के विस्तार से सम्बन्ध रखती हैं। मनुष्य अपने भीतर एक विशेष मानसतन्त्र लेकर अवतरित हुआ था (अन्य पशुओं के मानस-तन्त्र से, जिसमें उभयेन्द्रियों का तन्त्र भी सम्मिलित है, मनुष्य का मानस-तन्त्र सर्वथा भिन्न रहा है)। जन्मजात कौतूहल, फिर कौतूहल से प्रेरित प्रश्न, और अन्त में प्रश्नों के समाधान का प्रयास, ये तीन क्षमताएँ उसमें सदा रहीं। कौतूहल, प्रश्न (जिज्ञासा) और समाधान—इन तीनों प्रक्रियाओं में उसने तीन विद्याओं को अपनाया—(क) स्वगत, (ख) समष्टिगत, और (ग) परम्परागत। (१) अकेले में विचार, (२) वादों-प्रवचनों और गोष्ठियों में मिलजुलकर विचार, और (३) अन्त

में, यह आगे की पीढ़ियों को सौंपकर। कौतूहल, जिज्ञासा और समाधान की यह प्रक्रिया अतीत-काल में आरम्भ हुई थी, और जबतक पृथिवी पर मनुष्य जीवित है, यह बनी रहेगी।

इस त्रिविध पद्धति के फलस्वरूप मनुष्यों को प्रारम्भ में जो पुरुषार्थ-प्रेरक प्रेरणायें मिलीं उनसे मानव-समाज का विकास हुआ और शनैः-शनैः उस समाज में उदात्तगुणों का प्रस्फुटन हुआ। बाद में इसी त्रिविधता ने समाज में वैभव के साथ-साथ विलास, दुर्गुण, प्रमाद, आलस्य, द्वेष, सत्तारूढ़िता, वैमनस्य आदि उत्पन्न किये। कर्म के स्थान पर कर्मकाण्ड आसीन हो गया, और समाज शिथिल हो गया। हमारे समस्त ब्राह्मणग्रन्थ इसी युग की कृतियाँ हैं। वेद कर्म का प्रेरक रहा, ब्राह्मण-ग्रन्थ कर्मकाण्ड के प्रेरक हो गए। किन्तु इस ब्राह्मण-वाङ्मय में समाज का वह समस्त इतिहास भी छिपा हुआ है, जो कर्मकाण्ड से पूर्व समाज को प्राप्त हो गया था। दोनों युगों के इस अन्तर को नहीं भूलना चाहिए—(१) वैदिक युग—कर्म और पुरुषार्थ का प्रेरक (उदात्तयुग) (२) ब्राह्मण-युग—कर्मकाण्ड का प्रेरक—समाज के शैथिल्य का युग।

ऐसा लगता है कि चारों वेदों ने (कृष्ण और शुक्ल यजुर्वेदों को अलग मानें, तो पाँचों वेदों ने) हमारे समाज को पाँच भागों में बाँट दिया। ऋग्वेद के अभिप्राय से, अर्थात् ऋग्वेद की ऋचाओं को लेकर जो कर्मकाण्ड किया जाने लगा, उसकी झाँकी ऐतरेय ब्राह्मण में मिलेगी। यजुर्वेद परम्परावालों का ब्राह्मणग्रन्थ शतपथब्राह्मण कहलाया, कृष्णयजुर्वेद (तैत्तिरीय संहिता) वालों का तैत्तिरीय ब्राह्मण, सामवेदवालों का साम ब्राह्मण (ताण्ड्य ब्राह्मण) और अथर्ववेद से सम्बन्ध रखनेवाला गोपथ ब्राह्मण।

सायणाचार्य वैदिक वाङ्मय का सबसे बड़ा सम्पादक और भाष्यकार हुआ है। इसने शुक्लयजुर्वेद पर तो भाष्य नहीं किया, किन्तु शतपथब्राह्मण (माध्यन्दिनीय) पर इसका भाष्य उपलब्ध है। डॉ० अल्बेर्त वेबेर (Albert Weber) ने जो शतपथब्राह्मण बड़े परिश्रम से सम्पादित करके बर्लिन (जर्मनी) से मार्च १८४९ ई० में छापा था, उसमें उसने सायणाचार्य के अतिरिक्त हरि स्वामी और द्विवेद गङ्ग के भाष्यों से भी कुछ अंश दिये थे। वाराणसी के प्रसिद्ध संस्कृत-साहित्य-प्रकाशक और विक्रेता "चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस" ने १९६४ में वेबेर के शतपथ ब्राह्मण का पुनर्मुद्रण किया।

माध्यन्दिन शाखा के शतपथ ब्राह्मण के सम्पादन के लिए वेबेर को चेम्बर्स संग्रह (Chambers Collection) से माध्यन्दिन शाखा के शतपथ ब्राह्मण की हस्तलिखित प्रति मिली जो बर्लिन की रॉयल लाइब्रेरी में सुरक्षित थी। प्रशिया के राजा ने यह प्रति इस पुस्तकालय को भेंट की थी। वेबेर ने अपने शतपथ ब्राह्मण का संस्करण हिज़ एक्सेलेन्सी शेवेलिए डॉ० सी० सी०-जे० बुन्सन (The Chevalier Dr. C. C. J. Bunsen) को समर्पित किया है, जो स्वयं अपने पाण्डित्य और नीति-कुशलता के लिए विख्यात था। डॉ० बुन्सन की कृपा से ही वेबेर को यह पाण्डुलिपि सम्पादन के लिए मिल पायी थी। कई अन्य खण्डित प्रतिलिपियाँ भी चैम्बर्स संग्रह में विद्यमान हैं, जिनसे डॉ० वेबेर ने सहायता ली। इन प्रतियों के अतिरिक्त एक और प्रति वेबेर को सहायक हुई—रेवरेण्ड डॉ० मिल (Rev. Dr. Mill) की, जो ऑक्सफोर्ड की बॉडलिअन (Bodleian) पुस्तकालय में है। इस पाण्डुलिपि के काण्ड १-५, और काण्ड ७-१३ सम्वत् १७०५-७ में श्री वृद्ध नगर के लिखे हुए हैं (पुरुषोत्तम के पुत्र दामोदर द्वारा)। इसपर ४० वर्ष के बाद किसी व्यक्ति विद्याधर ने स्वरचिह्न लगाए थे।

माध्यन्दिन शाखा के शतपथब्राह्मण में १४ काण्ड हैं, जिनका विवरण हम तालिका में देते हैं—

माध्यन्दिन शतपथ

काण्ड	काण्ड का नाम	प्रारम्भ के शब्द	अध्याय	प्रपाठक	ब्राह्मण	कण्डिका
१	हविर्यज्ञम्	व्रतमुपैष्य०	९	७	३७	८३७
२	एकपादिका	स यद्वा ऽ इत०	६	५	२४	५४९
३	अध्वरम्	देवयजनं०	९	७	३७	८५९
४	ग्रहनाम	प्राणो ह वा०	६	५	३९	६४८
५	सवम्	देवाश्च वा०	५	४	२५	४७१
६	उषासम्भरणम्	असद् वा ऽ इदम०	८	५	२७	५३०
७	हस्तिघट्	गार्हपत्यं चेष्यन्	५	४	१२	३९८
८	चितिः	प्राणभृत उपदधात्ति	७	४	२७	४३७
९	संचितिः	अथातः शतरुद्रियम्	५	४	१५	४०२
१०	अग्निरहस्यम्	अग्निरेष०	६	४	३१	३६९
११	अष्टाध्यायी	संवत्सरो वै यज्ञः	८	४	४२	४३७
१२	मध्यमम् (सौत्रामणी)	अयं वै यज्ञो०	९	४	२९	४५९
१३	अश्वमेधम्	ब्रह्मौदनं पचति	८	४	४३	४३२
१४	बृहदारण्यकम्	देवा ह वै०	९	७	५०	७९६
		योग	१००	६८	४३८	७६२४

इसी ब्राह्मण की एक काण्वशाखा का भी उलेख है, जिसमें १७ काण्ड हैं। इनके विवरण की तालिका इस प्रकार है—

काण्व शाखा

काण्ड	काण्ड का नाम	प्रारम्भ के शब्द	अध्याय	ब्राह्मण	कण्डिका
१	एकपात् काण्डम्	स वै सम्भारा०	६	२२	३७६
२	हविर्यज्ञ काण्डम्	सं वै व्रतमुपै०	८	३२	५३२
३	उद्धारि काण्डम्	—	२	२२	१२४
४	अध्वरम्	तद् वै देवयजन०	९	३६	६४९
५	ग्रहनाम	प्राणो ह वा०	८	३८	९७४
६	वाजपेय काण्डम्	देवाश्च ह	२	७	७००
७	राजसूय काण्डम्	स वै पूर्णाहुतिं	५	१९	२८९
८	उषासम्भरणम्	असद् वा ऽ इद०	८	२७	५११
९	हस्तिघट काण्डम्	अथातो नैर्ऋती०	५	१६	२५७
१०	चिति	प्राणभृत उप०	५	२०	२४३
११	साग्निचिति	नाकसद् उप०	७	२०	४३७
१२	अग्रिरहस्यम्	अग्निरेष०	६	२८	२८६
१३	अष्टाध्यायी	—	८	३१	२४१
१४	मध्यमम्	अयं वै यज्ञो	९	२८	३६२
१५	अश्वमेध काण्डम्	ब्रह्मौदनं०	८	४४	३०८
१६	प्रवर्ग्य काण्डम्	अथास्मै श्मशा०	२	८	१९२
१७	बृहदारण्यकम्	उषा वा ऽ अश्व०	६	४७	२९५
		योग	१०४	४४५	६७७६

शतपथ ब्राह्मण और स्वरचिह्न

वेद-संहिताओं में स्वरचिह्न लगाने की परिपाटी अतीत काल से चली आ रही है। वैदिक स्वर साधारणतया उदात्त, अनुदात्त और स्वरित कहलाते हैं, जिनका विवरण महर्षि दयानन्द ने सौवर प्रकरण में दिया है।

हमारी समस्त वर्णमाला दो वर्गों में विभक्त हैं—स्वर और व्यञ्जन। इस प्रकरण से **स्वयं राजन्त इति स्वराः**—अर्थात् जिनके प्रकाशमान होने में किसी की सहायता की अपेक्षा न हो वह स्वर है। ये स्वर स्वयं प्रकाशमान हैं, अर्थात् बोले जा सकते हैं, सुने जा सकते हैं। अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ऐ, ओ और औ (और इनमें से प्रथम पाँच के दीर्घ आ, ई, ऊ, ॠ, ॡ)—ये स्वर हैं। अष्टाध्यायी के प्रारम्भ के माहेश्वर सूत्रों में वैदिक वाङ्मय की समस्त वर्णमाला (स्वर और व्यंजन) परिगणित की गई है।

वर्णमाला के स्वरों से अलग दो वर्गों के १४ स्वरों का और उल्लेख किया जाता है—

प्रथम वर्ग—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित-भेद से सात स्वर—(१) उदात्त, (२) उदात्ततर, (३) अनुदात्त, (४) अनुदात्ततर, (५) स्वरित, (६) स्वरिते यः उदात्तः (स्वरित में जो उदात्त हो) और (७) एकश्रुति।

द्वितीय वर्ग—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद (सरेगमपधनि)

यः सामगानां प्रथमः स वेणोर्मध्यमः स्वरः।
यो द्वितीय सः गान्धारस्तृतीयस्त्वृषभः स्मृतः॥
चतुर्थ षड्ज इत्याहुः पञ्चमो धैवतो भवेत्।
षष्ठ निषादो विज्ञेयः सप्तमः पञ्चमः स्मृतः॥

अर्थात् वीणा के स्वरों में, और सामगान में निम्न सम्बन्ध है—

सामगान	**वीणा**
प्रथम	मध्यम (म)
द्वितीय	गान्धार (ग)
तृतीय	ऋषभ (रे)
चतुर्थ	षड्ज (स)
पञ्चम	धैवत (ध)
षष्ठ	निषाद (नि)
सप्तम	पञ्चम (प)

एक और भेद से स्वर तीन भागों में विभाजित हैं—मन्द (bass), मध्य (medium), और तार (high)। इसी प्रकार त्रिधा गानविद्या में द्रुत (fast), मध्यम (medium) और विलम्बित (slow) पाठ या उच्चारण होता है। ऋषि दयानन्द का कहना है कि ऋग्वेद के स्वरों का उच्चारण द्रुत अर्थात् शीघ्रवृत्ति में होता है, यजुर्वेद के स्वरों का उच्चारण मध्यमवृत्ति में और सामवेद के स्वरों का उच्चारण विलम्बित में। तीनों का उच्चारण-काल १:२:३ अनुपात में है (ऋग् की द्रुतगति से दुगुना समय यजुर्वेद के पाठ में, और तिगुना समय सामवेद के पाठ में)।

शतपथ ब्राह्मण के वाक्य गद्य श्रेणी के हैं। इनमें स्वरों का लगाना कोई आवश्यक बात नहीं है। डॉ० वेबेर को बॉडलिअन लाइब्रेरी से जो पाण्डुलिपि मिली, उसका मूल लिपिकार

दामोदर था (१७०५ वि०)। इसी लिपि पर ४० वर्ष बाद विद्याधर नामक दूसरे व्यक्ति ने स्वर-चिह्न लगाये थे (१७४८ वि० के लगभग)।

शतपथ ब्राह्मण के स्वरचिह्नों के सम्बन्ध में डॉ० वेबेर का कथन है—शतपथ ब्राह्मण की पुरानी पाण्डुलिपियों में एक ही स्वरचिह्न मिलता है—पंक्ति के नीचे 'पड़ी' (horizontal) रेखा (—)। शतपथ में इस रेखा द्वारा उदात्त और स्वरित दोनों स्वरों को व्यक्त किया जाता है (ऋग्वेद और यजुर्वेद में पंक्ति के नीचे की यह 'पड़ी' रेखा **अनुदात्त** का सूचक होती है)। उदात्त का सूचक जब यह रेखा (—) होती है, तो इसे तत्सम्बन्धी वर्णस्वर के नीचे ही लगाया जाता है, पर जब यह स्वरित होती है, तो इसे पहले के (बगलवाले) वर्णस्वर के नीचे लगाते हैं।

उदात्त का उदाहरण—**नृषदम्** (ष उदात्त है)

स्वरित का उदाहरण—**वीर्यम्** (य स्वरित है)

उदात्त और स्वरित चिह्नों में अन्तर व्यक्त करने के लिए डॉ० वेबर ने स्वरितसूचक 'पड़ी' रेखा को एक जगह दो पड़ी रेखाओं (=) से व्यक्त किया है। यह युग्म स्वरित स्वर के वाम पार्श्व के वर्ण-स्वर में लगाया जाता है—**वीर्यम्**।

उदात्त के सम्बन्ध में निम्न नियम स्मरण रखने चाहिएँ—

१. अकारादि स्वरों से युक्त वर्ण ही उदात्त, अनुदात्त या स्वरित होते हैं—हलन्त व्यंजन न उदात्त होंगे, न अनुदात्त, न स्वरित।

२. किसी भी एक **पद** में एक से अधिक उदात्त नहीं हो सकता। यह तो हो सकता है कि किसी पद में कोई भी उदात्त न हो।

३ एक पद में अनुदात्त कई हो सकते हैं—हो सकता है कि सभी स्वरान्त-वर्ण अनुदात्त हों। इसी प्रकार एक पद में एक से अधिक स्वरित भी हो सकते हैं। शतपथ ब्राह्मण में अनुदात्त व्यक्त करने के लिए कोई चिह्न नहीं है। हमने अपने शतपथब्राह्मण में समस्त पाठ वेबेर का लिया है, और इसलिए इस ग्रन्थ के स्वरचिह्न उदात्त (—), और स्वरित (=) वे ही हैं जिनका उपयोग डॉ० वेबेर ने किया है।

स्वर-संकेत का एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है—

१. अनेनेव जुहुयात्। सजूर्देवेन सवित्रेति।
तत्सवितृमत्प्रसवाय सजू रात्र्येन्द्र वत्येति तद्रात्र्या मिथुनं करोति।
—(शत० २।३।१।३७)

इसमें जिन-जिन स्वर-वर्णों के नीचे 'पड़ी' लकीरें '(—)' खिंची हैं वे सब उदात्त-स्वर-सूचक हैं।

२. य तै यान्गिहोत्रस्य देवताग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति तत्र नाग्नये स्वाहा।
—(शत० २।३।१।३६)

इस उदाहरण में तै और त्र के नीचे रेखा-युग्म (=) है। इसका अर्थ यह है कि इनके अगले अक्षर "या" से लेकर 'ता' तक स्वरित या एकश्रुति (या प्रचय) हैं, अर्थात् बराबर एक ही स्वर चल रहा है।

डॉ० वेबेर ने अपनी भूमिका में स्पष्ट इंगित कर दिया है कि यदि अगले वर्ण पर स्वर-चिह्न लगा हो तो उससे पूर्व के उदात्त पर स्वर-चिह्न लगाना अनावश्यक हो जाता है। [Before a following accented syllable, the preceding udatta loses its denotation.]

(क) केतपूःकेतम्, इसमें के के नीचे स्वर-चिह्न है, अतः पूः के नीचे लगा उदात्त-चिह्न बेकार है, अतः इसे केतपूःकेतम् ही लिखेंगे (पूः के नीचे का स्वर-चिह्न निकाल देंगे।)

(ख) 'महो ये धनम्' को ऐसा न लिखकर 'महो ये धनम्' लिखेंगे (ये के नीचे का चिह्न बेकार है।)

(ग) 'पर्ण न वेरनु' को ऐसा न लिखकर 'पर्ण न वेरनु' लिखेंगे—र के पहले के सभी उदात्त बेकार हो गए—र्ण, न, वे,—इनके नीचे लगे उदात्त-चिह्न बेकार हो गए।

जिन पाठकों को स्वर-विषयक गम्भीरता से विचार करना हो, वे डॉ० वेबेर के अंग्रेजी Preface को पढ़ें।

उपाध्यायजी का हिन्दी अनुवाद

प्रयाग के श्री पं० गंगाप्रसादजी उपाध्याय ने अपनी वृद्धावस्था में ऐतरेय ब्राह्मण और शतपथ ब्राह्मण के हिन्दी-अनुवाद किये। ऐतरेय ब्राह्मण के हिन्दी-अनुवाद का प्रकाशन (बिना मूल संस्कृत के) 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग' ने प्रकाशित किया था। प्रयाग के ही अथर्ववेद-भाष्यकार पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने गोपथ ब्राह्मण का मूल और हिन्दी अनुवाद बड़े परिश्रम से सम्पादित और प्रकाशित किया। दिल्ली के स्व० पं० रामस्वरूप शर्मा के प्रयास से उपाध्यायजी का शतपथ ब्राह्मण तीन खण्डों में १९६७, १९६९ और १९७० ई० में प्रकाशित हुआ था। बहुत दिनों से यह अनुवाद अनुपलब्ध था। मूल शतपथ ब्राह्मण का पाठ वैदिक यन्त्रालय, अजमेर के एक संस्करण से लिया गया था, किन्तु मुद्रण की कठिनाई होने के कारण उसमें स्वर-चिह्न न दिये जा सके। शतपथ ब्राह्मण का एक पाठ काशी से अच्युत ग्रन्थमाला ने भी प्रकाशित किया था (१९९४ वि०) दो जिल्दों में—श्री चन्द्रधर शर्मा द्वारा सम्पादित, एशियाटिक सोसायटी ऑव् बंगाल, कलकत्ता से शतपथ ब्राह्मण और उस पर सायणाचार्य की टीका या भाष्य प्रकाशित हुए। खेमराज कृष्णदास यन्त्रालय, बम्बई से भी सायणानुवाद छपा। अंग्रेजी में जूलियस ऐगलिंग (Julius Eggeling) का शतपथ ब्राह्मण का पूर्ण अनुवाद विस्तृत टिप्पणियों और भूमिकाओं सहित १८८२-८५ में सेक्रेड बुक्स ऑव् द ईस्ट सीरीज़ (Sacred Books of the East Series—Max Muller) में प्रकाशित हुआ था, जिसका पुनर्मुद्रण मोतीलाल बनारसीदास (दिल्ली-वाराणसी) नामक विख्यात प्रकाशक ने कर दिया है।

शतपथ ब्राह्मण मुख्यतया कर्मकाण्ड का ग्रन्थ है। ऋषि दयानन्द ने इस ग्रन्थ का प्रमाणत्व उतना ही स्वीकार किया है, जितना वेदार्थ में सहायक है। शतपथ ब्राह्मण की ही तरह कात्यायन श्रौतसूत्र का भी यजुर्वेदी कर्मकाण्ड से गहरा सम्बन्ध है। उवट और महीधर दोनों आचार्यों ने यजुर्वेद के भाष्य में इन दोनों को आधार माना है। ये आचार्य जब शतपथ के सन्दर्भों का उल्लेख करते हैं, तो उसे "इति श्रुतेः" कहते हैं, और साधारणतया कात्यायन श्रौतसूत्र का प्रामाण्य सभी प्रकार स्वीकार करते हैं। शतपथ का आधार धीरे-धीरे उनके भाष्यों में कम होता जाता है। (यजुर्वेद के १३-१४ अध्यायों के बाद शतपथ का प्रयोग बहुत कम है। कात्यायन श्रौतसूत्र और पाणिनि की अष्टाध्यायी का आधार महीधर ने अपने भाष्य में यजुर्वेद के अन्तिम अध्यायों तक लिया है।) साधारणतया शतपथ ब्राह्मण याज्ञवल्क्य की रचना समझी जाती है, पर ऐसा लगता है कि शाण्डिल्य भी उसका मुख्य सहयोगी था : काण्ड ७, ९ और १० तो शायद उसी की रचना हैं—इन काण्डों में याज्ञवल्क्य का नाम तक नहीं आया।

श्री उपाध्यायजी ने शतपथ ग्रन्थ का अनुवाद-मात्र किया है, न कि उसका भाष्य। शतपथ-ब्राह्मण के समय से पूर्व **कर्म** (कर्मप्रेरक यज्ञ) का युग समाप्त हो गया था, और उसका स्थान कर्मकाण्ड ने ले लिया था—स्वामी दयानन्द "कर्मकाण्ड के पोषक नहीं" वे "कर्म" के पोषक थे। कात्यायन श्रौतसूत्र तो निम्नतम कर्मकाण्ड का पोषक बना, अतः महीधर के समान विद्वान् आचार्यों ने इससे प्रेरणा ली। ऋषि दयानन्द ने अपने यजुर्वेद-भाष्य में शतपथ के कर्मकाण्ड को कोई महत्त्व नहीं दिया। स्पष्ट है कि ये ब्राह्मणग्रन्थ हमारी दार्शनिक आस्थाओं और मान्यताओं के ग्रन्थ नहीं हैं। सभी विद्वान् पाठक अपनी रुचियों और मान्यताओं के आधार पर उपाध्यायजी के इस अनुवाद से लाभ उठा पायेंगे। यह अनुवाद किसी आस्था के परिप्रेक्ष्य में नहीं किया गया है, यही इसकी विशेषता है। निश्चय है कि यह ग्रन्थ हमारे उस युग का ग्रन्थ है, जब समाज का विकास शिथिल हो गया था, और उस अधोगति के समय कर्मकाण्ड को प्रश्रय प्रचुरता से मिलने लगा था।

हमें प्रसन्नता है कि उपाध्यायजी का यह शतपथ-अनुवाद डॉ० वेबेर के स्वरांकित शतपथ-संस्करण के साथ प्रकाशित किया जा रहा है। इस हिन्दी-टीका का नाम "रत्नकुमारी-दीपिका" रहा है। डॉ० रत्नकुमारीजी उपाध्यायजी की ज्येष्ठ पुत्रवधू थीं। "डॉ० रत्नकुमारी प्रकाशन योजना" के अन्तर्गत शतपथ ब्राह्मण के इस अनुवाद का प्रथम संस्करण १९६७-७० में दिल्ली से निकला था। यह दूसरा संस्करण दिल्ली के यशस्वी प्रकाशक **गोविन्दराम हासानन्द** के सौजन्य से प्रकाशित किया जा रहा है। आयोजन के लिए हम इस प्रकाशन-संस्थान के वर्तमान अध्यक्ष श्री विजयकुमार जी और उनके परिवार के अनुगृहीत हैं।

शतपथ ब्राह्मण और उसके अनुवाद के सम्बन्ध में कतिपय भ्रान्तियाँ हैं। बहुत-से स्थल ब्राह्मणग्रन्थ में ऐसे हैं, जिनमें पशुबलि की गन्ध मिलती है, अथवा जिनमें मांस खाने का भ्रम होता है। कर्मकाण्ड के ग्रन्थों में यथार्थता का निश्चय करना सरल नहीं है। जिस प्रकार हत्या या बलि के दृश्य नाटक की स्टेज पर नहीं दिखाये जाते, केवल संकेत मात्र से काम निकाल लिया जाता है, ऐसा ही इन यज्ञों में भी सम्भवतया होता था। पशु-यज्ञ बहुधा सृष्टि-रचना की नाटिका थे। सूर्य और बादल के युद्ध थे। इस नाटिका में प्रतीक से काम चला लिया जाता था; यह चित्रण भी ब्राह्मण-ग्रन्थों में मिलेगा। बहुत-से स्थल प्रक्षिप्त भी हो सकते हैं। भारत के इतिहास में एक समय ऐसा भी रहा जब वेदों के नाम पर पशु-बलि निःसन्देह होने लगी थी। महात्मा बुद्ध को इसीलिए वैदिक साहित्य से ग्लानि हुई। ऐसे पतनकाल के समय में हमारा समस्त आर्ष साहित्य प्रक्षेपों से विकृत कर दिया गया।

प्रस्तुत शतपथ ब्राह्मण प्राचीन ग्रन्थ का अनुवाद-मात्र है। पाठकों से आग्रह है कि किस बात को सिद्धान्त के अनुकूल मानें, और किसको प्रतिकूल, इसका स्वयं निर्णय करें। हिन्दी अनुवादक का कर्त्तव्य केवल इतना है कि मूलग्रन्थ का सच्चा-सच्चा अनुवाद प्रस्तुत कर दे। अनुवादक अपना अनुवाद अपनी आस्था के आधार पर नहीं करता। निस्सन्देह वेद, दयानन्द और आर्यसमाज में एवं आर्ष साहित्य में निष्ठा रखनेवाला व्यक्ति न तो पशु-बलि को मानता है, न मांस-भोजन को और न किसी अनैतिकता को। श्री उपाध्यायजी के इस अनुवाद को इसी भावना से देखना चाहिए।

—स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती

नई दिल्ली
९ अप्रैल १९८८

This edition of the Brâhmanas of the white Yajurveda is destined only to comprehend the text. An introductory essay, a glossary, a partial translation and deeper researches into all the materials, treasured up here and in the sûtras of *Kâtyâyana*, shall follow in a separate work on the Yajur-Vedic ceremonies. Therefore I shall here content myself with enumerating the critical apparatus, exstant in Europe, and giving a short explanation of the accents. —

A. I Manuscripts of the text of the *Çatapatha Brahmaṇa*: *a.* in the *Mâdhyandina-Çâkhâ*: —

There is exstant a very great number of old as well as recent copies of it: Those, which chiefly (with the exception only of the first book and part of the thirteenth) furnished the text for this edition, exist in the *Chambers-Collection* and I take this opportunity to congratulate the Royal Library of *Berlin* upon this splendid donation made to it by the present *King of Prussia* through the care of the Chevalier *Bunsen*. Next to these manuscripts in value stands the copy (= M) of the Rev. Dr. *Mill*, now added to the *Bodleian* library, the greater part of which, viz. the books I-V and VII-XIII is written Samvat 1705-7 in *çrîvṛiddhanagara* by *Dâmodara* son of *Purushottama* and accented forty years after by *Vidyâdhara*. I shall now proceed to notice the single books with their respective manuscripts. (*) —

I. *Haviryajna*: begins व्रतमुपैष्यन्नन्तरेणाह्वनीयम् (7 prapâṭhaka, 9 adhyâya, 37 brâhmana, 837 kaṇḍikâ). M foll 117. — Bodlei. Wils. 363 (= B.). Samvat 1709. foll. 152 (ten leaves are wanting from 8, 2, 10 - 9, 1, 12 incl.). nr. 368 (= C.) S. 1654. foll. 123. nr. 67. nr. 71. — E. I. H. 2143 (= I.). — Paris Bibl. Nationale D 161. —

(*) All the copies are accented with the exception of Bodlei. Wils. 67 (1-3). 63 (4-8). 62 (9-14). 71 (1-3. 7. 13 twice). 70 (6. 14. 4. 11. 9. 12. 8. 5). E. I. H. 2143 (1-7). 309 (8-14). 1277 (2. 3). and partly of Chamb. No. 39 (10 twice. 2-5. 7-9. written in Benares S. 1851. Çâke 1716 krodhananâmasamvatsare). *These* copies are recently written and very incorrect.

II. *Ekapâdikâ* begins स यद्वाऽइतश्चेतश्च (5 prap. 6 adhy. 24 brâhm. 549 kaṇd.) Chamb. 3 written S. 1681 in Kâçî by Gangârâmamiçra. foll. 116. nr. 39. — M. foll. 84. — Bodl. Wils. 366 foll. 62. nr. 67. nr. 71. — E. I. H. 2143. nr. 1277 nr. 583. foll. 27. — Paris D 147. —

III. *Adhvara* begins देवयजनं जोषयन्ते (7 prap. 9 adhy. 37 brâhm. 859 kaṇd.) Chamb 1. foll. 181 written by the same scribe as nr. 3. - nr. 39. — M. foll. 125. — Bodl. Wils. 359 S. 1585 foll. 116. nr. 383. S. 1688. foll. 333. nr. 67. nr. 71. — E. I. H. 1277. 2143. —

IV. *Graha* begins प्राणो ह वाऽअस्योपांशुः (5 prap. 6 adhy. 39 br. 649 k.) Chamb. 5. foll. 240. S. 1689. Câke 1554. angirânâmasamvatsare written in Benares âbhîrajnâtiyarânâranganâthasutanâmâjikena. nr. 39. — M. foll. 90 accented S. 1745 by Someçvara. — Bodl. W. 365. nr. 63. nr. 70. — E. I. H. 2143. — Paris D 162. —

V. *Sava* begins देवाश्च वाऽअसुराश्च (4 pr. 5 adhy. 25 br. 471 k.) Chamb. 6. foll. 109. S. 1683. written by the same scribe as nr. 1 and 3. nr. 16. foll. 89. S. 1648. nr. 21. foll. 59. S. 1572. nr. 39 (till to ३.१.८.). — M foll. 68. accented S. 1713 by Laghunâtha. — Bodl. W. 462. foll. 113. S. 1610. nr. 63. nr. 70. — E. I. H. 2143. — Paris D. 144. —

VI. Ùshasambharaṇa begins असद्वाऽइदमग्रऽआसीत् (5 pr. 8 adhy. 27 br 540 k.) Chamb. 7. foll. 170. nr. 17. foll. 108. S. 1545. Câke 1461 written çrîmat hansapurapattane revâçrînarmadâyâ daxine tate on the order of Modhajnâtîya Bhattakeçava. nr. 19. foll. 60. — M foll. 139 written S. 1628 and accented by Mahâdeva. — Bodl. W. 454. foll. 165. S. 1610. nr. 457. S. 1688. foll. 211. nr. 63. nr. 70. — E. I. H. 2143. — Paris D. 148. 173. —

VII. *Hastishaṭ nâma kâṇḍam* (*) begins गार्हपत्यं चेष्यन् (4 pr. 5 adhy. 12 br. 398 k.) Chamb. 9. foll. 115. nr. 39. — M. foll. 60. — Bodl. W. 462. foll. 114. S. 1571. nr. 63. nr. 71. — E. I. H. 268. 2143. — Paris D. 196. —

VIII. *Citi* begins प्राणभृत उपदधाति (4 pr. 7 adhy. 27 br. 437 k.) Chamb. nr. 20. foll. 86. S. 1739. nr. 39. — M. foll. 72. — Bodl. W. 363. foll. 96. nr. 63. nr. 70. — E. I. H. 268. 309. — Paris D. 195. —

IX. *Samciti* begins अथातः शतरुद्रियम् (4 pr. 5 adhy. 15 br. 401 k.) Chamb

(*) The name of this kâṇda is rather questionable: the one above mentioned is taken from M. as the best authority. The other manuscripts in the Mâdhyandina as well as the Kânva Çâkhâ call it Hastighata. Is hastin = one? hastishat = seven? See A. W. v. Schlegel Réflexions sur l'étude des langues asiatiques p. 197 - 199.

14. foll. 103. S. 1586. nr. 18. foll. 61. S. 1671. nr. 39. — M. foll. 66. — Bodl. W. 363, 3. foll. 75. S. 1692. nr. 389. nr. 62. nr. 70. — E. I. H. 309. —

X. *Agnirahasya* begins अग्निर्वाऽ एष पुरस्ताद्धीयते (4 pr. 6 adhy. 31 br. 369 k.) Chamb. 11. foll. 60. S. 1485 (A. D. 1428). nr. 39. twice. — M. foll. 58. accented S. 1715. by Krishṇaputra Prabhûjika (?). — Bodl. W. 461. foll. 99. S. 1655. nr. 62. — E. I. H. 309. —

XI. *Ashṭâdhyâyi* begins संवत्सरो वै यज्ञः (4 pr. 8 adhy. 42 br. 437 k.) Chamb. 12. foll. 116. — M. foll. 59. — Bodl. W. 369, 1. S. 1645. foll. 86. nr. 62. nr. 70. — E. I. H. 309. — Paris D. 146. —

XII. *Madhyama* begins अयं वै यज्ञो योऽयं पवते (4 pr. 9 adhy. 29 br. 459 k.) Chamb. 13. foll. 69. — M. foll. 62. — Bodl. W. 62. nr. 70. — E. I. H. 309. — Paris D. 159. —

XIII. *Açvamedha* begins ब्रह्मौदनं पचति (4 pr. 8 adhy. 43 br. 430 k.) Chamb. 22. foll. 7. a fragment beginning from 8, 1, 1. — M. foll. 60. — Bodl. W. 365 (= B.). foll. 78. S. 1691. nr. 453 (= C.). foll. 81. S. 1808. nr. 62. nr. 71. — E. I. H. 268. 309. — Paris D. 160. —

XIV. *Âraṇyakam* begins देवा ह वै सत्रं निषेदुः (7 pr. 9 adhy. 50 br. 796 k.) Chamb. 15. foll. 173. S. 1583. — M. foll. 167. written by Pîtâmbara in Benares. — E. I. H. 309. —

Detached from this *kâṇḍa* is the *Vṛihad-Âraṇyakam*, beginning with the thirth prapâṭhaka: द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च. Bodl. W. 365. foll. 75. unaccented. nr. 62. nr. 70. — E. I. H. 309. 1471. — Paris D. 163. 59g. —

b. in the *Kâṇva-Çâkhâ*. — Not having yet discovered a complete and correct copy of this Çâkhâ — three books are still wanting and some of the manuscripts of the other 14 books are rather incorrect — I could not venture to give in my edition also the text of this Çâkhâ, especially as its differences from the Mâdhyandina-Çâkhâ are so very numerous and important, you may look at »the readings of almost every passage«, as well at the single words and their orthography or even accentuation as at the whole kaṇḍikâs and their number or distribution. The best copy extant in Europe is in the collection of the Rev. Dr. Mill, now deposited in the Bodleian library: it contains eleven kâṇḍas written and accented by three different scribes (I. withont any date by the one: IV. V. XIV. foll. 1-23a. Samvat 1651 by an other: II. VI. VII. X. XII. XIV. from foll 23,b-48. XV. XVII. Samvat 1875 by the thirth). Other copies are extant only (with the exception of the kâṇḍas I. and XVII.) in Paris. Bibl. Nat. D. 167.

172. 180-187 (= P.), which I am sorry to say I could not for want of time sufficiently examine. From a list written on the reverse of the first leaf of the fourth book and of the 48[th] leaf of the fourteenth in M. I take the names and the number of verses of the different kâṇḍas. —

I. *Ekapâdikâ* begins स वै सम्भारान्त्सम्भरति (6 adhy. 22 brâhm. 367 kaṇḍikâs). M. foll. 100. — E. I. H. 1560. see Colebrooke miscell. ess. I, 60 not. — P. 180. —

II. *Haviryajna* begins सं वै व्रतमुपैष्यन् (8 adhy. 32 br. 572 k.) M. foll. 59. — P. 181. —

III. *Uddhâri* (124 k.) is wanting. —

IV. *Adhvara* begins तद्दै देवयजनमीच्चन्ते (628 k.) M. foll. 49. contains only the prathana *ança* in 4 adhy. 16 br. 272 k. — P. 184 b. —

V. *Graha* begins प्राणो ह वाऽअस्योपाꣳशुः (8 adhy. 38 br. 475 k.) M. foll. 82. — P. 183. —

VI. *Vâjapeya* begins देवाश्च ह वाऽअसुराश्चोभये (2 adhy. 6 br. 100 k.) M. foll. 12. — P. 185 a. —

VII. *Râjasûya* begins स वै पूर्णाहुतिं जुहोति (5 adhy. 19 br. 288 k.) M. foll. 28. — P. 185 b. —

VIII. Ùshasambharaṇa begins असद्वाऽइदमग्रऽआसीत् (8 adhy. 27 br. 525 k. [509 in the list]) P. 167. the first 82 leaves are written by the same scribe as P. 168 and 169., foll. 83-85 are dated S. 1806. —

IX. *Hastighaṭa* (see Wilson Sanskrit dictionary: घट *an elephants frontal sinus*) begins अथातो नैऋतीर्हरन्ति (5 adhy. 16 br. 261 k. [257 the list]) P. 168. S. 1649. foll. 51 (= A.). nr. 172 (= B.) most likely a copy of the preceding, written S. 1852. Çâke 1717. foll. 46. —

X. *Citi* begins प्राणभृत उपदधाति (5 adhy. 20 br. 241 k) M. foll. 25. — P. 186 a. —

XI. *Samciti* begins नाकसद उपदधाति (7 adhy. 20 br. 441 k.) P. 169. S. 1651. nr. 171 a copy thereof. —

XII. *Agnirahasya* begins अग्निरेष पुरस्ताच्चीयते (6 adhy. 28 br. 286 k.) M. foll. 39. — P. 186 b. —

XIII. *Ashṭâdhyâyi* (252 k.) is wanting. —

XIV. *Madhyama* begins अयं वै यज्ञो योऽयं पवते (8 adhy. 29 br. 382 k.) M. foll. 48. — P. 187 a. —

XV. *Açvamedha* begins ब्रह्मौदनं पचति (7 adhy. 40 br. 308 k.) M. foll. 29. — P. 187 b. —

XVI. *Pravargya* begins (?) अथास्मै श्मशानं कुर्वन्ति (180 k.) is wanting. —

XVII. *Upanishad* begins उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य (6 adhy. 47 br. 446 k.) M. foll. 53. — Bodl. W. 369. foll. 73. a recent copy. nr. 485 a. a fragment. — P. 182. — Chamb. 122 twice. 1., foll. 99. S. 1840. 2., foll. 85. nr. 395 fragments. — Edited by *Poley* 1844 Bonn. —

II. Manuscripts of the commentaries on the *Çatapatha-Bráhmaṇa.* —

1. *Sáyaṇâcárya's Mádhavíya Vedárthaprakáça*: when quoted in the commentaries on the Kâtyâyanasûtra — and this happens very rarely —, this commentary is quoted by इति माधवः. The copies thereof, extant in the E. I. H. and in the Wilson-Collection of the Bodleian library, are very modern, incorrect and defective: and as all of them, with the only exception of E. I. H. 613, partake of the same blunders and interruptions, they have most likely been copied from the *same* manuscript: they contain the explanation of only eight books, viz: *káṇḍa I* as far as the end of the third brâhmana in the seventh adhyâya. E. I. H. 657 (A.) foll. 67. nr. 1509 (B.) foll. 123. Bodl. Wils. 2 (C.) foll. 87. — *káṇḍa II* E. I. H. 657. foll. 64. — *káṇḍa III* ibid. (A.) foll. 69. Bodl. W. 3 (B.) foll. 129. — *káṇḍa V* E. I. H. 657 (A.) foll. 66. Bodl. W. 3 (B.) foll. 64. — *káṇḍa VII* E. I. H. 149 (A.) foll. 66. Bodl. W. 4 (B.) foll. 65. — *káṇḍa IX* in the same numbers A. foll. 44. B. foll. 58. — *káṇḍa X* E. I. H. 149 (A.). most defective fragments. foll. 39. nr. 613 (B.). S. 1610. foll. 185. — *káṇḍa XI* E. I. H. 1071 (A.) foll. 67. Bodl. W. 4 (B.). foll. 104. —

2. Âcârya-*Harisvâminah* kritau Catapathabhâshyam: quoted throughout the commentaries on Kâtyâyana by: इति हरिस्वामिनः. The copies of this commentary are even more defective and incorrect then those of the Mâdhavîyabhâshya: they are bound together with these and written by the same scribes (*): they contain the explanation of only three *káṇḍas*, viz: of *káṇḍa II.* Bodl. W.

(*) There are four scribes of the three copies 149. 657. 1071 of the E. I. H. *káṇḍa* I and *k.* II as far as fol. 16 have been written by the one, *káṇḍa* II from fol. 17 and the *káṇḍas* III. VII. IX. XI by another, the *káṇḍas* V. VIII. X. XIII as far as fol. 19 by a third, and *káṇḍa* XIII foll. 20-24. by a fourth. — Three scribes are to be discerned in the three copies 2-4 of the Bodl. Wils. Coll. The *káṇḍas* I. VII. IX have been copied by the one, the *káṇḍas* II. V by another, the *káṇḍas* III. XI by a third. —

2. foll. 54. — *kâṇḍa VIII* E. I. H. 657. foll. 36. — *kâṇḍa XIII* E. I. H. 149. foll. 24: and partly of a fourth, viz: of *the first kâṇḍa* from the *fourth brâhmaṇa* of the *seventh* adhyâya (where the common copy of the *Mâdhavîyabhâshya* failed) as far as the end (in B. only as far as VIII,3,14), occupying 12 leaves in A. nine in B. and sixteen in C. —

3. Dvivedaçrînârâyanasûnu *Dviveda Ganga's* commentary of the *Mâdhyandina Âraṇyaka*: a very excellent copy (= M.) in the collection of the Rev. Dr. Mill, since added to the Bodleian library: foll. 322. —

There are extant in Europe several copies of commentaries on the *Vrihad-Aranyaka* in the *Kâṇvaçâkhâ*, but as they have been already published by Dr. Roer in the Bibliotheca Indica nro. 6. Calcutta 1848, I do not think it necessary to notice them here.

III. *Rishitarpaṇam.* Cham 606 b. 735. foll. 11. a sort of *anukramaṇî* of the *Mâdhyandina Çatapatha Brâhmaṇa,* enumerating *a.* the *beginning* words (*pratîkâni*) 1) of each *adhyâya.* 2) of each *hundred* of (the 7624) *kaṇḍikâs* (2800 - 5400 are enumerated twice differently). 3) of each *prapâṭhaka.* 4) of the *last* kaṇḍikâ of each kâṇḍa: *b.* the closing words of each kâṇḍa. —

B. The accentuation in the manuscripts of the Çatapatha Brâhmaṇa is rather strange, as there only *one* sign is made use of, an horizontal stroke beneath the line, for denoting the *udâtta* as well as the *svarita.* The udâtta has the stroke beneath itself: नृषदम्, the svarita beneath the preceding syllable: वीर्यम्. To avoid this ambiguity I have denoted the svarita in this edition by *two* horizontal strokes beneath the preceding syllable: वीर्यम्. — Before a following *accented* syllable the preceding *udâtta* loses its denotation: 1) before an *udâtta*: केतपूः केतम् instead of °पूः केतम्, मह्नो ये धनम् i. of मह्नो ये धनम्, पर्णा न वेरनु i. of पर्णा न वेरनु, अग्निर्हि वै धूरय i. of अग्निर्हि वै धूरय (१.१.२.९.), but रथवाह्नी सा हि न स्त्री न पुमान् i. of °ह्नी सा हि न स्त्री न पुमान् (५.५.४.३५.), as there would be wanting too many signs. A *seeming* exception only is यं-यमसुराणाम् १.६.३.२८, as the second यम् is not accented: see पाणिनिसू° ८.१.३. 2) before a *svarita*: नेद्यृङ्कम् १.७.२.९., मानुषं नेद्यृङ्कम्, यज्ञो वै स्वः, देवा वै स्वः. — The preceding *svarita* on the contrary retains its denotation be-

fore a following accented syllable: 1) before an *udâtta*: यज्ञो वै स्वर्ह्ः, देवा वै स्वर्गन्म, एवैतत्. 2) before a *svarita*: वोदानीतान् ॥५॥ सोऽभ्युद्धति (*) ५. १.४.६., इति सैषैतम् १.४.१.२६., देवाः सैषैतम् — The *udâtta* changes into the *svarita* (and the original *svarita* remains unaltered: अनुवाक्येयम् १.७.२.११.) in *all* cases of crasis with a following *unaccented* vowel, see my *Vâjasaneyasanhitae specimen* II p.7 follow. (Berlin 1847 Asher) and *Roth* in his edition of *Yâska's Nirukta* I p. LX. (Göttingen 1848 Dieterich). The only continual exception is made by the praepositions आ and प्र, which remain *udâtta*: एह्हि ५.२.१.१०. प्राह्, प्राधन्वन् १.५.१.२०., प्रारोचत १.६.२.८.: besides the *udâtta* is occasionally retained (against पाणि° ८.२.४.) in the declension, but alternating *even in the same words* with the *svarita*: दशम्या and दशम्या Instr. of दशमी. – The *udâtta* is regular in all cases of crasis with a following *accented* vowel: एवाङ्कुतिम्, एवेति instead of एव आ इति १.४.१.५., आग्येऽध्यूह्ति i. of आग्ये अध्यूह्ति १.५. ३.२०., सुब्रेति i. of सुब्रा इति १.७.१.१६., याड्याथ i. of याड्या अथ १.७.२. ७. —

(*) The denotation and the reciprocal influence of the accents does in general not undergo any alteration from the divisions of the *pratîkas*, the *kandikâs* or the *brâhmaṇas*, with the only exception that the underlineal stroke is changed into three dots in the manuscripts: तत् ॥१॥ स, and in this edition respectively also into six of them, if the following svarita is denoted: तत् ॥१॥ सोऽभि°

Berlin March 1849.

Albrecht Weber

शतपथब्राह्मण

विषय-सूची

शतपथब्राह्मण

प्रथम भाग

ओम् । व्रतमुपैष्यन् । अन्तरेणाहवनीयं च गार्हपत्यं च प्राङ्तिष्ठन्नप उपस्पृशति तद्यदप उपस्पृशत्यमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति तेन पूतिरन्तरतो मेध्या वाऽआपो मेध्यो भूत्वा व्रतमुपायानीति पवित्रं वाऽआपः पवित्रपूतो व्रतमुपायानीति तस्माद्वाऽअप उपस्पृशति ॥ १ ॥ सोऽग्निमेवाभीक्षमाणो व्रतमुपैति । अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यतामित्यग्निर्वै देवानां व्रतपतिस्तस्माऽएवैतत्प्राह व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यतामिति नात्र तिरोहितमिवास्ति ॥ २ ॥ अथ संस्थिते विसृजते । अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषं तदशकं तन्मेऽराधीत्यशकद्ध्येतद्यो यज्ञस्य संस्थामगन्नराधि ह्यस्मै यो यज्ञस्य संस्थामगन्नेतेन न्वेव भूयिष्ठा-इव व्रतमुपयन्त्यनेन त्वेवोपेयात् ॥ ३ ॥ द्वयं वाऽइदं न तृतीयमस्ति । सत्यं चैवानृतं च सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्या इदमहमनृतात्सत्यमुपैमीति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति ॥ ४ ॥ स वै सत्यमेव वदेत् । एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यं तस्मात्ते यशो यशो ह भवति य एवं विद्वांत्सत्यं वदति ॥ ५ ॥ अथ संस्थिते विसृजते । इदमहं य एवास्मि सोऽस्मीत्यमानुष-इव वाऽएतद्भवति यद्व्रतमुपैति न हि तदवकल्पते यद्ब्रूयादिदमहं सत्यादनृतमुपैमीति तदु खलु पुनर्मानुषो भवति तस्मादिदमहं य एवास्मि सोऽस्मीत्येवं व्रतं विसृजेत ॥ ६ ॥ अथातोऽशनानशनस्यैव । तदु हाषाढः सावयसोऽनशनमेव व्रतं मेने मनो ह वै देवा मनुष्यस्याजानन्ति तऽएनमेतद्व्रतमुपयन्तं विदुः प्रातर्नो यक्ष्यत

अध्याय १–ब्राह्मण १

(दर्शपूर्णमास इष्टि करने का) व्रत करनेवाला मनुष्य आहवनीय और गार्हपत्य अग्नियों के बीच पूर्वाभिमुख खड़ा होकर जल का स्पर्श करता है। जल क्यों छूता है ? इसलिये कि मनुष्य अपवित्र है, वह झूठ बोलता है। जल के स्पर्श से उसकी शुद्धि हो जाती है। जल वस्तुतः पवित्र है। प्रयोजन यह है कि 'पवित्र होकर व्रत करूँ'। जल वस्तुतः पवित्र है। 'पवित्र के द्वारा पवित्र होकर मैं व्रत करूँ' ऐसा सोचता है। इसीलिये जल का स्पर्श करता है ॥१॥

आहवनीय अग्नि की ओर देखकर वह व्रत करता है इस मंत्र से (यजु० १।५)— "हे व्रत के पालक अग्नि, मैं व्रत करना चाहता हूँ। मैं व्रत का पालन कर सकूं। मैं इस योग्य हो जाऊँ।" अग्नि देवों का व्रतपति है। इसीलिये अग्नि को सम्बोधन करके कहता है कि "मैं व्रत करना चाहता हूँ। मैं व्रत का पालन कर सकूं। मैं इस योग्य हो जाऊँ"। शेष स्पष्ट है ॥२॥

इष्टि के समाप्त होने पर व्रत को समाप्त करता है (यजु० २।२८ से)—"हे व्रतपते अग्नि ! मैंने व्रत किया। मैं उसको कर सका। मैं इस योग्य हो सका।" वस्तुतः जिसने यज्ञ को समाप्त किया वह व्रत को पाल सका। वह व्रत-पालन के योग्य हो सका। प्रायः यज्ञ करनेवाले इसी प्रकार व्रत करते हैं। इस प्रकार भी व्रत करे ॥३॥

दो ही बातें होती हैं, तीसरी नहीं—एक सत्य और दूसरी अनृत—देव सत्य हैं, मनुष्य अनृत। यह जो मंत्र में कहा कि 'झूठ से सत्य को प्राप्त होऊँ' उसका तात्पर्य यह है कि 'मनुष्यों में से एक था, देवों में से एक हो जाऊँ' (मनुष्यत्व छूटकर देवत्व आ जावे) ॥४॥

उसे सत्य ही बोलना चाहिये। देव सत्यरूपी व्रत का पालन करते हैं। इसी से उनको यश मिलता है। जो इस रहस्य को समझकर सत्य बोलता है उसको यश मिलता है ॥५॥

यज्ञ की समाप्ति पर वह व्रत को समाप्त करता है इस मंत्र से (यजु० २।२८) 'मैं जो था वही हो गया'। जब उसने व्रत किया था तो वह अमानुष अर्थात् देव हो गया था। ऐसा कहना तो उसको उचित नहीं था कि 'मैं सत्य से अनृत को प्राप्त हो जाऊँ'। इसलिये यज्ञ करते हुए देव की कोटि में होकर यज्ञ की समाप्ति पर जब वह मनुष्य की कोटि में आता है तो केवल इतना कहता है, "मैं जो पहले था नहीं, अब हूँ" इस प्रकार व्रत को समाप्त करता है ॥६॥

अब प्रश्न है कि व्रत के मध्य में खावे या न खावे ? **आषाढ सावयस** मुनि का मत था कि व्रत में खाना नहीं चाहिये। देव मनुष्य के मन को जानते हैं। वे जानते हैं कि जब उसने आज व्रत किया है तो कल वह यज्ञ करेगा। वे सब देव उसके घर आते हैं। वे उसके घर में उपवास

ऽश्निति तेऽस्य विश्वे देवा गृहानागच्छन्ति तेऽस्य गृहेषूपवसन्ति स उपवसथः ॥७॥
तन्वेवानवक्लृप्तम् । यो मनुष्येष्वनश्नत्सु पूर्वोऽश्नीयादथ किमु यो देवेष्वनश्नत्सु
पूर्वोऽश्नीयात्तस्मादु नैवाश्नीयात् ॥८॥ तदु होवाच याज्ञवल्क्यः । यदि नाश्नाति
पितृदेवत्यो भवति यद्युऽअश्नाति देवानत्यश्नातीति स यदेवाशितमनशितं तद-
श्नीयादिति यस्य वै हविर्न गृह्णन्ति तदशितमनशितꣳ स यदश्नाति तेनापितृदेव-
त्यो भवति यद्यु तदश्नाति यस्य हविर्न गृह्णन्ति तेनो देवान्नात्यश्नाति ॥९॥ स
वाऽआरण्यमेवाश्नीयात् । या वारण्या ओषधयो यद्वा वृक्ष्यं तदु ह स्माहापि बर्कु-
र्वार्ष्णो माषान्मे पचत न वाऽएतेषाꣳ हविर्गृह्णन्तीति तदु तथा न कुर्याद्व्रीहि-
यवयोर्वाऽएतदुपजं यच्छमीधान्यं तद्व्रीहियवावेवैतेन भूयाꣳसौ करोति तस्मादा-
रण्यमेवाश्नीयात् ॥१०॥ स आहवनीयागारे वैताꣳ रात्रिꣳ शयीत । गार्हपत्यागारे
वा देवान्वाऽएष उपावर्तते यो व्रतमुपैति स यानेवोपावर्त्तते तेषामेवैतन्मध्ये
शेतेऽधः शयीताधस्तादिव हि श्रेयस उपचारः ॥११॥ स वै प्रातरप एव । प्रथ-
मेन कर्मणाभिपद्यतेऽपः प्रणयति यज्ञो वाऽआपो यज्ञमेवैतत्प्रथमेन कर्मणाभि-
पद्यते ताः प्रणयति यज्ञमे वैतद्वितनोति ॥१२॥ स प्रणयति । कस्त्वा युनक्ति स
त्वा युनक्ति कस्मै त्वा युनक्ति तस्मै त्वा युनक्तीत्येताभिरनिरुक्ताभिर्व्याहृतिभिरनि-
रुक्तो वै प्रजापतिः प्रजापतिर्यज्ञस्तत्प्रजापतिमेवैतद्यज्ञं युनक्ति ॥१३॥ यद्वेवापः
प्रणयति । अद्भिर्वाऽइदꣳ सर्वमाप्तं तत्प्रथमेनैवैतत्कर्मणा सर्वमाप्नोति ॥१४॥ य-
द्वेवास्यात्र । होता वाध्वर्युर्वा ब्रह्मा वाग्नीध्रो वा स्वयं वा यजमानो नाभ्यापयति
तदेवास्यैतेन सर्वमाप्तं भवति ॥१५॥ यद्वेवापः प्रणयति । देवान्ह वै यज्ञेन यज-
मानांस्तानसुररक्षसानि ररक्षुर्न यक्ष्यध्व इति तद्यदरक्षंस्तस्माद्रक्षाꣳसि ॥१६॥ ततो
देवा एतं वज्रं ददृशुः । यदपो वज्रो वाऽआपो वज्रो हि वाऽआपस्तस्माद्येनै-
ता यन्ति निम्नं कुर्वन्ति यत्रोपतिष्ठन्ते निर्दहन्ति तत एतं वज्रमुदयच्छꣳस्तस्याभये

करते हैं (उप + वास, किसी के घर में आकर बैठना)। इसीलिये इस दिन का नाम है 'उपवसथ' (उपवास का दिन) ।।७।।

यह तो सर्वथा अनुचित है कि आगन्तुक मनुष्यों को खिलाने से पहले घरवाला स्वयं खा ले। और यह तो और भी अनुचित है कि देवों को खिलाने से पहले खा लेवे। इसलिए नहीं खाना चाहिए ।।८।।

इस विषय में याज्ञवल्क्य का कहना है कि—यदि नहीं खाता है तो पितृदेवत्य होता है, और यदि खाता है तो देवों से पहले खाने का दोषी होता है। इसलिये इतना खावे कि न खाने में उसकी गणना हो सके ।।९।।

जो हवि में नहीं डाला जाता उसका खाना न खाने के बराबर है। यदि उसको खा लेगा तो उसे पितृदेवत्य का दोष न लगेगा। जिस चीज की हवि नहीं दी जाती उसके खा लेने से देवों से पहले खा लेने का दोष भी नहीं लगता।

उसे वन में उपजी हुई चीज खानी चाहिये—ओषधि या वनस्पति। बर्कु वार्ष्ण ने कहा—'मुझे माष (उड़द) पकाकर दे दो क्योंकि माष की हवि नहीं दी जाती।' परन्तु ऐसा नहीं करना चाहिये। जौ या चावल के साथ उड़द खाये जाते हैं। उड़द जौ या चावल की वृद्धि करते हैं। इसलिये वन की उपजी हुई चीज ही खावे ।।१०।।

उस रात को वह आहवनीय अग्नि के घर में सोवे या गार्हपत्य अग्नि के। जो व्रत करता करता है वह देवों के निकट होता है। अतः वह वहीं सोता है जिनके निकट होना चाहता है। नीचे (धरती पर) सोना चाहिये, क्योंकि जो सेवा करता है वह नीचे से ही करता है ।।११।।

दूसरे दिन प्रातःकाल अध्वर्यु पहला काम यह करता है कि वह जल के पास जाता है। जल को लाता है। जल यज्ञ है। अतः इस प्रकार वह यज्ञ के पास जाता है। जल को आगे लाने का अर्थ यह है कि वह यज्ञ को आगे लाता है ।।१२।।

वह यह मंत्र पढ़कर जल का प्रणयन करता है—(यजु० १।६) "कौन[1] तुझको जोड़ता है? या प्रजापति तुझको जोड़ता है। वह तुझको जोड़ता है। किसके लिए तुझको जोड़ता है? या प्रजापति के लिए तुझको जोड़ता है। उसके लिए तुझको जोड़ता है। इन अनिरुक्त (रहस्यमय) वचनों को बोलता है। प्रजापति रहस्यमय है। प्रजापति यज्ञ है। इस प्रकार प्रजापति अर्थात् यज्ञ की योजना करता है ।।१३।।

जलों के प्रणयन का हेतु यह है कि जल से ही यह सब सृष्टि व्याप्त है। इस प्रकार इस पहले कर्म से ही वह जगत् की प्राप्ति करता है ।।१४।।

इसका यह भी तात्पर्य है कि होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा, अग्नीध्र या स्वयं यजमान भी जिसकी प्राप्ति नहीं कर सकता उसकी इस प्रकार प्राप्ति हो जाती है ।।१५।।

जल के प्रणयन का एक हेतु यह भी है। जब देव यज्ञ करने लगे तो असुरों, राक्षसों ने उनको रोका—'यज्ञ मत करो।' उन्होंने रोका (ररक्षुः) इसलिये उनका नाम 'राक्षस'[2] हुआ ।।१६।।

तब देवों ने इस वज्र को खोज निकाला, जो जल है। जल वज्र है। निस्सन्देह जल वज्र है। जल जहाँ जाता है गड्ढा कर देता है। जिस चीज पर आक्रमण करता है उसका नाश

१. 'क' व्यंजनों में पहला अक्षर है। प्रजापति भी पहला व्यक्त करनेवाला है।
२. 'रक्ष' धातु का अर्थ है 'रोकना'। उन्होंने देवों को शुभ काम से रोका, इसलिये उनका नाम राक्षस हुआ।

ऽनाष्ट्रे निवाते यज्ञमतन्वत तथो एवैष एतं वज्रमुद्यच्छति तस्याभये ऽनाष्ट्रे निवाते यज्ञं तनुते तस्मादपः प्रणयति ॥१७॥ ता उत्तरेण गार्हपत्यꣳ सादयति । योषा वाऽआपो वृषाग्निर्गृहा वै गार्हपत्यस्तद्गृहेष्वेवैतन्मिथुनं प्रजननं क्रियते वज्रं वाऽएष उद्यच्छति यो ऽपः प्रणयति यो वाऽअप्रतिष्ठितो वज्रमुद्यच्छति नैनꣳ शक्नोत्युद्यन्तुꣳ सꣳ हैनꣳ शृणाति ॥१८॥ स यद्गार्हपत्ये सादयति । गृहा वै गार्हपत्यो गृहा वै प्रतिष्ठा तद्गृहेष्वेवैतत्प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठति तथो हैनमेष वज्रो न हिनस्ति तस्माद्गार्हपत्ये सादयति ॥१९॥ ता उत्तरेणाहवनीयं प्रणयति । योषा वाऽआपो वृषाग्निर्मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियतऽएवमिव हि मिथुनं क्लृप्तमुत्तरतो हि स्त्री पुमाꣳसमुपशेते ॥२०॥ ता नान्तरेण संचरेयुः । नेन्मिथुनं चर्यमाणमन्तरेण संचरानिति ता नातिहृत्य सादयेन्नोऽअनाप्ताः सादयेत्स यदतिहृत्य सादयेदस्ति वाऽअग्नेश्चापां च विभ्रातृव्यमिव स यथैव ह तदग्नेर्भवति यत्रास्याप उपस्पृशन्त्यग्नौ ह्याधि भ्रातृव्यं वर्धयेद्यदतिहृत्य सादयेद्यद्युऽअनाप्ताः सादयेन्नो हाभिस्तं काममभ्यापयेद्यस्मै कामाय प्रणीयन्ते तस्मादु सम्प्रत्येवोत्तरेणाहवनीयं प्रणयति ॥२१॥ अथ तृणैः परिस्तृणाति । द्वन्द्वं पात्राण्युदाहरति शूर्पं चाग्निहोत्रहवणीं च स्फ्यं च कपालानिच शम्यां च कृष्णाजिनं चोलूखलमुसले दृषदुपले तद्दश दशाक्षरा वै विराड्विराड्वै यज्ञस्तद्विराजमेवैतद्यज्ञमभिसम्पादयत्यथ यद्द्वन्द्वं द्वन्द्वं वै वीर्यं यदा वै द्वौ सꣳरभेतेऽअथ तद्वीर्यं भवति द्वन्द्वं वै मिथुनं प्रजननं मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते ॥२२॥ ब्राह्मणम् ॥१॥

अथ शूर्पं चाग्निहोत्रहवणीं चादत्ते । कर्मणे वां वेषाय वामिति यज्ञो वै कर्म यज्ञाय हि तस्मादाह कर्मणे वामिति वेषाय वामिति वेवेष्टीव हि यज्ञम् ॥१॥ अथ वाचं यच्छति । वाग्वै यज्ञोऽविक्षुब्धो यज्ञं तनवाऽइत्यथ प्रतपति प्रत्युष्टꣳ रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो निष्टप्तꣳ रक्षो निष्टप्ता अरातय इति वा ॥२॥ देवा ह वै

कर देता है। उन्होंने इस वज्र को लिया और उसीकी छत्र-छाया में यज्ञ को ताना। वह भी जल का प्रणयन करके इसी वज्र को लाता है और इसी की छत्र-छाया में यज्ञ को तानता है ॥१७॥

पात्र में थोड़ा-सा जल लेकर गार्हपत्य के उत्तर की ओर रख देता है। आपः (जल) स्त्रीलिङ्ग है और अग्नि पुंल्लिङ्ग। गार्हपत्य घर है। स्त्री-पुरुष मिलकर घर में ही सन्तानोत्पत्ति करते हैं। जो जल का प्रणयन करता है वह वज्र को लाता है। जो भूमि में सुदृढ़ता से खड़ा नहीं होता वह वज्र को नहीं ले सकता, क्योंकि वज्र उसी को हानि पहुँचा देगा ॥१८॥

गार्हपत्य में रखने का यही प्रयोजन है। गार्हपत्य घर है। घर ही प्रतिष्ठा है (खड़े होने की जगह—, प्रति + स्था)। घर में इसकी प्रतिष्ठा करता है। इस प्रकार वज्र उसको हानि नहीं पहुँचाता। इसीलिये वह जल की गार्हपत्य में स्थापना करता है ॥१९॥

आहवनीय के उत्तर में क्यों ले जाता है? आपः (जल) स्त्रीलिङ्ग हैं। अग्नि पुंल्लिङ्ग है। स्त्री-पुरुष के मिलने से ही सन्तान होती है। स्त्री, पुरुष के बाईं ओर सोती है ('उत्तर' का अर्थ 'बायाँ' भी है) ॥२०॥

जल और अग्नि के बीच में होकर न निकले, क्योंकि स्त्री-पुरुष के जोड़े के बीच में नहीं पड़ना चाहिये (उनके सहवास में विघ्न नहीं डालना चाहिये (जल को ठीक उत्तर की ओर रखना चाहिये) न तो सीमा से आगे बढ़ाकर और न सीमा को प्राप्त करने के पहले (न पूर्व की ओर, न पश्चिम की ओर)। यदि सीमा से आगे बढ़ाकर रक्खेगा तो जल और अग्नि में जो परस्पर-विरोध है उसको बढ़ा देगा और जब जल का स्पर्श होगा तो अग्नि का विरोध बढ़ जायगा। यदि सीमा को प्राप्त किये बिना ही रख देगा तो कामना की पूर्ति नहीं होगी। इसलिये जल का प्रणयन ठीक उत्तर को ही करना चाहिये ॥२१॥

अब तृणों को बिछाता है (अग्नियों को) चारों ओर। पात्रों को दो-दो करके ले जाता है, अर्थात् सूप और अग्निहोत्र-हवणी, स्फ्या और कपाल, शमी और कृष्णमृगचर्म, ऊखल और मुसली, और छोटे-बड़े पत्थर; ये दस हो गये। विराट् छन्द दस अक्षर का होता है। यज्ञ भी विराट् है। इस प्रकार यज्ञ को विराट् रूप दे देता है। दो-दो करके क्यों ले जाते हैं? इसलिये कि दो में शक्ति होती है। जब दो मिलकर काम करते हैं तो वह काम सुदृढ़ होता है। दो से सन्तान होती है। इस प्रकार यज्ञ को प्रजनन-शील कर देता है ॥२२॥

अध्याय १—ब्राह्मण २

अब सूप और अग्निहोत्र-हवणी को लेता है इस मंत्र से (यजु० १।६)—"कर्म के लिए तुम दोनों को, व्यापकत्व के लिए तुम दोनों को।" यज्ञ कर्म है। कर्म के लिए अर्थात् यज्ञ के लिए। 'व्यापकत्व के लिए तुम दोनों को' क्योंकि यजमान यज्ञ में व्यापक होता है ॥१॥

अब वाणी रोकता है। वाणी यज्ञ है। इस प्रकार यज्ञ को निर्विघ्न पूरा करूँ, यह तात्पर्य है। अब इन दोनों (सूप और हवणी) को आग पर तपाता है यह मंत्र बोलकर (यजु० १।७)—"झुलस गया राक्षस, झुलस गये शत्रु। जल गया राक्षस, जल गये शत्रु" ॥२॥

यज्ञं तन्वानाः । ते ऽसुररक्षसेभ्य आसंगाद्बिभयांचक्रुस्तद्यज्ञमुखादेवैतन्नाष्ट्रा रक्षा-
स्यतो ऽपहन्ति ॥३॥ अथ प्रैति । उर्वन्तरिक्षमन्वेमीत्यन्तरिक्षं वा ऽअनु रक्षश्चर-
त्यमूलमुभयतः परिच्छिन्नं यथायं पुरुषो ऽमूल उभयतः परिच्छिन्नो ऽन्तरिक्षमनुच-
रति तद्ब्रह्मणैवैतदन्तरिक्षमभयमनाष्ट्रं कुरुते ॥४॥ स वा ऽअनस एव गृह्णीयात् ।
अनो ह वा ऽअग्रे पश्वेव वा ऽइदं यच्छालं स यदेवाग्रे तत्करवाणीति तस्मा-
दनस एव गृह्णीयात् ॥५॥ भूमा वा ऽअनः । भूमा हि वा ऽअनस्तस्माद्यदा बहु
भवत्यनोवाह्यमभूदित्याहुस्तद्भूमानमेवैतदुपैति तस्मादनस एव गृह्णीयात् ॥६॥
यज्ञो वा ऽअनः । यज्ञो हि वा ऽअनस्तस्मादनस एव यजूंषि सन्ति न कौष्ठस्य
न कुम्भ्यै भस्त्रायै ह स्मर्षयो गृह्णन्ति तदृषीन्प्रति भस्त्रायै यजूंष्यासुस्तान्येतर्हि
प्राकृतानि यज्ञाद्यज्ञं निर्मिमा ऽइति तस्मादनस एवगृह्णीयात् ॥७॥ उतो पात्र्यै
गृह्णन्ति । अनन्तरायमु तर्हि यजूंषि जपेत्स्फ्यमु तर्ह्यवस्तदुपोह्य गृह्णीयाद्यतो यु-
नज्म ततो विमुञ्चामीति यतो ह्येव युञ्जन्ति ततो विमुञ्चन्ति ॥८॥ तस्य वा
ऽएतस्यानसः । अग्निरेव धूरग्निर्हि वै धूरथ य एनद्वहन्त्यग्निदग्धमिवैषां वहं भव-
त्यथ यज्जघनेन कस्तम्भीं प्र ऽउगं वेदिरेवास्य सा नीड एव हविर्धानम् ॥९॥
स धुरमभिमृशति । धूरसि धूर्व धूर्वन्तं धूर्व तं यो ऽस्मान्धूर्वति तं धूर्व यं वयं
धूर्वाम इत्यग्निर्वा ऽएष धुर्यस्तमेतदत्येष्यन्भवति हविर्ग्रहीष्यंस्तस्मा ऽएवैतान्नि-
ह्नुते तथो हैतमेषो ऽतियन्तमग्निर्धुर्यो न हिनस्ति ॥१०॥ तद्ध स्मैतदारुणिराह ।
अर्धमासशो वा ऽअहं सपत्नान्धूर्वामीत्येतद्ध स्म स तदभ्याह ॥११॥ अथ जघ-
नेन कस्तम्भीमीषामभिमृश्य जपति । देवानामसि वह्नितमं सस्नितमं पप्रितमं जु-
ष्टतमं देवहूतमम् । अह्रुतमसि हविर्धानं दृंहस्व मा ह्वारित्यन एवैतदुपस्तौ-
त्युपस्तुताद्रातमनसो हविर्गृह्णानीति मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीदिति यजमानो वै यज्ञ-
पतिस्तद्यजमानायैवैतदह्वलामाशास्ते ॥१२॥ अथाक्रमते । विष्णुस्त्वा क्रमतामिति

क्योंकि जब देव यज्ञ करने लगे तो डरे कि कहीं असुर-राक्षस यज्ञ में विघ्न न डालें। अतः पहले से ही वह दुष्ट राक्षसों को यज्ञ से दूर कर देता है ।।३।।

अब वह (धान की गाड़ी की ओर) चलता है यह मंत्रांश बोलकर (यजु० १।७)—"अन्तरिक्ष में चलता हूँ।" राक्षस अन्तरिक्ष में खुले-बन्द दोनों ओर चलता है। इसी प्रकार यह पुरुष (अध्वर्यु) भी खुले-बन्द, दोनों ओर चलता है। इस प्रकार वह यह मंत्रांश पढ़कर अन्तरिक्ष को दुष्ट राक्षसों से मुक्त कर देता है ।।४।।

(हवि के धान को) गाड़ी से ही लेना चाहिये। गाड़ी पहले है और यज्ञ-शाला पीछे। जो पहले है उसको मैं पहले करूँ। इसलिये गाड़ी से ही लेना चाहिये ।।५।।

अनस् (गाड़ी) का अर्थ है भूमा (बहुतायत)। वस्तुतः गाड़ी बहुतायत का चिह्न है। जो चीज बहुत होती है उसको कहते हैं 'गाड़ी भरकर है'। इस प्रकार बहुतायत का सम्पादन करता है। इसलिये गाड़ी से ही लेना चाहिये ।।६।।

यज्ञ गाड़ी है। यज्ञ वस्तुतः गाड़ी है। इसलिये यजुः-मंत्रों का संकेत गाड़ी की ओर है; कोष्ठ (कोठार) या घड़े की ओर नहीं। यह ठीक है कि ऋषियों ने चावलों को चमड़े के थैले से निकाला था। इसलिये यजुः-मंत्र ऋषियों के सम्बन्ध में चमड़े के थैले की ओर संकेत करते हैं। परन्तु यहाँ तो प्रकृत अर्थ ही है—'यज्ञ से यज्ञ को करूँ।' इसलिये गाड़ी से ही लेना चाहिये ।।७।।

कुछ पात्र से भी लेते हैं। फिर भी यजुः-मंत्रों को पूरा-पूरा पढ़ना चाहिये। इस दशा में स्फ्या को पात्र में डालना चाहिये, यह सोचकर कि जहाँ जोड़ूँ वहीं खोलूँ। जहाँ जोड़ते हैं वहीं खोलते हैं (गाड़ी का जुआ जहाँ जोड़ा जाता है वहीं खोला जाता है) ।।८।।

इस गाड़ी का जुआ अग्नि हो। जुआ अग्नि है, क्योंकि जुआ जब बैलों के कन्धों पर रक्खा जाता है तो कन्धे जल जाते हैं। डण्डे का जो बीच का भाग है वह मानो वेदी है और गाड़ी में जहाँ चावल रहता है वह मानो हविर्धान है। इस प्रकार गाड़ी की यज्ञ से उपमा दी गई है ।।९।।

अब वह जुए को छूता है, यजु० १।८ के इस अंश को पढ़कर—"तू जुआ है। उसको सता जो सतानेवाला है। उसको सता जो हमको सताता है या जिसको हम सताते हैं।" जुए में अग्नि होता है। जब वह हवि लेने जायगा तो जुए के पास से गुजरेगा। इस प्रकार जुए को प्रसन्न करता है जिससे जुआ उसको कष्ट न दे ।।१०।।

आरुणी ने जो कहा था कि मैं हर आधे मास में शत्रुओं का नाश करता हूँ वह इसी सम्बन्ध में कहा था ।।११।।

डण्डे को छूते हुए, यजु० १।८ और १।९ के इन अंशों का जाप करता है—"तू देवों में सबसे अच्छा ले-जानेवाला, सबसे अच्छा जुड़ा हुआ, सबसे अच्छा भरा हुआ, सबसे अच्छा, प्यारा, सबसे अच्छा निमंत्रण देनेवाला है।" "तू सबसे दृढ़ हविर्धान है। कड़ा रह, ढीला न पड़।" इस प्रकार वह गाड़ी की स्तुति करता है कि इस प्रकार स्तुत और प्रसन्न गाड़ी से वह हवि ले सके। "यज्ञपति स्खलित न हो" (यजु० १।९)। यजमान ही यज्ञपति है। यजमान की दृढ़ता के लिए ही यह प्रार्थना करता है ।।१२।।

(दाहिने पहिये पर से) गाड़ी पर चढ़ता है इस मंत्र से (यजु० १।९)—"विष्णु तुझ पर

यज्ञो वै विष्णुः स देवेभ्य इमां विक्रान्तिं विचक्रमे येषामियं विक्रान्तिरिदमेव प्रथमेन पदेन पस्पाराथेदमन्तरिक्षं द्वितीयेन दिवमुत्तमेनैतामेवैष एतस्मै विष्णुर्यज्ञो विक्रान्तिं विक्रमते ॥१३॥ अथ प्रेक्षते । उरु वातायेति प्राणो वै वातस्तद्ब्रह्मणोवैतत्प्राणाय वातायोरुगायं कुरुते ॥१४॥ अथापास्यति । अपहतꣳ रक्ष इति यद्यत्र किञ्चिदापन्नं भवति यद्यु नाभ्येव मृशेत्तन्नाष्ट्रा एवैतद्रक्षाꣳस्यतोऽपहन्ति ॥१५॥ अथाभिपद्यते । यद्धन्तां पञ्चति पञ्च वाऽइमा अङ्गुलयः पाङ्क्तो वै यज्ञस्तद्यज्ञमेवैतदत्र दधाति ॥१६॥ अथ गृह्णाति । देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नये जुष्टं गृह्णामीति सविता वै देवानां प्रसविता तत्सवितृप्रसूत एवैतद्गृह्णात्यश्विनोर्बाहुभ्यामित्यश्विनावध्वर्यू पूष्णो हस्ताभ्यामिति पूषा भागदुघोऽशनं पाणिभ्यामुपनिधाता सत्यं देवा अनृतं मनुष्यास्तत्सत्येनैवैतद्गृह्णाति ॥१७॥ अथ देवतायाऽआदिशति । सर्वा ह वै देवता अध्वर्युꣳ हविर्ग्रहीष्यन्तमुपतिष्ठन्ते मम नाम ग्रहीष्यति मम नाम ग्रहीष्यतीति ताभ्य एवैतत्सह सतीभ्योऽसमदं करोति ॥१८॥ यद्वेव देवतायाऽआदिशति । यावतीभ्यो ह वै देवताभ्यो हवीꣳषि गृह्यन्तऽऋणमु हैव तास्तेन मन्यन्ते यदस्मै तं कामꣳ समर्धयेयुर्यत्काम्या गृह्णाति तस्माद्वै देवतायाऽआदिशत्येवमेव यथापूर्वꣳ हवीꣳषि गृहीत्वा ॥१९॥ अथाभिमृशति । भूताय त्वा नारातयऽइति तद्यत एव गृह्णाति तदेवैतत्पुनराप्याययति ॥२०॥ अथ प्राङ्प्रेक्षते । स्वरभिविख्येषमिति परिवृतमिव वाऽएतदनो भवति तदस्यैतच्चक्षुः पाप्मगृहीतमिव भवति यज्ञो वै स्वरहर्देवाः सूर्यस्तत्स्वरेवैतदतोऽभिविपश्यति ॥२१॥ अथावरोहति । दृꣳहन्तां दुर्याः पृथिव्यामिति गृहा वै दुर्यास्ते हैत ईश्वरो गृहा यजमानस्य योऽस्यैषोऽध्वर्युर्यज्ञेन चरति तं प्रयन्तमनु प्रच्योतोस्तस्येश्वरः कुलं विक्षोब्धोस्तानेवैतदस्यां पृथिव्यां दृꣳहति तथा नानुप्रच्यवन्ते तथा न विक्षोभन्ते तस्मादाह दृꣳहन्तां दुर्याः पृथिव्या-

चढ़े।" यज्ञ का नाम विष्णु है। यज्ञ ने ही अपने पराक्रम से देवों को पराक्रमयुक्त किया जो पराक्रम कि देवों में है। पहले पैर से पृथिवी को, दूसरे से अन्तरिक्ष को, तीसरे से द्यौलोक को। इस यजमान के लिए भी यह विष्णु नामक यज्ञ इस सब पराक्रम को प्राप्त कराता है ॥१३॥

अब वह (चावलों को देखता है और) गाड़ी को सम्बोधन करके इस मन्त्रांश (यजु० १।९) का जाप करता है—"वायु के लिए खुल।" वायु प्राण है। इस मन्त्र के जाप से वह यजमान के प्राण को खुली वायु प्रदान करता है ॥१४॥

(अगर चावलों पर कोई तिनका या घास आ जावे तो) इस मन्त्रांश (यजु० १।९) को पढ़कर उड़ाता है—"राक्षस भाग गया।" यदि न हो, तो भी छू ले और इस मन्त्र को पढ़ ले। इससे राक्षस दूर भाग जाय ॥१५॥

अब वह चावलों को इस मन्त्रांश (यजु० १।९) को जपकर छूता है—"पाँचों इसको ले लेवें।" 'पाँचों' का अर्थ है पाँच अँगुलियाँ; यज्ञ को भी पांक्त (पाँच वाला) कहते हैं। इस प्रकार यज्ञ को धारण करता है ॥१६॥

यजु० १।१० के इस अंश को पढ़कर (चावल) लेता है—"देव सविता की प्रेरणा से, पूषा के दोनों हाथों से अग्नि के लिए तुझको लेता हूँ।" सविता देवों का प्रेरक है। सविता की इसी प्रेरणा से इसको लेता है, अश्विन की दोनों भुजाओं से। दोनों अध्वर्यु अश्विन हैं। "पूषा के दोनों हाथों से", पूषा बाँटनेवाला है, जो हाथों से भागों को बाँटता है। देव सत्य हैं। मनुष्य अनृत है। इस प्रकार सत्य के द्वारा ही चावलों को ग्रहण करता है ॥१७॥

अब देवताओं का नाम निर्देश करता है। जब अध्वर्यु हवि देने को होता है तो सभी देव घिर आते हैं, 'वह मुझको देगा, वह मुझको देगा' इस प्रकार सोचकर। इस प्रकार वह आये हुए देवों में सामञ्जस्य उत्पन्न करता है ॥१८॥

देवों के नामों के निर्देश का एक प्रयोजन यह भी है कि जिन देवताओं के लिए हवि ग्रहण की जाती है उन देवताओं का यह कर्तव्य हो जाता है कि वे यजमान की इच्छाओं की पूर्ति करें, इसलिए भी देवताओं का निर्देश करता है। पूर्ववत् देवताओं के लिए निर्देश करके—॥१९॥

वह (बचे हुए चावलों को) यजु० १।११ के इस अंश को जपकर छूता है—"विभूति के लिए तुझको, न कि शत्रु के लिए।" जितना वह लेता है उतनी ही उसकी पूर्ति कर देता है ॥२०॥

अब (गाड़ी पर बैठकर) पूर्व की ओर देखता है इस मन्त्रांश (यजु० १।११) को जपकर, "मैं प्रकाश का अवलोकन करूँ।" गाड़ी ढकी होती है, मानो उसकी आँख पापयुक्त है। यज्ञ प्रकाश है, यज्ञ दिन है, यज्ञ देव है, यज्ञ सूर्य है। इस प्रकार वह प्रकाशरूपी यज्ञ का अवलोकन करता है ॥२१॥

इस मन्त्रांश (यजु० १।११) को पढ़कर गाड़ी से उतरता है—"दरवाजोंवाले पृथिवी पर सुदृढ़ रहें।" दरवाजोंवाले घर हैं। जब अध्वर्यु यज्ञ के साथ चलता है तो सम्भव है कि उसके पीछे यजमान के घर टूट जायँ और उसका परिवार नष्ट हो जाय। अतः इस प्रकार यजमान के घर को भूमि पर सुदृढ़ करता है कि वे टूटें न और परिवार नष्ट न हो। इसलिए वह कहता है,

मित्यथ प्रेत्युर्वन्तरिक्षमन्वेमीति सोऽसाविव बन्धुः ॥२२॥ स यस्य गार्हपत्ये ह-
वीꣳषि श्रपयन्ति । गार्हपत्ये तस्य पात्राणि सꣳसादयन्ति जघनेनो तर्हि गार्हपत्यꣳ
सादयेद्यस्याहवनीये हवीꣳषि श्रपयन्त्याहवनीये तस्य पात्राणि सꣳसादयन्ति जघ-
नेनो तर्ह्याहवनीयꣳ सादयेत्पृथिव्यास्त्वा नाभौ सादयामीति मध्यं वै नाभिर्मध्य-
मभयं तस्मादाह पृथिव्यास्त्वा नाभौ सादयामीत्यदित्याऽउपस्थऽइत्युपस्थऽइवै-
नदभार्षुरिति वाऽआहुर्यत्सुगुप्तं गोपायन्ति तस्मादाहादित्याऽउपस्थऽइत्यग्ने हव्यꣳ
रक्षेति तदग्नये चैवैतद्धविः परिददाति गुप्त्याऽअस्यै च पृथिव्यै तस्मादाहाग्ने हव्यꣳ
रक्षेति ॥२३॥ ब्राह्मणम् ॥२॥

पवित्रे करोति । पवित्रे स्थो वैष्णव्याविति यज्ञो वै विष्णुर्यज्ञिये स्थ इत्येवै-
तदाह ॥१॥ ते वै द्वे भवतः । अयं वै पवित्रं योऽयं पवते सोऽयमेक-इवैव
पवते सोऽयं पुरुषेऽन्तः प्रविष्टः प्राङ् प्रत्यङ् ताविमौ प्राणोदानौ तदेतस्यैवानु
मात्रां तस्माद्द्वे भवतः ॥२॥ अथोऽअपि त्रीणि स्युः । व्यानो हि तृतीयो द्वे त्वेव
भवतस्ताभ्यामेताः प्रोक्षणीरुत्पूय ताभिः प्रोक्षति तद्यदेताभ्यामुत्पुनाति ॥३॥ वृ-
त्रो ह वाऽइदꣳ सर्वं वृत्वा शिश्ये । यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवी स यदिदꣳ सर्वं
वृत्वा शिश्ये तस्माद्वृत्रो नाम ॥४॥ तमिन्द्रो जघान । स हतः पूतिः सर्वत एवा-
पोऽभिप्र सुस्राव सर्वतऽइव ह्ययꣳ समुद्रस्तस्मादु हैका आपो बीभत्साञ्चक्रिरे ता
उपर्युपर्यतिपुप्रुविरेऽत इमे दर्भास्ता हैता अनापूयिता आपोऽस्ति वाऽइत-
रासु सꣳसृष्टमिव यदेना वृत्रः पूतिरभिप्रास्रवत्तदेवासामेताभ्यां पवित्राभ्यामपहन्त्यथ
मेध्याभिरेवाद्भिः प्रोक्षति तस्माद्वाऽएताभ्यामुत्पुनाति ॥५॥ स उत्पुनाति । स-
वितुर्वः प्रसवऽउत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिरिति सविता वै देवा-
नां प्रसविता तत्सवितृप्रसूत एवैतदुत्पुनात्यच्छिद्रेण पवित्रेणेति यो वाऽअयं प-
वतऽएषोऽच्छिद्रं पवित्रमेतेनैतदाह सूर्यस्य रश्मिभिरित्येते वाऽउत्पवितारो

"दरवाजोंवाले पृथिवी पर सुदृढ़ होवें।" अब वह (गार्हपत्य के उत्तर की ओर) चलता है यह मंत्रांश (यजु० १।१०) पढ़कर—"मैं अन्तरिक्ष में चलता हूँ।" इसका वही अर्थ है ॥२२॥

जिस यजमान की गार्हपत्य अग्नि में अध्वर्यु आदि हवि पकाते हैं, उसी गार्हपत्य में पात्र भी रखते हैं। वे पात्र गार्हपत्य के पिछले भाग में रखने चाहिएं। परन्तु जिसकी आहवनीय में हवि पकाते हैं उस आहवनीय में पात्र रखते हैं। इन पात्रों को आहवनीय के पीछे रखना चाहिए। यजु० १।११ के इस अंश को जपकर ऐसा कहे, "मैं तुझको पृथिवी की नाभि में रखता हूँ।" नाभि का अर्थ है—मध्य में भय नहीं होता। इसलिए कहता है कि "मैं तुझे पृथ्वी की नाभि में रखता हूँ।"—"अदिति की गोद में।" जब किसी चीज को सुरक्षित रखते हैं तो कहावत है कि 'गोद में रख ली है'। इसलिए कहा "अदिति की गोद में।" 'अग्नि! हवि की रक्षा कर', इस प्रकार वह हवि को पृथिवी और अग्नि के संरक्षण में देता है। इसलिए कहता है, "हे अग्नि, तू इस हवि की रक्षा कर" ॥२३॥

अध्याय १—ब्राह्मण ३

अब दो पवित्रे बनाता है यजु० १।१२ का यह अंश पढ़कर–"तुम पवित्रे हो विष्णु के।" यज्ञ का नाम विष्णु है। इसलिए कहता है कि तुम यज्ञ के हो ॥१॥

वे दो होते हैं। यह जो वायु बहता है वह पवित्रा है। वह एक ही होता है। परन्तु जब वह पुरुष के भीतर जाता है तो उसके दो भाग हो जाते हैं—एक अगला और दूसरा पिछला। ये हैं प्राण और उदान। यह पवित्रीकरण भी उसी भाँति का है। इसलिए पवित्रे दो होते हैं ॥२॥

पवित्रे तीन भी हो सकते हैं, क्योंकि व्यान भी तो है। परन्तु दो ही होने चाहिएँ। इन दोनों पवित्रों से प्रोक्षणी जल को छिड़कता है। इसका कारण यह है—॥३॥

वृत्र इस सब पृथिवी को घेरकर सो रहा। द्यौ और पृथिवी के बीच में जो कुछ है उस सबको ढककर सो रहा। इसलिए उसका नाम वृत्र पड़ा ॥४॥

उस वृत्र को इन्द्र ने मारा। वह मरकर बदबू करता हुआ चारों ओर जलों की ओर बह निकला। समुद्र तो चारों ओर ही हैं। इससे कुछ जल भयभीत हुए और ऊपर-ऊपर बहे। वहीं से ये दर्भ उत्पन्न हुए (जिनके पवित्रे बनते हैं)। ये उस जल के भाग हैं जो सड़ा नहीं था। परन्तु दूसरे जलों में वह बदबूदार भाग मिल गया, क्योंकि वृत्र उनमें बहकर जा मिला। इन पवित्रों से वह उस भाग को शुद्ध करता है। इसलिए पवित्र जल से छिड़कता है। इसलिए उससे शुद्ध करता है ॥५॥

वह इस मन्त्रांश (यजु० १।१२) को पढ़कर पवित्र करता है—"सविता की प्रेरणा से, छिद्ररहित पवित्रे से, सूर्य की किरणों से।" सविता देवों का प्रेरक है। 'छिद्ररहित पवित्रे से'

यत्सूर्यस्य रश्मयस्तस्मादाह सूर्यस्य रश्मिभिरिति ॥६॥ ताः सव्ये पाणौ कृत्वा । दक्षिणेनोदिङ्गयत्युपस्तौत्येवैना एतन्महयत्येव देवीरापोऽअग्रेगुवोऽअग्रेपुव इति देव्यो ह्यापस्तस्मादाह देवीराप इत्यग्रेगुव इति ता यत्समुद्रं गच्छन्ति तेनाग्रेगुवो ऽग्रेपुव इति ता यत्प्रथमाः सोमस्य राज्ञो भक्षयन्ति तेनाग्रेपुवोऽग्रऽइममद्य यज्ञं नयताग्रे यज्ञपतिꣳ सुधातुं यज्ञपतिं देवयुवमिति साधु यज्ञꣳ साधु यजमानमित्येवैतदाह ॥७॥ युष्मा इन्द्रोऽवृणीत वृत्रतूर्यऽइति । एता उ हीन्द्रोऽवृणीत वृत्रेण स्पर्धमान एताभिर्ह्येनमहंस्तस्मादाह युष्मा इन्द्रोऽवृणीत वृत्रतूर्यऽइति ॥८॥ यूयमिन्द्रमवृणीध्वं वृत्रतूर्यऽइति । एता उ हीन्द्रमवृणात वृत्रेण स्पर्धमानमेताभिर्ह्येनमहंस्तस्मादाह यूयमिन्द्रमवृणीध्वं वृत्रतूर्यऽइति ॥९॥ प्रोक्षिता स्थेति । तदेताभ्यो निह्नुते ऽथ हविः प्रोक्षत्येको वै प्रोक्षणस्य बन्धुर्मेध्यमेवैतत्करोति ॥१०॥ स प्रोक्षति अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामीति तद्यस्यै देवतायै हविर्भवति तस्यै मेध्यं करोत्येवमेव यथापूर्वꣳ हवीꣳषि प्रोक्ष्य ॥११॥ अथ यज्ञपात्राणि प्रोक्षति । दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वं देवयज्यायाऽइति दैव्याय हि कर्मणे शुन्धति देवयज्यायै यद्वो ऽशुद्धाः पराजघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामीति तद्यदेवैषामत्राशुद्धस्तक्षा वान्यो वामेध्यः कश्चित्पराहन्ति तदेवैषामेतदद्भिर्मेध्यं करोति तस्मादाह यद्वोऽशुद्धाः पराजघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामीति ॥१२॥ ब्राह्मणम् ॥३॥

अथ कृष्णाजिनमादत्ते । यज्ञस्यैव सर्वत्वाय यज्ञो ह देवेभ्योऽपचक्राम स कृष्णो भूत्वा चचार तस्य देवा अनुविद्य त्वचमेवावच्छायाजह्रुः ॥१॥ तस्य यानि शुक्लानि च कृष्णानि च लोमानि । तान्यृचां च साम्नां च रूपं यानि शुक्लानि तानि साम्नाꣳ रूपं यानि कृष्णानि तान्यृचां यदि वेतरथा यान्येव कृष्णानि तानि साम्नाꣳ रूपं यानि शुक्लानि तान्यृचां यान्येव बभ्रूणीव हरीणि तानि यजुषाꣳ रूपम् ॥२॥ सैषा त्रयी विद्या यज्ञः । तस्या एतच्छिल्पमेष वर्णस्तद्यत्कृष्णाजिनं भवति यज्ञस्यैव

वायु जो बहता है छिद्ररहित पवित्रा है। "सूर्य की किरणों से" क्योंकि सूर्य की किरणें पवित्र करने वाली हैं ।।६।।

बायें हाथ में जल लेकर दाहिने हाथ से उछालता है, स्तुति करते हुए और महत्ता दर्शाते हुए (यजु० १।१२)—"देवी जलो! आगे चलनेवाले, आगे पवित्र करनेवाले।" जल दिव्य हैं। इसलिए कहा 'देवी रायः'। आगे चलकर समुद्र में जाते हैं इसलिए कहा 'अग्रे गुवः'। 'अग्रे पुवः', क्योंकि पहले वे सोम का पान करते हैं। अब 'इस यज्ञ को आगे बढ़ाओ, यज्ञपति को, जो सुधातु और देवों का प्रिय है।' इसके कहने का तात्पर्य है कि यज्ञ और पति ठीक हों ।।७।।

अब जपता है (यजु० १।३)—"हे जलो! तुमको इन्द्र ने वृत्र की लड़ाई में साथी चुना।" जब इन्द्र ने वृत्र को मारना चाहा तो जलों को चुना कि इन्हीं की सहायता से मैं वृत्र को मारूँगा। इसलिए कहता है कि "हे जलो, वृत्र की लड़ाई में तुम इन्द्र के साथी हो" ।।८।।

"तुमने भी इन्द्र को वृत्र की लड़ाई में चुना"—(यजु० १।१३)। जब इन्द्र वृत्र से लड़ाई कर रहा था तो जलों ने भी इन्द्र को चुना और उनकी सहायता से इन्द्र ने वृत्र को मारा। इसलिए कहता है कि 'तुमने भी इन्द्र को वृत्र की लड़ाई में चुना' ।।९।।

यजु० १।१३ का यह अंश पढ़ता है—"तुम पवित्र हो गये।" हवि के ऊपर जल छिड़ककर उसको पवित्र करता है। इस पवित्रीकरण का भी वही तात्पर्य है। इसीलिए ऐसा करता है ।।१०।।

वह पवित्र करते समय इस मन्त्रांश को पढ़ता है—"अग्नि के लिए तुझको पवित्र करता हूँ।" जिस देवता के लिए हवि होती है उसी के लिए पवित्र की जाती है। यथापूर्व सब हवियों को पवित्र करके ।।११।।

यज्ञ-पात्रों को पवित्र करता है इस मन्त्रांश (यजु० १।१३) को पढ़कर—"दिव्य कर्म के लिए, देव-यज्ञ के लिए पवित्र होओ।" दिव्य कर्म के लिए शुद्ध करता है। देव-यज्ञ के लिए तुम्हारा जो भाग छूने से अपवित्र हो गया, उसको मैं इस मन्त्र के द्वारा शुद्ध करता हूँ। बढ़ई ने या किसी और ने छूकर इनको अशुद्ध कर दिया हो। इस अशुद्धि को वह इस प्रकार दूर करता है। इसीलिए कहा कि 'अपवित्रों ने जो तुम्हारा अंश पवित्र किया हो उसको मैं पवित्र करता हूँ' ।।१२।।

अध्याय १—ब्राह्मण ४

अब यज्ञ की पूर्णता के लिए काले मृग का चमड़ा लेता है। एक बार यज्ञ देवताओं से भाग गया और काले मृग के रूप में विचरता रहा। देवताओं ने उसको खोज लिया और उसका चमड़ा ले आये ।।१।।

उसके जो सफेद और काले लोम हैं वे ऋक् और साम का रूप हैं—सफेद साम का और काले ऋक् का, या इससे उलटा अर्थात् काले साम का और सफेद ऋक् का। जो भूरे या खाकी हैं वे यजुः का रूप हैं ।।२।।

यह त्रयी विद्या यज्ञ है। उसका जो शिल्प है वह काले मृग-चर्म के रूप में है। वह इस

सर्वत्वाय तस्मात्कृष्णाजिनमधि दीक्षन्ते यज्ञस्यैव सर्वत्वाय तस्मादध्यवहननमधिषे-
षणं भवत्यस्कन्नꣳ हविरसदिति तद्यदेवात्र तण्डुलो वा पिष्टं वा स्कन्दात्तद्यज्ञे
यज्ञः प्रतितिष्ठादिति तस्मादध्यवहननमधिषेषणं भवति ॥३॥ अथ कृष्णाजिनमा-
दत्ते । शर्मासीति चर्म वा एतत्कृष्णस्य तदस्य तन्मानुषꣳ शर्म देवत्रा तस्मादाह
शर्मासीति तदवधूनोत्यवधूतꣳ रक्षोऽवधूता अरातय इति तन्नाष्ट्रा एवैतद्रक्षाꣳ-
स्यतोऽपहन्त्यतिनत्येव पात्राण्यवधूनोति यद्वास्यामिध्यमभूत्तद्वास्यैतदवधूनोति
॥४॥ तत्प्रतीचीनग्रीवमुपस्तृणाति । अदित्यास्त्वगसि प्रति त्वादितिर्वेत्त्विति इयं वै
पृथिव्यदितिस्तस्या अस्यै त्वग्यदिदमस्यामधि किंच तस्मादाहादित्यास्त्वगसीति प्रति
त्वादितिर्वेत्त्विति प्रति हि स्वः संजानीते तत्संज्ञामेवैतत्कृष्णाजिनाय च वदति
नेदन्योऽन्यꣳ हिनसात इत्यभिनिहितमेव सव्येन पाणिना भवति ॥५॥ अथ
दक्षिणेनोलूखलमाहरति । नेदिह पुरा नाष्ट्रा रक्षाꣳस्याविशानिति ब्राह्मणो
हि रक्षसामपहन्ता तस्मादभिनिहितमेव सव्येन पाणिना भवति ॥६॥ अथो-
लूखलं निदधाति । अद्रिरसि वानस्पत्यो ग्रावासि पृथुबुध्न इति वा तद्यथैवादः
सोमꣳ राजानं ग्रावभिरभिषुण्वन्त्येवमेवैतदुलूखलमुसलाभ्यां दृषदुपलाभ्याꣳ ह-
विर्यज्ञमभिषुणोत्यद्रय इति वै तेषामेकं नाम तस्मादाहाद्रिरसीति वानस्पत्य इति
वानस्पत्यो ह्येष ग्रावासि पृथुबुध्न इति ग्रावा ह्येष पृथुबुध्नो ह्येष प्रति त्वादि-
त्यास्त्वग्वेत्त्विति तत्संज्ञामेवैतत्कृष्णाजिनाय च वदति नेदन्योऽन्यꣳ हिनसात
इति ॥७॥ अथ हविरावपति । अग्नेस्तनूरसि वाचो विसर्जनमिति यज्ञो हि
तेनाग्नेस्तनूर्वाचो विसर्जनमिति यां वा अमूꣳ हविर्ग्रहीष्यन्वाचं यच्छत्यत्र वै तां
विसृजते तद्यदेतामत्र वाचं विसृजत एष हि यज्ञ उलूखले प्रत्यष्ठादेष हि प्रा-
सारि तस्मादाह वाचो विसर्जनमिति ॥८॥ स यदिदं पुरा मानुषीं वाचं व्याह-
रेत् । तत्रो वैष्णवीमृचं वा यजुर्वा जपेद्यज्ञो वै विष्णुस्तद्यज्ञं पुनरारभते तस्यो

चमड़े को यज्ञ की पूर्णता के लिए लेता है, इसलिए काले मृग-चर्म पर ही दीक्षा ली जाती है। यज्ञ की पूर्णता के लिए चर्म को लेते हैं, इसलिए चावलों के कूटने-फटकने का काम भी इसी पर किया जाता है, जिससे हवि न फैले। यदि कुछ भाग गिरेगा भी, तो इसी पर गिरेगा और यज्ञ की पूर्णता नष्ट न होगी। इसीलिए कूटने-फटकने का काम चर्म पर किया जाता है ॥३॥

कृष्ण मृग-चर्म लेते समय यजु० १।१४ के इस अंश का जाप करता है—"तू शर्म या कल्याणकारक है।" इसका मानुषी नाम है चर्म और दैवी नाम है शर्म। इसीलिए कहा 'तू शर्म[1] है'। अब इसी मन्त्र के अगले टुकड़े को बोलकर उसे झाड़ता है—'राक्षस झाड़ दिये गये, शत्रु झाड़ दिये गये।' ऐसा करके वह राक्षस या शत्रुओं को दूर करता है। पात्रों से हटकर झाड़ता है, जो कुछ उसमें अपवित्र हो उसको झाड़ता है ॥४॥

अब उसकी गर्दन का भाग पश्चिम की ओर करके इस प्रकार बिछाता है कि बाल ऊपर को रहें, यजु० १।१४ का अगला भाग पढ़कर—"तू अदिति का चमड़ा है। अदिति तुझको स्वीकार करें।" पृथिवी अदिति है। उसके ऊपर जो कुछ हो वह उसका चमड़ा है। इसीलिए कहता है, 'तू अदिति का चर्म है, अदिति तुझे स्वीकार करे।' अपना अपने को स्वीकार करता है। कृष्ण मृग-चर्म को इसलिए ऐसा करता है कि चर्म और पृथिवी में सम्बन्ध स्थापित किया जाय और एक-दूसरे को न सतावें। जब वह बायें हाथ में पकड़ा होता है उसी समय—॥५॥

दाहिने हाथ से उखली पकड़ता है कि कहीं इस बीच में राक्षस वहाँ न आ जायें। ब्राह्मण राक्षसों का घातक होता है, अतः जबकि बायें हाथ में चमड़ा पकड़ा होता है, तभी—॥६॥

उखली को रख देता है, यह कहकर—"तू पत्थर है वनस्पति का—चौड़ा पत्थर" (यजु० १।१४)। जैसे सोमयज्ञ में सोमलता को पत्थरों पर पीसते हैं, उसी प्रकार यहाँ भी हवि को उखली और मूसल से कूटते हैं; इनका सामान्य नाम 'अद्रि' है। इसलिए कहा 'तू अद्रि (पत्थर) है'। 'वनस्पति का' इसलिए कहा कि वह सिल लकड़ी की होती है। 'चौड़ा पत्थर है' इसलिए 'चौड़ा पत्थर' कहा। 'अदिति का चमड़ा तुझे स्वीकार करे'—यह इसलिए कहा कि चमड़े और उखली में सम्बन्ध हो जाय और एक-दूसरे को हानि न पहुँचावें ॥७॥

अब यजु० १।१५ के एक टुकड़े को पढ़कर हवि डालता है—"तू अग्नि का शरीर है, वाणी को मुक्त करनेवाला।" चावल यज्ञ के लिए है, इसलिए उसको 'अग्नि का शरीर' कहा। 'वाणी को मुक्त करनेवाला' इसलिए कहा कि जब गाड़ी से चावल लेने गया था, उस समय मौन धारण किया था। अब उस मौन को तोड़ता है। मौन तोड़ने का हेतु यह है कि अब यज्ञ उखली में स्थापित हो गया उसका प्रसार हो गया। इसीलिए कहा कि 'तू वाणी को मुक्त करनेवाला है' ॥८॥

यदि इस बीच में (मौन के समय) कुछ लौकिक शब्द मुँह से निकल जायें तो ऋक् या यजुः से कोई विष्णु का मन्त्र बोलना चाहिए। यज्ञ विष्णु है। इस प्रकार यज्ञ का आरम्भ हो जाता

---

१. शर्म का अर्थ है कल्याणकारक। चर्म और शर्म में थोड़ा ही भेद है। चर्म भी शरीर के लिए कल्याणकारक होता है।

हैषा प्रायश्चित्तिर्देववीतये त्वा गृह्णामीति देवानवदित्यु हि हविर्गृह्यते ॥९॥ अथ
मुसलमादत्ते । बृहद्ग्रावासि वानस्पत्य इति बृहद्ग्रावा ह्येष वानस्पत्यो ह्येष त-
द्वदधाति स इदं देवेभ्यो हविः शमीष्व सुशमि शमीष्वेति स इदं देवेभ्यो हविः
सꣳस्कुरु साधुसꣳस्कृतꣳ सꣳस्कुर्वित्येवैतदाह ॥१०॥ अथ हविष्कृतमुद्वादयति । ह-
विष्कृदेहि हविष्कृदेहीति वाग्वै हविष्कृद्वाचमेवैतद्विसृजति वागु वै यज्ञस्तद्यज्ञ-
मेवैतत्पुनरुपह्वयते ॥११॥ तानि वा एतानि । चत्वारि वाच एहीति ब्राह्मण-
स्यागह्याद्रवेति वैश्यस्य च राजन्यबन्धोश्चाधावेति शूद्रस्य स यदेव ब्राह्मणस्य त-
दाहैतद्धि यज्ञियतममेतदु ह वै वाचः शान्ततमं यदेहीति तस्मादेहीत्येव ब्रूयात्
॥१२॥ तद्ध स्मैतत्पुरा । जायैव हविष्कृदुपोत्तिष्ठति तदिदमप्येतर्हि य एव कश्चो-
पोत्तिष्ठति स यत्रैष हविष्कृतमुद्वादयति तदेको दृषदुपले समाहन्ति तद्यदेतामत्र
वाचं प्रत्युद्वादयन्ति ॥१३॥ मनोर्ह वा ऋषभ आस । तस्मिन्नसुरघ्नी सपत्नघ्नी वा-
क्प्रविष्टास तस्य ह स्म श्वसथाद्रवथादसुररक्षसानि मृद्यमानानि यन्ति ते हासु-
राः समूदिरे पापं वत नोऽयमृषभः सचते कथं न्विमं दभ्नुयामेति किलाताकुली
ऽइति हासुरब्रह्मावासतुः ॥१४॥ तौ होचतुः । श्रद्धादेवो वै मनुरावं नु वेदावे-
ति तौ हागत्योचतुर्मनो याजयाव त्वेति केनेत्यनेनर्षभेणेति तथेति तस्यालब्धस्य
सा वागपचक्राम ॥१५॥ सा मनोरेव जायां मनावीं प्रविवेश । तस्यै ह स्म यत्र
वदन्त्यै शृण्वन्ति ततो ह स्मैवासुररक्षसानि मृद्यमानानि यन्ति ते हासुराः समूदिर
ऽइतो वै नः पापीयः सचते भूयो हि मानुषी वाग्वदतीति किलाताकुली हैवोचतुः
श्रद्धादेवो वै मनुरावं न्वेव वेदावेति तौ हागत्योचतुर्मनो याजयाव त्वेति केने-
त्यनयैव जाययेति तथेति तस्या आलब्धायै सा वागपचक्राम ॥१६॥ सा यज्ञमेव
यज्ञपात्राणि प्रविवेश । ततो हैनां न शेकतुर्निर्हन्तुꣳ सैषासुरघ्नी वागुद्वदति स
यस्य हैवं विदुष एतामत्र वाचं प्रत्युद्वादयन्ति पापीयाꣳसो हैवास्य सपत्ना भव-

है, और यह मौन तोड़ने का प्रायश्चित्त भी है। अब जपता है—"देवों की प्रसन्नता के लिए मैं तुझको लेता हूँ।" वस्तुतः देवों की प्रसन्नता के लिए ही यज्ञ किया जाता है ॥९॥

अब यजु० १।१४ के इस अंश को पढ़कर मुसली पकड़ता है—"तू लकड़ी का बड़ा पत्थर है।" क्योंकि यह लकड़ी का भी है और बड़ा भी। अब इस मन्त्रांश (यजु० १।१४) को पढ़कर मुसली उखली में डालता है—"देवों के लिए हवि तैयार कर। अच्छी तरह तैयार कर।" तात्पर्य यह है कि इस हवि को देवों के लिए तैयार कर, जल्दी से तैयार कर ॥१०॥

अब वह हविष्कृत् (हवि तैयार करनेवाले) को बुलाता है—"हविष्कृत् आ, हविष्कृत् आ।" वाणी ही हविष्कृत् है, इस प्रकार वाणी को मुक्त करता है। वाणी यज्ञ है, इस प्रकार वह यज्ञ को फिर बुलाता है ॥११॥

बुलाने के चार प्रकार हैं—ब्राह्मण को बुलाना हो तो कहेंगे 'एहि', वैश्य के लिए 'आगहि', क्षत्रिय के लिए 'आद्रव', शूद्र के लिए 'आधाव'। इस स्थल पर ब्राह्मणवाला निमंत्रण देना चाहिए, क्योंकि यही यज्ञ के उपयुक्त है और शान्ततम है। अतः कहता है, 'एहि' (यहाँ आइये) ॥१२॥

पहली प्रथा यह थी कि इस निमन्त्रण पर यजमान की पत्नी ही उठकर हविष्कृत् बनती थी। इसलिए यहाँ भी वह (पत्नी) या कोई ऋत्विज उठता है। जब अध्वर्यु हविष्कृत् को बुलाता है तो एक ऋत्विज दोनों सिलों को पीटता है। ऐसा शोर क्यों करते हैं? इसलिए कि—॥१३॥

मनु के पास एक बैल था। उसमें असुर को मारनेवाली और शत्रु को मारनेवाली वाणी घुस गई। जब वह हुङ्कारता और चिल्लाता तो असुर राक्षस मर जाते थे। तब असुरों ने कहा—"यह बैल तो हमारा बड़ा अनर्थ करता है, इसको कैसे मारें?" 'असुरों के ऋत्विज थे 'किलात' और 'आकुली'' ॥१४॥

ये दोनों बोले—"कहते हैं कि मनु श्रद्धालु है, इसको जाँचें।" तब वे मनु के पास गये और कहा—"हे मनु, हम तुम्हारे लिए यज्ञ करना चाहते हैं।" मनु ने पूछा—'किससे?" उन्होंने कहा—"इस बैल से।" उसने कहा—"अच्छा।" बैल के मरने पर वाणी वहाँ से चली गई ॥१५॥

वह मनु की पत्नी मनावी में घुस गई। जब वह उसको बोलते हुए सुनते तो राक्षस और असुर मर जाते। तब असुरों ने कहा—"यह तो और भी बुरा हुआ, क्योंकि (बैल की अपेक्षा) मनुष्य अधिक बोलता है।" तब किलात और आकुली ने कहा—"मनु को श्रद्धालु कहते हैं, चलो इसकी जाँच करें।" वे उसके पास गये और कहा—"हम तुम्हारे लिए यज्ञ करना चाहते हैं।" मनु ने पूछा—"किससे?" उन्होंने कहा—"इस तेरी पत्नी से।" उसने कहा—"अस्तु!" उसके मर जाने पर वाणी उसमें से निकल गई ॥१६॥

अब यह यज्ञ और यज्ञ-पात्रों में घुस गई और वे दोनों (किलात और आकुली) उसको न निकाल सके। यही असुर और शत्रु को मारनेवाली वाणी इन पत्थरों से निकलती है। जो इस रहस्य को समझता है, उसके लिए जब यह शोर किया जाता है तो उसके शत्रुओं को बहुत

न्ति ॥१७॥ स समाहन्ति । कुक्कुटोऽसि मधुजिह्व इति मधुजिह्वो वै स देवेभ्य
आसीद्विषजिह्वोऽसुरेभ्यः स यो देवेभ्य आसीः स न एधीत्येवैतदाहेषमूर्जमावद
त्वया वयꣳ संघातꣳसंघातं जेष्मेति नात्र तिरोहितमिवास्ति ॥१८॥ अथ शूर्पमा-
दत्ते । वर्षवृद्धमसीति वर्षवृद्धꣳ ह्येतद्यदि नडानां यदि वेणूनां यदीषीकाणां वर्ष-
मु ह्येवैता वर्धयति ॥१९॥ अथ हविर्निर्वपति । प्रति त्वा वर्षवृद्धं वेत्त्विति वर्ष-
वृद्धा उ ह्येवैते यदि व्रीहयो यदि यवा वर्षमु ह्येवैतान्वर्धयति तत्संज्ञामेवैतच्छूर्पाय
च वदति नेदन्योऽन्यꣳ हिनसात इति ॥२०॥ अथ निष्पुनाति । परापूतꣳ रक्षः
परापूता अरातय इत्यथ तुषान्प्रहन्त्यपहतꣳ रक्ष इति तन्नाष्ट्रा एवैतद्रक्षाꣳस्यतो
ऽपहन्ति ॥२१॥ अथापविनक्ति । वायुर्वो विविनक्त्वित्ययं वै वायुर्योऽयं पवत
एष वा इदꣳ सर्वं विविनक्ति यदिदं किंच विविच्यते तदेनानेष एवैतद्विविनक्ति
स यदेत एतत्प्राप्नुवन्ति यत्रैनानध्यपविनक्ति ॥२२॥ अथानुमन्त्रयते । देवो वः स-
विता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना सुप्रतिगृहीता असन्नित्यथ त्रिः
फलीकरोति त्रिवृद्धि यज्ञः ॥२३॥ तद्धैके देवेभ्यः शुन्धध्वं देवेभ्यः शुन्धध्वमिति फ-
लीकुर्वन्ति तदु तथा न कुर्यादादिष्टं वा एतद्देवतायै हविर्भवत्यथैतद्वैश्वदेवं करो-
ति यदाह देवेभ्यः शुन्धध्वमिति तत्समदं करोति तस्मादु तूष्णीमेव फलीकुर्यात्
॥२४॥ ब्राह्मणम् ॥४॥ अध्यायः ॥१॥

स वै कपालान्येवान्यतर उपदधाति । दृषदुपले अन्यतरस्तद्वा एतदुभयꣳ सह
क्रियते तद्यदेतदुभयꣳ सह क्रियते ॥१॥ शिरो ह वा एतद्यज्ञस्य यत्पुरोडाशः स
यान्यमूनि शीर्ष्णः कपालान्येतान्येवास्य कपालानि मस्तिष्क एव पिष्टानि त-
द्वा एतदेकमङ्गमꣳ सह करवाव समानं करवावेति तस्माद्वा एतदुभयꣳ सह क्रि-
यते ॥२॥ स यः कपालान्युपदधाति । स उपवेषमादत्ते धृष्टिरसीति स यदेनेना-
ग्निं धृष्णुवापचरति तेन धृष्टिरथ यदेनेन यज्ञ उपालभत उपैव वा एनेनैतद्वेविष्टि

हानि पहुँचती है ।।१७।।

वह यह मंत्रांश पढ़कर पत्थरों को पीटता है—"तू मीठी वाणी वाला कुक्कुट या मुर्गा है।" वस्तुतः (वह बैल) देवों के लिए मीठी वाणी वाला और असुरों के लिए विषयुक्त वाणी वाला था। इसलिये वह कहता है, 'जैसा तू देवों के लिए था वैसा ही हमारे लिए भी हो।' फिर वह कहता है, 'रस और शक्ति हमारे लिए ला। तेरी इस सहायता से हम हर एक युद्ध को जीतें।' आगे सब स्पष्ट है ।।१८।।

अब अध्वर्यु इस मन्त्रांश (यजु० १।१४) को पढ़कर सूप को लेता है—"तू वर्षा में बढ़ा हुआ है।" वस्तुतः यह वर्षा में बढ़ा हुआ होता है, चाहे वह नरकुल का हो, चाहे सिरकी का। ये सब वर्षा में बढ़ते हैं ।।१९।।

अब वह कुटे हुए चावलों को सूप में डालता है इस मन्त्रांश (यजु० १।१६) को पढ़कर—"वर्षा में बढ़ा हुआ तुझे स्वीकार करे।" क्योंकि यह हवि भी वर्षा में बढ़ी हुई होती है, चाहे यव या जौ हों, चाहे तण्डुल। ऐसा कहकर वह हवि और सूप के बीच में सम्बन्ध स्थापित कर देता है, जिससे एक-दूसरे को सताने न पावें ।।२०।।

अब वह फटकता है इस मंत्रांश (यजु० १।१६) को पढ़कर—"राक्षस दूर हो गये, शत्रु दूर हो गये।" 'राक्षस दूर हों।' ऐसा कहकर भूसी फेंक देता है। ऐसा करने से राक्षस शत्रु दूर हो जाते हैं ।।२१।।

अब वह कुटे चावलों को बेकुटे चावलों से अलग करता है इस मन्त्रांश को पढ़कर—"वायु तुमको अलग-अलग करे" (यजु० १।१६), क्योंकि सूप की वायु ही चावलों को अलग करती है। संसार में जिस चीज को अलग करना होता है वायु द्वारा ही अलग करते हैं। जब यह कृत्य जारी होता है और वह फटकते हैं, तभी—।।२२।।

वह पात्र में डाले हुए चावलों को सम्बोधन करके यह मन्त्रांश (यजु० १।१६) पढ़ता है—"सोने के हाथोंवाला सविता देव छिद्ररहित हाथ से तुमको ग्रहण करे" अर्थात् वे उस हवि को आदर के साथ लेवें। वह तीन बार फटकता है, क्योंकि यज्ञ त्रिवृत् (तिहरा) है ।।२३।।

कुछ लोग ऐसा पढ़कर फटकते हैं 'देवों के लिए शुद्ध हो।' परन्तु ऐसा न करना चाहिए, क्योंकि यह हवि तो एक विशेष देवता की होती है। 'देवों के लिए शुद्ध हो' ऐसा कहनेवाला उसको सब देवों की घोषित कर देता है। इसलिये चुपचाप ही फटकना चाहिए ।।२४।।

अध्याय २—ब्राह्मण १

(अग्नीध्र) कपालों को (गार्हपत्य अग्नि पर) रखता है और (अध्वर्यु) दोनों (दृषदुपलों) सिलों को (मृग-चर्म पर)। ये दोनों काम एकसाथ होते हैं। ये दोनों काम एकसाथ क्यों होते हैं? इसलिए कि—।।१।।

पुरोडाश यज्ञ का सिर है। ये जो कपाल हैं वे सिर की खोपड़ी की हड्डियाँ हैं। पिसी हुई चावल की पीठी मस्तिष्क का भेजा है। ये सब मिलकर एक अंग होते हैं। वे सोचते हैं कि इन सबको एक कर देवें। इसलिए इन दोनों कामों को एकसाथ करते हैं ।।२।।

वह जो कपालों को आग पर रखता है उपवेश (चिमटे) को हाथ में लेकर कहता है—"तू धृष्टि है" (यजु० १।१७)। इसको 'धृष्टि' इसलिए कहा कि इसी से अग्नि को ठीक करेगा

तस्मादुपवेषो नाम ॥३॥ तेन प्राचोऽङ्गारानुदूहति । अपाग्ने अग्निमामादं जहि
निष्क्रव्यादꣳ सेधेत्ययं वाऽआमादग्निर्येनेदं मनुष्याः पक्त्वाश्नन्त्यथ येन पुरुषं दहन्ति स
क्रव्यादेतावेवैतदुभावतोऽपहन्ति ॥४॥ अथाङ्गारमास्यति । आ देवयजं वहेति
यो देवयाट् तस्मिन्हवीꣳषि श्रपयाम तस्मिन्यज्ञं तनवामहाऽइति तस्माद्वाऽआस्य-
ति ॥५॥ तं मध्यमेन कपालेनाभ्युपदधाति । देवा ह वै यज्ञं तन्वानास्तेऽसुरर-
क्षसेभ्य आसङ्गाद्बिभयांचक्रुर्नेन्नोऽधस्तान्नाष्ट्रा रक्षाꣳस्युपोत्तिष्ठानित्यग्निर्हि रक्षसाम-
पहन्ता तस्मादेवमुपदधाति तद्व्येष एव भवति नान्य एष हि यजुष्कृतो मेध्यस्त-
स्मान्मध्यमेन कपालेनाभ्युपदधाति ॥६॥ स उपदधाति । ध्रुवमसि पृथिवीं दृꣳहेति
पृथिव्या एव रूपेणैतदेव दृꣳहत्येतेनैव द्विषन्तं भ्रातृव्यमवबाधते ब्रह्मवनि त्वा
क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधायेति ब्रह्म वै यजुः आशीस्तद्ब्रह्म च
क्षत्रं चाशास्तेऽउभे वीर्ये सजातवनीति भूमा वै सजातास्तद्भूमानमाशास्तऽउपदधा-
मि भ्रातृव्यस्य वधायेति यदि नाभिचरेद्यद्यु अभिचरेदमुष्य वधायेति ब्रूयादभिनि-
हितमेव सव्यस्य पाणेरङ्गुल्या भवति ॥७॥ अथाङ्गारमास्यति । नेदिह पुरा
नाष्ट्रा रक्षाꣳस्याविशानिति ब्राह्मणो हि रक्षसामपहन्ता तस्मादभिनिहितमेव स
व्यस्य पाणेरङ्गुल्या भवति ॥८॥ अथाङ्गारमध्यूहति । अग्ने ब्रह्म गृभ्णीष्वेति ने
दिह पुरा नाष्ट्रा रक्षाꣳस्याविशानित्यग्निर्हि रक्षसामपहन्ता तस्मादेनमध्यूहति
॥९॥ अथ यत्पश्चात्तदुपदधाति । धरुणमस्यन्तरिक्षं दृꣳहेत्यन्तरिक्षस्यैव रूपेणैतदेव
दृꣳहत्येतेनैव द्विषन्तं भ्रातृव्यमवबाधते ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधा
मि भ्रातृव्यस्य वधायेति ॥१०॥ अथ यत्पुरस्तात्तदुपदधाति । धर्त्रमसि दिवं दृꣳहे-
ति दिव एव रूपेणैतदेव दृꣳहत्येतेनैव - - वधायेति ॥११॥ अथ यद्दक्षिणतस्तदु-
पधाति । विश्वाभ्यस्त्वाशाभ्य उपदधामीति स यदिमाँल्लोकानति चतुर्थमस्ति वा न
वा तेनैवैतद्द्विषन्तं भ्रातृव्यमवबाधतेऽद्धा वै तद्यदिमाँल्लोकानति चतुर्थमस्ति वा

(धृष्टि का अर्थ है साहस के साथ काम करनेवाला)। इसका नाम उपवेश इसलिए है कि इसी से आग के अंगारों का स्पर्श करेगा ।।३।।

इससे वह अंगारों को आगे को निकालता है यह मन्त्र पढ़कर (यजु० १।१७)—"हे अग्नि! कच्चा खानेवाली अग्नि को छोड़। शव खानेवाली अग्नि को दूर कर।" कच्चा खाने वाली (आमाद) अग्नि वह है जिस पर मनुष्य खाना पकाते हैं। क्रव्याद अग्नि वह है, जिस पर मरे हुए पुरुष के शव को जलाते हैं। इन दोनों अग्नियों को गार्हपत्य अग्नि से अलग करता है ।।४।।

अब एक अंगारे को अपनी ओर खींचता है यह मन्त्रांश (यजु० १।१७) पढ़कर—"उस अग्नि को लाओ जिसमें देवताओं के लिए यज्ञ किया जाता है (देवयाज)।" मैं देवयाज अग्नि में हवि पकाऊँ। उसी में यज्ञ करूँ। इसीलिये वह उस अंगारे को निकालता है ।।५।।

उस अंगारे पर बीच का कपाल रखता है। जब देव यज्ञ करने लगे तो उनको भय हुआ कि कहीं असुर राक्षस यज्ञ को विध्वंस न करें। उनको भय हुआ कि कहीं हमारे नीचे से असुर राक्षस न उठ खड़े होवें। अग्नि राक्षसों का घातक है, इसलिये कपाल को आग पर रखता है। इसी अंगारे पर क्यों रखता है, दूसरों पर क्यों नहीं? इसका कारण यह है कि यह अंगारा यजुष्कृत है (यजु०-मन्त्रों के पाठ से पवित्र किया हुआ है)। इसलिये इसके ऊपर मध्य में कपाल को रखता है ।।६।।

इस समय वह यह मन्त्रांश पढ़ता है (यजु० १।१७)—"तू ध्रुव है, पृथिवी को दृढ़ कर।" पृथिवी के रूप में ही वह यज्ञ को दृढ़ करता है। इसी से वह शत्रु का नाश करता है। अब कहता है—"ब्राह्मण की रक्षा करनेवाले, क्षत्रिय की रक्षा करनेवाले, सजातीय की रक्षा करनेवाले! तुझको मैं शत्रु के नाश के लिए रखता हूँ।" आशीर्वाद के बहुत-से यजुष् मन्त्र हैं। इस मन्त्र से ब्राह्मण और क्षत्रिय को आशीर्वाद देता है जो दो वीर्यवान् शक्तियाँ हैं; सजातीय की रक्षा करनेवाले। ऐसा कहने से धन को आशीर्वाद देता है, क्योंकि सजातीय धन है। 'शत्रु के वध के लिए', ऐसा कहते हुए चाहे किसी को मारना चाहे या न चाहे, उसको कहना चाहिए 'अमुक-अमुक के बध के लिए'। अभी बायें हाथ की अँगुली से कपाल रक्खा ही था कि—।।७।।

दूसरे अंगारे को लेता है कि कहीं इस बीच में असुर राक्षस घुस न आवें। ब्राह्मण राक्षसों का दूर करनेवाला है। इसलिये ज्योंही बायें हाथ की अँगुली से कपाल रक्खा, त्यों ही झट—।।८।।

उसे अंगारे पर रख देता है यह मन्त्रांश पढ़कर—"हे अग्नि, ब्रह्म, इसको ग्रहण कर।" वह ऐसा कहता है जिससे असुर राक्षस पहले से ही घुसने न पावें। वह इसीलिये कपाल को अंगारे पर रख देता है क्योंकि अग्नि राक्षसों का दूर करनेवाला है ।।९।।

अब बीचवाले कपाल के पश्चिम की ओर के कपाल को यह मन्त्रांश पढ़कर अंगारे पर रखता है (यजु० १।१८)—"तू सहारा है। अन्तरिक्ष को दृढ़ कर।" अन्तरिक्ष के रूप में वह यज्ञ को सुदृढ़ करता है। इससे वह दुष्ट शत्रु को दूर करता है। 'तुझे, ब्राह्मण की रक्षा करनेवाले, क्षत्रिय की रक्षा करनेवाले, सजातीय की रक्षा करनेवाले तुझको मैं शत्रु के वध के लिए रखता हूँ' ।।१०।।

अब पूर्व की ओर के कपाल को इस मन्त्रांश को (यजु० १।१८) पढ़कर रखता है—"तू धर्ता है। द्यौ लोक को सुदृढ़ कर।" द्यौ के रूप में वह इस यज्ञ को सुदृढ़ करता है। इससे वह शत्रु को दूर भगाता है। 'ब्राह्मण की रक्षा करनेवाले, क्षत्रिय की रक्षा करनेवाले, सजातीय की रक्षा करनेवाले तुझको मैं शत्रु के वध के लिए रखता हूँ' ।।११।।

अब दक्षिणवाले कपाल को रखता है यह मन्त्रांश (यजु० १।१८) पढ़कर—"सबके लिए मैं तुझको रखता हूँ।" इन तीनों लोकों के आगे कोई चौथा लोक है या नहीं, वहाँ से भी वह शत्रु को दूर करता है। चौथा लोक है या नहीं, यह अनिश्चित है; और 'सब दिशाओं' का भी निश्चय

न वानड्वो तद्यद्विश्वा आशास्तस्मादाह विश्वाभ्यस्त्वाशाभ्य उपदधामीति तूष्णीं वै-
वेतराणि कपालान्युपदधाति चित स्थोर्ध्वचित इति वा ॥१२॥ अथाङ्गारैरभ्यूह-
ति । भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वमित्येतद्वै तेजिष्ठं तेजो यद्भृग्वङ्गिरसाꣳ सुतप्ता-
न्यसन्निति तस्मादेनमभ्यूहति ॥१३॥ अथ यो दृषदुपले उपदधाति । स कृष्णाजि-
नमादत्ते शर्मासीति तदवधूनोत्यवधूतꣳ रक्षोऽवधूता अरातय इति सोऽसावेव
बन्धुस्तत्प्रतीचीनग्रीवमुपस्तृणात्यदित्यास्त्वगसि प्रति त्वादितिर्वेत्त्विति सोऽसावेव
बन्धुः ॥१४॥ अथ दृषदमुपदधाति । धिषणासि पर्वती प्रति त्वादित्यास्त्वग्वेत्त्विति
धिषणा हि पर्वती हि प्रति त्वादित्यास्त्वग्वेत्त्विति तत्संज्ञामेवैतत्कृष्णाजिनाय च
वदति नेदन्योऽन्यꣳ हिनसाव इतीयमेवैषा पृथिवी रूपेण ॥१५॥ अथ शम्यामु-
दीचीनाग्रामुपदधाति । दिव स्कम्भनीरसीत्यन्तरिक्षमेव रूपेणान्तरिक्षेण हीमे द्या-
वापृथिवी विष्टब्धे तस्मादाह दिव स्कम्भनीरसीति ॥१६॥ अथोपलामुपदधाति ।
धिषणासि पार्वतेयी प्रति त्वा पर्वती वेत्त्विति कनीयसी ह्येषा दुहितेव भवति
तस्मादाह पार्वतेयीति प्रति त्वा पर्वती वेत्त्विति प्रति हि स्वः संजानीते तत्संज्ञा-
मेवैतद्दृषदुपलाभ्यां वदति नेदन्योऽन्यꣳ हिनसातऽइति द्यौरेवैषा रूपेण हनू
ऽएव दृषदुपले जिह्वैव शम्या तस्माच्छम्यया समाहन्ति जिह्वया हि वदति ॥१७॥
अथ हविरधिवपति । धान्यमसि धिनुहि देवानिति धान्यꣳ हि देवान्धिनवदित्यु
हि हविर्गृह्यते ॥१८॥ अथ पिनष्टि । प्राणाय त्वोदानाय त्वा व्यानाय त्वा दीर्घा-
मनु प्रसितिमायुषे धामिति प्रोहति देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्व-
च्छिद्रेण पाणिना चक्षुषे त्वेति ॥१९॥ ॥ शतम् १०० ॥ ॥ तद्यदेवं पिनष्टि । जीवं
वै देवानाꣳ हविरमृतममृतानामथैतदुलूखलमुसलाभ्यां दृषदुपलाभ्याꣳ हविर्यज्ञं
घ्नन्ति ॥२०॥ स यदाह । प्राणाय त्वोदानाय त्वेति तत्प्राणोदानौ दधाति व्यानाय
त्वेति तद्व्यानं दधाति दीर्घामनु प्रसितिमायुषे धामिति तदायुर्दधाति देवो वः स-

नहीं। अतः कहता है–"सब दिशाओं के लिए।" शेष कपालों को वह चुपचाप रख देता है या इस मन्त्रांश को पढ़कर (यजु० १।१८)–"तुम चित हो, तुम ऊर्ध्वचित हो" (चिने हुए हो, ऊपर को चिने हुए हो) ॥१२॥

अब उनको अंगारों से ढक देता है इस मन्त्रांश (यजु०१।१८) को पढ़कर—"भृगु और अंगिरसों के तप से तपो।" भृगु और अंगिरसों का तेज बहुत बलिष्ठ है। इसीलिये वह इसको अंगारों से ढक देता है ॥१३॥

अब जिसने दो पत्थरों को चमड़े पर रखा था वह उस चमड़े को यजु० १।१९ के इस मन्त्रांश को पढ़कर उठाता है—"तू शर्म अर्थात् कल्याणप्रद है।" अब उसी मन्त्र के अगले टुकड़े को पढ़कर झाड़ता है–"राक्षस झड़ गये! शत्रु झड़ गये!" अर्थ वही है। अब उसको पश्चिम की ओर गर्दन हो इस प्रकार बिछा देता है, इस मन्त्रांश को पढ़कर—"तू अदिति का चमड़ा है। अदिति तुझे स्वीकार करे।" इसका तात्पर्य वही है ॥१४॥

अब उस पर दृषद अर्थात् नीचे का पाट रखता है इस मन्त्रांश को पढ़कर—"तू पहाड़ी पत्थर है। अदिति का चमड़ा तुझे स्वीकार करे।" यह पत्थर भी है और पहाड़ी भी। यह जो कहा, 'अदिति का चमड़ा तुझे स्वीकार करे' इसका तात्पर्य है कि इसमें और चमड़े में सम्बन्ध स्थापित हो जाय जिससे वे एक-दूसरे को हानि न पहुँचावें। नीचे का पाट पृथिवी का रूप है ॥१५॥

अब उसके ऊपर शमी[1] को रखता है और इस प्रकार कि उसका सिरा उत्तर की ओर रहे, यह मन्त्रांश (यजु० १।१९) पढ़कर—"तू द्यौ लोक को थामनेवाला है।" यह अन्तरिक्ष का रूप है। द्यौ और पृथिवी अन्तरिक्ष के द्वारा ही थमे हुए हैं। इसलिये कहता है 'तू द्यौलोक को थामनेवाला है' ॥१६॥

अब ऊपर के पाट (उपल) को नीचे के पाट पर रखता है यह मन्त्रांश (यजु० १।१९) पढ़कर–"तू पर्वत से उत्पन्न हुआ पाट है। पहाड़ी तुझे स्वीकार करे।" यह पाट छोटा होता है, इसलिये यह नीचे के बड़े पाट की लड़की हुआ। इसलिये नीचे के पाट को पर्वती और ऊपर के पाट को पार्वतीय कहा—'पर्वती पार्वतीय को स्वीकार करे।' क्योंकि सजातीय सजातीय को स्वीकार करता है। इस प्रकार वह इन दोनों पाटों में सम्बन्ध स्थापित करता है, जिससे वे एक-दूसरे को न सतावें। यह द्यौलोक का रूप है। या ये दोनों पाट दो हनु या जबड़े हैं और शमी जीभ (जिह्वा) है। इसीलिये शमी से पाटों को थपथपाता है। जीभ से ही तो बोला जाता है ॥१७॥

अब यजु० १।२० से नीचे के पाट पर हवि को छोड़ता है—"तू धान्य है। देवों की तृप्ति कर।" हवि इसलिये ली जाती है कि देवताओं की तृप्ति हो सके ॥१८॥

अब यजु० १।२० को पढ़कर पीसता है–"तुझको प्राण के लिए, उदान के लिए, व्यान के लिए, मैं यजमान के जीवन में वृद्धि करूँ।" अब पिसे हुए भाग को चमड़े पर छोड़ता है यह पढ़कर—"सविता देव सोने के हाथोंवाला, छिद्ररहित हाथों से तुझे स्वीकार करे" ॥१९॥

वह इसको इस प्रकार इसलिये पीसता है कि हवि देवताओं का जीवन है। अमरों के लिए अमृत है। अब उखली-मूसली (उलूखल-मुसल) और दो पाटों (दृषद-उपल) से हवि को पीसते हैं ॥२०॥

यह जो कहा कि 'प्राण के लिए तुझको, उदान के लिए तुझको' इससे प्राण और उदान धारण कराता है। 'व्यान के लिए तुझको' इससे व्यान को धारण कराता है। 'बड़ी आयु हो', इससे

---

१. शमी के द्वारा चक्की का नीचे का पाट ऊपर के पाट से संयुक्त रहता है।

विता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना सुप्रतिगृहीतान्यसन्निति चक्षुषे वेति तच्चक्षुर्दधात्येतानि वै जीवतो भवन्त्येवमु हैतज्जीवमिव देवानाꣳ हविर्भवत्यमृतममृतानां तस्मादेवं पिनष्टि पिꣳषन्ति पिष्टान्यभीन्धते कपालानि ॥२१॥ अथैक आज्यं निर्वपति । यद्वाऽआदिष्टं देवतायै हविर्गृह्यते यावद्देवत्यं तद्भवति तदितरेण यजुषा गृह्णाति न वाऽएतत्कस्यै चन देवतायै हविर्गृह्णन्नादिशति यदाज्यं तस्मादनिरुक्तेन यजुषा गृह्णाति महीनां पयोऽसीति मह्य इति ह वाऽएतासामेकं नाम यद्गवां तासां वाऽएतत्पयो भवति तस्मादाह महीनां पयोऽसीत्येवमु हास्यैतत्खलु यजुषैव गृहीतं भवति तस्माद्वेवाह महीनां पयोऽसीति ॥२२॥ ब्राह्मणम् ॥ ५ [२. १.] ॥

पवित्रवति संवपति । पात्र्यां पवित्रेऽअवधाय देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याꣳ संवपामीति सोऽसावेवैतस्य यजुषो बन्धुः ॥१॥ अथान्तर्वेद्युपविशति । अथैक उपसर्जनीभिरेति ता आनयति ताः पवित्राभ्यां प्रतिगृह्णाति समाप ओषधीभिरिति सꣳ ह्येतदाप ओषधिभिरेताभिः पिष्टाभिः संगच्छन्ते समोषधयो रसेनेति सꣳ ह्येतदोषधयो रसेनैताः पिष्टा अद्भिः संगच्छन्तऽआपो ह्येतासाꣳ रसः सꣳ रेवतीर्जगतीभिः पृच्यन्तामिति रेवत्य आपो जगत्य ओषधयस्ता उ ह्येतदुभय्यः संपृच्यन्ते सं मधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्तामिति सꣳ रसवत्यो रसवतीभिः पृच्यन्तामित्येवैतदाह ॥२॥ अथ संयौति । जनयत्यै त्वा संयौमीति यथा श्रियेऽन्नाद्यायेमाः प्रजा यजमानाय यद्वेवं वै तत्संयौत्यधिवर्द्धयन्नु वै संयौति यथा वाऽअधिवृक्तोऽग्नेरधि जायेतैवं वै तत्संयौति ॥३॥ अथ द्वेधा करोति । यदि द्वे हविषी भवतः पौर्णमास्यां वै द्वे हविषी भवतः स यत्र पुनर्न सꣳहरिष्यंत्स्यात्तदभिमृशतीदमग्नेरिदमग्नीषोमयोरिति नाना वाऽएतदग्रे हविर्गृह्णन्ति तत्सहावघ्नन्ति तत्सह पिꣳषन्ति तत्पुनर्नाना करोति तस्मादेवमभिमृशत्यधिवृणाक्त्येवैष पु-

आयु बढ़ाता है। यह जो कहा कि 'सविता देव, सोने के हाथोंवाला, छिद्र-रहित हाथों से तुझे स्वीकार करे' यह इसलिये कि उसको भलीभाँति स्वीकार किया जाय। 'आँख के लिए तुझको' इससे आँख को धारण कराता है। यही जीवन के चिह्न हैं। इनसे हवि जीवित होता है। अमरों के लिए अमृत हो जाता है। इसीलिये हवि पीसते हैं। हवि को पीसने और कपालों को गर्म करते समय—॥२१॥

एक पुरुष (अग्नीध्र) आज्यथाली में घी डालता है। जब किसी निर्दिष्ट देवता के लिए हवि ली जाती है तो उसी देवता की हो जाती है। उसको विशेष यजुष्-मन्त्र पढ़कर लेते हैं। यह घी किसी विशेष देवता के लिए नहीं है, अतः सामान्य यजुष्-मन्त्र पढ़कर (यजु० १।२०) लिया। 'तू बड़ों का दूध है', बड़ों का अर्थ है गाय; यह गाय का रस है, इसलिये कहा 'बड़ों का दूध'; यह भी इसी यजुष्-मन्त्र से लिया जाता है, इसलिये कहा 'बड़ों का दूध'।२२॥

अध्याय २–ब्राह्मण २

जिस पात्री में दो पवित्रे रखे थे उसमें पिसे हवि को डालता है यह मन्त्र पढ़कर (यजु० १।२१)—"देव सविता की प्रेरणा से अश्विन को दो भुजाओं से, पूषा के दो हाथों से तुझको उडेला हूँ।" इस यजु० का तात्पर्य तो वही है (जो १।१।२।१७ में कह दिया गया) ॥१॥

अब वेदी के भीतर बैठता है। अब एक (अग्नीध्र) उपसर्जनी जल (आटा सानने का जल) लेकर आता है और उसको उसके पास लाता है। वह इसको पवित्रों के द्वारा यह मंत्र पढ़कर लेता है (यजु० १।२१)–"जल ओषधियों से मिले।" इस प्रकार जल पिसे हुए चावल रूपी ओषधियों में मिलता है। 'ओषधियाँ रस के साथ मिलें।' इस प्रकार जल पिसे हुए चावलों के रस के साथ मिलते हैं। 'रेवती जगती के साथ मिलें।' जल रेवती हैं और ओषधियाँ जगती हैं। ये दोनों परस्पर मिलते हैं। 'मधुवाले मधुवालों के साथ मिलें' अर्थात् रसवाले रसवालों के साथ मिलें ॥२॥

अब सानता है यजु० १।२२ को पढ़कर—"जनने के लिए तुझे मिलाता हूँ।" वह पिसे आटे को गूँधता है कि जिससे वह यजमान के लिए श्री, खाद्य और सन्तान को देवे। वह इसलिये भी गूँधता है कि वह अग्नि के ऊपर रखा जा सके और पक सके ॥३॥

अब उसके दो भाग करता है, यदि दो हवि देनी हों तो। पूर्णमासी की इष्टि में दो हवियाँ दी जाती हैं। अब वह छूकर देखता है कि यह फिर तो नहीं मिल गई और (यजु० १।२२) पढ़ता है–"यह अग्नि के लिए और यह अग्नि-सोम के लिए।" पहले ये दोनों हवियाँ अलग-अलग ली गईं थीं (देखो १।१।२।१७), फिर इनको साथ फटका, साथ पीसा। अब फिर बाँटकर अलग-अलग कर दिया, इसीलिये छूता है। एक (अध्वर्यु) पीठी आग पर रखता है और दूसरा (अग्नीध्र)

रोडाशमधिश्रयत्यसावाज्यम् ॥४॥ तद्वाऽएतत्। उभयꣳ सह क्रियते तद्यदेतदुभयꣳ सह क्रियतेऽर्धो ह वाऽएष आत्मनो यज्ञस्य यदाज्यमर्धो यदिदꣳ हविर्भवति स यश्चासावर्धो य उ चायमर्धस्तावुभावग्निं गमयावेति तस्माद्वाऽएतदुभयꣳ सह क्रियतऽएवमु ह्येष आत्मा यज्ञस्य संधीयते ॥५॥ सोऽसावाज्यमधिश्रयति। इषे त्वेति वृष्ट्यै तदाह यदाहेषे त्वेति तत्पुनरुद्वासयत्यूर्जे त्वेति यो वृष्टादूर्ग्रसो जायते तस्मै तदाह ॥६॥ अथ पुरोडाशमधिवृणक्ति। घर्मोऽसीति यज्ञमेवैतत्करोति यथा घर्मं प्रवृञ्ज्यादेवं प्रवृणक्ति विश्वायुरिति तदायुर्दधाति ॥७॥ तं प्रथयति। उरुप्रथा उरु प्रथस्वेति प्रथयत्येवैनमेतदुरु ते यज्ञपतिः प्रथतामिति यजमानो वै यज्ञपतिस्तद्यजमानायैवैतदाशिषमाशास्ते ॥८॥ तं न सत्रा पृथुं कुर्यात्। मानुषꣳ ह कुर्याद्यत्पृथुं कुर्याद्व्यृद्धं वै तद्यज्ञस्य यन्मानुषं नेद्व्यृद्धं यज्ञे करवाणीति तस्मान्न सत्रा पृथुं कुर्यात् ॥९॥ अश्वशफमात्रं कुर्यादित्यु हैकऽआहुः। कस्तद्वेद यावानश्वशफो यावन्तमेव स्वयं मनसा न सत्रा पृथुं मन्येतैवं कुर्यात् ॥१०॥ तमद्भिरभिमृशति। सकृद्वा त्रिर्वा तद्यदेवास्यात्रावघ्नन्तो वा पिꣳषन्तो वा क्षिण्वन्ति वा वि वा वृहन्ति शान्तिरापस्तदद्भिः शान्त्या शमयति तदद्भिः संदधाति तस्माददद्भिरभिमृशति ॥११॥ सोऽभिमृशति। अग्निष्टे त्वचं मा हिꣳसीदित्यग्निना वाऽएनमेतदभितप्स्यन्भवत्येष ते त्वचं मा हिꣳसीदित्येवैतदाह ॥१२॥ तं पर्यग्निं करोति। अच्छिद्रमेवैनमेतदग्निना परिगृह्णाति नेदेनं नाष्ट्रा रक्षाꣳसि प्रमृशानित्यग्निर्हि रक्षसामपहन्ता तस्मात्पर्यग्निं करोति ॥१३॥ तꣳ श्रपयति। देवस्त्वा सविता श्रपयत्विति न वाऽएतस्य मनुष्यः श्रपयिता देवो ह्येष तदेनं देव एव सविता श्रपयति वर्षिष्ठेऽधि नाकऽइति देवत्रो एतदाह यदाह वर्षिष्ठेऽधि नाकऽइति तमभिमृशति शृतं वेदानीति तस्माद्वाऽअभिमृशति ॥१४॥ सोऽभिमृशति। मा भेर्मा संविक्था इति मा त्वं भैषीर्मा संविक्था गवाहममानुषꣳ सन्तं मानुषोऽभिमृशामीत्येवैत

घी को ।।४।।

ये दोनों काम साथ-साथ किये जाते हैं। ये दोनों काम साथ क्यों किये जाते हैं ? इसलिए कि यज्ञ के आत्मा का आधा भाग घी है और आधा हवि। वे दोनों सींचते हैं कि आधा भाग यह हुआ और आधा भाग यह हुआ। इन दोनों को साथ-साथ अग्नि में ले जावे। इसलिये इन दोनों कामों को साथ-साथ करते हैं जिससे यज्ञों का आत्मा पूरा-पूरा जुड़ जाय ।।५।।

अग्नीध्र घी को आग पर यह मन्त्रांश पढ़कर पकाता है (यजु० १।२२)—"रस के लिए तुझको।" रस से तात्पर्य है वृष्टि का। फिर उसको आग पर से हटा लेता है और कहता है—"ऊर्ज के लिए तुझको" (यजु० १।३०)। वर्षा से यह ऊर्ज (वृक्षों में) उत्पन्न होता है, उसी से तात्पर्य है ।।६।।

अब (अध्वर्यु) पुरोडाश को पकाता है यह पढ़कर—"तू धर्म है" (यजु० १।२२)। इस प्रकार उसको 'यज्ञ' बना देता है, यानी उसको कड़ाही में पकाया। अब कहता है—"विश्वायुः।" इससे वह यजमान के लिए जीवन की वृद्धि करता है ।।७।।

अब वह उसको (कपालों) में फैलाता है (यजु० १।२२) को पढ़कर—"तू फैला हुआ है। फैल जा। तेरा यज्ञपति भी ऐसा ही फैले।" यज्ञपति यजमान है। यह यजमान के लिए आशीर्वाद है ।।८।।

उसको बहुत नहीं फैलाना चाहिए। बहुत फैलाने से वह मानुषी हो जाती है (दैवी नहीं रहती)। मानुषी हवि अशुभ होती है। वह चाहता है कि कोई ऐसा काम न हो कि अशुभ हो जाय, इसलिये बहुत नहीं फैलाता ।।९।।

कुछ का कहना है कि घोड़े की टाप के बराबर होना चाहिए। परन्तु कौन जाने कि घोड़े की टाप कितनी चौड़ी होती है ? अतः इतना चौड़ा करना चाहिए कि बुद्धि कहे कि बहुत चौड़ी नहीं है ।।१०।।

अब जल से स्पर्श कराता है। एक बार या तीन बार ? क्योंकि फटकने या पीसने में जो कुछ उसको क्षति हो गई हो, जल से दूर हो जाती है। जल शान्ति है। जल से उसका शमन कर देता है। इसीलिए जल स्पर्श कराता है ।।११।।

वह जल का स्पर्श इस मन्त्रांश (यजु० १।२२) से कराता है—"अग्नि तेरी त्वचा को हानि न पहुँचावे।" अग्नि पर उसे तपाना है। इसीलिये कहता है कि 'अग्नि तेरी त्वचा को हानि न पहुँचावे' ।।१२।।

अब उसके चारों ओर अग्नि की परिक्रमा कराता है। मानो उसके चारों ओर एक छिद्र-रहित परिखा बनाता है जिससे राक्षस उसको ग्रहण न कर सकें। क्योंकि अग्नि राक्षसों का दूर करनेवाला है, इसीलिये अग्नि को परिखा बनाता है ।।१३।।

अब उसे पकाता है, यजु० १।२२ के इस मन्त्रांश को पढ़कर—"देव सविता तुझे पकावें।" इसका पकानेवाला मनुष्य नहीं है, देव हैं। इसलिये 'देव सविता पकावें' ऐसा कहता है। अब कहता है "स्वर्ग में", अर्थात् 'देवों के स्थान में'। अब यह कहकर छूता है—"देखूं पका कि नहीं।" इसीलिये छूता है ।।१४।।

वह इस मन्त्रांश को पढ़कर छूता है—"मत डर ! मत संकोच कर !" यह कहने का तात्पर्य यह है कि 'डर मत, संकोच न कर, मैं मनुष्य हूँ और तू अमानुष अर्थात देव है। मैं तुझे

दाह ॥१५॥ यदा शृतोऽथाभिवासयति । नेदेनमुपरिष्टान्नाष्ट्रा रक्षांस्यवपश्यानि-
ति नेद्वेव नग्न-इव मुषित-इव शयाताऽइत्यु चैव तस्माद्वाऽअभिवासयति ॥१६॥
सोऽभिवासयति । अतमेरुर्यज्ञोऽतमेरुर्यजमानस्य प्रजा भूयादिति नेदेतदनु यज्ञो
वा यजमानो वा ताम्याद्यदिदमभिवासयामीति तस्मादेवमभिवासयति ॥१७॥ अथ
पात्रीनिर्णेजनम् । अङ्गुलिप्रणेजनमाप्त्येभ्यो निनयति तद्यदाप्त्येभ्यो निनयति ॥१८॥
ब्राह्मणम् ॥६ [२.२.]॥ प्रथमः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या १२१ ॥

चतुर्धाविहितो ह वाऽअग्रेऽग्निरास । स यमग्रेऽग्निं होत्राय प्रावृणीत स प्रा-
धन्वद्यं द्वितीयं प्रावृणीत स प्रैवाधन्वद्यं तृतीयं प्रावृणीत स प्रैवाधन्वदथ योऽय-
मेतर्ह्यग्निः स भीषा निलिल्ये सोऽपः प्रविवेश तं देवा अनुविद्य सहसैवाद्भ्य
आनिन्युः सोऽपोऽभितिष्ठेवावष्ठ्यूता स्थ या अप्रपदनं स्थ याभ्यो वो मामकामं
नयन्तीति तत आप्त्याः सम्बभूवुस्त्रितो द्वित एकतः ॥१॥ तऽइन्द्रेण सह चेरुः ।
यथेदं ब्राह्मणो राजानमनुचरति स यत्र त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रं विश्वरूपं जघान तस्य
हैतेऽपि बध्यस्य विदाञ्चक्रुः शश्वद्धैनं त्रित एव जघानात्यह तदिन्द्रोऽमुच्यत दे-
वो हि सः ॥२॥ त उ हैतऽऊचुः । उपैवेमऽएनो गच्छतु येऽस्य बध्यस्याविदिषु-
रिति किमिति यज्ञ एवैषु मृष्टामिति तदेष्वेतद्यज्ञो मृष्टे यदेभ्यः पात्रीनिर्णेजनमङ्गु
लिप्रणेजनं निनयन्ति ॥३॥ तऽउ हाप्त्या ऊचुः । अत्येव वयमिदमस्मत्परो नया-
मेति कमभीति य एवादक्षिणेन हविषा यजाताऽइति तस्मान्नादक्षिणेन हविषा
यजेताप्त्येषु ह यज्ञो मृष्ट आप्त्या उ ह तस्मिन्मृजते योऽदक्षिणेन हविषा यजते
॥४॥ ततो देवाः । एतां दर्शपूर्णमासयोर्दक्षिणामकल्पयन्यदन्वाहार्यं नेददक्षिणं
हविरसदिति तन्नाना निनयति तथैभ्योऽसमदं करोति तदभितपति तथैषां शृतं
भवति स निनयति त्रिताय त्वा द्विताय त्वैकताय त्वेति पशुर्ह वाऽएष आलभ्यते
यत्पुरोडाशः ॥५॥ पुरुषं ह वै देवाः । अग्रे पशुमालेभिरे तस्यालब्धस्य मेधो

छूता हूँ, डर मत' ॥१५॥

जब पक जाय तो ढक देता है कि 'कहीं राक्षस इसको देख न लें', अथवा 'कहीं यह नगा और खुला न रहे।' इसलिए वह उसको ढक देता है ॥१६॥

उसको यजु०१।२३ के इस अंश से ढकता है—"यज्ञ हीन न हो, यजमान की सन्तान हीन न हो जब मैं इसको ढक दूँ।"—ऐसा सोचकर ॥१७॥

अब पात्री को धोकर और अँगुलियों को धोकर धोवन को आप्त्य देवों के लिए डालता है। आप्त्यों के लिए डालने का प्रयोजन (आगे कहा जायगा) ॥१८॥

अध्याय २—ब्राह्मण ३

अग्नि पहले चार प्रकार का था। वह अग्नि जिसको उन्होंने पहले होता के लिए वरण किया वह भाग गया। दूसरी बार जिसको चुना वह भी भाग गया। तीसरी बार जिसको चुना वह भी भाग गया। इस पर आजकल जो अग्नि है वह डरकर छिप गया। वह जलों में प्रविष्ट हो गया। देवों ने उसे खोज लिया और बलात् वहाँ से निकाल लाये। अग्नि ने जलों पर थूक दिया और कहा कि तुम रक्षा के स्थान नहीं हो, मेरी इच्छा के बिना ये देव मुझको तुममें से खींच लाये। उनमें से आप्त्य देव निकले—त्रित, द्वित और एकत ॥१॥

वे इन्द्र के साथ फिरते रहे जैसे आजकल ब्राह्मण राजा के साथ फिरा करते हैं। और जब इन्द्र ने त्वष्टा के तीन सिरवाले पुत्र विश्वरूप को मारना चाहा तो वे इसके मारे जाने की बात जान गये और त्रित ने उसको मार डाला। इन्द्र हत्या के इस पाप से बचा रहा। इन्द्र तो देव है ॥२॥

लोगों ने कहा, 'यह पाप उन्हीं को लगना चाहिए जो यह जानते थे कि इसका वध होगा।' उन्होंने कहा 'कैसे?' उत्तर मिला, 'यज्ञ उन तक पाप लगा देगा।' इस प्रकार जब यह पात्री को धोते हैं और उसी जल में अध्वर्यु अपनी अँगुलियाँ धोता है तो वह पाप यज्ञ द्वारा आप्त्यों को लग जाता है ॥३॥

आप्त्यों ने कहा, 'इस पाप को हम आगे बढ़ा दें।' लोगों ने पूछा 'किस तक?' आप्त्यों ने उत्तर दिया, 'उस तक जो बिना दक्षिणा दिये यज्ञ करता है।' अतः बिना दक्षिणा दिये यज्ञ नहीं करना चाहिए, अन्यथा यज्ञ उस पाप को आप्त्यों तक पहुँचा देगा और आप्त्य उस मनुष्य तक जो बिना दक्षिणा के यज्ञ करता है ॥४॥

इस पर देवों ने दर्श और पूर्णमास इष्टियों में उस दक्षिणा की योजना की जिसको अन्वाहार्य कहते हैं, जिससे हवि बिना दक्षिणा के न रह जाय। इस जल को तीनों आप्त्यों में अलग-अलग बाँटता है, गरम करके, जिससे वह उनके लिए पक जाय—'हे त्रित, यह तुझको' 'हे द्वित, इतना तुझको' 'हे एकत, इतना तुझको' इस प्रकार झगड़ा न हो। यह जो पुरोडाश है वह मानो यज्ञ के पशु का आलभन है ॥५॥

देवों ने पहले-पहल पुरुषरूपी यज्ञ-पशु का आलभन किया। उस आलभन किये पुरुष से

ऽपचक्राम सोऽश्वं प्रविवेश तेऽश्वमालभन्त तस्यालब्धस्य मेधोऽपचक्राम स गां
प्रविवेश ते गामा॰ सोऽविं प्रविवेश तेऽविमा॰--"म सोऽजं प्रविवेश तेऽजमाल-
भन्त तस्यालब्धस्य मेधोऽपचक्राम ॥६॥ स इमां पृथिवीं प्रविवेश । तं खनन्त-
इवान्वीषुस्तमन्वविन्दंस्ताविमौ व्रीहियवौ तस्मादप्येतावेतर्हि खनन्त-इवैवानु-
विन्दन्ति स यावद्वीर्यवद्ध वाऽअस्यैते सर्वे पशव आलब्धाः स्युस्तावद्वीर्यवद्धास्य
हविरेव भवति य एवमेतद्वेदात्रो सा सम्पद्यदाहुः पाङ्क्तः पशुरिति ॥७॥ यदा पि-
ष्टान्यथ लोमानि भवन्ति । यदाप आनयत्यथ त्वग्भवति यदा संयौत्यथ माꣳसं भ-
वति संतत-इव हि स तर्हि भवति संततमिव हि माꣳसं यदा शृतोऽथास्थि भव-
ति दारुण-इव हि स तर्हि भवति दारुणमित्यस्थ्यथ यदुद्वासयिष्यन्नभिघारयति तं
मज्जानं दधात्येषो सा सम्पद्यदाहुः पाङ्क्तः पशुरिति ॥८॥ स यं पुरुषमालभन्त ।
स किम्पुरुषोऽभवद्यावश्वं च गां च तौ गौरश्च गवयश्चाभवतां यमविमालभन्त स
उष्ट्रोऽभवद्यमजमालभन्त स शरभोऽभवत्तस्मादेतेषां पशूनां नाशितव्यमपक्रान्तमे-
धा ह्येते पशवः ॥९॥ ब्राह्मणम् ॥१ [२. ३.]॥

इन्द्रो ह यत्र वृत्राय वज्रं प्रजहार । स प्रहृतश्चतुर्धाऽभवत्तस्य स्फ्यस्तृतीयं वा
यावद्वा यूपस्तृतीयं वा यावद्वा रथस्तृतीयं वा यावद्वाथ यत्र प्राहरत्तच्छकलोऽशी-
र्यत स पतित्वा शरोऽभवत्तस्माच्छरो नाम यदशीर्यतैवमु स चतुर्धा वज्रोऽभवत्
॥१॥ ततो द्वाभ्यां ब्राह्मणा यज्ञे चरन्ति द्वाभ्याꣳ राजन्यबन्धवः संव्याधे यूपेन च
स्फ्येन च ब्राह्मणा रथेन च शरेण च राजन्यबन्धवः ॥२॥ स यत्स्फ्यमादत्ते ।
यथैव तदिन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छदेवमेवैष एतं पाप्मने द्विषते भ्रातृव्याय वज्रमुद्य-
च्छति तस्माद्वै स्फ्यमादत्ते ॥३॥ तमादत्ते । देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहु-
भ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामाददेऽध्वरकृतं देवेभ्य इति सविता वै देवानां प्रसविता त-
त्सवितृप्रसूत एवैनमेतदादत्तेऽश्विनोर्बाहुभ्यामित्यश्विनावध्वर्यू तत्तयोरेव बाहुभ्या-

मेध चला गया और घोड़े में जा घुसा। उन्होंने घोड़े का आलभन किया। तब मेध घोड़े से निकलकर गाय में घुस गया। तब उन्होंने गाय का आलभन किया। तब मेध गाय से निकलकर भेड़ में घुस गया। तब उन्होंने भेड़ का आलभन किया। तब मेध भेड़ में से निकलकर बकरी में चला गया। तब उन्होंने बकरी का आलभन किया। तब मेध बकरी में से निकल भागा ॥६॥

वह पृथिवी में चला गया। वे पृथिवी को खोदकर खोजने लगे, और उसको पा लिया। यही चावल और जौ हैं। इनको आजकल भी पृथिवी को जोतकर निकालते हैं। उन सब पशुओं के आलभन से जो लाभ होता है वही चावल की हवि से होता है, उस मनुष्य को जो इस रहस्य को समझकर यज्ञ करता है। यह पांक्त यज्ञ है अर्थात् पाँच पशुओं का ॥७॥

यह जो पीठी है वह लोम है। जो जल है वह त्वचा है। जब गूँधते हैं तो यह मांस है। मांस गूँधा हुआ होता है। पकने से कड़ी हड्डी के समान हो जाता है। हड्डी तो कड़ी होती है। जब उस पर घी डालते हैं तो मज्जा हो जाता है। इस प्रकार यह हवि पांक्त पशु हो जाती है ॥८॥

जो पुरुष का आलभन किया था वह किं-पुरुष हो गया। जो घोड़े का आलभन किया और गाय का, वह गौर और गवय बन गये। भेड़ का आलभन किया तो ऊँट बन गया। बकरी का आलभन किया तो वह शरभ बन गया। इसलिए हमें पाँच पशुओं को न खाना चाहिए, क्योंकि इनमें मेध नहीं रहा ॥९॥

अध्याय २—ब्राह्मण ४

जब इन्द्र ने वृत्र के वज्र मारा तो उसके चार टुकड़े हो गये। इसके तीन भागों में तिहाई या उसके लगभग स्फ्या हो गई। तिहाई या लगभग यूप हो गया और तिहाई या लगभग रथ हो गया। जो भाग वृत्र के लगा वह टूटकर शर (वाण) हो गया। वाण को शर इसलिए कहते हैं कि वह टूट गया ('शॄ' का अर्थ है टूटना')। वज्र के इस प्रकार चार टुकड़े हो गये ॥१॥

इनमें से दो टुकड़े ब्राह्मण यज्ञ के काम में लाता है अर्थात् स्फ्या और यूप, और शेष दो टुकड़े क्षत्रिय लड़ाई के काम में लाता है अर्थात् रथ और शर ॥२॥

वह स्फ्या को लेता है। जैसे इन्द्र ने वृत्र को मारने के लिए वज्र लिया था, उसी प्रकार अध्वर्यु अपने वैरी को मारने के लिए स्फ्या[1] लेता है। स्फ्या को लेने का यही प्रयोजन है ॥३॥

वह स्फ्या को यजु० १।२४ के मन्त्रांश को पढ़कर पकड़ता है—"देव सविता की प्रेरणा से, अश्विनों की भुजाओं से, देव पूषा के दोनों हाथों से देवताओं के अध्वर के लिए तुझे उठाता हूँ।" सविता देवों का प्रेरक है, अतः वह देव सविता की प्रेरणा से ही स्फ्या लेता है। अग्नि दो अध्वर्यु

---

१. स्फ्या तलवार की आकृति की (खदिर की) लकड़ी की होती है जो यज्ञ में काम आती है।

मादत्ते न स्वाम्यां वज्रो वाऽएष तस्य न ममृष्णे भर्ता तमेताभिर्देवताभिरादत्ते ॥४॥ आददेऽध्वरकृतं देवेभ्य इति । अध्वरो वै यज्ञो यज्ञकृतं देवेभ्य इत्येवैतदाह तं सव्ये पाणौ कृत्वा दक्षिणेनाभिमृश्य जपति सᳪश्यत्येवैनमेतज्जपति ॥५॥ स जपति । इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिण इत्येष वै वीर्यवत्तमो य इन्द्रस्य बाहुर्दक्षिणस्तस्मादाहेन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिण इति सहस्रभृष्टिः शततेजा इति सहस्रभृष्टिर्वै स वज्र आसीच्छततेजा यं तं वृत्राय प्राहरत्तमेवैतत्करोति ॥६॥ वायुरसि तिग्मतेजा इति । एतद्वै तेजिष्ठं तेजो यदयं योऽयं पवतऽएष हीमांल्लोकांस्तिर्यङ्ङनुपवते सᳪश्यत्येवैनमेतद्द्विषतो बध इति यदि नाभिचरेद्यद्युऽअभिचरेदमुष्य बध इति ब्रूयात्तेन सᳪशितेन नात्मानमुपस्पृशति न पृथिवीं नेदनेन वज्रेण सᳪशितेनात्मानं वा पृथिवीं वा हिनसानीति तस्मान्नात्मानमुपस्पृशति न पृथिवीम् ॥७॥ देवाश्च वाऽअसुराश्च । उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे ते ह स्म यद्देवा असुराञ्जयन्ति ततो ह स्मैवैनान्पुनरुपोत्तिष्ठन्ति ॥८॥ ते ह देवा ऊचुः । जयामो वाऽअसुरांस्ततस्त्वेव नः पुनरुपोत्तिष्ठन्ति कथं न्वेनाननपजय्यं जयेमेति ॥९॥ स हाग्निरुवाच । उदञ्चो वै नः पलाय्य मुच्यन्तऽइत्युदञ्चो ह स्मैवैषां पलाय्य मुच्यन्ते ॥१०॥ स हाग्निरुवाच । अहमुत्तरतः पर्येष्याम्यथ यूयमित उपसᳪरोत्स्यथ तान्त्सᳪरुध्येभिश्च लोकैरभिनिधास्यामो यद्व चेमांल्लोकानति चतुर्थं ततः पुनर्न सᳪहास्यन्तऽइति ॥११॥ सोऽग्निरुत्तरतः पर्यैत् । अथेमऽइत उपसमरुन्धंस्तान्त्सᳪरुध्येभिश्च लोकैरभिन्यदधुर्यद्व चेमांल्लोकानति चतुर्थं ततः पुनर्न समजिहत तदेतन्निदानेन यत्स्तम्बयजुः ॥१२॥ स योऽसावग्नीदुत्तरतः पर्येति । अग्निरेवैष निदानेन तानधर्युरेवेत उपसᳪरुणद्धि तान्त्सᳪरुध्येभिश्च लोकैरभिनिदधाति यद्व चेमांल्लोकानति चतुर्थं ततः पुनर्न संजिहते तस्मादप्येतर्ह्यसुरा न संजिहते येन ह्येवैनान्देवा अवाबाधन्त तेनैवैनानप्येतर्हि ब्राह्मणा यज्ञेऽवबाधन्ते ॥१३॥ य उऽएव

हैं। उन्हीं की भुजाओं से उठाता है, अपनी से नहीं। यह वज्र है। वज्र कोई मनुष्य उठा नहीं सकता। इसलिए वह देवों की सहायता से यह काम करता है ॥४॥

'मैं तुझे देवों के अध्वर के लिए लेता हूँ'; 'अध्वर' का अर्थ है यज्ञ। इसका तात्पर्य है कि वह देवों के लिए यज्ञ करता है। इसको बायें हाथ से उठाकर और दाहिने हाथ से छूकर जप करता है; जप का प्रयोजन है 'तेज करना' ॥५॥

वह जपता है (यजु० १।२४)—"तू इन्द्र की दाहिनी बाहु है।" इन्द्र की दाहिनी बाहु बहुत बलवान् होती है। इसीलिए कहा कि 'तू इन्द्र की दक्षिण बाहु है'—'हजार नोकों वाला, सैंकड़ों धारों वाला'। वज्र हजारों नोकों वाला था। इन्द्र ने जो वज्र फेंका, वह सैंकड़ों धारों वाला था। इस प्रकार वह स्फ्या में वैसी ही भावना करता है ॥६॥

'तू तेज धार वाला वायु है।' वायु जो बहता है तेज धार वाला होता है, क्योंकि वह संसार-भर को चीरकर बहता है, इस प्रकार वह उसको तेज करता है—'वैरी के वध के लिए'। चाहे किसी को मारना चाहे, या न, उसको कहना चाहिए 'अमुक को मारने के लिए'। जब वह तेज हो जाय तो इससे न अपने को छुए, और न पृथिवी को, यह सोचकर कि 'कहीं इससे मुझे वा जमीन को हानि न पहुँच जाय।' इसीलिए वह न स्वयं को छूता है न उससे पृथिवी को छूता है ॥७॥

देव और असुर दोनों प्रजापति की सन्तान अपनी बड़ाई के लिए झगड़ बैठे। देवों ने असुरों को हरा दिया। परन्तु असुर भी देवों को कष्ट देने लगे ॥८॥

देवों ने कहा, 'हमने असुरों को हरा दिया, फिर भी असुर हमको सताते रहे। क्या काम करें कि अब फिर हम असुरों को हरा दें और दुबारा लड़ना न पड़े' ॥९॥

अग्नि ने कहा—'हम उत्तर को भागें।' वहाँ वे बच गये। उत्तर में भागने से वस्तुतः बच गये ॥१०॥

अग्नि ने कहा—'मैं उत्तर की ओर से इनको घेरे लेता हूँ, तुम इधर से रोको। जब हम रोकेंगे तो तीनों लोकों से इनको दबा देंगे और तीनों लोकों के आगे जो चौथा लोक है, इससे वे फिर सिर न उठा सकेंगे' ॥११॥

इस पर अग्नि उत्तर को चला गया और दूसरे देवों ने उन असुरों को इधर से रोक दिया। रोककर उनको तीनों लोकों से दबा दिया, और जो चौथा लोक इन लोकों से परे है उससे वे फिर न उठ सके। यह जो घास फेंकता है यह वही असुरों को दबाने के कृत्य का रूप है ॥१२॥

अग्नीध्र उत्तर की ओर जाता है क्योंकि अग्नीध्र अग्नि है। अध्वर्यु उनको उधर से रोक देता है। इनको रोककर इन लोगों द्वारा उनको दबा देता है। इन तीन लोकों के अतिरिक्त जो चौथा लोक हो वहाँ से भी वे उठने न पावें। वे इस प्रकार नहीं उठ पाते क्योंकि जैसे देवों ने पहले उनको रोक दिया था, इसी प्रकार इन ब्राह्मणों ने भी उनको रोक दिया ॥१३॥

यजमानायारातीयति । यश्चैनं द्वेष्टि तमेवैतदेभिश्च लोकैरभिनिदधाति यदु चेमां-
ल्लोकानति चतुर्थमस्या एव सर्वꣳ हरत्यस्याꣳ हीमे सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः
किꣳ हि हरन्नन्तरिक्षꣳ हरामि दिवꣳ हरामीति हरेत्तस्मादस्या एव सर्वꣳ हर-
ति ॥१४॥ अथ तृणमन्तर्धाय प्रहरति । नेदनेन वज्रेण सꣳशितेन पृथिवीꣳ हि-
नसानीति तस्मात्तृणमन्तर्धाय प्रहरति ॥१५॥ स प्रहरति । पृथिवि देवयजन्यो-
षध्यास्ते मूलं मा हिꣳसिषमित्युत्तरमूलामिव वाऽएनामेतत्करोत्याददानस्तामेत-
दाहौषधीनां ते मूलानि मा हिꣳसिषमिति व्रजं गच्छ गोष्ठानमित्यभिनिधास्यन्ने-
वैतदनपक्रामि कुरुते तद्यदनपक्रामि यद्वज्रोऽन्तस्तस्मादाह व्रजं गच्छ गोष्ठानमिति
वर्षतु ते द्यौरिति यत्र वाऽअस्यै खनन्तः क्रूरीकुर्वन्त्यपघ्नन्ति शान्तिरापस्तदद्भिः
शान्त्या शमयति तदद्भिः संदधाति तस्मादाह वर्षतु ते द्यौरिति बधान देव सवि-
तः परमस्यां पृथिव्यामिति देवमेवैतत्सवितारमाहान्धे तमसि बधानेति यदाह
परमस्यां पृथिव्यामिति शतेन पाशैरित्यमुचे तदाह योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्वि-
ष्मस्तमतो मा मौगिति यदि नाभिचरेद्यद्युऽअभिचरेदमुमतो मा मौगिति ब्रू-
यात् ॥१६॥ अथ द्वितीयं प्रहरति । अपाररुं पृथिव्यै देवयजनाद्वध्यासमित्यररुर्ह
वै नामासुररक्षसमास तं देवा अस्या अपाघ्नत तथोऽएवैनमेतद्द्विषोऽस्या अपहते
व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्याꣳ शतेन पा-
शैर्योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौगिति ॥१७॥ तमग्नीदभिनिदधा-
ति । अररो दिवं मा पप्त इति यत्र वै देवा अररुमसुररक्षसमपाघ्नत स दिवम-
पिपतिषत्तमग्निरभिन्यदधादररो दिवं मा पप्त इति स न दिवमपतत्तथोऽएवैनमेत-
दध्वर्युरेवास्माल्लोकादन्तरेति दिवोऽध्यग्नीत्तस्मादेवं करोति ॥१८॥ अथ तृतीयं प्र-
हरति । द्रप्सस्ते द्यां मा स्कन्नित्ययं वाऽअस्यै द्रप्सो यमस्या इमꣳ रस प्रजा उप-
जीवन्त्येष ते दिवं मा पप्तदित्येवैतदाह व्रजं गच्छ गो॰--मौगिति ॥१९॥ स वै त्रिर्यजुषा
हरति । त्रयो वाऽइमे लोका एभिरेवैनमेतल्लोकैरभिनिदधात्यद्धा वै तद्यदिमे

जो यजमान से वैर करता है या उससे द्वेष करता है उसको वह इन तीनों लोकों द्वारा, या यदि कोई चौथा लोक हो उसके द्वारा भी दबा देता है । इन तीनों अथवा चौथे से भी इसको निकाल देता है क्योंकि इसी पृथिवी पर तो सब लोक स्थित हैं । यदि वह कहेगा कि मैं अन्तरिक्ष को फेंक दूँ या द्यौ को फेंक दूँ तो वह क्या फेंकेगा ? अतः वह पृथिवी से ही सबको फेंक देता है ॥१४॥

अब तृण को बीच में रखकर स्फ्या से प्रहार करता है । बीच में तृण को इसलिए रखता है कि कहीं वज्र से पृथिवी को हानि न पहुँच जावे ॥१५॥

प्रहार करते समय इस मन्त्रांश (यजु० १।२५) को पढ़ता है—"हे देवयजनि पृथिवि ! मैं तेरी ओषधियों के मूल को हानि न पहुँचाऊँ ।" इस प्रकार वह उसको उत्तर-मूला कर देता है अर्थात् उसके मूल सुदृढ़ हो जाते हैं । जब वह स्फ्या से खुदी हुई मिट्टी उठाता है तो कहता है, 'मैं तेरी ओषधियों के मूल को हानि न पहुँचाऊँ । तू व्रज अर्थात् गोशाला को जा । दैव (द्यौ) तुझ पर वर्षा करें ।' जब पृथिवी खोदी गई तो खुदाई में पृथिवी को क्षति पहुँची । जल शान्ति है । अतः जल को वहाँ डालकर उसका उपशमन कर देता है । इसीलिए कहा कि 'दैव तुझ पर वर्षा करें ।' (खुदी हुई मिट्टी को फेंकते समय) कहता है, 'हे देव सविता, तू इससे पृथिवी के परले सिरे से बाँध दे ।' इसका तात्पर्य यह है कि 'गहरे अँधेरे से बाँध', 'सौ फन्दों (पाशों) से', अर्थात् इस प्रकार कि वह छूटने न पावे । फिर कहता है, 'जो हमसे द्वेष करता है या जिसको हम द्वेष करते हैं उसको मत छोड़ ।' चाहे किसी निश्चित की ओर संकेत हो या न हो, उसे कहना चाहिए कि 'अमुक-अमुक को मत छोड़' ॥१६॥

अब स्फ्या को दुबारा फेंकता है इस मन्त्र (यजु० १।२६) को पढ़कर—'मैं अररु को इस यज्ञ की स्थली पृथिवी से दूर कर दूँ ।' अररु एक राक्षस था । देवों ने उसे भगा दिया था । इसी प्रकार अध्वर्यु भी अररु को भगाता है । अब फिर (वह उन-उन कृत्यों को दुहराते हुए) कहता है, 'तू गायों के स्थान अर्थात् व्रज को जा । दैव तुझ पर वर्षें । सविता देव तुझे पृथिवी के परले सिरे से बाँधे । जो हमसे द्वेष करता है या जिससे हम द्वेष करते हैं, उसको यहाँ से मत छोड़' ॥१७॥

अग्नीध्र उसको यह मन्त्र (यजु० १।२६) पढ़कर कूड़े पर फेंकता है–"हे अररु ! तू स्वर्ग को न जा ।" जब देवों ने राक्षस अररु को निकाला तो उसने स्वर्ग को जाना चाहा । अग्नि ने उसे दबा दिया और कहा, 'अररु, तू स्वर्ग को मत जा ।' वह स्वर्ग को नहीं गया । इसी प्रकार अध्वर्यु उसको पृथिवी से छुड़ा देता है और अग्नीध्र स्वर्ग से रोक देता है । यह इसीलिए किया जाता है ॥१८॥

अब (स्फ्या को) तीसरी बार फेंकता है इस मन्त्रांश (यजु० १।२६) को पढ़कर–"तेरी बूँदें द्यौलोक को न जावें ।" यह बूँद वह रस है जिससे प्रजायें जीती हैं । इसलिए वह कहता है कि 'तेरी बूँदें द्यौलोक को न जावें ।' अब कहता है, 'गोशाला या व्रज को जा । दैव तुझ पर वर्षें । हे सविता देव, तू इसको पृथिवी के परले सिरे से बाँध, सौ फन्दों से । जो हमसे द्वेष करे या हम जिससे द्वेष करें उसको मत छोड़' ॥१९॥

तीन बार यजुः-मन्त्रों से उसको फेंकता है । लोक तीन हैं । इन तीन लोकों से उस बुराई

लोका अद्धो तद्यद्यजुस्तस्मात्तिर्यग्यजुषा हरति ॥२०॥ तूष्णीं चतुर्थम् । स यदिमां-
ल्लोकानति चतुर्थमस्ति वा न वा तेनैवैतद्द्विषन्तं भ्रातृव्यमवबाधतेऽनद्धा वै तद्य-
दिमांल्लोकानति चतुयमस्ति वा न वानद्धो तद्यत्तूष्णीं तस्मात्तूष्णीं चतुर्थम् ॥२१॥
ब्राह्मणम् ॥२[४]॥

देवाश्च वाऽअसुराश्च । उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे ततो देवा अनुव्यमिवा-
सुरथ हासुरा मेनिरेऽस्माकमेवेदं खलु भुवनमिति ॥१॥ ते होचुः । हन्तेमां पृ-
थिवीं विभजामहै तां विभज्योपजीवामेति तामौक्ष्णैश्चर्मभिः पश्चात्प्राञ्चो विभज-
माना अभीयुः ॥२॥ तद्वै देवाः शुश्रुवुः । विभजन्ते ह वाऽइमामसुराः पृथिवीं
प्रेत तदेष्यामो यत्रेमामसुरा विभजन्ते के ततः स्याम यदस्यै न भजेमहीति ते
यज्ञमेव विष्णुं पुरस्कृत्येयुः ॥३॥ ते होचुः । अनु नोऽस्यां पृथिव्यामाभजतास्त्वेव
नोऽप्यस्यां भाग इति ते हासुरा असूयन्त-इवोचुर्यावदेवैष विष्णुरभिशेते तावद्वो
दद्म इति ॥४॥ वामनो ह विष्णुरास । तद्देवा न जिहीडिरे महद्वै नोऽदुर्ये नो
यज्ञसंमितमदुरिति ॥५॥ ते प्राञ्चं विष्णुं निपाद्य । छन्दोभिरभितः पर्यगृह्णन्गायत्रेण
त्वा छन्दसा परिगृह्णामीति दक्षिणतस्त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामीति पश्चाज्जा-
गतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामीत्युत्तरतः ॥६॥ तं छन्दोभिरभितः परिगृह्य । अग्निं
पुरस्तात्समाधाय तेनार्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुस्तेनेमाꣳ सर्वां पृथिवीꣳ समविन्दन्त तद्य-
देनेनेमाꣳ सर्वाꣳ समविन्दन्त तस्माद्वेदिर्नाम तस्मादाहुर्यावती वेदिस्तावती पृथि-
वीत्येतया हीमाꣳ सर्वाꣳ समविन्दन्तैवꣳ ह वाऽइमाꣳ सर्वाꣳ सपत्नानाꣳ संवृङ्क्ते
निर्भजत्यस्यै सपत्नान्य एवमेतद्वेद ॥७॥ सोऽयं विष्णुर्ग्लानः । छन्दोभिरभितः प-
रिगृहीतोऽग्निः पुरस्तान्नापक्रमणमास स तत एवौषधीनां मूलान्युपमुम्लोच ॥८॥
ते ह देवा ऊचुः । क्व नु विष्णुरभूत्क्व नु यज्ञोऽभूदिति ते होचुश्छन्दोभिरभितः
परिगृहीतोऽग्निः पुरस्तान्नापक्रमणमस्त्यत्रैवान्विच्छतेति तं खनन्त-इवान्वीषुस्तं

को दबाता है। जो ये तीन लोक हैं वही वास्तव में ये यजुः हैं। इसलिए यह इस प्रकार यजुः-मन्त्र पढ़कर फेंकता है ॥२०॥

चौथी बार चुपचाप। इन लोकों से परे कोई चौथा लोक है नहीं। उस लोक से उस शत्रु को भगा देता है। यह नहीं निश्चित कि इन तीन लोकों से आगे कोई चौथा लोक है या नहीं। और जो मौन होकर किया जाय वह भी अनिश्चित ही है। इसलिए वह चौथी बार मौन होकर फेंकता है ॥२१॥

अध्याय २—ब्राह्मण ५

प्रजापति की दो सन्तान देव और असुर अपने महत्त्व के लिए लड़ पड़े। देव हार गये। असुरों ने सोचा, 'अब तो यह जगत् हमारा ही हो गया' ॥१॥

उस पर उन्होंने कहा—"अच्छा, इस पृथिवी को परस्पर बाँट लें और उस पर बस जायँ।" अब उन्होंने उसको बैल के चमड़े से पश्चिम से पूर्व तक बाँटा ॥२॥

देवों ने सुना और कहा—"अरे, असुर तो पृथिवी को वास्तव में बाँट रहे हैं। चलो, वहाँ चलें जहाँ बाँट हो रहा है। यदि हमको कोई भाग न मिला तो हम क्या करेंगे?" विष्णु अर्थात् इस यज्ञ को अपना नेता बनाकर वे वहाँ गये ॥३॥

उन्होंने कहा—"अपने साथ हमको भी कुछ बाँट दो। हमारा कुछ तो भाग हो!" असुरों ने संकोच करते हुए कहा—"अच्छा हम तुमको केवल इतना भाग देते हैं जितने में यह विष्णु लेट सके" ॥४॥

विष्णु तो वामन था। परन्तु देवों को भय नहीं हुआ। उन्होंने कहा—"इस यज्ञ-भर को यदि स्थान मिल गया तो बहुत मिल गया" ॥५॥

उन्होंने उस विष्णु या यज्ञ को पूर्व की ओर लिटाकर तीन ओर से छन्दों से घेर दिया (यजु० १।२७)—दक्षिण की ओर 'गायत्री छन्द से तुझे घेरता हूँ', पश्चिम की ओर 'त्रिष्टुभ छन्द से तुझे घेरता हूँ', उत्तर की ओर 'जगती छन्द से तुझे घेरता हूँ' ॥६॥

इस प्रकार तीन ओर छन्दों से घेरकर, पूर्व की ओर अग्नि को रखकर देव अर्चना और श्रम करते रहे। इस प्रकार होते-होते समस्त पृथिवी ले ली। सब पृथ्वी ले ली, इसलिए इसका नाम वेदी पड़ा। इसीलिए कहते हैं कि जितनी वेदी उतनी पृथिवी, क्योंकि इसी वेदी के द्वारा उन्होंने पृथिवी जीत ली। जो इस रहस्य को समझता है वह इसी प्रकार समस्त पृथिवी को अपने शत्रुओं से छीन लेता है और उनको उसमें भाग नहीं देता ॥७॥

अब विष्णु थक गया। तीनों ओर से छन्दों द्वारा ढका हुआ था और पूर्व की ओर अग्नि था। अतः वहाँ से भाग न सकता था। इसलिए वह ओषधियों की जड़ों में छिप गया ॥८॥

देव कहने लगे—"विष्णु कहाँ गया? यज्ञ कहाँ गया? वह तो छन्दों द्वारा तीनों ओर और पूर्व की ओर अग्नि द्वारा घिरा हुआ था। भाग तो सकता नहीं। उसको यहीं खोजना चाहिए।" कुछ खोदा ही था कि वह मिल गया। केवल तीन अंगुल नीचे। इसलिए वेदी को तीन

त्र्यङ्गुलेऽन्वविन्दंस्तस्मात्त्र्यङ्गुला वेदिः स्यात्तदु हापि पाञ्चिस्त्र्यङ्गुलामेव सौम्यस्या-
ध्वरस्य वेदिं चक्रे ॥९॥ तदु तथा न कुर्यात् । ओषधीनां वै स मूलान्युपाम्लो-
चत्तस्मादोषधीनामेव मूलान्युच्छित्तवै ब्रूयाद्यन्न्वेवात्र विष्णुमन्वविन्दंस्तस्माद्वेदिर्ना-
म ॥१०॥ तमनुविद्योत्तरेण परिग्रहेण पर्यगृह्णन् । सुक्ष्मा चासि शिवा चासीति
दक्षिणत इमामेवैतत्पृथिवीꣳ संविद्य सुक्ष्माꣳ शिवामकुर्वत स्योना चासि सुषदा
चासीति पश्चादिमामेवैतत्पृथिवीꣳ संविद्य स्योनाꣳ सुषदामकुर्वतोर्जस्वती चासि
पयस्वती चेत्युत्तरत इमामेवैतत्पृथिवीꣳ संविद्य रसवतीमुपजीवनीयामकुर्वत
॥११॥ स वै त्रिः पूर्वं परिग्रहं परिगृह्णाति । त्रिरुत्तरं तत्षट् कृत्वः षड्वाऽऋतवः
संवत्सरस्य संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः स यावानेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावत-
मेवैतत्परिगृह्णाति ॥१२॥ षड्भिर्व्याहृतिभिः । पूर्वं परिग्रहं परिगृह्णाति षड्भिरु-
त्तरं तद्द्वादश कृत्वो द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः स या-
वानेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावतमेवैतत्परिगृह्णाति ॥१३॥ व्याममात्री पश्चा-
त्स्यादित्याहुः । एतावान्वै पुरुषः पुरुषसंमिता हि त्र्यरत्निः प्राची त्रिवृद्धि यज्ञो
नात्र मात्रास्ति यावतीमेव स्वयं मनसा मन्येत तावतीं कुर्यात् ॥१४॥ अभि-
तोऽग्निमꣳसाऽउन्नयति । योषा वै वेदिर्वृषाग्निः परिगृह्य वै योषा वृषाणꣳ शेते
मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते तस्मादभितोऽग्निमꣳसाऽउन्नयति ॥१५॥ सा वै पश्चा-
द्वरीयसी स्यात् । मध्ये संह्वारिता पुनः पुरस्तादुर्वीमिव हि योषां प्रशꣳसन्ति
पृथुश्रोणिर्विमृष्टान्तराꣳसा मध्ये संग्राह्येति जुष्टामेवैनामेतद्देवेभ्यः करोति ॥१६॥
सा वै प्राक्प्रवणा स्यात् । प्राची हि देवानां दिगथोऽउदक्प्रवणोदीची हि म-
नुष्याणां दिग्दक्षिणतः पुरीषं प्रत्युदूहत्येषा वै दिक्पितृणाꣳ सा यद्दक्षिणाप्रवणा
स्यात् क्षिप्रे ह यजमानोऽमुं लोकमियात्तथो ह यजमानो ज्योग्जीवति तस्माद्द-
क्षिणतः पुरीषं प्रत्युदूहति पुरीषवतीं कुर्वीत पशवो वै पुरीषं पशुमतीमेवैना-

अंगुल नीचे होना चाहिए। तदनुसार ही 'पाञ्चि' ने सोमयाग की वेदी तीन अंगुल गहरी ही रखी थी ।।९।।

किन्तु ऐसा न करे। यतः उन्होंने ओषधियों के मूल में यज्ञ को पाया, अतः (अध्वर्यु अग्नीध्र से कहे कि) ओषधियों की जड़ें काट दो। यतः वहाँ यज्ञ को पाया, इसलिये (विद् लाभे धातु से बनकर) इसका नाम वेदि पड़ा ।।१०।।

अब उन्होंने उसको फिर घेर दिया। दक्षिण का घेरा बनाते हुए कहा (यजु० १।२७)—"तू सुक्ष्मा (अच्छी भूमि) और शिवा (कल्याणी) है।" इस प्रकार इस पृथिवी को सुक्ष्मा और शिवा बना दिया। पश्चिम की ओर घेरा बनाकर कहा—"तू स्योना(सुखदा)और सुषदा(अच्छा आसन) है।"(यजु० १।२७) इस प्रकार उसको स्योना, सुषदा बना दिया। उत्तर की ओर घेरा बनाकर कहा(यजु० १।२७)—"तू ऊर्जस्वती(अन्न वाली)और पयस्वती (दूध या रस वाली) है। इस प्रकार उस भूमि को रसवती और बसने योग्य बना दिया ।।११।।

पहले तीन रेखाओं का घेरा बनाता है, फिर तीन का। इस प्रकार छः हुए। ऋतुएँ छः हैं, संवत्सर यज्ञ प्रजापति है। जितना बड़ा यज्ञ, उतनी उसकी मात्रा, उतना ही उसको घेरता है ।।१२।।

पहला घेरा बनाने में छः व्याहृतियाँ पढ़ता है, और दूसरे में छः। इस प्रकार बारह हुईं। महीने बारह होते हैं। संवत्सर यज्ञ प्रजापति है, इसलिये जितना बड़ा यज्ञ, जितनी उसकी मात्रा, उतना ही बड़ा उसको बनाता है ।।१३।।

कुछ लोग कहते हैं कि पश्चिम की ओर उसकी लम्बाई 'व्याम मात्री' (मनुष्य की देह के बराबर) होनी चाहिए, क्योंकि पुरुष इतना ही लम्बा होता है। पूर्व की ओर तीन हाथ, क्योंकि यज्ञ त्रिवृत् है। परन्तु यहाँ कोई मात्रा निश्चित नहीं है। जितना मन आवे उतना रख लेवे ।।१४।।

वेदी की दो भुजाओं को आहवनीय अग्नि के दोनों ओर आगे तक ले जाते हैं। वेदी स्त्री है। अग्नि पुरुष है। स्त्री पुरुष को दोनों भुजाओं से लपेटकर सोया करती है। इस प्रकार वेदी की दोनों भुजाओं को अग्नि के दोनों ओर बढ़ाकर मानो वह उन स्त्री-पुरुषों का सन्तानोत्पत्ति के लिए सम्पर्क करा देता है ।।१५।।

वेदी पश्चिम में चौड़ी, बीच में तंग और पूर्व में फिर चौड़ी होनी चाहिये। इसी प्रकार की स्त्री अच्छी समझी जाती है–नीचे का भाग भारी, कन्धों के निकट कुछ कम चौड़ी और कमर पर पतली। इस प्रकार वह इसको देवों की दृष्टि में प्रिय बना देता है ।।१६।।

वह पूर्व की ओर ढालू होनी चाहिए, क्योंकि पूर्व देवों की दिशा है। पश्चिम की ओर भी ढालू होनी चाहिए, क्योंकि पश्चिम मनुष्यों की दिशा है। कूड़े को दक्षिण की ओर हटा देता है, क्योंकि दक्षिण पितरों की दिशा है। यदि दक्षिण की ओर ढालू हो तो यजमान शीघ्र ही परलोक को सिधार जायगा। ऐसा करने से यजमान बहुत जीता है। इसलिए कूड़े को दक्षिण की ओर हटा देते हैं। पशु ही कूड़ा हैं। इस प्रकार वह वेदी को पशु-सम्पन्न कर देता है ।।१७।।

मेतत्कुरुते ॥१७॥ तां प्रतिमार्ष्टि । देवा ह वै संग्रामꣳ संनिधास्यन्तस्ते होचुर्हन्त
यदस्यै पृथिव्या ऽअनामृतं देवयजनं तच्चन्द्रमसि निदधामहै स यदि न ऽइतो ऽसुरा
जयेयुस्तत एवार्चन्तः श्राम्यन्तः पुनरभिभवेमेति स यदस्यै पृथिव्या ऽअनामृतं देव-
यजनमासीत्तच्चन्द्रमसि न्यदधत तदेतच्चन्द्रमसि कृष्णं तस्मादाहुश्चन्द्रमस्यस्यै पृथिव्यै
देवयजनमित्यपि ह वा ऽअस्यैतस्मिन्देवयजन ऽइष्टं भवति तस्माद्वै प्रतिमार्ष्टि
॥१८॥ स प्रतिमार्ष्टि । पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्निति संग्रामो वै क्रूरꣳ सं-
ग्रामे हि क्रूरं क्रियते हतः पुरुषो हतोऽश्वः शेते पुरा ह्येतत्संग्रामान्न्यदधत त-
स्मादाह पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्नित्युदादाय पृथिवीं जीवदानुमित्युदादाय हि
यदस्यै पृथिव्यै जीवमासीत्तच्चन्द्रमसि न्यदधत तस्मादाहोदादाय पृथिवीं जीवदा-
नुमिति यामैरयꣳश्चन्द्रमसि स्वधाभिरिति यां चन्द्रमसि ब्रह्मणादधुरित्येवैतदाह
तामु धीरासो ऽअनुदिश्य यजन्त ऽइत्येतेनो ह तामनुदिश्य यजन्ते ऽपि ह वा ऽअस्यै-
तस्मिन्देवयजन ऽइष्टं भवति य एवमेतद्वेद ॥१९॥ अथाह प्रोक्षणीरासादयेति ।
वज्रो वै स्फ्यो ब्राह्मणश्चेमं पुरा यज्ञमभ्यजूगुपतां वज्रो वा ऽआपस्तद्वज्रमेवैतदभि-
गुप्त्या ऽआसादयति स वा ऽउपर्युपर्येव प्रोक्षणीषु धार्यमाणास्वथ स्फ्यमुद्यच्छत्यथ
यन्निहित ऽएव स्फ्ये प्रोक्षणीरासादयेद्वज्रौ ह समृच्छेयातां तयो ह वज्रौ न समृच्छेते
तस्मादुपर्युपर्येव प्रोक्षणीषु धार्यमाणास्वथ स्फ्यमुद्यच्छति ॥२०॥ अथैतां वाचं वद-
ति । प्रोक्षणीरासादयेध्मं बर्हिरुपसादय स्रुचः संमृड्ढि पत्नीꣳ संनह्याज्येनोदेहीति
संप्रैष एवैष स यदि कामयेत ब्रूयादेतद्यद्यु कामयेतापि नाद्रियेत स्वयमु ह्येवैत-
द्वेदेदमतः कर्म कर्तव्यमिति ॥२१॥ अथोदञ्चꣳ स्फ्यं प्रहरति । अमुष्मै त्वा वज्रं
प्रहरामीति यद्यभिचरेद्वज्रो वै स्फ्य स्तृणुते हैवैनेन ॥२२॥ अथ पाणी ऽअ-
वनेनिक्ते । यद्वास्यै क्रूरमभूत्तद्वास्या ऽएतदहार्षीत्तस्मात्पाणी ऽअवनेनिक्ते ॥२३॥
स ये हाग्र ऽईजिरे । ते ह स्मावमर्शं यजन्ते ते पापीयाꣳस आसुरथ ये ने-

(वेदी को पूर्व से पश्चिम की ओर अग्नीध्र) लीप देता है। जब देव संग्राम की तैयारी कर रहे थे तो वे बोले—"इस पृथिवी का जो कुछ भाग यज्ञ के योग्य हो उसे चन्द्रलोक को ले चलें। यदि असुरों ने जीतकर हमको भगा दिया तो हम अर्चना और परिश्रम द्वारा फिर वैभव प्राप्त कर सकेंगे। इसने भी पृथिवी का जो पवित्र यज्ञ के योग्य भाग था उसको चन्द्रलोक के अर्पण कर दिया। चाँद के काले धब्बे यही हैं। इसीलिये कहावत है कि चन्द्रलोक में इस पृथिवी का यज्ञ-स्थान है। देवयज्ञ इसी पृथिवी पर उसी वेदी के स्थान में किया जाता है। अतः वह वेदी को लीपता है ॥१८॥

यजुर्वेद (१।२८) के इस अंश को पढ़कर लीपता है—"हे शक्तिमान्! इधर-उधर गति करते हुए क्रूर के पहले।" क्रूर नाम है संग्राम का। संग्राम में बहुत क्रूरता की जाती है। इसमें बहुत-से मनुष्य, अश्व आदि मरकर धराशायी हो जाते हैं। वे संग्राम से पहले ही पृथिवी के यज्ञ वाले भाग को चन्द्रलोक को ले गये थे, इसीलिये कहा 'हे शक्तिशालिन्! इधर-उधर हिलते हुए क्रूर से पूर्व।' फिर कहता है—"जीवन देनेवाली भूमि को उठाकर।" इस पृथिवी पर जो जीवन था उसको उठाकर ही चन्द्रलोक को ले गये थे। इसीलिये कहा, 'जीवन देनेवाली भूमि को उठाकर', 'जिसको स्वधाओं के साथ चन्द्रलोक को ले गये', अर्थात् प्रार्थनाओं (ब्रह्म) के साथ। 'बुद्धिमान् लोग अब भी इसी भूमि का अनुदेश करके यज्ञ करते हैं'; अपने यज्ञ को वे इसी भूमि पर करते हैं। जो इस रहस्य को समझता है उसका यज्ञ भी यहीं होता है ॥१९॥

अब वह (अध्वर्यु) (अग्नीध्र से) कहता है (यजु० १।२८)—"प्रोक्षणी पात्र को (वेदी में) रक्खो।" स्फयारूपी वज्र ने और ब्राह्मण ने अब तक यज्ञ की रक्षा की। जल भी तो वज्र है। अब इस वज्र को रक्षा के लिए रखता है। प्रोक्षणी को स्फया पर रखते समय पहले वह स्फया को उठा लेता है। यदि स्फया रक्खी रहे और उस पर प्रोक्षणी रक्खी जाय तो दो वज्र परस्पर टकरा जायँ। ये वज्र न टकराने पावें इसीलिये प्रोक्षणी को स्फया पर रखने से पूर्व स्फया को उठा लेता है ॥२०॥

अब इस (पूर्ण) वाणी को बोलता है—"प्रोक्षणी को वेदी में रक्खो। उसी के पास समिधा और बर्हि भी रक्खो। स्रुक् को माँजो, पत्नी की कमर को कसो और घी लेकर यहाँ आओ।" ये आदेश (अग्नीध्र के लिए) हैं। अध्वर्यु का जी चाहे तो इसको कहे, जी चाहे न कहे। क्योंकि अग्नीध्र तो जानता ही है कि क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए ॥२१॥

अब वह स्फया को उत्तर की ओर कूड़े पर फेंक देता है। यदि वह किसी शत्रु को मारने के अभिप्राय से फेंके तो उसको कहना चाहिए कि 'मैं अमुक-अमुक शत्रु के नाश के लिए वज्र फेंकता हूँ।' यह स्फया वज्र के समान ही शत्रु की घातिनी होगी ॥२२॥

अब वह हाथ धोता है। वेदी में जो कुछ क्रूर था उसको फेंक दिया। अतः हाथ धोता है ॥२३॥

जिन्होंने पहले यज्ञ किया था उन्होंने यज्ञ करते हुए वेदी छली। यह पापकर्म था। जिन्होंने

ज्ञिरे ते श्रेयाꣳस आसुस्ततोऽश्रद्धा मनुष्यान्विवेद ये यजन्ते पापीयꣳसस्ते भवन्ति यऽउ न यजन्ते श्रेयाꣳसस्ते भवन्तीति तत इतो देवान्हविर्न जगामितः प्रदानाद्धि देवा उपजीवन्ति ॥२४॥ ते ह देवा ऊचुः । बृहस्पतिमाङ्गिरसमश्रद्धा वै मनुष्यानविदत्तेभ्यो विधेहि यज्ञमिति स हेत्योवाच बृहस्पतिराङ्गिरसः कथा न यजधऽइति ते होचुः किंकाम्या यजेमहि ये यजन्ते पापीयाꣳसस्ते भवन्ति यऽउ न यजन्ते श्रेयाꣳसस्ते भवन्तीति ॥२५॥ स होवाच । बृहस्पतिराङ्गिरसो यद्वै शुश्रुम देवानां परिषूतं तदेष यज्ञो भवति यद्धुतानि हवीꣳषि क्लृप्ता वेदिस्तेनावमर्शमचारिष्ट तस्मात्पापीयाꣳसोऽभूत तेनानवमर्शं यजध्वं तथा श्रेयाꣳसो भविष्यथेत्या क्रियत इत्या बर्हिष स्तरणादिति बर्हिषा ह वै खल्वेषा शाम्यति स यदि पुरा बर्हिष स्तरणात्किंचिदापद्येत बर्हिरेव तत्स्तृणान्नपास्येदथ यदा बर्हि स्तृणात्यपि पदाभितिष्ठन्ति स यो हैवं विद्वाननवमर्शं यजते श्रेयान्हैव भवति तस्मादनवमर्शमेव यजेत ॥२६॥ ब्राह्मणम् ॥ ३ [५.]॥ अध्यायः ॥२॥

स वै स्रुचः संमार्ष्टि । तद्यत्स्रुचः संमार्ष्टि यथा वै देवानां चरणं तद्वाऽअनु मनुष्याणां तस्माद्यदा मनुष्याणां परिवेषणमुपक्लृप्तं भवति ॥१॥ अथ पात्राणि निर्णेनिजति । तैर्निर्णिज्य परिवेविषत्येवं वाऽएष देवानां यज्ञो भवति यद्धुतानि हवीꣳषि क्लृप्ता वेदिस्तेषामेतान्येव पात्राणि यत्स्रुचः ॥२॥ स यत्संमार्ष्टि । निर्णेनिक्त्येवैना एतन्निर्णिक्ताभिः प्रचराणीति तद्वै द्वयेनैव देवेभ्यो निर्णेनिजत्येकेन मनुष्येभ्योऽद्भिश्च ब्रह्मणा च देवेभ्यऽआपो हि कुशा ब्रह्म यजुरेकेनैव मनुष्येभ्योऽद्भिरेवैवम्वेतन्नाना भवति ॥३॥ अथ स्रुवमादत्ते । तं प्रतपति प्रत्युष्टꣳ रक्षः प्रत्युष्टाऽअरातयो निष्टप्तꣳ रक्षो निष्टप्ता अरातय इति वा ॥४॥ देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः । तेऽसुररक्षसेभ्य आसंगाद्बिभयांचक्रुस्तद्यज्ञमुखादेवैतन्नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यतोऽपहन्ति ॥५॥ स वाऽइत्यग्रैरन्तरतः संमार्ष्टि । अनिशितोऽसि सपत्नक्षिदिति य-

हाथ धो डाले, उन्होंने ठीक किया। अब अश्रद्धा उत्पन्न हो गई। लोग कहने लगे–'जो यज्ञ करते हैं वे पापी हो जाते हैं। जो यज्ञ नहीं करते वे पुण्यवान् होते हैं।' अब इस पृथिवी से देवताओं के पास कुछ भी हवि नहीं पहुँची। देवता तो उसी हवि के आश्रय रहते हैं जो इस पृथिवीलोक से दी जाती है ।।२४।।

तब देवों ने बृहस्पति आंगिरस से कहा—"मनुष्य में अश्रद्धा ने घर कर लिया है। उनके लिए यज्ञ का आदेश दीजिये।" तब बृहस्पति आंगिरस ने कहा—"आप लोग यज्ञ क्यों नहीं करते ?" वे बोले—"यज्ञ क्या करें ? जो यज्ञ करते हैं वे पापी हो जाते हैं, जो यज्ञ नहीं करते पुण्यात्मा रहते हैं" ।।२५।।

तब बृहस्पति आंगिरस ने कहा–"हमने ऐसा सुना है कि जो देवताओं के लिए तैयार किया जाता है अर्थात् पकी हुई हवि, वही यज्ञ है। तुमने वेदी को छूकर उसको किया, अतः पापी हो गये। वेदी को न छूकर करते तो पुण्यात्मा होते। बिना छुए ही यज्ञ करो। ठीक हो जायगा।" बर्हि से वेदी सन्तुष्ट रहती है। इसलिये यदि बर्हि बिछाने से पूर्व वेदी पर कोई चीज गिर जाय तो बर्हि बिछाते समय ही उठानी चाहिए। क्योंकि जब वे बर्हि को बिछाते हैं तो वेदी पर पैर रखते हैं। जो इस रहस्य को समझकर बिना स्पर्श किये यज्ञ करता है पुण्यात्मा हो जाता है। इसलिये (वेदी और हवि को) बिना छुए ही यज्ञ करे ।।२६।।

अध्याय ३–ब्राह्मण १

अब (अग्नीध्र) चमचों को माँजता है। चमचों को इसलिये माँजता है कि जैसा मनुष्यों का चलन होता है वैसा ही देवों का। जब मनुष्यों का भोजन परोसा जाता है तो—।।१।।

बरतनों को माँजते हैं, और तब उनमें खाना परोसते हैं। इसी प्रकार देवों को हवि दी जाती है; अर्थात् हवि को पकाते हैं और वेदी को बनाते हैं और देवों के पात्रों अर्थात् चमचों आदि को ठीक करते हैं ।।२।।

जब वह माँजता है तो धोता भी है। तात्पर्य यह है कि मैं इस प्रकार करूँगा। देव-पात्रों को दो चीजों से शुद्ध करते हैं और मनुष्य के पात्रों को एक से। देव-पात्रों को जल और प्रार्थना से। कुश जल का प्रतिनिधि है और प्रार्थना तो है ही। मनुष्यों के पात्रों को केवल एक अर्थात् जल से। इस प्रकार दोनों में भेद हो जाता है ।।३।।

पहले स्रुवा को लेता है, और आग पर तपाता है, इस (यजु० १।२९) मन्त्र को जपते हुए—"झुलस गये राक्षस, झुलस गये शत्रु। जल गये राक्षस, जल गये शत्रु" ।।४।।

जब देवों ने यज्ञ किया था तो उनको भय था कि कहीं राक्षस असुर यज्ञ को विध्वंस न कर दें। अतः वह पहले से ही राक्षस और असुरों को भगा देता है ।।५।।

वह पात्र के आगे से लेकर भीतर की ओर इस प्रकार स्रुवा को माँजता है, यह पढ़कर (यजु० १।२९)—"तू तेज तो नहीं है; परन्तु शत्रुओं का घातक है।" यह इसलिए कहता है कि

थानुपरतो यजमानस्य सपत्नान्क्षिणुयादेवमेतदाह वाजिनं त्वा वाजेध्यायै संमार्ज्मी-
ति यज्ञियं त्वा यज्ञाय संमार्ज्मीत्येवैतदाहैतेनैव सर्वाः स्रुचः संमार्ष्टि वाजिनीं
त्वेति स्रुचं तूष्णीं प्राशित्रहरणꣳ ॥६॥ स वाऽइत्यग्रैरन्तरतः संमार्ष्टीति । मूलै-
र्बाह्यतऽइतीव वाऽअयं प्राण इतीवोदानः प्राणोदानावेवैतद्दधाति तस्मादिती-
वेमानि लोमानीतीवेमानि ॥७॥ स वै संमृज्य-संमृज्य प्रतप्य-प्रतप्य प्रयच्छति । य-
थावमर्शं निर्णिज्यानवमर्शमुत्तमं परिक्षालयेदेवं तत्तस्मात्प्रतप्य-प्रतप्य प्रयच्छति
॥८॥ स वै स्रुवमेवाग्रे संमार्ष्टि । अथेतराः स्रुचो योषा वै स्रुग्वृषा स्रुवस्तस्मा-
द्यद्यपि बह्व्य-इव स्त्रियः सार्धं यन्ति य एव तास्वपि कुमारक-इव पुमान्भवति
स एव तत्र प्रथम एत्यनूच्य इतरास्तस्मात्स्रुवमेवाग्रे संमार्ष्ट्यथेतराः स्रुचः ॥९॥
स वै तथैव संमृज्यात् । यथाग्निं नाभिव्युक्षेद्यथा यस्माऽअशनमाहरिष्यन्त्स्यात्तं पा-
त्रनिर्णेजनेनाभिव्युक्षेदेवं तत्तस्मादु तथैव संमृज्याद्यथाग्निं नाभिव्युक्षेत्प्राङिवैवो-
त्क्रम्य ॥१०॥ तद्धैके । स्रुक्संमार्जनान्यग्नावभ्यादधति वेदस्याहाभूवन्त्स्रुच एभिः
समममार्जिषुरिदं वै किंचिद्यज्ञस्य नेदिदं बहिर्धा यज्ञाद्भवदिति तदु तथा न कुर्या-
द्यथा यस्माऽअशनमाहरेत्तं पात्रनिर्णेजनं पाययेदेवं तत्तस्मादु परास्येदेवैतानि
॥११॥ अथ पत्नीꣳ संनह्यति । जघनार्धो वाऽएष यज्ञस्य यत्पत्नी प्राङ्मे यज्ञस्ता-
यमानो यादिति युनक्त्येवैनामेतद्युक्ता मे यज्ञमन्वासाताऽइति ॥१२॥ योक्त्रेण सं-
नह्यति । योक्त्रेण हि योग्यं युञ्जन्त्यंस्ति वैं पत्न्या अमेध्यं यदवाचीनं नाभेरथैत-
दाज्यमवेक्षिष्यमाणा भवति तदेवास्या एतद्योक्त्रेणान्तर्दधात्यथ मेध्येनैवोत्तरार्धेना-
ज्यमवेक्षते तस्मात्पत्नीꣳ संनह्यति ॥१३॥ स वाऽअभिवासः संनह्यति । ओष-
धयो वै वासो वरुण्या रज्जुस्तदोषधीरेवैतदन्तर्दधाति तथो हैनामेषा वरुण्या
रज्जुर्न हिनस्ति तस्मादभिवासः संनह्यति ॥१४॥ स संनह्यति । अदित्यै रास्ना-
सीतीयं वै पृथिव्यदितिः सेयं देवानां पत्न्येषा वाऽएतस्य पत्नी भवति तदस्या

यजमान के शत्रुओं को मार दे। "मैं तुझ अन्नवाले को अन्न के लिए माँजता हूँ।" इसी प्रकार सबको माँजता है। स्रुवा पुंल्लिङ्ग है अतः उसको माँजते हुए पुंल्लिङ्ग 'वाजिन' का प्रयोग करता है। स्रुच् स्त्रीलिङ्ग है, अतः उसको माँजते समय 'वाजिनी' (स्त्रीलिङ्ग) का प्रयोग करता है। प्राशित्रहरण नामक खदिर के पात्र को मौन होकर माँजता है ।।६।।

आगे से लेकर भीतर की ओर इसलिए माँजता है कि प्राण और उदान की गति इसी प्रकार है। इस प्रकार वह प्राण और उदान को यजमान को प्राप्त कराता है। भुजा में कोहनी से ऊपर के लोम ऊपर की ओर होते हैं और नीचे के नीचे की ओर ।।७।।

ज्यों-ज्यों वह धोकर तपाता है (अध्वर्यु को) देता जाता है। जैसे बर्तनों को माँजते समय पहले तो हाथ लगाकर माँजते हैं, फिर बिना हाथ लगाये पानी डालकर धो देते हैं। इसी प्रकार वह माँज और तपाकर अध्वर्यु को दे देता है ।।८।।

स्रुवा को पहले माँजता है। सब स्रुच् तो स्त्री हैं और स्रुवा पुरुष। यों तो स्त्रियाँ एक-साथ चलती हैं, परन्तु उनमें जो पुरुष होता है वह आगे चलता है और स्त्रियाँ उसके पीछे। इसीलिए वह स्रुवा को पहले माँजता है और अन्य स्रुच् आदि को पीछे ।।९।।

इसको इस प्रकार माँजना चाहिए कि कोई भाग आग में न पड़ने पावे। ऐसा करने से तो वह खानेवाले के ऊपर बर्तनों का मैल डाल देगा। इसलिए इस प्रकार माँजना चाहिए कि आग में बर्तनों का मैल न पड़ने पावे, अर्थात् आहवनीय अग्नि से कुछ दूर पूर्व की ओर हटकर माँजे ।।१०।।

कुछ लोग स्रुच् को माँजकर घास के टुकड़े जिनसे स्रुच् माँजा था, आग में डाल देते हैं। वे कहते हैं कि यह तो कुश के ही भाग हैं; कुश यज्ञ का है, अतः यज्ञ का कोई भाग भी यज्ञ के बाहर नहीं जाना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं करना चाहिए। इससे तो जिसके लिए भोजन लाया उसी को मैल का भाग खिलाने के तुल्य होगा। इसलिए इन तृणों को बाहर ही फेंकना चाहिए ।।११।।

अब यजमान की पत्नी की (अग्नीध्र) कमर कसता है। पत्नी यज्ञ का पिछला भाग है। अब अग्नीध्र उसकी कमर कसता है तब वह यह सोचती जाती है कि यज्ञ मेरे सामने फूले-फले। अग्नीध्र सोचता है कि यह मेरे यज्ञ में कमर कसी हुई बैठी रहे ।।१२।।

पत्नी की कमर रस्सी से कसता है। रस्सी से ही तो पशुओं को बाँधते हैं। पत्नी का वह भाग जो नाभि से नीचे होता है अपवित्र होता है, उस अपवित्र भाग से ही वह आज्य के सामने आवेगी। अतः वह कमर में रस्सी बाँध देता है कि उसका ऊपर का भाग ही जो पवित्र है सामने आवे ।।१३।।

रस्सी को वस्त्रों के ऊपर बाँधते हैं। वस्त्र ओषधि का रूपान्तर हैं। रस्सी वरुण की पाश है। इस प्रकार ओषधि पत्नी के शरीर और वरुण की गाँठ के बीच में आ जाती है। इस प्रकार यह वरुण की रस्सी पत्नी को हानि नहीं पहुँचा सकती। इसलिये वह वस्त्रों के ऊपर कसता है ।।१४।।

वह कमर कसते समय पढ़ता है (यजु० १।३०)—"तू अदिति की रास्ना है।" यह पृथिवी ही अदिति है। वह देवों की पत्नी है और यह स्त्री यजमान की पत्नी है। इस प्रकार वह इस

एतद्रास्नामेव करोति न रज्जुँ ह्वरो वै रास्ना तामेवास्या एतत्करोति ॥१५॥ स
वै न ग्रन्थिं कुर्यात् । वरुण्यो वै ग्रन्थिर्वरुणो ह पत्नीं गृह्णीयाद्यद्ग्रन्थिं कुर्यात्तस्मान्न
ग्रन्थिं करोति ॥१६॥ ऊर्ध्वमिवोद्गूहति । विष्णोर्वेष्योऽसीति सा वै न पश्चात्प्राची
देवानां यज्ञमन्वासीतेयं वै पृथिव्यदितिः सेयं देवानां पत्नी सा पश्चात्प्राची देवा-
नां यज्ञमन्वास्ते तद्धेमामभ्यारोहेत्सा पत्नी क्षिप्रेऽमुं लोकमियात्तथो ह पत्नी ज्यो-
ग्जीवति तदस्या एवैतन्निह्नुते तथो हैनामियं न हिनस्ति तस्मादु दक्षिणत-इवे-
वान्वासीत ॥१७॥ अथाज्यमवेक्षते । योषा वै पत्नी रेत आज्यं मिथुनमेवैतत्प्रज-
ननं क्रियते तस्मादाज्यमवेक्षते ॥१८॥ सावेक्षते । ऽदब्धेन त्वा चक्षुषावपश्यामी-
त्यनार्त्तेन त्वा चक्षुषावपश्यामीत्येवैतदाहाग्नेर्जिह्वासीति यदा वाऽएतदग्नौ जुह्व-
त्यथाग्नेर्जिह्वा-इवोत्तिष्ठन्ति तस्मादाहाग्नेर्जिह्वासीति सुभूर्देवेभ्य इति साधु देवेभ्य
इत्येवैतदाह धाम्ने-धाम्ने मे भव यजुषे-यजुषऽइति सर्वस्मै मे यज्ञायैधीत्येवैतदाह
॥१९॥ अथाज्यमादाय प्रागुदाहरति । तदाहवनीयेऽधिश्रयति यस्याहवनीये हवीँ-
षि श्रपयन्ति सर्वो मे यज्ञ आहवनीये शृतोऽसदित्यथ यदमुत्राग्नेऽधिश्रयति पत्नीँ
ह्यवकाशयिष्यन्भवति न हि तदवकल्पते यत्सामि प्रत्यग्घरेत्पत्नीमवकाशयिष्या-
मीत्यथ यत्पत्नीं नावकाशयेदन्तरियाद्ध यज्ञात्पत्नीं तथो ह यज्ञात्पत्नीं नान्तरेति
तस्मादु सार्धमेव विलाप्य प्रागुदाहरत्यवकाश्य पत्नीं यस्यो पत्नी न भवत्यग्र
एव तस्याहवनीयेऽधिश्रयति तत्तत आदत्ते तदन्तर्वेद्यासादयति ॥२०॥ तदाहुः ।
नान्तर्वेद्यासादयेदतो वै देवानां पत्नीः संयाजयन्त्यवसभा अह देवानां पत्नीः करो-
ति परःपुँसो हास्य पत्नी भवतीति तदु होवाच याज्ञवल्क्यो यथादिष्टं पत्न्या
अस्तु कस्तदाद्रियेत यत्परःपुँसा वा पत्नी स्याद्यथा वा यज्ञो वेदिर्यज्ञ आज्यं य-
ज्ञाद्यज्ञं निर्मिमाऽइति तस्मादन्तर्वेद्येवासादयेत् ॥२१॥ प्रोक्षणीषु पवित्रे भवतः ।
ते तत आदत्ते ताभ्यामाज्यमुत्पुनात्येको वाऽउत्पवनस्य बन्धुर्मेध्यमेवैतत्करोति
॥२२॥ स उत्पुनाति । सवितुस्त्वा प्रसवऽउत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मि-

रस्सी को रस्सी न मानकर केवल यजमान की पत्नी की रास्ना बना देता है (रास्ना का अर्थ है सीमा)। रज्जू पत्नी की रास्ना होती है ॥१५॥

रस्सी में गाँठ नहीं बाँधनी चाहिए। गाँठ वरुण की होती है। गाँठ बाँधने से तो वरुण पत्नी को पकड़ लेगा। इसलिए गाँठ नहीं बाँधता ॥१६॥

(यजु० १।३०) के निम्न मन्त्रांश को पढ़कर वह उसे ऊपर की ओर मोड़ देता है—"तू विष्णु से व्याप्य है।" पत्नी को चाहिए कि वह वेदी के पश्चिम को पूर्वाभिमुख न बैठे। यह पृथिवी अदिति है, वह देवों की पत्नी है, देवों की पत्नी वेदी के पश्चिम को पूर्वाभिमुख बैठती है। यदि यह स्त्री भी ऐसा ही करेगी तो अदिति हो जायगी और शीघ्र ही परलोक सिधारेगी। अपने नियत स्थान पर बैठकर बहुत दिनों जीती है। अदिति को प्रसन्न रखती है और अदिति उसको हानि नहीं पहुँचाती। इसलिए उसको दक्षिण की ओर हटकर बैठना चाहिए ॥१७॥

अब वह (पत्नी) आज्य को देखती है। पत्नी स्त्री है और आज्य वीर्य है। इस प्रकार दोनों में सम्पर्क स्थापित करके सन्तति-प्रजनन कर देता है। इसीलिए पत्नी आज्य को देखती है ॥१८॥

वह यजु० १।३० को पढ़कर आज्य को देखती है—"मैं तुझको दोषरहित आँख से देखती हूँ।" अर्थात् शुभ दृष्टि से।—"तू अग्नि की जीभ है।" अग्नि में उसकी आहुति देते हैं तो अग्नि की जीभ उसे ले लेती है, अतः आज्य अग्नि की जीभ है।—"तू देवों के लिए 'सुहू' है।" अर्थात् भलीभाँति निमन्त्रित।—"मेरे कल्याण के लिए यह कृत्य हो।" इसका तात्पर्य यह है कि यहआज्य समस्त यज्ञ के लिए सुहू हो ॥१९॥

अग्नीध्रआज्य को लेकर कुछ पूर्व की ओर ले जाता है। जो अपनी हवियों को आहवनीय अग्नि पर पकाते हैं उनके यहाँ यह आज्य आहवनीय अग्नि पर पकाते हैं, यह मानकर कि हमारी समस्त हवियाँ आहवनीय पर पकें। गार्हपत्य पर वह आज्य को इसलिए रखता है कि पत्नी को देखने का अवकाश मिल सके। यह तो ठीक न होगा कि यज्ञ करते समय आहवनीय अग्नि पर से उठाकर आज्य को केवल इसलिए पश्चिम को लाया जाय कि पत्नी को देखने का अवकाश मिल सके। यदि पत्नी को आज्य न दिखाया जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि पत्नी को यज्ञ में कोई अधिकार नहीं दिया गया। ऐसा करने से वह पत्नी को यज्ञ के अधिकार से बहिष्कृत नहीं समझता और (गार्हपत्य पर) पत्नी के निकट पकाकर और पत्नी को दिखाकर ही पूर्व की ओर ले जाता है। यदि पत्नी न हो (मर गई हो या अन्य कारण हो) तो पहले से ही आहवनीय पर रखा देता है। फिर वहाँ से उठाकर वेदी के भीतर रख देता है ॥२०॥

कुछ लोग कहते हैं कि वेदी के भीतर न रखना चाहिए। इससे देव-पत्नियों के लिए आहुति दी जाती है। देव-पत्नियों को सभा से बहिष्कृत कर देता है। और यजमान की पत्नी भी यजमान से रुष्ट हो जाती है। इस पर **याज्ञवल्क्य** का कहना है कि 'पत्नी के लिए जो नियत है वही होना चाहिए। किसको चिन्ता है कि उसकी पत्नी दूसरों से सम्बन्ध रखती है!' 'वेदी यज्ञ है, और आज्य भी यज्ञ है, मैं यज्ञ में से यज्ञ बनाऊँगा।' इसलिए आज्य को वेदी में ही रखना चाहिए ॥२१॥

दोनों पवित्रे प्रोक्षणी पात्रों में होते हैं। वह उनको वहाँ से निकालकर आज्य को पवित्र करता है। उनमें से एक तो पवन का है। इस प्रकार वहआज्य को यज्ञ के योग्य बनाता है ॥२२॥

वह यह मन्त्र (यजु० १।३१) पढ़कर पवित्र करता है—"सविता की प्रेरणा से, छिद्ररहित

भिरिति सोऽसावेव बन्धुः ॥२३॥ ॥ शतम् २०० ॥ ॥ अथाज्यलिप्ताभ्यां पवित्रा-
भ्याम् । प्रोक्षणीरुत्पुनाति सवितुर्वः प्रसवऽउत्पु॰ -- बन्धुः ॥२४॥ तद्यदाज्यलिप्ता-
भ्यां पवित्राभ्याम् । प्रोक्षणीरुत्पुनाति तदप्सु पयो दधाति तदिदमप्सु पयो हितमिदꣳ
हि यदा वर्षत्यथौषधयो जायन्तऽओषधीर्जग्ध्वापः पीत्वा तत एष रसः संभवति त-
स्मादु रसस्यो चैव सर्वत्वाय ॥२५॥ अथाज्यमवेक्षते । तद्धैके यजमानमवख्यापयन्ति
तदु होवाच याज्ञवल्क्यः कथं नु न स्वयमध्वर्यवो भवन्ति कथꣳ स्वयं नान्वाहुर्य-
त्र भूयस्य-इवाशिषः क्रियन्ते कथं न्वेषामत्रैव श्रद्धा भवतीति यां वै कां च यज्ञऽऋ-
त्विज आशिषमाशासते यजमानस्यैव सा तस्मादध्वर्युरेवावेक्षेत ॥२६॥ सोऽवेक्षते ।
सत्यं वै चक्षुः सत्यꣳ हि वै चक्षुस्तस्माद्यदिदानीं द्वौ विवदमानावियातामहमदर्शम-
हमश्रौषमिति य एव ब्रूयादहमदर्शमिति तस्माऽएव श्रद्दध्याम तत्सत्येनैवैतत्समर्धय-
ति ॥२७॥ सोऽवेक्षते । तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसीति स एष सत्य एव मन्त्रस्तेजो
ह्येतच्छुक्रꣳ ह्येतदमृतꣳ ह्येतत्तत्सत्येनैवैतत्समर्धयति ॥२८॥ ब्राह्मणम् ॥४. [३.१.] ॥

पुरुषो वै यज्ञः । पुरुषस्तेन यज्ञो यदेनं पुरुषस्तनुतऽएष वै तायमानो
यावानेव पुरुषस्तावान्विधीयते तस्मात्पुरुषो यज्ञः ॥१॥ तस्येयमेव जुहू ।
रियमुपभृदात्मैव ध्रुवा तद्वाऽआत्मन एवेमानि सर्वाण्यङ्गानि प्रभवन्ति तस्मादु
ध्रुवाया एव सर्वो यज्ञः प्रभवति ॥२॥ प्राण एव स्रुवः । सोऽयं प्राणः सर्वा-
ण्यङ्गान्यनुसंचरति तस्माद् स्रुवः सर्वा अनु स्रुचः संचरति ॥३॥ तस्यासावेव
द्यौर्जुहूः । अथेदमन्तरिक्षमुपभृदियमेव ध्रुवा तद्वाऽअस्या एवेमे सर्वे लोकाः
प्रभवन्ति तस्मादु ध्रुवाया एव सर्वो यज्ञः प्रभवति ॥४॥ अयमेव स्रुवो यो-
ऽयं पवते । सोऽयमिमांत्सर्वांल्लोकाननुपवते तस्मादु स्रुवः सर्वा अनु स्रुचः
संचरति ॥५॥ स एष यज्ञस्तायमानो । देवेभ्यस्तायतऽऋतुभ्यश्छन्दोभ्यो यद्धवि-
स्तद्देवानां यत्सोमो राजा यत्पुरोडाशस्तत्तदादिश्य गृह्णात्यमुष्मै त्वा जुष्टं गृह्णामी-

पवित्रों से, सूर्य्य की रश्मियों से तुझे पवित्र करता हूँ।" शेष स्पष्ट है ।।२३।।

अब आज्य में लिपटे हुए पवित्रों से प्रोक्षणी पात्रों को पवित्र करता है, उसी मन्त्र (यजु० १।३१) से—"सविता की प्रेरणा से, छिद्ररहित पवित्रों से, सूर्य्य की रश्मियों से, तुझे पवित्र करता हूँ" ।।२४।।

आज्य में लिपटे हुए पवित्रों से प्रोक्षणी को पवित्र करने का अर्थ यह है कि जल में दूध रख दिया। जल में दूध हितकर होता है। जब बरसता है तो ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं। ओषधियों को खाकर और जल को पीकर ही रस बनता है। ऐसा करने से वह यजमान को रस-युक्त और पूर्ण कर देता है ।।२५।।

अब अध्वर्यु आज्य को देखता है। कुछ लोगों का मत है कि यजमान को देखना चाहिए। इस पर याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यजमान स्वयं ही अध्वर्यु क्यों नहीं बन जाते? स्वयं ही आशीर्वाद के मन्त्र क्यों नहीं पढ़ लेते? इनमें इनको श्रद्धा कैसे हो जाती है? यज्ञ में ऋत्विज लोग जो भी कृत्य करते हैं वह सब यजमान के लिए ही तो होता है। अतः अध्वर्यु को ही देखना चाहिए।।२६।।

वह इसका अवलोकन करता है। सत्य चक्षु है। सत्य चक्षु ही है, क्योंकि यदि किसी विषय में विवाद उपस्थित हो जाय और एक कहे 'मैंने देखा है', दूसरा कहे 'मैंने सुना है', तो देखे हुए की बात पर श्रद्धा की जाती है। इस प्रकार वह सत्य से इसकी वृद्धि करता है ।।२७।।

वह यजु० १।३१ से उसका अवलोकन करता है—"तू तेज है, तू शुक्र है, तू अमृत है।" यह मन्त्र ठीक तो है। क्योंकि आज्य तेज है, अमृत है। इस प्रकार वह इसकी सत्य से अभिवृद्धि करता है ।।२८।।

अध्याय ३—ब्राह्मण २

यज्ञ पुरुष है। यज्ञ पुरुष क्यों है? इसलिए कि पुरुष ही यज्ञ को तानता है; और जब तन जाता है तो यज्ञ इतना बड़ा हो जाता है जितना पुरुष[1] ।।१।।

यज्ञ की यह भुजा (दाहिनी) जुहू है और यह भुजा (बाई) उपभृत् है। ध्रुवा धड़ है। धड़ से ही सब अंग उपजते हैं। इसलिए ध्रुवा से ही सब यज्ञ उत्पन्न होता है ।।२।।

स्रुवा प्राण है। प्राण सब अंगों में जाता है। इसलिए स्रुवा, सब स्रुचों (चमचियों) में जाता है ।।३।।

जुहू द्यौ लोक है, उपभृत् अन्तरिक्ष और ध्रुवा पृथिवी। पृथिवी से ही सब लोक उपजते हैं। इसी प्रकार ध्रुवा में ही सब यज्ञ उत्पन्न होता है।।४।।

स्रुवा बहनेवाला वायु है। वायु का संचार सब लोकों में होता है। इसीलिए स्रुवा सब स्रुचों तक जाता है ।।५।।

जब यज्ञ ताना जाता है तो देवों के लिए, ऋतुओं के लिए और छन्दों के लिए। हवि, सोमराजा और पुरोडाश देवों के लिए होती है। वह जब इनको लेता है तो उन-उन देवताओं का नाम लेकर कहता है 'मैं अमुक देवता के लिए तुझ प्रिय को लेता हूँ'। इस प्रकार वह उस देवता

---

१. यज्ञ पुरुष की कृति है। कृति कर्त्ता के अनुरूप होती है।

त्येवमु ह्येतेषाम् ॥६॥ अथ यान्याज्यानि गृह्णन्ति । ऋतुभ्यश्चैव तानि छन्दोभ्यश्च गृह्णन्ति तत्तदनादिश्याज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति स वै चतुर्जुह्वां गृह्णात्यष्टौ कृत्व उपभृति ॥७॥ स यच्चतुर्जुह्वां गृह्णाति । ऋतुभ्यस्तद्गृह्णाति प्रयाजेभ्यो हि तद्गृह्णात्यृतवो हि प्रयाजास्तत्तदनादिश्याज्यस्यैव रूपेण गृह्णात्यजामितायै जामि ह कुर्याद्यद्वसन्ताय वा ग्रीष्माय वेति गृह्णीयात्तस्मादनादिश्याज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति ॥८॥ अथ यदष्टौ कृत्व उपभृति गृह्णाति । छन्दोभ्यस्तद्गृह्णात्यनुयाजेभ्यो हि तद्गृह्णाति छन्दाꣳसि ह्यनुयाजास्तत्तदनादिश्याज्यस्यैव रूपेण गृह्णात्यजामितायै जामि ह कुर्याद्यद्गायत्र्यै वा त्रिष्टुभे वेति गृह्णीयात्तस्मादनादिश्याज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति ॥९॥ अथ यच्चतुर्ध्रुवायां गृह्णाति । सर्वस्मै तद्यज्ञाय गृह्णाति तत्तदनादिश्याज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति कस्माऽउ ह्यादिशेद्यतः सर्वाभ्य एव देवताभ्योऽवद्यति तस्मादनादिश्याज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति ॥१०॥ यजमान एव जुहूमनु । योऽस्माऽअरातीयति स उपभृतमन्वत्तेव जुहूमन्वाद्य उपभृतमन्वत्तेव जुहूराद्य उपभृत्स वै चतुर्जुह्वां गृह्णात्यष्टौ कृत्व उपभृति ॥११॥ स यच्चतुर्जुह्वां गृह्णाति । अत्तारमेवैतत्परिमिततरं कनीयाꣳसं करोत्यथ यदष्टौ कृत्व उपभृति गृह्णात्याद्यमेवैतदपरिमिततरं भूयाꣳसं करोति तद्धि समृद्धं यत्रात्ता कनीयानाद्यो भूयान् ॥१२॥ स वै चतुर्जुह्वां गृह्णन् । भूय आज्यं गृह्णात्यष्टौ कृत्व उपभृति गृह्णन्कनीय आज्यं गृह्णाति ॥१३॥ स यच्चतुर्जुह्वां गृह्णन् । भूय आज्यं गृह्णात्यत्तारमेवैतत्परिमिततरं कनीयाꣳसं कुर्वंस्तस्मिन्वीर्यं बलं दधात्यथ यदष्टौ कृत्व उपभृति गृह्णन्कनीय आज्यं गृह्णात्याद्यमेवैतदपरिमिततरं भूयाꣳसं कुर्वंस्तमवीर्यमबलीयाꣳसं करोति तस्मादुत राजापरां विशं प्रावसायाप्येकवेश्मनैव जिनाति वद्यथा वत्कामयते तथा सचतऽएतेनो ह तद्वीर्येण यज्जुह्वां भूय आज्यं गृह्णाति स यज्जुह्वां गृह्णाति जुहूदेव तज्जुहोति यदुपभृति गृह्णाति जुहूदेव तज्जुहोति ॥१४॥ तदाहुः । कस्माऽउ तर्ह्युपभृति गृह्णीयाद्यदुप-

की हो जाती है ।।६।।

जो आज्य लिये जाते हैं वे ऋतुओं और छन्दों के लिए लिये जाते हैं। इनको बिना नाम लिये लेता है। जुहू में चार बार आज्य लिया जाता है, उपभृत् में आठ बार ।।७।।

जुहू में जो चार बार लेता है वह ऋतुओं के लिए लेता है, प्रयाजों के लिए लेता है। प्रयाज ही ऋतु हैं। वह आज्य को लेने में किसी का नाम नहीं लेता; अजामिता के लिए। यदि कहे कि 'वसन्त के लिए लेता हूँ या ग्रीष्म के लिए लेता हूँ' तो जामिता आ जाय, इसलिए बिना नाम लिये ही आज्य को लेता है ।।८।।

आठ बार उपभृत् से जो लेता है वह छन्दों के लिए, अनुयाजों के लिए। अनुयाज छन्द हैं। इनको बिना नाम लिये ही लेता है, अजामिता के लिए। यदि कहे कि 'गायत्री के लिए या त्रिष्टुभ के लिए' तो जामिता आ जाय, इसलिए इसको आज्य के रूप में ही बिना देवता का नाम लिये ही लेता है ।।९।।

ध्रुवा में जो चार बार लेता है वह समस्त यज्ञ के लिए। इसको भी वह आज्य के रूप में बिना देवता का नाम लिए ही लेता है। नाम किस देवता का लिया जाय ? वह तो सभी देवताओं के लिए निकालता है। इसलिए बिना नाम लिये ही आज्य के रूप में उसको लेता है ।।१०।।

यजमान जुहू के पीछे खड़ा होता है और जो उसका अशुभचिन्तक है वह उपभृत् के पीछे। खानेवाला जुहू के पीछे खड़ा होता है और खाई जानेवाली चीज उपभृत् के पीछे। जुहू खानेवाला है और उपभृत् खाद्य। जुहू में चार बार लेता है और उपभृत् में आठ बार ।।११।।

जुहू में चार बार लेता है, इसलिए कि खानेवाला परिमित और छोटा हो जाय। उपभृत् में आठ बार लेता है कि खाद्य पदार्थ अपरिमित और बहुत हो जाय। जहाँ खानेवाला छोटा हो और खाद्य पदार्थ बहुत हो, वहाँ यह समृद्धि का सूचक है ।।१२।।

जुहू में चार बार में बहुत आज्य ले लेता है और उपभृत् में आठ बार में कम आज्य लेता है ।।१३।।

जुहू में जो चार बार लेता है और अधिक लेता है, इससे वह खानेवाले को छोटा और परिमित बनाकर उसमें अधिक वीर्य (बल) दे देता है। उपभृत् में जो आठ बार में थोड़ा आज्य लेता है उससे खाद्य को अपरिमित और बहुत बना देता है, और उसको शक्तिहीन तथा निर्बल बना देता है। जैसे राजा एक एक ही स्थान से बैठा-बैठा बहुत-सी प्रजा को वश में करके उन पर मन-चाहा राज करता है, इसी प्रकार अध्वर्यु जुहू में बहुत-सा घृत ले लेता है। जो जुहू में लेता है उसकी भी जुहू से आहुति देता है, और जो उपभृत् में लेता है उसकी भी जुहू से ही आहुति देता है ।।१४।।

इस पर शंका करते हैं कि जब उपभृत् से आहुति नहीं देना तो उपभृत् में लेना क्यों ?

भृता न जुहोतीति स यद्धोपभृता जुहुयात्पृथग्घैवेमाः प्रजाः स्युर्नैवात्ता स्यान्नाद्यः स्यादथ यत्तज्जुह्वेव समानीय जुहोति तस्मादिमा विशः क्षत्रियाय बलिꣳ हरन्त्यथ यदुपभृति गृह्णाति तस्मादु क्षत्रियस्यैव वशे सति वैश्यं पशव उपतिष्ठन्तेऽथ यत्तज्जुह्वेव समानीय जुहोति तस्माद्यदोत क्षत्रियः कामयतेऽथाह वैश्य मयि यत्ते परो निहितं तदाहरेति तं जिनाति व्यथया यत्कामयते तथा सचतऽएतेनो एतद्वीर्येण ॥१५॥ तानि वाऽएतानि । छन्दोभ्य आज्यानि गृह्यन्ते स यच्चतुर्जुह्वां गृह्णाति गायत्र्यै तद्गृह्णात्यथ यदष्टौ कृत्व उपभृति गृह्णाति त्रिष्टुब्जगतीभ्यां तद्गृह्णात्यथ यच्चतुर्ध्रुवायां गृह्णात्यनुष्टुभे तद्गृह्णाति वाग्वाऽअनुष्टुब्वाचो वाऽइदꣳ सर्वं प्रभवति तस्मादु ध्रुवाया एव सर्वो यज्ञः प्रभवतीयं वाऽअनुष्टुबस्यै वाऽइदꣳ सर्वं प्रभवति तस्मादु ध्रुवाया एव सर्वो यज्ञः प्रभवति ॥१६॥ स गृह्णाति । धाम नामासि प्रियं देवानामित्येतद्वै देवानां प्रियतमं धाम यदाज्यं तस्मादाह धाम नामासि प्रियं देवानामित्यनाधृष्टं देवयजनमसीति वज्रो ह्याज्यं तस्मादाहानाधृष्टं देवयजनमसीति ॥१७॥ स एतेन यजुषा । सकृज्जुह्वां गृह्णाति त्रिस्तूष्णीमेतेनैव यजुषा सकृदुपभृति गृह्णाति सप्त कृत्वस्तूष्णीमेतेनैव यजुषा सकृद्ध्रुवायां गृह्णाति त्रिस्तूष्णीं तदाहुस्त्रिस्त्रिरेव यजुषा गृह्णीयात्त्रिवृद्धि यज्ञ इति तदु नु सकृत्सकृदेवात्रो ह्येव त्रिर्गृहीतꣳ संपद्यते ॥१८॥ ब्राह्मणम् ॥५ [३.२]॥

प्रोक्षणीरध्वर्युरादत्ते । स इध्ममेवाग्रे प्रोक्षति कृष्णोऽस्याखरेष्ठोऽग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामीति तन्मेध्यमेवैतदग्नये करोति ॥१॥ अथ वेदिं प्रोक्षति । वेदिरसि बर्हिषे त्वा जुष्टां प्रोक्षामि तन्मेध्यामेवैतद्बर्हिषे करोति ॥२॥ अथास्मै बर्हिः प्रयच्छति । तत्पुरस्ताद्ग्रन्थ्यासादयति तत्प्रोक्षति बर्हिरसि स्रुग्भ्यस्त्वा जुष्टं प्रोक्षामि तन्मेध्यमेवैतत्स्रुग्भ्यः करोति ॥३॥ अथ याः प्रोक्षण्यः परिशिष्यन्ते । ताभिरोषधीनां मूलान्युपमिनयत्यदित्यै व्युन्दनमसीतीयं वै पृथिव्यदितिस्तदस्या एवैतदोषधीनां

यदि उपभृत् से आहुति देवे तो इसका अर्थ यह होगा कि प्रजा राजा से छूट जाय। न खानेवाला रहे, न खाद्य। यह जो साथ-साथ जुहू से आहुति देता है, यह ऐसा ही है जैसे वैश्य लोग राजा को कर देवें। उपभृत् में जो लेता है उसका अर्थ यह है कि राजा के अधीन प्रजा पशु आदि की प्राप्ति करती है, और जब उपभृत् के आज्य की भी जुहू द्वारा आहुति दी जाय तो इसका तात्पर्य यह है कि राजा जब चाहे वैश्य से कहे 'जो इकट्ठा किया है उसको मुझे दो'। इस प्रकार वह उसको वश में भी रखता है और जो चाहता है उसको इस शक्ति के द्वारा ले लेता है ॥१५॥

वे आज्य छन्दों के लिए लिये जाते हैं। जो जुहू में चार बार लिये जाते हैं वे गायत्री के लिए होते हैं। जो उपभृत् में आठ बार लिये जाते हैं वे त्रिष्टुभ् और जगती के लिए। जो ध्रुवा में चार बार लिये जाते हैं वे अनुष्टुभ् के लिए। वाणी अनुष्टुभ् है। वाणी में ही यह सब प्रजा जन्म लेती है। ध्रुवा से ही सब यज्ञ उत्पन्न होता है। अनुष्टुभ् पृथिवी है। पृथिवी से सब जगत् उत्पन्न होता है, अतः ध्रुवा से ही सब यज्ञ उत्पन्न होता है ॥१६॥

स्रुवा में आज्य इस मन्त्रांश (यजु० १।३१) को पढ़कर लेते हैं—"तू देवों का धाम है।" आज्य देवों का प्रियतम धाम है। इसीलिए कहा कि 'तू देवों का प्रियतम धाम है', 'तू देवों के यज्ञ का अजेय स्थान है'। आज्य वज्र है, इसीलिए ऐसा कहता है ॥१७॥

जुहू में एक बार मन्त्र पढ़कर भरता है और तीन बार मौन। उपभृत् में एक बार मन्त्र बोलकर, सात बार मौन। ध्रुवा में एक बार मन्त्र बोलकर, तीन बार मौन। कुछ लोग कहते हैं कि तीन बार मन्त्र बोले क्योंकि यज्ञ त्रिवृत् है। परन्तु यह उद्देश्य तो एक बार मन्त्र बोलकर भी पूरा हो जाता है (क्योंकि जुहू, उपभृत् और ध्रुवा में तीन बार मन्त्र हो जाते हैं) ॥१८॥

अध्याय ३—ब्राह्मण ३

अध्वर्यु प्रोक्षणी को लेकर पहले समिधों पर जल छिड़कता है यह मन्त्र (यजु० २।१) बोलकर—"तू खर में रहनेवाला कृष्ण मृग है। तुझे अग्नि की तृप्ति के लिए पवित्र करता हूँ।" इस प्रकार वह उसको अग्नि के लिए पवित्र करता है ॥१॥

फिर वेदी पर जल छिड़कता है (यजु० २।१) से—"तू वेदी है, बर्हि के लिए तुझे पवित्र करता हूँ।" इस प्रकार उसको बर्हि के लिए पवित्र करता है ॥२॥

अब (अग्नीध्र) बर्हि को (अध्वर्यु को) देता है। वह उसको इस प्रकार वेदी पर रख देता है कि उनकी ग्रन्थियाँ पूर्व की ओर रहें। अब उन पर जल छिड़कता है (यजु० २।१) से—"तू बर्हि है। मैं तुझे स्रुचों के लिए पवित्र करता हूँ।" इस प्रकार वह उस बर्हि को स्रुचों के लिए पवित्र करता है ॥३॥

अब जो पानी बच रहता है उसको ओषधियों की जड़ में डालता है इस मन्त्र (यजु० २।२) से—"तू अदिति के लिए रस है।" यह पृथिवी ही अदिति है। वह पृथिवी पौधों के मूलों

मूलान्युपोनत्ति ता इमा आर्द्रमूला ओषधयस्तस्माद्यद्यपि शुष्काण्यग्राणि भवन्त्या-
र्द्राण्येव मूलानि भवन्ति ॥४॥ अथ विस्रꣳस्य ग्रन्थिम् । पुरस्तात्प्रस्तरं गृह्णाति
विष्णो स्तुपोऽसीति यज्ञो वै विष्णुस्तस्येयमेव शिखा स्तुप एतामेवास्मिन्नेतद्दधाति
पुरस्ताद्गृह्णाति पुरस्ताद्ध्ययꣳ स्तुपस्तस्मात्पुरस्ताद्गृह्णाति ॥५॥ अथ संनहनं विस्रꣳ
सयति । प्रक्लृप्तꣳ हैवास्य स्त्री विजायतऽइति तस्मात्संनहनं विस्रꣳसयति तद्-
क्षिणायाꣳ श्रोणौ निदधाति नीविर्ह्येवास्यैषा दक्षिणतऽइव ह्ययं नीविस्तस्माद्द-
क्षिणायाꣳ श्रोणौ निदधाति तत्पुनरभिह्रादयत्यभिह्नन्नेव ह्ययं नीविस्तस्मात्पुनर-
भिह्रादयति ॥६॥ अथ बर्हि स्तृणाति । अयं वै स्तुपः प्रस्तरोऽथ यान्यवाञ्चि
लोमानि तान्येवास्य यदितरं बर्हिस्तान्येवास्मिन्नेतद्दधाति तस्माद्बर्हि स्तृणाति
॥७॥ योषा वै वेदिः । तामेतद्देवाश्च पर्यासते ये चेमे ब्राह्मणाः शुश्रुवाꣳसोऽनू-
चानास्तेष्वेवैनामेतत्पर्यासीनेष्वनग्नां करोत्यनग्नतायाऽएव तस्माद्बर्हि स्तृणाति
॥८॥ यावती वै वेदिः । तावती पृथिव्योषधयो बर्हिस्तदस्यामेवैतत्पृथिव्यामोष-
धीर्दधाति ता इमा अस्यां पृथिव्यामोषधयः प्रतिष्ठितास्तस्माद्बर्हि स्तृणाति ॥९॥
तद्वै बहुलꣳ स्तृणीयादित्याहुः । यत्र वाऽअस्यै बहुलतमा ओषधयस्तदस्या उप-
जीवनीयतमं तस्माद्बहुलꣳ स्तृणीयादिति तद्वै तदाहृतर्येवाधि त्रिवृत्स्तृणाति त्रि-
वृद्धि यज्ञोऽथोऽअपि प्रवर्हꣳ स्तृणीयात्स्तृणन्ति बर्हिरानुषगिति वृषिणाभ्यनूक्त-
मधरमूलꣳ स्तृणात्यधरमूला-इव ह्रीमा अस्यां पृथिव्यामोषधयः प्रतिष्ठितास्तस्मा-
दधरमूलꣳ स्तृणाति ॥१०॥ स स्तृणाति । ऊर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थां दे-
वेभ्यऽइति साध्वीं देवेभ्य इत्येवैतदाह यदाहोर्णम्रदसं त्वेति स्वासस्थां देवेभ्य इति
स्वासदां देवेभ्य इत्येवैतदाह ॥११॥ अथाग्निं कल्पयति । शिरो वै यज्ञस्याहव-
नीयः पूर्वोऽर्धो वै शिरः पूर्वार्धमेवैतद्यज्ञस्य कल्पयत्युपर्युपरि प्रस्तरं धारयन्कल्प-
यत्ययं वै स्तुपः प्रस्तर एतमेवास्मिन्नेतत्प्रतिदधाति तस्मादुपर्युपरि प्रस्तरं धारय-

को तर करता हूं। पौधों की जड़ें तर होती हैं। आगे के भाग शुष्क भी हों, तो भी जड़ें तर ही रहती हैं ॥४॥

अब ग्रन्थियों को खोलकर बर्हि के सिरों से प्रस्तरों को लेता है यह मन्त्र पढ़कर (यजु० २।२)— "तू विष्णु की चोटी है।" यज्ञ विष्णु है। यह उसका स्तुप या शिखा है। इस यज्ञ में वह इसको शिखा बनाता है। आगे के सिरे से लेता है क्योंकि शिखा आगे होती है। इसीलिए आगे से लेता है ॥५॥

वह बर्हि के पूले को खोलता है, यह सोचकर कि यजमान की पत्नी बिना कष्ट के बच्चा जने। उसको वेदी की दाहिनी श्रोणि में रखता है, क्योंकि यह यजमान की कमर का प्रतिनिधि है। इसलिए दाहिनी श्रोणि में रखता है। वह उसको बर्हि से छा देता है, क्योंकि कमर भी कपड़ों से ढकी रहती है। उसके छा देने का दूसरा हेतु यह है ॥६॥

अब वह बर्हि को वेदी पर बिछाता है। प्रस्तर आगे का सिरा है। यज्ञ के लिए दूसरी घास ऐसी ही है जैसे चोटी से इतर स्थान के लोम। यह उन लोमों का सम्पादन करता है। इसलिए बर्हि को बिछाता है॥७॥

वेदी स्त्री है। उसके चारों ओर देवता और वेद के विद्वान् ब्राह्मण बैठते हैं। स्त्री को नग्न नहीं होना चाहिए, इसलिए भी बर्हि को बिछाता है ॥८॥

जितनी वेदी है उतनी ही पृथिवी है। बर्हि ओषधि का रूप हैं। मानो वह पृथिवी में ओषधियाँ रखता है। इस पृथिवी में ये ओषधियाँ स्थापित हो जाती हैं। इसलिए वह बर्हि को बिछाता है ॥९॥

कुछ लोग कहते हैं कि बहुत-से कुश बिछाना चाहिए। क्योंकि पृथिवी पर जहाँ पौधे बहुत होते हैं वहाँ जीविका भी बहुत होती है, इसलिए बहुत बिछाना चाहिए। तीन बार बिछाना चाहिए क्योंकि यज्ञ त्रिवृत् है। ऐसा बिछावें कि सिरे ऊपर को रहें। ऋषि ने कहा था (यजु० ७।३२) 'जड़ को नीचे की ओर रखना चाहिए।' पृथिवी में पौधों की जड़ें भी नीचे को होती हैं। इसीलिए जड़ों को नीचे की ओर करके ही बिछाना चाहिए ॥१०॥

वह इस मन्त्र को पढ़कर बिछाता है (यजु० २।२)—"ऊन के समान नरम तुझको देवों के लिए प्रिय बिछाता हूँ।" ऊन के समान नरम इसलिए कहा कि देव सुख से बैठ सकें ॥११॥

अब अग्नि को ठीक करता है। आहवनीय अग्नि यज्ञ का सिर है – पूर्वार्ध सिर। इसको यज्ञ का पूर्वार्ध करता है। जब आग को ठीक करता है तो ऊपर प्रस्तर को उठाये रखता है। प्रस्तर स्तुप या चोटी है। मानो वह उसको धारण कराता है। इसीलिए प्रस्तर को इसके ऊपर-ऊपर

न्कल्पयति ॥१२॥ अथ परिधीन्परिदधाति । तद्यत्परिधीन्परिदधाति यत्र वै देवा
अग्रेऽग्निꣳ होत्राय प्रावृणत तद्धोवाच न वाऽअहमिदमुत्सहे यद्वो होता स्यां
यद्वो हव्यं वहेयं त्रीन्पूर्वान्प्रावृढ्वं ते प्राधन्विषुस्तानु मेऽवकल्पयताथ वाऽअह-
मेतदुत्साह्ये यद्वो होता स्यां यद्वो हव्यं वहेयमिति तथेति तानस्माऽएतानवा-
कल्पयंस्तऽएते परिधयः ॥१३॥ स होवाच । वज्रो वै तान्वषट्कारः प्रावृणग्व-
ज्राद्वै वषट्काराद्बिभेमि यन्मा वज्रो वषट्कारो न प्रवृञ्ज्यादेतैरेव मा परिधत्त तथा
मा वज्रो वषट्कारो न प्रवर्क्ष्यतीति तथेति तमेतैः पर्यदधुस्तं न वज्रो वषट्कारः प्रा-
वृणक्तद्वर्मैवैतदग्नये नह्यति यदेतैः परिदधाति ॥१४॥ तऽउ हैतऽऊचुः । इदमु चे-
दस्मान्यज्ञे युङ्क्थास्त्वेवास्माकमपि यज्ञे भागऽइति ॥१५॥ तथेति देवा अब्रुवन् ।
यद्बहिष्परिधि स्कन्त्स्यति तद्युष्मासु हुतमथ यद्व उपर्युपरि होष्यन्ति तद्वोऽविष्य-
तीति स यदग्नौ जुह्वति तदेनानवत्यथ यदेनानुपर्युपरि जुह्वति तदेनानव-
त्यथ यद्बहिष्परिधि स्कन्दति तदेतेषु हुतं तस्मादु ह नाग-इव स्कन्नꣳ स्यादि-
मां वै ते प्राविशन्यद्वाऽइदं किंच स्कन्दत्यस्यामेव तत्सर्वं प्रतितिष्ठति ॥१६॥ स
स्कन्नमभिमृशति । भुवपतये स्वाहा भुवनपतये स्वाहा भूतानां पतये स्वाहेत्ये-
तानि वै तेषामग्नीनां नामानि यद्भुवपतिर्भुवनपतिर्भूतानां पतिस्तद्यथा वषट्कृतꣳ
हुतमेवमस्यैतेष्वग्निषु भवति ॥१७॥ तद्धैके । इध्मस्यैवैतान्परिधीन्परिदधाति तदु
तथा न कुर्यादनवक्लृप्ता ह तस्यैते भवन्ति यानिध्मस्य परिदधात्यभ्याधानाय ह्ये-
वेध्मः क्रियते तस्यो हैवैतेऽवक्लृप्ता भवन्ति यस्यैतानन्यानाहरन्ति परिधयऽइति
तस्मादन्यानेवाहरेयुः ॥१८॥ ते वै पालाशाः स्युः । ब्रह्म वै पलाशो ब्रह्माग्नि-
रग्नयो हि तस्मात्पालाशाः स्युः ॥१९॥ यदि पालाशान्न विन्देत् । अथोऽअपि
वैकङ्कता स्युर्यदि वैकङ्कतान्न विन्देदथोऽअपि कार्ष्मर्यमयाः स्युर्यदि कार्ष्मर्यमयान्न
विन्देदथोऽअपि बैल्वाः स्युरथो खादिरा अथोऽऔदुम्बरा एते हि वृक्षा यज्ञिया-

उठाये रखकर अग्नि को ठीक करता है ॥१२।

अब आग के चारों ओर तीन परिधियाँ (लकड़ियाँ) रखता है। परिधियाँ इसीलिए रक्खी जाती हैं। जब देवों ने अग्नि को होता के रूप में वरण किया तो अग्नि बोला—"मुझे उत्साह नहीं कि होता बनूं और हव्य को ले जाऊँ। तुमने पहले तीन होता बनाये थे, वे लुप्त हो गये। उनको मुझे दिला दो, तब मैं तुम्हारा होता बनूंगा और हव्य को ले जाऊँगा।" तब उन्होंने इन तीन परिधियों की कल्पना की ॥१३॥

उसने अब कहा—"वषट्कार रूपी वज्र ने उन तीनों (होताओं) को मार डाला था। मुझे डर है कि वषट्कार मुझे भी मार डाले। इसीलिए इन तीन परिधियों की स्थापना कर दो। तब वषट्कार मुझे मार नहीं सकेगा।" उन्होंने इसीलिए इन तीन परिधियों की स्थापना कर दी और वषट्कार उसको मार न सका। ये तीन परिधियाँ मानो उस अग्नि के लिए वर्म हैं ॥१४॥

तब (दूसरी अग्नियों ने) कहा—"यदि तुम हमारे साथ इस प्रकार यज्ञ में शामिल हो तो हमको भी यज्ञ में भाग दो" ॥१५॥

देवों ने उत्तर दिया—"अच्छा, जो परिधियों के बाहर गिर जाय वह तुम्हारा, और जो आहुति तुममें ही दी जाय वह तुम्हारी, जो आहुति अग्नि में दी जाय वह तुम्हारी।" इस प्रकार जो आहुति अग्नि में दी जाती है वह इन अग्नियों की तृप्ति के लिए होती है। जो आहुतियाँ उन्हीं परिधियों पर दी जाती हैं वे भी उनकी तृप्ति के लिए होती हैं, और जो परिधियों के बाहर गिर जाता है वह भी उन्हीं की आहुति है। इस प्रकार जो आज्य गिर पड़ता है उसका पाप नहीं लगता, क्योंकि जब अग्नियाँ जाने लगीं तो पृथिवी में प्रविष्ट हो गईं। जो गिरा वह पृथिवी में ही तो रहेगा ॥१६॥

जो गिर जाता है उसको वह इस मन्त्रांश (यजु० २।२) को पढ़कर स्पर्श करता है—'भुवपतये स्वाहा, भुवनपतये स्वाहा, भूतानां पतये स्वाहा।' भुवपति, भुवनपति और भूतपति अग्नियों के नाम हैं। वषट्कार कहकर जो आहुति दी जाती है वह उसी देवता की होती है जिसका नाम लिया जाता है। यहाँ ये आहुतियाँ इन्हीं अग्नियों की हैं जिनका नाम लिया जाता है ॥१७॥

कुछ लोग समिधाओं में से ही लेकर परिधियाँ बना देते हैं। उनको ऐसा नहीं करना चाहिए। समिधाएँ अग्नि पर रखने के लिए बनाई जाती हैं, अतः वे परिधियों के योग्य नहीं होतीं। अतः अलग से ही परिधियाँ बनानी चाहिएँ ॥१८॥

ये पलाश वृक्ष की होनी चाहिएँ। पलाश ब्राह्मण है। अग्नि भी ब्राह्मण है। इसलिए अग्नियाँ पलाश की होनी चाहिएँ ॥१९॥

यदि पलाश न मिले तो विकंकत की हों। विकंकत की न हों तो कार्षमर्य की हों। कार्षमर्य की न हों तो बेल की हों, या खदिर की, या उदुम्बर की। यही वृक्ष यज्ञ के योग्य हैं। इन्हीं

स्तस्मादेतेषां वृक्षाणां भवन्ति ॥२०॥ ब्राह्मणम् ॥६ [३. ३.]॥ ॥ द्वितीयः प्रपाठकः ॥ ॥ कण्डिकासंख्या १२२ ॥ ॥

ते वाऽआर्द्राः स्युः । एतद्ध्येषां जीवमेतेन सतेजस एतेन वीर्यवन्तस्तस्मादार्द्राः स्युः ॥१॥ स मध्यममेवाग्रे । परिधिं परिदधाति गन्धर्वस्त्वा विश्वावसुः परिदधातु विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडित इति ॥२॥ अथ दक्षिणं परिदधाति । इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणो विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडित इति ॥३॥ अथोत्तरं परिदधाति । मित्रावरुणौ त्वोत्तरतः परिधत्तां ध्रुवेण धर्मणा विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडित इत्यग्नयो हि तस्मादाहाग्निरिड ईडित इति ॥४॥ अथ समिधमभ्यादधाति । स मध्यममेवाग्रे परिधिमुपस्पृशति तेनैतानग्रे समिन्धेऽथाग्नावभ्यादधाति तेनोऽअग्निं प्रत्यक्षꣳ समिन्धे ॥५॥ सोऽभ्यादधाति । वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तꣳ समिधीमहि । अग्ने बृहन्तमध्वरऽइत्येतया गायत्र्या गायत्रीमेवैतत्समिन्धे सा गायत्री समिद्धान्यानि छन्दाꣳसि समिन्धे छन्दाꣳसि समिद्धानि देवेभ्यो यज्ञं वहन्ति ॥६॥ अथ यां द्वितीयाꣳ समिधमभ्यादधाति । वसन्तमेव तया समिन्धे स वसन्तः समिद्धोऽन्यानृतून्त्समिन्धऽऋतवः समिद्धाः प्रजाश्च प्रजनयन्त्योषधीश्च पचन्ति सोऽभ्यादधाति समिदसीति समिद्धि वसन्तः ॥७॥ अथाभ्याधाय जपति । सूर्यस्त्वा पुरस्तात्पातु कस्याश्चिदभिशस्त्याऽइति गुप्ता वाऽअभितः परिधयो भवन्त्यथैतत्सूर्यमेव पुरस्ताद्गोप्तारं करोति नेत्पुरस्तान्नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यन्ववचरानिति सूर्यो हि नाष्ट्राणाꣳ रक्षसामपहन्ता ॥८॥ अथ यामिमां तृतीयाꣳ समिधमभ्यादधाति । अनुयाजेषु ब्राह्मणमेव तया समिन्धे स ब्राह्मणः समिद्धो देवेभ्यो यज्ञं वहति ॥९॥ अथ स्तीर्णां वेदिमुपावर्तते । स द्वे तृणेऽआदाय तिरश्ची निदधाति सवितुर्बाहू स्थ इत्ययं वै स्तुपः प्रस्तरोऽथास्येते भुजाविव तिरश्ची निदधाति तस्मादिमे तिरश्च्यौ भुजौ क्षत्रं वै प्रस्तरो विशऽइतरं बर्हिः क्ष-

से परिधियाँ लेनी चाहिएँ ।।२०।।

अध्याय ३—ब्राह्मण ४

वे हरी होनी चाहिएँ । यही हरापन उनका जीवन है । इसी से उनमें शक्ति रहती है । इसीलिए हरी होनी चाहिएँ ।।१।।

बीच की परिधि के पहले (अग्नि के पश्चिम की ओर) यह मंत्र (यजु० २।३) पढ़कर रखता है—"गन्धर्व विश्वावसु तुझको विश्व के कल्याण के लिए रक्खे । तू यजमान की परिधि (रक्षक) है । तू पूज्य अग्नि है" ।।२।।

दक्षिण की परिधि को यह पढ़कर रखता है—"तू इन्द्र की दाहिनी भुजा है, विश्व की शान्ति के लिए । तू यजमान की परिधि (रक्षक) है । तू पूज्य अग्नि है" ।।३।।

अब उत्तर की ओर परिधि को यह पढ़कर रखता है—"मित्र और वरुण देवता तुझको उत्तर की ओर रक्खें, ध्रुव नियम से विश्व के कल्याण के लिए । तू यजमान की परिधि है । तू अग्नि है । ये परिधियाँ अग्नि ही हैं ।" इसीलिये कहता है कि 'तुम पूज्य अग्नि हो' ।।४।।

अब एक समिधा रखता है । पहले वह समिधा से बीच की परिधि को छूता है । इस प्रकार वह तीन परिधियों को जलाता है । फिर वह उस समिधा को आग पर रख देता है । इससे वह प्रत्यक्ष अग्नि को जलाता है ।।५।।

वह इसको गायत्री छन्द से (यजु० २।४) रखता है—"हे कवि अग्नि, तुझ देवों को बुलाने वाले, प्रकाश-स्वरूप को हम जलाते हैं, यज्ञ में बलवान् तुझको ।" इस प्रकार वह गायत्री को जलाता है । गायत्री जलकर दूसरे छन्दों को जला देती है और दूसरे छन्द जलकर यज्ञ को देवों तक ले जाते हैं ।।६।।

अब वह दूसरी समिधा रखता है । उससे वह वसन्त को प्रज्वलित करता है । वह प्रज्वलित वसन्त दूसरी ऋतुओं को प्रज्वलित करता है । प्रज्वलित ऋतुएँ सन्तान को उत्पन्न करती हैं, ओषधियों को पकाती हैं । वह इस मन्त्र (यजु० २।५) को पढ़कर रखता है—"तू समित् ।" वस्तुत: वसन्त समित् है ।।७।।

अब उसको रखकर जपता है—"सूर्य तेरी पूर्व की ओर से रक्षा करे और अन्य बुराई से भी ।" परिधियाँ चारों ओर से रक्षा के लिए होती हैं । इस प्रकार वह पूर्व में सूर्य को रक्षक बना देता है कि कहीं पूर्व से दुष्ट राक्षस विघ्न न करें । सूर्य दुष्ट राक्षसों को मारनेवाला है ।।८।।

यह जो तीसरी समिधा को अनुयाज के पीछे रखता है, उससे वह ब्राह्मण को प्रज्वलित करता है । प्रज्वलित होकर ब्राह्मण देवों तक हवि ले जाता है ।।९।।

अब वह कुशों से ढकी हुई वेदी तक लौटता है । दो तृणों को लेकर टेढ़ा रख देता है, इस मन्त्र (यजु० २।५) से—"तुम सविता की भुजाएँ हो ।" प्रस्तर स्तुप या चोटी है । वह इन दोनों को भौहों के समान तिरछा रख देता है । इसीलिये भौहें टेढ़ी होती हैं । प्रस्तर क्षत्रिय है

त्रस्य चैव विशश्च विधृत्यै तस्मात्तिरश्ची निदधाति तस्माद्वेव विधृती नाम ॥१०॥
तत्प्रस्तरꣳ स्तृणाति । ऊर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थं देवेभ्य इति साधुं देवेभ्य
इत्येवैतदाह यदाहोर्णम्रदसं त्वेति स्वासस्थं देवेभ्य इति स्वासदं देवेभ्य इत्येवैत-
दाह ॥११॥ तमभिनिदधाति । आ त्वा वसवो रुद्रा आदित्याः सदन्त्विति त्वेते वै
त्रया देवा यद्वसवो रुद्रा आदित्या एते त्वासीदन्त्वित्येवैतदाहाभिनिहित एव स-
व्येन पाणिना भवति ॥१२॥ अथ दक्षिणेन जुहूं प्रतिगृह्णाति । नेदिह पुरा ना-
ष्ट्रा रक्षाꣳस्याविशानिति ब्राह्मणो हि रक्षसामपहन्ता तस्मादभिनिहित एव स-
व्येन पाणिना भवति ॥१३॥ अथ जुहूं प्रतिगृह्णाति । घृताच्यसि जुहूर्नाम्नेति घृ-
ताची हि जुहूर्हि नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सद आसीदिति घृताच्यस्युपभृ-
न्नाम्नेत्युपभृतं घृताची ह्युपभृद्धि नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सद आसीदिति
घृताच्यसि ध्रुवा नाम्नेति ध्रुवां घृताची हि ध्रुवा हि नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्ना
प्रियꣳ सद आसीदिति प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सद आसीदिति यदन्यद्धविः ॥१४॥ स
वाऽउपरि जुहूꣳ सादयति । अथ इतराः स्रुचः क्षत्रं वै जुहूर्विश इतराः स्रुचः क्ष-
त्रमेवैतद्विश उत्तरं करोति तस्मादुपर्यासीनं क्षत्रियमधस्तादिमाः प्रजा उपासते त-
स्मादुपरि जुहूꣳ सादयत्यध इतराः स्रुचः ॥१५॥ सोऽभिमृशति । ध्रुवा असदन्निति
ध्रुवा ह्यसदन्नृतस्य योनाविति यज्ञो वाऽऋतस्य योनिर्यज्ञे ह्यसदंस्ता विष्णो पाहि
पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिमिति तद्यजमानमाह पाहि मां यज्ञन्यमिति तदप्यात्मानं
यज्ञान्नान्तरेति यज्ञो वै विष्णुस्तद्यज्ञायैवैतत्सर्वं परिददाति गुप्त्यै तस्मादाह ता वि-
ष्णो पाहीति ॥१६॥ ब्राह्मणम् ॥१ [४.]॥

इन्धे ह वा एतदध्वर्युः । इध्मेनाग्निं तस्मादिध्मो नाम समिन्धे सामिधेनीभि-
र्होता तस्मात्सामिधेन्यो नाम ॥१॥ स आह । अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहीत्यग्नये
ह्येतत्समिध्यमानायान्वाह ॥२॥ तदु हैकऽआहुः । अग्नये समिध्यमानाय होतर-

और दूसरे बर्हि वैश्य। क्षत्रिय और वैश्य को अलग-अलग करने के लिए इनको रखता है। इनको 'विधृति' कहते हैं। 'विधृति' का अर्थ है अलग-अलग करनेवाला ।।१०।।

अब वह प्रस्तर को (यजु० २।५) पढ़कर बिछाता है—"तू ऊन के समान नरम और देवों के योग्य आसन है।" 'ऊन के समान नरम' कहने का तात्पर्य है कि बहुत अच्छा है। 'देवों के योग्य आसन' कहने का तात्पर्य है कि वह देवों को सुख पहुँचानेवाला है ।।११।।

वह (बायें हाथ से) उसको यह पढ़कर दबाता है (यजु० २।५)—"वसु, रुद्र और आदित्य तुझ पर बैठें।" वसु, रुद्र और आदित्य तीन देवता हैं। यही बैठते हैं। जब उसको बायें हाथ से दबाये होता है उस समय—।।१२।।

दाहिने हाथ से जुहू को पकड़ता है कि कहीं दुष्ट राक्षस न घुस आवें। ब्राह्मण राक्षसों को रोकनेवाला है। इसीलिए जब वह प्रस्तर को बायें हाथ से दबाये होता है उस समय–।।१३।।

वह दाहिने हाथ से जुहू को यह पढ़कर पकड़ता है (यजु० २।६)—"तू जुहू नाम वाली घृताची (घी को प्यार करनेवाली) है। यह घृताची भी है और जुहू भी—"प्रिय धाम वाली, इस पर सुख से बैठ!" अब उपभृत् को लेता है यह पढ़कर—"तू उपभृत् घृताची है, प्रिय धाम वाली, सुख से बैठ।" वह उपभृत् भी है और घृताची भी। अब ध्रुवा को लेता है यह पढ़कर—"ध्रुवा है घृताची, प्रिय धाम वाली, सुख से बैठ।" वह ध्रुवा भी है, घृताची भी। जो कुछ शेष रहे उसको यह कहकर आहुति देता है—"प्रिय धाम से, प्रिय स्थान में बैठ" ।।१४।।

वह जुहू को प्रस्तर पर रखता है और अन्य स्रुचों को नीचे। जुहू क्षत्रिय है और अन्य स्रुचे वैश्य। इस प्रकार क्षत्रिय को वैश्य से महान् करता है। इसीलिए वैश्य नीचे स्थान से काम करते हैं और क्षत्रिय ऊपर के स्थान से। इसीलिए जुहू को ऊपर रखता है और अन्य स्रुचों को नीचे ।।१५।।

वह अब हवियों का स्पर्श करता है इस मंत्रांश (यजु० २।६) को पढ़कर—"ठीक बैठ गये।" वे ठीक बैठ गये—"ऋत के घर में।" यज्ञ ऋत की योनि है। यज्ञ में ही वे बैठ गये—"हे विष्णु! इनकी रक्षा करो, यज्ञ की रक्षा करो, यज्ञपति की रक्षा करो!" यज्ञपति का अर्थ है 'यजमान'—"यज्ञ के मुझ नेता की रक्षा करो।" इस प्रकार यज्ञ में अपने को भी सम्मिलित करता है। यज्ञ विष्णु है। इस प्रकार यज्ञ से ही यज्ञ की रक्षा चाहता है। इसलिये कहता है—"हे विष्णु, रक्षा कर" ।।१६।।

अध्याय ३–ब्राह्मण ५

अध्वर्यु अग्नि को इध्म (लकड़ी से) इन्धे अर्थात् जलाता है। इसलिये इसको इध्म (इंधन) कहते हैं। और होता सामिधेनियों को बोलकर अग्नि को अधिक प्रज्वलित करता है, अतः उन मंत्रों को सामिधेनी कहते हैं (लकड़ी इध्म है और मंत्र सामिधेनी) ।।१।।

अध्वर्यु होता से कहता है—"जलनेवाली अग्नि के लिए मंत्र बोलो।" होता जलनेवाली अग्नि के लिए ही मंत्र बोलता है ।।२।।

कुछ लोग कहते हैं 'हे होता, जलनेवाली अग्नि के लिए मंत्र बोलो', परन्तु ऐसा नहीं

नुब्रूहीति तदु तथा न ब्रूयादहोता वाऽएष पुरा भवति यदैवेनं प्रवृणीतेऽथ होता तस्मादु ब्रूयादग्नये समिध्यमानायानुब्रूहीत्येव ॥३॥ आग्नेयीरन्वाह । स्वयैवैनमेतद्देवतया समिन्धे गायत्रीरन्वाह गायत्रं वाऽअग्नेश्छन्दः स्वेनैवैनमेतच्छन्दसा समिन्धे वीर्यं गायत्री ब्रह्म गायत्री वीर्येणैवैनमेतत्समिन्धे ॥४॥ एकादशान्वाह । एकादशाक्षरा वै त्रिष्टुब्ब्रह्म गायत्री क्षत्रं त्रिष्टुबेताभ्यामेवैनमेतदुभाभ्यां वीर्याभ्याꣳ समिन्धे तस्मादेकादशान्वाह ॥५॥ स वै त्रिः प्रथमामन्वाह । त्रिरुत्तमां त्रिवृत्प्रायणा हि यज्ञास्त्रिवृदुदयनास्तस्मात्त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम् ॥६॥ ताः पञ्चदश सामिधेन्यः संपद्यन्ते । पञ्चदशो वै वज्रो वीर्यं वज्रो वीर्यमेवैतत्सामिधेनीरभिसंपादयति तस्मादेतास्वनूच्यमानासु यं द्विष्यात्तमङ्गुष्ठाभ्यामवबाधेतेदमहममुमवबाधऽइति तदेनमेतेन वज्रेणावबाधते ॥७॥ पञ्चदश वा अर्धमासस्य रात्रयः । अर्धमासशो वै संवत्सरो भवन्निति तद्रात्रीराप्नोति ॥८॥ पञ्चदशानामु वै गायत्रीणाम् । त्रीणि च शतानि षष्टिश्चाक्षराणि त्रीणि च वै शतानि षष्टिश्च संवत्सरस्याहानि तदहान्याप्नोति तद्वेव संवत्सरमाप्नोति ॥९॥ सप्तदश सामिधेनीः । इष्ट्याऽअनुब्रूयादुपाꣳशु तस्यै देवतायै यजति यस्याऽइष्टिं निर्वपति द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य पञ्चर्तव एष एव प्रजापतिः सप्तदशः सर्वं वै प्रजापतिस्तत्सर्वेणैव तं काममनपराधꣳ राध्नोति यस्मै कामायेष्टिं निर्वपत्युपाꣳशु देवतां यजत्यनिरुक्तं वाऽउपाꣳशु सर्वं वाऽअनिरुक्तं तत्सर्वेणैव तं काममनपराधꣳ राध्नोति यस्मै कामायेष्टिं निर्वपत्यष इष्टेरुपचारः ॥१०॥ एकविꣳशतिꣳ सामिधेनीः अपि दर्शपूर्णमासयोरनुब्रूयादित्याहुर्द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य पञ्चर्तवस्त्रयो लोकास्तद्विꣳशतिरेषऽएवैकविꣳशो य एष तपति सैषा गतिरेषा प्रतिष्ठा तदेतां गतिमेतां प्रतिष्ठां गच्छति तस्मादेकविꣳशतिमनुब्रूयात् ॥११॥ ता हैता गतश्रेरेवानुब्रूयात् । य इच्छेन्न श्रेयांस्स्यां न पापीयानिति यादृशाय हैव सतेऽन्वाहुस्तादृङ्ङ

कहना चाहिए, क्योंकि अभी वह 'होता' तो बना नहीं। जब यजमान उसका वरण कर लेगा तभी तो वह होता बनेगा। इसलिये (बिना होता को सम्बोधन किये) केवल इतना ही कहना चाहिए 'जलती हुई अग्नि के लिए मंत्र बोलो' ॥३॥

अग्नि की ऋचाएँ बोली जाती हैं, अर्थात् अग्नि को उसीके देवता के द्वारा प्रज्वलित करता है। गायत्री छन्द के मंत्र बोलता है। गायत्री अग्नि का छन्द है, अतः अपने ही छन्द से अग्नि प्रज्वलित होती है। गायत्री वीर्य है। गायत्री ब्रह्म है। अतः वीर्य से ही इसको प्रज्वलित करता है ॥४॥

ग्यारह मंत्र बोलता है। त्रिष्टुभ् में ग्यारह ही अक्षर होते हैं। गायत्री ब्राह्मण है। त्रिष्टुभ् क्षत्रिय है। इन्हीं दो शक्तियों द्वारा आग को प्रज्वलित करता है। इसीलिये ग्यारह मंत्र बोलता है ॥५॥

पहले मंत्र को तीन बार बोलता है और अन्तिम मंत्र को तीन बार। यज्ञ आदि में त्रिवृत् है और अन्त में भी त्रिवृत्। इसलिये वह आदिम और अन्तिम मंत्रों को तीन-तीन बार बोलता है ॥६॥

सामिधेनियाँ १५[1] होती हैं। १५ का अंक वज्र है। वज्र वीर्य है। अतः वीर्यरूपी वज्र से वह यज्ञ को समन्वित करता है। यदि वह किसी से द्वेष करता हो तो जब सामिधेनियों का उच्चारण हो रहा हो, उस समय वह अपने पैर से शत्रु को कुचल सकता है। वह उसको उस वज्र से मार सकता है ॥७॥

अर्ध-मास या आधे महीने में पन्द्रह रातें होती हैं। वर्ष पाख-पाख करके ही समाप्त हो जाता है। इसलिये वह रातों की प्राप्ति करता है ॥८॥

पन्द्रह गायत्रियों में ३६० अक्षर हुए। एक वर्ष में ३६० दिन होते हैं। इस प्रकार वह दिनों की प्राप्ति करता है और वर्ष की भी ॥९॥

यदि (किसी विशेष उद्देश्य से) इष्टि करना हो तो सत्रह सामधेनियाँ पढ़नी चाहिएँ। जिस देवता की इष्टि देनी होती है उसके लिए चुपचाप धीरे से इष्टि दी जाती है। वर्ष में बारह मास होते हैं और पाँच ऋतुएँ। इस प्रकार प्रजापति में सत्रह हो गये। प्रजापति है सम्पूर्ण, इसलिये जिस देवता के लिए इष्टि की जाती है वह सब सम्पूर्णता के लिए, अर्थात् यज्ञ करनेवाले को सम्पूर्णता प्राप्त हो जाती है। इष्टि के लिए यही उपचार है ॥१०॥

कुछ लोगों का कहना है कि दर्श और पौर्णमास यज्ञों में इक्कीस सामिधेनियाँ पढ़नी चाहिएँ। बारह मास हुए, पाँच ऋतुएँ, तीन लोक और इक्कीसवाँ वह जो नित्य तपता है अर्थात् सूर्य। वही गति है, वही प्रतिष्ठा है। गति और प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है। इसलिये इक्कीस सामिधेनियाँ पढ़नी चाहिएँ ॥११॥

इनको गतश्रि ही पढ़े, जो चाहे कि मुझे न इससे अधिक होना है न कम। क्योंकि जिस देवता के लिए पढ़ते हैं, पढ़नेवाला उसी देवता के समान होगा या कम। जो इस रहस्य को

---

१. ग्यारह मंत्रों में से पहले और पिछले को तीन-तीन बार पढ़ने से १५ हो जाते हैं।

देव भवति पापीयान्वा यस्यैवं विदुष एता अन्वाहुः सोऽएषा मीमाꣳसैव न त्वेवैता अनूच्यन्ते ॥१२॥ त्रिरेव प्रथमां त्रिरुत्तमामनवानन्ननुब्रूयात् । त्रयो वाऽइमे लोकास्तदिमानेवैतल्लोकांत्संतनोतीमांल्लोकांत्स्पृणुते त्रय इमे पुरुषे प्राणा एतमेवास्मिन्नेतत्संततमव्यवच्छिन्नं दधात्येतदनुवचनꣳ ॥१३॥ स यावदस्य वचः स्यात् । एवमेवानुविवक्षेत्तस्यैतस्य परिचक्षीत साम्यवान्यादनवानन्ननुविवक्षंस्तत्कर्म विवृक्षीत सा परिचक्षा ॥१४॥ स यद्येतन्नोदाशꣳसेत । अप्येकैकामेवानवानन्ननुब्रूयात्तदेकैकयैवेमांल्लोकांत्संतनोत्येकैकयेमांल्लोकांत्स्पृणुतेऽथ यत्प्राणं दधाति गायत्री वै प्राणः स यत्कृत्स्नां गायत्रीमन्वाह तत्कृत्स्नं प्राणं दधाति तस्मादेकैकामेवानवानन्ननुब्रूयात् ॥१५॥ ता वै संतता अव्यवच्छिन्ना अन्वाह । संवत्सरस्यैवैतदहोरात्राणि संतनोति तानीमानि संवत्सरस्याहोरात्राणि संततान्यव्यवच्छिन्नानि परिप्लवन्ते द्विषतेऽउ चैवैतद्भ्रातृव्याय नोपस्थानं करोत्युपस्थानꣳ ह कुर्याद्यदसंतता अनुब्रूयात्तस्माद्धि संतता अव्यवच्छिन्ना अन्वाह ॥१६॥ ब्राह्मणम् ॥२[५.]॥ अध्यायः ॥३॥ ॥

हिंकृत्यान्वाह । नासामा यज्ञोऽस्तीति वाऽआहुर्न वाऽअहिंकृत्य साम गीयते स यद्धिंकरोति तद्धिंकारस्य रूपं क्रियते प्रणवेनैव साम्नो रूपमुपगच्छत्यो३म् ओ३मित्येतेनो हास्यैष सर्व एव ससामा यज्ञो भवति ॥१॥ यद्वेव हिंकरोति । प्राणो वै हिंकारः प्राणो हि वै हिंकारस्तस्मादपिगृह्य नासिके न हिंकर्तुꣳ शक्नोति वाचा वाऽऋचमन्वाह वाक्च वै प्राणश्च मिथुनं तदेतत्पुरस्तान्मिथुनं प्रजननं क्रियते सामिधेनीनां तस्माद्धि हिंकृत्यान्वाह ॥२॥ स वाऽउपाꣳशु हिंकरोति । अथ यदुच्चैर्हिंकुर्यादन्यतरदेव कुर्याद्वाचमेव तस्मादुपाꣳशु हिंकरोति ॥३॥ स वाऽएति च प्रेति चान्वाह । गायत्रीमेवैतदर्वाचीं च पराचीं च युनक्ति पराच्यह देवेभ्यो यज्ञं वहत्यर्वाची मनुष्यानवति तस्माद्वाऽएति च प्रेति चान्वाह

समझता हैं उसी के लिए वे (इक्कीस मंत्र) बोलते हैं। परन्तु यह तो मीमांसा मात्र है। इक्कीस मंत्र बोले नहीं जाते ॥१२॥

पहले मंत्र को तीन बार और पिछले को तीन बार एक साँस में पढ़ना चाहिए। तीन ही ये लोक हैं। अतः वह इन तीनों लोकों को तानता है। पुरुष में तीन प्राण होते हैं। ऐसा करने से उसका जीवन बढ़ जाता है। (मृत्यु) उसको बीच से काटता नहीं ॥१३॥

होता को चाहिए कि बिना बीच में तोड़े हुए जितनी-भर उसकी शक्ति हो उससे मंत्रों को पढ़ता रहे। बीच में साँस तोड़ देने का अर्थ यह है कि यज्ञ का अनादर किया गया। बिना साँस तोड़े लगातार पढ़ने से यह पाप नहीं लगता ॥१४॥

यदि वह ऐसा करना न चाहे तो एक-एक मंत्र को ही बिना साँस तोड़े बोले। इस प्रकार वह एक-एक करके लोकों की प्राप्ति करेगा। वह साँस इसलिए लेता है कि गायत्री प्राण है। पूरी गायत्री पढ़कर मानो वह यजमान के लिए पूरे प्राण का सम्पादन करता है। इसलिए उसको एक-एक मंत्र बिना साँस तोड़े पढ़ने चाहिएँ ॥१५॥

उनको बराबर बिना तोड़े हुए पढ़ना चाहिए, इस प्रकार वह सम्वत्सर के दिन और रातों को लगातार कर देता है। वर्ष के दिन और रात बिना अन्तर के ही गुजरते हैं। इस प्रकार वह द्वेषी शत्रु को अवसर नहीं देता। यदि बीच में तोड़कर पढ़ेगा तो अपने शत्रु को अवकाश दे देगा। इसलिए वह बिना तोड़े हुए लगातार पढ़ता है ॥१६॥

अध्याय ४—ब्राह्मण १

मंत्र बोलने से पहले 'हिङ्' बोलना चाहिए। ऐसा कहते हैं कि बिना सामगान के यज्ञ नहीं होता और साम बिना हिङ्कार के गाया नहीं जाता। हिङ्कार से हिङ् का रूप होता है और प्रणव या ओङ्कार से साम का रूप। 'ओ३म्' कहने से समस्त यज्ञ सामरूप हो जाता है ॥१॥

हिङ्कार क्यों कहता है ? इसलिए कि प्राण हिङ्कार है। प्राण हिङ्कार इसलिए है कि नाक के नथने बन्द करने पर हिङ्कार नहीं बोल सकते। ऋचाओं को वाणी से बोलता है। वाणी और प्राण का जोड़ा है। हिङ्कार बोलकर सामिधेनियाँ पढ़ने का तात्पर्य यह है कि सामिधेनियों में सन्तान का प्रजनन करा देता है (जोड़ा मिलाकर) ॥२॥

हिङ्कार मन्द स्वर में बोला जाता है। हिङ्कार उच्च स्वर से बोलेगा तो हिङ्कार और वाणी एक ही हो जाएगी। अतः हिङ्कार को मन्द स्वर से बोलना चाहिए ॥३॥

'आ' और 'प्र' कहकर बोलता है। इस प्रकार वह उधर जानेवाली गायत्री को इधर आनेवाली गायत्री से जोड़ देता है। उधर जानेवाली गायत्री देवों के लिए यज्ञ को ले जाती है। इधर आनेबाली गायत्री मनुष्यों की रक्षा करती है। इसलिए 'आ' और 'प्र' का प्रयोग करता है ॥४॥

॥४॥ यद्वेवेति च प्रेति चान्वाह । प्रेति वै प्राण एत्युदानः प्राणोदानावेवैतद्द-
धाति तस्माद्वाऽएति च प्रेति चान्वाह ॥५॥ यद्वेवेति च प्रेति चान्वाह । प्रेति
वै रेतः सिच्यतऽएति प्रजायते प्रेति पशवो वितिष्ठन्तऽएति समावर्तन्ते सर्वं वा
ऽइदमेति च प्रेति च तस्माद्वाऽएति च प्रेति चान्वाह ॥६॥ सोऽन्वाह । प्र वो
वाजा अभिद्यव इति तन्नु प्रेति भवत्यग्नऽआयाहि वीतयऽइति तदेति भवति
॥७॥ तदु हैकऽआहुः । उभयं वाऽएतत्प्रेति संपद्यतऽइति तदु तदातिविज्ञान्य-
मिव प्र वो वाजा अभिद्यवऽइति तन्नु प्रेत्यग्नऽआयाहि वीतयऽइति तदेति ॥८॥
सोऽन्वाह । प्र वो वाजा अभिद्यव इति तन्नु प्रेति भवति वाजा इत्यन्नं वै वा-
जा अन्नमेवैतदभ्यनूक्तमभिद्यव इत्यर्धमासा वाऽअभिद्यवोऽर्धमासानेवैतदभ्यनूक्तꣳ
हविष्मन्त इति पशवो वै हविष्मन्तः पशूनेवैतदभ्यनूक्तम् ॥९॥ घृताच्येति । वि-
देघो ह माथवोऽग्निं वैश्वानरं मुखे बभार तस्य गोतमो राहूगण ऋषिः पुरो-
हित आस तस्मै ह स्मामन्त्र्यमाणो न प्रतिशृणोति नेन्मेऽग्निर्वैश्वानरो मुखान्नि-
ष्पद्याताऽइति ॥१०॥ तमृग्भिर्ह्वयितुं दध्रे । वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तꣳ समिधी-
महि । अग्ने बृहन्तमध्वरे विदेघेति ॥११॥ स न प्रतिशुश्राव । उदग्ने शुचयस्तव
शुक्रा भ्राजन्त ईरते । तव ज्योतीꣳष्यर्चयो विदेघा३इति ॥१२॥ स ह नैव प्रति-
शुश्राव । तं त्वा घृतस्नवीमहऽइत्येवाभिव्याहरदथास्य घृतकीर्तावेवाग्निर्वैश्वानरो
मुखादुज्जज्वाल तं न शशाक धारयितुꣳ सोऽस्य मुखान्निष्पेदे स इमां पृथिवीं
प्रापादः ॥१३॥ तर्हि विदेघो माथव आस । सरस्वत्याꣳ स तत एव प्राङ्दहन्न-
भीयायेमां पृथिवीं तं गोतमश्च राहूगणो विदेघश्च माथवः पश्चाद्दहन्तमन्वीयतुः
स इमाः सर्वा नदीरतिददाह सदानीरेत्युत्तराद्गिरेर्निर्घावति ताꣳ हैव नातिददाह
ताꣳ ह स्म तां पुरा ब्राह्मणा न तरन्त्यनतिदग्धाग्निना वैश्वानरेणेति ॥१४॥ तत
एतर्हि । प्राचीनं बहवो ब्राह्मणास्तद्धाक्षेत्रतरमिवास स्रावितरमिवास्वदितमग्नि-

'आ' और 'प्र' कहने का एक कारण और भी हो सकता है। 'प्र' प्राण है और 'आ' उदान। इस प्रकार प्राण और उदान को धारण कराता है। इसलिए 'आ' और 'प्र' का प्रयोग करता है ॥५॥

'आ' और 'प्र' कहने का एक कारण और भी हो सकता है। 'प्र' से वीर्य सींचा जाता है, 'आ' से सन्तान उत्पन्न होती है। 'प्र' से पशु चरने के लिए जाते हैं, 'आ' से घर लौटते हैं। वस्तुतः संसार में हर एक वस्तु आती और जाती है। इसलिए 'आ' और 'प्र' का प्रयोग करता है ॥६॥

वह कहता है 'प्र वो वाजा अभिद्यवः'—"आपके अन्न द्यौलोक को जावें।" यह हुआ 'प्र' या जाना। अब कहता है 'अग्न आ याहि वीतये'—"हे अग्नि, वृद्धि के लिए आ!" इससे 'आ' या आना हुआ ॥७॥

कुछ का कहना है कि इन दोनों से 'प्र' अर्थात् जाने का ही अर्थ निकलता है। परन्तु यह तो साधारण बुद्धि में आता नहीं। वस्तुतः 'प्र वो वाजा अभिद्यवः' से जाना ही अभीष्ट है और 'अग्न आ याहि वीतये' से आना ॥८॥

वह (पहली सामिधेनी को) पढ़ता है, 'प्र वो वाजा अभिद्यवः', इससे जाना अभिप्रेत है। वाज कहते हैं अन्न को। इसके पाठ से अन्न की प्राप्ति होती है। 'अभिद्यवः' से अर्द्धमास का अर्थ निकलता है, क्योंकि अर्द्धमास द्यौलोक को जाते हैं। अब कहता है, 'हे हवि वालो!' हवि वाले पशु होते हैं। इस प्रकार पशुओं की प्राप्ति कराता है ॥९॥

अब वह कहता है 'घृताची'। विदेघ का राजा माथव अपने मुख में वैश्वानर अग्नि रखता था। उसका राहूगण गोतम पुरोहित था। पुरोहित ने पुकारा तो वह न बोला कि कहीं मेरे मुख से अग्नि निकल न पड़े ॥१०॥

तब उस पुरोहित ने उसका (ऋग्वेद ५।२६।३) से आह्वान किया—'वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तं समिधीमहि। अग्ने वृहन्तमध्वरे'—'हे बुद्धिमान्, बड़े, प्रकाशवाले और हवन में प्रिय अग्नि! हम तुझको यज्ञ में बुलाते हैं' हे विदेघ! ॥११॥

राजा ने कुछ उत्तर नहीं दिया, तब उसने आगे पढ़ा (ऋ० ८।४४।१७)—'उदग्ने शुचयस्तव शुक्रा भ्राजन्त ईरते। तव ज्योतींष्यर्चयः' विदेघ इति—'हे अग्नि, अपनी चमकीली, प्रकाशयुक्त ज्योतियों को ऊपर को फेंक।' ओ विदेघ! ॥१२॥

वह तब भी न बोला। तब पुरोहित ने आगे पढ़ा—'तं त्वा घृतस्नवीमहे चित्र भानो स्वर्दृशं देवाँ आ वीतये वह।' यह मंत्र पूरा पढ़ने भी न पाया, 'घृत' शब्द तक ही आया था कि अग्नि वैश्वानर जल उठा। वह अपने मुख में न रख सका। अग्नि उसके मुँह से निकलकर पृथिवी पर आ पड़ा ॥१३॥

विदेघ माथव उस समय सरस्वती के किनारे पर था। उस समय अग्नि जलते-जलते पूर्व की ओर बढ़ा। गोतम राहूगण और विदेघ माथव उस जलते हुए अग्नि के पीछे-पीछे चले। अग्नि ने इन सब नदियों को सुखा दिया। एक नदी सदानीरा उत्तरी पहाड़ से निकलती है। उसे वह न सुखा सका। ब्राह्मण लोग पहले इस नदी को पार नहीं करते थे, यह सोचकर कि अग्नि वैश्वानर ने इसको नहीं जलाया ॥१४॥

परन्तु आजकल बहुत-से ब्राह्मण इस नदी के पूर्व की ओर रहते हैं। उस समय सदानीरा के पूर्व की भूमि ऊसर पड़ी थी। उसमें दलदल बहुत था, क्योंकि अग्नि वैश्वानर ने उसका

ना वैश्वानरेणेति ॥१५॥ तदु हैतर्हि । क्षेत्रतरमिव ब्राह्मणा उ हि नूनमेनद्य-
ज्ञैरसिष्वदंस्तसापि जघन्ये नैदाघे समिवैव कोपयति तावच्छीतानतिदग्धा ह्यग्निना
वैश्वानरेण ॥१६॥ स होवाच । विदेघो माथवः क्वाहं भवानीत्यत एव ते प्रा-
चीनं भुवनमिति होवाच सैषाप्येतर्हि कोसलविदेहानां मर्यादा ते हि माथवाः
॥१७॥ अथ होवाच । गोतमो राहूगणः कथं नु नऽआमन्त्र्यमाणो न प्रत्यश्रौ-
षीरिति स होवाचाग्निर्मे वैश्वानरो मुखेऽभूत्स नेन्मे मुखान्निष्पद्याता इति तस्मात्ते न
प्रत्यश्रौषमिति ॥१८॥ तदु कथमभूदिति । यत्रैव त्वं घृतस्नवीमहऽइत्यभिव्याहा-
र्षीस्तदेव मे घृतकीर्तावग्निर्वैश्वानरो मुखादुदज्वालीत्तं नाशकं धारयितुं स मे
मुखान्निरपादीति ॥१९॥ स यत्सामिधेनीषु घृतवत् । सामिधेनमेव तत्समेवैनं
तेनेन्धे वीर्यमेवास्मिन्दधाति ॥२०॥ तदु घृताच्येति । देवान्जिगाति सुम्नयुरिति
यजमानो वै सुम्नयुः स हि देवान्जिगीषति स हि देवान्जिघांसति तस्मादाह
देवान्जिगाति सुम्नयुरिति सैषाग्नेयी सत्यनिरुक्ता सर्वं वाऽअनिरुक्तं सर्वेणैवैत-
त्प्रतिपद्यते ॥२१॥ अग्नऽआयाहि वीतयऽइति । तद्वेति भवति वीतयऽइति स-
मन्तिकमिव ह वाऽइमेऽग्रे लोका आसुरित्युन्मृश्या हैव द्यौरास ॥२२॥ ते देवा
अकामयन्त । कथं नु न इमे लोका वितरां स्युः कथं न इदं वरीय-इव स्या-
दिति तानेतैरेव त्रिभिरक्षरैर्व्यनयन्वीतयऽइति तऽइमे विदूरं लोकास्ततो देवे-
भ्यो वरीयोऽभवद्वरीयो ह वाऽअस्य भवति यस्यैवं विदुष एतामन्वाहुर्वीतय
ऽइति ॥२३॥ गृणानो हव्यदातयऽइति । यजमानो वै हव्यदातिर्गृणानो यजमा-
नायेत्येवैतदाह नि होता सत्सि बर्हिषीत्यग्निर्वै होतायं लोको बर्हिरस्मिन्नेवै-
तल्लोकेऽग्निं दधाति सोऽयमस्मिंल्लोकेऽग्निर्हितः सैषममेव लोकमभ्यनूक्तेममेवैत-
या लोकं जयति यस्यैवं विदुष एतामन्वाहुः ॥२४॥ तं त्वा समिद्भिरङ्गिर इति ।
समिद्भिर्ह्येतमङ्गिरस ऐन्धताङ्गिर इत्यङ्गिरा उ ह्यग्निर्घृतेन वर्धयामसीति तत्सामि-

आस्वादन नहीं किया था ॥१५॥

अब तो यह बहुत उपजाऊ है क्योंकि ब्राह्मणों ने यज्ञ करके उसको अग्नि को चखा दिया है। गर्मी के अगले दिनों में भी (वह नदी) खूब बहती है। अग्नि वैश्वानर ने इससे दग्ध नहीं किया था। अतः यहाँ ठण्डक बहुत होती है ॥१६॥

विदेघ माथव ने अग्नि से पूछा–"मैं कहाँ रहूँ ?"—"इस नदी के पूर्व की ओर तेरा घर हो", ऐसा अग्नि ने उत्तर दिया। अब तक यह नदी कोसल और विदेह देशों के बीच की सीमा है। क्योंकि यह माथव की सन्तान हैं ॥१७॥

अब गोतम राहूगण ने राजा से पूछा—"मैंने तुमको बुलाया। तुम क्यों नहीं बोले ?" उसने कहा—"मेरे मुँह में अग्नि वैश्वानर था। कहीं यह गिर न पड़े, इसलिए मैं नहीं बोला" ॥१८॥

गोतम ने पूछा—"फिर यह क्या हुआ ?" राजा ने उत्तर दिया—"जब तुमने मंत्र पढ़े और घी का नाम ही लिया कि अग्नि वैश्वानर जल उठा और मैं उसको मुख में न रख सका। वह पृथिवी पर निकल पड़ा" ॥१९॥

इसलिए सामिधेनियों में जो घृत शब्द है वह अग्नि जलाने के लिए बड़ा उपयुक्त है। इन्हीं सामिधेनियों को पढ़कर वह अग्नि को जलाता है और यजमान को शक्ति देता है ॥२०॥

अब (वह शब्द) है 'घृताच्या', अर्थात् घी से भरे (चमचे) से। 'देवान् जिगाति सुम्नयुः'–'शान्ति का इच्छुक वह देवों के पास आता है'; यजमान सुम्नयुः (शान्ति का इच्छुक) है। वह देवों के पास आना चाहता है। इसीलिए कहा 'देवान् जिगाति सुम्नयुः'। यह आग्नेयी ऋचा अनिरुक्त (अनियत) है। 'सब' भी अनियत होता है। अतः अनिरुक्त ऋचा पढ़कर 'सब' का सम्पादन करता है ॥२१॥

अब कहता है कि, 'अग्न आ याहि वीतये'—'अग्नि, यज्ञ की वृद्धि के लिए आ' (यह दूसरी सामिधेनी है) वृद्धि या फैलाव के लिए। पहले लोक मिले हुए थे। हम आकाश को इस प्रकार (हाथ बढ़ाकर) छू सकते थे ॥२२॥

देवों ने चाहा—"ये लोक दूर-दूर कैसे हों ? कैसे हमको अधिक आकाश मिले ?" यह कहकर उन्होंने ये तीन अक्षरों का 'वीतये' शब्द उच्चारण किया। यह कहते ही लोक दूर-दूर हो गए। देवों को दूर-दूर जगह मिल गई। जो इस रहस्य को समझकर 'वीतये' कहता है, उसके लिए भी दूर-दूर अवकाश मिल जाता है ॥२३॥

जब वह कहता है 'गृणानो हव्य दातये'—'हव्य देनेवाले के लिए' तो हव्य देनेवाला यजमान है। यजमान के लिए ही यह कहा गया। 'निहोता सत्सि बर्हिषि'—'होता आसन पर बैठता है।' 'होता' अग्नि है। बर्हि से आच्छादित वेदी आसन है। यह जगत् बर्हि है। अग्नि को इस जगत् में स्थापित करता है। जगत् के कल्याण के लिए अग्नि यहाँ स्थापित की जाती है। जो इस रहस्य को समझता है और जिसके लिए यह सामिधेनी पढ़ी जाती है, उसकी इस लोक में विजय होती है ॥२४॥

(अब तीसरी सामिधेनी) 'तं त्वा समिद्भिरङ्गिरः'—'अङ्गिरस, तेरे लिए समिधाओं से'; आंगिरस अग्नि है, 'घृतेन वर्द्धयामसि'—घी से हम बढ़ाते हैं। 'घृत' अग्नि जलाने के लिए

ह्येनं पदꣳ समेवैनं तेनेन्धे वीर्यमेवास्मिन्दधाति ॥२५॥ ॥ शतम् ३०० ॥ ॥ बृह-
च्छोचा यविष्ठ्येति । बृहद्ध्येष शोचति समिद्धो यविष्ठ्येति यविष्ठो ह्यग्निस्तस्मा-
दाह यविष्ठ्येति सैषैतमेव लोकमभ्यनूक्तान्तरिक्षलोकमेव तस्मादाग्नेयी सत्यनिरु-
क्तानिरुक्तो ह्येष लोक एतमेवैतया लोकं जयति यस्यैवं विदुष एतामन्वाहुः
॥२६॥ स नः पृथु श्रवाय्यमिति । अदो वै पृथु यस्मिन्देवा एतच्छ्रवाय्यं यस्मिन्देवा
अच्छा देव विवाससीत्यच्छ देव विवासस्येतन्नो गमयेत्येवैतदाह ॥२७॥ बृहदग्ने सु-
वीर्यमिति । अदो वै बृहद्यस्मिन्देवा एतत्सुवीर्यं यस्मिन्देवाः सैषैतमेव लोकम-
भ्यनूक्ता दिवमेवैतमेवैतया लोकं जयति यस्यैवं विदुष एतामन्वाहुः ॥२८॥ सो
ऽन्वाह । ईडेन्यो नमस्य इतीडेन्यो ह्येष नमस्यो ह्येष तिरस्तमाꣳसि दर्शत
इति तिर-इव ह्येष तमाꣳसि समिद्धो ददृशे समग्निरिध्यते वृषेति सꣳ हीध्यते वृ-
षा वृषोऽअग्निः समिध्यतऽइति सꣳ हीध्यते ॥२९॥ अश्वो न देववाहन इति ।
अश्वो ह वाऽएष भूत्वा देवेभ्यो यज्ञं वहति यद्धि नेत्यृच्योमिति तत्तस्मादाहाश्वो
न देववाहन इति ॥३०॥ तꣳ हविष्मन्त ईडतऽइति । हविष्मन्तो ह्येतं मनुष्या
ईडते तस्मादाह तꣳ हविष्मन्त ईडतऽइति ॥३१॥ वृषणं त्वा वयं वृषन्वृषणः
समिधीमहीति । सꣳ ह्येनमिन्धतेऽग्ने दीद्यतं बृहदिति दीदयेव ह्येष बृहत्समिद्धः
॥३२॥ तं वाऽएतम् । वृषण्वन्तं त्रिचमन्वाहाग्नेय्यो वाऽएताः सर्वाः सामिधेन्यो
भवन्तीन्द्रो वै यज्ञस्य देवतेन्द्रो वृषैतेनो हास्यैताः सेन्द्राः सामिधेन्यो भवन्ति
तस्माद्वृषण्वन्तं त्रिचमन्वाह ॥३३॥ सोऽन्वाह । अग्निं दूतं वृणीमहऽइति दे-
वाश्च वाऽअसुराश्चोभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे तान्स्पर्धमानान्गायत्र्यन्तरा तस्थौ या
वै सा गायत्र्यासीदियं वै सा पृथिवीयꣳ हैव तदन्तरा तस्थौ तऽउभयऽएव वि-
दां चक्रुर्यतरान्वै न इयमुपावर्त्स्यति ते भविष्यन्ति परेतरे भविष्यन्तीति तामुभय
ऽएवोपमन्त्रयां चक्रिरेऽग्निरेव देवानां दूत आस सहरक्षा इत्यसुररक्षसमसुराणाꣳ

बहुत उपयुक्त शब्द है। उसी अग्नि को प्रज्वलित करते हैं, और यज्ञ को शक्ति देते हैं ॥२५॥

'बृहच्छोचा यविष्ठ्य'—'तू सबसे छोटी, बहुत चमकदार है।' समिधा बहुत चमकती है। वह ही सबसे कम आयु की अग्नि है। इसीलिए इसको 'यविष्ठ्य' कहा। यह ऋचा उस लोक अर्थात् अन्तरिक्ष के लिए कही गई। अतः आग्नेयी होते हुए अनिरुक्त है। जो इस रहस्य को समझता है और जिसके लिए यह सामिधेनी पढ़ी जाती है, उसको इस लोक में विजय प्राप्त होती है ॥२६॥

(अब चौथी सामिधेनी) 'स नः पृथु श्रवाय्यम्'—'वह तू हमारे लिए चौड़ा-चकला और प्रकाशयुक्त अवकाश प्राप्त कर।' वह लोक जिसमें देवता रहते हैं चौड़ा-चकला और चमकदार है। 'अच्छा देव विवाससि' अर्थात् 'मैं उस लोक को जाऊँ' ॥२७॥

'बृहदग्ने सुवीर्यम्'—'हे अग्नि, वह बड़ा और शक्तिशाली है।' वह बड़ा लोक है जिसमें देव रहते हैं। वह शक्तिशाली लोक है जिसमें देव निवास करते हैं। इसी लोक के अभिप्राय से यह कहा गया। जो इस रहस्य को समझता है और जिसके लिए सामिधेनी पढ़ी जाती है, उसको इस लोक में विजय प्राप्त होती है ॥२८॥

(पाँचवीं सामिधेनी) 'ईडेन्यो नमस्य'—'स्तुति और नमस्कार के योग्य'। यह स्तुत्य भी है और नमस्य भी। 'तिरस्तमांसि दर्शत'—अन्धकार में होकर चमकता है'। अग्नि जब जलता है तो अन्धकार में होकर चमकता है। 'समग्निरिध्यते वृषा'—'बलवान अग्नि प्रज्वलित होता है।' बलवान् अग्नि है यह, प्रज्वलित भी होता है (समग्नि—यहाँ से छठी सामिधेनी आरम्भ होती है) ॥२९॥

'अश्वो न देववाहन'—'वह अग्नि अश्व या घोड़ा होकर देवों को हवि ले जाता है।' यहाँ 'न' का अर्थ है 'ओ३म्'। इसका अर्थ है कि वस्तुतः वह अश्व बनकर हवि को ले जाता है ॥३०॥

'तं हविष्मन्त ईडत'—'उसको हवि वालो, पूजो!' मनुष्य हवि वाले हैं। वे अग्नि को पूजते हैं। इसलिए कहा 'तं हविष्मन्त ईडत' ॥३१॥

(सातवीं सामिधेनी) 'वृषणः त्वा वयं वृषन् वृषणः समिधीमहि···अग्ने दीद्यतं बृहत्'—'हम शक्तिशाली तुझ शक्तिशाली को प्रज्वलित करते हैं···हे अग्ने, तू बहुत चमकनेवाला है!' क्योंकि जब वह प्रज्वलित किया गया, वह वस्तुतः बहुत चमका ॥३२॥

इस तृच् (तीन ऋचाओं के समूह) को पढ़ता है जिसमें 'वृषण्' (बलवान्) शब्द आया है। ये सब सामिधेनियाँ अग्नि देवता की होती हैं। परन्तु यज्ञ का देवता 'इन्द्र' है और वह 'वृषण्' (बलवान्) है। अतः वृषण् शब्द आने से यह तृच् इन्द्र देवता का हो जाता है। इसलिए 'वृषण्' वाली तीन ऋचाओं को पढ़ता है ॥३३॥

(अब आठवीं सामिधेनी को) 'अग्निं दूतं वृणीमहे'—'अग्नि दूत का वरण करते हैं।' प्रजापति की सन्तान देव और असुर प्रमुत्व के लिए लड़ पड़े। गायत्री बीच में पड़ गई। जो गायत्री थी वही यह पृथिवी है। यही पृथिवी उन देवों के बीच में थी। वे जानते थे कि जिधर को यह रहेगी, वही पक्ष जीत जायगा, और दूसरा पक्ष पराजित होगा। अतः उन दोनों दलों ने चुपके-चुपके उसको अपनी ओर मिल जाने के लिए निमंत्रण दिया। देवों का दूत बनी अग्नि, और असुर राक्षसों का एक राक्षस जिसका नाम था 'सहरक्ष', वह गायत्री (या पृथिवी) अग्नि के

साग्निमेवानुप्रेयाय तस्मादन्वाहाग्निं दूतं वृणीमहऽइति स हि देवानां दूत आसीद्धोतारं विश्ववेदसमिति ॥३४॥ तदु हैकेऽन्वाहुः । होता यो विश्ववेदस इति नेदरमित्यात्मानं ब्रवाणीति नतु तथा न ब्रूयान्मानुषꣳह ते यज्ञे कुर्वन्ति व्यृद्धं वै तद्यज्ञस्य यन्मानुषं नेद्व्यृद्धं यज्ञे करवाणीति तस्माद्यथैवर्चानूक्तमेवानुब्रूयाद्धोतारं विश्ववेदसमित्येवास्य यज्ञस्य सुक्रतुमित्येष हि यज्ञस्य सुक्रतुर्यदग्निस्तस्मादाहास्य यज्ञस्य सुक्रतुमिति सेयं देवानुपाववर्त ततो देवा अभवन्परासुरा भवति ह वाऽआत्मना परास्य सपत्ना भवन्ति यस्यैवं विदुष एतामन्वाहुः ॥३५॥ तां वाऽअष्टमीमनुब्रूयात् । गायत्री वाऽएषा निदानेनाष्टाक्षरा वै गायत्री तस्मादष्टमीमनुब्रूयात् ॥३६॥ तद्धैके । पुरस्ताद्धाय्ये दधत्यन्नं धाय्ये मुखतऽइदमन्नाद्यं दध्म इति वदन्तस्तदु तथा न कुर्यादनवक्लृप्ता तस्यैषा भवति यः पुरस्ताद्धाय्ये दधाति दशमी वा हि तर्ह्येकादशी वा संपद्यते तस्यो हैवैषावक्लृप्ता भवति यस्यैतामष्टमीमन्वाहुस्तस्मादुपरिष्टादेव धाय्ये दध्यात् ॥३७॥ समिध्यमानोऽअध्वरऽइति । अध्वरो वै यज्ञः समिध्यमानो यज्ञऽइत्येवैतदाहाग्निः पावक ईड्य इति पावको ह्येष ईड्यो ह्येष शोचिष्केशस्तमीमहऽइति शोचन्तीव ह्येतस्य केशाः समिद्धस्य समिद्धोऽअग्नऽआहुतेत्यतः प्राचीनꣳ सर्वमिध्ममभ्यादध्याद्यदन्यत्समिधोऽपवृङ्क्ऽ-इव ह्येतद्धोता यद्वाऽअन्यत्समिध इध्मस्यातिरिच्यतेऽतिरिक्तं तद्यद्वै यज्ञस्यातिरिक्तं द्विषन्तꣳ हास्य तद्भ्रातृव्यमभ्यतिरिच्यते तस्मादतः प्राचीनꣳ सर्वमिध्ममभ्यादध्याद्यदन्यत्समिधः ॥३८॥ देवान्यक्षि स्वध्वरेति । अध्वरो वै यज्ञो देवान्यक्षि सुयज्ञियेत्येवैतदाह त्वꣳ हि हव्यवाडसीत्येष हि हव्यवाड्यदग्निस्तस्मादाह त्वꣳ हि हव्यवाडसीत्या जुह्वोता दुवस्यताग्निं प्रयत्यध्वरे । वृणीध्वꣳ हव्यवाहनमिति संप्रेष्यत्येवैतयाजुह्वत च यजत च यस्मै कामाय समैन्धिढ्वं तत्कुरुतेत्येवैतदाहाग्निं प्रयत्यध्वरऽइत्यध्वरो वै यज्ञोऽग्निं प्रयति यज्ञऽइत्येवैतदाह वृणीध्वꣳ हव्यवाहनमित्येष हि

साथ चली गई। इसलिए कहते हैं 'हम अग्नि दूत का वरण करते हैं'; अग्नि ही दूत था। इसलिए कहा, 'होतारं विश्ववेदसम्' अर्थात् 'अग्नि होता को जो सब-कुछ जाननेवाला है ॥३४॥

कुछ लोग मंत्र में थोड़ा-सा परिवर्तन करके ऐसा कहते हैं 'होता यो विश्ववेदसः', अर्थात् 'होता जो सब-कुछ जाननेवाला है। इसका कारण यह है कि वह 'होतारं' के दो टुकड़े कर देते हैं 'होता+अरम्', 'अरम्' का अर्थ 'अलम्' (बस इतना ही) भी होता है। (याज्ञवल्क्य का कहना है कि) ऐसा नहीं करना चाहिए। वेदमंत्र में परिवर्तन कर देने से भाषा मानुषी हो जाती है। यज्ञ में मानुषी भाषा को अशुभ समझा जाता है, अतः जैसा वेदमंत्र में आया है वैसा ही बोलना चाहिए, अर्थात् 'होतारं विश्ववेदसम्'।

अब आगे कहता है—'अस्य यज्ञस्य सुक्रतुः'—'इस यज्ञ को अच्छी प्रकार करनेवाला', क्योंकि अग्नि यज्ञ का सुक्रतुः है।

गायत्री ने देवों का साथ दिया था। वे जीत गए। असुर हार गए। जो इस रहस्य को समझता है और जिसके लिए यह ऋचा पढ़ी जाती है वह जीत जाता है और शत्रु उसका पराजित हो जाता है ॥३५॥

इसीलिए वह इस (आठवीं सामिधेनी) को पढ़ता है। यह विशेष रीति से गायत्री है क्योंकि गायत्री में आठ अक्षर होते हैं। इसीलिए वह इस आठवीं सामिधेनी का पाठ करता है ॥३६॥

कुछ लोग आठवीं सामिधेनी से पहले दो 'धाय्य' पढ़ देते हैं। वे कहते हैं कि धाय्य अन्न हैं, हम अन्न को मुख में रख देते हैं; परन्तु ऐसा नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से आठवीं सामिधेनी का स्थान हट जाता है और आठवीं और नवमी सामिधेनी दसवीं और ग्यारहवीं हो जाती है। यह आठवीं सामिधेनी का ही उचित स्थान है। इसलिए दो धाय्यों को नवमी सामिधेनी के पीछे रखना चाहिए ॥३७॥

(अब नवमी सामिधेनी पढ़ता है) 'समिध्यमानो अध्वरः'–'यज्ञ में जलती हुई'। अध्वर यज्ञ को कहते हैं। उसमें जो प्रज्वलित होता है वह अग्नि है। 'पावकः ईड्यः'—'यह पवित्र भी है और स्तुत्य भी।' 'शोचिष्केशस्तमीमहे'—'चमकदार केश वाले तुझको हम बुलाते हैं।' इसके केश चमकते हैं। दसवीं सामिधेनी अर्थात् 'समिद्धस्य समिद्धोऽअग्ने' ऐसा कहने से पूर्व सब समिधाओं को अग्नि पर रख दे, सिवाय एक के। क्योंकि यहाँ होता अग्नि-प्रज्वालन काम समाप्त करता है। अब जो एक समिधा बच रही, इसका नियम यह है कि जो यज्ञ से बच रहे वह शत्रु का होता है। इसलिए इस सामिधेनी से पहले-पहले एक बचाकर अन्य सब समिधायें रख देनी चाहिएँ ॥३८॥

अब वह कहता है 'देवान्यक्षि स्वध्वर'–'हे अच्छे अध्वर्यु, देवों की पूजा कर।' 'अध्वर' का अर्थ है यज्ञ। तात्पर्य यह है कि 'अच्छे अध्वर, देवों की पूजा कर।' 'त्वं हि हव्यवाडसि'—'तू हव्य का ले जाने वाला है।' अब अन्तिम सामिधेनी पढ़ता है—'आ जुहोता दुवस्यताग्निं प्रयत्यध्वरे। वृणीध्वं हव्यवाहनम्'—'यज्ञ में अग्नि की पूजा करो। हव्य ले जानेवाले का वरण करो।' अग्नि वस्तुतः हव्यवाट् है। इसीलिए कहा 'अग्नि तू हव्यवाट् है'। वह अन्तिम सामिधेनी को पढ़ता है—'आ जुहोता दुवस्यताग्निं प्रयत्यध्वरे। वृणीध्व॑ँ हव्यवाहनम्'—'आहुति दो। अग्नि की पूजा करो, जब यज्ञ हो रहा हो। हव्य को ले जाने वाले का वरण करो।' इसका अर्थ यह है कि आहुति दो, पूजा करो अर्थात् जिस कामना के लिए यज्ञ रचा है उसकी पूर्ति करो।

हव्यवाहनो यदग्निस्तस्मादाह वृणीध्वꣳ हव्यवाहनमिति ॥३९॥ तं वाऽएतम् । अधरवत्तं त्रिचमन्वाह देवान्ह वै यज्ञेन यजमानांस्सपत्ना असुरा दुधूर्षां चक्रुस्ते दुधूर्षन्त एव न शेकुर्धूर्वितुं ते पराबभूवुस्तस्माद्यज्ञोऽध्वरो नाम दुधूर्षन्ह वाऽएनꣳ सपत्नः पराभवति यस्यैवं विदुषोऽध्वरवत्तं त्रिचमन्वाहुर्यावद्वेव सौम्येनाध्वरेणेष्ट्वा जयति तावज्जयति ॥४०॥ ब्राह्मणम् ॥३ [४.१.]॥

एतद्ध वै देवा अग्निं गरिष्ठेऽयुञ्जन् । यद्धोतृत्वऽइदं नो हव्यं वहेति तमेतद्गरिष्ठे युक्त्वोपामदन्वीर्यवान्वै त्वमस्यलं वै त्वमेतस्माऽअसीति वीर्यं समादधतो यथेदमप्येतर्हि ज्ञातीनां यं गरिष्ठे युञ्जन्ति तमुपमदन्ति वीर्यवान्वै त्वमस्यलं वै त्वमेतस्माऽअसीति वीर्यं समादधतः स यदत ऊर्ध्वमन्वाहोपस्तौत्येवैनमेतद्वीर्यमेवास्मिन्दधाति ॥१॥ अग्ने महाँ२॥ऽअसि ब्राह्मण भारतेति । ब्रह्म ह्यग्निस्तस्मादाह ब्राह्मणेति भारतेत्येष हि देवेभ्यो हव्यं भरति तस्माद्भरतोऽग्निरित्याहुरेष उ वाऽइमाः प्रजाः प्राणो भूत्वा बिभर्ति तस्माद्वेवाह भारतेति ॥२॥ अथार्षेयं प्रवणीते । ऋषिभ्यश्चैवैनमेतद्देवेभ्यश्च निवेदयत्ययं महावीर्यो यो यज्ञं प्रापदिति तस्मादार्षेयं प्रवृणीते ॥३॥ परस्तादर्वाक्प्रवृणीते । परस्ताद्ध्यर्वाच्यः प्रजाः प्रजायन्ते ज्यायसस्पतयऽउ चैवैतं निह्नुतऽइदꣳ हि पितैवाग्रेऽथ पुत्रोऽथ पौत्रस्तस्मात्परस्तादर्वाक्प्रवृणीते ॥४॥ स आर्षेयमुक्त्वाह । देवेद्धो मन्विद्ध इति देवा ह्येतमग्रऽऐन्धत तस्मादाह देवेद्ध इति मन्विद्ध इति मनुर्ह्येतमग्रऽऐन्ध तस्मादाह मन्विद्ध इति ॥५॥ ऋषिष्टुत इति । ऋषयो ह्येतमग्रेऽस्तुवंस्तस्मादाहर्षिष्टुत इति ॥६॥ विप्रानुमदित इति । एते वै विप्रा यदृषय एते ह्येतमन्वमदंस्तस्मादाह विप्रानुमदित टति ॥७॥ कविशस्त इति । एते वै कवयो यदृषय एते ह्येतमशꣳसंस्तस्मादाह कविशस्त इति ॥८॥ ब्रह्मसꣳशित इति । ब्रह्मसꣳशितो ह्येष घृताहवन इति घृताहवनो ह्येषः ॥९॥ प्रणीर्यज्ञानाꣳ रथीरध्वराणामिति । एतेन

अग्नि हव्य का ले जाने वाला है। इसीलिए कहा 'वृणीध्वं हव्यवाहनम्' ।।३९।।

'अध्वर' शब्द वाले तृच् (तीन ऋचाओं के समूह) को पढ़ता है। जब देव यज्ञ कर रहे थे तो उनके शत्रु असुरों ने उस यज्ञ का विध्वंस करना चाहा 'दुधूर्षाञ्चक्रुः'। परन्तु विध्वंस की इच्छा करते हुए भी वे विध्वंस न कर सके। वे हार गए। इसलिए यज्ञ का नाम अध्वर हुआ (न शेकुर्धूर्वितम्)। जो इस रहस्य को समझता है और अध्वर शब्द वाले तृच् को पढ़ता है उसके शत्रु उसका विध्वंस चाहते हुए भी उसका विध्वंस नहीं कर सकते। वे परास्त हो जाते हैं। वह सौम्य-अध्वर को करके विजय प्राप्त कर लेता है, जीत जाता है। (सौम्येन अध्वरेण=सोम-याग=सम्बन्धी अध्वर) ।।४०।।

अध्याय ४–ब्राह्मण २

पहले देवों ने अग्नि को मुख्य होता के पद पर नियुक्त किया, और उसको इस मुख्य पद पर नियुक्त करके कहा, 'तू हमारी हवि को ले जा' और यह कहकर बड़ाई करने लगे, 'निश्चय करके तू वीर्यवान् है। निश्चय करके तू इस काम के योग्य है।' इस प्रकार उसको बल देते हुए जैसा कि आजकल की जातियों में जब किसी को मुख्य पद पर चुनते हैं तो यह कहकर बड़ाई करते हैं, 'आप वीर्यवान् हैं, आप इसी कार्य के लिए हैं' और उसको बल-सम्पन्न करते हैं। इसलिए जो कुछ पढ़कर वह उसकी बड़ाई करता है, मानो उसकी स्तुति करता है अर्थात् उसको बल से सम्पन्न करता है।।१।।

वह स्तुति यह है—'अग्ने महाँऽअसि ब्राह्मण भारत'–'हे ब्राह्मण, भारत, अग्नि, तू बड़ा है।' अग्नि ब्रह्म है इसलिए कहा 'ब्राह्मण'। 'भारत' इसलिए कहा कि यही देवों के लिए हव्य रखता है (भरति)। इसलिए कहता है 'अग्नि भारत है'। इन प्रजाओं का प्राण बनकर पोषण करता है इसलिए भारत है।।२।।

अब वह (अग्नि को) आर्ष होता चुनता है, अर्थात् ऋषियों की शैली के अनुसार। इस प्रकार वह ऋषियों और देवों से उसका परिचय कराता है (निवेदयति)—'यह महावीर्य है जो यज्ञ को कराता है।' यही कारण है कि यह (अग्नि को) आर्ष होता बनाता है।।३।।

वह अति पुराने से नये तक का वरण करता है (अर्थात् ऋषियों में सबसे प्रथम से लेकर पीढ़ी-पर-पीढ़ी आज तक के ऋषि का वरण करता है) क्योंकि प्राचीन से ही तो नई पीढ़ी उत्पन्न होती है। इस प्रकार वह सबसे बड़े को नियुक्त करता है, क्योंकि पहले पिता होता है, फिर पुत्र, फिर पौत्र। इसलिए पूर्वजों से लेकर नई पीढ़ी तक का वरण करता है।।४।।

उसको आर्ष होता बनाकर कहता है–'देवेद्धो मन्विद्धः'–'तुझे देवों ने प्रज्वलित किया, तुझे मनु ने प्रज्वलित किया।' देवों ने पहले इसे जलाया। इसलिए कहा 'देवेद्धः'। मनु ने पहले इसे जलाया इसलिए कहा 'मन्विद्धः' ।।५।।

अब कहता है—'ऋषिष्टुत'—'ऋषियों से स्तुति किया गया'। पहले ऋषियों ने ही इसकी स्तुति की। इसलिए इसको कहा 'ऋषिष्टुत' ।।६।।

अब कहा—'विप्रानुमदित'—'विप्रों से प्रसन्न किया गया'। ये विप्र ऋषि ही थे जिन्होंने उसे प्रसन्न किया। इसलिए कहा 'विप्रानुमदित' ।।७।।

अब कहा—'कविशस्त'—'कवियों से प्रशंसित'। ये कवि ऋषि ही थे जिन्होंने इसकी प्रशंसा की। इसलिए कहा 'कविशस्त' ।।८।।

अब कहा—'ब्रह्मसꣳशित'—'वेद से प्रशंसित', क्योंकि वह ब्रह्म अर्थात् वेदमंत्रों से प्रशंसित होता है। 'घृताहवन' भी कहा क्योंकि वह घी को लेता है।।९।।

अब कहा–'प्रणीर्यज्ञानाꣳ रथीरध्वराणाम्'—'यज्ञों का प्राणी और अध्वरों का रथी'।

वै सर्वान्यज्ञान्प्रणयन्ति ये च पाकयज्ञा ये चेतरे तस्मादाह प्रणीर्यज्ञानामिति ॥१०॥ रथीरध्वराणामिति । रथो ह वाऽएष भूत्वा देवेभ्यो यज्ञं वहति तस्मादाह रथीरध्वराणामिति ॥११॥ अतूर्तो होता तूर्णिर्हव्यवाडिति । न ह्येतꣳ रक्षाꣳसि तरन्ति तस्मादाहातूर्तो होतेति तूर्णिर्हव्यवाडिति सर्वꣳ ह्येष पाप्मानं तरति तस्मादाह तूर्णिर्हव्यवाडिति ॥१२॥ आस्पात्रं जुहूर्देवानामिति । देवपात्रं वाऽएष यदग्निस्तस्मादग्नौ सर्वेभ्यो देवेभ्यो जुह्वति देवपात्रꣳ ह्येष प्राप्नोति ह वै तस्य पात्रं यस्य पात्रं प्रेप्स्यति य एवमेतद्वेद ॥१३॥ चमसो देवपान इति । चमसेन ह वाऽएतेन भूतेन देवा भक्षयन्ति तस्मादाह चमसो देवपान इति ॥१४॥ अराँ२॥ऽइवाग्ने नेमिर्देवांस्त्वं परिभूरसीति । यथारान्नेमिः सर्वतः परिभूरेवं त्वं देवांस्त्सर्वतः परिभूरसीत्येवैतदाह ॥१५॥ आवह देवान्यजमानायेति । तदस्मै यज्ञाय देवानावोढवाऽआहाग्निमग्नऽआवहेति तदाग्नेयायाज्यभागायाग्निमावोढवाऽआह सोममावहेति तत्सौम्यायाज्यभागाय सोममावोढवाऽआहाग्निमावहेति तद्य एष उभयत्राच्युत आग्नेयः पुरोडाशो भवति तस्माऽअग्निमावोढवाऽआह ॥१६॥ अथ यथादेवतम् । देवाँ२॥ऽआज्यपाँ२॥ऽआवहेति तत्प्रयाजानुयाजानावोढवाऽआह प्रयाजानुयाजा वै देवा आज्यपा अग्निꣳ होत्रायावहेति तदग्निꣳ होत्रायावोढवाऽआह स्वं महिमानमावहेति तत्स्वं महिमानमावोढवाऽआह वाग्वाऽअस्य स्वो महिमा तद्वाचमावोढवाऽआहा च वह जातवेदः सुयजा च यजेति तद्या एवैतद्देवता आवोढवाऽआह ता एवैतदाहा चैना वहानुष्ठ्या च यजेति यदाह सुयजा च यजेति ॥१७॥ स वै तिष्ठन्नन्वाह । अन्वाह ह्येतदसौ ह्यनुवाक्या तदसावेवैतद्भूत्वान्वाह तस्मात्तिष्ठन्नन्वाह ॥१८॥ आसीनो याज्यां यजति । इयꣳ हि याज्या तस्मान्न कश्चन तिष्ठन्याज्यां यजतीयꣳ हि याज्या तदियमेवैतद्भूत्वा यजति तस्मादासीनो याज्यां यजति ॥१९॥ ॥ ब्राह्मणम् ॥४[४.२.]॥ ॥

इसी से सब यज्ञों को प्राण देते हैं अर्थात् पाक-यज्ञ (खाना पकाने के यज्ञ) को और दूसरे यज्ञों को। इसलिए कहा, 'प्रणीर्यज्ञानाम्' ॥१०॥

'रथीरध्वराणाम्'—'रथ बनकर देवों के यज्ञ को ले जाता है'। इसलिए कहा, 'रथीरध्वराणाम्' ॥११॥

अब कहा—'अतूर्त्तो होता तूर्णिर्हव्यवाट्'—'इसको राक्षस नहीं रोक सकते, इसलिए कहा 'अतूर्तः' अर्थात् न रुकनेवाला होता। सब पापियों को परास्त कर देता है इसलिये कहा 'तूर्णिर्हव्यवाट्', अर्थात् ऐसा हव्य ले-जानेवाला जो दूसरों को परास्त कर देता है ॥१२॥

अब कहा—'आस्पात्रं जुहूर्देवानाम्'—'देवों के खाने की थाली या मुख-पात्र'। यह अग्नि जो है वह देवों का पात्र है। इसलिए अग्नि में सब देवों के लिए हवि देते हैं, क्योंकि वह देवपात्र है, निश्चय करके जो इस बात को जानता है वह उसके पात्र को ले लेता है जिसके पात्र को वह चाहता है ॥१३॥

अब कहा—'चमसो देवपानः'–'देवो के पीने का चमचा'। इसी चमचे अर्थात् अग्नि से देव भोजन करते हैं इसलिए इसको कहा 'देवपानः' ॥१४॥

अब कहा—'अराँऽइवाग्ने नेमिर्देवांस्त्वं परिभूरसि'—'हे अग्नि, जिस प्रकार पहिये की परिधि अरों के चारों ओर लगी रहती है उसी प्रकार तू देवों के चारों ओर है' ॥१५॥

अब कहा—'आवह देवान् यजमानाय'–'देवों को यजमान के लिए बुला।' यह इसलिये कहा कि अग्नि देवों को यज्ञ के लिए बुलावे। अब कहा—'अग्निमग्नऽआवह'–'हे अग्नि! अग्नि को बुला।' यह इसलिए कहा कि अग्नि के लिए जो 'आयाज्य भाग' था उस तक अग्नि को लाया जाय। अब कहा—'सोममावह'—'सोम को ला', जिससे यह सोम के आयाज्य भाग को सोम तक लावे। अब कहा—'अग्निमावह'—'अग्नि को ला।' यह इसलिए कहा कि अग्नि के लिए जो दोनों समय (दर्श और पूर्णमास यज्ञों में) आवश्यक पुरोडाश है उस तक अग्नि को लावे ॥१६॥

इसी प्रकार और देवों के लिए भी। अब कहा—'देवांऽआज्यपाँऽआवह'—'आज्य के पीनेवाले देवों को ला।' यह इसलिए कहा कि प्रयाज और अनुयाज को ला सके (पहली आहुति को प्रयाज और पिछली को अनुयाज कहते हैं) क्योंकि प्रयाज और अनुयाज ही आज्य के पान करनेवाले देव हैं। अब कहा—'अग्निँ होत्रायावह'–'अग्नि को होत्र के लिए ला।' यह इसलिए कहा कि अग्नि को होता के लिए लावे। अब कहा—'स्वं महिमानमावह'—'अपनी महिमा को ला।' यह इसलिए कहा कि अपनी महिमा को ला सके। वाणी ही इसकी अपनी महिमा है। इसके कहने का तात्पर्य हुआ 'अपनी वाणी को ला'। अब कहा—'आ च वह जातवेदः सुयजा च यज'—'हे जातवेद अग्नि, (देवों को) ला और अच्छे प्रकार यज्ञ कर।' जिस-जिस देवता को लाने के लिए कहता है उस-उसको लाने के लिए आदेश करता है। 'सुयजा' कहने से तात्पर्य है यथाविधि यज्ञ करना ॥१७॥

वह खड़े-खड़े पढ़ता है। क्योंकि वह (द्यौलोक) है जिसके लिए पढ़ता है, इसलिए खड़े-खड़े पढ़ता है (अर्थात् दूर की चीज को खड़े होकर बुलाते हैं। द्यौ दूर है। उसके बुलाने के लिए खड़ा हो जाना चाहिए ॥१८॥

याज्य आहुति को बैठकर अर्पित करता है। यह (अर्थात् पृथिवी) ही याज्य है। इसलिए याज्य को खड़े-खड़े न पढ़े। चूंकि याज्य ही यह है इसलिए बैठकर ही याज्य को पढ़ता है। ('असौ' अर्थात् 'वह' का अर्थ है 'द्यौ'। 'इयं' अर्थात् 'यह' का अर्थ है पृथिवी) ॥१९॥

यो ह वाऽअग्निः सामिधेनीभिः समिद्धः । अतितराꣳ ह वै स इतरस्मादग्ने-
स्तपत्यनवधृष्यो हि भवत्यनवमृश्यः ॥१॥ स यथा हैवाग्निः । सामिधेनीभिः स-
मिद्धस्तपत्येवꣳ हैव ब्राह्मणः सामिधेनीर्विद्वाननुब्रुवंस्तपत्यनवधृष्यो हि भवत्य-
नवमृश्यः ॥२॥ सोऽन्वाह । प्रव इति प्राणो वै प्रवान्प्राणमेवैतया समिन्द्धेऽग्न
ऽआयाहि वीतयऽइत्यपानो वाऽएतवानपानमेवैत समिन्द्धे बृहच्छोचा यवि-
ष्ठेत्युदानो वै बृहच्छोचा उदानमेवैतया समिन्द्धे ॥३॥ स नः पृथु श्रवाय्यमिति ।
श्रोत्रं वै पृथु श्रवाय्यꣳ श्रोत्रेण हीदमुरु पृथु शृणोति श्रोत्रमेवैतया समिन्द्धे ॥४॥
ईडेन्यो नमस्य इति । वाग्वाऽईडेन्या वाग्घीदꣳ सर्वमीट्टे वाचेदꣳ सर्वमीडितं
वाचमेवैतया समिन्द्धे ॥५॥ अश्वो न देववाहन इति । मनो वै देववाहनं मनो
हीदं मनस्विनं भूयिष्ठं वनीवाह्यते मन एवैतया समिन्द्धे ॥६॥ अग्ने दीद्यतं बृ-
हदिति । चक्षुर्वै दीदयेव चक्षुरेवैतया समिन्द्धे ॥७॥ अग्निं दूतं वृणीमहऽइति ।
य एवायं मध्यमः प्राण एतमेवैतया समिन्द्धे स हैषान्तस्था प्राणानामतो ह्यन्य
ऽऊर्ध्वाः प्राणा अतोऽन्येऽवाञ्चोऽन्तस्था ह भवत्यन्तस्थामेनं मन्यन्ते यऽएवमेताम-
न्तस्थां प्राणानां वेद ॥८॥ शोचिष्केशस्तमीमहऽइति । शिश्नं वै शोचिष्केशꣳ
शिश्नꣳ हीदꣳ शिश्निनं भूयिष्ठꣳ शोचयति शिश्नमेवैतया समिन्द्धे ॥९॥ समिद्धो
ऽअग्नऽआहुतेति । य एवायमवाङ्प्राण एतमेवैतया समिन्द्धऽआ जुहोता दुवस्य-
तेति सर्वमात्मानꣳ समिन्द्धऽआ नखेभ्योऽथो लोमभ्यः ॥१०॥ स यद्येनं प्रथमा-
याꣳ सामिधेन्यामनुव्याहरेत् । तं प्रति ब्रूयात्प्राणं वाऽएतदात्मनोऽग्नावाधाः प्रा-
णेनात्मन आर्त्तिमारिष्यसीति तथा हैव स्यात् ॥११॥ यदि द्वितीयस्यामनुव्याह-
रेत् । तं प्रति ब्रूयादपानं वाऽएतदात्मनोऽग्नावाधा अपानेनात्मन आर्त्तिमारिष्य-
सीति तथा हैव स्यात् ॥१२॥ यदि तृतीयस्यामनुव्याहरेत् । तं प्रति ब्रूयादुदानं
वाऽ - - उदानेना॰ - - स्यात् ॥१३॥ यदि चतुर्थ्यामनुव्याहरेत् । तं प्रतिब्रूयाच्छ्रोत्रं

अध्याय ४—ब्राह्मण ३

जो अग्नि सामिधेनियों द्वारा जलाई जाती है वह अन्य अग्नियों से अधिक चमकती है, क्योंकि वह 'अनवधृष्य' है अर्थात् उस पर कोई आक्रमण नहीं कर सकता, और वह 'अनवमृश्य' है अर्थात् उसे कोई बुझा नहीं सकता ॥१॥

जैसे सामिधेनियों द्वारा जलाई गई अग्नि चमकती है, इसी प्रकार वह ब्राह्मण भी चमकता है जो सामिधेनियों को जानता और बोलता है, क्योंकि वह 'अनवधृष्य' और 'अनवमृश्य' हो जाता है, (अर्थात्) कोई उस पर आक्रमण नहीं कर सकता और न उसे पराजित कर सकता है ॥२॥

अब वह कहता है 'प्रव' (पहली सामिधेनी)। 'प्राण' शब्द में 'प्र' अक्षर आता है। इस सामिधेनी द्वारा वह 'प्राण' को ही प्रज्वलित करता है। अब कहा—'अग्नऽआयाहि वीतये' (दूसरी सामिधेनी)। 'अपान' ऐसा ही है। इससे वह 'अपान' को प्रज्वलित करता है। अब कहा—'बृहच्छोचा यविष्ठ्य' (तीसरी सामिधेनी)। 'उदान' ही बृहच्छोचा है। इससे वह 'उदान' को प्रज्वलित करता है ॥३॥

अब कहा—'स नः पृथु श्रवाय्यम्' (चौथी सामिधेनी)। कान ही 'पृथु श्रवाय्य' है। क्योंकि कान से ही निकट और दूर का सुनते हैं। इससे कान को ही प्रज्वलित करता है ॥४॥

अब कहा—'ईडेन्यो नमस्य' (पाँचवीं सामिधेनी)। वाणी ही 'ईडेन्य' है। वाणी ही इस सबकी स्तुति करती है। वाणी ही से इस सबकी स्तुति की जाती है। इससे वाणी को ही प्रज्वलित करता है ॥५॥

अब कहा—'अश्वो न देववाहनः' (छठवीं सामिधेनी)। मन ही देववाहन है, क्योंकि मन ही देवों तक विद्वानों को ले जाता है। इससे मन को ही प्रज्वलित करता है ॥६॥

अब कहता है—'अग्ने दीद्यतं बृहत्' (सातवीं सामिधेनी)। आँख ही चमकनेवाली है। आँख को ही इससे प्रज्वलित करता है ॥७॥

अब कहा—'अग्निं दूतं वृणीमहे' (आठवीं सामिधेनी)। यह जो मध्यम प्राण है उसी को इससे प्रज्वलित करता है। यह प्राणों में अन्तस्थ (अर्थात् भीतर से प्रेरणा करनेवाली) है। इसी से और प्राण ऊपर को चलते हैं और इसी से अन्य प्राण नीचे को चलते हैं, क्योंकि यह अन्तस्थ है। जो प्राणों की इस अन्तस्थ शक्ति को समझता है उसे अन्तस्थ मानते हैं ॥८॥

अब कहा—'शोचिष्केशस्तमीमहे' (नवीं सामिधेनी)। 'शिश्न' (उपस्थेन्द्रिय) ही शोचिष्केश है। यह इन्द्रिय ही इस इन्द्रिय वाले को जलाती है। इससे शिश्न को ही प्रज्वलित करता है ॥९॥

अब कहा—'समिद्धोऽअग्न ! आहुत' (दसवीं सामिधेनी)। यह जो नीचे का प्राण है उसी को इससे प्रज्वलित करता है। अब कहा—'आ जुहोता दुवस्यत' (ग्यारहवीं सामिधेनी)। इससे समस्त शरीर को नख से लेकर रोम-रोम तक प्रज्वलित करता है ॥१०॥

और यदि पहली सामिधेनी के पढ़ते समय कोई उसे बुरा कहे तो उसके प्रति कहना चाहिए कि तूने अपना प्राण अग्नि में डाल दिया। इस अपने प्राण से तुझे दुःख होगा और ऐसा ही होगा भी ॥११॥

और अगर दूसरी सामिधेनी के समय बुरा कहे तो उससे कहे कि तूने अपने अपान को अग्नि में डाल दिया। तुझे अपने इस अपान से पीड़ा होगी और ऐसा ही होगा भी ॥१२॥

और अगर तीसरी सामिधेनी के समय बुरा कहे तो उसको कहना चाहिए कि तूने अपने उदान को अग्नि में डाल दिया। इस अपने उदान से तुझे पीड़ा होगी और ऐसा ही होगा भी ॥१३॥

और अगर चौथी सामिधेनी के समय कोई बुरा कहे तो उसको कहना चाहिए कि तूने

वाऽएतदात्मनोऽग्नावाधाः श्रोत्रेणात्मन आर्त्तिमारिष्यसि बधिरो भविष्यसीति तथा हैव स्यात् ॥१४॥ यदि पञ्चम्यामनुव्याहरेत् । तं प्रति ब्रूयाद्वाचं वाऽएतदात्मनोऽग्नावाधा वाचात्मन आर्त्तिमारिष्यसि मूको भवि० - - स्यात् ॥१५॥ यदि षष्ठ्यामनुव्याहरेत् । तं प्रति ब्रूयान्मनो वाऽएतदात्मनोऽग्नावाधा मनसात्मन आर्त्तिमारिष्यसि मनोमुषिगृहीतो मोमुघश्चरिष्यसीति तथा हैव स्यात् ॥१६॥ यदि सप्तम्याम० - । - ०याच्चक्षुर्वाऽएतदात्मनोऽग्नावाधाश्चक्षुषात्मन आर्त्तिमारिष्यस्यन्धो भवि० - - स्यात् ॥१७॥ यद्यष्टम्याम० - । - ०यान्मध्यं वाऽएतत्प्राणमात्मनोऽग्नावाधा मध्येन प्राणेनात्मन आर्त्तिमारिष्यस्युद्ध्माय मरिष्यसीति तथा हैव स्यात् ॥१८॥ यदि नवम्याम० -। - ०याच्छिश्नं वाऽएतदात्मनोऽग्नावाधाः शिश्नेनात्मन आर्त्तिमारिष्यसि क्लीबो भवि० - - स्यात् ॥१९॥ यदि दशम्यामनु० - । - ०यादवाञ्चं वाऽएतत्प्राणमात्मनोऽग्नावाधा अवाचा प्राणेनात्मन आर्त्तिमारिष्यस्यपिनद्धो मरिष्यसीति तथा हैव स्यात् ॥२०॥ यद्येकादश्याम० - । - ०यात्सर्वं वाऽएतदात्मानमग्नावाधाः सर्वेणात्मनार्त्तिमारिष्यसि क्षिप्रेऽमुं लोकमेष्यसीति तथा हैव स्यात् ॥२१॥ स यथा हैवाग्निꣳ । सामिधनीभिः समिद्धमापद्यार्त्तिं न्येत्येवꣳ हैव ब्राह्मणꣳ सामिधनीर्विद्वाꣳसꣳ समनुब्रुवन्तमनुव्याहृत्यार्त्तिं न्येति ॥२२॥ ब्राह्मणम् ॥५ [४.३.]॥

तं वाऽएतमग्निꣳ समैन्धिषत । समिद्धे देवेभ्यो जुहवामेति तस्मिन्नेतेऽएव प्रथमेऽआहुती जुहोति मनसे चैव वाचे च मनश्च हैव वाक्च युजौ देवेभ्यो यज्ञं वहतः ॥१॥ स यदुपाꣳशु क्रियते । तन्मनो देवेभ्यो यज्ञं वहत्यथ यद्वाचा निरुक्तं क्रियते तद्वाग्देवेभ्यो यज्ञं वहत्येतद्वाऽइदं द्वयं क्रियते तदेतेऽएवैतत्संतर्पयति तृप्ते प्रीते देवेभ्यो यज्ञं वहात इति ॥२॥ स्रुवेण तमाघारयति । यं मनसऽआघारयति वृषा हि मनो वृषा हि स्रुवः ॥३॥ स्रुचा तमाघारयति । यं वाचऽआघारयति योषा हि वाग्योषा हि स्रुक् ॥४॥ तूष्णीं तमाघारयति । यं मनसऽआघा-

अपने कान को आग में डाल दिया। तुझे अपने कान से पीड़ा होगी, तू बहरा हो जायगा और ऐसा ही होगा भी ॥१४॥

और अगर पाँचवीं सामिधेनी के पढ़ते समय कोई बुरा कहे तो उसके प्रति कहना चाहिए कि तूने अपनी वाणी को आग में डाल दिया। तुझे अपनी वाणी से पीड़ा होगी, तू बहरा हो जायगा और ऐसा ही होगा भी ॥१५॥

और अगर छठी सामिधेनी के समय कोई बुरा कहे तो उसके प्रति कहना चाहिए कि तूने अपने मन को अग्नि में डाल दिया। यह मन तुझे पीड़ा देगा। तू इस प्रकार फिरेगा मानो किसी ने तेरा मन चुरा लिया है या तेरा मन विक्षिप्त हो गया है, और ऐसा ही होगा भी ॥१६॥

अगर सातवीं सामिधेनी के समय कोई बुरा कहे तो उससे कहना चाहिए कि तूने अपनी आँख आग में डाल दी। तुझे इस आँख से पीड़ा होगी, तू अन्धा हो जायगा और ऐसा ही होगा भी ॥१७॥

अगर आठवीं सामिधेनी पढ़ते समय बुरा कहे तो उससे कहना चाहिए कि तूने अपने मध्य प्राण को आग में डाल दिया। तुझे इस मध्य प्राण से पीड़ा होगी। तू इससे मर जायगा और ऐसा ही होगा भी ॥१८॥

अगर नवीं सामिधेनी को पढ़ते समय बुरा कहे तो उससे कहना चाहिए कि तूने अपने शिश्न को आग में डाल दिया। तुझे इससे पीड़ा होगी, तू नपुंसक हो जायगा और ऐसा ही होगा भी ॥१९॥

अगर दसवीं सामिधेनी को पढ़ते समय बुरा कहे तो उससे कहना चाहिए कि तूने अपने निचले प्राण को अग्नि में डाल दिया। इस अपने निचले प्राण से तुझे पीड़ा होगी, तू कब्ज से मर जायगा और ऐसा ही होगा भी ॥२०॥

अगर ग्यारहवीं सामिधेनी को पढ़ते समय बुरा कहे तो उसको कहना चाहिए कि तूने अपना शरीर आग में डाल दिया। तुझे इस अपने शरीर से पीड़ा होगी, इससे तू शीघ्र ही उस लोक को चला जाएगा और ऐसा ही होगा भी ॥११॥

जिस-जिस प्रकार सामिधेनियों से जलाई हुई अग्नि के पास जाकर जो कोई पीड़ा उठाता है, उसी प्रकार की पीड़ा उस-उस पुरुष को होती है जो सामिधेनियों को समझकर पढ़नेवाले ब्राह्मण को बुरा कहता है ॥२२॥

अध्याय ४—ब्राह्मण ४

इस अग्नि को इन्होंने प्रज्वलित किया कि इस प्रज्वलित अग्नि में देवों के लिए आहुतियाँ दें। पहले इसमें दो आहुतियाँ देते हैं—एक मन के लिए और दूसरी वाणी के लिए, क्योंकि मन और वाणी दोनों मिलकर देवों के लिए यज्ञ को ले जाते हैं ॥१॥

यह जो चुपके-चुपके (धीमी आवाज से) किया जाता है, इस यज्ञ को मन देवों को ले जाता है, और जो वाणी से स्पष्ट करके किया जाता है उस यज्ञ को वाणी देवों तक ले जाती है। इस प्रकार दुहरी क्रियाएँ होती हैं। वह इन दोनों को तृप्त करता है जिससे ये दोनों (मन और वाणी) तृप्त और प्रसन्न होकर यज्ञ को देवों तक ले जायँ ॥२॥

जो आहुति मन के लिए देता है वह स्रुवा से देता है, क्योंकि मन पुरुष है और स्रुवा भी पुरुष है। (मन नपुंसक लिंग है। समझ में नहीं आता कि मन को पुरुष क्यों कहा) ॥३॥

जो आहुति वाणी के लिए देता है वह स्रुक् से देता है, क्योंकि वाणी स्त्री है और स्रुक् भी स्त्री है ॥४॥

जो आहुति मन के लिए देता है वह चुपके से देता है और 'स्वाहा' भी नहीं बोलता। मन

रयति न स्वाहेति चनानिरुक्तꣳ हि मनोऽनिरुक्तꣳ ह्येतद्यत्तूष्णीम् ॥५॥ मन्त्रेण तमाघारयति । यं वाचऽआघारयति निरुक्ता हि वाङ्निरुक्तो हि मन्त्रः ॥६॥ आसीनस्तमाघारयति । यं मनसऽआघारयति तिष्ठंस्तं यं वाचे मनश्च ह वै वाक्च युजौ देवेभ्यो यज्ञं वहतो यतरो वै युजोर्ह्रसीयान्भवत्युपवहं वै तस्मै कुर्वन्ति वाग्वै मनसो ह्रसीयस्यपरिमिततरमिव हि मनः परिमिततरेव हि वाक्तद्वाचऽएवैतदुपवहं करोति ते सयुजौ देवेभ्यो यज्ञं वहतस्तस्मात्तिष्ठन्वाचऽआघारयति ॥७॥ देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः । तेऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद्बिभयां चक्रुस्तऽएतद्दक्षिणातः प्रत्युदश्रयन्नुच्छ्रितमिव हि वीर्यं तस्माद्दक्षिणतस्तिष्ठन्नाघारयति स यदुभयत आघारयति तस्मादिदं मनश्च वाक्च समानमेव सन्नानेव शिरो ह वै यज्ञस्यैतयोरन्यतर आघारयोर्मूलमन्यतरः ॥८॥ स्रुवेण तमाघारयति । यो मूलं यज्ञस्य स्रुचा तमाघारयति यः शिरो यज्ञस्य ॥९॥ तूष्णीं तमाघारयति । यो मूलं यज्ञस्य तूष्णीमिव हीदं मूलं नो ह्यत्र वाग्वदति ॥१०॥ मन्त्रेण तमाघारयति । यः शिरो यज्ञस्य वागधि मन्त्रः शीर्ष्णो ह्ययमधि वाग्वदति ॥११॥ आसीनस्तमाघारयति । यो मूलं यज्ञस्य निषण्णमिव हीदं मूलं तिष्ठंस्तमाघारयति यः शिरो यज्ञस्य तिष्ठतीव हीदꣳ शिरः ॥१२॥ स स्रुवेण पूर्वमाघारमाघार्याह । अग्निमग्नीत्सम्मृड्ढीति यथा धुरमध्यूहेदेवं तद्यत्पूर्वमाघारमाघारयत्यध्यूह्य हि धुरं युञ्जन्ति ॥१३॥ अथ सम्मार्ष्टि । युनक्त्येवैनमेतद्युक्तो देवेभ्यो यज्ञं वहादिति तस्मात्सम्मार्ष्टि परिक्रामꣳ सम्मार्ष्टि परिक्रामꣳ हि योग्यं युञ्जन्ति त्रिस्त्रिः सम्मार्ष्टि त्रिवृद्धि यज्ञः ॥१४॥ स सम्मार्ष्टि । अग्ने वाजजिद्वाजं त्वा सरिष्यन्तं त्वा वाजजितꣳ सम्मार्ज्मीति यज्ञं त्वा वक्ष्यन्तं यज्ञियꣳ सम्मार्ज्मीत्येवैतदाहाथोपरिष्टात्तूष्णीं त्रिस्तद्यथा युक्त्वा प्राजेत्प्रेहि वहेत्येवमेवैतत्कशयोपक्षिपति प्रेहि देवेभ्यो यज्ञं वहेति तस्मादुपरिष्टात्तूष्णीं त्रिस्तद्यदेतदन्तरेण कर्म क्रियते तस्मादिदं मनश्च वाक्च समानमेव सन्ना-

स्पष्ट नहीं है। और जो कृत्य चुपके से किया जाता है वह भी स्पष्ट नहीं होता ॥५॥

और जो आहुति वाणी के लिए देता है उसे मन्त्र पढ़कर देता है, क्योंकि वाणी स्पष्ट है और मन्त्र भी स्पष्ट है ॥६॥

जो आहुति मन के लिए देता है वह बैठकर देता है, और जो वाणी के लिए देता है वह खड़े-खड़े। मन और वाणी दोनों मिलकर ही देवों के लिए यज्ञ ले जाते हैं। बैलों के जोड़े में से अगर एक बैल छोटा होता है तो उसके कन्धे पर 'उपवह' अर्थात् गद्दी रख देते हैं (जिससे जुए के दोनों बैल बराबर हो जायँ)। वाणी तो मन से छोटी है ही। मन बड़ा अपरिमित है, वाणी बहुत परिमित है। वाणी के लिए खड़े होकर आहुति देने का तात्पर्य यह है कि वाणी को एक 'उपवह' अर्थात् गद्दी दे दी जिससे वे दोनों बराबर होकर यज्ञ को देवों तक ले जायँ ॥७॥

जब देवों ने यज्ञ रचा तो असुर राक्षसों के विघ्न से डरने लगे। इसलिए वे (वेदि के) दक्षिण की ओर सीधे खड़े हो गये। सीधे खड़े होने से बल आता है, इसलिए दक्षिण की ओर खड़े होकर आहुति देता है। और जो दोनों ओर आहुति देता है इससे वह जुड़े हुए मन और वाणी को अलग-अलग कर देता है। दोनों आहुतियों में से एक यज्ञ का सिर है, दूसरी यज्ञ का मूल है ॥८॥

उस आहुति को जो यज्ञ का मूल है स्रुवा से देता है। और जो यज्ञ का शिर है उसे स्रुक् से देता है ॥९॥

जो आहुति यज्ञ का मूल है उसे चुपके (बिना बोले) देता है, क्योंकि मूल (जड़) मौन-सी होती है क्योंकि इसको वाणी नहीं बोलती ॥१०॥

जो आहुति यज्ञ का शिर है उसको मन्त्र पढ़कर देता है, क्योंकि वाणी ही मन्त्र है और शिर से ही यह वाणी बोलती है ॥११॥

जो आहुति यज्ञ का मूल है उसे बैठकर ही देता है, क्योंकि मूल (जड़) बैठी-सी ही होती है। जो आहुति यज्ञ का शिर है उसे खड़े होकर ही देता है। शिर खड़ा-सा होता है ॥१२॥

स्रुवा से पहली आहुति को देकर कहता है—'अग्निमग्नीत् सम्मृड्ढि'—'हे अग्नीत्, आग को साफ कर दो।' जैसे धुरे को जुआ पर रखते हैं ऐसे ही वह पहली आहुति देता है, क्योंकि धुरा रखकर ही बैलों को जुए से बाँधते हैं ॥१३॥

(अग्नीध्र) आग को साफ करता है (ऊपर से राख को अलग कर देता है) मानो वह जुए को बाँधता है जिससे वह बँधकर यज्ञ को देवों के लिए ले जाय। इसीलिए साफ करता है। साफ करने में वह आग को घुमाता अर्थात् कुरेदता है, क्योंकि जब बैलों को जुए से बाँधते हैं तो घुमाकर ले जाते हैं। तीन बार कुरेदता है क्योंकि यज्ञ तिहरा है ॥१४॥

कुरेदने में वह यह मन्त्र पढ़ता है—"अग्ने वाजजिद् वाजं त्वा सरिष्यतं वाजजितꣳ सम्मार्ज्मि' (यजुर्वेद २।७)—"हे अन्न जीतनेवाली आग! तुझ अन्न को जीतनेवाली को, जो अन्न तक जा रही है मैं कुरेद रहा हूँ।" इसका तात्पर्य है कि मैं उस आग को कुरेद रहा हूँ जो यज्ञ को ले जा रही है और जो यज्ञ के योग्य है। चुपके-चुपके तीन बार कुरेदता है। जैसे बैलों को जोड़कर हाँकते हैं, 'चलो, ले चलो।' इसी प्रकार इसको भी (अर्थात् आग को भी) हाँकते हैं, 'चलो, देवों के लिए यज्ञ ले चलो।' इसलिए तीन बार चुपके-चुपके कुरेदता है। और जैसे दो आहुतियों को बीच में कुरेदने का काम करने से दोनों आहुतियाँ एक-दूसरे से अलग हो जाती हैं, इसी तरह से मन और वाणी मिले होकर भी एक-दूसरे से अलग हो जाते हैं ॥१५॥

नेव ॥१५॥ ब्राह्मणम् ॥ ६ [४.४.] ॥ ॥ तृतीयः प्रपाठकः ॥ ॥ कण्डिकासंख्या १२० ॥ ॥

स स्रुचोत्तरमाघारमाघारयिष्यन् । पूर्वेण स्रुचावञ्जलिं निदधाति नमो देवेभ्यः स्वधा पितृभ्य इति तद्देवेभ्यश्चैवैतत्पितृभ्यश्चार्त्विज्यं करिष्यन्निह्नुते सुयमे मे भूयास्तमिति स्रुचावादत्ते सुभरे मे भूयास्तं भर्तुं वाꣳ शकेयमित्येवैतदाहास्कन्नमद्य देवेभ्य आज्यꣳ सम्भ्रियासमित्यविक्षुब्धमद्य देवेभ्यो यज्ञं तनवाऽइत्येवैतदाह ॥१॥ अङ्घ्रिणा विष्णो मा त्वावक्रमिषमिति । यज्ञो वै विष्णुस्तस्माऽएवैतन्निह्नुते मा त्वावक्रमिषमिति वसुमतीमग्ने ते छायामुपस्थेषमिति साध्वीमग्ने ते छायामुपस्थेषमित्येवैतदाह ॥२॥ विष्णो स्थानमसीति । यज्ञो वै विष्णुस्तस्यैव ह्येतदन्तिके तिष्ठति तस्मादाह विष्णो स्थानमसीतीत इन्द्रो वीर्यमकृणोदित्यतो हीन्द्रस्तिष्ठन्दक्षिणतो नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यपाहंस्तस्मादाहेत इन्द्रो वीर्यमकृणोदित्यूर्ध्वोऽध्वर आस्थादित्यध्वरो वै यज्ञ ऊर्ध्वो यज्ञ आस्थादित्येवैतदाह ॥३॥ अग्ने वेर्होत्रं वेर्दूत्यमिति । उभयं वाऽएतदग्निर्देवानाꣳ होता च दूतश्च तदुभयं विद्धि यद्देवानामसीत्येवैतदाहावतां त्वां द्यावापृथिवीऽअव त्वं द्यावापृथिवीऽइति नात्र तिरोहितमिवास्ति स्विष्टकृद्देवेभ्य इन्द्र आज्येन हविषाभूत्स्वाहेतीन्द्रो वै यज्ञस्य देवता तस्मादाहेन्द्र आज्येनेति वाचे वाऽएतमाघारमाघारयतीन्द्रो वागित्यु वाऽआहुस्तस्माद्वेवाहेन्द्र आज्येनेति ॥४॥ अथासꣳस्पर्शयन्स्रुचौ पर्येत्य । ध्रुवया समनक्ति शिरो वै यज्ञस्योत्तर आघार आत्मा वै ध्रुवा तदात्मन्येवैतच्छिरः प्रतिदधाति शिरो वै यज्ञस्योत्तर आघारः श्रीर्वै शिरः श्रीर्हि वै शिरस्तस्माद्योऽर्धस्य श्रेष्ठो भवत्यसावमुष्यार्धस्य शिर इत्याहुः ॥५॥ यजमान एव ध्रुवामनु । योऽस्माऽअरातीयति स उपभृतमनु स यद्धोपभृता समञ्ज्याद्यो यजमानायारातीयति तस्मिꣳछ्रियं दध्यात्तद्यजमानऽएवैतच्छ्रियं दधाति तस्माद्ध्रुवया समनक्ति ॥६॥ स समनक्ति । सं ज्योतिषा

अध्याय ४—ब्राह्मण ५

वह (अध्वर्यु) स्रुच् से दूसरी आघार-आहुति देते समय पहले अपने हाथों (अञ्जलि) को दोनों स्रुचों (अर्थात् जुहू और उपभृत्) के सामने जोड़ता है, और यह मन्त्रांश (यजु० २।७) पढ़ता है—"नमो देवेभ्यः स्वधा पितृभ्यः।"—"देवों के लिए नमस्कार, पितरों के लिए स्वधा।" इस प्रकार वह ऋत्विज का कर्म करने से पहले देव और पितरों को प्रसन्न करता है। "सुयमे मे भूयास्तम्।" (यजु० २।७)—"आप दोनों मेरे लिए सुयम अर्थात् नियम में रहनेवाले हों।" ऐसा कहकर दोनों स्रुचों को लेता है। इससे अभिप्राय यह है कि मेरे ये दोनों स्रुच् अच्छी तरह भर जायँ या मैं इनको अच्छी तरह भर सकूँ। अब वह कहता है— "अस्कन्नमद्य देवेभ्य आज्यँ सम्भ्रियासम्" (यजु० २।८)—"मैं आज देवों के लिए न फैलनेवाला घी अर्पण करूँ।" इसके कहने का तात्पर्य यह है कि मैं आज देवों के लिए क्षोभरहित अर्थात् पूर्ण यज्ञ करूँ। (अर्थात् यज्ञ में कोई विघ्न या त्रुटि न रहे) ॥१॥

अब वह कहता है—"अङ्घ्रिणा विष्णो मा त्वावक्रामिषम्।" (यजु० २।८)—"हे विष्णु, मैं पैर से आपके साथ अत्याचार न करूँ" अर्थात् आज्ञा भङ्ग न करूँ। यज्ञ ही विष्णु है। इसलिए तात्पर्य यह हुआ कि मैं पैर से यज्ञ के प्रति कोई अनाचार न करूँ। अब कहता है—"वसुमतीमग्ने ते च्छायामुपस्थेषम्" (यजु० २।८)—"हे अग्नि, मैं तेरी वसुमती छाया (शरण) में आ जाऊँ।" इससे तात्पर्य है कि 'हे अग्नि, मैं तेरी साधु अर्थात् अच्छी छाया में आ जाऊँ' ॥२॥

अब वह कहता है—"विष्णोः स्थानमसि" (यजु० २।८)—"तू विष्णु का स्थान है।" यज्ञ ही विष्णु है। वह उसी के निकट खड़ा होता है, इसीलिए कहता है कि 'तू विष्णु का स्थान है'। अब कहता है—"इत इन्द्रो वीर्यमकृणोत्" (यजु० २।८)—"यहाँ इन्द्र ने पराक्रम किया।" इन्द्र ने यहीं खड़े होकर दक्षिण से विघ्नकारी राक्षसों को दूर किया था। इसीलिए कहता है 'यहाँ इन्द्र ने पराक्रम किया'। अब कहता है—"ऊर्ध्वोऽध्वर आस्थात्" (यजु० २।८)—"अध्वर ऊँचा उठा।" अध्वर नाम है यज्ञ का, इसलिए इसका तात्पर्य हुआ कि यज्ञ ऊँचा उठा, अर्थात् यज्ञ भली प्रकार किया गया ॥३॥

अब कहता है—"अग्ने वेर्होत्रं वेर्दूत्यम्" (यजु० २।९)—"हे अग्नि, होता का और दूत का काम जानो" (वेः का अर्थ है समझो)। अग्नि देवों का होता भी है और दूत भी। इसके कहने का तात्पर्य यह है कि 'हे अग्नि, तुम होता का और दूत का दोनों काम समझ लो।' अब कहता है—"अवतां त्वां द्यावापृथिवी" "अव त्वं द्यावापृथिवी" (यजु० २।९)—"द्यौ लोक और पृथिवी लोक तेरी रक्षा करें।" तू द्यौ लोक और पृथिवी लोक की रक्षा कर, यह स्पष्ट है। अब पढ़ता है—"स्विष्टकृद् देवेभ्य इन्द्र आज्येन हविषाभूत् स्वाहा" (यजु० २।९)—"हे इन्द्र, घी हवि से देवों के लिए स्विष्टकृत् आहुति हो, स्वाहा।" इन्द्र यज्ञ-देवता है, इसीलिए कहा 'इन्द्र आज्येन' इत्यादि। यह आहुति वाणी के लिए देता है। इन्द्र नाम है वाणी का। यह कुछ लोगों की सम्मति है। इसीलिए कहा 'इन्द्र आज्येन' इति ॥४॥

अब लौटकर दोनों स्रुचों को बिना छुआये हुए ध्रुवा (के घी) से जुहू (का घी) मिलाता है। दूसरी आघार-आहुति यज्ञ का शिर है, और ध्रुवा शरीर है। इस कृत्य से यह तात्पर्य हुआ कि शरीर के ऊपर शिर रख देता है। दूसरी आघार-आहुति यज्ञ का शिर है। शिर कहते हैं 'श्री' को। श्री ही शिर होती है। इसीलिए जो कोई अर्द्ध या परिवार का श्रेष्ठ होता है उसको कहते हैं कि यह अर्द्ध या परिवार का शिर है ॥५॥

यजमान ध्रुवा के पीछे खड़ा होता है, और जो उसके लिए शत्रुता करे वह उपभृत् के पीछे। इसलिए अगर जुहू के घी को उपभृत् के घी से मिला देता तो उसको श्री देता जो यजमान का शत्रु है। परन्तु उसे यजमान को श्री देनी है, इसलिए वह ध्रुवा के घी से मिलाता है ॥६॥

वह मिलाते समय यह मन्त्रांश (यजु० २।९) पढ़ता है—"सं ज्योतिषा ज्योतिः"—"ज्योति

ज्योतिरिति ज्योतिर्वाऽइतरस्यामाज्यं भवति ज्योतिरितरस्यां ते ह्येतदुभे ज्योतिषी संगच्छेते तस्मादेवᳬ समनक्ति ॥७॥ अथातो मनसश्चैव वाचश्च । अहम्भद्रऽउदितं मनश्च ह वै वाक्चाहम्भद्रऽऊदाते ॥८॥ तद्ध मन उवाच । अहमेव त्वच्छ्रेयोऽस्मि न वै मया त्वं किं चनानभिगतं वदसि सा यन्मम त्वं कृतानुकरानुवर्त्मास्यहमेव त्वच्छ्रेयोऽस्मीति ॥९॥ अथ ह वागुवाच । अहमेव त्वच्छ्रेयस्यस्मि यद्वै त्वं वेत्थाहं तद्विज्ञपयाम्यहᳬ सञ्ज्ञपयामीति ॥१०॥ ते प्रजापतिं प्रतिप्रश्नमेयतुः । स प्रजापतिर्मनसऽएवानूवाच मन एव त्वच्छ्रेयो मनसो वै त्वं कृतानुकरानुवर्त्मासि श्रेयसो वै पापीयान्कृतानुकरोऽनुवर्त्मा भवतीति ॥११॥ सा ह वाक्परोक्ता विसिष्मिये । तस्यै गर्भः पपात सा ह वाक्प्रजापतिमुवाचाहव्यवाडेवाहं तुभ्यं भूयासं यां मा परावोच इति तस्माद्यत्किं च प्राजापत्यं यज्ञे क्रियतऽउपांᳬश्वेव तत्क्रियतेऽहव्यवाड्धि वाक्प्रजापतयऽआसीत् ॥१२॥ तद्धैतद्देवाः । रेतश्चर्मन्वा यस्मिन्वा बभ्रुस्तद्ध स्म पृच्छन्त्यत्रैव त्याऽइदिति ततोऽत्रिः सम्बभूव तस्मादप्यात्रेय्या योषितैनस्व्येतस्यै ह्वि योषायै वाचो देवताया एते सम्भूताः ॥१३॥ ब्राह्मणम् ॥१[४.५.]॥ अध्यायः ॥४॥ ॥

स वै प्रवरायाश्रावयति । तद्यत्प्रवरायाश्रावयति यज्ञो वाऽआश्रावणं यज्ञमभिव्याहृत्याथ होतारं प्रवृणाऽइति तस्मात्प्रवरायाश्रावयति ॥१॥ स इध्मसंनहनान्येवाभिपद्याश्रावयति । स यद्धानारभ्य यज्ञमध्वर्युराश्रावयेद्वेपनो वा ह स्यादन्यां वार्त्तिमार्छेत् ॥२॥ तद्धैके । वेदे स्तीर्णायै बर्हिरभिपद्याश्रावयन्तीध्मस्य वा शकलमपच्छिद्याभिपद्याश्रावयन्तीदं वै किंचिद्यज्ञस्येदं यज्ञमभिपद्याश्रावयाम इति वदन्तस्तदु तथा न कुर्यादेतद्वै किंचिद्यज्ञस्य येरिध्मः संनद्धो भवत्यग्निᳬ सम्मृजन्ति तद्वेव खलु यज्ञमभिपद्याश्रावयति तस्मादिध्मसंनहनान्येवाभिपद्याश्रावयेत् ॥३॥ स आश्राव्य । य एव देवानाᳬ होता तमेवाग्रे प्रवृणीतेऽग्निमेव तदग्नये चैवैतद्देवेभ्यश्च

से ज्योति (मिल गई)।" एक में जो आज्य है वह ज्योति है। दूसरी में जो आज्य है वह भी ज्योति है। इस प्रकार दोनों ज्योतियाँ मिल गईं। इसलिए इस प्रकार मिलाता है ॥७॥

एक बार मन और वाणी में झगड़ा हुआ बड़ाई के लिए। मन और वाणी दोनों कहने लगे कि 'मैं भद्र हूँ'-'मैं भद्र हूँ' ॥८॥

अब मन ने कहा, 'मैं तुझसे अच्छा हूँ। मेरे बिना बिचारे तू कुछ नहीं कहती। तू मेरे किये का ही अनुकरण करती है। तू मेरा अनुसरण करती है। इसलिए तुझसे मैं बड़ा हूँ' ॥९॥

अब वाणी बोली, 'मैं तुझसे अवश्य बड़ी हूँ, क्योंकि जो तू जानता है उसे मैं प्रकाशित करती हूँ। मैं उसे फैलाती हूँ' ॥१०॥

वे प्रजापति के पास निश्चय के लिए गये। उस प्रजापति ने मन-अनुकूल निश्चय किया कि मन ही तुझसे श्रेष्ठ है, क्योंकि तू मन का ही अनुकरण करती और उसी के मार्ग पर चलती है। निश्चय करके वह छोटा है जो बड़ों का अनुसरण करता और उनके मार्ग पर चलता है ॥११॥

वह वाणी अपने विरुद्ध निश्चय को सुनकर खिन्न हो गई और उसका गर्भपात हो गया। उस वाणी ने प्रजापति से कहा, 'मैं कभी तेरे लिए हवि न ले जाऊँगी क्योंकि तूने मेरा विरोध किया।' इसलिए यज्ञ में जो कुछ प्रजापति के लिए किया जाता है वह मौन होकर पढ़ा जाता है, क्योंकि वाणी प्रजापति के लिए हवि का वाहक नहीं होती ॥१२॥

तब देव उस रेत (वीर्य) को चमड़े में या किसी अन्य चीज में ले आये। उन्होंने पूछा, 'अत्र ?' (अरे क्या यह यहाँ है ?) इस प्रकार अत्रि उत्पन्न हुआ (अत्र से अत्रि)। इसीलिए आत्रेयी स्त्री से समागम करने से दोष लगता है, क्योंकि देवी वाणी रूपी स्त्री से ये सब उत्पन्न हुए हैं। (आत्रेयी वह स्त्री है जिसका अभी गर्भपात हो चुका हो) ॥१३॥

अध्याय ५—ब्राह्मण १

अब वह (अध्वर्यु) प्रवर के लिए बुलाता है (होता के लिए जो वरण किया जाता है उसे प्रवर कहते हैं)। प्रवर के लिए बुलाने का कारण है कि बुलाना (आश्रावण) ही यज्ञ है। वह प्रवर के लिए इसलिए बुलाता है कि 'यज्ञ को कहकर अब मैं होता का वरण करूँ' ॥१॥

वह समिधाओं के बन्धन को (वह रस्सी जिससे लकड़ी बँधी रहती है) लेकर ही बुलाता है। क्योंकि यदि अध्वर्यु बिना यज्ञ को आरम्भ किये बुलाये तो या तो काँप जाय या उस पर और कोई विपत्ति आ पड़े ॥२॥

कुछ लोग वेदि में से बर्हि (कुश) लेकर बुलाते हैं या समिधा के टुकड़े को काटकर बुलाते हैं और समझते हैं कि 'यह यज्ञ की चीज है, इसलिए इस यज्ञ को लेकर बुलायेंगे।' परन्तु उसको ऐसा नहीं करना चाहिए, क्योंकि जिन चीजों से समिधायें बाँधी जाती हैं वे भी तो यज्ञ का अंश हैं, या वे चीजें जिनसे अग्नि की राख हटाई जाती है। इसलिए वह यज्ञ को लेकर ही बुलाता है। इसलिए समिधाओं के बन्धन को लेकर ही बुलावे ॥३॥

बुलाकर पहले उसका वरण करता है जो देवों का होता है अर्थात् अग्नि। इस प्रकार वह

निह्नुते यदाहाग्नेऽग्निं प्रवृणीति तदग्नये निह्नुतेऽथ यो देवानाᳬ होता तमग्ने प्र-
वृणीति तदु देवेभ्यो निह्नुते ॥४॥ स आह । अग्निर्देवो दैव्यो होतेत्यग्निर्हि
देवानाᳬ होता तस्मादाहाग्निर्देवो दैव्यो होतेति तदग्नये चैव देवेभ्यश्च निह्नुते
यदाहाग्नेऽग्निमाह तदग्नये निह्नुतेऽथ यो देवानाᳬ होता तमग्नऽआह तदु देवे-
भ्यो निह्नुते ॥५॥ देवान्यक्षद्विद्वांश्चिकित्वानिति । एष वै देवाननुविद्वान्यदग्निः स
एनाननुविद्वाननुष्ठ्या यक्षदित्येवैतदाह ॥६॥ मनुष्वद्भरतवदिति । मनुर्ह वाऽअग्रे
यज्ञेनेजे तदनुकृत्येमाः प्रजा यजन्ते तस्मादाह मनुष्वदिति मनोर्यज्ञऽइत्यु वाऽआ-
हुस्तस्माद्वेवाह मनुष्वदिति ॥७॥ भरतवदिति । एष हि देवेभ्यो हव्यं भरति त-
स्माद्भरतोऽग्निरित्याहुरेष उ वाऽइमाः प्रजाः प्राणो भूत्वा बिभर्ति तस्माद्वेवाह
भरतवदिति ॥८॥ अथार्षेयं प्रवृणीते । ऋषिभ्यश्चैवैनमेतद्देवेभ्यश्च निवेदयत्ययं
महावीर्यो यो यज्ञं प्रापदिति तस्मादार्षेयं प्रवृणीते ॥९॥ परस्तादर्वाक्प्रवृणीते ।
परस्ताद्ध्यर्वाच्यः प्रजाः प्रजायन्ते ज्यायसस्पतयऽउ चैवैतन्निह्नुतऽइदᳬ हि पितैवाग्रे
ऽथ पुत्रोऽथ पौत्रस्तस्मात्परस्तादर्वाक्प्रवृणीते ॥१०॥ स आर्षेयमुक्त्वाह । ब्रह्म-
ण्वदिति ब्रह्म ह्यग्निस्तस्मादाह ब्रह्मण्वदित्या च वक्षदिति तद्या एवैतद्देवता
आवोढवाऽआह ता एवैतदाहा च वक्षदिति ॥११॥ ब्राह्मणा अस्य यज्ञस्य प्रा-
वितार इति । एते वै ब्राह्मणा यज्ञस्य प्रावितारो येऽनूचाना एते ह्येनं तन्वत
ऽएतऽएनं जनयन्ति तदु तेभ्यो निह्नुते तस्मादाह ब्राह्मणा अस्य यज्ञस्य प्रावितार
इति ॥१२॥ असौ मानुष इति । तदिमं मानुषᳬ होतारं प्रवृणीतेऽहोता ह्येष
पुरायितर्हि होता ॥१३॥ स प्रवृतो होता जपति । देवता उपधावति यथानुष्ठ्या
देवेभ्यो वषट्कुर्याद्यथानुष्ठ्या देवेभ्यो हव्यं वहेद्यथा न ह्वलेदेवं देवता उपधा-
वति ॥१४॥ तत्र जपति । एतत्त्वा देव सवितर्वृणतऽइति तत्सवितारं प्रसवायो-
पधावति स हि देवानां प्रसविताग्निᳬ होत्रायेति तदग्नये चैवैतद्देवेभ्यश्च निह्नुते

अग्नि और देव दोनों को प्रसन्न करता है। यह जो पहले अग्नि का वरण किया उससे अग्नि को प्रसन्न किया, और जो देवों के होता को पहले वरण किया इससे देवों को प्रसन्न किया ।।४।।

अब कहता है—'अग्नि देव, देवों का होता'। अग्नि ही देवों का होता है, इसलिए कहा 'अग्नि देव, देवों का होता'। इससे अग्नि और देव दोनों को प्रसन्न करता है। यह जो पहले अग्नि का वरण किया उससे अग्नि प्रसन्न हुई, और देवों के होता का पहले वरण किया उससे देव प्रसन्न हुए ।।५।।

अब कहता है—"देवान् यक्षद् विद्वांश्चिकित्वान्"—"वह बुद्धिमान्, देवों को जानता हुआ यज्ञ करे।" यह जो अग्नि है वह देवों को भली-भाँति जानता है। इसलिए ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कि वह जो देवों को जानता है विधिवत् यज्ञ करे ।।६।।

अब वह कहता है—"मनुष्वद् भरतवद्"—"मनु के समान, भरत के समान।" मनु ने ही पहले यज्ञ किया था और यह प्रजा उसी का अनुकरण करके यज्ञ करती है। इसलिए कहा, 'मनु का यज्ञ', इसलिए कहा, 'मनु के समान' ।।७।।

'भरतवद्' क्यों कहा ? यही देवों के लिए हवि ढोता है, इसलिए अग्नि भरत है। ऐसा भी कहते हैं कि वह इन प्रजाओं को प्राण हांकर पालता है। इसलिए भी कहा, 'भरत के समान' ।।८।।

अब वह अग्नि को आर्ष होता के रूप में वरण करता है। इस प्रकार वह इस (अग्नि) को ऋषि और देव दोनों के प्रति निवेदन करता है। इसको आर्ष होता के रूप में इसलिए वरण करता है कि जो यज्ञ करता है वह महा-वीर्यवान् होता है ।।९।।

पहले से पीछे-पीछे का वरण करता है (अर्थात् पहले पूर्वज, फिर अनुज), क्योंकि प्रजा पीछे-पीछे उत्पन्न होती है। इस प्रकार वह बड़ों को प्रसन्न करता है। क्योंकि यहाँ पहले पिता होता है, फिर पुत्र, फिर पौत्र, इसीलिए वह सबसे पहले पूर्वज से आरम्भ करता है, फिर क्रमशः निचली श्रेणी को ।।१०।।

आर्ष होता का वरण करने के पश्चात् कहता है—"ब्रह्मण्वद्"—"ब्रह्म के समान"। ब्रह्म ही अग्नि है इसलिए कहा 'ब्रह्म के समान'। अब कहता है—"आ च वक्षत्"—"यहाँ लावे।" जिन-जिन देवताओं को बुलाना चाहता है उन-उनके लिए कहता है—'यहाँ लावे' (अर्थात् अग्नि अमुक-अमुक देवताओं को लावे) ।।११।।

ब्राह्मण इस यज्ञ के संरक्षक हैं। वही ब्राह्मण यज्ञ के संरक्षक हैं जो वेद के विद्वान् हैं, क्योंकि यही यज्ञ को फैलाते हैं, यही उसको उत्पन्न करते हैं। इसीलिए कहता है कि ब्राह्मण इस यज्ञ के संरक्षक हैं ।।१२।।

'यह मनुष्य है।' अब वह इस मनुष्य को होता के रूप में वरण करता है। पहले वह 'अहोता' था (अर्थात् होता नहीं था), अब 'होता' हो गया ।।१३।।

वह वरण किया हुआ होता जप करता है। देवताओं के समीप दौड़ता है। देवताओं के पास दौड़ने का प्रयोजन यह है कि विधिपूर्वक देवों के लिए वषट्कार करे, विधिपूर्वक उनके लिए हवि ले जावे, अवहेलना न करे। इस प्रकार वह देवताओं के पास दौड़ जाता है ।।१४।।

वह यह जप करता है—"एतत् त्वा देव सवितर्वृणते"—"हे देव सविता, तुझको वरण करते हैं।" इस प्रकार वह सविता देवता के पास प्रसव के लिए अर्थात् प्रेरणा के लिए दौड़ता है, क्योंकि सविता देवताओं का प्रेरक है। अब कहता है—'अग्नि होत्राय' (अग्नि को होत्र के

यदह्वयेऽग्निमाह तदग्नये निह्नुतेऽथ यो देवानाꣳ होता तमग्रऽआह तद्व देवेभ्यो निह्नुते ॥१५॥ सह पित्रा वैश्वानरेणेति । संवत्सरो वै पिता वैश्वानरः प्रजापतिस्तत्संवत्सरायैवैतत्प्रजापतये निह्नुतेऽग्ने पूषन्बृहस्पते प्र च वद प्र च यजेत्यनुवक्ष्यन्वाऽएतद्यक्ष्यन्भवति तदेताभ्य एवैतद्देवताभ्यो निह्नुते यूयमनुब्रूत यूयं यजतेति ॥१६॥ ॥ शतम् ॥४००॥ ॥ वसूनाꣳ रातौ स्याम । रुद्राणामुर्व्यायाꣳ स्वादित्या अदितये स्यामानेहस इत्येते वै त्रया देवा यद्वसवो रुद्रा आदित्या एतेषामभिगुप्तौ स्यामित्येवैतदाह ॥१७॥ जुष्टामद्य देवेभ्यो वाचमुद्यासमिति । जुष्टमद्य देवेभ्योऽनूच्यासमित्येवैतदाह तद्धि समृद्धं यो जुष्टं देवेभ्योऽनुब्रवत् ॥१८॥ जुष्टां ब्रह्मभ्य इति । जुष्टमद्य ब्राह्मणेभ्योऽनूच्यासमित्येवैतदाह तद्धि समृद्धं यो जुष्टं ब्राह्मणेभ्योऽनुब्रवत् ॥१९॥ जुष्टां नराशꣳसायेति । प्रजा वै नरस्तत्सर्वाभ्यः प्रजाभ्य आह तद्धि समृद्धं यश्च वेद यश्च न साधन्ववोचत्साधन्ववोचदित्येव विसृज्यन्ते यदस्य होतृवर्ये जिह्मं चक्षुः परापतत् अग्निष्टत्पुनराभ्रियाज्जातवेदा विचर्षणिरिति यथा यानग्रेऽग्नीन्होत्राय प्रावृणत ते प्राधन्वन्नेवं यन्मेऽत्र प्रवरेणामायि तन्मे पुनराप्याययेत्येवैतदाह तथो हास्यैतत्पुनराप्यायते ॥२०॥ अथाध्वर्युं चाग्नीधं च सम्मृशति । मनो वाऽअध्वर्युर्वाग्घोता तन्मनश्चैवैतद्वाचं च संदधाति ॥२१॥ तत्र जपति । षण्मोर्वीरꣳहसस्पान्त्वग्निश्च पृथिवी चापश्च वाजश्चाहश्च रात्रिश्चेत्येता मा देवता आर्त्तेर्गोपायन्त्वित्येवैतदाह तस्यो हि न ह्वलास्ति यमेता देवता आर्त्तेर्गोपायेयुः ॥२२॥ अथ होतृषदनमुपावर्तते । स होतृषदनादेकं तृणं निरस्यति निरस्तः परावसुरिति पुरावसुर्ह वै नामासुराणाꣳ होता स तमेवैतद्धोतृषदनान्निरस्यति ॥२३॥ अथ होतृषदनऽउपविशति । इदमहमर्वावसोः सदने सीदामीत्यर्वावसुर्वै नाम देवानाꣳ होता तस्यैवैतत्सदने सीदति ॥२४॥ तत्र जपति । विश्वकर्मंस्तनूपा असि मा मो दोषिष्टं मा मा हिꣳसिष्टमेष वां लोक इत्यु-

लिए)। इस प्रकार वह देवों को और अग्नि को दोनों को प्रसन्न करता है। जब पहले 'अग्नि' कहा तो अग्नि को प्रसन्न किया, और जब 'देवताओं का होता' कहा तो देवताओं को प्रसन्न किया ॥१५॥

अब कहता है—"सह पित्रा वैश्वानरेण"—"वैश्वानर पिता के साथ।" संवत्सर ही पिता वैश्वानर तथा प्रजापति है। इस प्रकार वह संवत्सर अर्थात् प्रजापति को प्रसन्न करता है। अब कहता है—"अग्ने पूषन् बृहस्पते प्र च वद प्र च यज"—"हे अग्नि ! हे पूषा ! हे बृहस्पति ! बोल और यज्ञ कर।" इस प्रकार बोलने से ही यज्ञ होता है। इसलिए इन देवताओं को प्रसन्न करता है कि 'तुम बोलो, तुम यज्ञ करो' ॥१६॥ यहाँ ४०० पूरे हुए ॥

'वसुओं की कृपा के हम पात्र हों। रुद्रों का वैभव हम में आवे। अदिति अर्थात् पूर्णता के लिए और स्वतन्त्रता के लिए आदित्यों के प्रिय होवें।' ये तीन देवता हैं वसु, रुद्र और आदित्य। इस कथा का प्रयोजन यह है कि 'हम इन देवताओं के संरक्षण में रहें' ॥१७॥

अब कहता है—"जुष्टामद्य देवेभ्यो वाचमुद्यासम्"—"मैं आज देवताओं की प्रिय वाणी बोलूं।" इसका तात्पर्य यह है कि जो वाणी देवताओं को पसन्द हो वह बोलूं। देवताओं के लिए प्रिय जो वाणी है उसका बोलना समृद्धि का हेतु है ॥१८॥

अब कहता है—"जुष्टां ब्रह्मभ्यः" अर्थात् "ऐसी वाणी बोलूं जो ब्राह्मणों को प्रिय है।" इसका तात्पर्य यह है कि देवताओं के प्रिय जो वाणी हो उसको बोलूं, क्योंकि ब्राह्मणों के प्रति जो वाणी प्रसन्न हो उसका बोलना समृद्धि का कारण होता है ॥१९॥

अब कहता है—"जुष्टां नराशँसाय" अर्थात् "ऐसी वाणी बोलूं जो नराशंस के लिए प्रिय हो।" प्रजा ही नर है, इसलिए वह यह समस्त प्रजा के लिए कहता है। इससे समृद्धि होती है। चाहे समझे चाहे न समझे, यही कहा जाता है, 'खूब कहा ! खूब कहा !' जो कुछ होता की टेढ़ी निगाह से छुट जाये उसको अग्नि वापस लावे, क्योंकि अग्नि जातवेद (प्राणियों को जानने-वाला) और विचर्षण (बुद्धिमान्) है। "ये जो तीन अग्नियाँ पहले होता के लिए चुनी गई थीं वे चली गईं। यह चौथी अग्नि जो चुनी गई है वह उस सब की पूर्ति करे जो छूट गया हो।" ऐसा कहता है और इससे त्रुटि की पूर्ति हो जाती है ॥२०॥

अब वह अध्वर्यु और अग्नीध्र को छूता है। अध्वर्यु मन है और होता वाणी है। इस प्रकार वह मन और वाणी में मेल कराता है ॥२१॥

अब जाप कराता है—'छः उर्वियाँ पाप से रक्षा करें'—अग्नि, पृथिवी, जल, वायु, दिन और रात्रि। ऐसा कहने से तात्पर्य यह है कि ये देवता आर्त अर्थात् रोग से मेरी रक्षा करें। उस पुरुष की कभी अहवेलना नहीं होती जिसकी देवता रोग से रक्षा करते हैं ॥२२॥

अब होता के आसन तक जाता है और होता के आसन में से एक तृण निकालकर फेंकता है और कहता है—"निरस्तः परावसुः"—"परावसु भगा दिया गया।" परावसु (पराया माल खाने-वाला) असुरों का होता था। वह उसको होता के आसन से निकालकर फेंक देता है ॥२३॥

अब वह 'होता' के आसन पर बैठता है यह कहकर—""इदमहमर्वावसोः सदने सीदामि"—"मैं अर्वावसु के आसन पर बैठता हूँ।" अर्वावसु (धन न चाहनेवाला) देवताओं का होता इसलिए वह उसी के आसन पर बैठता है ॥२४॥

अब वह जपता है—"विश्वकर्म्मंस्तनूपा असि मा मो दोषिष्टं मा मा हिँसिष्टम्। एष वां लोकः"—"हे विश्वकर्मा, तू शरीर की रक्षा करनेवाला है। हे दोनों अग्नियो, मुझे न जलाओ ! मुझे न सताओ ! यह तुम दोनों का लोक है।" ऐसा कहकर वह कुछ उत्तर की ओर बढ़ जाता है।

दङ्ङ्जत्यन्तरा वाऽएतदाहवनीयं च गार्हपत्यं चास्ते तदु ताभ्यां निह्नुते मा मो दोषिष्टं मा मा हिꣳसिष्टमिति तथा हैनमेतौ न हिꣳस्तः ॥२५॥ अथाग्निमीक्षमाणो जपति । विश्वे देवाः शास्तन मा यथेह होता वृतो मनवै यन्निषद्य । प्र मे ब्रूत भागधेयं यथा वो येन पथा हव्यमा वो वहानीति यथा येभ्यः पक्षꣳ स्यात्तान्ब्रूयादनु मा शास्त यथा व आहरिष्यामि यथा वः परिवेक्ष्यामीत्येवमेवैतद्देवेषु प्रशासनमिच्छतेऽनु मा शास्त यथा वोऽनुष्ठ्या वषट्कुर्यामनुष्ठ्या हव्यं वहेयमिति तस्मादेवं जपति ॥२६॥ ब्राह्मणम् ॥२[५.१.]॥ ॥

अग्निर्होता वेत्वग्नेर्होत्रमिति । अग्निरिदꣳ होता वेत्वित्येवैतदाहाग्नेर्होत्रमिति तस्यो हि होत्रं वेत्तु प्रावित्रमिति यज्ञो वै प्रावित्रं वेत्तु यज्ञमित्येवैतदाह साधु ते यजमान देवतेति साधु ते यजमान देवता यस्य तेऽग्निर्होतेत्येवैतदाह घृतवतीमध्वर्यो स्रुचमास्यस्वेति तदध्वर्यु प्रसौति स यदेकामिवाह ॥१॥ यजमान एव जुहूमनु । योऽस्माऽअरातीयति स उपभृतमनु स यद्धेऽइव-ब्रूयाद्यजमानाय द्विषन्तं भ्रातृव्यं प्रत्युद्यामिनं कुर्यादत्तेव जुहूमन्वाद्य उपभृतमनु स यद्धेऽइव ब्रूयादत्तऽआद्यं प्रत्युद्यामिनं कुर्यात्तस्मादेकामिवैवाह ॥२॥ देवयुवं विश्ववारामिति । उपस्तौत्येवैनामेतन्महयत्येव यदाह देवयुवं विश्ववारामितीडामहै देवाꣳ॥ऽईडेन्यान्नमस्याम नमस्यान्यजाम यज्ञियानितीडामहै तान्देवान्यऽईडेन्या नमस्याम तान्ये नमस्या यजाम यज्ञियानिति मनुष्या वाऽईडेन्याः पितरो नमस्या देवा यज्ञियाः ॥३॥ या वै प्रजा यज्ञेऽनन्वाभक्ताः । पराभूता वै ता एवमेवैतद्या इमाः प्रजा अपराभूतास्ता यज्ञऽआभजति मनुष्याननु पशवो देवाननु वयाꣳस्योषधयो वनस्पतयो यदिदं किञ्चेवमु तत्सर्वं यज्ञऽआभक्तम् ॥४॥ ता वाऽएताः । नव व्याहृतयो भवन्ति नवेमे पुरुषे प्राणा एतानेवास्मिन्नेतद्दधाति तस्मान्नव व्याहृतयो भवन्ति ॥५॥ यज्ञो ह देवेभ्योऽपचक्राम । तं देवा अन्वमन्त्रयन्ता नः शृणूप न

वह आहवनीय और गार्हपत्य अग्नि के बीच में बैठता है। ऐसा करने से वह दोनों को प्रसन्न करता है, और जब वह कहता है कि 'मुझे न जलाओ, मुझे न सताओ', तो वे उसको नहीं सतातीं ।।२५।।

अब आहवनीय अग्नि की ओर देखकर जप करता है—"विश्वे देवाः शास्त न मा यथेह होता वृत्तो मन वै यन्निषद्य । प्र मे ब्रूते भागधेयं यथा वो येन पथा हव्यमा वो वहानि"—"हे सब देवताओ, मुझे बताओ कि होता की हैसियत से मैं किस-किस चीज का ध्यान रक्खूं ? मेरे भागधेय अर्थात् कर्तव्य को कहो कि मैं किस रास्ते से आप तक आपके हवि को ले जाऊँ ?" जैसे कोई किसी के लिए भोजन पकावे और कहे, 'मुझे आज्ञा दो कि मैं कैसे इसको तुम तक लाऊँ, मैं किस प्रकार परोसूं ?' बस इसी प्रकार वह देवताओं के प्रशासन (आज्ञा) को चाहता है, अर्थात् 'मुझे बताइये कि मैं किस प्रकार आप तक वषट्कार पहुँचाऊँ या कैसे आप तक हव्य ले जाऊँ।' इसीलिए ऐसा जपता है ।।२६।।

अध्याय ५—ब्राह्मण २

अब वह कहता है—"अग्निर्होता वेत्वग्नेर्होत्रम्"—"होता अग्नि, अग्नि के होत्र को जाने।" इसका तात्पर्य यह है कि 'होता अग्नि इसको जाने'। 'अग्नि का होत्र' इसलिये कहा कि वह मोक्ष के इस साधन (प्रावित्र) को जाने। यज्ञ ही मोक्ष का साधन है। 'यज्ञ को जाने' का तात्पर्य है कि 'हे यजमान, देवता तेरे अनुकूल हैं'। इसका तात्पर्य है कि 'हे यजमान, जो अग्नि देवता तेरा होता है वह तेरे अनुकूल है।' अब वह कहता है—"घृतवतीमध्वर्यो स्रुचमास्यस्व।" अर्थात् "हे अध्वर्यु, तू घी से भरे चमसे को ले।" इस कथन से अध्वर्यु को प्रेरणा करता है। एक ही स्रुक् अर्थात् चमसा क्यों कहा ? इसलिए कि—।।१।।

जुहू के पीछे यजमान ही होता है, और जो उसका अनिष्ट चाहता है वह उपभृत् के पीछे। अब यदि दो चमसों का कथन करता तो यजमान के विरुद्ध अनिष्ट शत्रु को उद्यत कर देता। जुहू के पीछे खानेवाला है, और जिसको खाते हैं वह उपभृत् के पीछे है। अब यदि दोनों का कथन करता तो खानेवाले के विरुद्ध खाद्य पदार्थ को उद्यत कर देता। इसलिए एक ही चमसे का वर्णन किया ।।२।।

अब कहता है—"देवयुवं विश्ववाराम्", अर्थात् (वह चमसा) कैसा है ?—"देवताओं के लिए अर्पित और सम्पूर्ण समृद्धियों का रखनेवाला।" 'देवों के लिए अर्पण और समृद्धियों से पूरित' कहकर वह उसकी स्तुति करता है अर्थात् उसको बड़ा बनाता है। अब कहता है—"ईडामहै देवान्। ईडेन्यान्"—"हम स्तुति के योग्य देवों की स्तुति करें"—"नमस्याम नमस्यान्"—"हम नमस्कार के याज्यों को नमस्कार करें।" "यजाम यज्ञियान्"—"पूजा के योग्यों की पूजा करें।" इसका अर्थ यह हुआ कि हम स्तुति के योग्य देवताओं की स्तुति करें। नमस्कार के योग्यों को नमस्कार करें। पूजा के योग्यों की पूजा करें। स्तुति के योग्य मनुष्य हैं, नमस्कार के योग्य पितर और पूजा के योग्य देवता ।।३।।

जो प्रजा यज्ञ में भाग नहीं लेती वह पराभूत अर्थात् दलित या पतित है। इसलिए जो पतित नहीं हैं उनको यज्ञ में शामिल करता है। मनुष्यों के पीछे पशु हैं, और देवों के पीछे पक्षी, ओषधि और वनस्पति है। इस प्रकार जो कुछ है उस सब को यज्ञ में शामिल किया जाता है ।।४।।

ये सब नौ व्याहृतियाँ होती हैं। पुरुष में नौ ही प्राण होते हैं। इनको उसमें धारण कराता है। इसलिए व्याहृतियाँ नौ हैं ।।५।।

यज्ञ देवताओं से भाग गया। देवता उसको बुलाने लगे, 'सुनो, लौटो !' यज्ञ ने कहा,

आवर्तस्वेति सोऽस्तु तथेत्येव देवानुपावावर्त तेनोपावृत्तेन देवा अयजन्त तेनेष्ट्वे-
तदभवन्यदिदं देवाः ॥६॥ स यदाश्रावयति । यज्ञमेवैतदनुमन्त्रयतऽआ नः शृणूप
न आवर्तस्वेत्यथ यत्प्रत्याश्रावयति यज्ञ एवैतदुपावर्ततेऽस्तु तथेति तेनोपावृत्ते-
न रेतसा भूतेनऽर्त्विजः संप्रदायं चरन्ति यजमानेन परोऽक्षं यथा पूर्णपात्रेण संप्र-
दायं चरेयुरेवमनेनऽर्त्विजः संप्रदायं चरन्ति तद्वाचैवैतत्संप्रदायं चरन्ति वाग्घि यज्ञो
वागु हि रेतस्तदेतेनैवैतत्संप्रदायं चरन्ति ॥७॥ सोऽनुब्रूहीत्येवोक्ताध्वर्युः । नाप-
व्याहरेन्नोऽएव होतापव्याहरेदाश्रावयत्यध्वर्युस्तदग्नीधं यज्ञ उपावर्तते ॥८॥ सो
ऽग्नीन्नापव्याहरेत् । आ प्रत्याश्रावणात्प्रत्याश्रावयत्यग्नीत्तत्पुनरध्वर्युं यज्ञ उपावर्त-
ते ॥९॥ ॥ काण्डस्यार्द्धम् ॥४११॥ ॥ सोऽध्वर्युर्नापव्याहरेत् । आ यजेति वक्तोर्य-
जेत्येवाध्वर्युर्होत्रे यज्ञᳪ संप्रयच्छति ॥१०॥ स होता नापव्याहरेत् । आ वषट्कारात्तं
वषट्कारेणाग्नाविव योनौ रेतो भूतᳪ सिञ्चत्यग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य स ततः प्रजायत
ऽइति नु हविर्यज्ञेऽथ सौम्येऽध्वरे ॥११॥ स वै ग्रहं गृहीत्वाध्वर्युः । नापव्याहरे-
दोपाकरणादुपावर्तध्वमित्येवाध्वर्युरुद्गातृभ्यो यज्ञᳪ संप्रयच्छति ॥१२॥ तऽउद्गातारो
नापव्याहरेयुः । ओत्तमाया एषोत्तमेत्येवोद्गातारो होत्रे यज्ञᳪ संप्रयच्छन्ति ॥१३॥
स होता नापव्याहरेत् । आ वषट्कारात्तं वषट्कारेणाग्नाविव योनौ रेतो भूतᳪ
सिञ्चत्यग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य स ततः प्रजायते ॥१४॥ स यद्ध सोऽपव्याहरेत् । यं
यज्ञ उपावर्तते यथा पूर्णपात्रं परासिञ्चेदेवᳪ ह स यजमानं परासिञ्चेत्स यत्र है-
वमृत्विजः संविदाना यज्ञेन चरन्ति सर्वमेव तत्र कल्पते न मुह्यति तस्मादित्थमेव
यज्ञो भर्तव्यः ॥१५॥ ता वाऽएताः । पञ्च व्याहृतयो भवन्त्यो श्रावयास्तु श्रौष-
ड्यज ये यजामहे वौषडिति पाङ्क्तो यज्ञः पाङ्क्तः पशुः पञ्चऽर्तवः संवत्सरस्यैषैका
यज्ञस्य मात्रैषा सम्पत् ॥१६॥ तासाᳪ सप्तदशाक्षराणि । सप्तदशो वै प्रजापतिः
प्रजापतिर्यज्ञ एषैका यज्ञस्य मात्रैषा सम्पत् ॥१७॥ ओ श्रावयेति वै देवाः । पु-

'अच्छा', और वह लौट आया। वह जो लौट आया उससे देवों ने यज्ञ किया। जिससे वह यज्ञ किया उसी के कारण वे देव हुए ॥६॥

जब वह (अध्वर्यु) (अग्नीध्र को) बुलाता है तो मानो यज्ञ को बुलाता है 'सुनो, लौटो', और जब (अग्नीध्र) उत्तर देता है तो मानो यज्ञ ही 'अच्छा' कहकर लौटता है। इस प्रकार उस लौटे हुए यज्ञ से बीज के समान ऋत्विज लोग परोक्ष रीति से यजमान तक सम्प्रदाय चलाते हैं। जैसे लोग एक भरे हुए पात्र को एक से दूसरे को देते हैं, इसी प्रकार ऋत्विज लोग सम्प्रदाय चलाते हैं (अर्थात् यज्ञ की प्रथा को एक-दूसरे तक पहुँचाते हैं)। वाणी के द्वारा सम्प्रदाय चलता है। वाणी ही यज्ञ है। वाणी ही बीज है। इसीलिए वाणी द्वारा सम्प्रदाय चलता है ॥७॥

जब (अध्वर्यु ने होता से कहा) कि 'अनुब्रूहि'—'बोलो', तो इसके पीछे न तो अध्वर्यु ही कुछ अपशब्द कहे और न होता ही अपशब्द कहे। अध्वर्यु कहता है इस प्रकार अग्नीध्र तक यज्ञ को ले जाता है ॥८॥

अग्नीध्र उत्तर देने के समय तक कुछ अपशब्द न कहे। अग्नीध्र उत्तर देता है। इस प्रकार यज्ञ अध्वर्यु तक पहुँचता है ॥९॥

अध्वर्यु उस समय तक कुछ अपशब्द न कहे जब तक (नीचे का शब्द) न बोले 'यज'—'यज्ञ करो'। 'यज' शब्द कहने से अध्वर्यु यज्ञ को होता तक ले जाता है ॥१०॥

होता उस समय तक अपशब्द न बोले जब तक वषट्कार न कहे। वषट्कार से वह यज्ञ को अग्नि में सींचता है जैसे योनि में वीर्य सींचा जाता है, क्योंकि अग्नि यज्ञ की योनि है। यज्ञ अग्नि से ही उत्पन्न होता है। अब हविर्यज्ञ और सोम-यज्ञ—में॥११॥

(सोम को) लेने के पश्चात् उपाकरण तक अध्वर्यु कोई अपशब्द न कहे। 'उपावर्त्तध्वम्'—'निकट आइये।' ऐसा कहकर अध्वर्यु उद्गाताओं के लिए यज्ञ को देता है ॥१२॥

उत्तम अर्थात् सबसे पिछली ऋचा बोलने तक उद्गाता लोगों को कोई अपशब्द नहीं बोलने चाहिएँ। 'एषोत्तमा'—'यह अन्तिम ऋचा है।' ऐसा कहकर उद्गाता लोग यज्ञ को होता को देते हैं ॥१३॥

होता वषट्कार तक कोई अपशब्द न बोले। वषट्कार से अग्नि में उसी प्रकार सिंचन किया जाता है जैसे योनि में वीर्य का। अग्नि यज्ञ की योनि है, क्योंकि वह वहीं से उत्पन्न होता है ॥१४॥

यदि जिसके पास यज्ञ लौटता है वह अपशब्द कह दे तो वह उसी प्रकार यज्ञ को बरबाद कर देता है जैसे (जल से) पूरे भरे हुए पात्र को (नीचे फेंक देने से जल बरबाद जाता है)। जहाँ ऋत्विज लोग परस्पर एक-दूसरे को समझते हुए यज्ञ करते हैं वहाँ सब काम ठीक होता है, कोई गलती नहीं होती। इसलिए यज्ञ का इसी प्रकार भरण करना चाहिए ॥१५॥

ये पाँच व्याहृतियाँ होती हैं—(१) ओ! श्रावय, 'सुनाओ या पुकारो।' (२) अस्तु श्रौषट्, 'वह सुने।' (३) यज, 'समिधा को प्रज्वलित करो।' (४) ये यजामहे, 'हम यज्ञ करते हैं।' (५) वौषट्, 'ले जावे।' पाँच प्रकार का यज्ञ होता है, पाँच प्रकार का पशु, वर्ष की पाँच ऋतुएँ भी होती हैं। यह यज्ञ की मात्रा है। यह उसकी सम्पत् या पूर्णता है ॥१६॥

इनमें सत्रह अक्षर होते हैं। प्रजापति सत्रह प्रकार का है। प्रजापति ही यज्ञ है। यह यज्ञ की मात्रा है। यह यज्ञ की पूर्णता है ॥१७॥

'ओ श्रावय' से देव पूर्व की वायु को चलाते हैं। 'अस्तु श्रौषट्' से बादलों को लाते हैं,

रोवातꣳ ससृज्रिरेऽस्तु श्रौषडित्यभ्राणि समप्लावयन्यजेति विद्युतं ये यजामहेऽइति
स्तनयित्नुं वषट्कारेणैव प्रावर्षयन् ॥१८॥ स यदि वृष्टिकामः स्यात् । यद्येष्ट्या वा
यजेत दर्शपूर्णमासयोर्वैव ब्रूयाद्वृष्टिकामो वाऽअस्मीति तत्रोऽअध्वर्यु ब्रूयात्पुरोवा-
तं च विद्युतं च मनसा ध्यायेत्यभ्राणि मनसा ध्यायेत्यग्नीधꣳ स्तनयित्नुं च वर्षं च
मनसा ध्यायेति होतारꣳ सर्वाण्येतानि मनसा ध्यायेति ब्रह्माणं वर्षति हैव तत्र
यत्रैवमृत्विजः संविदाना यज्ञेन चरन्ति ॥१९॥ ओ श्रावयेति वै देवाः । विराजम-
भ्याजुहुवुरस्तु श्रौषडिति वत्समुपावासृजन्यजेत्युदजयन्ये यजामहेऽइत्युपासीदन्व-
षट्कारेणैव विराजमदुहन्तेयं वै विराडस्यै वाऽएष दोह एवꣳ ह वाऽअस्माऽइयं वि-
राट्सर्वान्कामान्दुहे य एवमेतं विराजो दोहं वेद ॥२०॥ ब्राह्मणम् ॥३[५.२.]॥ ॥

ऋतवो ह वै प्रयाजाः । तस्मात्पञ्च भवन्ति पञ्च ह्यृतवः ॥१॥ देवाश्च वा
ऽअसुराश्च । उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरऽएतस्मिन्यज्ञे प्रजापतौ पितरि संवत्सरे
ऽस्माकमयं भविष्यत्यस्माकमयं भविष्यतीति ॥२॥ ततो देवाः । अर्चन्तः श्राम्य-
न्तश्चेरुस्तऽएतान्प्रयाजान्ददृशुस्तैरयजन्त तैर्ऋतून्संवत्सरं प्राजयन्नृतुभ्यः संवत्सरात्स-
पत्नानन्तरायंस्तस्मात्प्रजयाः प्रजया ह वै नामैतद्यत्प्रयाजा इति तथोऽएवैष एतैर्ऋ-
तून्संवत्सरं प्रजयत्यृतुभ्यः संवत्सरात्सपत्नानन्तरेति तस्मात्प्रयाजैर्यजते ॥३॥ ते वा
ऽआज्यहविषो भवन्ति । वज्रो वाऽआज्यमेतेन वै देवा वज्रेणाज्येनऽर्तून्संवत्सरं
प्राजयन्नृतुभ्यः संवत्सरात्सपत्नानन्तरायंस्तथोऽएवैष एतेन वज्रेणाज्येनऽर्तून्संवत्सरं
प्रजयत्यृतुभ्यः संवत्सरात्सपत्नानन्तरेति तस्मादाज्यहविषो भवन्ति ॥४॥ एतद्वै सं-
वत्सरस्य स्वं पयः । यदाज्यं तत्स्वेनैवैनमेतत्पयसा देवाः स्व्यकुर्वत तथोऽएवैन-
मेष एतत्स्वेनैव पयसा स्वीकुरुते तस्मादाज्यहविषो भवन्ति ॥५॥ स यत्रैव ति-
ष्ठन्प्रयाजेभ्य आश्रावयेत् । तत एव नापक्रामेत्संग्रामो वाऽएष संनिधीयते यः प्र-
याजैर्यजते यतरो वै संयत्तयोः पराजयतेऽप वै संक्रामत्यभितरामु वै जयन्क्रामति

'यज' से बिजली को, 'ये यजामहे' से गर्ज को और 'वषट्कार' से पानी को बरसाते हैं ॥१८॥

यदि उसकी वर्षा की इच्छा हो या विशेष यज्ञ करनेवाला हो या दर्शपूर्णमास यज्ञ, इन सब में ऐसा बोले, 'वृष्टिकामो वा अस्मि'–'मैं वर्षा का इच्छुक हूँ।' वह अध्वर्यु से कहे, 'वायु का और बिजली का मन से ध्यान करो।' अग्नीध्र से कहे, 'तू अपने मन में बादल का ध्यान कर।' होता से कहे कि 'गर्ज का और वर्षा का मन से ध्यान कर।' ब्रह्मा से कहे कि 'तुम सबका मत ध्यान करो।' जहाँ जिस प्रकार ऋत्विज लोग एक-दूसरे को समझकर यज्ञ करते हैं वहाँ अवश्य वर्षा होती है ॥१९॥

'ओ श्रावय' कहकर देवों ने विराट् अर्थात् गाय को बुलाया। 'अस्तु श्रौषट्' कहकर बछड़े को खोला। 'यज' कहकर (बछड़े के सिर को माँ के थनों तक) उठाया। 'ये यजामहे' कहकर गाय के पास बैठे। 'वषट्कार' से उन्होंने उसको दुहा। यह (पृथिवी) ही विराट् है। उसी का यह दुहना है। जो पुरुष इस विराट् के इस प्रकार दुहने को जानता है उसके लिए यह विराट् सब इच्छाओं को पूर्ण कर देती है ॥२०॥

अध्याय ५–ब्राह्मण ३

ऋतुएँ ही प्रयाज हैं। इसलिए ये पाँच होते हैं क्योंकि पाँच ऋतुएँ होती हैं ॥१॥

देव और असुर, दोनों प्रजापति की सन्तान, इस यज्ञ में जो प्रजापति अर्थात् पिता वर्ष है, झगड़ने लगे, 'यह हमारा होगा'-'यह हमारा होगा' ॥२॥

तब देव पूजा करते हुए और पुरुषार्थ करते हुए विचरने लगे। उन्होंने इन प्रजाओं को देखा और उनके द्वारा पूजा की। उनके द्वारा उन्होंने ऋतुओं अर्थात् वर्ष को प्राप्त किया। उन्होंने ऋतु अर्थात् वर्ष से अपने शत्रुओं को वंचित कर दिया। इसलिए 'प्रजा' का 'प्रजय' नाम हुआ। इसलिए 'प्रयाज' नाम हुआ। इसी प्रकार यह (यजमान) ऋतुओं अर्थात् संवत्सर को जीत लेता है और अपने शत्रुओं को ऋतुओं अर्थात् संवत्सर से वंचित कर देता है। इसलिए वह 'प्रयाज' से यज्ञ करता है ॥३॥

उनकी हवि घी से दी जाती है। घी ही वज्र है। इसी वज्र से देवों ने ऋतुओं और संवत्सर को जीता और शत्रुओं को ऋतुओं अर्थात् संवत्सर से वंचित कर दिया। इसी प्रकार यह (यजमान) भी इसी वज्ररूपी घी से ऋतुओं अर्थात् संवत्सर को जीतता है और अपने शत्रुओं को ऋतुओं अर्थात् सवत्सर से वंचित करता है। इसलिए आहुतियाँ घी की दी जाती हैं ॥४॥

यह जो घी है वह संवत्सर का अपना ही पय (पीने की वस्तु, शक्ति का साधन) है। इसलिए देवों ने इस (संवत्सर) को उसी के पय से अपना लिया, और यह (यजमान) भी उसी के पय से संवत्सर को अपनाता है। इसीलिए कहा कि ये आहुतियाँ (अर्थात् प्रयाज आहुतियाँ) घी की होती हैं ॥५॥

वह जहाँ खड़ा होकर प्रयाजों के लिए बुलावे वहाँ से हटे नहीं। संग्राम हो जाता है जब कोई 'प्रयाजों' से यज्ञ करता है। लड़नेवालों में जो परास्त हो जाता है वही पीछे हट जाता है, और जो विजयी होता है वह निकट-निकट चलता जाता है। इसलिए शायद (अध्वर्यु) भी निकट-

तस्मादभितरामभितरामिव क्रामेदभितरामभितरामाहुतीर्जुहुयात् ॥६॥ तद्ध तथा न कुर्यात् ॥ यत्रैव तिष्ठन्प्रयाजेभ्य आश्रावयेत्तत एव नापक्रामेद्यत्रोऽएव समिद्धतमं मन्येत तदाहुतीर्जुहुयात्समिद्धहोमेन ह्येव समृद्धा आहुतयः ॥७॥ स आश्राव्याह । समिधो यजेति तद्वसन्तꣳ समिन्द्धे स वसन्तः समिद्धोऽन्यानृतून्त्समिन्द्ध ऽऋतवः समिद्धाः प्रजाश्च प्रजनयन्त्योषधीश्च पचन्ति तद्वैव खलु सर्वानृतून्निराहाथ यजयजेत्येवोत्तरानाहाजामितायै जामि ह कुर्याद्यत्तनूनपातं यजेडो यजेति ब्रूयात्तस्माद्यजयजेत्येवोत्तरानाह ॥८॥ स वै समिधो यजति । वसन्तो वै समिद्वसन्तमेव तद्देवा अवृञ्जत वसन्तात्सपत्नानन्तरायन्वसन्तमु वैष एतद्वृङ्क्ते वसन्तात्सपत्नानन्तरेति तस्मात्समिधो यजति ॥९॥ अथ तनूनपातं यजति । ग्रीष्मो वै तनूनपाद्ग्रीष्मो ह्यासां प्रजानां तनूस्तपति ग्रीष्ममेव तद्देवा अवृञ्जत ग्रीष्मात्सपत्नानन्तरायन्ग्रीष्ममु वैष एतद्वृङ्क्ते ग्रीष्मात्सपत्नानन्तरेति तस्मात्तनूनपातं यजति ॥१०॥ अथेडो यजति । वर्षा वाऽइड इति हि वर्षा इडो यदिदं क्षुद्रꣳ सरीसृपं ग्रीष्महेमन्ताभ्यां नित्यक्तं भवति तद्वर्षा ईडितमिवान्नमिच्छमानं चरति तस्माद्वर्षा इडो वर्षा एव तद्देवा अवृञ्जत वर्षाभ्यः सपत्नानन्तरायन्वर्षा उऽएवैष एतद्वृङ्क्ते वर्षाभ्यः सपत्नानन्तरेति तस्मादिडो यजति ॥११॥ अथ बर्हिर्यजति । शरद्वै बर्हिरिति हि शरद्बर्हिर्या इमा ओषधयो ग्रीष्महेमन्ताभ्यां नित्यक्ता भवन्ति ता वर्षा वर्धन्ते ताः शरदि बर्हिषो रूपं प्रस्तीर्णाः शेरे तस्माच्छरद्बर्हिः शरदमेव तद्देवा अवृञ्जत शरदः सपत्नानन्तरायञ्छरदमु वैष एतद्वृङ्क्ते शरदः सपत्नानन्तरेति तस्माद्बर्हिर्यजति ॥१२॥ अथ स्वाहास्वाहेति यजति । अन्तो वै यज्ञस्य स्वाहाकारोऽन्त ऋतूनाꣳ हेमन्तो वसन्ताद्धि परार्ध्योऽन्तेनैव तदन्तं देवा अवृञ्जतान्तेनान्तात्सपत्नानन्तरायन्नन्तेनोऽएवैष एतदन्तं वृङ्क्तेऽन्तेनान्तात्सपत्नानन्तरेति तस्मात्स्वाहास्वाहेति यजति ॥१३॥ तद्वाऽएतत् । वसन्त एव हेमन्तात्पुनरसुरितस्माद्ध्येष पुनर्भवति पुनर्ह वाऽअस्मि-

निकट जाकर आहुति देने को उद्यत हो ॥६॥

परन्तु उसको ऐसा न करना चाहिए। जहाँ खड़ा होकर प्रयाजों को बुलावे उस जगह से हटे नहीं। जहाँ अधिक से अधिक अग्नि जलती प्रतीत हो वहीं आहुति दे, क्योंकि आहुतियाँ उसी स्थान पर ठीक जलती हैं जहाँ अधिक आग जलती है ॥७॥

वह (अध्वर्यु) (अग्नीध्र को) बुलाकर (होता से) कहे—"समिधो यजा"—"समिधा को आग में डालो।" इस प्रकार वह वसन्त को प्रज्वलित करता है। प्रज्वलित हुआ वसन्त और ऋतुओं को प्रज्वलित करता है। प्रज्वलित ऋतुएँ प्रजा को उत्पन्न करती हैं, ओषधियों को पकाती हैं। इसी कथन से वह अन्य ऋतुओं को शामिल करता है। अन्य ऋतुओं के लिए वह केवल इतना कहता है—'यज' (अर्थात् आहुति दो)। यदि वह कहे कि 'तनूनपातं यज' या 'ईडो यज' तो व्यर्थ का दुहराना होगा। इसलिए अन्य आहुतियों के लिए केवल 'यज' कह देता है ॥८॥

अब वह समिधाओं से यजन करता है। वसन्त ही समिधा है। वसन्त को ही देवों ने अपना लिया और वसन्त से ही शत्रुओं को वंचित कर दिया। अब यहाँ यजमान भी वसन्त को अपनाता है और उससे अपने शत्रुओं को वंचित करता है। इसीलिए समिधा से यजन करता है ॥९॥

अब वह 'तनूनपातं' का यज्ञ करता है। ग्रीष्म ही तनूनपात है। ग्रीष्म ही इन प्रजाओं के शरीरों को तपाता है। देवों ने उस समय ग्रीष्म को अपनाया और ग्रीष्म से शत्रुओं को वंचित कर दिया। अब यह यजमान भी ग्रीष्म को अपनाता है और ग्रीष्म से शत्रुओं को वंचित करता है। इसलिए वह तनूनपात से यज्ञ करता है ॥१०॥

अब ईड का यज्ञ करता है। वर्षा ऋतु ईड है। ये जो छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़े हैं और जो ग्रीष्म और हेमन्त में क्षीण हो जाते हैं, वे मानो वर्षा की प्रशंसा करते हुए भोजन की तलाश में फिरते हैं, इसलिए 'वर्षा' 'ईड' हुआ। उस समय देवों ने वर्षा को ही अपनाया और वर्षा से शत्रुओं को वंचित कर दिया, इसी प्रकार यह यजमान भी वर्षा को ही अपनाता है और वर्षा से ही शत्रुओं को वंचित करता है। इसलिए 'ईड' का यज्ञ करता है ॥११॥

अब बर्हि यज्ञ करता है। शरद् ऋतु ही बर्हि है। जो ओषधियाँ ग्रीष्म और हेमन्त में क्षीण हो जाती हैं वे वर्षा के द्वारा बढ़ती हैं, और शरद् ऋतु में बर्हि के रूप में फैल जाती हैं, इसलिए शरद् ही बर्हि है। देवों ने शरद् को अपनाया और शत्रुओं को शरद् से वंचित कर दिया। इसी प्रकार यह यजमान भी शरद् ऋतु को अपनाता है तो शत्रुओं को शरद् से वंचित करता है। इसलिए बर्हि यज्ञ करता है ॥१२॥

अब 'स्वाहा-स्वाहा' कहकर यज्ञ करता है। 'स्वाहा'-कार यज्ञ का अन्त है। ऋतुओं में अन्तिम हेमन्त है, क्योंकि वसन्त से हेमन्त सबसे दूर है (अर्थात् हेमन्त वर्ष के अन्त में पड़ता है और वसन्त आदि में, इसलिए अन्य ऋतुओं की अपेक्षा हेमन्त वसन्त से बहुत दूर हुआ)। देवों ने अन्त (स्वाहा) से ही अन्त (हेमन्त) को अपनाया और अन्त की सहायता से ही अन्त से शत्रुओं को वंचित किया। इसी प्रकार यह यजमान भी अन्त से ही अन्त को अपनाता है और इसी अन्त (स्वाहा-यज्ञ) की सहायता से अन्त अर्थात् हेमन्त से अपने शत्रुओं को वंचित करता है। इसलिए वह स्वाहा-यज्ञ करता है ॥१३॥

यह वसन्त ही हेमन्त के पश्चात् पुनर्जीवित होता है, क्योंकि एक के पश्चात् दूसरा पैदा

लोके भवति य एवमेतद्वेद ॥१४॥ स वै व्यन्तु वेविति यजति । अजामितायै जामि ह कुर्याद्यद्व्यन्तुव्यन्त्विति वैव यजेद्वितुवेविति वा व्यन्त्विति वै योषा वेविति वृषा मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते तस्माद्व्यन्तु वेविति यजति ॥१५॥ अथ चतुर्थे प्रयाजे समानयति बर्हिषि । प्रजा वै बर्ही रेत आज्यं तत्प्रजास्वेवैतद्रेतः सिच्यते तेन रेतसा सिक्तेनेमाः प्रजाः पुनरभ्यावर्तं प्रजायन्ते तस्माच्चतुर्थे प्रयाजे समानयति बर्हिषि ॥१६॥ सङ्ग्रामो वाऽएष संनिधीयते । यः प्रयाजैर्यजते यतरं वै संयत्तयोर्मित्रमागच्छति स जयति तदेतदुपभृतोऽधि जुहूं मित्रमागच्छति तेन प्रजयति तस्माच्चतुर्थे प्रयाजे समानयति बर्हिषि ॥१७॥ यजमान एव जुहूमनु । योऽस्माऽअरातीयति स उपभृतमनु यजमानायैवैतद्द्विषन्तं भ्रातृव्यं बलिꣳ हारयन्त्यत्तेव जुहूमन्वाद्य उपभृतमन्वत्त्रऽएवैतदाद्यं बलिꣳ हारयति तस्माच्चतुर्थे प्रयाजे समानयति ॥१८॥ स वाऽअनवमृशन्त्समानयति । स यद्धावमृशेद्यजमानं द्विषता भ्रातृव्येनावमृशेदत्तारमाद्येनावमृशेत्तस्मादनवमृशन्त्समानयति ॥१९॥ अथोत्तरां जुहूमध्यूहति । यजमानमेवैतद्द्विषति भ्रातृव्येऽध्यूहत्यत्तारमाद्येऽध्यूहति तस्मादुत्तरां जुहूमध्यूहति ॥२०॥ देवा ह वाऽऊचुः । हन्त विजितमेवानु सर्वं यज्ञꣳ संस्थापयाम यदि नोऽसुररक्षसान्यासजेयुः संस्थित एव नो यज्ञः स्यादिति ॥२१॥ तऽउत्तमे प्रयाजे । स्वाहाकारेणैव सर्वं यज्ञꣳ समस्थापयन्त्स्वाहाग्निमिति तदाग्नेयमाज्यभागꣳ समस्थापयन्त्स्वाहा सोममिति तत्सौम्यमाज्यभागꣳ समस्थापयन्त्स्वाहाग्निमिति तद्य एष उभयत्राच्युत आग्नेयः पुरोडाशो भवति तꣳ समस्थापयन् ॥२२॥ अथ यथादेवतꣳ । स्वाहा देवा आज्यपा इति तत्प्रयाजानुयाजान्त्समस्थापयन्प्रयाजानुयाजा वै देवा आज्यपा जुषाणोऽअग्निराज्यस्य वेविति तदग्निꣳ स्विष्टकृतꣳ समस्थापयन्नग्निर्हि स्विष्टकृत्स एषोऽप्येतर्हि तथैव यज्ञः संतिष्ठते यथैवैनं देवाः समस्थापयंस्तस्मादुत्तमे प्रयाजे स्वाहास्वाहेति यजति यावन्ति हवीꣳषि भवन्ति

होता है। इसलिए जो पुरुष इस रहस्य को समझता है वह इस लोक में पुनर्जीवित होता है ॥१४॥

अब वह क्रमशः कहता है—'व्यन्तु' (वे स्वीकार करें) और 'वेतु' (वह स्वीकार करे)। यदि वह केवल 'व्यन्तु व्यन्तु' कहे या 'वेतु वेतु' कहे तो पुनरुक्ति-दोष आ जाय (इसलिए एक बार 'व्यन्तु' कहता है और एक बार 'वेतु')। 'व्यन्तु' स्त्रीलिङ्ग है, 'वेतु' पुंल्लिङ्ग। इन दोनों के जोड़ से सन्तानोत्पत्ति होती है। इसलिए पहले कहता है 'व्यन्तु', फिर कहता है 'वेतु' ॥१४॥

अब चौथे प्रयाज अर्थात् बर्हि-याज में वह (जुहू में घी) डालता है। बर्हि प्रजा है और घी वीर्य है, इसलिए इस प्रकार वीर्य प्रजाओं से सिंचित होता है और उसी से प्रजायें बार-बार उत्पन्न होती हैं। इसलिए चौथे बर्हि-याज में वह (जुहू में घी) छोड़ता है ॥१६॥

जो प्रयाज से यज्ञ करता है उसके लिए मानो संग्राम-सा छिड़ जाता है, और जो मित्र जिस दल में मिल जाता है उसी की जय होती है। इसीलिए मित्र उपभृत् से चलकर जुहू में आता है, और उसी से जय को प्राप्त होता है। यही कारण है कि वह चतुर्थ प्रयाज में (घृत) छोड़ता है अर्थात् बर्हि-यज्ञ में ॥१७॥

यजमान जुहू के पीछे ही (खड़ा होता है) और जो उससे शत्रुता करता है वह उपभृत् के पीछे। इस प्रकार वह अहितकारी शत्रु से यजमान के लिए बलि (भेंट) दिलवाता है। जो खाने वाला है वह जुहू के ही पीछे (खड़ा होता है) और जिसको खाया जाता है वह उपभृत् के पीछे। इस प्रकार वह खाने वाले के प्रति बलि दिलवाता है। यही कारण है कि वह चतुर्थ प्रयाज में (घी) छोड़ता है अर्थात् बर्हि-यज्ञ में ॥१८॥

वह बिना छुए ही (घी) छोड़ता है। यदि वह उसको छू ले तो मानो यजमान अहितकारी शत्रु से छू गया, या खाद्य-पदार्थ से खानेवाला छू गया। इसलिए बिना छुए ही (घी) डालता है ॥१९॥

अब वह जुहू को उपभृत् के ऊपर पकड़ता है। इससे मानो वह यजमान को अहितकारी शत्रु के ऊपर उठाता है, या खानेवाले को खाद्य के ऊपर उठाता है। इसलिए वह जुहू को (उपभृत् के) ऊपर उठाता है ॥२०॥

देवों ने कहा था कि 'अब जीत तो हो गई' इसलिए इसके पश्चात् सब यज्ञ की संस्थापना (दृढ़ता) कर दें जिससे यदि राक्षस लोग कष्ट भी दें तो भी यज्ञ दृढ़ रीति से संस्थापित हो जाय ॥२१॥

अन्तिम याज में वह 'देवता स्वाहाकार' से सम्पूर्ण यज्ञ की स्थापना करते हैं। 'स्वाहाग्नि' से जो आज्य भाग था वह अग्नि के लिए किया था, 'स्वाहा सोम' से जो आज्य-भाग था उसको सोम के लिए। फिर 'स्वाहाग्नि' से वह भाग जो दोनों (अर्थात् दर्श पौर्णमास यज्ञ) में प्रयुक्त होता है अग्नि का पुरोडाश होता है उसकी संस्थापना करता है ॥२२॥

इसी प्रकार अन्य देवों के लिए भी। 'स्वाहा देवा आज्यपा' इससे प्रयाज और अनुयाज की संस्थापना करते हैं। प्रयाज और अनुयाज ही 'आज्यपा देव' हैं। 'जुषाणो अग्नि राज्यस्य वेत्तु' इससे स्विष्टकृत् अग्नि की संस्थापना की, क्योंकि अग्नि ही स्विष्टकृत् है। वह अग्नि आज तक उसी प्रकार संस्थापित चली आती है जैसी उस समय थी, जब देवों ने पहले-पहल स्थापित की थी। इसलिए पिछले प्रयाज में 'स्वाहा स्वाहा' से जितनी आहुतियाँ होती हैं वे सब दी जाती

विजितमेवैतदनु सर्वं यज्ञꣳ सꣳस्थापयति तस्माद्यदत ऊर्ध्वं विलोम यज्ञे क्रियेत न तदाद्रियेत सꣳस्थितो मे यज्ञ इति ह विद्यात्स ह्येष यज्ञो यातयामेवास यथा वषट्कृतꣳ हुतꣳ स्वाहाकृतम् ॥२३॥ ते देवा अकामयन्त । कथं न्विमं यज्ञं पुनराप्याययेमायातयामानं कुर्याम तेनायातयाम्ना प्रचरेमेति ॥२४॥ स यज्जुह्वामाज्यं परिशिष्टमासीत् । येन यज्ञꣳ समस्थापयंस्तेनैव यथापूर्वꣳ हवीꣳष्यभ्यघारयन्पुनरेवैनानि तदाप्याययन्नयातयामान्यकुर्वन्नयातयाम ह्याज्यं तस्मादुत्तमं प्रयाजमिष्ट्वा यथापूर्वꣳ हवीꣳष्यभिघारयति पुनरेवैनानि तदाप्याययत्ययातयामानि करोत्ययातयाम ह्याज्य तस्माद्यस्य कस्य च हविषोऽवद्यति पुनरेव तदभिघारयति स्विष्टकृतऽएव तत्पुनराप्यायत्ययातयाम करोत्यथ यदा स्विष्टकृतेऽवद्यति न ततः पुनरभिघारयति नो हि ततः कां चन हविषोऽग्नावाहुतिꣳ होष्यन्भवति ॥२५॥ ब्राह्मणम् ॥४ [५.३.] ॥ ॥

स वै समिधो यजति । प्राणा वै समिधः प्राणानेवैतत्समिन्द्धे प्राणैर्ह्ययं पुरुषः समिद्धस्तस्मादभिमृशेति ब्रूयाद्यद्युपतापी स्यात्स यद्युष्णः स्यादेव तावच्छꣳसेत समिद्धो हि स तावद्भवति यद्यु शीतः स्यान्नाशꣳसेत तत्प्राणानेवास्मिन्नेतद्दधाति तस्मात्समिधो यजति ॥१॥ अथ तनूनपातं यजति । रेतो वै तनूनपाद्रेत एवैतत्सिञ्चति तस्मात्तनूनपातं यजति ॥२॥ अथेडो यजति । प्रजा ह्याऽइडो यदा वै रेतः सिक्तं प्रजायतेऽथ तदीडितमिवान्नमिच्छमानं चरति तत्प्रैवैतज्जनयति तस्मादिडो यजति ॥३॥ अथ बर्हिर्यजति । भूमा वै बर्हिर्भूमानमेवैतत्प्रजनयति तस्माद्बर्हिर्यजति ॥४॥ अथ स्वाहास्वाहेति यजति । हेमन्तो वाऽऋतूनाꣳ स्वाहाकारो हेमन्तो हीमाः प्रजाः स्वं वशमुपनयते तस्माद्धेमन्म्लायन्त्योषधयः प्र वनस्पतीनां पलाशानि मुच्यन्ते प्रतितरामिव वयाꣳसि भवन्त्यधस्तरामिव वयाꣳसि पतन्ति विपतितलोमेव पापः पुरुषो भवति हेमन्तो हीमाः प्रजाः स्वं वशमुपनयते स्वी

हैं। जीत के पश्चात् वह यज्ञ की दृढ़ता से संस्थापना करता है, इसलिए यदि वह यज्ञ में 'विलोम' अर्थात् उलटा क्रम कर दे तो अवहेलना न हो। क्योंकि वह जानता है कि मेरा यज्ञ दृढ़ता से संस्थापित है। अब वषट्कार और स्वाहाकार से जो यज्ञ रह गया था वह हो जाता है ।।२३।।

अब देवों ने चाहा कि हम इस यज्ञ को कैसे प्राप्त करें और प्राप्त करके किस प्रकार करें, किस प्रकार उसका पालन करें ।।२४।।

अब जुहू में जो कुछ घी बच रहा था जिससे कि यज्ञ की संस्थापना की थी, उसी से पहले के समान हवियों को सींचता है। उसी से इनको प्राप्त करता है, उसी से उसको पूर्ण करता है क्योंकि 'आज्य' (घी) पूर्ण होता है। इसलिए पिछले प्रयाज को करके पहले के समान हवियों को सींचता है, फिर उनको पूर्ण करता है। आज्य (घी) ही पूर्णता है। इसलिए जिस किसी की हवि को काटता है उसी को फिर सींचता है और स्विष्टकृत् आहुति के लिए पूर्ण करता है। परन्तु जब स्विष्टकृति के लिए काटता है तो फिर नहीं सींचता, क्योंकि इसके पश्चात् कोई आहुति अग्नि में नहीं दी जायगी ।।२५।।

अध्याय ५—ब्राह्मण ४

अब वह समिध-यजन करता है। प्राण ही समिधा है। इस प्रकार वह प्राणों को प्रज्वलित करता है। यह पुरुष प्राणों द्वारा ही प्रज्वलित किया जाता है। इसलिए यदि (यजमान को) ज्वर हो तो (अध्वर्यु) कहेगा 'अभिमृश' (छुओ)। यदि गरम हो तो सन्तुष्ट होगा क्योंकि वह प्रज्वलित हो जाता है। यदि ठण्डा हो तो चिन्ता होती है। वह इस प्रकार प्राणों को उसमें रखता है। इसीलिए समिध-यजन करता है ।।१।।

अब तनूनपात-यजन करता है। वीर्य (रेत) ही तनूनपात है। इस प्रकार रेत को सींचता है, इसलिए तनूनपात यज्ञ करता है ।।२।।

अब ईड-यजन करता है। प्रजा ही ईड है। जब सींचा हुआ वीर्य प्रजा के रूप में उत्पन्न होता है तब प्रशंसा करते हुए के समान अन्न की खोज में विचरता है। इस प्रकार वह यजमान से मानो सन्तानोत्पत्ति कराता है। इसलिए वह ईड-यजन करता है ।।३।।

अब बर्हि-यजन करता है। बर्हि का अर्थ है बहुतायत। इस प्रकार वह बहुतायत (आधिक्य) को उत्पन्न करता है। इसीलिए वह बर्हि-यजन करता है ।।४।।

अब स्वाहा-यजन करता है। ऋतुओं में हेमन्त स्वाहाकार (सबसे पिछली) है। हेमन्त ही इन प्रजाओं को अपने वश में करता है। इसीलिए हेमन्त में ओषधियाँ सूख जाती हैं, वृक्षों के पत्ते झड़ जाते हैं। चिड़ियाँ छिप जाती हैं, या नीचे उतर-सी आती हैं। पापी पुरुष के बाल झड़ जाते हैं। हेमन्त इन सब प्रजाओं को वश में कर लेता है। जो इस रहस्य को समझता है वह उस

ह वै तमर्धं कुरुते श्रियैऽन्नाद्याय यस्मिन्नर्धे भवति य एवमेतद्वेद ॥५॥ देवाश्च वाऽअसुराश्च । उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे ते दण्डैर्धनुर्भिर्न व्यजयन्त ते हाविजयमाना ऊचुर्हन्त वाच्येव ब्रह्मन्विजिगीषामहै स यो नो वाचं व्याहृतां मिथुनेन नानुनिक्रामात्स सर्वं पराजयाताऽअथ सर्वमितरे जयानिति तथेति देवा अब्रुवंस्ते देवा इन्द्रमब्रुवन्व्याहरेति ॥६॥ स इन्द्रोऽब्रवीत् । एको ममेत्यथास्माकमेकेतीतरेऽब्रुवंस्तद्व तन्मिथुनमेवाविन्दन्मिथुनꣳ ह्येकश्चैका च ॥७॥ द्वौ ममेतीन्द्रोऽब्रवीत् । अथास्माकं द्वेऽइतीतरेऽब्रुवंस्तद्व तन्मिथुनमेवाविन्दन्मिथुनꣳहि द्वौ च द्वे च ॥८॥ त्रयो ममेतीन्द्रोऽब्रवीत् । अथास्माकं तिस्र इतीतरेऽब्रुवंस्तद्व तन्मिथुनमेवाविन्दन्मिथुनꣳ हि त्रयश्च तिस्रश्च ॥९॥ चत्वारो ममेतीन्द्रोऽब्रवीत् । अथास्माकं चतस्र इतीतरेऽब्रुवंस्तद्व तन्मिथुनमेवाविन्दन्मिथुनꣳ हि चत्वारश्च चतस्रश्च ॥१०॥ पञ्च ममेतीन्द्रोऽब्रवीत् । तत इतरे मिथुनं नाविन्दन्नो ह्यत ऊर्ध्वं मिथुनमस्ति पञ्च पञ्चेति ह्येवैतदुभयं भवति ततोऽसुराः सर्वं पराजयन्त सर्वस्माद्देवाऽअसुरानजयन्त्सर्वस्मात्सपत्नानसुरान्निरभजन् ॥११॥ तस्मात्प्रथमे प्रयाजऽइष्टे ब्रूयात् । एको ममेत्येका तस्य यमहं द्वेष्मीति यद्यु न द्विष्याद्योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्म इति ब्रूयात् ॥१२॥ द्वौ ममेति द्वितीये प्रयाजे । द्वे तस्य योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्म इति ॥१३॥ त्रयो ममेति तृतीये प्रयाजे । तिस्रस्तस्य योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्म इति ॥१४॥ चत्वारो ममेति चतुर्थे प्रयाजे । चतस्रस्तस्य योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्म इति ॥१५॥ पञ्च ममेति पञ्चमे प्रयाजे । न तस्य किं चन योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्म इति स पञ्च पञ्चेत्येव भवन्पराभवति तथास्य सर्वꣳ संवृङ्क्ते सर्वस्मात्सपत्नान्निर्भजति य एवमेतद्वेद ॥१६॥ ब्राह्मणम् ॥५[५.४.]॥ ॥ अध्यायः ॥५॥ ॥

ऋतवो ह वै देवेषु यज्ञे भागमीषिरे । आ नो यज्ञे भजत मा नो यज्ञादन्तर्ग-

स्थान को जहाँ वह रहता है अपने वश में कर लेता है, और श्री तथा अन्न से अपने को युक्त कर लेता है ।।५।।

देव और असुर दोनों प्रजापति की सन्तान महत्त्व के लिए लड़ पड़े। वे डण्डों और धनुष से एक-दूसरे को नहीं जीत सके। वे (असुर) न जीतनेवाले होकर कहने लगे—"अब हम ब्रह्म-वाणी से जीतेंगे। जो हमारी कही हुई वाणी को जोड़े में (दो-दो मिलकर) अर्थात् पुंल्लिङ्ग वा स्त्रीलिङ्ग न समझ सकेगा, वह पराजित हो जायेगा और सब-कुछ खो बैठेगा, और विपक्षी सब-कुछ ले लेंगे।" देवों ने कहा 'अच्छा'। देवों ने इन्द्र से कहा, 'बोलो' ।।६।।

इन्द्र बोला, 'एको मम' (एक मेरा)। औरों ने कहा, 'अस्माकं एका' (एक हमारी)। इस प्रकार जोड़े को प्राप्त किया। एक पुंल्लिङ्ग और एक (स्त्रीलिङ्ग) मिलकर जोड़ा होता है ।।७।।

इन्द्र ने कहा, 'द्वौ मम' अर्थात् 'दो मेरे' (यहाँ 'द्वौ' पुंल्लिङ्ग है)। दूसरों ने कहा, 'अस्माकं द्वे' अर्थात् 'दो हमारी' (यहाँ "द्वे' स्त्रीलिङ्ग है)। इस प्रकार उन्होंने जोड़े को प्राप्त किया क्योंकि 'द्वौ' और 'द्वे' मिलकर जोड़ा होता है ।।८।।

इन्द्र ने कहा, 'त्रयो मम' अर्थात् 'मेरे तीन' (यहाँ 'त्रय' पुंल्लिङ्ग है)। औरों ने कहा, 'अस्माकं तिस्रः' अर्थात् 'हमारी तीन' (यहाँ 'तिस्रः' स्त्रीलिङ्ग है)। इस प्रकार उन्होंने जोड़े को पा लिया क्योंकि 'त्रयः' और 'तिस्रः' मिलकर जोड़ा हो जाता है ।।९।।

इन्द्र ने कहा, 'चत्वारो मम' (मेरे चार)। औरों ने कहा, 'अस्माकं चतस्रः' (हमारी चार)। इस प्रकार जोड़े को प्राप्त किया क्योंकि पुंल्लिङ्ग 'चत्वारः' और स्त्रीलिङ्ग 'चतस्रः' मिलकर जोड़ा हो जाता है ।।१०।।

इन्द्र ने कहा, 'पंच मम' (पाँच मेरा)। अब औरों को जोड़ा न मिला। इससे आगे जोड़ा होता ही नहीं। दोनों लिंगों में 'पंच' ही होता है। इस प्रकार सब असुर पराजित हो गये। देवों ने असुरों का सब-कुछ ले लिया। उन शत्रुओं से सब-कुछ छीन लिया ।।११।।

इसलिए पहले प्रयाज में कहे, 'एको मम। एका तस्य यमहं द्वेष्मि।' (मेरा एक। एक उसकी जिसको हम द्वेष करें), और यदि किसी को द्वेष न करे तो कहे, 'योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः।' (जो हमारे साथ द्वेष करता है और जिसको हम द्वेष करते हैं) ।।१२।।

दूसरे प्रयाज में कहे, 'द्वौ मम। द्वे तस्य योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः।' (दो मेरे। दो उसकी जो हमसे द्वेष करता है या जिसको हम द्वेष करते हैं) ।।१३।।

तीसरे प्रयाज में कहे, 'त्रयो मम। तिस्रस्तस्य योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः।' (तीन मेरे। तीन उसकी जो हमको द्वेष करे और हम जिसके साथ द्वेष करते हैं) ।।१४।।

चौथे प्रयाज में कहे, 'चत्वारो मम। चतस्रस्तस्य योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः।' (चार हमारे। चार उसकी जो हमसे द्वेष करता है या जिससे हम द्वेष करते हैं) ।।१५।।

पाँचवें प्रयाज में कहे, 'पंच मम' (पाँच मेरे)। उसके लिए कुछ नहीं जो हमसे द्वेष करता है या जिससे हम द्वेष करते हैं। पाँच-पाँच करके शत्रु पराजित होता है। जो इस रहस्य को समझता है उसको सब मिल जाता है। वह सब शत्रुओं को परास्त कर देता है ।।१६।।

अध्याय ६—ब्राह्मण १

ऋतुओं ने देवों से यज्ञ में भाग माँगा, 'हमको यज्ञ में भाग दो। हमको यज्ञ से न

तास्त्वेव नोऽपि यज्ञे भाग इति ॥१॥ तद्वै देवा न जज्ञुः । तऽऋतवो देवेष्वजा-
नन्त्स्वसुरानुपावर्तन्ताप्रियान्देवानां द्विषतो भ्रातृव्यान् ॥२॥ ते हैतामेधतुमेधां च-
क्रिरे । यामेषामेतामनुशृण्वन्ति कृषन्तो ह स्मैव पूर्वे वपन्तो यन्ति लुनन्तोऽपरे
मृणन्तः शश्वद्धैभ्योऽकृष्टपच्या एवौषधयः पेचिरे ॥३॥ तद्वै देवानामाग आस ।
कनीय इन्नु तो द्विषन्द्विषतेऽरातीयति किमु तावन्मात्रमुपजानीत यथेदमितोऽन्यथा-
सदिति ॥४॥ ते होचुः । ऋतूनेवानुमन्त्रयामहाऽइति केनेति प्रथमानेवैनान्यज्ञे
यजामेति ॥५॥ स हाग्निरुवाच । अथ यन्मां पुरा प्रथमं यजथ क्वाहं भवानीति न
त्वामायतनाच्च्यावयाम इति ते यदृतूनभिह्वयमाना अथाग्निमायतनान्नाच्यावयंस्त-
स्मादग्निरच्युतो न ह वाऽआयतनाच्च्यवते यस्मिन्नायतने भवति य एवमेतमग्नि-
मच्युतं वेद ॥६॥ ते देवा अग्निमब्रुवन् । परेह्येनांस्त्वमेवानुमन्त्रयस्वेति स हैत्या-
ग्निरुवाचऽर्तवोऽविदं वै वो देवेषु यज्ञे भागमिति कथं नोऽविद इति प्रथमानेव
वो यज्ञे यक्ष्यन्तीति ॥७॥ तऽऋतवोऽग्निमब्रुवन् । आ वयं त्वामस्मासु भजामो
यो नो देवेषु यज्ञे भागमविद इति स एषोऽग्निर्ऋतुष्वाभक्तः समिधोऽअग्ने तनून-
पादग्नऽइडोऽअग्ने बर्हिरग्ने स्वाहाग्निमित्याभक्तो ह वै तस्यां पुण्यकृत्यायां भवति
यामस्य समानो ब्रुवाणः करोत्यग्निमते ह वाऽअस्माऽअग्निमन्त ऋतव ओषधीः
पचन्तीदꣳ सर्वं य एवमेतमग्निमृतुष्वाभक्तं वेद ॥८॥ तदाहुः । यदुत्तमान्प्रयाजाना-
त्राह्वयन्त्यथ कस्मादेनान्प्रथमान्यजन्तीत्युत्तमान्ह्येनान्यज्ञेऽवाकल्पयन्प्रथमान्वो य-
जामेत्यब्रुवंस्तस्मादुत्तमानावाह्वयन्ति प्रथमान्यजन्ति ॥९॥ चतुर्थेन वै प्रयाजेन दे-
वाः । यज्ञमाप्नुवंस्तं पञ्चमेन समस्थापयन्नथ यदत ऊर्ध्वमसꣳस्थितं यज्ञस्य स्वर्गमेव
तेन लोकꣳ समाश्नुवत ॥१०॥ ते स्वर्गं लोकं यन्तः । असुररक्षसेभ्य आसङ्गाद्वि-
भयां चक्रुस्तेऽग्निं पुरस्तादकुर्वत रक्षोहणꣳ रक्षसामपहन्तारमग्निं मध्यतोऽकुर्वत
रक्षोहणꣳ रक्षसामपहन्तारमग्निं पश्चादकुर्वत रक्षोहणꣳ रक्षसामपहन्तारꣳ ॥११॥

निकालो। हमारा भी यज्ञ में भाग हो' ॥१॥

देवों ने न माना। देवों के न मानने पर ऋतुएँ असुरों के पास चली गईं जो अप्रिय तथा देवों के शत्रु और अहितकारी थे ॥२॥

उन (असुरों) ने ऐसी उन्नति की कि देवों ने भी सुना। जो असुर आगे-आगे जोतते-बोते जाते थे, पीछे से उसी को दूसरे असुर काटते और इकट्ठा करते जाते थे। इनके लिए मानो बिना जोते ही ओषधियाँ झट से पक जाती थीं (अर्थात् असुर ज्यों ही बोते थे त्यों ही बिना समय बीते फसल पक जाती थी। आगे-आगे बोते थे, पीछे-पीछे काटते थे क्योंकि ऋतुएँ उनके साथ थीं) ॥३॥

इससे देवों को चिन्ता हुई कि इस प्रकार शत्रु, शत्रु को हानि पहुँचावें यह तो छोटी बात है। परन्तु इसकी हद बढ़ गई। अब कोई ऐसा उपाय होना चाहिए जिससे इस प्रकार की अवस्था न रहे ॥४॥

उन्होंने कहा, 'पहले ऋतुओं को बुलावें।' कैसे? 'पहले इनको यज्ञ में भाग दें' ॥५॥

अग्नि ने कहा, 'तुम पहले मुझको आहुति देते हो, अब मैं कहाँ जाऊँ?' उन्होंने कहा, 'हम तुमको तुम्हारे स्थान से नहीं हटायेंगे।' और क्योंकि ऋतुओं के बुलाने में अग्नि को उन्होंने उसकी जगह से नहीं हटाया, इसलिए अग्नि अच्युत है। जो पुरुष समझता है कि अग्नि अच्युत है वह अपने स्थान से च्युत नहीं होता ॥६॥

देवों ने अग्नि से कहा, 'जाओ और उन्हें यहाँ बुला लाओ।' अग्नि उनके पास गया और बोला, 'हे ऋतुओ, मैंने तुम्हारे लिए यज्ञ में भाग प्राप्त कर लिया।' उन्होंने पूछा, 'तुमने हमारा भाग हमारे लिए कैसे प्राप्त किया?' अग्नि ने उत्तर दिया, 'वे पहले तुम्हारे लिए आहुति देंगे' ॥७॥

ऋतुओं ने अग्नि से कहा, 'हम तुमको अपने साथ यज्ञ में भाग देंगे, क्योंकि तुमने हमारे लिए यज्ञ में देवों के साथ भाग दिलाया है' और क्योंकि अग्नि को ऋतुओं के साथ-साथ आहुति मिली, इसलिए कहते हैं, 'समिधोऽग्ने', 'तनूनपादग्ने', 'इडोऽग्ने', 'बर्हिरग्ने', 'स्वाहाग्निम्'। जो इस रहस्य को समझता है उसका उस पुण्य कार्य में भाग होता है जो वह पुरुष करता है, जो अपने को उसके समान कहता है, क्योंकि वह अग्निमान् (अग्निवाला) है। अग्निमान् ऋतुएँ ही ओषधियों तथा अन्य पदार्थों को पकाती हैं ॥८॥

इस पर कुछ लोग आक्षेप करते हैं कि जब ये पिछले प्रयाज हैं तो पहले ही आहुतियाँ क्यों दी जाती हैं? इसका उत्तर यह है कि इन प्रयाजों की कल्पना ही सबसे पीछे की थी, इसलिए ये पिछले प्रयाज हैं, और क्योंकि कहा कि हम पहले आहुति देंगे इसलिए पहले प्रयाज-आहुतियाँ दी गईं ॥९॥

देवों ने चौथे प्रयाज से यज्ञ को प्राप्त किया और पाँचवें प्रयाज से उसकी स्थापना की। उसके बाद जो कुछ असंस्थित (बिना स्थापित हुआ) बच रहा, उसके द्वारा स्वर्गलोक को प्राप्त किया ॥१०॥

वे स्वर्गलोक को जाने लगे तो असुर और राक्षसों से डरे। उन्होंने अग्नि को अगुवा बनाया, क्योंकि वह राक्षसों को मारनेवाला और भगानेवाला है। उन्होंने अग्नि को मध्य में रक्खा क्योंकि अग्नि राक्षसों का मारनेवाला और भगानेवाला है। उन्होंने अग्नि को पीछे रक्खा, क्योंकि वह अग्नि राक्षसों को मारनेवाला और भगानेवाला है ॥११॥

स यज्ञेनान्पुरस्तात् । असुररक्षसान्यासिसंक्षन्नग्निरेव तान्यपाघ्नन्रक्षोहा रक्षसामप-
हन्ता यदि मध्यत आसिसंक्षन्नग्निरेव तान्यपाघ्नन्रक्षोहा रक्षसामपहन्ता यदि प-
श्चादासिसंक्षन्नग्निरेव तान्यपाघ्नन्रक्षोहा रक्षसामपहन्तात एवꣳ सर्वतोऽग्निभिर्गु-
प्यमानाः स्वर्गं लोकꣳ समाश्नुवत ॥१२॥ तथोऽएवैष एतत् । चतुर्थेनैव प्रया-
जेन यज्ञमाप्नोति तं पञ्चमेन सꣳस्थापयत्यथ यदत ऊर्ध्वमसꣳस्थितं यज्ञस्य स्वर्गमि-
व तेन लोकꣳ समश्नुते ॥१३॥ स यदाग्नेयमाज्यभागं यजति । अग्निमेवैतत्पुरस्ता-
त्कुरुते रक्षोहणꣳ रक्षसामपहन्तारमथ यदाग्नेयः पुरोडाशो भवत्यग्निमेवैतन्मध्यतः
कुरुते रक्षोहणꣳ रक्षसामपहन्तारमथ यदग्निꣳ स्विष्टकृतं यजत्यग्निमेवैतत्पश्चात्कु-
रुते रक्षोहणꣳ रक्षसामपहन्तारꣳ ॥१४॥ स यज्ञेनं पुरस्तात् । असुररक्षसान्या-
सिसंक्षन्त्यग्निरेव तान्यपहन्ति रक्षोहा रक्षसामपहन्ता यदि मध्यत असुररक्षसा-
न्यासिसंक्षन्त्यग्निरेव तान्यपहन्ति रक्षोहा रक्षसामपहन्ता यदि पश्चादसुररक्षसा-
न्यासिसंक्षन्त्यग्निरेव तान्यपहन्ति रक्षोहा रक्षसामपहन्ता स एवꣳ सर्वतोऽग्निभि-
र्गुप्यमानः स्वर्गं लोकꣳ समश्नुते ॥१५॥ स यज्ञेनं पुरस्तात् । यज्ञस्यानुव्याहरेत्तं
प्रति ब्रूयान्मुख्यामार्त्तिमारिष्यस्यन्धो वा बधिरो वा भविष्यसीत्येता वै मुख्या आ-
र्त्तयस्तथा हैव स्यात् ॥१६॥ यदि मध्यतो यज्ञस्यानुव्याहरेत् । तं प्रति ब्रूयादप्र-
जा अपशुर्भविष्यसीति प्रजा वै पशवो मध्यं तथा हैव स्यात् ॥१७॥ यद्यन्ततो
यज्ञस्यानुव्याहरेत् । तं प्रति ब्रूयादप्रतिष्ठितो दरिद्रः क्षिप्रेऽमुं लोकमेष्यसीति त-
था हैव स्यात्तस्मादुह नानुव्याहारीव स्यादुत ह्येवंवित्परो भवति ॥१८॥ संव-
त्सरꣳ ह वै प्रयाजैर्जयन्जयति । स ह न्वेवैनं जयति योऽस्य द्वाराणि वेद किꣳ
हि स तैर्गृहैः कुर्याद्यानन्तरतो न व्यववियाद्यथास्य ते भवन्ति तस्य वसन्त एव
द्वारꣳ हेमन्तो द्वारं तं वाऽएतꣳ संवत्सरꣳ स्वर्गं लोकं प्रपद्यते सर्वं वै संवत्स-
रः सर्वं वाऽअक्षय्यमेतेन हास्याक्षय्यꣳ सुकृतं भवत्यक्षय्यो लोकः ॥१९॥ तदा-

यदि असुर और राक्षस सामने आक्रमण करते तो अग्नि उनको हटा देता, क्योंकि अग्नि राक्षसों को मारने तथा भगानेवाला है। यदि बीच से आक्रमण करते तो अग्नि उनको हटा देता, क्योंकि अग्नि राक्षसों को मारने तथा भगानेवाला है। यदि पीछे से आक्रमण करते तो अग्नि उनको हटा देता, क्योंकि राक्षसों को मारनेवाला और भगानेवाला है। इस प्रकार सब ओर से अग्नियों से रक्षित होकर वे स्वर्ग में पहुँच गये ॥१२॥

इसी प्रकार यह (यजमान) भी चौथे प्रयाज से यज्ञ को प्राप्त करता है, पाँचवें यज्ञ को स्थापित करता है और जो यज्ञ से बच रहता है उससे स्वर्गलोक को प्राप्त करता है ॥१३॥

वह जब आग्नेय आज्यभाग से यज्ञ करता है तो अग्नि को सामने रखता है, क्योंकि अग्नि राक्षसों को मारने और भगानेवाला है। वह जब आग्नेय पुरोडाश से यज्ञ करता है तो अग्नि को बीच में रखता है, क्योंकि अग्नि राक्षसों को मारने और भगानेवाला है। जब वह स्विष्टकृत् अग्नि में यज्ञ करता है तो अग्नि को पीछे रखता है, क्योंकि अग्नि राक्षसों को मारनेवाला और भगानेवाला है ॥१४॥

असुर राक्षस जब आगे से आक्रमण करते हैं तो अग्नि उनको हटा देता है, क्योंकि अग्नि राक्षसों को मारनेवाला और भगानेवाला है। जब असुर राक्षस बीच से आक्रमण करते हैं तो अग्नि उनको पीछे हटा देता है, क्योंकि अग्नि राक्षसों को मारनेवाला और भगानेवाला है। जब असुर राक्षस पीछे से आक्रमण करते हैं तो अग्नि उनको हटा देता है, क्योंकि अग्नि राक्षसों को मारनेवाला और हटानेवाला है। इस प्रकार सब ओर से अग्नि द्वारा सुरक्षित होकर स्वर्गलोक को प्राप्त होता है ॥१५॥

यदि कोई उसके साथ यज्ञ के पहले दुष्ट व्यवहार करे तो उसको उत्तर दें—'मुख के रोग तुझे लग जायें। तू अन्धा या बहरा हो जायगा।' यही मुख के रोग हैं। ऐसा ही हो जाय ॥१६॥

यदि कोई उसके साथ यज्ञ के बीच दुष्ट व्यवहार करे तो उसको उत्तर दें—'तू प्रजाहीन और पशुहीन हो जायगा।' क्योंकि प्रजा और पशु मध्य के हैं। ऐसा ही हो जायगा ॥१७॥

यदि कोई उससे यज्ञ के पीछे दुष्ट व्यवहार करे तो उससे कहना चाहिए—'तू-प्रतिष्ठाहीन और दरिद्र शीघ्र ही दूसरे लोक को चला जायगा।' ऐसा ही होवे। इसलिए किसी को दुष्ट व्यवहार नहीं करना चाहिए। जो इस रहस्य को जानता है वही लाभ में रहता है ॥१८॥

प्रयाजों से संवत्सर को जीतता है। वही जीतता है जो उसके द्वारों को जानता है। वे लोग घरों से क्या लाभ उठा सकते हैं जो भीतर घुसने के द्वारों को नहीं जानते ? जिस प्रकार यज्ञ के द्वार प्रयाज हैं उसी प्रकार संवत्सर के द्वार वसन्त और हेमन्त हैं। इस संवतसर में स्वर्गलोक करके प्रविष्ट होता है, क्योंकि वस्तुतः संवत्सर 'सब' है। 'सब' अक्षय है। इस प्रकार उसको अक्षय पुण्य और अक्षय लोक की प्राप्ति होती है ॥१९॥

हुः । किंदेवत्यान्याज्यानीति प्राजापत्यानीति ह ब्रूयादनिरुक्तो वै प्रजापतिरनिरुक्तान्याज्यानि तानि हैतानि यजमानदेवत्यान्येव यजमानो ह्येव स्वे यज्ञे प्रजापतिस्तेन ह्युक्ता ऋत्विजस्तन्वते तं जनयन्ति ॥२०॥ स आज्यस्योपस्तीर्य । द्विर्हविषोऽवदायाथोपरिष्टादाज्यस्याभिघारयति सैषाज्येन मिश्राहुतिर्हूयते यजमानेन हैवैषैतन्मिश्रा हूयते यदि ह वाऽअपि दूरे सन्यजते यद्यन्तिके यथा हैवान्ते सत इष्टꣳ स्यादेवꣳ हैवैवं विदुष इष्टं भवति यद्यु ह्यपि बह्विव पापं करोति नो हैव बहिर्धा यज्ञाद्भवति य एवमेतद्वेद ॥२१॥ ब्राह्मणम् ॥ ६ [६.१.] ॥ ॥ चतुर्थः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या १२१ ॥ ॥

यज्ञेन वै देवाः । इमां जितिं जिग्युर्येषामियं जितिस्ते होचुः कथं न इदं मनुष्यैरनभ्यारोह्यꣳ स्यादिति ते यज्ञस्य रसं धीत्वा यथा मधु मधुकृतो निर्धयेयुर्विदुह्य यज्ञं यूपेन योपयित्वा तिरोऽभवन्नथ यदेनेनायोपयंस्तस्माद्यूपो नाम तद्वाऽऋषीणामनुश्रुतमास ॥१॥ यज्ञेन ह वै देवाः । इमां जितिं जिग्युर्येषामियं जितिस्ते होचुः कथं न इदं मनुष्यैरनभ्यारोह्यꣳ स्यादिति ते यज्ञस्य रसं धीत्वा यथा मधु मधुकृतो निर्धयेयुर्विदुह्य यज्ञं यूपेन योपयित्वा तिरोऽभवन्निति तमन्वेष्टुं दध्रिरे ॥२॥ तेऽर्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुः । श्रमेण ह स्म वै तद्देवा जयन्ति यदेषां जय्यमासऽर्षयश्च तेभ्यो देवा नैव प्ररोचयां चक्रुः स्वयं नैव दध्रिरे प्रेत तदेष्यामो यतो देवाः स्वर्गं लोकꣳ समाश्नुवतेति ते किं प्ररोचते किं प्ररोचतऽइति चेरुस्ते पुरोडाशमेव कूर्मं भूत्वा सर्पन्तं ते ह सर्वऽएव मेनिरेऽयं वै यज्ञ इति ॥३॥ ते होचुः । अश्विभ्यां तिष्ठ सरस्वत्यै तिष्ठेन्द्राय तिष्ठेति स सर्पन्नेवाग्नये तिष्ठेति ततस्तस्थावग्नये वाऽअस्थादिति तमग्नावेव परिगृह्य सर्वहुतमजुहवुराहुतिर्हि देवानां तत एभ्यो यज्ञः प्रारोचत तमसृजन्त तमतन्वत सोऽयं परोऽवरं यज्ञोऽनूच्यते पितेव पुत्राय ब्रह्मचारिणे ॥४॥ स वाऽएभ्यस्तत्पुरोऽदाशयत् । य एभ्यो यज्ञं प्रारोचयत्तस्मा-

यदि कोई पूछे कि आज्य आहुतियाँ किस देव के लिए हैं तो उत्तर देना चाहिए—'प्रजापति के लिए।' क्योंकि प्रजापति अनिरुक्त (अस्पष्ट) है और ये आहुतियाँ भी अनिरुक्त हैं। यजमान ही उनका देवता है। अपने यज्ञ में यजमान ही प्रजापति है, क्योंकि इसी के कहने से ऋत्विज लोग यज्ञ को फैलाते और उत्पन्न करते हैं ॥२०॥

हवि के ऊपर घी लगाकर उसमें से दो टुकड़े काटकर उन पर घी डालता है। इस प्रकार घी से मिश्रित आहुति दी जाती है, मानो यजमान से ही मिश्रित आहुति दी जाती है। चाहे वह दूर हो या निकट, यज्ञ इसी प्रकार किया जाता है मानो वह निकट ही है। यदि वह इस रहस्य को समझता है, यदि वह इसको जानता है तो वह यज्ञ से कभी बाहर नहीं होता है चाहे कितना ही पाप क्यों न करे ॥२१॥

अध्याय ६—ब्राह्मण २

यज्ञ से ही देवों ने यह (स्वर्गलोक) जीता। जब जीत चुके तो कहने लगे कि इसको मनुष्य के न प्राप्त करने योग्य कैसे बनाया जाय? उन्होंने यज्ञ के रस को ऐसे चूस लिया जैसे मधुमक्खी मधु को चूसती है। यज्ञ को दूह अर्थात् चूसकर, यूप से छिपाकर छिप गये। चूंकि उन्होंने इसे यूप से छिपाया (आयोपयन्), अतः इसका 'यूप' नाम पड़ा। अब ऋषियों ने सुना—॥१॥

'यज्ञ से ही देवों ने (स्वर्गलोक) को जीता और जीतने पर उन्होंने कहा किस प्रकार हम इसको मनुष्य से प्राप्त न करने योग्य बनावें? उन्होंने यज्ञ के रस को ऐसे चूस लिया जैसे मधुमक्खी मधु को, और यज्ञ को दुहकर उसे छिपा दिया और आप छिप गये।' (ऋषि लोग) उसको ढूंढने लगे ॥२॥

उन्होंने पूजा और श्रम करना आरम्भ किया। श्रम से ही देवों ने जो कुछ जीतना चाहा जीता, और ऋषियों ने भी। या तो इनको देवों ने आकर्षित किया या ये स्वयं ही चले। उन्होंने कहा, 'आओ' उस स्थान को चलें जहाँ देवों ने स्वर्गलोक को प्राप्त किया था।' वे यह कहकर फिरने लगे, 'यह क्या चमकता है? यह क्या चमकता है?' पुरोडाश को कूर्म (कछुवा) के रूप में रेंगते देखकर उन्होंने समझा कि यही यज्ञ है ॥३॥

उन्होंने कहा, 'अश्विनों के लिए ठहर! सरस्वती के लिए ठहर! इन्द्र के लिए ठहर!' वह चलता ही गया। जब उन्होंने कहा, 'अग्नि के लिए ठहर' तो वह ठहर गया। यह समझकर कि यह अग्नि के लिए ठहर गया, उन्होंने उसे अग्नि में लपेटकर सबकी आहुति दे दी। क्योंकि देवों के लिए यह आहुति थी, उनको यज्ञ रोचक मालूम हुआ। उन्होंने यज्ञ को किया, उसको फैलाया। यह यज्ञ परम्परा से कहा जाता है। पिता ब्रह्मचारी पुत्र के लिए उपदेश करता है ॥४॥

उन्होंने उनके लिए इसे 'पुरो' अर्थात् आगे 'अदाशयत्' अर्थात् रक्खा, जिसने इनके लिए

त्पुरोदाशः पुरोदाशो ह वै नामैतद्यत्पुरोडाश इति स एष उभयत्राच्युत आग्नेयो ऽष्टाकपालः पुरोडाशो भवति ॥५॥ स न पौर्णमासᳪ हविः । नामावास्यमग्नीषोमीय एव पौर्णमासᳪ हविः सांनाय्यमामावास्यं यन्न एवैष उभयत्रावक्लृप्तो नेद्यज्ञादयानीति न्वेव पुरस्तात्पौर्णमासस्य क्रियतऽएवम्वामावास्यस्यैतन्नु तद्यस्मादत्र क्रियते ॥६॥ यद्युऽएनमुपधावेत् । इष्ट्या मा याजयेत्येतयैव याजयेद्यत्कामा वाऽएतमृषयोऽजुहवुः स एभ्यः कामः समर्ध्यत यत्कामो ह वाऽएतेन यज्ञेन यजते सोऽस्मै कामः समृध्यते यस्यै वै कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यतेऽग्नौ वै तस्यै जुह्वत्यग्नाऽउ चेज्जोष्यन्त्स्यात्किमन्यस्यै देवतायाऽआदिशेत्तस्मादग्नयऽएव ॥७॥ अग्निर्वै सर्वा देवताः । अग्नौ हि सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुह्वति तद्यथा सर्वा देवता उपधावेदेवं तत्तस्मादग्नयऽएव ॥८॥ ॥ शतम् ५०० ॥ ॥ अग्निर्वै देवानामद्धातमाम् । यं वाऽअद्धातमां मन्येत तमुपधावेत्तस्मादग्नयऽएव ॥९॥ अग्निर्वै देवानां मृदुहृदयतमः । यं वै मृदुहृदयतमं मन्येत तमुपधावेत्तस्मादग्नयऽएव ॥१०॥ अग्निर्वै देवानां नेदिष्ठम् । यं वै नेदिष्ठमुपसर्तव्यानां मन्येत तमुपधावेत्तस्मादग्नयऽएव ॥११॥ स यदीष्टिं कुर्वीत । सप्तदश सामिधेनीरनुब्रूयादुपाᳪशु देवतां यजति तद्धीष्टिरूपं मूर्धन्वत्यौ याज्यानुवाक्ये स्यातां वार्त्रघ्नावाज्यभागौ विराजौ संयाज्ये ॥१२॥ ब्राह्मणम् ॥१[६.२.]॥ ॥

त्वष्टुर्ह वै पुत्रः । त्रिशीर्षा षडक्ष आस तस्य त्रीण्येव मुखान्यासुस्तद्यदेवᳪरूप आस तस्माद्विश्वरूपो नाम ॥१॥ तस्य सोमपानमेवैकं मुखमास । सुरापाणमेकमन्यस्माऽअशनायैकं तमिन्द्रो दिद्वेष तस्य तानि शीर्षाणि प्रचिच्छेद ॥२॥ स यत्सोमपानमास । ततः कपिञ्जलः समभवत्तस्मात्स बभ्रुक-इव बभ्रुरिव हि सोमो राजा ॥३॥ अथ यत्सुरापाणमास । ततः कलविङ्कः समभवत्तस्मात्सोऽभिमाद्यत्क-इव वदत्यभिमाद्यन्निव हि सुरां पीत्वा वदति ॥४॥ अथ यदन्यस्माऽअश

यज्ञ को रोचक बनाया, इसलिए इसका नाम 'पुरोडाश' हुआ। पुरोदाश ही पुरोडाश है। अग्नि के लिए आठ कपालों का पुरोडाश दोनों जगह (अर्थात् दर्श और पूर्णमास यज्ञ में) आवश्यक है ॥५॥

यह हवि न पूर्णमासी की है न अमावस्या की। पूर्णमासी की हवि अग्नि-षोमीय है और अमावस्या की सान्नाय्य। दोनों समय यह यज्ञ ही है। कहीं यह यज्ञ हवि-यज्ञ से अलग न रह जाय, इसलिए यह पूर्णमासी को भी दी जाती है और अमावस्या को भी। यही कारण है कि यह यहाँ दी जाती है ॥६॥

यदि कोई (गृहस्थी) (अध्वर्यु के पास) जावे और कहे कि मेरे लिए यज्ञ (इष्टि) करो, तो उसे यज्ञ करना चाहिए। ऋषियों ने जब यज्ञ किया तो जो कुछ कामनायें कीं, वे सब पूरी हुई। इसी प्रकार यजमान इष्टि के करने में जो कुछ कामना करता है वह पूरी हो जाती है। जिस किसी देवता के लिए हवि दी जाती है, उस-उसके लिए अग्नि में दी जाती है। यदि आहुति अग्नि में दी जाती है तो दूसरे देवता के लिए क्यों घोषित की जाय? इसलिए यह अग्नि के लिए ही है ॥७॥

अग्नि ही सब देवता हैं। अग्नि में ही सब देवताओं के लिए आहुति दी जाती है। इसलिए अग्नि के लिए घोषणा करे, इससे सब देवताओं तक जा सकता है ॥८॥ यहाँ ॥५००॥ समाप्त हुए ॥

अग्नि ही सब देवताओं में अधिक फल देनेवाला है। जिसको सबसे अधिक फल देनेवाला समझे उसी के पास जावे। इसलिए अग्नि के लिए (यह हवि है) ॥९॥

अग्नि देवताओं में सबसे मृदु हृदय अर्थात् नरम दिल वाला है। जिसको सबसे अधिक नरम दिल वाला समझे उसी के पास जावे। इसलिए अग्नि के लिए (यह हवि है) ॥१०॥

अग्नि देवों में निकटतम है। जहाँ जाना हो, उनमें जिसको निकटतम समझे वहीं जावे। इसलिए अग्नि के लिए (यह हवि है) ॥११॥

यदि वह कोई इष्टि करे तो १७ सामिधेनियों को बोले। वह इनको धीरे-धीरे बोले, यही इष्टि का रूप है। याज्य और अनुवाक्य में 'मूर्धा' शब्द हो। दो आज्य भाग वृत्रघ्न अर्थात् इन्द्र के लिए हों और विराज छन्द में ॥१२॥

अध्याय ६—ब्राह्मण ३

त्वष्टा के एक पुत्र था। उसके तीन सिर और छः आँखें थीं, तथा तीन मुख थे। उसका ऐसा रूप था इसलिए उसका नाम विश्वरूप था ॥१॥

उसका एक मुँह सोम पीने के लिए था, एक सुरा पीने के लिए और एक अन्य प्रकार के भोजन करने के लिए। इन्द्र उससे द्वेष करता था, इसलिए उसने उन सिरों को काट डाला ॥२॥

जो सोम पीने का मुँह था उसमें से चातक पक्षी उत्पन्न हुआ। इसलिए वह भूरा होता है। सोम राजा भूरा है ॥३॥

और जो मद्य पीने का (मुँह) था उससे गौरय्या (कलविंक पक्षी) उत्पन्न हुई, इसलिए वह लड़खड़ाती आवाज में बोलती है। क्योंकि जो शराब पीता है उसकी आवाज लड़खड़ाने लगती है ॥४॥

और जो अन्य खाना खानेवाला मुख था उससे तित्तिरी उत्पन्न हुई, इसलिए उसके शरीर

नायास । ततस्तित्तिरिः समभवत्तस्मात्स विश्वरूपतम-इव सन्त्येव घृतस्तोका-इव त्वन्मधुस्तोका-इव त्वत्पर्णेष्वाश्चुतिता एवꣳरूपꣳ हि स तेनाशनमावयत् ॥५॥ स त्वष्टा चुक्रोध । कुविन्मे पुत्रमवधीदिति सोऽपेन्द्रमेव सोममाजह्रे स यथायꣳ सोमः प्रसुत एवमपेन्द्र एवास ॥६॥ इन्द्रो ह वाऽईक्षां चक्रे । इदं वै मा सोमादन्तर्यन्तीति स यथा बलीयानबलीयस एवमनुपहूत एव यो द्रोणकलशे शुक्र आस तं भक्षयां चकार स हैनं जिहिꣳस सोऽस्य विष्वङ्ङेव प्राणेभ्यो दुद्राव मुखाद्धैवास्य न दुद्रावाथ सर्वेभ्योऽन्येभ्यः प्राणेभ्योऽद्रवत्तदद्ः सौत्रामणीतीष्टिस्तस्यां तद्व्याख्यायते यथैनं देवा अभिषज्यन् ॥७॥ स त्वष्टा चुक्रोध । कुविन्मेऽनुपहूतः सोममभक्षदिति स स्वयमेव यज्ञवेशस चक्रे स यो द्रोणकलशे शुक्रः परिशिष्ट आस तं प्रवर्तयां चकारेन्द्रशत्रुर्वर्धस्वेति सोऽग्निमेव प्राप्य सम्बभूवान्तरेव सम्बभूवेत्यु हैकऽआहुः सोऽग्नीषोमावेवाभिसम्बभूव सर्वा विद्याः सर्वं यशः सर्वमन्नाद्यꣳ सर्वाꣳ श्रीꣳ ॥८॥ स यद्वर्तमानः समभवत् । तस्माद्वृत्रोऽथ यदपात्समभवत्तस्मादहिस्तं दनुश्च दनायूश्च मातेव च पितेव च परिजगृहतुस्तस्माद्दानव इत्याहुः ॥९॥ अथ यदब्रवीदिन्द्रशत्रुर्वर्धस्वेति । तस्मादु हैनमिन्द्र एव जघानाथ यद्ध शश्वदवक्ष्यदिन्द्रस्य शत्रुर्वर्धस्वेति शश्वदु ह स एवेन्द्रमहनिष्यत् ॥१०॥ अथ यदब्रवीद्वर्धस्वेति । तस्मादु ह स्मेषुमात्रमेव तिर्यङ्ङूर्धतऽइषुमात्रं प्राङ्क्सोऽवैवावरꣳ समुद्रं दधावव पूर्वꣳ स यावत्स आस सहैव तावदन्नाद आस ॥११॥ तस्मै ह स्म पूर्वाह्णे देवाः । अशनमभिहरन्ति मध्यन्दिने मनुष्या अपराह्णे पितरः ॥१२॥ स वाऽइन्द्रस्तथैव नुत्तश्चरन् । अग्नीषोमाऽउपमन्त्रयां चक्रेऽग्नीषोमौ युवं वै मम स्थो युवयोरहमस्मि न युवयोरेष किं चन कं मऽइमं दस्युं वर्धयथ उप मावर्तेथामिति ॥१३॥ तौ होचतुः । किमावयोस्ततः स्यादिति ताभ्यामेतमग्नीषोमीयमेकादशकपालं पुरोडाशं निरवपत्तस्मादग्नीषोमीय एकादशकपालः पुरोडाशो भ-

पर चितकबरे दाग होते हैं। कहीं घी के-से दाग, कहीं शहद के, से दाग, क्योंकि भिन्न-भिन्न रंग की वस्तुयें थीं जो उसने खाईं ॥५॥

त्वष्टा को क्रोध हुआ। उसने कहा, 'क्या सचमुच मेरे पुत्र को मार डाला ?' वह उस उपेन्द्र सोम (वह सोम, जिसमें इन्द्र को भाग नहीं दिया गया) को ले आया। इस प्रकार यह सोम निचोड़ा गया, तब वह इन्द्र के भाग से शून्य था ॥६॥

इन्द्र ने सोचा, 'यह मुझे सोम से निकालते हैं!' बस उसने बिना बुलाये ही कलश में जो शुक्र अर्थात् शुद्ध सोम था पी लिया, जैसे बली पुरुष निर्बलों की चीज पी जाते हैं। उस (सोम) ने उसको पीड़ा पहुँचाई। वह उसके सब प्राणों से होकर बहने लगा। केवल मुख से न बहा; सब अन्य प्राणों से बहने लगा। इससे सौत्रामणि इष्टि हुई। उसी में यह बताया जाता है कि देवों ने उसको किस प्रकार चंगा किया ॥७॥

त्वष्टा को क्रोध आया— 'क्या यह बिना बुलाये ही सोम पी गया ?' उसने स्वयं ही यज्ञ को बिगाड़ दिया। कलश में जो शुद्ध सोम बचा था उसको (अग्नि में) उँडेलकर कहा—'इन्द्र-शत्रुर्वर्द्धस्व''—''हे अग्नि तू 'इन्द्र है शत्रु जिसका' ऐसा होकर बढ़।'' वह अग्नि में पहुँचते पहुँचते (मनुष्य-रूप) हो गया। कुछ कहते हैं कि बीच में ही वह 'अग्निषोम' हो गया अर्थात् सब विद्या, सब यश, सब अन्न और सब श्री ॥८॥

चूँकि यह वर्त्तमान (वृत् धातु का अर्थ बहना है) अर्थात् बहकर उत्पन्न हुआ, इसलिए 'वृत्र' हो गया। चूँकि बिना पैरों के उत्पन्न हुआ, इसलिए अहि (सर्प) हुआ। दनु और दनायु ने माता-पिता के समान उसे लिया, इसलिए उसको 'दानव' कहते हैं ॥९॥

चूँकि उसने कहा, 'इन्द्र-शत्रु (बहुब्रीहि समास) बढ़ो' इसलिए इन्द्र ने उसको मार डाला। यदि कहता, 'इन्द्र के शत्रु बढ़ो' तो अवश्य ही वह इन्द्र को मार डालता ॥१०॥

चूँकि उसने कहा, 'बढ़ो', इसलिए वह तीर के बराबर टेढ़ा और तीर के बराबर सामने बढ़ा। उसने पश्चिमी और पूर्वी समुद्र को पीछे हटा दिया, और जितना वह बढ़ा उसी के अनुसार उसने भोजन खाया ॥११॥

सवेरे उसको देव खाना देते हैं, दोपहर को मनुष्य और तीसरे पहर को पितर ॥१२॥

जब इन्द्र उसका पीछा कर रहा था तो उसने 'अग्नीषोम' को बुलाया और कहा, 'हे अग्नि-सोम! तुम दोनों मेरे हो, मैं तुम दोनों का हूँ। वह तो तुम्हारा कोई नहीं लगता। तुम उस दस्यु को क्यों बढ़ाते हो ? मेरे पास आओ' ॥१३॥

उन दोनों ने उत्तर दिया, 'हमको क्या मिलेगा ?' उसने कहा कि ग्यारह कपालों का पुरोडाश अग्नि-सोम को मिलेगा। इसलिए ग्यारह कपालों का पुरोडाश अग्नि-सोम का होता

वति ॥१४॥ तावेनमुपाववृततुः । तावनु सर्वे देवाः प्रेयुः सर्वा विद्याः सर्वं यशः सर्वमन्नाद्यꣳ सर्वा श्रीस्तेनेष्ट्वेन्द्र एतदभवद्यदिदमिन्द्र एष उ पौर्णमासस्य बन्धुः स यो हैवं विद्वान्पौर्णमासेन यजतऽएताꣳ हैव श्रियं गच्छत्येवं यशो भवत्येवमन्नादो भवति ॥१५॥ तद्वैव खलु हतो वृत्रः । स यथा दृतिर्निष्पीत एवꣳ संलीनः शिश्ये यथा निर्धूतसक्तुर्भस्त्रैवꣳ संलीनः शिश्ये तमिन्द्रोऽभ्यादुद्राव हनिष्यन् ॥१६॥ स होवाच । मा नु मे प्रहार्षीस्त्वं वै तदेतर्ह्यसि यदहं व्येव मा कुरु मामुया भूवमिति स वै मेऽन्नमेधीति तथेति तं द्वेधान्वभिनत्तस्य यत्सौम्यं न्यक्तमास तं चन्द्रमसं चकाराथ यदस्यासुर्यमास तेनेमाः प्रजा उदरेणाविध्यत्तस्मादाहुर्वृत्र एव तर्ह्यन्नाद आसीद्वृत्र एतर्हीतीदꣳ हि यदसावापूर्यतेऽस्मादेवैतल्लोकादाप्यायतेऽथ यदिमाः प्रजा अशनमिच्छन्तेऽस्माऽएवैतद्वृत्रायोदराय बलिꣳ हरन्ति स यो हैवमेतं वृत्रमन्नादं वेदान्नादो हैव भवति ॥१७॥ ता उ हैता देवता ऊचुः । या इमा अग्नीषोमावन्वाजग्मुरग्नीषोमौ युवं वै नो भूयिष्ठभाजौ स्थो ययोर्वामिदं युवयोरस्मानन्वाभजतमिति ॥१८॥ तौ होचतुः । किमावयोस्ततः स्यादिति यस्यै कस्यै च देवतायै हविर्निर्वपांस्तद्वां पुरस्तादाज्यस्य यजानिति तस्माद्यस्यै कस्यै च देवतायै हविर्निर्वपन्ति तत्पुरस्तादाज्यभागावग्नीषोमाभ्यां यजन्ति तन्न सौम्येऽध्वरे न पशौ यस्यै कस्यै च देवतायै निर्वपानिति ह्यब्रुवन् ॥१९॥ स हाग्निरुवाच । मय्येव वः सर्वेभ्यो जुह्वतु तद्वोऽहं मय्याभजामीति तस्मादग्नौ सर्वेभ्यो देवेभ्यो जुह्वति तस्मादाहुरग्निः सर्वा देवता इति ॥२०॥ अथ ह सोम उवाच । मामेव वः सर्वेभ्यो जुह्वतु तद्वोऽहं मय्याभजामीति तस्मात्सोमꣳ सर्वेभ्यो देवेभ्यो जुह्वति तस्मादाहुः सोमः सर्वा देवता इति ॥२१॥ अथ यदिन्द्रे सर्वे देवास्तस्थानाः । तस्मादाहुरिन्द्रः सर्वा देवता इन्द्रश्रेष्ठा देवा इत्येतद्ध वै देवास्त्रेधैकदेवत्या अभवन्स यो हैवमेतद्वेदैकधा हैव स्वानाꣳ श्रेष्ठो भवति ॥२२॥ द्वयं वाऽइदं न तृ

है ।।१४।।

वे दोनों उसके पास चले गये, और उनके पीछे-पीछे सब देवता भी चले गये, सब विद्यायें, सब यक्ष, सब अन्न, सब श्री भी । इस इष्टि को करके ही इन्द्र वह हो गया जो अब है। यह पौर्णमास यज्ञ का महत्व है । जो कोई जानकर पौर्णमास यज्ञ करता है, उसके पास श्री जाती है, यश होता है और अन्न का भोग करनेवाला होता है ।।१५।।

पीटा हुआ वृत्र अब ऐसी क्षीण दशा में पड़ा था जैसे मशक से पानी निकल जाय, या सत्तू के थैले में से सत्तू निकल जायँ । इन्द्र उसका घात करने के लिए उसकी ओर झपटा ।।१६।।

वह बोला, 'मुझे मत मार ! तू अब वही है जो मैं पहले था । मेरे दो भाग कर दे । ऐसा न कर जिससे मेरा अस्तित्व ही न रहे ।' (इन्द्र ने) कहा, 'तू मेरा खाद्य-पदार्थ होगा ।' उसने कहा, 'अच्छा ।' उसके दो टुकड़े कर दिये । उसका जो सौम्य (सोमयुक्त) टुकड़ा था उसका चन्द्रमा बना दिया, और जो उसका असुर्य (असुर-युक्त) भाग था उसमें यह प्रजा पेट के रूप में प्रविष्ट हुई अर्थात् उससे लोगों का पेट बना । इसी से लोग कहा करते हैं कि पहले भी वृत्र अन्न का खाने वाला है और अब भी, क्योंकि जब यह चाँद पूर्ण होता है तो इसी लोक से भर जाता है । जब यह प्रजा खाने की इच्छा करती है तो इसी पेट अर्थात् वृत्र को बलि देती है । जो इस वृत्र को अन्न का खानेवाला जानता है, स्वयं भी अन्न का खानेवाला होता है ।।१७।।

उन देवताओं ने कहा, 'हे अग्नि और सोम, हम तुम्हारे पीछे आये और तुम सबसे अच्छा भाग ले लेते हो । जो कुछ तुम पाते हो उसमें से हमको भी भाग दो' ।।१८।।

उन देवों ने कहा, 'फिर हमको क्या मिलेगा ?' उन्होंने उत्तर दिया 'जिस किसी देवता के लिए लोग हवि देंगे, उससे पहले तुमको घी की आहुति देंगे ।' इसीलिए जिस किसी देवता के लिए हवि देते हैं तो पहले घी की दो आहुतियाँ अग्नि और सोम के लिए दिया करते हैं । यह सोम-यज्ञ में नहीं होता, न पशु-यज्ञ में । क्योंकि उन्होंने कहा, 'जिस किसी देवता के लिए आहुति दें' इत्यादि —।।१९।।

तब अग्नि ने कहा, 'मुझमें ही तुम सबके लिए आहुति देवेंगे, इसलिये मैं तुमको भाग दूँगा ।' इसीलिए अग्नि में सब देवों के लिए यज्ञ करते हैं । इसीलिए कहा था कि 'अग्नि सब देवता है' ।।२०।।

अब सोम ने कहा, 'मुझे ये लोग आप सबके लिए आहुति में देंगे । इसलिए मैं तुमको अपने में भाग दूँगा ।' इसलिए सोम की आहुति सब देवों के लिए दी जाती है । इसीलिए कहा, 'सोम सब देवता है' ।।२१।।

और चूँकि इन्द्र में सब स्थित हैं इसलिए कहते हैं कि इन्द्र सब देवता है । इन्द्र देवताओं में श्रेष्ठ (उच्च) है । इस प्रकार देव तीन प्रकार से एक देवता के रूप में आ गये । जो इस रहस्य को समझता है वह अपने आदमियों में श्रेष्ठ हो जाता है ।।२२।।

यह दो प्रकार से होता है, तीसरे से नहीं—एक आर्द्र (गीला), एक शुष्क (सूखा) । जो

तीयमस्ति । आर्द्रं चैव शुष्कं च यच्छुष्कं तदाग्नेयं यदार्द्रं तत्सौम्यमथ यदिदं द्वयमेवाप्य किमेतावत्क्रियतऽइत्यग्नीषोमयोरेवाज्यभागावग्नीषोमयोरुपाꣳशुयाजोऽग्नीषोमयोः पुरोडाशो यदुत एकतमेनैवेदꣳ सर्वमाप्नोत्यथ किमेतावत्क्रियतऽइत्यग्नीषोमयोर्ह्येवैतावती विभूतिः प्रजातिः ॥२३॥ सूर्य एवाग्नेयः । चन्द्रमाः सौम्योऽहरेवाग्नेयꣳ रात्रिः सौम्या य एवापूर्यतेऽर्धमासः स आग्नेयो योऽपक्षीयते स सौम्यः ॥२४॥ आज्यभागाभ्यामेव । सूर्याचन्द्रमसावाप्नोत्युपाꣳशुयाजेनैवाहोरात्रेऽआप्नोति पुरोडाशेनैवार्धमासावाप्नोतीत्यु हैकऽआहुः ॥२५॥ तदु होवाचासुरिः । आज्यभागाभ्यामेवातो यतमे वा यतमे वा द्वेऽआप्नोत्युपाꣳशुयाजेनैवातोऽहोरात्रेऽआप्नोति पुरोडाशेनैवातोऽर्धमासावाप्नोति सर्वं मऽआप्तमसत्सर्वं जितꣳ सर्वेण वृत्रꣳ हनानि सर्वेण द्विषन्तं भ्रातृव्यꣳ हनानीति तस्माद्वाऽएतावत्क्रियतऽइति ॥२६॥ तदाहुः । किमिदं जामि क्रियतेऽग्नीषोमयोरेवाज्यस्याग्नीषोमयोः पुरोडाशस्य यदन्तर्हितं तेन जामीत्यनेन ह वेवाजाम्याज्यस्येतरं पुरोडाशस्येतरं तदन्यदिवेतरमन्यदिवेतरं भवत्यृचमनूच्य जुषाणेन यजत्यृचमनूच्यर्चा यजति तदन्यदिवेतरमन्यदिवेतरं भवत्यनेन ह वेवाजाम्युपाꣳश्वाज्यस्य यजत्युच्चैः पुरोडाशस्य स यदुपाꣳशु तत्प्राजापत्यꣳ रूपं तस्मात्तस्यानुष्टुभमनुवाक्यामन्वाह वाग्घ्यनुष्टुब्वाग्घि प्रजापतिः ॥२७॥ एतेन वै देवाः । उपाꣳशुयाजेन यंयमसुराणामकामयन्त तमुपत्सर्य वज्रेण वषट्कारेणाघ्नंस्तथोऽएवैष एतेनोपाꣳशुयाजेन पाप्मानं द्विषन्तं भ्रातृव्यमुपत्सर्य वज्रेण वषट्कारेण हन्ति तस्मादुपाꣳशुयाजं यजति ॥२८॥ स वाऽऋचमनूच्य जुषाणेन यजति तदन्विमा अन्यतरतोदन्ताः प्रजाः प्रजायन्तेऽस्थि ह्यृगस्थि हि दन्तोऽन्यतरतो ह्येतदस्थि करोति ॥२९॥ अथर्चमनूच्यर्चा यजति । तदन्विमा उभयतोदन्ताः प्रजाः प्रजायन्तेऽस्थि ह्यृगस्थि हि दन्त उभयतो ह्येतदस्थि करोत्येता वाऽइमा द्वय्यः प्रजा अन्यतरतोदन्ताश्चैवोभयतोदन्ताश्च स यो हैवं विद्वानग्नी-

सूखा है वह अग्नि का; जो गीला है वह सोम का। (यहाँ एक प्रश्न उठता है कि) यदि दो ही प्रकार से है तो इतना खटराग क्यों किया जाता है कि अग्नि-सोम के लिए दो घी की आहुतियाँ, अग्नि-सोम के लिए दो मन्द स्वर के याज। अग्नि-सोम के लिए पुरोडाश ? जब इनमें से एक के द्वारा ही सब प्राप्ति हो सकती है तो इतना झमेला क्यों किया जाता है ? (इसका उत्तर यह है कि) अग्नि और सोम को उत्पन्न करनेवाली विभूति ऐसी ही है ।।२३।।

सूर्य अग्नि का है, चन्द्रमा सोम का। दिन अग्नि का है और रात सोम की। बढ़ता हुआ आधा मास अग्नि का है और घटता हुआ सोम का ।।२४।।

कुछ लोगों का कहना है कि दो घी की आहुतियों से सूर्य और चाँद की प्राप्ति होती है, मन्द स्वर प्रयाजों से दिन-रात की और पुरोडाश से अर्द्धमास की प्राप्ति होती है ।।२५।।

परन्तु आसुरि का कहना है कि घी की दो आहुतियों से किन्हीं दो को प्राप्त होता है, मन्द स्वर के प्रयाजों से दिन-रात को प्राप्त होता है और पुरोडाश से दोनों अर्द्धमासों (पक्षों) को प्राप्त होता है। 'सब मुझे प्राप्त हो गया। मैंने सब जीत लिया। सबसे वृत्र को मार डालूँ। सबसे अहितकारी शत्रु को मार डालूँ।' वह ऐसा विचारता है। इसलिए यह सब-कुछ किया जाता है ।।२६।।

इस पर कुछ लोगों का आक्षेप है कि एक ही बात का दुहराना क्यों ? अग्नि-सोम की आज्याहुति और अग्नि के पुरोडाश के बीच में जो कुछ किया जाता है वह 'जामि' अर्थात् एक ही बात का दुहराना मात्र है। परन्तु (इसका उत्तर यह है कि) इसी के द्वारा तो दुहराने के दोष से बचते हैं। एक आज्य है, दूसरी पुरोडाश। इस प्रकार एक दूसरे से भिन्न है। एक बार ऋचा को पढ़कर 'जुषाण' से यज्ञ करते हैं, दूसरी बार ऋचा को बोलकर ऋचा बोलते हैं। इस प्रकार एक का दूसरे से भेद हो जाता है। 'जामि' (दुहराने के) दोष से इस प्रकार भी बचते हैं—आज्य आहुति के लिए मन्द स्वर से पढ़ते हैं और पुरोडाश के लिए उच्च स्वर से। जो मन्द स्वर से बोला जाता है वह प्रजापति का रूप है। इसलिए इसको अनुष्टुभ् छन्द में पढ़ते हैं। वाणी ही अनुष्टुभ् है। वाणी प्रजापति है ।।२७।।

इसी मन्द उच्चारण से देवों ने वषट्काररूपी वज्र से जिस-जिस असुर को चाहा उसके पास चुपके से जाकर मार डाला। इसी प्रकार यह (यजमान) भी मन्द उच्चारण से वषट्कार-रूपी वज्र के द्वारा जिस पापी अहितकारी शत्रु को चाहता है उसके पास चुपके से जाकर उसको मार डालता है। इसीलिए मन्द स्वर से उच्चारण किया जाता है ।।२८।।

वह ऋचा को पढ़कर 'जुषाण' को पढ़ता है। इससे एक ओर के दाँतवाली प्रजा उत्पन्न होती है। ऋक् हड्डी है। दाँत भी हड्डी है। इस प्रकार एक ओर की हड्डी उत्पन्न करता है ।।२९।।

अब ऋचा को पढ़कर फिर एक और ऋचा को बोलता है। इससे दोनों ओर के दाँत-वाली प्रजा उत्पन्न होती है। ऋक् हड्डी है। दाँत भी हड्डी है। इस प्रकार वह दोनों ओर हड्डी उत्पन्न करता है। ये प्रजाएँ दो प्रकार की होती हैं—एक वह जिनके दाँत एक ओर हों, एक वह जिनके दाँत दोनों ओर हों। जो अग्नि और सोम की उत्पन्न करनेवाली शक्ति को इस प्रकार

षोमयोः प्रजातिं यजति बहुर्हैव प्रजया पशुभिर्भवति ॥३०॥ स वै पौर्णमासेनो-पवत्स्यन् । न सत्रा सुहित-इव स्यात्तेनेदमुदरमसुर्यं विनात्याहुतिभिः प्रातर्देवमेष उ पौर्णमासस्योपचारः ॥३१॥ स वै संप्रत्येवोपवसेत् । संप्रति वृत्रꣳ हनानि सं-प्रति द्विषन्तं भ्रातृव्यꣳ हनानीति ॥३२॥ स वाऽउत्तरमिवोपवसेत् । समिव वा ऽएष क्रमते यः संप्रत्युपवसत्यनद्धा वै संक्रान्तयोर्यदीतरो वेतरमभिभवतीतरो वेतरमथ य उत्तरामुपवसति यथा परास्वमावृत्तꣳ संपिꣳष्यादप्रत्यालभमानꣳ सो ऽन्यतोघात्येव स्यादेवं तद्य उत्तरामुपवसति ॥३३॥ स वै संप्रत्येवोपवसेत् । य-था वाऽअन्यस्य हतꣳ संपिꣳष्यादेवं तद्य उत्तरामुपवसति सोऽन्यस्यैव कृतानुक-रोऽन्यस्योपावसायी भवति तस्माद्ध संप्रत्येवोपवसेत् ॥३४॥ प्रजापतेर्ह वै प्रजाः ससृजानस्य । पर्वाणि विसस्रꣳसुः स वै संवत्सर एव प्रजापतिस्तस्यैतानि पर्वा-ण्यहोरात्रयोः संधी पौर्णमासी चामावास्या चर्तुमुखानि ॥३५॥ स विस्रस्तैः पर्व-भिः । न शशाक सꣳहातुं तमेतैर्हविर्यज्ञैर्देवा अभिषज्यन्नग्निहोत्रेणैवाहोरात्रयोः संधी तत्पर्वाभिषज्यंस्तत्समदधुः पौर्णमासेन चैवामावास्येन च पौर्णमासीं चामा-वास्यां च तत्पर्वाभिषज्यंस्तत्समदधुश्चातुर्मास्यैरेवर्तुमुखानि तत्पर्वाभिषज्यंस्तत्स-मदधुः ॥३६॥ स सꣳहितैः पर्वभिः । इदमन्नाद्यमभ्युत्तस्थौ यदिदं प्रजापतेरन्नाद्यꣳ स यो हैवं विद्वान्त्संप्रत्युपवसति संप्रति हैव प्रजापतेः पर्व भिषज्यत्यवति हैनं प्रजापतिः स एवमेवान्नादो भवति य एवं विद्वान्त्संप्रत्युपवसति तस्माद्ध संप्रत्ये-वोपवसेत् ॥३७॥ चक्षुषी ह वाऽएते यज्ञस्य यदाज्यभागौ । तस्मात्पुरस्ताज्जुहो-ति पुरस्ताद्धीमे चक्षुषी तत्पुरस्तादेवैतच्चक्षुषी दधाति तस्मादिमे पुरस्ताच्चक्षुषी ॥३८॥ उत्तरार्धपूर्वार्धे हैके । आग्नेयमाज्यभागं जुह्वति दक्षिणार्धपूर्वार्धे सौम्यमा-ज्यभागमेतत्पुरस्ताच्चक्षुषी दध्म इति वदन्तस्तदु तदाविज्ञान्यमिव हवीꣳषि ह वा ऽआत्मा यज्ञस्य स यदेव पुरस्ताद्धविषां जुहोति तत्पुरस्ताच्चक्षुषी दधाति यत्रो

समझकर यज्ञ करता है वह बहुत प्रजा और पशु से युक्त होता है ।।३०।।

पौर्णमास उपवास में वह भरपेट न खाये। ऐसा करने से वह पेट को जो आसुरी है क्षीण कर देता है, और दूसरे दिन प्रातःकाल आहुतियों से देवों वाले भाग को (पुष्ट कर देता है)। अब पौर्णमास (यज्ञ) इस प्रकार होता है ।।३१।।

वह उसी समय (पौर्णमास को) उपवास कर सकता है, यह कहकर कि मैं अभी वृत्र को मारूँगा, मैं अभी अहितकारी शत्रु को मारूँगा ।।३२।।

दूसरे दिन भी उपवास कर सकता है। उसी समय उपवास करने से वह 'सम + क्रमते' अर्थात् किसी से मुठभेड़ करता है। दो मुठभेड़ करनेवालों में कौन जाने कौन जीत जाय ! दूसरे दिन उपवास करने से मानो वह शत्रु को पीछे से मारता है, पूर्व इसके कि वह फिर-कर आक्रमण कर सके। इस प्रकार जो दूसरे दिन उपवास करता है वह 'अन्यतो घाति' अर्थात् एक ओर मारता है ।।३३।।

(ऊपर दो बातें दी हैं—एक तो उसी समय अर्थात् पूर्णमासी के दिन ही उपवास करना, दूसरा दूसरे दिन उपवास करना। इसमें पहली को ठीक बताया गया है)। उसको तभी उपवास करना चाहिए, क्योंकि जो दूसरे दिन उपवास करता है वह उसके समान है जो किसी दूसरे के द्वारा मारे हुए को मारता है, या किसी दूसरे के किये हुए का अनुकरण करता है, दूसरे के पीछे चलता है। इसलिए उसी दिन उपवास करे ।।३४।।

प्रजापात जब प्रजा बना चुका तो उसके जोड़ शिथिल हो गये। संवत्सर प्रजापति है और उसके जोड़ हैं रात-दिन की संधियाँ, पूर्णमासी, अमावस्या और ऋतुओं का आरम्भ ।।३५।।

वह थके हुए जोड़ों से उठ नहीं सकता था। देवों ने उसको इन हवियों और यज्ञों द्वारा चंगा किया। अग्निहोत्र द्वारा उन्होंने रात-दिन की संधिवाले जोड़ को चंगा किया, और पौर्ण-मास तथा अमावस्या यज्ञ से पूर्णमासी और अभावस्या के जोड़ को ठीक किया, एवं चातुर्मास्य यज्ञ से उन्होंने ऋतु के आरम्भवाले जोड़ों को चंगा किया ।।३६।।

इन ठीक हुए जोड़ों से उसने अपने अन्न को पाया, उसको जो प्रजापति के लिए है। जो इस रहस्य को जानकर उसी समय उपवास करता है वह प्रजापति के जोड़ों को चंगा करता है और प्रजापति उसकी रक्षा करता है। जो इस भेद को जानकर उसी समय उपवास करता है वह अन्न खानेवाला होता है। इसलिए उसी समय (पूर्णमासी को ही) उपवास करे ।।३७।।

ये जो दो आज्य भाग आहुतियाँ हैं वे यज्ञ की दो आँखें हैं। इसलिए उनको पहले देता है क्योंकि दो आँखें सामने होती हैं। इस प्रकार वह दोनों आँखों को सामने रखता है। इसीलिए आँखें सामने होती हैं ।।३८।।

कुछ लोग अग्नि की आहुति उत्तरार्द्ध पूर्व की ओर और सोम की आहुति दक्षिणार्द्ध पूर्व की ओर देते हैं, यह समझकर कि हम दोनों आँखों को सामने रखते हैं; परन्तु यह बात समझ में नहीं आती, क्योंकि हवि यज्ञ की आत्मा है; जब वह हवियों से पहले आहुति देता है तो आँखों को सामने रखता है। इसलिए आहुतियों को उस स्थान पर देवे जहाँ आग सबसे अधिक जलती हो,

ऽएव समिद्धतमं मन्येत तदाहुतीर्जुहुयात्समिद्धहोमीन ह्येव समृद्धा आहुतयः ॥३९॥ स वाऽऋचमनूच्य जुषाणेन यजति । तस्मादिमेऽअस्थन्वत्सत्यनस्थिके चक्षुषीऽआश्लिष्टेऽअथ यदृचमनूच्यर्चा यजेदस्थि हैव कुर्यान्न चक्षुः ॥४०॥ ते वाऽएते । अग्नीषोमयोरेव रूपमन्वायत्ते यच्छुक्लं तदाग्नेयं यत्कृष्णं तत्सौम्यं यदि वेतरथा यदेव कृष्णं तदाग्नेयं यच्छुक्लं तत्सौम्यं यदेव वीक्षते तदाग्नेयꣳ रूपꣳ शुष्के-ऽइव हि वीक्षमाणस्याक्षिणी भवतः शुष्कमिव ह्याग्नेयं यदेव स्वपिति तत्सौम्यꣳ रूपमार्द्रे-ऽइव हि सुषुपुषोऽक्षिणी भवत आर्द्र-इव हि सोम आजरसꣳ ह वाऽअस्मिं लोके चक्षुष्मान्भवति सचक्षुरमुष्मिंलोके संभवति य एवमेतौ चक्षुषीऽआज्यभागौ वेद ॥४१॥ ॥ ब्राह्मणम् ॥२ [६.३.]॥ ॥

इन्द्रो ह यत्र वृत्राय वज्रं प्रजहार । सोऽबलीयान्मन्यमानो नास्तृषीतीव बिभ्यन्निलयां चक्रे स पराः परावतो जगाम देवा ह वै विदां चक्रुर्हतो वै वृत्रोऽथेन्द्रो न्यलेष्टेति ॥१॥ तमन्वेष्टुं दध्रिरे । अग्निर्देवतानाꣳ हिरण्यस्तूप ऋषीणां बृहती छन्दसां तमग्निरनुविवेद तेनैताꣳ रात्रिꣳ सहाजगाम स वै देवानां वसुर्वीरो ह्येषाम् ॥२॥ ते देवा अब्रुवन् । अमा वै नोऽद्य वसुर्वसति यो नः प्रावात्सीदिति ताभ्यामेतद्यथा ज्ञातिभ्यां वा सखिभ्यां वा सहागताभ्याꣳ समानमोदनं पचेदन्नं वा तदह मानुषꣳ हविर्देवानामेवमाभ्यामेतत्समानꣳ हविर्निरवपन्नैन्द्राग्नं द्वादशकपालं पुरोडाशं तस्मादैन्द्राग्नो द्वादशकपालः पुरोडाशो भवति ॥३॥ स इन्द्रोऽब्रवीत् । यत्र वै वृत्राय वज्रं प्राहरं तद्व्यस्मये स कृश-इवास्मि न वै मेदं धिनोति यन्मा धिनवत्तन्मे कुरुतेति तथेति देवा अब्रुवन् ॥४॥ ते देवा अब्रुवन् । न वाऽइममन्यत्सोमाद्धिनुयात्सोममेवास्मै संभरामेति तस्मै सोमꣳ समभरन्नेष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः स यत्रैष एताꣳ रात्रिं न पुरस्तान्न पश्चाद्ददृशे तदिमं लोकमागच्छति स इहैवापश्चौषधीश्च प्रविशति स वै देवानां

क्योंकि सबसे अधिक जलती हुई आग में ही आहुतियाँ ठीक होती हैं ॥३९॥'

ऋचा को कहकर 'जुषाण' को कहता है। इस प्रकार हड्डी-शून्य आँखों को हड्डी-युक्त स्थान में रखता है। यदि वह ऋचा के पीछे ऋचा पढ़े तो मानो आँख न रक्खे, हड्डी रक्खे ॥४०॥

ये दो अग्नि और सोम के रूप हैं—जो शुक्ल है वह अग्नि का, जो कृष्ण है वह सोम का। यदि इसके विरुद्ध कहा जाय तो जो कृष्ण है वह अग्नि का और जो शुक्ल है वह सोम का। जो देखता है वह अग्नि का रूप है, क्योंकि देखनेवाले की आँखें सूखी होती हैं और सूखापन अग्नि का है। जो सोता है वह सोम का रूप है, क्योंकि सोनेवाले की आँखें गीली होती हैं। गीलापन सोम का गुण है। जो इस प्रकार आज्य भाग आहुतियों को दो आँखें जानता है वह बुढ़ापे तक इस लोक में आँखोंवाला होता है और परलोक में भी आँखोंवाला होता है ॥४१॥

अध्याय ६—ब्राह्मण ४

जब इन्द्र ने वृत्र के लिए वज्र फेंका तो अपने को निर्बल समझकर और यह समझकर कि (वृत्र) अभी मरा नहीं, वह छिप गया, और बहुत दूर चला गया। अब देवों ने जान लिया कि वृत्र मारा गया और इन्द्र छिप गया ॥१॥

देवताओं में अग्नि, ऋषियों में हिरण्यस्तूप और छन्दों में बृहती छन्द उसको खोजने लगे। अग्नि ने उसे पा लिया, और उसके साथ एक रात रहा। वह देवों में वसु और उनमें वीर है ॥२॥

देवों ने कहा, 'अमा' अर्थात् 'हमारा' वसु जो हमसे अलग चला गया था आज अग्नि के साथ रहता है। जैसे दो सम्बन्धियों या मित्रों के लिए या मेहमानों के लिए ओदन (चावल) या अज (बकरा) पकावें वैसे ही मनुष्यों की हवि है। देवों में इन दो के लिए (इन्द्र और अग्नि के लिए) यह समान हवि है। इन्द्र और अग्नि के लिए १२ कपालों का पुरोडाश होता है, इसलिए इन्द्र-अग्नि के लिए १२ कपालोंवाला पुरोडाश होता है ॥३॥

इन्द्र ने कहा, 'जब मैंने वृत्र के वज्र मारा तो मैं डर गया और दुबला हो गया। यह हवि मुझे काफी नहीं है। ऐसी तैयार करो जो काफी हो जाय।' देवों ने कहा, 'अच्छा' ॥४॥

उन देवों ने कहा, 'इसको सोम के सिवाय और कुछ काफी न होगा। अतः इसके लिए सोम को ही भरें।' उसके लिए सोम को भरा। यह सोम राजा जो देवों का अन्न है चन्द्रमा ही है। जब वह इस (अमावस्या की) रात को न पूर्व में, न पश्चिम में दीखता है तो उस समय इस लोक में आ जाता है और जलों और ओषधियों में प्रविष्ट हो जाता है। वह देवों का वसु या

वस्वन्नꣳ ह्येषां तद्यदेष एतांꣳ रात्रिमिहामा वसति तस्मादमावास्या नाम ॥५॥ तं गोभिरनुविश्वाप्य समभरन् । यदोषधीराश्नंस्तदोषधिभ्यो यदपोऽपिबंस्तदद्भ्यस्त-मेवꣳ संभृत्यातच्य तीव्रीकृत्य तमस्मै प्रायछन् ॥६॥ सोऽब्रवीत् । धिनोत्येव मे-दं नेव तु मयि श्रयते यथेद मयि श्रयातै तथोपजानीतेति तꣳ शृतेनैवाश्रयन् ॥७॥ तद्वाऽएतत् । समानमेव सत्पय एव सदिन्द्रस्यैव सत्तत्पुनर्नानेवाचक्षते यदब्रवीद्धिनोति मेति तस्माद्दध्यथ यदेनꣳ शृतेनैवाश्रयंस्तस्माच्छृतꣳ ॥८॥ स य-थाꣳसुराप्यायेत । एवमाप्यायताप पाप्मानꣳ हरिमाणमहतैष उऽअामावास्यस्य बन्धुः स यो हैवं विद्वान्त्संनयत्येवꣳ हैव प्रजया पशुभिराप्यायतेऽप पाप्मानꣳ हते तस्माद्धि संनयेत् ॥९॥ तदाहुः । नासोमयाजी संनयेत्सोमाहुतिर्वाऽएषा सा-नवरुद्धासोमयाजिनस्तस्मान्नासोमयाजी सनयेदिति ॥१०॥ तद्व समेव नयेत् । न-न्वत्रान्तरेण शुश्रुम सोमेन नु मा याजयताथ मऽएतदाप्यायनꣳ संभरिष्यथेत्यब्र-वीदिति न वै मेदं धिनोति यन्मा धिनवत्तन्मे कुरुतेति तस्माऽएतदाप्यायनꣳ स-मभरंस्तस्मादप्यसोमयाजी समेव नयेत् ॥११॥ वार्त्रघ्नं वै पौर्णमासम् । इन्द्रो ह्ये-तेन वृत्रमहन्नथैतदेव वृत्रहत्यं यदामावास्यं वृत्रꣳ ह्यस्माऽएतज्जघ्नुषऽआप्यायन-मकुर्वन् ॥१२॥ तद्वाऽएतदेव वार्त्रघ्नम् । यत्पौर्णमासमथैष एव वृत्रो यच्चन्द्रमाः स यत्रैष एतांꣳ रात्रिं न पुरस्तान्न पश्चाद्ददृशे तदेनमेतेन सर्वꣳ हन्ति नास्य किं चन परिशिनष्टि सर्वꣳ ह वै पाप्मानꣳ हन्ति न पाप्मनः किं चन परिशिनष्टि य एवमेतद्वेद ॥१३॥ तद्धैके । दृष्ट्वोपवसन्ति श्वो नोदेतेत्यदो ह्येव देवानामवि-क्षीणमन्न भवत्यथैभ्यो वयमित उपप्रदास्याम इति तद्धि समृद्धं यदक्षीणऽएव पूर्व-स्मिन्नन्नेऽथापरमन्नमागछति स ह बह्वन्न एव भवत्यसोमयाजी तु क्षीरयाज्यदो ह्येव सोमो राजा भवति ॥१४॥ अथ यथैव पुरा । केवलीरोषधीरश्नन्ति केवलीरपः पिबन्ति ताः केवलमेव पयो दुह्रऽएव तदेष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्र-

अन्न है। और चूंकि इस रात को वह यहाँ साथ रहता है (अमा वसति) इसलिए इसका नाम अमावस्या है ।।५।।

उन्होंने इस (सोम) को गौओं द्वारा इकट्ठा करा-कराके तैयार किया। जो औषध खाई उस औषध से, और जो जल पिया उस जल से, उसी को बनाकर और तीव्र (तेज) करके उन्होंने (इन्द्र को) दिया ।।६।।

उस (इन्द्र) ने कहा, 'इससे मेरा पेट तो भर जाता है पर यह मुझे अच्छा नहीं लगता। ऐसा उपाय करो कि वह मुझे अच्छा लगने लगे। उन्होंने उसे औटे हुए (दूध) के द्वारा रुचिकर बना दिया ।।७।।

यद्यपि यह एक ही चीज है, दूध ही है और इन्द्र का ही है, फिर भी इसको नाना (अनेक) कहते हैं। चूंकि इन्द्र ने कहा 'धिनोति मे' (मेरा पेट भर जाता है) इसलिए इसका नाम हुआ 'दधि' और चूंकि इसमें 'शृत' अर्थात् औटा हुआ दूध मिलाया इसलिए उसको 'शृत' कहते हैं ।।८।।

जैसे सोम का डण्ठल मजबूत हो जाता है इसी प्रकार (इन्द्र भी) मजबूत हो गया और उसका रोगी हरापन जाता रहा। अमावस्या यज्ञ का यही महत्त्व है और जो कोई इस रहस्य को समझकर (अमावस्या के यज्ञ में दूध और दही) मिलाता है वह प्रजा और पशु से पूर्ण होता है। उसका दोष छूट जाता है। इसलिये उसको दूध और दधि मिलाना चाहिए ।।९।।

इस पर कुछ लोग आक्षेप करते हैं कि जो सोमयाजी न हो उसे सान्नाय्य आहुति न देनी चाहिए, क्योंकि सान्नाय्य हीसोम आहुति हैं। और जोसोमयाजी न हो उसको सोम आहुति देने का अधिकार नहीं। इसलिए जो सोमयाजी नहीं उसको सान्नाय्य आहुति नहीं देनी चाहिए ।।१०।।

परन्तु उसे सान्नाय्य आहुति देनी चाहिए। हमने इसी सम्बन्ध में सुना है कि इन्द्र ने कहा कि, 'इस समय मुझे सोम आहुति दे दो, फिर तुम मेरे लिए उस शक्ति देनेवाली वस्तु (सान्नाय्य आहुति) को तैयार करना। इससे मेरा पेट नहीं भरता। वह बनाओ जिससे मेरी सन्तुष्टि हो।' उस शक्ति देनेवाली वस्तु को उन्होंने अवश्य ही तैयार किया और इसलिए जो सोमयाजी नहीं हैं वे भी सान्नाय्य आहुति दें ।।११।।

पौर्णमास यज्ञ वृत्रघ्न अर्थात् इन्द्र के लिए है, क्योंकि इसी के द्वारा इन्द्र ने वृत्र को मारा। और अमावस्या यज्ञ भी वृत्रघ्न अर्थात् इन्द्र के लिए है, क्योंकि वह शक्ति देनेवाली चीज भी उन्होंने उसी के लिए तैयार की जिसने वृत्र को मारा ।।१२।।

यज्ञ जो पूर्णमास यज्ञ है वह वृत्रघ्न अर्थात् इन्द्र के लिए है। यह जो चन्द्रमा है वही वृत्र है। जब वह उस रात को न पूर्व में दीखता है, न पश्चिम में, तो इस यज्ञ के द्वारा (वह इन्द्र) इस सब (वृत्र) को मार डालता है, और उसका कुछ भी शेष नहीं रहने देता। जो इस रहस्य को जानता है वह सब पाप का नाश कर देता है, कुछ भी नहीं छोड़ता ।।१३।।

कुछ लोग (चौदस को) देखकर ही उपवास करते हैं कि कल (अमावस्या को यह चाँद) उदय न होगा। यह देवों का निश्चय करके दीखता हुआ भोजन है। (कल से) उनके लिए हम इसमें से देंगे। वह पुरुष वस्तुतः समृद्ध है जिसके पास अभी पुराना अन्न होता है और नया आ जाता है, क्योंकि उसके पास बहुत अन्न होता है। परन्तु वह इस समय सोमयाजी नहीं है; क्षीरयाजी है। इसी दूध का सोम राजा होता है ।।१४।।

इसलिए यह (दूध सोम से युक्त नहीं किन्तु) पूर्ववत् ही है क्योंकि (गायें) केवल ओषधि ही खाती हैं, केवल जल ही पीती हैं। इसलिए यह केवल दूध ही होता है (सोम नहीं); सोम तब होता जब अमावस्या के दिन चन्द्रमा वनस्पति और जलों में मिल जाता (ऊपर कह चुके हैं कि

माः स यत्रैष एताᳬ रात्रिं न पुरस्तान्न पश्चाद्ददृशे तदिमं लोकमागच्छति स इहा-पश्चौषधीश्च प्रविशति तदेनमह्न ओषधिभ्यः संभृत्याहुतिभ्योऽधि जनयति स एष आहुतिभ्यो जातः पश्चाद्ददृशे ॥१५॥ तद्वाऽएतत् । अविक्षीणमिव देवानामन्नाद्यं परिप्लवतेऽविक्षीणाᳬ ह वाऽअस्यास्मिंल्लोकेऽन्नं भवत्यक्षय्यममुष्मिंल्लोके सुकृतं य एवमेतद्वेद ॥१६॥ तद्वाऽएताᳬ रात्रिम् । देवेभ्योऽन्नाद्यं प्रच्यवते तदिमं लोकमा-गच्छति ते देवा अकामयन्त कथं नु न इदं पुनरागच्छेत्कथं नऽइदं परागेव न प्र-णश्येदिति तद्यऽएव संनयन्ति तेषामाशᳬसन्तऽएतऽएव नः संभृत्य प्रदास्यन्तीत्या ह वाऽअस्मिंस्त्वाश्च निष्ठाश्च शᳬसन्ते य एवमेतद्वेद यो वै परमतां गच्छति तस्मि-न्नाशᳬसन्ते ॥१७॥ तद्वाऽएष एवेन्द्रः । य एष तपत्यथैष एव वृत्रो यच्चन्द्रमाः सोऽस्यैष भ्रातृव्यजन्मेव तस्माद्यद्यपि पुरा विदूरमिवोदितोऽथैनमेताᳬ रात्रिमुपैव न्याप्लवते सोऽस्य व्यात्तमापद्यते ॥१८॥ तं ग्रसित्वोदेति । स न पुरस्तान्न पश्चा-द्ददृशे ग्रसते ह वै द्विषन्तं भ्रातृव्यमयमेवास्ति नास्य सपत्नाः सन्तीत्याहुर्य एवमे-तद्वेद ॥१९॥ तं निर्धीय निरस्यति । स एष धीतः पश्चाद्ददृशे स पुनराप्यायते स एतस्यैवान्नाद्याय पुनराप्यायते यदि ह वाऽअस्य द्विषन्भ्रातृव्यो वणिज्यया वा केनचिद्वा संभवत्येतस्य हैवान्नाद्याय पुनः संभवति य एवमेतद्वेद ॥२०॥ तद्वैके । महेन्द्रायेति कुर्वन्तीन्द्रो वाऽएष पुरा वृत्रस्य बधादथ वृत्रᳬ हत्वा यथा महाराजो विजिग्यान एवं महेन्द्रोऽभवत्तस्मान्महेन्द्रायेति तदिन्द्रायेत्येव कुर्यादिन्द्रो वा ऽएष पुरा वृत्रस्य बधादिन्द्रो वृत्रं जघ्निवांस्तस्मादिन्द्रायेत्येव कुर्यात् ॥२१॥ ब्रा-ह्मणम् ॥३ [६.४.]॥ अध्यायः ॥६॥ ॥

स वै पर्णशाखया वत्सानपाकरोति । तद्यत्पर्णशाखया वत्सानपाकरोति यत्र वै गायत्री सोममच्छापतत्तदस्याऽआहरन्त्याऽअपादस्ताभ्यायत्य पर्णं प्रचिच्छेद गायत्र्यै वा सोमस्य वा राज्ञस्तत्पतित्वा पर्णोऽभवत्तस्मात्पर्णो नाम तद्यदेवात्र सोमस्य

चन्द्रमा अमावस्या के दिन वनस्पति और जल में मिल जाता है)। यह जो सोम राजा देवों का भोजन है वह चन्द्रमा ही है। यह जो (अमावस्या की) रात को न पूर्व में दीखता है न पश्चिम में, वह इस लोक में आ जाता है और जलों और ओषधियों में मिल जाता है। अब ओषधियों और जलों से इकट्ठा करके उसे आहुतियों से उत्पन्न करते हैं, और यह आहुतियों से उत्पन्न होकर पश्चिम में दीखता है। तात्पर्य यह है कि अमावस्या के दिन चाँद आकाश में नहीं रहता, किन्तु पृथिवीलोक में वनस्पति और जल में प्रविष्ट हो जाता है। यज्ञ करनेवाला वनस्पति और जल के बने हुए दूध से आहुति बनाता है और उस आहुति से चाँद को उत्पन्न करता है; वही चाँद दूसरे दिन पश्चिम में चमकता है ।।१५।।

यह इस प्रकार होता है। देवों का न क्षीण होनेवाला अन्न ही (मनुष्यों तक) आ सकता है। इसलिए पुरुष इस रहस्य को समझता है। वह इस लोक में अक्षय्य अन्न को प्राप्त होता और परलोक में पुण्य को पाता है ।।१६।।

इस प्रकार उस (अमावस्या की) रात को अन्न देवों से चलता है और इस लोक में आता है। अब देवों ने चाहा कि वह फिर उनके पास कैसे वापस जाय और किस प्रकार नष्ट न हो जाय, इसलिए (ये देव) उन पर विश्वास रखते हैं जो सान्नाय्य आहुति को (दूध और दही मिलाकर) तैयार करते हैं, क्योंकि जब यह तैयार करेंगे तो अवश्य ही देंगे। जो इस रहस्य को जानता है उस पर अपने और पराये सभी विश्वास करते हैं, क्योंकि जो बड़प्पन को प्राप्त हो जाता है उस पर सभी विश्वास करते हैं ।।१७।।

अब यह जो तपता है (अर्थात् सूर्य) वही इन्द्र है। और जो चन्द्रमा है वही वृत्र है, परन्तु वह इसका शत्रु-सा है। इसलिए यद्यपि इस रात को पहले बहुत दूर उदय होता है, फिर भी उसकी ओर को तैरता है और उसके (सूर्य के) मुँह में घुस जाता है ।।१८।।

(सूर्य) उस (चाँद) को ग्रस के उदय होता है। वह न पूर्व में दीखता है न पश्चिम में। जो इस रहस्य को जानता है वह अपने अहितकारी शत्रु को ग्रस लेता है और उसके लिए लोग कहते हैं कि वही वह है, उसके शत्रु हैं ही नहीं ।।१९।।

(सूर्य) उस (चाँद) को चूसकर फेंक देता है, और वह चूसा हुआ पश्चिम में दीखता है। यह फिर बढ़ता है। वह (उसी सूर्य्य के) भोजन के लिए फिर बढ़ता है। जो इस रहस्य को समझता है उसका अहितकारी शत्रु यदि व्यापार या अन्य किसी उपाय से बढ़ता भी है तो फिर उसी का भोजन बनने के लिए बढ़ता है ।।२०।।

कुछ लोग महेन्द्र के नाम से (आहुति देते हैं), क्योंकि वृत्र के वध से पहले वह इन्द्र था। वृत्र को मारकर महेन्द्र हो गया, जैसे विजय के पश्चात् राजा महाराजा हो जाता है। इसलिए महेन्द्र के लिए (आहुति देते हैं); परन्तु इन्द्र के लिए ही दी जानी चाहिये। वह वृत्र के वध से पहले भी इन्द्र ही था, वृत्र के मारने के पीछे भी इन्द्र ही रहा। इसलिए इन्द्र के लिए ही आहुति देवें ।।२१।।

अध्याय ७—ब्राह्मण १

(अध्वर्यु) पलाश की शाखा द्वारा बछड़ों को (गायों से) अलग करता है। वह पलाश की शाखा से बछड़ों को अलग करता है। जब गायत्री सोम की ओर उड़ी तो (सोम को) लिये जाते हुए (उस गायत्री के) एक पैर-रहित निशानेबाज ने तीर चलाया और एक पर्ण (पंख) काट लिया, या तो गायत्री का या सोम का। वह गिरकर पलाश हो गया। इसलिए उसका नाम पर्ण हुआ। अब वह सोचता है कि जैसे यह सोम की प्रकृति वाला था उसी प्रकार यह यहाँ

न्यक्तं तदिद्ध्यसदिति तस्मात्पर्णशाखया वत्सानपाकरोति ॥१॥ तमाच्छिनत्ति । इषे त्वोर्जे त्वेति वृष्ट्यै तदाह यदाहेषे त्वेत्यूर्जे त्वेति यो वृष्टादूर्ग्रसो जायते तस्मै तदाह ॥२॥ अथ मातृभिर्वत्सान्त्समवार्जन्ति । स वत्स७ शाखयोपस्पृशति वायव स्थेत्ययं वै वायुर्योऽयं पवतऽएष वाऽइद७ सर्वं प्प्याययति यदिदं किं च वर्षत्येष वाऽएतासां प्प्याययिता तस्मादाह वायव स्थेत्युपायव स्थेत्यु हैकऽआहुरुप हि द्वितीयोऽयतीति तदु तथा न ब्रूयात् ॥३॥ अथ मातॄणामेका७ शाखयोपस्पृशति । वत्सेन व्याकृत्य देवो वः सविता प्रार्पयत्विति सविता वै देवानां प्रसविता सवितृप्रसूता यज्ञ७ संभरानिति तस्मादाह देवो वः सविता प्रार्पयत्विति ॥४॥ श्रेष्ठतमाय कर्मणऽइति । यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म यज्ञाय हि तस्मादाह श्रेष्ठतमाय कर्मणऽइति ॥५॥ आप्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय भागमिति । तद्यथैवादो देवतायै हविर्गृह्णन्नादिशत्येवमेवैतद्देवतायाऽआदिशति यदाहाप्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय भागमिति ॥६॥ प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा इति । नात्र तिरोहितमिवास्ति मा व स्तेन ईशत माघश७स इति मा वो नाष्ट्रा रक्षा७सीशतेत्येवैतदाह ध्रुवा अस्मिन्गोपतौ स्यात बह्वीरित्यनपक्रमिण्योऽस्मिन्यजमाने बह्व्यः स्यातेत्येवैतदाह ॥७॥ अथाहवनीयागारस्य वा पुरस्तात् । गार्हपत्यागारस्य वा शाखामुपगूहति यजमानस्य पशून्पाहीति तद्ब्रह्मणैवैतद्यजमानस्य पशून्परिददाति गुप्त्यै ॥८॥ तस्यां पवित्रं करोति । वसोः पवित्रमसीति यज्ञो वै वसुस्तस्मादाह वसोः पवित्रमसीति ॥९॥ अथ यवाग्वैता७ रात्रिमग्निहोत्रं जुहोति । आदिष्टं वाऽएतद्देवतायै हविर्भवति यत्पयः स यत्पयसा जुहुयाद्यथान्यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं तदन्यस्यै जुहुयादेवं तत्तस्माद्यवाग्वैता७ रात्रिमग्निहोत्रं जुहोति जुह्वत्यग्निहोत्रमुपकृतोखा भवत्यथाहोपसृष्टां प्रब्रूतादिति यदा प्राहोपसृष्टेति ॥१०॥ अथोखामादत्ते । द्यौरसि पृथिव्यसीत्युपस्तौत्येवैनामेतन्महयत्येव यदाह द्यौरसि पृथिव्यसी-

भी होवे। इसलिए पलाश की शाखा से बछड़ों को हाँकता है ॥१॥

उस शाखा को यह मंत्र पढ़कर काटता है —"इषे त्वोर्ज्जे त्वा" (यजु० १।१)—"रस के लिए तुझे, अन्न के लिए तुझे।" जब वह कहता है 'रस के लिए' तो उसका तात्पर्य होता है 'वृष्टि के लिए', और जब कहता है 'अन्न के लिए' तो उसका तात्पर्य होता है उस भोजन से जो वृष्टि से उत्पन्न होता है ॥२॥

अब वह बछड़ों को अपनी माओं से मिला देते हैं। अब वह शाखा से बछड़े को छूता अर्थात् हाँकता है यह पढ़कर "वायव स्थ" (यजु० १।१)—"तुम वायु हो।" यह जो चलता है (पवते) वही वायु है। यह वह है जो उस सबको लाता है, जो बरसता है। यह (शाखा) भी गायों को लाता है इसलिए कहा—'तुम वायु हो।' कुछ लोग कहते हैं—'उपायव स्थ'—'तुम निकटस्थ हो।' परन्तु ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि इससे दूसरा (शत्रु) (यजमान के पास) आ जाता है ॥३॥

माओं में से एक को बछड़े से अलग करके उसको एक शाखा से यह मंत्र पढ़कर छूता है—"देवो वः सविता प्रार्पयतु" (यजु० १।१) "सविता देवता तुमको प्रेरणा करे।" सविता देवों का प्रसविता (प्रेरक) है। सविता की प्रेरणा से प्रेरित होकर वे यज्ञ करें। ऐसा सोचकर वह कहता है—'सविता देव तुमको प्रेरणा करे'—॥४॥

श्रेष्ठतम कर्म के लिए। यज्ञ ही श्रेष्ठतम कर्म है। 'यज्ञ ही के लिए' कहने से तात्पर्य है 'श्रेष्ठतम कर्म के लिए' ॥५॥

"आप्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय भागम्" (यजु० १।१)—"हे अघ्न्याः (अर्थात् गौओ), इन्द्र के भाग के लिए फूलो-फलो।" जिस प्रकार आदि में देवता के लिए हवि लेकर आदेश देता है उसी प्रकार इस (दूध की आहुति) को देने में भी देवता का आदेश करता है जब कहता है कि—'हे गौओ, इन्द्र के भाग के लिए फूलो-फलो' ॥६॥

"प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा" (यजु० १।१)—"प्रजा वाली, रोगरहित और यक्ष्मा-रहित।" यह तो स्पष्ट ही है। "मा व स्तेन ईशत माघशꣳस" (यजु० १।१)—"तुम पर चोर या पाप की चर्चा करनेवाला शासन न करे।" इससे उसका तात्पर्य यह है कि 'तुम पर कोई दुरात्मा राक्षस शासन न करे।' "ध्रुवा अस्मिम् गोपतौ स्यात बह्वीः" (यजु० १।१)—"इस गौओं के स्वामी में अवश्य ही बहुत होओ (फूलो-फलो)।" यह कहने का तात्पर्य यह है कि 'बिना त्यागे हुए इस यजमान के लिए बहुत होओ' ॥७॥

अब वह आहवनीय अग्नि के सामने या गार्हपत्य अग्नि के सामने शाखा को छिपाता है यह कहकर—'यजमानस्य पशून् पाहि' (यजु० १।१)। इस प्रकार वह ब्रह्म के द्वारा यजमान के पशुओं को रक्षा के लिए इसके हवाले करता है ॥८॥

उसमें पवित्रा बाँधता है यह मंत्रांश पढ़कर "वसोः पवित्रमसि" (यजु० १।१)—"तू यज्ञ का पवित्रा है।" यज्ञ ही वसु है इसलिए कहा 'तू यज्ञ का पवित्रा है' ॥९॥

अब इस रात को यवागू (जौ और गुड़ से बनता है) से अग्निहोत्र करता है। इस रात को जो दूध दुहता है वह तो देवता के लिए निर्दिष्ट हो चुकता है। इसलिए यदि उस दूध से हवन करे तो जो एक देवता के लिए हवि है वह दूसरे देवता के लिए दे देवे। इसलिये वह इस रात को यवागू से अग्निहोत्र करता है। जब अग्निहोत्र कर चुकते हैं तब तक बर्तन तैयार हो जाता है। इस पर (अध्वर्यु) कहता है—'कहो कि वह (गाय) छोड़ दी गई।' जब कहता है तो (गाय) छूट जाती है ॥१०॥

अब वह बर्तन को (गार्हपत्य अग्नि पर) मन्त्रांश पढ़कर रखता है—"द्यौरसि पृथिव्यसि" (यजु० १।२)—"तू द्यौ है। तू पृथिवी है।" 'तू द्यौ है। तू पृथिवी है' ऐसा कहकर वह उसकी बड़ाई

ति मातरिश्वनो घर्मोऽसीति यज्ञमेवैतत्करोति यथा घर्मं प्रवृञ्ज्यादेवं प्रवृणक्ति विश्वधा असि परमेण धाम्ना दृꣳहस्व मा ह्वारिति दृꣳहत्येवैनामेतदशिथिलां करोति मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीदिति यजमानो वै यज्ञपतिस्तद्यजमानायैवैतदह्वलामाशास्ते ॥११॥ अथ पवित्रं निदधाति । तद्वै प्राङ्गिदध्यात्प्राची हि देवानां दिगथोऽउदगुदीची हि मनुष्याणां दिगयं वै पवित्रं योऽयं पवते सोऽयमिमांल्लोकांस्तिर्यङ्ङनुपवते तस्मादुदङ्निदध्यात् ॥१२॥ तद्यथैवादः । सोमꣳ राजानं पवित्रेण संपावयन्त्येवमेवैतत्संपावयत्युदीचीनदशं वै तत्पवित्रं भवति येन तत्सोमꣳ राजानꣳ संपावयन्ति तस्मादुदङ्निदध्यात् ॥१३॥ तन्निदधाति । वसोः पवित्रमसीति यज्ञो वै वसुस्तस्मादाह वसोः पवित्रमसीति शतधारꣳ सहस्रधारमित्युपस्तौत्येवैनदेतन्महयत्येव यदाह शतधारꣳ सहस्रधारमिति ॥१४॥ अथ वाचंयमो भवति । आ तिसृणां दोग्धोर्वाग्वै यज्ञोऽविक्षुब्धो यज्ञं तनवाऽइति ॥१५॥ तदानीयमानमभिमन्त्रयते । देवस्त्वा सविता पुनातु वसोः पवित्रेण शतधारेण सुप्वेति तद्यथैवादः सोमꣳ राजानं पवित्रेण संपावयन्त्येवमेवैतत्संपावयति ॥१६॥ अथाह कामधुक्ष इति । अमूमिति सा विश्वायुरित्यथ द्वितीयां पृच्छति कामधुक्ष इत्यमूमिति सा विश्वकर्मेत्यथ तृतीयां पृच्छति कामधुक्ष इत्यमूमिति सा विश्वधाया इति तद्यत्पृच्छति वीर्याण्येवास्वेतद्दधाति तिस्रो दोग्धि त्रयो वाऽइमे लोका एभ्य एवैनदेतल्लोकेभ्यः संभरत्यथ कामं वदति ॥१७॥ अथोत्तमां दोहयित्वा । येन दोहयति पात्रेण तस्मिन्नुदस्तोकमानीय पल्यङ्ग्य प्रत्यानयति यदत्र पयसोऽहायि तदिहाप्यसदिति रसस्यो चैव सर्वत्वायेदꣳ हि यदा वर्षत्यथौषधयो जायन्तऽओषधीर्जग्ध्वापः पीत्वा तत एष रसः संभवति तस्मादु रसस्यो चैव सर्वत्वाय तदुद्वास्यातनक्ति तीव्रीकरोत्येवैनदेतत्तस्मादुद्वास्यातनक्ति ॥१८॥ आतनक्ति । इन्द्रस्य त्वा भागꣳ सोमेनातनच्मीति तद्यथैवादो देवतायै हविर्गृह्णन्नादिशत्येवमेवैतद्देवतायाऽआदिश-

करता है–"मातरश्विनो धर्मोसि" (यजु० १।२)–"मातरिश्वा की धर्म (कड़ाही) है।" ऐसा कहकर वह इस यज्ञ अर्थात् यज्ञ का साधन बनाता है, और जैसे प्रवर्ग्य-पात्र रखता है, इसी प्रकार इसे भी रखता है। अब कहता है—"विश्वधा असि परमेण धाम्ना दृꣳहस्व मा ह्वाः" (यजु० १।२) "तू विश्वधा अर्थात् सबको धारण करनेवाला है। परम धाम के सहारे दृढ़ हो। चलायमान न हो।" इस प्रकार निश्चल कर देता है। "मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत्' (यजु० १।२)—"तेरा यज्ञपति चलायमान न हो।" यजमान ही यज्ञपति है। इसलिये वह इस प्रकार यजमान को ही निश्चल करता है ॥११॥

अब वह पवित्रा को रखता है। उसका पूर्व को मुख करके रखता है। पूर्व देवों की दिशा है। या उत्तर की ओर क्योंकि उत्तर मनुष्यों की दिशा है। वह वायु जो इन लोकों में आरपार बहता है वह पवित्र करनेवाला है। इसलिये (पवित्रे को) उत्तर की ओर रखता है ॥१२॥

जिस प्रकार पहले वह सोमराजा को पवित्रे से साफ करते थे उसी प्रकार वह (दूध को) साफ करता है। जिस पवित्रे से सोमराजा छाना जाता है उसका मुख उत्तर को होता है, इसलिये इस पवित्रे को भी उत्तर की ओर मुँह करके रखता है ॥१३॥

वह इसको यह मन्त्रांश पढ़कर रखता है—"वसोः पवित्रमसि" (यजु० १।३)। यज्ञ ही वसु है, इसलिये कहा—"वसु का पवित्रा है।" 'शतधारं' 'सहस्रधारं' (यजु० १।३)। उसकी प्रशंसा और बड़ाई करता है जब कहता है कि–"तू सौ धारावाला, हजार धारावाला है" ॥१४॥

अब वह मौन रखता है जब तक तीन गौओं को न दुहे। वाणी ही यज्ञ है। इसका आशय है कि वह यज्ञ को निर्विघ्न करना चाहता है ॥१५॥

उस (दूध) को लाकर (पवित्रे में से छानता है तो) यह मन्त्र पढ़ता है—"देवस्त्वा सविता पुनातु वसोः पवित्रेण शतधारेण सुप्वा" (यजु० १।३)—"देव सविता तुझको यज्ञ के सौ धारवाले और अच्छी तरह पवित्र करनेवाले पवित्रे के द्वारा शुद्ध करे।" जैसे पहले सोमराजा को पवित्रे से छानते हैं उसी प्रकार उसको भी छानते हैं ॥१६॥

अब पूछता है—"कामधुक्षः" (यजु० १।३)—"(काम्) किसको (अधुक्षः) तूने दुहा ?" वह उत्तर देता है–"अमूम्"–"इसको।" "सा विश्वायुः" (यजु० १।४)–"यह सब चीजों की आयु या जीवन है।" अब दूसरी (गाय) के विषय में पूछता है–"कामधुक्षः।"–"किसको दुहा ?" वह उत्तर देता है–"अमूम्"–"इसको।" "सा विश्वकर्मा" (यजु० १।४)–"वह विश्व को रचनेवाली है।" अब तीसरी (गाय) के विषय में पूछता है–"कामधुक्षः"–"किसको दुहा ?" वह उत्तर देता है–"अमूम्"–"इसको।" "सा विश्वधाया" (यजु० १।४) "वह संसार को धारण करनेवाली है।" यह जो पूछता है तो मानो उनमें वीर्य (शक्ति) का संचार करता है। तीन (गायों) को दुहता है। तीन लोक हैं। इस प्रकार वह इनको लोकों के योग्य बनाता है। अब वह (मौन को तोड़कर) इच्छानुसार बोल सकता है ॥१७॥

आखिरी (गाय) को दुहकर जिस पात्र में गाय दुहाई थी उसी में एक बूंद जल डालकर और हिलाकर ले आता है कि इसमें जो कुछ दूध का अंश बचा था वह भी इसी में आ जाय। यह उस रस को पूर्ण करने के लिए करता है। जब वर्षा होती है तो वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं। वनस्पतियों को खाकर और जल को पीकर यह रस बनता है। इसलिये रस की पूर्णता के लिए (जल डालता है)। अब वहाँ से (आग पर से) लाकर उसको गाढ़ा करता है, तेज करता है। इसीलिये वह उसको (आग पर से) लाकर गाढ़ा करता है ॥१८॥

वह नीचे के मन्त्र से गाढ़ा करता है—"इन्द्रस्य त्वा भागꣳ सोमेनातनच्मि" (यजु० १।४)–"इन्द्र के तुझ भाग को सोम से गाढ़ा करता हूँ।" जैसे पहले देवता के लिए हवि देते हुए

ति यदाहेन्द्रस्य त्वा भागमिति सोमेनातनच्मीति स्वदयत्येवैनदेतद्देवेभ्यः ॥१९॥ अथोदकवतोत्तानेन पात्रेणापिदधाति । नेदेनदुपरिष्टान्नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यवमृशानिति वज्रो वा आपस्तद्वज्रेणैवैतन्नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यतोऽपहन्ति तस्मादुदकवतोत्तानेन पात्रेणापिदधाति ॥२०॥ सोऽपिदधाति । विष्णो हव्यꣳ रक्षेति यज्ञो वै विष्णुस्तद्यज्ञायैवैतद्धविः परिददाति गुप्त्यै तस्मादाह विष्णो हव्यꣳ रक्षेति ॥२१॥ ब्राह्मणम् ॥४ [७.१.]॥ ॥

ऋणꣳ ह वै जायते योऽस्ति । स जायमान एव देवेभ्य ऋषिभ्यः पितृभ्यो मनुष्येभ्यः ॥१॥ स यदेव यजेत । तेन देवेभ्य ऋणं जायते तद्ध्येभ्य एतत्करोति यदेनान्यजते यदेभ्यो जुहोति ॥२॥ अथ यदेवानुब्रुवीत । तेनर्षिभ्य ऋणं जायते तद्ध्येभ्य एतत्करोत्यृषीणां निधिगोप इति ह्यनूचानमाहुः ॥३॥ अथ यदेव प्रजामिच्छेत । तेन पितृभ्य ऋणं जायते तद्ध्येभ्य एतत्करोति यदेषाꣳ संतताव्यवच्छिन्ना प्रजा भवति ॥४॥ अथ यदेव वासयेत । तेन मनुष्येभ्य ऋणं जायते तद्ध्येभ्य एतत्करोति यदेनान्वासयते यदेभ्योऽशनं ददाति स य एतानि सर्वाणि करोति स कृतकर्मा तस्य सर्वमाप्तꣳ सर्वं जितꣳ ॥५॥ स येन देवेभ्य ऋणं जायते । तदेनांस्तदवदयते यद्यजतेऽथ यदग्नौ जुहोति तदेनांस्तदवदयते तस्माद्यत्किं चाग्नौ जुह्वति तदवदानं नाम ॥६॥ तद्वै चतुरवत्तं भवति । इदं वा अनुवाक्याथ याज्याथ वषट्कारोऽथ सा देवता चतुर्थी यस्यै देवतायै हविर्भवत्येवꣳ हि देवता अवदानान्यन्वायत्ता अवदानानि वा देवता अन्वायत्तान्यतिरिक्तꣳ ह तदवदानं यत्पञ्चमं कस्मा उ हि तदवद्येत्तस्माच्चतुरवत्तं भवति ॥७॥ उतो पञ्चावत्तमेव भवति । पाङ्क्तो यज्ञः पाङ्क्तः पशुः पञ्चर्तवः संवत्सरस्यैषो पञ्चावत्तस्य संपद्बहुर्हैव प्रजया पशुभिर्भवति यस्यैवं विदुषः पञ्चावत्तं क्रियत एतद्ध त्वेव प्रज्ञातं कौरुपाञ्चालं यच्चतुरवत्तं तस्माच्चतुरवत्तं भवति ॥८॥ स वै यावन्मात्रमिवैवावद्येत् ।

कहा था, इसी प्रकार इस देवता के लिए भी कहता है कि 'इन्द्र के तुझ भाग को सोम से गाढ़ा करता हूँ।' वह इसको देवताओं के लिए स्वादिष्ट कर देता है ।।१९।।

अब वह उसको ऐसे पात्र से, जो ऊपर को खुला हो और जिसमें पानी हो, ढक देता है कि ऊपर से दुष्ट राक्षस उसे छू न लें। जल वज्र है। इस प्रकार वह वज्र से दुष्ट राक्षसों को उससे दूर भगा देता है। इसीलिए जल से भरे हुए पात्र से उसे ढकता है ।।२०।।

वह यह मन्त्र पढ़कर ढकता है—"विष्णो हव्यँ रक्ष" (यजु० १।४)—"हे विष्णु! हवि की रक्षा कर।" यज्ञ ही विष्णु है। इस प्रकार वह इस हवि को रक्षा के लिए यज्ञ के हवाले कर देता है। इसलिये कहा—'विष्णु, हवि की रक्षा कर' ।।२१।।

अध्याय ७–ब्राह्मण २

जो कोई मनुष्य है वह उत्पन्न होते ही देवताओं, ऋषियों, पितरों और मनुष्यो का ऋणी हो जाता है ।।१।।

उनको यज्ञ करना चाहिए। क्योंकि देवों का ऋणी होता है, इसलिये ऐसा करता है—उनके लिए यज्ञ करता है, उनके लिए आहुति देता है ।।२।।

अब उसको (वेद) पढ़ना चाहिए। क्योंकि ऋषियों का ऋणी होता है, इसलिये ऐसा करता है। जो वेद पढ़ता है उसको ऋषियों के कोष का रक्षक (ऋषीणाम् निधि-गोप) कहते हैं ।।३।।

अब उसको सन्तान की रक्षा करनी चाहिए। क्योंकि पितरों का ऋणी होता है, इसलिये ऐसा करता है जिससे उसके वंश का सिलसिला (परम्परा) बराबर जारी रहे ।।४।।

अब उसको (लोगों का) सत्कार करना चाहिए। क्योंकि मनुष्यों का ऋणी होता है, इसलिये ऐसा करता है कि उनको बसाता है, उनको खाना देता है, वह उनके लिए सब-कुछ करता है। इससे वह अपने कर्तव्य को पूरा करता है। उसको सब-कुछ मिल जाता है, वह विजयी हो जाता है ।।५।।

क्योंकि वह देवताओं का ऋणी होता है, इसलिये देवताओं को प्रसन्न करता है (अवदयते) यज्ञ करता है, अग्नि में आहुति देता है, उनको प्रसन्न करता है। इसलिये जो कुछ अग्नि में आहुति दी जाती है उसको अवदान कहते हैं ।।६।।

इस यज्ञ के चार टुकड़े होते हैं—पहला अनुवाक्य, दूसरा यज्ञ, तीसरा वषट्कार, चौथा वह देवता जिसके लिए हवि दी जाती है। इस प्रकार अवदान के अधीन देवता है या अवदान देवता के अधीन हैं। (कुछ लोग पाँचवाँ भाग बताते हैं) यह पाँचवाँ भाग व्यर्थ है क्योंकि वह किसके लिए है? इसलिये अवदान के चार भाग ही होते हैं ।।७।।

परन्तु (कुछ लोगों के मत में) पाँच टुकड़े भी होते हैं। पाँच भाग वाला यज्ञ होता है, पाँच भाग वाला पशु, वर्ष में पाँच ऋतुएँ—ये पाँच भाग पूरे हुए। जो इस रहस्य को जानकर पाँच भाग करता है उसके सन्तान और पशु बहुत होते हैं। परन्तु कुरु और पांचालों में चार ही टुकड़े होते हैं। इसलिये (हमारे मत में भी) चार टुकड़े ही होते हैं ।।८।।

उनको मात्रा के अनुकूल ही काटना चाहिए। यदि मात्रा से अधिक काटेगा तो यज्ञ को

मानुषꣳ ह कुर्याद्यन्महदवद्येद्व्यृद्धं वै तद्यज्ञस्य यन्मानुषं नेद्व्यृद्धं यज्ञे करवाणीति तस्माद्यावन्मात्रमिवैवावद्येत् ॥९॥ स आज्यस्योपस्तीर्य । द्विर्हविषोऽवदायाथो-परिष्टादाज्यस्याभिघारयति द्वे वाऽआहुती सोमाहुतिरेवान्याज्याहुतिरन्या तत एषा केवली यत्सोमाहुतिरथैषाज्याहुतिर्यद्धविर्यज्ञो यत्पशुस्तदाज्यमेवैतत्करोति तस्मादुभयत आज्यं भवत्येतद्धि जुष्टं देवानां यदाज्यं तज्जुष्टमेवैतद्देवेभ्यः करोति तस्मादुभयत आज्यं भवति ॥१०॥ असौ वाऽअनुवाक्येयं याज्या । तेऽउभे योषे तयोर्मिथुनमस्ति वषट्कार एव तद्वाऽएष एव वषट्कारो य एष तपति स उद्यन्नेवामूमधिद्रवत्यस्तं यन्निमामधिद्रवति तदेतेन वृष्णेमां प्रजातिं प्रजायेते यैनयोरियं प्रजातिः ॥११॥ सोऽनुवाक्यामनूच्य । याज्यामनुद्रुत्य पश्चाद्वषट्करोति पश्चाद्धि प-रीत्य वृषा योषामधिद्रवति तदेनेऽउभे पुरस्तात्कृत्वा वृष्णा वषट्कारेणाधिद्रावयति तस्मात्तु सह वैव वषट्कारेण जुहुयाद्वषट्कृते वा ॥१२॥ देवपात्रं वाऽएष यद्व-षट्कारः । तद्यथा पात्रेऽउद्धृत्य प्रयच्छेदेवं तदथ यत्पुरा वषट्काराज्जुहुयाद्यथाधो भू-मौ निदिग्धं तदमुया स्यादेवं तत्तस्मात्तु सह वैव वषट्कारेण जुहुयाद्वषट्कृते वा ॥१३॥ ॥ शतम् ६०० ॥ ॥ तद्यथा योनौ रेतः सिञ्चेत् । एवं तदथ यत्पुरा वष-ट्काराज्जुहुयाद्यथा योनौ रेतः सिक्तं तदमुया स्यादेवं तत्तस्मात्तु सह वैव वषट्कारे-ण जुहुयाद्वषट्कृते वा ॥१४॥ असौ वाऽअनुवाक्येयं याज्या । सा वै गायत्रीयं त्रिष्टुबसौ स वै गायत्रीमन्वाह तदमूमनुब्रुवन्नसौ ह्यनुवाक्येमामन्वाहेयꣳ हि गायत्री ॥१५॥ अथ त्रिष्टुभा यजति । तदनया यजन्नियꣳ हि याज्यामुष्या अधि वषट्करोत्यसाऽउ हि त्रिष्टुप्तदेने सयुजौ करोति तस्मादिमे संभुञ्जातेऽअनयोरनु संभोगमिमाः सर्वाः प्रजा अनु संभुञ्जते ॥१६॥ स वाऽअङ्ग्यन्निवैवानुवाक्यामनु-ब्रूयात् । असौ ह्यनुवाक्या बृहद्ध्यसौ बार्हतꣳ हि तद्रूपं क्षिप्रऽएव याज्यया त्व-रेतेयꣳ हि याज्या रथन्तरꣳ हीयꣳ राथन्तरꣳ हि तद्रूपꣳ ह्वयति वाऽअनुवाक्यया

मानुषी कर देगा। वह यज्ञ ऋद्धि-शून्य हो जायगा। इसलिये मात्रा के अनुकूल ही काटना चाहिए ॥९॥

(आज्य) अर्थात् घी की एक तह नीचे रखकर दो बार हवि काटकर उस पर घी डालता है। दो आहुतियाँ होती हैं—एक सोम की, दूसरी घी की। जो सोम-आहुति है वह तो स्वयं है ही। और जो आज्य आहुति है वह हवि है, वह पशु है। इसलिये दोनों ओर घी होता है। आज्य अर्थात् घी देवों को प्रिय है। इसलिये घी को दोनों ओर इसलिये लगाते हैं कि देवता प्रसन्न हो जायँ ॥१०॥

वह (अर्थात् द्यौ) अनुवाक्य है, यह (अर्थात् पृथिवी) याज्य है। ये दोनों स्त्रीलिंग हैं। उनमें से हर एक का जोड़ा वषट्कार है। अब वषट्कार वही सूर्य है जो तपता है। जब वह निकलता है तो उस (द्यौ) से सम्पर्क होता है; जब डूबता है तो इस (पृथिवी) से सम्पर्क होता है। इसलिये जो कुछ ये दोनों (द्यौ और पृथिवी) उत्पन्न करते हैं, उस नर (सूर्य) की सहायता से ही उत्पन्न करते हैं ॥११॥

अनुवाक्य को बोलकर और याज्य को करके वषट्कार को करता है। पीछे से ही घूमकर नर मादा के पास जाता है। इसलिये उन दोनों को पहले रखके पुंल्लिङ्ग वषट्कार से पीछे से उनको मिलाता है। इसलिये या तो वषट्कार के साथ आहुति दे या वषट्कार के पीछे ॥१२॥

वषट्कार देवताओं का पात्र है। जैसे (भोजन) पात्र में निकालकर दिया करते हैं उसी प्रकार यहाँ भी। यदि वषट्कार के पहले ही आहुति देवे तो वह ऐसा (निरर्थक) हो जाय जैसे जमीन पर गिरकर (भोजन) हो जाता है। इसीलिये या तो वषट्कार के साथ आहुति दे या वषट्कार के पीछे ॥१४॥

जैसे योनि में वीर्य-सिंचन होता है वैसे ही यहाँ भी। यदि वषट्कार से पहले आहुति दे तो ऐसा हो जाय मानो योनि में वीर्य गया ही नहीं। इसलिये या तो वषट्कार के साथ आहुति दे या वषट्कार के पीछे ॥१४॥

वह (अर्थात् द्यौ) अनुवाक्य है। यह (पृथिवी) याज्य है। यह (पृथिवी) गायत्री है। यह (द्यौ) त्रिष्टुभ् है। यह जो गायत्री पढ़ता है वह मानो द्यौ को पढ़ता है, क्योंकि अनुवाक्य द्यौ है। इस (पृथिवी) को पढ़ता है क्योंकि गायत्री यह (पृथिवी) है ॥१५॥

त्रिष्टुभ् से यज्ञ करता है। इस प्रकार इस (पृथिवी) से यज्ञ करता है, क्योंकि याज्य पृथिवी है। उस (द्यौ) के ऊपर वषट्कार को रखता है, क्योंकि द्यौ त्रिष्टुभ् है। इस प्रकार वह इन दोनों (पृथिवी और द्यौ) को सयुज कर देता है, और इस प्रकार वे सह-भोजी हो जाते हैं। इन्हीं के सहभोज के पश्चात् सब प्रजा भोजन प्राप्त करती है ॥१६॥

अब वह लड़खड़ाती हुई वाणी से अनुवाक्य को बोलता है। वह (द्यौ) ही अनुवाक्य है। बृहत् (साम) भी वही (द्यौ) है, क्योंकि उसका बृहत् रूप है। याज्य को जल्दी-जल्दी पढ़े। याज्य यही (पृथिवी) है और रथन्तर भी यही (पृथिवी) है, क्योंकि इसका रूप रथन्तर है। अनुवाक्य से वह आवाहन करता है और याज्य से देता है, इसीलिये अनुवाक्य में ऐसे शब्द होते

प्रयच्छति याज्यया तस्मादनुवाक्यायै रूपꣳ हुवे हवामहऽआगहीदं बर्हिः सीदेति यद्ध्वयति हि तया प्रयच्छति याज्यया तस्माद्याज्यायै रूपं वीहि हविर्जुषस्व हविरावृषाय स्वाद्धि पिब प्रेति यत्प्र हि तया यच्छति ॥१७॥ सा या पुरस्ताल्लक्षणा । सानुवाक्या स्यादसौ ह्यनुवाक्या तस्या अमुष्या अवस्ताल्लक्ष्म चन्द्रमा नक्षत्राणि सूर्यः ॥१८॥ अथ योपरिष्टाल्लक्षणा । सा याज्या स्यादियꣳ हि याज्या तस्या अस्या उपरिष्टाल्लक्ष्मौषधयो वनस्पतय आपोऽग्निरिमाः प्रजाः ॥१९॥ सा ह त्वेव समृद्धानुवाक्या । यस्यै प्रथमात्पदाद्देवतामभिव्याहरति सोऽएव समृद्धा याज्या यस्याऽउत्तमात्पदाद्देवताया अधि वषट्करोति वीर्यं वै देवतर्चस्तदुभयत एवैतद्वीर्येण परिगृह्य यस्यै देवतायै हविर्भवति तस्यै प्रयच्छति ॥२०॥ स वै वौगिति करोति । वाग्वै वषट्कारो वाग्रेतो रेत एवैतत्सिञ्चति षडित्यृतवो वै षड्ऋतुष्वेवैतद्रेतः सिच्यते तदृतवो रेतः सिक्तमिमाः प्रजाः प्रजनयन्ति तस्मादेवं वषट्करोति ॥२१॥ देवाश्च वाऽअसुराश्च । उभये प्राजापत्याः प्रजापतेः पितुर्दायमुपेयुरेतावेवार्धमासौ य एवापूर्यते तं देवा उपायन्योऽपक्षीयते तमसुराः ॥२२॥ ते देवा अकामयन्त । कथं न्विममपि संवृञ्जीमहि योऽयमसुराणामिति तेऽर्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुस्तऽएतꣳ हविर्यज्ञं ददृशुर्यद्दर्शपूर्णमासौ ताभ्यामयजन्त ताभ्यामिष्ट्वैतमपि समवृञ्जत ॥२३॥ य एषोऽसुराणामासीत् । यदा वाऽएताऽउभौ परिप्लवेतेऽथ मासो भवति मासशः संवत्सरः सर्वं वै संवत्सरः सर्वमेव तद्देवा असुराणाꣳ समवृञ्जत सर्वस्मात्सपत्नानसुरान्निरभजन्त्सर्वम्वेवैष एतत्सपत्नानाꣳ संवृङ्क्ते सर्वस्मात्सपत्नान्निर्भजति य एवमेतद्वेद ॥२४॥ स यो देवानामासीत् । स यवायुवत हि तेन देवा योऽसुराणाꣳ सोऽयवा न हि तेनासुरा अयुवत ॥२५॥ अथोऽइतरथाहुः । य एव देवानामासीत्सोऽयवा न हि तमसुरा अयुवत योऽसुराणाꣳ स यवायुवत हि तं देवाः सब्दमहः सगरा रात्रिर्यव्या मासाः सुमेकः संवत्सरः स्वेको ह वै

हैं—'हुवे' (मैं बुलाता हूँ), 'हवामहे' (हम बुलाते हैं), 'आगच्छ' (आ), 'इदं बर्हिः सीद' (इस आसन पर बैठो)। क्योंकि इन शब्दों द्वारा बुलाता है, याज्य से देता है, इसलिये याज्य में ऐसे शब्द आते हैं—'वीहि हविः' (हवि को स्वीकार करो), 'जुषस्व हविः' (हवि को ग्रहण करो), 'आवृषा यस्व' (ग्रहण करो), 'अद्धि' (खाओ), 'पिब' (पियो), 'प्र' (वहाँ), क्योंकि इसी (याज्या) द्वारा तो वह उसको देता है जो 'प्र' अर्थात् दूर है ॥१७॥

अनुवाक्य को 'पुरस्ताल्लक्षण' अर्थात् आदि में सामने लक्षणवाला होना चाहिए। वह (द्यौ) ही अनुवाक्य हैं और उस (द्यौ) के नीचे के चिह्न हैं—चाँद, नक्षत्र (सूर्य) ॥१८॥

'याज्य' को 'उपरिष्टाल्लक्षण' अर्थात् ऊपर लक्षणवाला होना चाहिए। याज्य यही (पृथिवी) है और इसके ऊपर के लक्षण हैं–ओषधि, वनस्पति, जल, अग्नि और यह प्रजा ॥१९॥

वही अनुवाक्य श्रेष्ठ होता है जिसके पहले पद में देवता का नाम आता है। याज्य वही श्रेष्ठ होती है जिसके अन्तिम पद में देवता के लिए वषट् किया जाता है। देवता ऋक् ही वीर्य है। मानो दोनों ओर से बल से पकड़कर हवि को उस देवता के अर्पण करता है जिसके लिए वह हवि होता है ॥२०॥

अब कहता है 'वौक्'। वाणी ही वषट्कार है। वाणी ही वीर्य है। इस प्रकार वह वीर्य-सिंचन करता है। फिर कहता है 'षट्', क्योंकि छः ऋतुएँ होती हैं। इस प्रकार वह ऋतुओं में ही वीर्य-सिंचन करता है। ऋतुओं से सींचा हुआ यह वीर्य इन प्रजाओं को उत्पन्न करता है, इसलिये वषट् करता है ('वषट्' के दो भाग हैं—'व' और 'षट्') ॥२१॥

अब प्रजापति की दोनों सन्तान देव और असुर अपने पिता के दायभाग अर्थात् दोनों अर्द्धमासों (पक्षों) को प्राप्त हुए। जो बढ़ता है उसको देव, जो घटता है उसको असुर ॥२२॥

देवों ने चाहा कि किस प्रकार उस भाग को भी ले लें जिसको असुर लिये हुए हैं। वे पूजा और परिश्रम करते रहे। उन्होंने इस हविर्यज्ञ अर्थात् दर्शपूर्णमास यज्ञ को देखा और उनको किया। इनको करके उन्होंने उस एक को ले लिया— ॥२३॥

जो असुरों का था। जब ये दोनों चलते हैं तो महीना होता है। महीने से साल होता है। संवत्सर का अर्थ है 'सब'। इसलिये इस प्रकार देवों ने असुरों का सब लेकर मानो अपने शत्रु असुरों का सब ले लिया। इस प्रकार वह भी जो इस रहस्य को समझता है अपने शत्रुओं का सब-कुछ ले लेता है। अपने शत्रुओं को सबसे वंचित कर देता है ॥२४॥

जो देवों का अर्द्धमास था उसे 'यवा' कहते हैं, क्योंकि देव उससे युक्त थे ('यु' का अर्थ है जुड़ना)। जो असुरों का था उसे 'अयवा' कहते हैं, क्योंकि असुर उससे युक्त न रह सके ॥२५॥

परन्तु अन्यथा भी कहते हैं। जो देवों का था उसे 'अयवा' कहते हैं, क्योंकि असुर उसको न ले सके, और जो असुरों का था उसे 'यवा' कहते हैं क्योंकि देवों ने उसे ले लिया। दिन को 'सब्द' कहते हैं, रात्रि को 'सागरा', महीने को 'ग्रव्य', और वर्ष को 'सुमेक'। 'स्वेक' ही 'सुमेक'

नामैतद्यत्सुमेक इति यवा च हि वाऽअयवा यवेतीवाय येनैतेषाᳪ होता भवति
तद्याविहोत्रमित्याचक्षते ॥२६॥ ब्राह्मणम् ॥५[७.२.]॥ ॥ पञ्चमः प्रपाठकः ॥
॥ कण्डिकासंख्या १२१ ॥ ॥

यज्ञेन वै देवाः । दिवमुपोदक्रामन्नथ योऽयं देवः पशूनामीष्टे स इहाहीयत
तस्माद्वास्तव्य इत्याहुर्वास्तौ हि तदहीयत ॥१॥ स येनैव देवा दिवमुपोदक्रा-
मन् । तेनो ऽएवार्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुरथ योऽयं देवः पशूनामीष्टे य इहाहीयत
॥२॥ स ऐक्षत । अहास्य ह्यार्त्यन्त्यु मा यज्ञादिति सोऽनूद्चक्राम स आयतयोत्त-
रत उपोत्पेदे स एष स्विष्टकृतः कालः ॥३॥ ते देवा अब्रुवन् । मा विस्राक्षी-
रिति ते वै मा यज्ञान्मान्तर्गताहुतिं मे कल्पयतेति तथेति स समवृहत्स नास्यत्स
न कं चनाहिनत् ॥४॥ ते देवा अब्रुवन् । यावन्ति नो हवीᳪषि गृहीतान्यभू-
वन्त्सर्वेषां तेषाᳪ हुतमुपजानीत यथास्माऽआहुतिं कल्पयामेति ॥५॥ तेऽध्वर्युम-
ब्रुवन् । यथापूर्वᳪ हवीᳪष्यभिघारयैकस्माऽअवदानाय पुनराप्याययायातयामानि
कुरु तत एकैकमवदानमवद्येति ॥६॥ सोऽध्वर्युः । यथापूर्वᳪ हवीᳪष्यभ्यघारयदे-
कस्माऽअवदानाय पुनराप्याययदयातयामान्यकरोत्तत एकैकमवदानमवाद्यत्तस्मा-
द्वास्तव्य इत्याहुर्वास्तु हि तद्यज्ञस्य यद्धुतेषु हविःषु तस्माद्यस्यै कस्यै च देव-
तायै हविर्गृह्यते सर्वत्रैव स्विष्टकृदन्वाभक्तः सर्वत्र ह्येवैनं देवा अन्वाभजन् ॥७॥
तद्वाऽअग्नयऽइति क्रियते । अग्निर्वै स देवस्तस्यैतानि नामानि शर्व इति यथा
प्राच्या आचक्षते भव इति यथा बाहीकाः पशूनां पती रुद्रोऽग्निरिति तान्यस्या-
शान्तान्येवेतराणि नामान्यग्निरित्येव शान्ततमं तस्मादग्नयऽइति क्रियते स्विष्टकृ-
तऽइति ॥८॥ ते होचुः । यत्त्वमुत्र सत्ययदमहि तन्नः स्विष्टं कुर्विति तदेभ्यः
स्विष्टमकरोत्तस्मात्स्विष्टकृतऽइति ॥९॥ सोऽनुवाक्यामनूच्य संपश्यति । ये तथा-
ग्निᳪ स्विष्टकृतमयाडग्निरग्नेः प्रिया धामानीति तदग्निमाज्यभागमाहायाट्सोमस्य

है। यवा और अयवा, जिसको 'यवा' भी कहते हैं, इससे ही 'होता' सम्बन्धित होता है, इसलिये उसको 'याविह्नोत्र' कहते हैं ॥२६॥

अध्याय ७—ब्राह्मण ३

यज्ञ से ही देवों ने द्यौलोक को प्राप्त किया। जो देव पशुओं का अधिष्ठाता था वह यहीं रह गया, इसलिए उसको 'वास्तव्यं' कहा, क्योंकि वह वहाँ 'वास्तु' अर्थात् वेदि में रह गया ॥१॥

जिस यज्ञ के द्वारा देव द्यौलोक को चढ़े थे, उसी यज्ञ से वे पूजा और परिश्रम करते रहे। अब जो पशुओं का अधिष्ठाता देव था और जो यहीं रह गया था—॥२॥

उसने देखा 'अरे ! मैं यहाँ रह गया, ये मुझे यज्ञ से निकाले दे रहे हैं !' वह उनके पीछे-पीछे चढ़ा और अपने (शस्त्र को) उठाकर उत्तर की ओर चला। यह स्विष्टकृत् आहुति का समय था ॥३॥

वे देव बोले—'(शस्त्र) मत मार।' (उन्होंने कहा) 'मुझे यज्ञ से बहिष्कृत न करो। मेरे लिए आहुति दो।' देवों ने कहा—'अच्छा।' उसने शस्त्र हटा लिया; न मारा, न किसी को सताया ॥४॥

ये देव बोले—'जितनी हवियाँ हमारे लिए ली गईं, वे सब दी जा चुकीं। अब सोचो जिससे इसके लिए एक आहुति दे सकें' ॥५॥

उन्होंने अध्वर्यु से कहा—'पूर्व की भाँति हवियों के ऊपर घी छोड़ो (अभिधारय)। एक अवदान (भाग) के लिए फिर पूरा करो। और फिर एक-एक भाग अलग-अलग कर दो' ॥६॥

अध्वर्यु ने पूर्व की भाँति हवियों पर घी छोड़ा, एक भाग के लिए फिर पूरा किया और तैयार करके एक-एक भाग को अलग किया। इसलिये उस रुद्र को वास्तव्य कहा, क्योंकि यज्ञ में दी हुई आहुतियों की हवि में से जो कुछ बच रहता है उसको 'वास्तु' कहते हैं। इसलिये जिस किसी देवता के लिए 'हवि' दी जाती है, सब जगह 'स्विष्टकृत्' (अर्थात् अग्नि) को पीछे से आहुति देते हैं, क्योंकि सर्वत्र ही देवों ने अग्नि को पीछे से भाग दिया ॥७॥

वह अग्नि के लिए ही दी जाती है। अग्नि ही वह देव है। उसके ये नाम हैं—'शर्व' पूर्व के लोग कहते हैं, 'भव' बाहीक लोग कहते हैं, 'पशुओं का पति', 'रुद्र', 'अग्नि'। उसमें और नाम अशान्त अर्थात् अशुभ हैं। केवल 'अग्नि' एक नाम ही शान्त या शुभ है, इसलिये यह आहुति 'अग्नि' (स्विष्टकृत्) के लिए दी जाती है ॥८॥

उन्होंने कहा—'जो आहुति हमने तुझ दूर ठहरे हुए को दी, उसे तू हमारे लिए स्विष्ट (हितकर) बना दे।' उसने उनके लिए उस आहुति को शुभ कर दिया, इसलिये उसका नाम 'स्विष्टकृत्' हुआ ॥९॥

वह (होता) अनुवाक्य को बोलकर देखता है कि किन्हों ने अग्नि स्विष्टकृत् को लिया। 'अग्नि, अग्नि के प्रिय धामों को दे।' इससे अग्नि के आज्य भाग का तात्पर्य है 'सोम के प्रिय धामों

प्रिया धामानीति तत्सौम्यमाज्यभागमाहायाडग्नेः प्रिया धामानीति तद्य एष उभ-
यत्राच्युत आग्नेयः पुरोडाशो भवति तमाह ॥१०॥ अथ यथादेवतम् । अयाड्दे-
वानामाज्यपानां प्रिया धामानीति तत्प्रयाजानुयाजानाह प्रयाजानुयाजा वै देवा
आज्यपा यक्षदग्नेर्होतुः प्रिया धामानीति तदग्निꣳ होतारमाह तदस्माऽएतां देवा
आहुतिं कल्पयित्वाथैनेनैतद्भूयः समशाम्यन्प्रियऽएनं धामन्नुपाह्वयन्त तस्मादिदꣳ सं-
पश्यति ॥११॥ तद्धैके । देवतां पूर्वां कुर्वन्त्ययाट्कारादग्नेरयाट्सोमस्यायाडिति तदु
तथा न कुर्याद्विलोम ह ते यज्ञे कुर्वन्ति ये देवतां पूर्वां कुर्वन्त्ययाट्कारादिदꣳ हि
प्रथममभिव्याहरन्नयाट्कारमेवाभिव्याहरति तस्मादयाट्कारमेव पूर्वं कुर्यात् ॥१२॥
यक्षत्स्वं महिमानमिति । यत्र वाऽअदो देवता आवाहयति तदपि स्वं महिमा-
नमावाहयति तदतः प्राङ्नैव किं चन स्वाय महिम्नऽइति क्रियते तदत्र तं प्रीणा-
ति तथो हास्यैषोऽमोघायावाहितो भवति तस्मादाह यक्षत्स्वं महिमानमिति
॥१३॥ आ यजतामेज्या इष इति । प्रजा वाऽइषस्ता एवैतद्यायजूकाः करोति ता
इमाः प्रजा यजमाना अर्चन्त्यः श्राम्यन्त्यश्चरन्ति ॥१४॥ सोऽअध्वरा जातवेदा जुष-
ताꣳ हविरिति । तद्यज्ञस्यैवैतत्समृद्धिमाशास्ते यद्धि देवा हविर्जुषन्ते तेन हि म-
हज्जयति तस्मादाह जुषताꣳ हविरिति ॥१५॥ तद्यदेतेऽअत्र । याज्यानुवाक्ये
ऽअवक्लृप्ततमे भवतस्तृतीयसवनं वै स्विष्टकृद्वैश्वदेवं वै तृतीयसवनं पिप्रीहि दे-
वाँ२॥ऽउशतो यविष्ठेति तदनुवाक्यायै वैश्वदेवमग्ने यदद्य विशोऽअध्वरस्य होत-
रिति तद्याज्यायै वैश्वदेवं तद्यदेतेऽएवꣳरूपे भवतस्तेनोऽएते तृतीयसवनस्य रूपं
तस्माद्वाऽएतेऽअत्र याज्यानुवाक्येऽअवक्लृप्ततमे भवतः ॥१६॥ ते वै त्रिष्टुभौ भ-
वतः । वास्तु वाऽएतद्यज्ञस्य यत्स्विष्टकृद्वीर्यं वै वास्त्विन्द्रियं वीर्यं त्रिष्टुबिन्द्रि-
यमेवैतद्वीर्यं वास्तौ स्विष्टकृति दधाति तस्मात्त्रिष्टुभौ भवतः ॥१७॥ उतोऽअनु-
ष्टुभाविव भवतः । वास्त्वनुष्टुब्वास्तु स्विष्टकृद्वास्तावेवैतद्वास्तु दधाति यसुकं वै

को दे।' इससे सोम आज्य का तात्पर्य है। 'अग्नि के प्रिय धामों को दे'—इससे जो अग्नि का पुरोडाश है उससे तात्पर्य है ॥१०॥

अब देवताओं के लिए—'वह आज्य पीनेवाले देवों के लिए प्रिय धामों को देवे।' इससे प्रयाज और अनुयाज से तात्पर्य है, क्योंकि प्रयाज और अनुयाज ही आज्य पान करनेवाले देव हैं। 'वह होता अग्नि के प्रिय धामों का यज्ञ करे।' यहाँ अग्नि का होता के रूप में तात्पर्य है। क्योंकि जब देवों ने उसके लिए अलग आहुति विचार कर ली, उन्होंने उसको इसके द्वारा शान्त किया, और उसको उसके प्रिय धाम (पदार्थ) के लिए बुलाया। इसी प्रयोजन से वह इस प्रकार सोचता है ॥११॥

कुछ लोग अयाट्कार से पहले देवताओं का नाम लेते हैं। इस प्रकार—'अग्नेः अयाट्' (अग्नि का [भाग] देवें)। 'सोमस्य अयाट्' (सोम का [भाग] देवें)। परन्तु ऐसा नहीं करना चाहिए, क्योंकि जो 'अयाट्' से पहले देवता का नाम लेते हैं, वे यज्ञ का क्रम बिगाड़ देते हैं। क्योंकि 'अयाट्' पहले कहकर ही यज्ञ में जो पहले कहना चाहिए वह कहा जाता है, इसलिये पहले अयाट्कार ही कहना चाहिए।।१२।।

अब होता अग्नि को सम्बोधन करके कहता है–"यज्ञत् स्वं महिमानम्"–"अपनी महिमा के लिए यज्ञ करे।" जहाँ इस प्रकार अग्नि के द्वारा देवताओं का आवाहन करता है वह (अग्नि की) निज महिमा का भी आवाहन करता है। इससे पहले उसकी निज महिमा के लिए कुछ नहीं किया गया, इसलिये इस प्रकार उसको प्रसन्न करता है। इसलिये (अग्नि की स्थापना) विद्या निवारण के लिए होती है। इसलिये कहा—'अपनी महिमा के लिए यज्ञ करे' ॥१३॥

अब कहता है—"आ यजतामेज्या इषः"—"यज्ञ के योग्य अन्न का यज्ञ किया जाय।" इष (अन्न) का अर्थ है यहाँ 'प्रजा' से। इस प्रकार प्रजाओं को यज्ञ करने के प्रति उत्साही बनाता है। ये प्रजा के लोग यज्ञ, पूजा और श्रम करते रहते हैं। ('प्रजा' का अर्थ उत्पन्न हुए प्राणी आदि) ॥१४॥

अब कहता है—"अध्वरा जातवेदा जुषताꣳ हविः"—"हानि न पहुँचानेवाले और सब उत्पन्न हुए पदार्थों को जाननेवाले (देव) पवित्र हवि को करें।" इस प्रकार वह यज्ञ की समृद्धि को चाहता है। क्योंकि यदि देवों ने हवि ले ली तो मानो उसकी बड़ी सफलता हो गई, इसलिये कहता है—'हवि को ले' ॥१५॥

यहाँ 'याज्य' और 'अनुवाक्य' बहुत-कुछ एक-से हो जाते हैं। स्विष्टकृत् तृतीय सवन (सायंकाल का यज्ञ) है। तृतीय सवन विश्वे देवों का होता है। "पिप्रीहि देवाँ उशतो यविष्ठ।"—"हे सबसे युवा! तुम इच्छुक देवों को प्रसन्न करो।" यह अंश अनुवाक्य का वैश्वदेव के लिए है। "अग्ने यदद्य विशोऽध्वरस्य होतः"—"हे यज्ञ के होता अग्नि! जो तुम आज लोगों के पास (आओ)।" याज्य का यह भाग वैश्व देवों के लिए है। चूंकि इन दोनों का ऐसा रूप है इसलिये यह तृतीय सवन का रूप है। इसीलिये इस स्थान पर याज्य और अनुवाक्य बहुत-कुछ एक-से हो जाते हैं ॥१६॥

ये दोनों त्रिष्टुभ् के होते हैं। यज्ञ में जो स्विष्टकृत् है वह वास्तु के समान है। वास्तु वीर्यहीन अर्थात् निर्बल होती है। त्रिष्टुभ् वीर्यवान् है। इस प्रकार स्विष्टकृत् में वीर्य (बल) धारण कराता है। इसीलिये ये दोनों त्रिष्टुभ् हैं ॥१७॥

या वे दोनों अनुष्टुभ् होते हैं। अनुष्टुभ् वास्तु है। स्विष्टकृत् वास्तु है। इस प्रकार वास्तु

वास्तु पिस्यति ह प्रजया पशुभिर्यस्यैवं विदुषोऽनुष्टुभौ भवतः ॥१८॥ तद्ध ह
भाल्लवेयः । अनुष्टुभमनुवाक्यां चक्रे त्रिष्टुभं याज्यामितदुभयं परिगृह्णामीति स र-
थात्पपात स पतित्वा बाहुमपि शश्रे स परिममृशे यत्किमकरं तस्मादिदमापदिति
स हैतदेव मेने यद्विलोम यज्ञेऽकरमिति तस्मान्न विलोम कुर्यात्सहच्छन्दसाविव
स्यातामुभे वैवानुष्टुभाऽउभे वा त्रिष्टुभौ ॥१९॥ स वाऽउत्तरार्धादवद्यति । उत्त-
रार्धे जुहोत्येषा ह्येतस्य देवस्य दिक्तस्मादुत्तरार्धादवद्यत्युत्तरार्धे जुहोत्येतस्यै वै दि-
श उदपद्यत तं तत एवाशमयंस्तस्मादुत्तरार्धादवद्यत्युत्तरार्धे जुहोति ॥२०॥ स
वाऽअभ्यर्धऽ-इवेतराभ्य आहुतिभ्यो जुहोति । इतरा आहुतीः पशवोऽनुप्रजायन्ते
हविषः स्विष्टकृदुद्रियेण पशून्प्रसजेद्यदितराभिराहुतिभिः सꣳसृजेत्तेऽस्य गृहाः पशव
उपमूर्यमाणा ईयुस्तस्मादभ्यर्धऽ-इवेतराभ्य आहुतिभ्यो जुहोति ॥२१॥ एष वै स-
यज्ञः । येन तद्देवा दिवमुपोदक्रामन्नेष आहवनीयोऽथ य इहाहीयत स गार्हप-
त्यस्तस्मादेतं गार्हपत्यात्प्राञ्चमुद्धरन्ति ॥२२॥ तं वाऽअष्टासु विक्रमेष्वादधीत ।
अष्टाक्षरा वै गायत्री गायत्र्यैवैतद्दिवमुपोत्क्रामति ॥२३॥ एकादशस्वादधीत । ए-
कादशाक्षरा वै त्रिष्टुप्त्रिष्टुभैवैतद्दिवमुपोत्क्रामति ॥२४॥ द्वादशस्वादधीत । द्वाद-
शाक्षरा वै जगती जगत्यैवैतद्दिवमुपोत्क्रामति नात्र मात्रास्ति यत्रैव स्वयं मनसा
मन्येत तदादधीत स यद्वाऽअप्यल्पकमिव प्राञ्चमुद्धरति तेनैव दिवमुपोत्क्रामति
॥२५॥ तदाहुः । आहवनीये हवीꣳषि श्रपयेयुरतो वै देवा दिवमुपोदक्रामंस्तेनो
ऽएवार्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुस्तस्मिन्हवीꣳषि श्रपयाम तस्मिन्यज्ञं तनवामहाऽइत्यप-
स्खल-इव ह स हविषां यद्गार्हपत्ये श्रपयेयुर्यज्ञ आहवनीयो यज्ञे यज्ञं तनवाम-
हाऽइति ॥२६॥ उतो गार्हपत्यऽएव श्रपयन्ति । आहवनीयो वाऽएष न वा
ऽएष तस्मै यदस्मिन्नशृतꣳ श्रपयेयुस्तस्मै वाऽएष यदस्मिञ्छृतं जुहुयुरित्यतो यतर-
था कामयेत तथा कुर्यात् ॥२७॥ स हैष यज्ञ उवाच । नग्नताया वै बिभेमीति

में वास्तु रखता है। उसका घर फूलता-फलता है, उसकी सन्तान और पशु फूलते-फलते हैं, जो इस रहस्य को समझता है और जिसके (अनुवाक्य तथा याज्य) अनुष्टुम् होते हैं ॥१८॥

भाल्लबेय ने अनुवाक्य को अनुष्टुभ् छन्द में किया और याज्य को त्रिष्टुभ् में, जिससे दोनों का फल मिल जाय। वह रथ से गिर गया और बाहु टूट गये। उसने सोचा—'कोई काम मुझसे ऐसा हुआ है जिसके कारण यह गति हुई।' इसपर उसने समझा कि 'मैंने यज्ञ के क्रम को विलोम (उलटा) कर दिया।' इसलिये यज्ञ के क्रम को विलोम नहीं करना चाहिए। (याज्य और अनुवाक्य) एक ही छन्द में होना चाहिए चाहे अनुष्टुम् में या त्रिष्टुभ् में ॥१९॥

वह (स्विष्टकृत् के लिए हवियों को) उत्तरी भाग में से काटता है और (कुण्ड के) उत्तरी भाग में आहुति देता है। इस देव की यही दिशा है। इसलिये वह उत्तरी भाग में से काटता है और उत्तरी भाग में आहुति देता है। इसी दिशा में वह उत्पन्न हुआ और इसी दिशा में शान्त किया गया। इसलिये उत्तरी भाग से काटकर उत्तरी भाग में आहुति देता है ॥२०॥

वह इन आहुतियों के इसी ओर (सामने ही) आहुति देता है और आहुतियों के पश्चात् ही प्रजाएँ होती हैं। स्विष्टकृत् रुद्र की शक्ति (रुद्रियः) है। यदि वह (स्विष्टकृत् आहुति को) अन्य आहुतियों से मिला दे तो मानो वह पशु पर रुद्र की शक्ति को लाये और उसके घर और पशु नष्ट हो जायँ। इसलिए स्विष्टकृत् (आहुति) को अन्य आहुतियों के इधर ही देता है ॥२१॥

यह वही यज्ञ था जिससे देव द्यौलोक को चढ़ गये, अर्थात् यह आहवनीय अग्नि। जो पीछे वहाँ रह गई वह गार्हपत्य अग्नि है। इसलिये वे इस (आहवनीय अग्नि) को गार्हपत्य अग्नि से लेते हैं जिससे वह उसकी पूर्व की ओर रहे (उसका प्राथम्य हो) ॥२२॥

उस (आहवनीय अग्नि) को (गार्हपत्य अग्नि से) आठ पग की दूरी पर रक्खे। आठ अक्षर की गायत्री होती है। इस प्रकार वह गायत्री के द्वारा द्यौ को चढ़ता है ॥२३॥

या वह ग्यारह पग पर रक्खे। ग्यारह अक्षर का त्रिष्टुभ् होता है। इस प्रकार वह त्रिष्टुभ् के द्वारा द्यौ लोक को चढ़ता है ॥२४॥

या बारह पगों की दूरी पर रक्खे। बारह अक्षर की जगती होती है। जगती के द्वारा ही वह द्यौलोक को चढ़ता है। यहाँ कोई मात्रा निश्चित नहीं है। जहाँ मन चाहे वहीं रख दे। थोड़ा ही पूर्व की ओर भी रक्खे तो उससे भी द्यौलोक को चढ़ सकता है ॥२५॥

कुछ लोग कहते हैं कि आहवनीय पर ही हवियों को पकावे, क्योंकि इसी से देव द्यौलोक को चढ़े थे और इसी से ये पूजा और श्रम करते रहे। उसी में हम हवियों को पकावें, उसी में यज्ञ करें। यदि गार्हपत्य पर पकावेंगे तो अपस्खल होगा (अनुचित होगा)। यह आहवनीय यज्ञ है। इस प्रकार यज्ञ में यज्ञ को करते हैं ॥२६॥

परन्तु गार्हपत्य पर भी पकाते हैं। (उनकी युक्ति यह है कि) यह तो आहवनीय है। यह इस काम के लिए तो है नहीं कि उस पर बिना पकाया हुआ पकाया जाय। यह तो इसलिए है कि उस पर पकाये हुए की आहुति दी जाय। इसलिए (हमारी सम्मति में) जहाँ इच्छा हो वहाँ पकावे ॥२७॥

यज्ञ ने कहा 'मुझे नंगेपन से डर लगता है।' (उससे पूछा गया कि) 'तेरे लिए अ-नंगापन

का तेऽनग्नतेत्यभित एव मा परिस्तृणीयुरिति तस्मादेतदग्निमभितः परिस्तृणन्ति तृष्णाया वै बिभेमीति का ते तृप्तिरिति ब्राह्मणस्यैव तृप्तिमनुतृप्येयमिति तस्मात्सꣳस्थिते यज्ञे ब्राह्मणं तर्पयितवै ब्रूयाद्यज्ञमेवैतत्तर्पयति ॥२८॥ ॥ ब्राह्मणम् ॥ १ [७. ३.] ॥ ॥

प्रजापतिर्ह वै स्वां दुहितरमभिदध्यौ । दिवं वोषसं वा मिथुन्येनया स्यामिति ताꣳ संबभूव ॥१॥ तद्वै देवानामाग आस । य इत्थꣳ स्वां दुहितरमस्माकꣳ स्वसारं करोतीति ॥२॥ ते ह देवा ऊचुः । योऽयं देवः पशूनामीष्टेऽतिसंधं वा ऽअयं चरति य इत्थꣳ स्वां दुहितरमस्माकꣳ स्वसारं करोति विध्येममिति तꣳ रुद्रोऽभ्यायत्य विव्याध तस्य सामि रेतः प्रचस्कन्द तथेन्नूनं तदास ॥३॥ तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम् । पिता यत्स्वां दुहितरमधिष्कन् क्ष्मया रेतः संजग्मानो निषिञ्चदिति तदाग्निमारुतमित्युक्थं तस्मिंस्तद्व्याख्यायते यथा तद्देवा रेतः प्राजनयंस्तेषां यदा देवानां क्रोधो व्यैदथ प्रजापतिमभिषज्यंस्तस्य तꣳ शल्यं निरकृन्तन्स वै यज्ञ एव प्रजापतिः ॥४॥ ते होचुः । उपजानीत यथेदं नामुयासत्कनीयो ह्याहुतेर्यथेदꣳ स्यादिति ॥५॥ ते होचुः । भगायैनद्दक्षिणत आसीनाय परिहरत तद्भगः प्राशिष्यति तद्यथाहुतमेवं भविष्यतीति तद्भगाय दक्षिणत आसीनाय पर्याजहुस्तद्भगोऽवेक्षां चक्रे तस्याक्षिणी निर्ददाह तथेन्नूनं तदास तस्मादाहुरन्धो भग इति ॥६॥ ते होचुः । नो न्वेवात्राशमत्पूष्ण ऽएनत्परिहरतेति तत्पूष्णे पर्याजहुस्तत्पूषा प्राश तस्य दतो निर्जघान तथेन्नूनं तदास तस्मादाहुरदन्तकः पूषेति तस्माद्यं पूष्णे चरुं कुर्वन्ति प्रपिष्टानामेव कुर्वन्ति यथादन्तकायैवम् ॥७॥ ते होचुः । नो न्वेवात्राशमद्बृहस्पतय ऽएनत्परिहरतेति तद्बृहस्पतये पर्याजहुः स बृहस्पतिः सवितारमेव प्रसवायोपाधावत्सविता वै देवानां प्रसवितेदं मे प्रसुवेति तदस्मै सविता प्रसविता प्रासुवत्तदेनꣳ सवितृप्रसूतं नाहिनत्ततोऽर्वाचीनꣳ शान्तं तदेतन्निदानेन

क्या है ?' (उसने उत्तर दिया) 'मेरे चारों ओर कुशा दो।' इसलिए यज्ञ के चारों ओर कुश बिछाते हैं। (यज्ञ ने कहा), 'मुझे प्यास से डर लगता है।' (उन्होंने पूछा) 'तेरी तृप्ति कैसे होती है ?' (उसने उत्तर दिया) 'ब्राह्मण की तृप्ति से मेरी तृप्ति होती है।' इसलिए यज्ञ की समाप्ति के पश्चात् ब्राह्मण की तृप्ति करने के लिए बोलना चाहिए, क्योंकि इससे यज्ञ की तृप्ति होती है ।।२८।।

अध्याय ७—ब्राह्मण ४

प्रजापति अपनी लड़की अर्थात् द्यौ या उषा पर मोहित हो गये और प्रसंग की इच्छा हुई; उससे प्रसंग किया ।।१।।

देवों के लिए यह पाप था कि यह अपनी ही लड़की, हमारी बहिन के साथ ऐसा करता है ।।२।।

उन देवों ने उस देव से जो पशुओं का अधिष्ठाता (रुद्र) है कहा कि यह जो पाप करता है कि अपनी ही लड़की, हमारी बहिन के साथ ऐसा करता है, उसको बाँध दो। रुद्र ने निशाना ताककर उसे बींध दिया। उसका आधा वीर्य गिर पड़ा। यह ऐसे हुआ ।।३।।

इसीलिए ऋषि ने ऐसा कहा, 'जब पिता ने अपनी ही लड़की से प्रसंग किया तो उसका वीर्य भूमि पर गिर पड़ा' (ऋग्वेद १०।६१।७)। यह अग्नि-मारुत् उक्थ (गीत) हो गया। इसी सम्बन्ध में आख्यायिका है कि किस प्रकार देवों ने इस वीर्य को उपजाया। जब देवों का क्रोध कम हुआ तो प्रजापति का इलाज किया और उस (रुद्र) का तीर निकाला, क्योंकि यज्ञ ही प्रजापति है ।।४।।

उन्होंने कहा, 'कोई ऐसा उपाय सोचना चाहिए कि यह (यज्ञ अर्थात् प्रजापति के शरीर का वह भाग जो तीर से छिद गया था) नष्ट न हो जाय। छोटी-सी आहुति से यह काम कैसे हो ? ।।५।।

उन्होंने कहा, 'दक्षिण की ओर बैठे हुए 'भग' के पास इसे ले जाओ। भग इसको खा लेगा। यह आहुति दिये हुए के समान हो जायगा।' बस वे उसको दक्षिण की ओर बैठे हुए भग के पास ले गये। भग ने उसकी ओर देखा। उसने (भग की) आँखें जला दीं। ऐसा ही हुआ। इसीलिए कहते हैं कि भग अन्धा है ।।६।।

उन्होंने कहा, 'यह अभी शान्त नहीं हुआ। इसको पूषा के पास ले जायेंगे।' वे पूषा के पास ले गये। पूषा ने उसे चक्खा। उसने (पूषा का) दाँत तोड़ दिया। यह ऐसा ही हुआ। इसीलिए कहते हैं कि पूषा (अदन्तक) बिना दाँतवाला है। इसीलिए पूषा के लिए जो चरु बनाते हैं वह पिसे हुए अन्न की बनाते हैं जैसे बिना दाँतवालों के लिए बनाया जाता है ।।७।।

उन्होंने कहा, 'वह अभी शान्त नहीं हुआ। बृहस्पति के पास इसे ले जाओ।' ये बृहस्पति के पास ले गये। बृहस्पति ने सविता के पास प्रसव (प्रेरणा) के लिए भेज दिया। सविता ही देवों का प्रेरक (प्रसविता) है। उसने कहा, 'इसकी मुझे प्रेरणा करो।' प्रेरक सविता ने उसकी उसके लिए प्रेरणा की। चूँकि वह सविता से प्रसूत अर्थात् प्रेरित हुआ था, इसीलिए उसने सविता को हानि नहीं पहुँचाई। इसीलिए अब वह शान्त हो गया। निदान में यह वही है जो प्राशित्र (पहला

यत्प्राशित्रꣳ ॥८॥ स यत्प्राशित्रमवद्यति । यदेवात्राविद्धं यज्ञस्य यद्रुद्रियं तदेवैतन्निर्मिमीतेऽथाप उपस्पृशति शान्तिरापस्तदद्भिः शमयत्यथेडां पशूत्समवद्यति ॥९॥ स वै यावन्मात्रमिवैवावद्येत् । तथा शल्यः प्रच्यवते तस्माद्यावन्मात्रमिवैवावद्येदन्यतरत आज्यं कुर्यादधस्ताद्वोपरिष्टाद्वा तथा खदन्निःसरणवद्भवति तथा निस्रवति तस्मादन्यतरत आज्यं कुर्यादधस्ताद्वोपरिष्टाद्वा ॥१०॥ स आज्यस्योपस्तीर्य । द्विर्हविषोऽवदायाथोपरिष्टादाज्यस्याभिघारयति तद्यथैव यज्ञस्यावदानमेवमेतत् ॥११॥ तन्न पूर्वेण परिहरेत् । पूर्वेणा हैके परिहरन्ति पुरस्ताद्धि प्रत्यञ्चो यजमानं पशव उपतिष्ठन्ते रुद्रियेण ह पशून्प्रसजेद्यत्पूर्वेणा परिहरेत्तेऽस्य गृह्याः पशव उपमूर्यमाणा ईयुस्तस्मादित्येव तिर्यक्प्रजिहीत तथा ह रुद्रियेण पशून्न प्रसजति तिर्यगेवैनं निर्मिमीते ॥१२॥ तत्प्रतिगृह्णाति । देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां प्रतिगृह्णामीति ॥१३॥ तद्यथैवादो बृहस्पतिः । सवितारं प्रसवायोपाधावत्सविता वै देवाना प्रसवितेदं मे प्रसुवेति तदस्मै सविता प्रसविता प्रासुवत्तदेनꣳ सवितृप्रसूतं नाहिनदेवमेवैष एतत्सवितारमेव प्रसवायोपधावति सविता वै देवानां प्रसवितेदं मे प्रसुवेति तदस्मै सविता प्रसविता प्रसौति तदेनꣳ सवितृप्रसूतं न हिनस्ति ॥१४॥ तत्प्राश्नाति । अग्नेष्ट्वास्येन प्राश्नामीति न वाऽअग्निं किं चन हिनस्ति तथो हैनमेतन्न हिनस्ति ॥१५॥ तन्न दद्भिः खादेत् । नेन्मऽइदꣳ रुद्रियं दतो हिनसदिति तस्मान्न दद्भिः खादेत् ॥१६॥ अथाप आचामति । शान्तिरापस्तदद्भिः शान्त्या शमयतेऽथ परिक्षाल्य पात्रम् ॥१७॥ अथास्मै ब्रह्मभागं पर्याहरन्ति । ब्रह्मा वै यज्ञस्य दक्षिणात आस्तेऽभिगोप्ता स एतं भागं प्रतिविदान आस्ते यत्प्राशित्रं तदस्मै पर्याहार्षुस्तत्प्राशीदथ यमस्मै ब्रह्मभागं पर्याहरन्ति तेन भागी स यदत ऊर्ध्वमसꣳस्थितं यज्ञस्य तदभिगोपायति तस्माद्वाऽअस्मै ब्रह्मभागं पर्याहरन्ति ॥१८॥ स वै वाचंयम एव स्यात् । ब्रह्मन्प्रस्थास्या-

भाग) है ।।८।।

जब वह प्राशित्र को काटता है तो मानो यज्ञ का वह भाग काटता है जो (तीर से) बिंधा हुआ था जो रुद्र का भाग था। अब वह जलों को छूता है। जल शान्ति है। इस प्रकार जलों के द्वारा शान्त करता है। अब इडा को जो पशु (का प्रतिनिधि) है, काटता है ।।९।।

उसको बहुत थोड़ा भाग काटना चाहिए। इससे तीर निकल आता है। इसलिए थोड़ा-सा ही काटना चाहिए। अब एक ओर घी रक्खे, चाहे नीचे, चाहे ऊपर। इस प्रकार जो कठोर है वह नरम हो जाता है और बहने लगता है। इसलिए एक ओर घी रक्खे, चाहे नीचे, चाहे ऊपर ।।१०।।

घी से चुपड़कर हवि से दो टुकड़े काटकर ऊपर घी लगाता है, क्योंकि ऐसा करने से ही वह यज्ञ का भाग होता है ।।११।।

उसको (आहवनीय अग्नि के) पूर्व में न ले जाये। कुछ लोग पूर्व में ले जाते हैं, क्योंकि पूर्व में पशु यजमान की ओर मुंह करके खड़े होते हैं। यदि पूर्व को ले जायगा तो पशुओं में रुद्र की शक्ति दे देगा, और उसके घरवाले पशु नष्ट हो जायेंगे। इसलिए उसको इस प्रकार मुड़कर ले जाना चाहिए। इससे वह पशुओं में रुद्र की शक्ति न देगा और इस (तीर) को मुड़कर निकाल देगा ।।१२।।

उसको वह इस मंत्र से ग्रहण करता है, "देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्याम्पूष्णो हस्ताभ्यां प्रतिगृह्णामि" (यजु० २।११)—"तुझको सविता देव की प्रेरणा से, अश्विनों की भुजाओं से, पूषा के हाथों से ग्रहण करता हूँ" ।।१३।।

अब जैसे बृहस्पति पहले प्रेरणा के लिए सविता के पास गया, क्योंकि देवताओं का प्रेरक सविता है और उससे कहा, 'प्रेरणा कर', उसने प्रेरणा की और सविता से प्रेरित होकर उसने हानि नहीं पहुँचाई, इसी प्रकार यह पुरोहित भी सविता के पास प्रेरणा के लिए जाता है, और कहता है, 'मुझे प्रेरणा कर।' क्योंकि सविता देवों का प्रेरक है, सविता उसको प्रेरणा करता है और प्रेरित होकर वह उसको हानि नहीं पहुँचाता ।।१४।।

उस प्राशित्र को इस मन्त्र से खाता है, "अग्नेष्ट्वास्येन प्राश्नामि" (यजु० २।११)—"मैं तुझे अग्नि के मुँह से खाता हूँ।" अग्नि को कोई हानि नहीं पहुँचाता। इसी प्रकार इस पुरोहित को भी यह हानि नहीं पहुँचाता ।।१५।।

इसको दाँतों से न चबावे। 'कहीं यह रुद्र का भाग मेरे दाँतों को हानि न पहुँचावे!' इसलिए वह इसको दाँतों से न चबावे ।।१६।।

अब जल से आचमन करता है। जल शान्ति है, इसलिए जलरूपी शान्ति से शान्त करता है। अब पात्रों को धोकर— ।।१७।।

वे उसके पास ब्रह्म-भाग को लाते हैं। वस्तुतः ब्रह्मा यज्ञ के दक्षिण भाग में संरक्षक होकर बैठता है। वह इस भाग के सामने बैठता है। जो प्राशित्र था वे उसके पास ले आये और उसने खा लिया। अब जो ब्रह्म-भाग वे उसके पास लाते हैं वह उसको अपने भाग के रूप में लेता है। अब यज्ञ का जो भाग अधूरा रहता है वह उसकी रक्षा करता है। इसलिए वे उसके लिए ब्रह्म-भाग को लाते हैं ।।१८।।

अब वह चुपचाप रहे जब तक (अध्वर्यु) न कहे कि, 'हे ब्रह्म! मैं आगे चलूं?' जो

मीत्येतस्माद्वचसो विवृह्णन्ति वाऽएते यज्ञं घ्नन्ति ये मध्ये यज्ञस्य पाकयज्ञियये-
उया चरन्ति ब्रह्मा वाऽऋत्विजां भिषक्तमस्तद्ब्रह्मा संदधाति न ह संदध्याद्यद्वावद्य-
मान आसीत तस्माद्वाचंयम एव स्यात् ॥१९॥ स यदि पुरा मानुषीं वाचं व्या-
हरेत् । तत्रो वैष्णवीमृचं वा यजुर्वा जपेद्यज्ञो वै विष्णुस्तद्यज्ञं पुनरारभते तस्यो
हैषा प्रायश्चित्तिः ॥२०॥ स यत्राह ब्रह्मन्प्रस्थास्यामीति तद्ब्रह्मा जपत्येतं ते देव
सवितर्यज्ञं प्राहुरिति तत्सवितारं प्रसवायोपधावति स हि देवानां प्रसविता बृ-
हस्पतये ब्रह्मणऽइति बृहस्पतिर्वै देवानां ब्रह्मा तद्य एव देवानां ब्रह्मा तस्मा
ऽएवैतत्प्राह तस्मादाह बृहस्पतये ब्रह्मणऽइति तेन यज्ञमव तेन यज्ञपतिं तेन
मामवेति नात्र तिरोहितमिवास्ति ॥२१॥ मनो जूतिर्जुषतामाज्यस्येति । मनसा
वाऽइदꣳ सर्वमाप्तं तन्मनसैवैतत्सर्वमाप्नोति बृहस्पतिर्यज्ञमिमं तनोत्वरिष्टं यज्ञꣳ
समिमं दधात्विति यद्विवृढं तत्संदधाति विश्वे देवास इह मादयन्तामिति सर्वं वै
विश्वे देवाः सर्वेणैवैतत्संदधाति स यदि कामयेत ब्रूयात्प्रतिष्ठेति यद्यु कामयेतापि
नाद्रियेत ॥२२॥ ब्राह्मणम् ॥ २.[७.४.] ॥ अध्यायः ॥७॥ ॥

मनवे ह वै प्रातः । अवनेग्यमुदकमाजह्रुर्यथेदं पाणिभ्यामवनेजनायाहरन्त्येवं
तस्यावनेनिजानस्य मत्स्यः पाणीऽआपेदे ॥१॥ स हास्मै वाचमुवाद । बिभृहि
मा पारयिष्यामि त्वेति कस्मान्मा पारयिष्यसीत्यौघ इमाः सर्वाः प्रजा निर्वोढा त-
तस्त्वा पारयितास्मीति कथं ते भृतिरिति ॥२॥ स होवाच । यावद्वै क्षुल्लका भ-
वामो बह्वी वै नस्तावन्नाष्ट्रा भवत्युत मत्स्य एव मत्स्यं गिलति कुम्भ्यां माग्रे
बिभरासि स यदा तामतिवर्धाऽअथ कर्षूं खात्वा तस्यां मा बिभरासि स यदा ता-
मतिवर्धाऽअथ मा समुद्रमभ्यवहरासि तर्हि वाऽअतिनाष्ट्रो भवितास्मीति ॥३॥
शश्वद्ध झष आस । स हि ज्येष्ठं वर्धतेऽथेतिथीꣳ समां तदौघ आगन्ता तन्मा ना-
वमुपकल्प्योपासासै स औघऽउत्थिते नावमापद्यासै ततस्त्वा पारयितास्मीति ॥४॥

(ऋत्विज्) यज्ञ के बीच में पाकयज्ञिया इडा करते हैं, वे यज्ञ को नष्ट कर देते हैं। ब्रह्मा ही ऋत्विजों में इलाज करनेवाला (भिषक्) है। इस प्रकार ब्रह्मा को चंगा कर देता है। परन्तु यदि वह बात करता हुआ बैठा रहे तो चंगा न कर पायेगा। इसलिए वह चुपचाप रहे ॥१९॥

यदि वह पहले मानुषी भाषा को बोल दे तो उसको विष्णु-सम्बन्धी ऋग्वेद की ऋचा या यजुः जपना चाहिए। यज्ञ ही विष्णु है। इस प्रकार वह यज्ञ को फिर आरम्भ करता है। (बात करने का) यह प्रायश्चित्त है ॥२०॥

जब (अध्वर्यु) कहे "ब्रह्मन् प्रस्थास्यामि"—"हे ब्रह्मा, मैं आगे बढ़ूँ।" तब ब्रह्म कहे, "एते देव सवितर्यज्ञं प्राहुः" (यजु० २।१२)—"हे देव सविता! इन्होंने तेरे इस यज्ञ की घोषणा की।" इस प्रकार वह सविता के पास प्रेरणा के लिए जाता है, क्योंकि वह देवों का प्रेरक है। अब कहता है—"बृहस्पतये ब्रह्मणे" (यजु० २।१२)—"बृहस्पति ब्रह्मा के लिए।" बृहस्पति ही देवों का ब्रह्मा है। इसलिए वह इस यज्ञ की उसके लिए घोषणा करता है, जो देवों का ब्रह्मा है। इसलिए कहा, 'बृहस्पति ब्रह्मा के लिए।' अब कहता है—"तेन यज्ञमव तेन यज्ञपतिन्तेन मामव" (यजु० २।१२)—"इससे यज्ञ की रक्षा कर। इससे यज्ञपति की, इससे मेरी रक्षा कर।" यह स्पष्ट है ॥२१॥

अब कहता है—"मनो जूतिर्जुषतामाज्यस्य" (यजु० २।१३)—"मन-घी की धार में प्रसन्न हो।" मन से ही यह सब व्याप्त है, इसलिए मन से ही इस सबको प्राप्त होता है। अब कहता है—"बृहस्पतिर्यज्ञमिमं तनोत्वरिष्टं यज्ञँ समिमं दधातु" (यजु० २।१३)—"बृहस्पति इस यज्ञ को करे। वह इस यज्ञ को पूर्ण विघ्न-रहित करे।" इस प्रकार जो घायल हो गया था उसे चंगा कर देता है। अब कहता है—"विश्वे देवासऽइह मादयन्ताम्" (यजु० २।१३)—"सब देव यहाँ प्रसन्न हों।" 'विश्वे देवा' का अर्थ है सब। सबसे ही वह इसे चंगा करता है। यदि वह चाहे तो कहे 'प्रतिष्ठ (चल)', न चाहे तो न कहे ॥२२॥

अध्याय ८—ब्राह्मण १

मनु के लिए प्रातःकाल धोने के लिए पानी लाये, जैसे हाथ धोने के लिए लाया करते हैं। जब वह धो रहा था तो उसके हाथ में मछली (मत्स्य) आ गई ॥१॥

वह उससे बोली, 'मुझे पाल! मैं तेरी रक्षा करूँगी।' उसने पूछा, 'तू मेरी किससे रक्षा करेगी?' उसने उत्तर दिया, 'तूफान में यह सब प्रजा बह जायेगी। मैं उससे तेरी रक्षा करूँगी।' मनु ने पूछा, 'मैं तुझे कैसे पालूं?' ॥२॥

यह बोली, 'जब तक हम छोटे हैं हमारी बड़ी आफत है, क्योंकि मछली को मछली खाती हैं। मुझे पहले घड़े में पाल। जब मैं उससे बढ़ जाऊँ तो गड्ढे को खोदकर मुझे उसमें रखना। जब मैं उससे भी बढ़ जाऊँ तो मुझे समुद्र में ले जाना। तब मैं बड़ी हो जाऊँगी और कोई आपत्ति न रहेगी' ॥३॥

वह तुरन्त ही झष मछली हो गई क्योंकि झष (सब मछलियों से अधिक) बढ़ती है। (अब उसने कहा) 'अमुक वर्ष में तूफान आयेगा, तब तू मेरे कहने के अनुसार नाव बनाना। और जब तूफान उठे तो तू नाव में बैठ जाना। मैं तुझे उससे बचाऊँगी' ॥४॥

तमेवं भृत्वा समुद्रमभ्यवजहार । स यतिथीं तत्समां परिदिदेश ततिथीꣳ समां
नावमुपकल्प्योपासां चक्रे स औघऽउत्थिते नावमापेदे तꣳ स मत्स्य उपन्यापुप्लुवे
तस्य शृङ्गे नावः पाशं प्रतिमुमोच तेनैतमुत्तरं गिरिमतिदुद्राव ॥५॥ स होवाच ।
अपीपरं वै त्वा वृक्षे नावं प्रतिबध्नीष्व तं तु त्वा मा गिरौ सन्तमुदकमन्तश्छैत्सी-
द्यावदुदकꣳ समवायात्तावत्तावदन्ववसर्पासीति स ह तावत्तावदेवान्ववससर्प त-
दप्येतदुत्तरस्य गिरेर्मनोरवसर्पणमित्यौघो ह ताः सर्वाः प्रजा निरुवाहाथेह मनुरे-
वैकः परिशिशिषे ॥६॥ सोऽर्चञ्छ्राम्यंश्चचार प्रजाकामः । तत्रापि पाकयज्ञेनेजे स
घृतं दधि मस्त्वामिक्षामित्यप्सु जुहवां चकार ततः संवत्सरे योषित्सम्बभूव सा ह
पिब्दमानेवोदेयाय तस्यै ह स्म घृतं पदे संतिष्ठते तया मित्रावरुणौ संजग्माते
॥७॥ ताꣳ होचतुः कासीति । मनोर्दुहितेत्यावयोर्ब्रूष्वेति नेति होवाच य एव
मामजीजनत तस्यैवाहमस्मीति तस्यामपित्वमीषाते तद्वा जज्ञौ तद्वा न जज्ञावति
त्वेवेयाय सा मनुमाजगाम ॥८॥ ताꣳ ह मनुरुवाच कासीति । तव दुहितेति
कथं भगवति मम दुहितेति या अमूरप्स्वाहुतीरहौषीर्घृतं दधि मस्त्वामिक्षां ततो
मामजीजनथाः साशीरस्मि तां मा यज्ञेऽवकल्पय यज्ञे चेद्वै मावकल्पयिष्यसि बहुः
प्रजया पशुभिर्भविष्यसि याममुया कां चाशिषमाशासिष्यसे सा ते सर्वा समर्धि-
ष्यतऽइति तामेतन्मध्ये यज्ञस्यावाकल्पयन्मध्यꣳ ह्येतद्यज्ञस्य यदन्तरा प्रयाजानुया-
जान् ॥९॥ तयार्चञ्छ्राम्यंश्चचार प्रजाकामः । तयेमां प्रजातिं प्रजज्ञे येयं मनोः प्रजा-
तिर्याम्वनया कां चाशिषमाशास्त सास्मै सर्वा समार्ध्यत ॥१०॥ सैषा निदानेन
यदिडा । स यो हैवं विद्वानिडया चरत्येताꣳ हैव प्रजातिं प्रजायते यां मनुः प्रा-
जायत याम्वनया कां चाशिषमाशास्ते सास्मै सर्वा समृध्यते ॥११॥ सा वै पञ्चा-
वत्ता भवति । पशवो वाऽइडा पाङ्क्ता वै पशवस्तस्मात्पञ्चावत्ता भवति ॥१२॥
स समवदयेडाम् । पूर्वार्धे पुरोडाशस्य प्रशीर्य पुरस्ताद्ध्रुवायै निदधाति ताꣳ होत्रे

जब वह उसको इस प्रकार पाल चुका तो उसे समुद्र में ले गया, और जिस वर्ष के लिए उसने कहा था उसी वर्ष उसी के कहने के अनुसार नाव बनाई। जब तूफान उठा तो वह नाव में बैठ गया। तब मछली उस तक तैर आई और उसके सींग से उसने नाव की रस्सी को बाँध दिया। इससे वह उत्तरी पहाड़ तक जल्दी से पहुँच गया ॥५॥

उसने कहा, 'मैंने तुझे बचा लिया। वृक्ष में नाव बाँध दे। परन्तु जब तू पहाड़ पर है उस समय ऐसा न होने दे कि जल तुझे काट दे। जब जल कम हो जाय तो नीचे उतर आना।' अतः वह धीरे-धीरे उतरा। इसलिए उत्तरी पहाड़ के उस भाग को 'मनोरवसर्प्पणम्' अर्थात् 'मनु का उतार' कहते हैं। तूफान ने उस सब प्रजा को नष्ट कर दिया। केवल मनु बच रहा ॥६॥

उसने सन्तान की इच्छा से पूजा और श्रम किया। उस समय पाकयज्ञ भी किया और घी, दही, मट्ठा भी जलों में चढ़ाया। तब एक वर्ष में एक स्त्री उत्पन्न हुई। वह मोटी होकर निकली। उसके पैर में घी था। मित्र और वरुण उसे मिले ।।७।।

उन्होंने उससे पूछा, 'तू कौन है ?' उसने कहा, 'मनु की लड़की।' उन्होंने कहा, 'कह कि तू हम दोनों की है।' उसने कहा, 'नहीं, मैं उसी की हूँ जिसने मुझे जना है।' उन्होंने उसमें भाग माँगा। उसने माना या न माना। वह वहाँ से चली आई और मनु के पास आई ॥८॥

मनु ने उससे पूछा, 'तू कौन है ?' 'तेरी लड़की।' उसने पूछा, 'भगवति ! तू मेरी लड़की कैसे ?' उसने उत्तर दिया, 'तूने जलों में जो घी-मट्ठा अर्पण किया, उसी से तूने मुझे उत्पन्न किया। मैं आशी हूँ। तू मेरा प्रयोग कर। यदि तू यज्ञ में मेरा प्रयोग करेगा तो बहुत-से पशुओं और सन्तानवाला होगा। जो कुछ चीज तू मेरे द्वारा माँगेगा वह सब तुझको मिलेगी।' अब उसने उसका यज्ञ के मध्य में प्रयोग किया, क्योंकि प्रयाज और अनुयाज के बीच में जो कुछ है वही यज्ञ का मध्य है ॥९॥

वह प्रजा की कामना से उसी के द्वारा पूजा और श्रम करता रहा। उसके द्वारा इस प्रजा को उत्पन्न किया, जो यह मनु की सन्तान है। जो कोई चीज उसके द्वारा माँगी वह सब उसको मिल गई ॥१०॥

निदान में यही इडा है। जो कोई इस रहस्य को समझकर 'इडा'-यज्ञ करता है वह इस प्रजा को जिसे मनु ने उत्पन्न किया बढ़ाता है, और जो कुछ चीज उसके द्वारा माँगता है, वही उसे मिल जाती है ॥११॥

इस (इडा) के पाँच भाग होते हैं। पशु ही इडा है। पशु के भी पाँच भाग होते हैं। इसलिए इडा के भी पाँच भाग होते हैं ॥१२॥

इडा के बराबर-बराबर टुकड़े करके और पुरोडाश के पूर्वार्द्ध को काटकर वह ध्रुवा

प्रदाय दक्षिणात्येति ॥१३॥ स होतुरिडां निलिम्पति । तद्धोतौष्ठयोर्निलिम्पते मनसस्पतिना ते हुतस्याश्नामीषे प्राणायेति ॥१४॥ अथ होतुरिडां निलिम्पति । तद्धोतौष्ठयोर्निलिम्पते वाचस्पतिना ते हुतस्याश्नाम्यूर्ज ऽउदानायेति ॥१५॥ एतद्ध वै मनुर्बिभयां चकार । इदं वै मे तनिष्ठं यज्ञस्य यदियमिडा पाकयज्ञिया यद्वै म ऽइह रक्षाᳬसि यज्ञं न हिᳬस्युरिति तामितत्पुरा रक्षोभ्यः पुरा रक्षोभ्य इत्येव प्रापयत तथो ऽएवैनामेष एतत्पुरा रक्षोभ्यः पुरा रक्षोभ्य इत्येव प्रापयतेऽथ यत्प्रत्यक्षं न प्राश्नाति नेदनुपहूतां प्राश्नामीत्येतदेवैनां प्रापयते यदोष्ठयोर्निलिम्पते ॥१६॥ अथ होतुः पाणौ समवद्यति । समवत्तामिव सतीं तदेनां प्रत्यक्षᳬ होतरि श्रयति तयात्मंहूतया होता यजमानायाशिषमाशास्ते तस्माद्धोतुः पाणौ समवद्यति ॥१७॥ अथोपाᳬशूपह्वयते । एतद्ध वै मनुर्बिभयां चकारेदं वै मे तनिष्ठं यज्ञस्य यदियमिडा पाकयज्ञिया यद्वै म ऽइह रक्षाᳬसि यज्ञं न हन्युरिति तामितत्पुरा रक्षोभ्यः पुरा रक्षोभ्य इत्येवोपाᳬशूपाह्वयत तथो ऽएवैनामेष एतत्पुरा रक्षोभ्यः पुरा रक्षोभ्य इत्येवोपाᳬशूपह्वयते ॥१८॥ स उपह्वयते । उपहूतᳬ रथन्तरᳬ सह पृथिव्योप माᳬ रथन्तरᳬ सह पृथिव्या ह्वयतामुपहूतं वामदेव्यᳬ सहान्तरिक्षेणोप मां वामदेव्यᳬ सहान्तरिक्षेण ह्वयतामुपहूतं बृहत्सह दिवोप मां बृहत्सह दिवा ह्वयतामिति तदेतामेवैतदुपह्वयमान इमांश्च लोकानुपह्वयत ऽएतानि च सामानि ॥१९॥ उपहूता गावः सहऽर्षभा इति । पशवो वाऽइडा तदेनां परोऽक्षमुपह्वयते सहऽर्षभा इति समिथुनामेवैनामेतदुपह्वयते ॥२०॥ उपहूता सप्तहोत्रेति । तदेनाᳬ सप्तहोत्रा सौम्येनाधरेणोपह्वयते ॥२१॥ उपहूतेडा तनुरिरिति । तदेनां प्रत्यक्षमुपह्वयते तनुरिरिति सर्वᳬ ह्येषा पाप्मानं तरति तस्मादाह तनुरिरिति ॥२२॥ उपहूतः सखा भक्ष इति । प्राणो वै सखा भक्षस्तत्प्राणमुपह्वयत ऽउपहूतᳬ हेगिति तच्छरीरमुपह्वयते तत्सर्वामुपह्वयते ॥२३॥ अथ प्र-

(चमसे) के सामने रखता है, और उसे होता को देकर दक्षिण की ओर आता है ।।१३।।

वह होता के इस जगह (पहली अँगुली के बीच में) घी लगाता है । होता घी अपने होठों से लगाता है, यह मन्त्र पढ़कर— "मनस्पतिना ते हुतस्याश्नामीषे प्राणाय"— "मन के पति द्वारा आहुति दिये गये तुझको वह इस (बल) और प्राण के लिए खाता हूँ" ।।१४।।

अब वह होता के इस जगह (अँगुली पर) घी लगाता है । होता घी अपने होठों से लगाता है, यह मन्त्र पढ़कर "वाचस्पतिना ते हुतस्याऽश्नाम्यूर्ज्जऽउदानाय"– "वाणी के पति द्वारा आहुति दिये गये तुझको तेज और उदान के लिए खाता हूँ" ।।१५।।

इस पर मनु डरा कि यह जो पाक-यज्ञिया इडा है, यह मेरे यज्ञ का सबसे कमजोर भाग है । कहीं ऐसा न हो कि राक्षस लोग मेरे यज्ञ को इस स्थान पर विध्वंस कर दें, इसलिए (उस इडा को) राक्षसों के आने से पहले ही उसने (होठों से लगाकर) सुरक्षित कर दिया । इसी प्रकार यह होता भी राक्षसों के आने से पहले ही सुरक्षित कर देता है । यद्यपि वह हमें खाता नहीं कि बिना आहुति दिये कैसे खा लूँ, परन्तु वह होठों से लगाकर उसे सुरक्षित कर देता है ।।१६।।

अब वह होता के हाथ में इडा के टुकड़े-टुकड़े करता है । इस प्रकार टुकड़े-टुकड़े की गई इडा को वह प्रत्यक्ष रूप से होता के हवाले कर देता है । जो उसके हवाले हो गई उस इडा से वह यजमान के लिए आशीर्वाद चाहता है । इसलिए होता के हाथ में रखता है ।।१७।।

अब (इडा को) चुपके-चुपके बुलाता है । उस समय सचमुच मनु यह सोचकर डरा कि यह पाक-यज्ञिया इडा मेरे यज्ञ का सबसे कमजोर भाग है; कहीं राक्षस इसको हानि न पहुँचावे । इसीलिए उसने चुपके-चुपके कहा, 'राक्षस (के आने) से पूर्व, राक्षस (के आने) से पूर्व ।' इसी प्रकार यह होता भी चुपके-चुपके कहता है, 'राक्षस (के आने) से पूर्व' ।।१८।।

वह इस प्रकार (धीरे से) कहता है, 'पृथिवी के साथ रथन्तर बुलाया गया । पृथिवी के साथ रथन्तर मुझे बुलाये । अन्तरिक्ष के साथ वामदेव्य बुलाया गया । अन्तरिक्ष के साथ वामदेव्य मुझे बुलावे । द्यौ के साथ बृहत् बुलाया गया । द्यौ के साथ बृहत् मुझे बुलावे ।' वह इस प्रकार बोलकर तीनों लोकों और तीनों सामों को बुलाता है (रथन्तर, वामदेव्य और बृहत् तीन साम हैं) ।।१९।।

अब कहता है, 'गायें बैलों के साथ बुलाई गईं ।' पशु ही इडा है । उन्हीं को परोक्ष रीति से बुलाता है । 'बैलों के साथ' से तात्पर्य उनके जोड़े से है ।।२०।।

अब कहता है, 'सात होताओं से की गई इडा बुलाई गई ।' इस प्रकार वह सात होताओं द्वारा किये गये सोम यज्ञ के नाम से उसे बुलाता है ।।२१।।

अब कहता है, 'विजय पाने वाली (ततुरि) इडा बुलाई गई ।' इस प्रकार उसको प्रत्यक्ष रूप से बुलाता है । यह सब पापों को पार कर देती है । इसलिए इसको 'ततुरिः' कहा गया ।।२२।।

अब कहता है, 'भक्ष-मित्र बुलाया गया' । प्राण ही सखा भक्ष है । इससे प्राण को बुलाता है । 'हेक्,' अर्थात् बुलाया गया । इससे वह शरीर को बुलाता है । इस प्रकार वह सबको बुलाता है ।।२३।।

तिपद्यते । इडोपहूतोपहूतेडोपोऽअस्माँ२॥ऽइडा ह्वयतामिडोपहूतेति तदुपहूतामेवैनामेतत्सतीं प्रत्यक्षमुपह्वयते या वै सासीद्गौर्वै सासीच्चतुष्पदी वै गौस्तस्माच्चतुरुपह्वयते ॥२४॥ स वै चतुरुपह्वयमानः । अथ नानेवोपह्वयतेऽजामितायै जामि ह कुर्याद्यदिडोपहूतेडोपहूतेत्येवोपह्वयेतोपहूतेडेति वेडोपहूतेति तदर्वाचीमुपह्वयतऽउपहूतेडेति तत्पराचीमुपोऽअस्माँ२॥ऽइडा ह्वयतामिति तदात्मानं चैवैतन्नान्तरेत्यन्यथेव च भवतीडोपहूतेति तत्पुनरर्वाचीमुपह्वयते तदर्वाचीं चैवैनामेतत्पराचीं चोपह्वयते ॥२५॥ मानवी घृतपदीति । मनुर्ह्येतामग्रेऽजनयत तस्मादाह मानवीति घृतपदीति यदेवास्यै घृतं पदे समतिष्ठत तस्मादाह घृतपदीति ॥२६॥ उत मैत्रावरुणीति । यदेव मित्रावरुणाभ्याᳫं समगच्छत स एव मैत्रावरुणी न्यङ्गो ब्रह्म देवकृतोपहूतेति ब्रह्म ह्येषां देवकृतोपहूतोपहूता दैव्या अध्वर्यव उपहूता मनुष्या इति तद्देवांश्चैवाध्वर्यूनुपह्वयते ये च मानुषा वत्सा वै दैव्या अध्वर्यवोऽथ यऽइतरे ते मानुषाः ॥२७॥ यऽइमं यज्ञमवान्ये च यज्ञपतिं वर्धानिति । एते वै यज्ञमवन्ति ये ब्राह्मणाः शुश्रुवाᳫंसोऽनूचाना एते ह्येनं तन्वतऽएतऽएनं जनयन्ति तदु तेभ्यो निह्नुते वत्सा उ वै यज्ञपतिं वर्धन्ति यस्य ह्येते भूयिष्ठा भवन्ति स हि यज्ञपतिर्वर्धते तस्मादाह ये च यज्ञपतिं वर्धानिति ॥२८॥ उपहूते द्यावापृथिवी पूर्वजेऽऋतावरी देवी देवपुत्रेऽइति । तदिमे द्यावापृथिवीऽउपह्वयते ययोरिदᳫं सर्वमध्युपहूतोऽयं यजमान इति तद्यजमानमुपह्वयते तद्यदत्र नाम न गृह्णाति परोऽक्षᳫं ह्यत्राशीर्यदिडायां मानुषᳫं ह कुर्याद्यन्नाम गृह्णीयाद्व्यृद्धं वै तद्यज्ञस्य यन्मानुषं नेद्व्यृद्धं यज्ञे करवाणीति तस्मान्न नाम गृह्णाति ॥२९॥ उत्तरस्यां देवयज्यायामुपहूत इति । तदस्माऽएतज्जीवातुमेव परोऽक्षमाशास्ते जीवन्हि पूर्वमिष्ट्वाथापरं यजते ॥३०॥ तदस्मा एतत्प्रजामेव परोऽक्षमाशास्ते । यस्य हि प्रजा भवत्यमुं लोकमात्मनैत्यथास्मिँल्लोके प्रजा यजते

अब वह जोरसे कहता है, 'इडा बुलाई गई। बुलाई गई इडा हमको अपनी ओर बुलाये।' 'इडा यहाँ बुलाई गई' से तात्पर्य यह है कि जो पहले वास्तविक रूप में बुलाई जा चुकी है उसे अब प्रत्यक्ष रूप से बुलाता है। इडा गौ चार पैर वाली होती है। इसलिए उसको चार बार बुलाया ॥२४॥

चार बार बुलाता हुआ कई प्रकार से बुलाता है जिससे दुहराने का दोष न लगे। यदि 'इडा उपहूता'-'इडा उपहूता' ही कई बार कहे या 'उपहूता इडा'-'उपहूता इडा' ही कई बार कहे तो दुहराने का दोषी हो। इसलिए 'इडा उपहूता' कहकर वह उसे इधर बुलाता है और 'उपहूता इडा' कहकर वह उसे उधर बुलाता है। 'इडा हमको बुलाये' यह कहकर वह अपने को अलग नहीं करता और कहने की शैली भी बदल जाती है। 'इडा उपहूता' कहकर वह उसे फिर इधर बुलाता है। इस प्रकार वह उसको इधर भी बुलाता है और उधर भी बुलाता है ॥२५॥

अब कहता है, 'मानवी घृतपदी'—'मनु की लड़की घी के पैरों वाली'। मनु ने ही पहले उसे जना था, इसीलिये कहा 'मानवी' (मनु की लड़की)। 'घृतपदी' इसलिए कहा कि उसके पदचिह्न में घृत रहता है, इसलिए 'घृतपदी' नाम हुआ ॥२६॥

अब कहता है, 'मैत्रा-वरुणी'—'मित्र और वरुणी वाली'। चूंकि उसका मित्र और वरुण से समागम हुआ, इसलिए उसकी मैत्रा-वरुण प्रकृति हुई। वह देवकृत ब्रह्मा हुई, क्योंकि वह देवकृत ब्रह्मा कहकर बुलाई गई। 'देव अध्वर्यु और मनुष्य बुलाये गये' ऐसा कहकर वह दैव्य अध्वर्यु और मनुष्य अध्वर्यु दोनों को बुलाता है। दैव्य अध्वर्यु वत्स या बछड़े हैं, और जो दूसरे हैं वे मनुष्य अध्वर्यु ॥२७॥

अब कहता है, 'जो इस यज्ञ को बढ़ावें, जो इस यज्ञपति को बढ़ावें।' जिन ब्राह्मणों ने वेदों को पढ़ा और पढ़ाया है वे इस यज्ञ की रक्षा करते हैं, चूंकि वे इसको फैलाते और करते हैं। उनको इस प्रकार सन्तुष्ट करता है, और बछड़े यज्ञपति को बढ़ाते हैं क्योंकि जिस यज्ञपति के बछड़े बहुत होंगे वह बढ़ेगा। इसीलिये कहा 'वे जो इस यज्ञपति को बढ़ावें' ॥२८॥

अब कहता है, "उपहूते द्यावापृथिवी पूर्वजेऽऋतावरी देवी देवपुत्रे"—"बुलाई गई द्यावा-पृथिवी जो दोनों पूर्वज (पहले जन्मी हुई हैं), ऋतावरी (ऋत को पालने वाली), देवी (दिव्य गुण वाली), देवपुत्र (देवता हैं पुत्र जिनके ऐसी) हैं।" इस प्रकार वह द्यावापृथिवी को बुलाता है, जिसमें सब संसार आ जाता है। अब कहता है, 'यजमान बुलाया गया' इससे यजमान को बुलाता है। यहाँ नाम नहीं लेता। इससे परोक्ष रूप में इडा के लिए आशीर्वाद है। यदि नाम ले तो मानुषी भाषा हो जाय। जो मानुषी भाषा है वह यज्ञ में अशुभ है। यज्ञ में अशुभ नहीं करना चाहिये, इसलिए नाम नहीं लेना चाहिए ॥२९॥

अब कहता है, "उत्तरस्यां देव यज्यायामुपहूतः"—अर्थात् "आगे होनेवाली देवपूजा के लिए (यजमान) बुलाया गया।" इस प्रकार उस (यजमान) के लिए परोक्ष रीति से जीविका के लिए आशीर्वाद देता है। जैसे उसने जीवन-भर यज्ञ किया है, आगे भी करेगा ॥३०॥

वह उसके लिए परोक्ष-रीति से सन्तान के लिए भी आशीर्वाद देता है, क्योंकि जिसके सन्तान होती है जब वह मर जाता है तो उसकी सन्तान इस लोक में यज्ञ करती है। इसलिए

तस्मात्प्रजोत्तरा देवयज्या ॥३१॥ तदस्माऽएतत्पशूनेव परोऽक्षमाशास्ते । यस्य हि पशवो भवन्ति स पूर्वमिष्ट्वाथापरं यजते ॥३२॥ भूयसि हविष्करणऽउपहूत इति । तदस्मा एतज्जीवातुमेव परोऽक्षमाशास्ते जीवन्हि पूर्वमिष्ट्वाथ भूयो-भूय एव हविष्करोति ॥३३॥ तदस्माऽएतत्प्रजामेव परोऽक्षमाशास्ते । यस्य हि प्रजा भवत्येक आत्मना भवत्यथोत दशधा प्रजया हविष्क्रियते तस्मात्प्रजा भूयो हविष्करणम् ॥३४॥ तदस्मा एतत्पशूनेव परोऽक्षमाशास्ते । यस्य हि पशवो भवन्ति स पूर्वमिष्ट्वाथ भूयो-भूय एव हविष्करोति ॥३५॥ एषा वा आशीः । जीवेयं प्रजा मे स्याच्छ्रियं गच्छेयमिति तद्यत्पशूनाशास्ते तच्छ्रियमाशास्ते श्रीर्हि पशवस्तदेताभ्यामेवैतदाशीर्भ्यां᳚ सर्वमाप्तं तस्माद्वाऽएतेऽअत्र द्वेऽआशिषौ क्रियेते ॥३६॥ देवा मऽइदᳫ᳚ हविर्जुषन्तामिति । तस्मिन्नुपहूत इति तद्यज्ञस्यैवैतत्समृद्धिमाशास्ते यद्धि देवा हविर्जुषन्ते तेन हि महज्जयति तस्मादाह जुषन्तामिति ॥३७॥ ॥ शतम् ७०० ॥ ॥ तां वै प्राश्नन्त्येव । नाग्नौ जुह्वति पशवो वाऽइडा नेत्पशूनग्नौ प्रवृणजामिति तस्मान्नाग्नौ जुह्वति ॥३८॥ प्राणेष्विव हूयते । होतरि व्यञ्जमाने वदधर्यो वदथ यत्पूर्वार्धं पुरोडाशस्य प्रशीर्य पुरस्ताद्ध्रुवायै निदधाति यजमानो वै ध्रुवा तद्यजमानस्य प्राशितं भवत्यथ यत्प्रत्यक्षं न प्राश्नाति नेदसᳫ᳚स्थिते यज्ञे प्राश्नानीत्येतदेवास्य प्राशितं भवति सर्वे प्राश्नन्ति सर्वेषु मे हुतमसदिति पञ्च प्राश्नन्ति पशवो वाऽइडा पाङ्क्ता वै पशवस्तस्मात्पञ्च प्राश्नन्ति ॥३९॥ अथ यत्र प्रतिपद्यते । तच्चतुर्धा पुरोडाशं कृत्वा बर्हिषदं करोति तदत्र पितृणां भाजनेन चतस्रो वाऽअवान्तरदिशोऽवान्तरदिशो वै पितरस्तस्माच्चतुर्धा पुरोडाशं कृत्वा बर्हिषदं करोति ॥४०॥ अथ यत्राह्वोपहूते द्यावापृथिवीऽइति । तदग्नीधऽआदधाति तदग्नीत्प्राश्नात्युपहूता पृथिवी मातोप मां पृथिवी माता ह्वयतामग्निराग्नीध्रात्स्वाहोपहूतो द्यौष्पितोप मां द्यौष्पिता ह्वयतामग्निराग्नीध्रात्स्वाहेति द्यावापृथिव्यो वा

'उत्तरा देवयज्या' का अर्थ है 'सन्तान' ॥३१॥

इस प्रकार वह परोक्ष-रीति से पशुओं के लिए भी आशीर्वाद देता है, क्योंकि जिसके पशु हैं वह जैसे उसने पहले यज्ञ किया उसी प्रकार फिर भी यज्ञ करेगा ॥३२॥

अब कहा, "भूयसि हविष्करणऽउपहूतः"—"वह बहुत ज्यादा हवि देने के लिए बुलाया गया।" इस प्रकार वह उसकी जीविका के लिए परोक्ष-रीति से आशीर्वाद देता है, क्योंकि जैसे उसने पहले यज्ञ किया इस प्रकार जीता रहेगा तो आगे भी यज्ञ करेगा ॥३३॥

इससे वह परोक्ष रूप से सन्तान के लिए भी आशीर्वाद देता है, क्योंकि जिसके सन्तान होती है वह चाहे अकेला ही हो सन्तान द्वारा दश गुनी हवि देता है। इसीलिये कहा कि 'सन्तान का अर्थ है बहुत-सी हवि देना' ॥३४॥

इस प्रकार वह परोक्ष रूप से पशुओं के लिए भी आशीर्वाद देता है। जिसके पशु होते हैं वह पहले जैसे यज्ञ करता था फिर भी अधिक यज्ञ करता है ॥३५॥

अब आशीर्वाद यह है, "जीवेयं प्रजा मे स्याच्छ्रियं गच्छेयम्"—"मैं जियूं। मेरी प्रजा हो, मेरी सम्पत्ति हो।" 'पशुओं के लिए आशीर्वाद' से तात्पर्य है 'सम्पत्ति से', क्योंकि पशु ही सम्पत्ति हैं। इन दो आशीर्वादों में सब आ गया, इसलिए यहाँ दो आशीर्वाद किये जाते हैं ॥३६॥

अब कहता है, "देवा म इदँ हविर्जुषन्ताम्"—"देव मेरी इस हवि को स्वीकार करें।" 'इसी यज्ञ में बुलाया गया'—यह जो देव हवि को स्वीकार करते हैं मानो यज्ञ की समृद्धि के लिए ही आशीर्वाद देते हैं। इससे बड़ी जय होती है। इसलिए कहा, 'स्वीकार करें' ॥३७॥

(यजमान और पुरोहित) उस (इडा) को खाते हैं। अग्नि में नहीं छोड़ते। इडा का अर्थ है पशु। इसलिए अग्नि में नहीं छोड़ते कि कहीं पशुओं को अग्नि में न छोड़ दें ॥३८॥

प्राणों में ही आहुति दी जाती है, कुछ होता में, कुछ यजमान में, कुछ अध्वर्यु में। अब पुरोडाश का पूर्वार्द्ध काटकर ध्रुवा में रखता है। ध्रुवा यजमान है, इसलिए यजमान इसको खाता है। यदि वह प्रत्यक्ष में उसे नहीं भी खाता है कि कहीं यज्ञ की समाप्ति के पहले खा लूं, तो भी वह खाई हुई समझ ली जाती है। सब खाते हैं। तात्पर्य है कि 'सब में ये मेरे लिए हुत होवें'। पाँच इसमें से खाते हैं। इडा का अर्थ है पशु। पशु पाँच प्रकार के होते हैं। इसलिए पाँच इसमें से खाते हैं ॥३९॥

जब (होता) जोर से बोलता है तो वह (अध्वर्यु) पुरोडाश के चार भाग करके कुशों पर रखता है। वह यहाँ पितरों के स्थान पर होता है। अवान्तर दिशायें चार होती हैं। अवान्तर दिशा ही पितर हैं। इसलिए पुरोडाश के चार भाग करके उनको कुशों पर रखता है ॥४०॥

और जब वह कहता है, 'उपहूते द्यावापृथिवी'—'द्यावा-पृथिवी बुलाये गये', तो उसको अग्नीध्र को दे देता है। अग्नीध्र (उनमें से दो टुकड़ों को) यह मन्त्र पढ़कर खाता है, "उपहूता पृथिवी मातोप मां पृथिवी माता ह्वयतामग्निराग्नीध्रात् स्वाहा" (यजु० २।१०)—"उपहूतो द्यौष्पितोप मां द्यौष्पिता ह्वयतामग्निराग्नीध्रात् स्वाहा" (यजु० २।११)—"बुलाई गई पृथिवी माता। पृथिवी माता मुझे बुलावे। अग्नीध्र होने के कारण मैं अग्नि हूँ", "बुलाया गया द्यौ पिता। द्यौ पिता मुझे बुलावे। अग्नीध्र होने के कारण मैं अग्नि हूँ।" यह जो अग्नीध्र है वह मानो द्यावा-

ऽएष यदाग्नीध्रस्तस्मादेवं प्राश्नाति ॥४१॥ अथ यत्राशिषमाशास्ते । तज्जपति मयीदमिन्द्र इन्द्रियं दधात्वस्मान्रायो मघवानः सचन्ताम् अस्माकꣳ सन्त्वाशिषः सत्या नः सन्त्वाशिष इत्याशिषामेवैष प्रतिग्रहस्तस्या एवात्रऽर्त्विजो यजमानायाशिष आशासते ता एवैतत्प्रतिगृह्यात्मन्कुरुते ॥४२॥ अथ पवित्रयोर्मार्जयन्ते । पाकयज्ञियमिव वाऽएतदिडयाचारिषुः पवित्रपूता यदत ऊर्ध्वमसꣳस्थितं यज्ञस्य तत्तनवामहाऽइति तस्मात्पवित्रयोर्मार्जयन्ते ॥४३॥ अथ ते पवित्रे प्रस्तरेऽपिसृजति । यजमानो वै प्रस्तरः प्राणोदानौ पवित्रे यजमाने तत्प्राणोदानौ दधाति तस्मात्ते पवित्रे प्रस्तरेऽपिसृजति ॥४४॥ ब्राह्मणम् ॥३ [८.१.]॥ ॥

ते वाऽएतेऽउल्मुकेऽउदूहन्ति । अनुयाजेभ्यो यातयामेव वाऽएतदग्निर्भवति देवेभ्यो हि यज्ञमूहिवान्भवत्ययातयाम्न्यनुयाजांस्तनवामहाऽइति तस्माद्वाऽएते ऽउल्मुकेऽउदूहन्ति ॥१॥ ते पुनरनुसꣳस्पर्शयन्ति । पुनरेवैतदग्निमाप्याययन्त्ययातयामानं कुर्वन्त्ययातयाम्नि यदत ऊर्ध्वमसꣳस्थितं यज्ञस्य तत्तनवामहाऽइति तस्मात्पुनरनुसꣳस्पर्शयन्ति ॥२॥ अथ समिधमभ्यादधाति । समिन्धऽएवैनमेतत्समिद्धे यदत ऊर्ध्वमसꣳस्थितं यज्ञस्य तत्तनवामहाऽइति तस्मात्समिधमभ्यादधाति ॥३॥ ताꣳ होतानुमन्त्रयते । एषा तेऽअग्ने समित्तया वर्धस्व चा च प्यायस्व वर्धिषीमहि च वयमा च प्यासिषीमहीति तद्यथैवादः समिध्यमानायान्वाहैवमेवैतदन्वाह तदेतद्धोतुः कर्म स यदि मन्येत न होता वेदेत्यपि स्वयमेव यजमानोऽनुमन्त्रयेत ॥४॥ अथ संमार्ष्टि । युनक्त्येवैनमेतद्युक्तो यदत ऊर्ध्वमसꣳस्थितं यज्ञस्य तद्वहादिति तस्मात्संमार्ष्टि सकृत्सकृत्संमार्ष्टि त्रिस्त्रिर्वाऽअग्रे देवेभ्यः संमृजन्ति नेत्तथा करवाम यथा देवेभ्य इति तस्मात्सकृत्सकृत्संमार्ष्ट्यजामिताये जामि ह कुर्याद्यत्त्रिः पूर्वं त्रिरपरं तस्मात्सकृत्सकृत्संमार्ष्टि ॥५॥ स संमार्ष्टि । अग्ने वाजजिद्वाजं त्वा ससृवाꣳसं वाजजितꣳ संमार्ज्मीति सरिष्यन्तमिति वाऽअग्रऽआह सरिष्यन्निव

पृथिवी है, इसलिए वह इसे इस प्रकार खाता है ।।४१।।

जब होता आशीर्वाद देता है तब इस मन्त्र का जप करता है, "मयीदमिन्द्रऽइन्द्रियं दधात्वस्मान् रायो मघवानः सचन्ताम् । अस्माकँ सन्त्वाशिषः सत्या नः सन्त्वाशिषः" (यजु० २।१०)—"इन्द्र मुझमें इन्द्र की शक्ति दे। हमको बहुत-सा धन प्राप्त हो। आशिष हमारे लिए हो। सच्ची आशिषें हमारे लिए हों।" यह आशिष का परिग्रह (लेना) है। यहाँ ऋत्विज् जो आशिष यजमान के लिए देता है वह उनको ग्रहण करके अपनी बना लेता है ।।४२।।

अब दोनों पवित्रों से मार्जन करते हैं, क्योंकि अब उन्होंने इडा को पाक-यज्ञिया दे दिया। अब वे दोनों पवित्रों से इसलिए मार्जन करते हैं कि अब जो यज्ञ का भाग बच रहा है उसको हम पवित्रों से मार्जन करके पूरा करेंगे ।।४३।।

वह (अध्वर्यु) दोनों पवित्रों को प्रस्तर पर छोड़ देता है। यजमान ही प्रस्तर है। प्राण और अपान पवित्रे हैं। इस प्रकार वह यजमान में प्राण और अपान को धारण कराता है। इसलिए उन पवित्रों को प्रस्तर पर छोड़ता है ।।४४।।

अध्याय ८–ब्राह्मण २

अब वे (आहवनीय अग्नि में से) दो जलती हुई समिधायें निकालते हैं। यह अग्नि अनुयाजों के लिए व्यर्थ-सी हो जाती है, क्योंकि देवों के लिए यज्ञ को ले जाती है। (वे सोचते हैं कि) ऐसी आग में अनुयाज करें जो यातयामा (बुझी या व्यर्थ-सी) न हो। इसलिए दो जलती हुई समिधाओं को निकालते हैं ।।१।।

वे फिर उनको (आग के) पास लाते हैं। इस प्रकार वे आग को फिर बढ़ा देते और ताजा कर देते हैं। (वे सोचते हैं कि) जो कुछ यज्ञ में से शेष रह गया है उसको ऐसी अग्नि में करें जो यातयामा न हो। (जिस अग्नि से एक बार काम ले चुके वह मानो थक-सी गई। उसे यातयामा कहा। अब दो समिधाओं को पहले निकालकर फिर उसी में रखने से मानो वह ताजा हो गई।) इसीलिये वे उनको फिर पास लाते हैं ।।२।।

अब (अग्नीध्र) समिधा रखता है। इससे वह अग्नि को प्रज्वलित करता है। (वह सोचता है कि) जो यज्ञ की शेष क्रिया रह गई है उसको प्रज्वलित अग्नि में करूँ। अतः वह समिधा रखता है ।।३।।

होता इस मन्त्र को पढ़कर उसका अनुमन्त्रण (पवित्रीकरण) करता है, "एषा तेऽअग्ने समित् तया वर्द्धस्व चा च प्यायस्व। वर्धिषीमहि च वयमा च प्यासिषीमहि" (यजु० २।१४)—"हे अग्नि! ये तेरी समिधा हैं। इनके द्वारा बढ़ और प्रज्वलित हो, और हम भी बढ़ें और प्रतापी हों।" जैसे पहले समिधा लगाते हुए जिस प्रकार मन्त्र पढ़ा था, उसी प्रकार अब भी पढ़ता है। यह होता का कर्म है। परन्तु यदि समझे कि होता नहीं जानता तो यजमान स्वयं ही अनुमन्त्रण करे ।।४।।

अब वह उसका सम्मार्जन करता है, अर्थात् उसे इकट्ठा कर देता है, जैसे इधर-उधर से चिमटे द्वारा बुझती हुई आग को इकट्ठा करके फिर ताजा कर देते हैं। 'इस प्रकार इकट्ठा होकर यह जो कुछ यज्ञ में शेष रहा है उसको भी (देवताओं के लिए) ले जावे।'—इसलिए उसका सम्मार्जन करता है। (प्रत्येक समिधा को) एक-एक बार सम्मार्जित करता है। इससे पहले देवों के लिए उन्होंने फिर से तीन-तीन बार सम्मार्जन किया था। 'ऐसा न हो कि जैसा देवों के लिए किया था वैसा ही हो जाय'—इसलिए एक-एक बार सम्मार्जन करता है। यदि तीन बार पहले करे, फिर तीन बार करे तो दुहराने का दोष लगे। इसलिए एक-एक बार ही सम्मार्जन करता है ।।५।।

वह इस मन्त्र से सम्मार्जित करता है, "अग्ने वाजजिद् वाजं त्वा ससृवाँसं वाजजितँ सम्मार्ज्मि" (यजु० २।१४)—"हे अन्न को जीतनेवाले अग्नि, अन्न लिये हुए और अन्न को जीतनेवाले, तुझको सम्मार्जित (इकट्ठा) करता हूँ।" पहले कहा था 'सरिष्यन्तम्' अर्थात् लेते हुए,

हि तर्हि भवत्यथात्र ससृवाꣳसमिति ससृवेव ह्यत्र भवति तस्मादाह ससृवाꣳसमिति ॥६॥ अथानुयाजान्यजति । या वाऽएतेन यज्ञेन देवता ह्वयति याभ्य एष यज्ञस्तायते सर्वा वै तत्ता इष्टा भवन्ति तद्यत्तासु सर्वास्विष्टास्वथैतत्पश्चेवानुयजन्ति तस्मादनुयाजा नाम ॥७॥ अथ यदनुयाजान्यजति । छन्दाꣳसि वाऽअनुयाजाः पशवो वै देवानां छन्दाꣳसि तद्यथेदं पशवो युक्ता मनुष्येभ्यो वहन्त्येवं छन्दाꣳसि युक्तानि देवेभ्यो यज्ञं वहन्ति तद्यत्र छन्दाꣳसि देवान्त्समतर्पयन्नथ छन्दाꣳसि देवाः समतर्पयंस्तदतस्तत्प्रागभूद्यच्छन्दाꣳसि युक्तानि देवेभ्यो यज्ञमवाक्षुर्यदेनान्त्समतीतृपन् ॥८॥ अथ यदनुयाजान्यजति । छन्दाꣳसि वाऽअनुयाजाश्छन्दाꣳस्येवैतत्संतर्पयति तस्मादनुयाजान्यजति तस्माद्येन वाहनेन धावयेत्तद्विमुच्य ब्रूयात्पाययतैनत्सुहितं कुरुतेत्येष उ वाहनस्यापह्नवः ॥९॥ स वै खलु बर्हिः प्रथमं यजति । तद्वै कनिष्ठं छन्दः सद्गायत्री प्रथमा छन्दसां युज्यते तदु तद्वीर्येणेव यद्येनो भूत्वा दिवः सोममाहरत्तदयथायथं मन्यन्ते यत्कनिष्ठं छन्दः सद्गायत्री प्रथमा छन्दसां युज्यतेऽथात्र यथायथं देवाश्छन्दाꣳस्यकल्पयन्ननुयाजेषु नेत्पापवस्यसमसदिति ॥१०॥ स वै खलु बर्हिः प्रथमं यजति । अयं वै लोको बर्हिरोषधयो बर्हिरस्मिन्नेवैतल्लोकऽओषधीर्दधाति ता इमा अस्मिंल्लोकऽओषधयः प्रतिष्ठितास्तदिदꣳ सर्वं जगदस्यां तेनेयं जगती तज्जगतीं प्रथमामकुर्वन् ॥११॥ अथ नराशꣳसं द्वितीयं यजति । अन्तरिक्षं वै नराशꣳसः प्रजा वै नरस्ता इमा अन्तरिक्षमनु वावद्यमानाः प्रजाश्चरन्ति यद्वै वदति शꣳसतीति वै तदाहुस्तस्मादन्तरिक्षं नराशꣳसोऽन्तरिक्षमु वै त्रिष्टुप्तत्त्रिष्टुभं द्वितीयामकुर्वन् ॥१२॥ अथाग्निरुत्तमः । गायत्री वाऽअग्निस्तद्गायत्रीमुत्तमामकुर्वन्नेवं यथायथेन क्लृप्तेन छन्दाꣳसि प्रत्यतिष्ठꣳस्तस्मादिदमपापवस्यसम् ॥१३॥ देवान्यजेत्येवाधर्युराह । देवं-देवमिति सर्वेषु होता देवानां वै देवाः सन्ति छन्दाꣳस्येव पशवो ह्येषां गृहा हि पशवः प्रतिष्ठो हि गृहाश्छन्दाꣳसि वाऽअनु-

क्योंकि उस समय लेने का काम जारी था। अब कहा, 'ससृवांसम्' अर्थात् लिये हुए, क्योंकि जब लेने का काम पूरा हो चुका, इसलिए कहा 'ससृवांसम्' ॥६॥

अब वह अनुयाजों की आहुति देता है। इस यज्ञ द्वारा जिस-जिस देवता की आहुति दी गईं और जिस-जिस के लिए यज्ञ किया गया, उनके लिए आहुतियाँ दी जा चुकीं। अब उन्हीं इष्ट देवों के लिए फिर आहुतियाँ देता है, इसलिए इसका नाम अनुयाज है।(जिस देवता के लिए यज्ञ हो चुका उस देवता को 'इष्ट' कहते हैं। अनुयाज का अर्थ है अनु+याज–'जो आहुति पीछे से दी जाय') ॥७॥

अनुयाज इसलिए किये जाते हैं। अनुयाज ही छन्द हैं। छन्द ही देवों के पशु हैं। जिस प्रकार पशु जुतकर मनुष्यों के लिए बोझ ले जाते हैं, उसी प्रकार छन्द भी युक्त होकर देवताओं के लिए यज्ञ को ले जाते हैं। जब छन्दों ने देवों को तृप्त किया और देवों ने छन्दों को तृप्त किया, यह पहले था। अब युक्त छन्दों ने देवों तक यज्ञ को पहुँचाया और उनको तृप्त किया ॥८॥

और अनुयाज करने का यह भी कारण है—अनुयाज ही छन्द हैं। इस प्रकार वह इन (छन्दों) को तृप्त करता है, इसलिए अनुयाज करता है। जिस वाहन से यात्रा की उसी वाहन को छोड़कर कहते हैं—'इसको जल दो। इसको खाना दो।' और यही वाहन का तृप्त करना है ॥९॥

वह पहले बर्हि-यज्ञ करता है। छन्दों में सबसे पहले छोटा छन्द गायत्री बोला जाता है। छन्दों को पशु या वाहन कहा, इसलिए 'जोतना' शब्द प्रयुक्त हुआ, और यह है शक्ति (वीर्य) के कारण, क्योंकि यह श्येन होकर सोम को देवों तक ले गया था। अब इसको यथार्थ नहीं समझते कि छोटे-से गायत्री छन्द को छन्दों में सबसे पहले जोतें। इसीलिये अनुयाजों में देवों ने छन्दों को ठीक-ठीक कर दिया जिससे भूल न हो जाय ॥१०॥

अब सबसे पहले बर्हि-यज्ञ करता है। यह लोक ही बर्हि है। ओषधि बर्हि है। इस प्रकार इस लोक में ओषधियों को रखता है। वे ओषधियाँ इस लोक में स्थापित होती हैं। इस छन्द में सब 'जगत्' प्रतिष्ठित है, इसलिए इसको 'जगती' कहा। इसलिए उन्होंने जगती छन्द को पहले कहा ॥११॥

अब नराशंस-यज्ञ करता है। अन्तरिक्ष ही नराशंस है। प्रजा को नर कहते हैं। ये नर (मनुष्य) अन्तरिक्ष में बोलते हुए विचरते हैं। जब मनुष्य बोलता है तो कहते हैं 'शंसति', इसलिए अन्तरिक्ष को नराशंस कहा। अन्तरिक्ष ही त्रिष्टुप् है। इसलिए त्रिष्टुप् छन्द को दूसरा दर्जा दिया ॥१२॥

अब अग्नि अन्तिम है। गायत्री ही अग्नि है। इसीलिये गायत्री को अन्तिम दर्जा दिया। इस प्रकार उन्होंने छन्दों को यथार्थ दर्जों में प्रतिष्ठित कर दिया, जिससे भूल न हो ॥१३॥

अध्वर्यु कहता है, 'देवों के लिए यज्ञ करो', और होता इस प्रकार आरम्भ करता है, 'देवं, देवम्'। क्योंकि छन्द देवों के देव हैं, ये पशु हैं। पशु ही इनके घर हैं। घर ही प्रतिष्ठा हैं।

याजास्तस्माद्देवान्यजेत्येवाध्वर्युराह देवं देवमिति सर्वेषु होता ॥१४॥ वसुवने वसुधेयस्येति । देवतायाऽएव वषट्क्रियते देवतायै हूयते न वाऽअत्र देवतास्त्यनुयाजेषु देवं बर्हिरिति तत्र नाग्निर्नेन्द्रो न सोमो देवो नराशꣳस इति नात एकं चन यो वाऽअत्राग्निर्गायत्री स निदानेन ॥१५॥ अथ यद्वसुवने वसुधेयस्येति यजति । अग्निर्वै वसुवनिरिन्द्रो वसुधेयोऽस्ति वै छन्दसां देवतेन्द्राग्नीऽएवैवमु हैतद्देवतायाऽएव वषट्क्रियते देवतायै हूयते ॥१६॥ अथोत्तममनुयाजमिष्ट्वा समानीय जुहोति । प्रयाजानुयाजा वाऽएते तद्यथैवादः प्रयाजेषु यजमानाय द्विषन्तं भ्रातृव्यं बलिꣳ हारयत्यत्त्रऽआद्यं बलिꣳ हारयत्येवमेवैतदनुयाजेषु बलिꣳ हारयति ॥१७॥ ब्राह्मणम् ॥४ [८. २.]॥ षष्ठः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या १११ ॥ ॥

स वै स्रुचौ व्यूहति । अग्नीषोमयोरुज्जितिमनूज्जेषं वाजस्य मा प्रसवेन प्रोहामीति जुहूं प्राचीं दक्षिणेन पाणिनाग्नीषोमौ तमपनुदतां योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मो वाजस्यैनं प्रसवेनापोहामीत्युपभृतं प्रतीचीꣳ सव्येन पाणिना यदि स्वयं यजमानः ॥१॥ यद्युऽअध्वर्युः । अग्नीषोमयोरुज्जितिमनूज्जयत्वयं यजमानो वाजस्यैनं प्रसवेन प्रोहाम्यग्नीषोमौ तमपनुदतां यमयं यजमानो द्वेष्टि यश्चैनं द्वेष्टि वाजस्यैनं प्रसवेनापोहामीति पौर्णमास्यामग्नीषोमीयꣳ हि पौर्णमासꣳ हविर्भवति ॥२॥ अथामावास्यायाम् । इन्द्राग्न्योरुज्जितिमनूज्जेषं वाजस्य मा प्रसवेन प्रोहामीन्द्राग्नी तमपनुदतां योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मो वाजस्यैनं प्रसवेनापोहामीति यदि स्वयं यजमानः ॥३॥ यद्युऽअध्वर्युः । इन्द्राग्न्योरुज्जितिमनूज्जयत्वयं यजमानो वाजस्यैनं प्रसवेन प्रोहामीन्द्राग्नी तमपनुदतां यमयं यजमानो द्वेष्टि यश्चैनं द्वेष्टि वाजस्यैनं प्रसवेनापोहामीत्यमावास्यायामैन्द्राग्नꣳ ह्यामावास्यꣳ हविर्भवत्येवं यथादेवतं व्यूहति तद्यदेवं व्यूहति ॥४॥ यजमान एव जुहूमनु । योऽस्माऽअरातीयति स उपभृतमनु प्राञ्चमेवैतद्यजमानमुदूहत्यपाञ्चं तमपोहति योऽस्मा

अनुयाज ही छन्द हैं। इसीलिए अध्वर्यु कहता है कि 'देवों के लिए यज्ञ करो', और हर एक बार होता इस प्रकार आरम्भ करता है, 'देवं देवम्' ॥१४॥

अब कहता है—"वसुवने वसुधेयस्य" अर्थात् "वसुधा की अधिक प्राप्ति के लिए।" वषट्कार देवता के लिए ही होता है। देवता के लिए ही आहुति दी जाती है। परन्तु यहाँ अनुयाजों में कोई देवता नहीं है। जब वह कहता है—'देवं बर्हिः', तब न तो अग्नि है, न इन्द्र, न सोम, और जब कहता है—'देवो नराशंसः', तब भी कोई नहीं; और जो अग्नि है वह निदान में गायत्री ही है ॥१५॥

अब 'वसुवने वसुधेयस्य' कहने का प्रयोजन यह है कि अग्नि ही वसुवान् (धन को लेनेवाला) और इन्द्र ही वसुधेय (धन को धारण करनेवाला) है। छन्दों के देवता हैं इन्द्र+अग्नि। इस प्रकार देवता के लिए ही वषट्कार बोला जाता है और देवता के लिए ही आहुति दी जाती है ॥१६॥

अन्तिम अनुयाज में सब घी लाकर छोड़ देता है, क्योंकि यही प्रयाज और अनुयाज है। इसलिये वहाँ अनुयाजों में भी वह हानिकारक शत्रु से यजमान के लिए बलि दिलवाता है। जो खाद्य है उससे बलि दिलवाता है। अनुयाजों में बलि दिलवाता है ॥१७॥

अध्याय ८—ब्राह्मण ३

अब वह दो स्रुचों (जुहू और उपभृत्) को अलग करता है इस मन्त्र से—"अग्नीषोमयोरुज्जितिमनूज्जेषं वाजस्य मा प्रसवेन प्रोहामि' (यजु० २।१५)—"अग्नि और सोम की जीत से मैं विजयी होऊँ। अन्न की प्रेरणा से मैं आगे बढ़ता हूँ।" जुहू को पूर्व से सीधे हाथ से पूर्व की ओर हटाता है इस मन्त्र से—"अग्नीषोमौ तमपनुदतां योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मो वाजस्यैनं प्रसवेनापोहामि", (यजु० २।१५)—"अग्नि और सोम उसको हटा दें, जो हमसे द्वेष करता है या जिससे हम द्वेष करते हैं। अन्न की इस प्रेरणा से मैं आगे बढ़ता हूँ।" उपभृत् को बायें हाथ से पश्चिम की ओर हटाता है, यदि यजमान स्वयं हटावे तो इस प्रकार से ॥१॥

और यदि अध्वर्यु (हटावे तो वह कहेगा)—"अग्नीषोमयोरुज्जितिमनूज्जयत्वयं यजमानो वाजस्यैनं प्रसवेन प्रोहाम्यग्नीषोमौ तमपनुदतां यमयं यजमानो द्वेष्टि यश्चैनं द्वेष्टि वाज्यस्यैनं प्रसवेनापोहामि" (यजु० २।१५)—"अग्नि और सोम की जीत से यह यजमान विजयी होवें। अन्न की प्रेरणा से मैं आगे बढ़ता हूँ। अग्नि और सोम उसको हटा दें जो इस यजमान से द्वेष करता है या जिससे यह यजमान द्वेष करता है। इस अन्न की प्रेरणा से मैं आगे बढ़ता हूँ।" यह पौर्णमास यज्ञ में ऐसा करता है, क्योंकि पौर्णमास यज्ञ अग्नि-सोम का है ॥२॥

अमावस्या में वह यह कहता है—"इन्द्राग्न्योरुज्जितिमनूज्जेषं वाजस्य मा प्रसवेन प्रोहामीन्द्राग्नी तमपनुदतां योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मो वाजस्यैनं प्रसवेनापोहामि" (यजु० २।१५)—"इन्द्र और अग्नि की जीत से मैं विजयी होऊँ। अन्न की प्रेरणा से मैं आगे बढ़ता हूँ। इन्द्र और अग्नि उसको हटा दें, जो हमसे द्वेष करता है या जिससे हम द्वेष करते हैं। अन्न की इस प्रेरणा से मैं आगे बढ़ता हूँ।" यह उस समय कहना चाहिए जब यजमान स्वयं कहे ॥३॥

और अध्वर्यु कहे तो इस प्रकार—"इन्द्राग्न्योरुज्जितमनूज्जयत्वयं यजमानो वाजस्यैनं प्रसवेन प्रोहामीन्द्राग्नी तमपनुदतां यमयं यजमानो द्वेष्टि यश्चैनं द्वेष्टि वाजस्यैनं प्रसवेनापोहामि।" "इन्द्र और अग्नि की जीत से यजमान विजयी होवे। अन्न की प्रेरणा से मैं आगे बढ़ता हूँ। इन्द्र और अग्नि उसको हटा दें, जिससे यह यजमान द्वेष करता है या जो इस यजमान से द्वेष करता है। अन्न की प्रेरणा से मैं आगे बढ़ता हूँ।" यह आमावास्य यज्ञ में होता है। इन्द्र और अग्नि ही अमावस्या के देवता हैं। इस प्रकार वह चमचों को भिन्न-भिन्न देवतों के लिए अलग करता है। यही कारण है कि वह इस प्रकार उनको अलग करता है ॥४॥

जो जुहू के पीछे यजमान होता है और उपभृत् के पीछे वह जो उससे शत्रुता करता है। इस प्रकार वह यजमान को पूर्व में लाता है, और जो उसका शत्रु है उसको वह पीछे हटा देता

ऽअरातीयत्यत्तेव जुहूमन्वाद्य उपभृतमनु प्राद्यमेवैतदत्तारमुदूहत्यपाद्यमाद्यमपो-
हति ॥५॥ तद्वाऽएतत् । समानऽएव कर्मन्व्याक्रियते तस्मादु समानादेव पुरु-
षादत्ता चाद्यश्च जायेतेऽइदꣳ हि चतुर्थे पुरुषे तृतीये संगच्छामहऽइति विदेव्यं दी-
व्यमाना जात्या आसतऽएतस्मादु तत् ॥६॥ अथ जुह्वा परिधीन्त्समनक्ति । यथा
देवेभ्योऽहौषीद्यथा यज्ञꣳ समतिष्ठिपत्तथैवैतत्परिधीन्प्रीणाति तस्माज्जुह्वा परिधी-
न्त्समनक्ति ॥७॥ स समनक्ति । वसुभ्यस्त्वा रुद्रेभ्यस्त्वादित्येभ्यस्त्वेत्येते वै त्रया देवा
यद्वसवो रुद्रा आदित्या एतेभ्यस्त्वेत्येवैतदाह ॥८॥ अथ परिधिमभिपद्याश्रावयति ।
परिधिभ्यो ह्येतदाश्रावयति यज्ञो वाऽआश्रावणं यज्ञेनैवैतत्प्रत्यक्षं परिधीन्प्रीणा-
ति तस्मात्परिधिमभिपद्याश्रावयति ॥९॥ स आश्राव्याह । इषिता दैव्या होतार
इति दैव्या वाऽएते होतारो यत्परिधयोऽग्नयो हीष्टा दैव्या होतार इत्येवैतदाह
यदाहेषिता दैव्या होतार इति भद्रवाच्यायेति स्वयं वाऽएतस्मै देवा युक्ता भव-
न्ति यत्साधु वदेयुर्यत्साधु कुर्युस्तस्मादाह भद्रवाच्यायेति प्रेषितो मानुषः सूक्तवा-
कायेति तदिमं मानुषꣳ होतारꣳ सूक्तवाकाय प्रसौति ॥१०॥ अथ प्रस्तरमादत्ते ।
यजमानो वै प्रस्तरस्तद्यत्रास्य यज्ञोऽगंस्तद्वैतद्यजमानꣳ स्वगाकरोति देवलोकं
वाऽअस्य यज्ञोऽगन्देवलोकमेवैतद्यजमानमपिनयति ॥११॥ स यदि वृष्टिकामः
स्यात् । एतेनैवाददीत संजानाथां द्यावापृथिवीऽइति यदा वै द्यावापृथिवी संजा-
नाथेऽअथ वर्षति तस्मादाह संजानाथां द्यावापृथिवीऽइति मित्रावरुणौ त्वा वृ-
ष्ट्यावतामिति तद्यो वर्षस्येष्टे स त्वा वृष्ट्यावत्वित्येवैतदाहायं वै वर्षस्येष्टे योऽयं
पवते सोऽयमेक-इवैव पवते सोऽयं पुरुषेऽन्तः प्रविष्टः प्राङ् प्रत्यङ् ताविमौ
प्राणोदानौ प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ तद्य एव वर्षस्येष्टे स त्वा वृष्ट्यावत्वित्ये-
वैतदाह तमेतेनैवाददीत यदा क्वच कदा च वृष्टिः समिव तमनक्त्याकृतिमेवैत-
त्करोत्याकृतिर्भूत्वा देवलोकं गच्छादिति ॥१२॥ स वाऽअग्रं जुह्वामनक्ति । मध्य-

है। जुहू के पीछे अत्ता (खानेवाला) होता है, और उपभृत् के पीछे आद्य (खाद्य पदार्थ) होता है। इस प्रकार वह खानेवाले को सामने लाता है और खाद्य को पीछे हटा देता है ।।५।।

इस प्रकार एक ही कर्म से वियोग हो जाता है। इसलिये एक ही पुरुष से अत्ता (भोक्ता या पति) और आद्य (भोग्य या पत्नी) उत्पन्न होते है। इसीलिए लोग हँसी में कहते हैं कि चौथे या तीसरे पुरुष में हम मिल जाते हैं (तात्पर्य यह मालूम होता है कि तीसरी या चौथी पीढ़ी में विवाह हो सकता था जैसा कि दक्षिणियों में आजकल भी होता है)। इसके अनुसार चमचे भी अलग होते हैं ।।६।।

अब परिधि-समिधाओं को जुहू से (घी लेकर) चुपड़ता है। जिससे देवों के लिए यज्ञ-आहुति दी, जिससे यज्ञ को समाप्त किया, उसी से परिधियों को प्रसन्न करता है, इसीलिए जुहू से चुपड़ता है ।।७।।

वह इस मन्त्र को पढ़कर घी लगाता है—"वसुभ्यस्त्वा रुद्रेभ्यस्त्वादित्येभ्यस्त्वा' (यजु० २।१६)—"वसुओं के लिए तुझको, रुद्रों के लिए तुझको, आदित्यों के लिए तुझको।" यही तीन देव हैं—वसु, रुद्र, और आदित्य। 'इनके लिए तुझको' ऐसा कहने का तात्पर्य है ।।८।।

अब परिधि को उठवाकर आश्रावण करता है (अर्थात् सुनवाता है)। परिधियों के लिए ही इसको सुनवाता है। यज्ञ ही आश्रावण है। स्पष्ट बात यह है कि यज्ञ से ही परिधियों को प्रसन्न कराता है। इसलिये परिधि को उठवाकर आश्रावण करता है ।।९।।

आश्रावण के पश्चात् कहता है—"इषिता दैव्या होतारः"—"दिव्य होता बुलाये गये।" ये जो परियियाँ हैं वे ही दिव्य होता हैं क्योंकि वे अग्नि हैं। जब वह कहता है कि 'इषिता दैव्या होतारः' तो यहाँ तात्पर्य है 'इष्टा दैव्या होतारः' से (इषित) 'इष्ट' के अर्थ में लिया गया है। 'बुलाये गये' अर्थात् 'चाहे गये।' अब कहता है—"भद्रवाच्याय"—"शुभ वाणी के लिए।" देव स्वयं ही तैयार होते हैं कि इसके लिए अच्छी बात कहें, अच्छी बात करें। इसलिए कहा—'शुभ वाणी के लिए।' अब कहता है–"प्रेषितो मानुषः सूक्तवाकाय"—"सूक्तवाक (प्रशंसा) के लिए मनुष्य बुलाया गया।" इस प्रकार मनुष्य होता को सूक्तवाक के लिए बुलाता है ।।१०।।

अब प्रस्तर को लेता है। यजमान ही प्रस्तर है। इसलिये जहाँ कहीं उसका यज्ञ जाय वहीं यजमान का स्वागत करता है। चूंकि उसका यज्ञ देवलोक में गया, इसलिये इस प्रकार वह यजमान को भी ले जाता है ।।११।।

यदि वृष्टि की इच्छा हो तो (प्रस्तर को यह पढ़कर) उठावें—"सञ्जानाथां द्यावा-पृथिवी" (यजु० २।१६)—"द्यौ और पृथिवी साथ चलें।" क्योंकि जब द्यौ और पृथिवी साथ-साथ चलते हैं तभी वर्षा होती है, इसलिए कहा—'द्यावापृथिवी साथ चलें।' अब कहता है—'मित्रावरुणौ त्वा वृष्टयावताम्" (यजु० २।१६)–"मित्र और वरुण तेरी वृष्टि द्वारा रक्षा करें।" इस कहने से तात्पर्य यह है कि जो वर्षा का अध्यक्ष है वह तेरी वृष्टि द्वारा रक्षा करे। वही वर्षा का अध्यक्ष है जो यह बहता है (अर्थात् वायु), यह एक ही के समान बहता है। परन्तु वही पुरुष के भीतर जाकर आगे-पीछे होकर दो हो जाते हैं,उनका नाम है प्राण और उदान। प्राण और उदान ही मित्र और वरुण हैं। इसीलिए यह कहता है 'वह जो वर्षा का अध्यक्ष है तेरी वृष्टि द्वारा रक्षा करे।' इस (प्रस्तर) को वह इस (मन्त्र) द्वारा ले तो सदा वृष्टि उसके अनुकूल रहेगी। वह (प्रस्तर पर) घी लगाता है, मानो यजमान को भी आहुति का रूप देता है, जिससे वह आहुति होकर देव-लोक को चला जाय ।।१२।।

वह उस (प्रस्तर) के अगले भाग को जुहू में से चुपड़ता है, बीच को उपभृति में से, जड़

मुपभृति मूलं ध्रुवायामग्रमिव हि जुहूर्मध्यमिवोपभृन्मूलमिव ध्रुवा ॥१३॥ सो
ऽनक्ति । व्यन्तु वयोऽक्तꣳ रिहाणा इति वय एवैनमेतद्भूतमस्मान्मनुष्यलोकाद्दे-
वलोकमभ्युत्पातयति तन्नीचैरिव हरति द्वयं तद्यस्मान्नीचैरिव हरेद्यजमानो वै
प्रस्तरोऽस्याऽएवैनमेतत्प्रतिष्ठायै नोद्धन्तीहोऽएव वृष्टिं नियच्छति ॥१४॥ स हर-
ति । मरुतां पृषतीर्गच्छेति देवलोकं गच्छन्त्वित्येवैतदाह यदाह मरुतां पृषतीर्गच्छेति
वशा पृश्निर्भूत्वा दिवं गच्छ ततो नो वृष्टिमावहेतीयं वै वशा पृश्निर्यदिदमस्यां मू-
लि चामूलं चान्नाद्यं प्रतिष्ठितं तेनेयं वशा पृश्निरियं भूत्वा दिवं गच्छेत्येवैतदाह
ततो नो वृष्टिमावहेति वृष्टाद्वाऽऊर्ग्रसः सुभूतं जायते तस्मादाह ततो नो वृ-
ष्टिमावहेति ॥१५॥ अथैकं तृणमपगृह्णाति । यजमानो वै प्रस्तरः स यत्कृत्स्नं प्र-
स्तरमनुप्रहरेत्क्षिप्रे ह यजमानोऽमुं लोकमियात्तथो ह यजमानो ज्योग्जीवति
यावद्वेवास्येह मानुषमायुस्तस्माऽएवैतदपगृह्णाति ॥१६॥ तन्मुहूर्तं धारयित्वानुप्र-
हरति । तद्यत्रास्येतर आत्मागंस्तद्वास्यैतद्गमयत्यथ यन्नानुप्रहरेदन्तरियाद्ध यज-
मानं लोकात्तथो ह यजमानं लोकान्नान्तरेति ॥१७॥ तं प्राञ्चमनुसमस्यति । प्रा-
ची हि देवानां दिगथोऽउदञ्चमुदीची हि मनुष्याणां दिक्तमङ्गुलिभिरिव योयुप्येरन्न
काष्ठैर्दारुभिर्वाऽइतरꣳ शवं व्युषन्ति नेत्तथा करवाम यथेतरꣳ शवमिति तस्मा-
दङ्गुलिभिरिव योयुप्येरन्न काष्ठैर्यदा होता सूक्तवाकमाह ॥१८॥ अथाग्नीदाहानुप्र-
हरेति । तद्यत्रास्येतर आत्मागंस्तद्वास्यैतद्गमयेत्येवैतदाह तूष्णीमिवानुप्रहृत्य च-
क्षुष्पा अग्नेऽसि चक्षुर्मे पाहीत्यात्मानमुपस्पृशति तनोऽअप्यात्मानं नानुप्रवृणक्ति
॥१९॥ अथाह संवदस्वेति । संवादयैनं देवैरित्येवैतदाहागानग्नीदित्यगन्खल्वित्ये-
वैतदाहागन्नितीतरः प्रत्याह श्रावयेति तं वै देवैः श्रावय तमनुबोधयेत्येवैतदाह
श्रौषडिति विदुर्वाऽएनमनु धाऽएनमभुत्सतेत्येवैतदाहैवमध्वर्युश्चाग्नीध्रश्च देवलोकं
यजमानमपिनयतः ॥२०॥ अथाह स्वगा दैव्या होतृभ्य इति दैव्या वाऽएते हो-

को ध्रुवा में से। क्योंकि जुहू अग्रभाग के समान है, उपभृति मध्य-भाग के और ध्रुवा मूल के समान है ॥१३॥

वह इस मन्त्र से घी लगाता है—"व्यन्तु वयोक्तं रिहाणा" (यजु० २।१६)—"व्यन्तु (खावें देव लोग) उक्तं (चुपड़े हुए) वयः (पक्षी को) रिहाणः (चाटते हुए)। इस प्रकार वह (यजमान को) पक्षी का रूप देता है और इस मनुष्य-लोक से देव-लोक को भेजता है। अब वह उसको दो बार नीचे लाता है। नीचे इसलिये लाता है कि प्रस्तर यजमान का रूप है। इस प्रकार वह उसको प्रतिष्ठा से नहीं हटाता और अपने स्थान पर वर्षा को लाता है ॥१४॥

वह नीचे लाने में यह मन्त्र पढ़ता है— "मरुतां पृषतीर्गच्छ" (यजु० २।१६)—"मरुतों की चितकबरी (घोड़ियों) के पास जाओ।" जब वह कहता है कि 'मरुतों की चितकबरियों के पास जाओ' तो ऐसा कहने का तात्पर्य है देव-लोक को जाओ। अब कहता है—"वशा पृश्निर्भूत्वा दिवं गच्छ ततो नो वृष्टिमावह" (यजु० २।१६)—"पृश्निः (चितकबरी) वशा (गाय) होकर द्यौलोक को जा और हमारे लिए वहाँ से वर्षा ला" [इसका ठीक अर्थ शायद यह होगा कि पृथिवी अन्तरिक्ष में होकर द्यौ को जावे। (वशा—पृथिवी, पृश्नि, अन्तरिक्षं) अर्थात् यज्ञ पृथिवी से अन्तरिक्ष ओर वहाँ से द्यौ में होकर वर्षा लावे], यह (पृथिवी) वशा पृश्निः (चितकबरी) गाय है, जिसमें मूल वाले और बिना मूल के अन्न और खाद्य-पदार्थ होते हैं। ऐसा कहने से अर्थ यह है कि पृथिवी बनकर द्यौलोक को जा और 'वहाँ से वर्षा ला।' वर्षा से शक्ति, रस और सम्पत्ति होती है। इसीलिए वह कहता है 'वहाँ से वर्षा यहाँ ला' ॥१५॥

अब उसमें से एक तृण उठा लेता है। प्रस्तर यजमान है। इसलिये यदि कहीं समस्त प्रस्तर को आग में डाल दे तो यजमान तुरन्त ही परलोक को चला जाय। परन्तु इस प्रकार यजमान बहुत जीता है। जितनी इस संसार में मनुष्य की आयु हो सकती है उसी के लिए उस प्रस्तर को लेता है ॥१६॥

उसको थोड़ी देर पकड़े रखकर आग में फेंक देता है और जहाँ उसका इतना आत्मा या भाग गया वहाँ उसको भी भेज देता है। यदि वह उसको आग में न फेंके तो वह उसका परलोक से सम्बन्ध तोड़ देता है। परन्तु इस प्रकार करने से वह यजमान को परलोक से अलग नहीं करता ॥१७॥

उसको पूर्व की ओर (सिरा करके) फेंकता है। पूर्व ही देवों की दिशा है। या उत्तर की ओर क्योंकि उत्तर मनुष्यों की दिशा है। उसको अँगुलियों से ही चिकना करें; लकड़ी या काठ से नहीं। काष्ठ या लकड़ी से लाश को छेदते हैं। ऐसा न हो कि इसके साथ लाश के जैसा व्यवहार करें, इसलिए वह उसे अँगुलियों से ही चिकना करता है, लकड़ी से नहीं। जब होता सूक्तवाक को कहता है—॥१८॥

अग्नीध्र कहता है—'अनुप्रहर अर्थात् (प्रस्तर के) पीछे फेंक दो।' इससे तात्पर्य यह है कि जहाँ उसका दूसरा भाग गया वहाँ इसे भी जाने दो। (अध्वर्यु) उसे चुपके से फेंककर इस मन्त्र से अपने शरीर को छूता है—"चक्षुष्पा अग्नेऽसि चक्षुर्मे पाहि" (यजु० २।१६)—"हे अग्नि! तू आँख की रक्षा करनेवाला है। मेरी आँख की रक्षा कर।" इस प्रकार वह अपने को आग में नहीं फेंकता ॥१९॥

अब (अग्नीध्र अध्वर्यु से) कहता है—'संवदस्व' अर्थात् 'संवाद कर।' इसके कहने से तात्पर्य यह है कि देवताओं के साथ संवाद कर। अब (अध्वर्यु) पूछता है—'हे अग्नीध्र! क्या वह (देव लोक) चला गया?' इसका तात्पर्य यह है कि क्या सचमुच चला गया? वह उत्तर देता है—'हाँ! चला गया।' अब (अध्वर्यु) कहता है—'श्रावय अर्थात् सुना।' इससे तात्पर्य यह है कि (यजमान की बात को) 'देव सुनें और देव जानें।' अब कहता है—'श्रौषट् अर्थात् उसको सुनें।' (अग्नीध्र का) ऐसा कहने से तात्पर्य है कि देवों ने उसे जान लिया, पहचान लिया। इस प्रकार अध्वर्यु और अग्नीध्र यजमान को देवलोक को ले जाते हैं ॥२०॥

अब (अध्वर्यु) कहता है—"स्वगा[1] दैव्या होतृभ्यः" अर्थात् "देवताओं के होता लोग

---

१. जिस प्रकार बुलाने के लिए स्वागत (सु+आगत) होता है, इसी प्रकार भेजने के लिए स्वगा (सु+अगा) कहा।

तारो यत्परिधयोऽग्नयो हि तानेवैतत्स्वगाकरोति तस्मादाह स्वगा दैव्या होतृभ्य इति स्वस्तिर्मानुषेभ्य इति तदस्मै मानुषाय होत्रेऽह्वलामाशास्ते ॥२१॥ अथ परिधीननुप्रहरति स मध्यममेवाग्रे परिधिमनुप्रहरति यं परिधिं पर्यधत्था अग्ने देव पणिभिर्गुह्यमानः तं तऽएतमनु जोषं भराम्येष नेवदपचेतयाताऽइत्यग्नेः प्रियं पाथोऽपीतमितीतरावनुसमस्यति ॥२२॥ अथ जुहूं चोपभृतं च संप्रगृह्णाति। अदो हैवाहुतिं करोति यदनन्त्याहुतिर्भूत्वा देवलोकं गच्छादिति तस्माज्जुहूं चोपभृतं च संप्रगृह्णाति ॥२३॥ स वै विश्वेभ्यो देवेभ्यः संप्रगृह्णाति। यद्वाऽअनादिष्टं देवतायै हविर्गृह्यते सर्वा वै तस्मिन्देवता अपित्विन्यो मन्यन्ते न वाऽएतत्कस्यै चन देवतायै हविर्गृह्णन्नादिशति यदाज्यं तस्माद्विश्वेभ्यो देवेभ्यः संप्रगृह्णात्येतद्वै वैश्वदेवꣳ हविर्यन्नि ॥२४॥ स संप्रगृह्णाति ॥ सꣳस्रवभागा स्थेषा बृहन्त इति सꣳस्रवो ह्येव खलु परिशिष्टो भवति प्रस्तरेष्ठाः परिधेयाश्च देवा इति प्रस्तरश्च हि परिधयश्चानुप्रहृता भवन्तीमां वाचमभि विश्वे गृणन्त इत्येतद्वै वैश्वदेवं करोत्यासद्यास्मिन्बर्हिषि मादयध्वꣳ स्वाहा वाडिति तद्यथा वषट्कृतꣳ हुतमेवमस्यैतद्भवति ॥२५॥ स यस्यानसो हविर्गृह्णन्ति। अनसस्तस्य धुरि विमुञ्चन्ति यतो युनज्ञाम ततो विमुञ्चामिति यतो ह्येव युञ्जन्ति ततो विमुञ्चन्ति यस्यो पात्र्यै स्यो तस्य यतो युनज्ञाम ततो विमुञ्चामिति यतो ह्येवं युञ्जन्ति ततो विमुञ्चन्ति ॥२६॥ युक्तौ ह वाऽएते यज्ञस्य यत्स्रुचौ। तेऽएतद्युङ्क्ते यत्प्रचरति स यं निधायावस्येद्यथा वाहनमवार्छेदेवं तत्तेऽएतत्स्विष्टकृति विमोचनमागच्छतस्ते तत्सादयति तद्विमुञ्चति तेऽएतत्पुनः प्रयुङ्क्तेऽनुयाजेषु सोऽनुयाजैश्चरित्वैतद्विमोचनमागच्छति ते तत्सादयति तद्विमुञ्चति तेऽएतत्पुनः प्रयुङ्क्ते यत्संप्रगृह्णाति तय्यां गतिमभियुङ्क्ते तां गतिं गत्वा विमुञ्चते यज्ञं वाऽअनु प्रजास्तस्मादय पुरुषो युङ्क्तेऽथ विमुञ्चतेऽथ युङ्क्ते तय्यां गतिमभियुङ्क्ते तां गतिं गत्वाततो विमुञ्चते स सादयति घृताची स्थो धुर्यौ पातꣳ

विदा हों।" ये जो परिधियाँ हैं यही देवताओं के होता हैं, क्योंकि (परिधियाँ ही) अग्नि हैं। उन्हीं को विदा करता है। इसलिये कहता है—'स्वगा दैव्या होतृभ्यः।' अब कहता है—"स्वस्तिः मानुषेभ्यः" अर्थात् "मनुष्य के सम्बन्धियों के लिए कल्याण हो।" इसके द्वारा वह आशीष देता है कि मनुष्य होता असफल न हो ॥२१॥

अब वह परिधियों को आग में डालता है। पहले मध्यपरिधि को यह मन्त्र पढ़कर डालता है—"यं परिधिं पर्यधत्थाऽअग्ने देवपणिभिर्गुह्यमानः। तं तऽएतमनु जोषं भराम्येष मेत् त्वदपचेतयाता" (यजु० २।१७)—"हे अग्नि देव! जिस परिधि को तूने अपने चारों ओर रक्खा जब तू पणियों से छिपा हुआ था, मैं उस तुझको तेरी प्रसन्नता के लिए भरता हूँ। यह तेरे प्रतिकूल न हो।" शेष दोनों (परिधियों) को इस मन्त्रांश से डालता है—"अग्नेः प्रियं पाथोऽपीतम्" (यजु० २।१७)—"तुम दोनों अग्नि के प्रिय स्थान को प्राप्त हो" ॥२२॥

अब वह जुहू और उपभृत् को ग्रहण करता है। पहले जो वह (प्रस्तर को) चुपड़ता है तो मानो वह आहुति देता है कि वह आहुति बनकर देवलोक को जा सके। इसीलिए वह जुहू और उपभृत् को साथ-साथ पकड़ता है ॥२३॥

वह विश्वे देवों के लिए उनको ग्रहण करता है। क्योंकि जब कोई हवि ऐसी दी जाती है जिसमें किसी देवता के लिए निर्देश न हो तो उसमें सभी देवता समझते हैं कि हमारा भाग है। जब वह आज्य को लेता है और किसी देवता का निर्देश करके तो हवि को लेता नहीं, इसलिये वह सब देवों के लिए लेता है। इसलिए वह उस हविर्यज्ञ में आज्य को 'वैश्वदेवं' अर्थात् सब देवताओं का बना देता है ॥२४॥

वह उनको इस मन्त्र से ग्रहण करता है—"सँ्स्रवभागा स्थेषा बृहन्तः" (यजु० २।१८) "इषा अर्थात् शक्ति के द्वारा बड़े आप बचा हुआ भाग लेनेवाले होओ।" ('संस्रव' कहते हैं बचे हुए को) अब कहता है—"प्रस्तरेष्ठाः परिधेयाश्च देवाः" (यजु० २।१८) अर्थात् "हे प्रस्तरपर बैठे हुए और परिधिवाले देव।" प्रस्तर और परिधियाँ तो आग में फेंकी जा चुकीं। अब कहता है—"इमां वाचमभि विश्वे गृणन्तः" (यजु० २।१८)—"इस वाणी को आप सब ग्रहण करते हुए।" इससे वह वैश्वदेव (सब देवों वाली) करता है। अब कहता है—"आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वँ् स्वाहा वाट्" (यजु० २।१८)—"इस आसन पर बैठो और स्वाहावाट् को चक्खो।" जैसे वषट्कृत् हवि होता है वैसे ही यह भी है ॥२५॥

गाड़ी से जिसकी हवि लेते हैं उसकी ही गाड़ी की धुरी में (स्रवों को) अलग करते हैं कि जहाँ हम जोड़ें वहीं अलग करें, क्योंकि जहाँ जोड़ा करते हैं वहीं अलग करते हैं (गाड़ी के जिस स्थान पर बैल जोते जाते हैं उसी स्थान पर खोले जाते हैं)। परन्तु पात्र से जिसकी हवि ली जाय उसके लिए स्रुवों को स्फ्या पर रखकर (अलग करें) कि जहाँ जोड़ें वहीं अलग करें। इसलिये जहाँ जोड़ते हैं वहीं अलग करते हैं ॥२६॥

ये जो स्रुच् (चमचे हैं) यही यज्ञ के दो बैल हैं। जब वह चलता है (यज्ञ आरम्भ करता है) तब उनको जोतता है। अब यदि वह इसको रखकर ही अलग कर दे जैसे बैल को (बिना खोले ही) बिठा दें, तो वह गिर पड़ेगा। स्विष्टकृत् में दोनों चमचों का विमोचन होता होता है। अब वह इनको खोलता है अर्थात् विमोचन करता है। वह इनको अनुयाजों में फिर जोतता है। अनुयाजों को करने के पश्चात् फिर इनका विमोचन करता है। वह इनको खोलता है अर्थात् विमोचन करता है। जब वह इनका संप्रगृहण (साथ छूना) करता है तो फिर जोतता है। जिस गति (यात्रा या कार्य) के लिए उनको जोतता है उसी गति के पार करने पर विमोचन करता है। यज्ञ के पीछे ही प्रजा होती है। इसलिए यह पुरुष पहले जोतता है, फिर खोलता है। फिर जोतता है और जिस गति के लिए उसने जोता था वह गति हो जाने के पश्चात् उसको छोड़ देता है। वह इस मन्त्र को पढ़कर रखता है—"घृताची स्थो धुर्यौ पातँ् सुम्ने स्थः सुम्ने मा

सुम्ने स्थः सुम्ने मा धत्तमिति साध्व्यौ स्थः साध्वी मा धत्तमित्येवैतदाह ॥२७॥
ब्राह्मणम् ॥१[८.३.]॥ ॥ अध्यायः ॥८॥ ॥

स यत्राह । इषिता दैव्या होतारो भद्रवाच्याय प्रेषितो मानुषः सूक्तवाकायेति यद्‌तो होतान्वाह सूक्तऽ इव तदाह यजमानायैवैतदाशिषमाशास्ते तद्वाऽ एतदुपरिष्टाद्यज्ञस्याशिषमाशास्ते द्वयं तद्यस्मादुपरिष्टाद्यज्ञस्याशिषमाशास्ते ॥१॥ यज्ञं वाऽ एष जनयति । यो यजतऽ एतेन ह्युक्त्वा ऋत्विजस्तन्वते तं जनयन्त्यथाशिषमाशास्ते तामस्मै यज्ञ आशिषꣳ संनमयति यामाशिषमाशास्ते यो माजीजनतेति तस्माद्वाऽ उपरिष्टाद्यज्ञस्याशिषमाशास्ते ॥२॥ देवान्वाऽ एष प्रीणाति । यो यजतऽ एतेन यज्ञेनऽर्ग्भिरिव यजुर्भिरिव यदाहुतिभिरिव तस्य देवाः प्रीता तेषामपिवी भवति तेषामपिवी भूत्वाथाशिषमाशास्ते तामस्मै देवा आशिषꣳ संनमयन्ति यामाशिषमाशास्ते यो नोऽप्रैषीदिति तस्माद्वाऽ उपरिष्टाद्यज्ञस्याशिषमाशास्ते ॥३॥ अथ प्रतिपद्यते । इदं द्यावापृथिवी भद्रमभूदिति भद्रꣳ ह्यभूद्यो यज्ञस्य संस्थामगन्नार्ध्म सूक्तवाकमुत नमोवाकमित्युभयं वाऽ एतद्यज्ञ एव यत्सूक्तवाकश्च नमोवाकश्चारात्स्म यज्ञमविदाम यज्ञमित्येवैतदाहाग्ने त्वꣳ सूक्तवागस्युपश्रुती दिवस्पृथिव्योरित्यग्निमेवैतदाह त्वꣳ सूक्तवागस्युपश्रृण्वत्योरनयोर्द्यावापृथिव्योरित्योमन्वती तेऽस्मिन्यज्ञे यजमान द्यावापृथिवी स्तामित्यन्नवत्यौ तेऽस्मिन्यज्ञे यजमान द्यावापृथिवी स्तामित्येवैतदाह ॥४॥ शंगवी जीवदानूऽ इति । शंगवी ते जीवदानू स्तामित्येवैतदाहात्रस्नूऽ अप्रवेदेऽ इति माह कस्माच्चन प्रत्रासीर्मा तऽ इदं पुष्टं कश्चन प्रविदतेत्येवैतदाह ॥५॥ उरुगव्यूतीऽ अभयंकृताविति । उरुगव्यूती तेऽभये स्तामित्येवैतदाह वृष्टिद्यावा रीत्यापेति वृष्टिमत्यौ ते स्तामित्येवैतदाह ॥६॥ शम्भुवौ मयोभुवाविति । शम्भुवौ ते मयोभुवौ स्तामित्येवैतदाहोर्जस्वती च पयस्वती चेति रसवत्यौ तऽ उपजीवनीये स्तामित्येवैतदाह ॥७॥ सूपचरणा च स्वधिचरणा

धत्तम् ।"—"आप घी के प्रेमी हैं, धुरियों की रक्षा करो । आप भद्र हैं, मेरे लिये भद्र कीजिये ।" इससे तात्पर्य है कि आप साधु हैं मुझे साधुत्व दीजिये ।।२७।।

अध्याय ६–ब्राह्मण १

अब अध्वर्यु कहता है–"इषिता दैव्या होतारो भद्रवाच्याय प्रेषितो मानुषः सूक्तवाकाय।" अर्थात् "देवों के होता लोग बुलाये गये कल्याण को कहने के लिए और होता सूक्तवाक के लिए" और जब उस पर होता सूक्त कहता है तो वह यजमान के लिए आशीष देता है। वह यज्ञ के पीछे ही आशीष देता है । दो कारण हैं कि वह यज्ञ के पीछे आशीष देता है ।।१।।

जो यज्ञ करता है वह यज्ञ को उत्पन्न करता है। इसी की आज्ञा से ऋत्विज यज्ञ को तानते अर्थात् उत्पन्न करते हैं । अब (होता) आशीष देता है। यह यज्ञ उस आशीष को उसी के लिए मानता है जो आशीष दी जाती है, क्योंकि (यज्ञ समझता है कि) मुझे इसने उत्पन्न किया। इसलिये यज्ञ के अनन्तर ही आशीष दी जाती है ।।२।।

जो यज्ञ करता है वह देवों को अवश्य ही प्रसन्न करता है । इस यज्ञ से देवों को ऋचाओं, यजुओं तथा आहुतियों द्वारा प्रसन्न करके वह देवों का हिस्सेदार हो जाता है । और जब हिस्सेदर हो गया तो होतृ उसके लिए आशीष देता है। इस-उसकी दी हुई आशीष को देवता लोग (यजमान के लिए) मानते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि उसने हमें प्रसन्न किया है। इसलिये भी वह यज्ञ के पश्चात् आशीष देता है ।।३।।

अब वह जपता है—"इदं द्यावा पृथिवी भद्रमभूत्"— "हे द्यौ और पृथिवि ! यह भद्र हो गया ।" जिसने यज्ञ समाप्त कर लिये उसके लिए अवश्य ही कल्याण हो गया । "आर्ध्म सूक्त-वाकमुत नमो वाकम्"–"हमने सूक्तवाक् और नमोवाक् कह दिया", क्योंकि यह सूक्तवाक् और नमोवाक् यज्ञ ही हैं । इसका तात्पर्य है कि हमने यज्ञ को पूरा कर लिया या हमने यज्ञ को प्राप्त कर लिया । अब कहता है–'अग्ने त्वँ सूक्तवागस्युपश्रुति दिवस्पृथिव्योः ।" इसका तात्पर्य है कि –"अग्नि ! तू सूक्तवाक् है और द्यौ तथा पृथिवी उसको सुनते हैं ।" अब कहता है—"ओमन्वती तेऽस्मिन् यज्ञे यजमान द्यावापृथिवी स्ताम्"–"हे यजमान ! इस यज्ञ में द्यौ और पृथिवी तेरे लिए कल्याणकारी होवें ।" इसका तात्पर्य यह है कि "हे यजमान, इस यज्ञ में द्यौ और पृथिवी तेरे लिए अन्नवती (अन्न को देनेवाली) होवें" ।।४।।

अब कहता है—"शंगवी जीवदानू ।" इसका तात्पर्य यह है कि वे दोनों पशुओं के लिए हितकारी और जीवन को बढ़ानेवाले हैं । अब कहा—"अत्रस्नूऽअप्रवेदेन"—"डरनेवाले और समझ में न आनेवाले ।" इसके कहने से तात्पर्य यह है कि तू किसी से न डरे और तेरे इस धन को तुमसे कोई न ले ।।५।।

अब कहा—"उरुगव्यूतीऽअभयङ्कृतौ"—"विशाल घरवाले और अभय पानेवाले ।" इससे तात्पर्य है कि उनके घर विशाल हों और वे भय से मुक्त हों । अब कहा–'वृष्टिद्यावारी-त्यापा' यह इसलिए कहा कि वे दोनों वर्षावाले हों ।।६।।

अब कहा–'शम्भुवौ मयोभुवौ ।' यह इसलिए कहा कि वे दोनों कल्याण करनेवाले और दान देनेवाले हों । अब कहा–'ऊर्ज्जस्वती च पयस्वती च ।' इसके कहने से तात्पर्य यह है कि वे दोनों रसवाले और जीविका देनेवाले हों ।।७।।

अब कहा, 'सूपचरण च स्वधिचरण ।' 'सूपचरण।' इसलिए कहा कि द्यौ जिसको तू नीचे

चेति । सूपचरणाह तेऽसावस्तु यामधस्तादुपचरसि स्वधिचरणौ तेऽइयमस्तु यामुपरिष्टादधिचरसीत्येवैतदाह तयोराविदीति तयोरनुमन्यमानयोरित्येवैतदाह ॥८॥ अग्निरिदꣳ हविः । अजुषतावीवृधत महो ज्यायोऽकृतेति तदाग्नेयमाज्यभागमाह सोम इदꣳ हविरजुषतावीवृधत महो ज्यायोऽकृतेति तत्सौम्यमाज्यभागमाहाग्निरिदꣳ हविरजुषतावीवृधत महो ज्यायोऽकृतेति तद्य एष उभयत्राच्युत आग्नेयः पुरोडाशो भवति तमाह ॥९॥ अथ यथादेवतम् । देवा आज्यपा आज्यमजुषन्तावीवृधन्त महो ज्यायोऽक्रतेति तत्प्रयाजानुयाजानाह प्रयाजानुयाजा वै देवा आज्यपा अग्निर्होत्रेणेदꣳ हविरजुषतावीवृधत महो ज्यायोऽकृतेति तदग्निꣳ होत्रेणाहाजुषतेत्येवं या इष्टा देवता भवन्ति ताः संपश्यत्यसौ हविरजुषतासौ हविरजुषतेति तद्यज्ञस्यैवैतत्समृद्धिमाशास्ते यद्धि देवा हविर्जुषन्ते तेन हि महज्जयति तस्मादाहाजुषतेत्यवीवृधतेति यद्वै देवा हविर्जोषयन्ते तदपि गिरिमात्रं कुर्वते तस्मादाहावीवृधतेति ॥१०॥ महो ज्यायोऽक्रतेति । यज्ञो वै देवानां महस्तꣳ ह्येतज्ज्यायाꣳसमिव कुर्वते तस्मादाह महो ज्यायोऽक्रतेति ॥११॥ अस्यामृधेद्धोत्रायां देवंगमायामिति । अस्याꣳ राध्नोतु होत्रायां देवंगमायामित्येवैतदाहाशास्तेऽयं यजमानोऽसाविति नाम गृह्णाति तदेनं प्रत्यक्षमाशिषा संपादयति ॥१२॥ दीर्घायुत्वमाशास्तेऽइति । सा यामुत्रोत्तरा देवयज्या तदाह प्रत्यक्षं दीर्घायुत्वꣳ ॥१३॥ सुप्रजास्त्वमाशास्तेऽइति । तद्यदमुत्र भूयो हविष्करणं तदाह प्रत्यक्षꣳ सुप्रजास्त्वं प्रशासनꣳ स कुर्याद्य एवं कुर्यादुत्तरां देवयज्यामाशास्तेऽइति त्वेव ब्रूयात्तदेव जीवातुं तत्प्रजां तत्पशून् ॥१४॥ भूयो हविष्करणमाशास्तेऽइति तद्वेव तत्सजातवनस्यामाशास्तेऽइति प्राणा वै सजाताः प्राणैर्हि सह जायते तत्प्राणानाशास्ते ॥१५॥ दिव्यं धामाशास्तेऽइति । देवलोके मेऽप्यसदिति वै यजते यो यजते तद्देवलोकऽएवैनमेतदपिविनं करोति यदनेन हविषाशास्ते तदश्यात्तदृध्यादिति यद-

से छूता है तुझे सुगमता से प्राप्त हो जाय। 'स्वधिचरणा' इसलिये कहा कि यह पृथिवी जिस पर तू रहता है तुझे स्थान दे। अब कहा–"तयोराविदि"—"उन दोनों के ज्ञान से।" इससे तात्पर्य है कि 'उन दोनों की अनुमति से' ॥८॥

अब कहा–"अग्निरिदꣳ हविरजुषतावीवृधत महो ज्यायोऽकृत।"–"अग्नि ने इस हवि को ले लिया। वह बढ़ गया। वह बड़ा हो गया।" इससे अग्नि के याज्य की ओर संकेत है। अब कहा –"सोम इदꣳ हविरजुषतावीवृधत महो ज्यायोऽकृत।"–"सोम ने इस हवि को ले लिया। वह बढ़ गया। वह बड़ा हो गया।" इससे सोम के आज्य की ओर संकेत है। अब कहा—"अग्निरिदꣳ हविरजुषतावीवृधत महो ज्यायोऽकृत।"–"अग्नि ने यह हवि ले ली। वह बढ़ गया। वह बड़ा हो गया।" इससे अग्नि के पुरोडाश से तात्पर्य है जो दर्श और पूर्णमास दोनों यज्ञों में अवश्य ही दिया जाता है ॥९॥

इसी प्रकार अन्य देवों के लिए। "देवा आज्यपा आज्यमजुषन्तावीवृधन्त महो ज्यायोऽकृत।"—"आज्य या घी को पीनेवाले देवों ने आज्य को ले लिया। वे बढ़ गये। वे बड़े हो गये।" यहाँ प्रयाज और अनुयाजों से तात्पर्य है क्योंकि प्रयाज और अनुयाज ही आज्य पान करनेवाले देव हैं। अब कहा—"अग्निर्होत्रेणेदꣳ हविरजुषतावीवृधत महो ज्यायोऽकृत।"–"होत्र अग्नि ने इस हवि को लिया। वह बढ़ गया। वह बड़ा हो गया।" यहाँ 'होत्र अग्नि' के लिए कहा। 'जुषता' अर्थात् स्वीकार कर लिया। ऐसा कहकर वह जो देवता इष्ट होते हैं उनको गिनाता है कि इस देव ने हवि स्वीकार की। इस प्रकार यज्ञ की समृद्धि को चाहता है, क्योंकि जो कुछ हवि देवता स्वीकार करते हैं उसी से उसको बड़ी चीजों की प्राप्ति होती है। इसलिए कहा कि 'स्वीकार किया'। 'बढ़ गये' इसलिए कहा कि जब देव हवि स्वीकार करते हैं तो पहाड़-से बढ़ जाते हैं। इसलिये कहता है—'बढ़ गये'।

'बड़े हो गये' इसलिए कहा कि यज्ञ ही देवों का बड़ापन है। इसी को वे बड़ा करते हैं। इसलिए कहा 'बड़े हो गये' ॥११॥

अब कहा—"अस्यामृधेद्धोत्रायां देवङ्गमायाम्।"–"इस देवों के पास जानेवाले होत्र में वृद्धि को प्राप्त हो।" उसके कहने से तात्पर्य यह है कि इस देवों के पास जानेवाले होत्र में फूले-फले। अब कहा–"आशास्तेऽयं यजमानोऽसौ।"–"यह यजमान प्रार्थना करता है।" यहाँ ('असौ' के स्थान में) यजमान का नाम लेता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से उसके लिए आशीर्वाद का सम्पादन करता है ॥१२॥

अब कहा—"दीर्घायुत्वमाशास्ते।"—"बड़े जीवन के लिए प्रार्थना करता है।" जिसको पहले (इडा में) 'देवयज्या' कहा उसी को यहाँ 'दीर्घायु' कहता है ॥१३॥

अब कहा—"सुप्रजास्त्वमाशास्ते।"–"अच्छी सन्तान के लिए प्रार्थना करता है।" वहाँ पहले 'भूयो हविष्करण' कहा, यहाँ उसी को 'सुप्रजास्त्वं' कहा। जो इस प्रकार करेगा उसे शासन प्राप्त होगा। उसको कहना चाहिए—"देवयज्यामाशास्ते।"–"देवयज्या के लिए प्रार्थना करता है।" इससे दीर्घायु, प्रजा और पशु की प्राप्ति होगी ॥१४॥

अब कहा—"भूयो हविष्करणमाशास्ते।"—"बहुत हविष्करण की प्रार्थना करता है।" इससे उसी की प्रार्थना करता है। अब कहा—"सजातवनस्यामाशास्ते।"—"अपने साथियों के लिए प्रार्थना करता है।" प्राण ही 'सजाता' हैं क्योंकि ये साथ उत्पन्न होते हैं। इसलिए प्राणों के लिए प्रार्थना करता है ॥१५॥

अब कहा—"दिव्यं धामाशास्ते।"–"दिव्य धाम की प्रार्थना करता है।" जो यज्ञ करता है वह इसलिए करता है कि देवलोक में भी मेरे लिए धाम मिले। इस प्रकार वह देवलोक में भी हिस्सेदार करता है। अब कहता है—"यदनेन हविषाशास्ते तदश्यात् तदृध्यात्।" अर्थात् "इस

नेन हविषाशास्ते तदस्मै सर्वꣳ समृध्यतामित्येवैतदाह ॥१६॥ ता वाऽएताः । पञ्चाशिषः करोति तिस्र इडायां ता अष्टावष्टाक्षरा वै गायत्री वीर्यं गायत्री वीर्यमेवैतदाशिषोऽभिसंपादयति ॥१७॥ नातो भूयसीः कुर्यात् । अतिरिक्तꣳ ह कुर्याद्यदतो भूयसीः कुर्याद्यद्वै यज्ञस्यातिरिक्तं द्विषन्तꣳ हास्य तद्भ्रातृव्यमभ्यतिरिच्यते तस्मान्नातो भूयसीः कुर्यात् ॥१८॥ अपीद्धि कनीयसीः सप्त । तदस्मै देवा रासन्तामिति तदस्मै देवा अनुमन्यन्तामित्येवैतदाह तदग्निर्देवो देवेभ्यो वनुतां वयमग्नेः परि मानुषा इति तदग्निर्देवो देवेभ्यो वनुतां वयमग्नेरध्यस्माऽएतद्वनवामहाऽइत्येवैतदाह ॥१९॥ इष्टं च वित्तं चेति । ऐषिषुरिव वाऽएतद्यज्ञं तमविदंस्तस्मादाहेष्टं च वित्तं चेत्युभे चैनं द्यावापृथिवीऽअꣳहसस्पातामित्युभे चैनं द्यावापृथिवीऽआर्त्तेर्गोपायतामित्येवैतदाह ॥२०॥ तद्ध हैकऽआहुः । उभे च मेति तथा होताशिष आत्मानं नान्तरेतीति तद्ध तथा न ब्रूयाद्यजमानस्य वै यज्ञऽआशीः किं नु तत्रऽर्त्विजां यां वै कां च यज्ञऽऋत्विज आशिषमाशासते यजमानस्यैव सा न ह स एतां क्व चनाशिषं प्रतिष्ठापयति य आहोभे च मेति तस्माद्ध ब्रूयादुभे चैनमित्येव ॥२१॥ इह गतिर्वामस्येति । तद्यदेव यज्ञस्य साधु तदेवास्मिन्नेतद्दधाति तस्मादाहेह गतिर्वामस्येति ॥२२॥ इदं च नमो देवेभ्य इति तद्यज्ञस्यैवैतत्सꣳस्थां गत्वा नमो देवेभ्यः करोति तस्मादाहेदं च नमो देवेभ्य इति ॥२३॥ अथ शम्योराह । शम्युर्ह वै बार्हस्पत्योऽञ्जसा यज्ञस्य सꣳस्थां विदां चकार स देवलोकमपीयाय तत्तदन्तर्हितमिव मनुष्येभ्य आस ॥२४॥ तद्वाऽऋषीणामनुश्रुतमास । शम्युर्ह वै बार्हस्पत्योऽञ्जसा यज्ञस्य सꣳस्थां विदां चकार स देवलोकमपीयायेति ते तामिव यज्ञस्य सꣳस्थामुपायन्याꣳ शम्युर्बार्हस्पत्योऽवेद्यच्छम्योरब्रुवंस्ताम्वेवैष एतद्यज्ञस्य सꣳस्थामुपैति याꣳ शम्युर्बार्हस्पत्योऽवेद्यच्छम्योराह तस्माद्धि शम्योराह ॥२५॥ स प्रतिपद्यते । तच्छम्योरावृणीमहऽइति तां यज्ञस्य सꣳस्थामावृ-

हवि से जो प्रार्थना करे वह सब प्राप्त हो जाय" ।।१६।।

ये पाँच आशीषें देता है। तीन इडा में हुईं। इस प्रकार आठ हुईं। गायत्री में आठ अक्षर होते हैं। गायत्री वीर्य है। इसलिए वीर्य का सम्पादन करता है ।।१७।।

इनसे अधिक (आशीष) न दे। यदि इनसे अधिक दे तो सीमा से बाहर जाय, और यज्ञ में जो सीमा से बाहर जाता है वह दुष्ट शत्रु के लिए होता है। इसलिए सीमा से बाहर न जाय ।।१८।।

इनसे कम कर सकता है जैसे सात। 'तदस्मै देवा रासन्ताम् ।' ऐसा कहने से अर्थ यह है कि 'उसके लिए देव इस पदार्थ को दें।' 'तदग्निर्देवो देवेभ्यो वनुतां वयमग्नेः परिमानुषा।' इसका अर्थ है कि 'अग्निदेव देवों से लेवे और हम तब इस (यजमान) के लिए इसे ले लेवें' ।।१९।।

'इष्टं च वित्तं च ।'—'चाहा और प्राप्त किया।' उन्होंने यज्ञ को चाहा और प्राप्त किया। इसलिए कहा 'इष्टं च वित्तं च।' अब कहा—"उभे चैनं द्यावापृथिवीऽअँहसस्पाताम् ।" अर्थात् 'द्यौ और पृथिवी दोनों इसको पाप से बचावें' ।।२०।।

कुछ लोग कहते हैं 'उभे च मा'–'दोनों मुझको भी।' अर्थात् होता आशीष में अपने को भी शामिल कर लेता है। लेकिन ऐसा न कहना चाहिए, क्योंकि यज्ञ में आशीष तो यजमान के लिए है (उसमें ऋत्विजों से क्या प्रयोजन ?)। यज्ञ में ऋत्विज लोग जो कुछ आशीष देते हैं वह सब यजमान के लिए ही होती है। इसके अतिरिक्त जो कोई कहे 'मुझको भी', वह आशीर्वाद को कहीं भी स्थापित नहीं करता, इसलिए कहना चाहिए कि 'ये दोनों उसको बचावें' ।।२१।।

अब कहता है—"इह गतिर्वामस्य।"—"यह वाम (इष्ट पदार्थ) की गति है।" यज्ञ में जो कुछ अच्छा है उसको वह इस प्रकार यजमान के लिए दे देता है। इसलिए कहा 'यह वाम की गति है' ।।२२।।

अब कहा—"इदं च नमो देवेभ्यः ।"—"यह देवों के लिए नमस्कार हो।" यज्ञ समाप्त होने पर देवों को नमस्कार करता है, इसलिए कहता है 'यह देवों के लिए नमस्कार हो' ।।२३।।

अब कहता है—"शंयोः"—"कल्याण हो।" बृहस्पति के पुत्र शंयु ने यज्ञ की संस्था को पहले जाना। वह देवलोक को भाग लेने चला गया। उस पर वह ज्ञान मनुष्यों से लोप हो गया ।।२४।।

अब ऋषियों को पता लगा कि बृहस्पति का पुत्र शंयु यज्ञ की संस्था को जानकर देवलोक में भाग लेने चला। 'शंयोः' का उच्चारण करके उन (ऋषियों) ने भी यज्ञ की उस संस्था को जान लिया जिसे बृहस्पति के पुत्र शंयु ने जाना था। यह (होता) भी शंयोः के उच्चारण से यज्ञ की उस संस्था को समझ लेता है जिसे बृहस्पति के पुत्र शंयु ने जाना था। इसलिए वह कहता है 'शंयोः' ।।२५।।

अब कहता है—"तच्छंयोरावृणीमहे।"–"उस शंयोः को हम धारण करें।" अर्थात् हम

णीमहे याᳬ शम्युर्बार्हस्पत्यो॑ऽवेदित्येवैतदाह ॥२६॥ गातुं यज्ञाय गातुं यज्ञपतय ऽइति । गातुᳬ ह्येष यज्ञायेच्छति गातुं यज्ञपतये यो यज्ञस्य सᳬस्थां देवी स्वस्ति-रस्तु नः स्वस्तिर्मानुषेभ्य इति स्वस्ति नो देवत्रास्तु स्वस्ति मनुष्यत्रेत्येवैतदा-होर्ध्वं जिगातु भेषजमित्यूर्ध्वं नोऽयं यज्ञो देवलोकं जयत्वित्येवैतदाह ॥२७॥ शं नोऽअस्तु द्विपदे शं चतुष्पदऽइति । एतावद्वाऽइदᳬ सर्वं यावद्द्विपाच्चैव चतुष्पा-च्च तस्माऽएवैतद्यज्ञस्य सᳬस्थां गत्वा शं करोति तस्मादाह शं नोऽअस्तु द्विपदे शं चतुष्पदऽइति ॥२८॥ अथानयेत्युपस्पृशति । अमानुष-इव वाऽएतद्भवति य-दार्त्विज्ये प्रवृत इयं वै पृथिवी प्रतिष्ठा तदस्यामेवैतत्प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठति तदु खलु पुनर्मानुषो भवति तस्मादनयेत्युपस्पृशति ॥२९॥ ब्राह्मणम् ॥२[१.१.]॥ ॥

ते वै पत्नीः संयाजयिष्यन्तः प्रतिपरायन्ति । जुहूं च स्रुवं चाध्वर्युरादत्ते वेदᳬ होताज्यविलापनीमग्नीत् ॥१॥ तद्धैकेषामध्वर्युः । पूर्वेणाहवनीयं पर्येति तदु त-था न कुर्याद्बहिर्धा ह यज्ञात्स्याद्यत्तेनेयात् ॥२॥ जघनेनो हैव पत्नीम् । एकेषाम-ध्वर्युरेति नोऽएव तथा कुर्यात्पूर्वार्धो वै यज्ञस्याध्वर्युर्जघनार्धः पत्नी यथा भसत्तः शिरः प्रतिदध्यादेवं तद्बहिर्धा हैव यज्ञात्स्याद्यत्तेनेयात् ॥३॥ अन्तरेणो हैव प-त्नीम् । एकेषामध्वर्युरेति नोऽएव तथा कुर्यादन्तरियाद्ध यज्ञात्पत्नीं यत्तेनेयात्तस्मा-दु पूर्वेणैव गार्हपत्यमन्तरेणाहवनीयं चेति तथा ह न बहिर्धा यज्ञाद्भवति यथो ऽएवादः प्रचरन्नन्तरेण संचरति स उऽएवास्यैष संचरो भवति ॥४॥ अथ पत्नीः संयाजयन्ति । यज्ञाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते यज्ञात्प्रजायमाना मिथुनात्प्रजायन्ते मिथुनात्प्र-जायमाना अन्ततो यज्ञस्य प्रजायन्ते तदेना एतदन्ततो यज्ञस्य मिथुनात्प्रजननात्प्र-जनयति तस्मान्मिथुनात्प्रजननादन्ततो यज्ञस्येमाः प्रजाः प्रजायन्ते तस्मात्पत्नीः सं-याजयन्ति ॥५॥ चतस्रो देवता यजति । चतस्रो वै मिथुनं द्वन्द्वं वै मिथुनं द्वे-द्वे हि खलु भवतो मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते तस्माच्चतस्रो देवता यजति ॥६॥

उस संस्था को धारण करें जो बृहस्पति के पुत्र शंयु ने धारण की थी ॥२६॥

अब कहता है—"गातुं यज्ञाय गातुं यज्ञपतये।"—"यज्ञ के लिए जय, यज्ञपति के लिए जय।" जो यज्ञ की संस्था को चाहता है वह यज्ञ के लिए और यज्ञपति के लिए जय चाहता है। "स्वस्तिरस्तु नः स्वस्तिर्मानुषेभ्यः।"—"स्वस्ति हमारे लिए, स्वस्ति मनुष्यों के लिए।" इसका तात्पर्य है कि देवों में हमको स्वस्ति हो और मनुष्यों में स्वस्ति हो। "ऊर्ध्वं जिगातु भेषजम्।"—"भेषज या मुक्ति का साधन ऊपर जावे।" इससे तात्पर्य है कि हमारा यज्ञ देवलोक को जीते ॥२७॥

अब कहता है—"शं नोऽस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे।" अर्थात् "हमारे दुपायों और चौपायों के लिए कल्याण हो।" ये दुपाये और चौपाये ही सब संसार हैं। यज्ञ को समाप्त करके वह यजमान के लिए कल्याण माँगता है, इसलिए कहता है कि 'हमारे दुपायों और चौपायों के लिए कल्याण हो' ॥२८॥

अब उस (अँगुली) से (पृथिवी को) छूता है। जब उसका ऋत्विज के कर्म के लिए वरण होता है तो वह अमानुष (मनुष्यों से ऊपर) हो जाता है। यह पृथिवी ही प्रतिष्ठा (सुरक्षित स्थान) है, इसलिए यहीं अच्छी तरह खड़ा होता है। और वह फिर (यज्ञ करने के बाद) मनुष्य हो जाता है। इसीलिए इस अँगुली से पृथिवी को छूता है ॥२९॥

अध्याय ६—ब्राह्मण २

वे पत्नी-संयाज करने के लिए (गार्हपत्य अग्नि के पास) लौटते हैं। अध्वर्यु जुहू और स्रुवा को लेता है, होता वेद (कुशों का गुच्छ) और आग्नीध्र आज्य-विलापनी (घी पिघलाने की कटोरी) को ॥१॥

यहाँ कुछ लोगों के मतानुसार अध्वर्यु आहवनीय के पूर्व की ओर जाता है। परन्तु ऐसा नहीं करना चाहिए, क्योंकि यदि वह वहाँ जायगा तो यज्ञ के बाहर हो जायगा ॥२॥

कुछ के मत में अध्वर्यु (यजमान की) पत्नी के पीछे-पीछे चलता है। उसको ऐसा भी न करना चाहिए, क्योंकि अध्वर्यु यज्ञ का पूर्वार्द्ध है और पत्नी यज्ञ का पिछला आधा। यदि ऐसा करेगा तो मानो वह अपने शिर को पीछे फेर ले और (अध्वर्यु) यज्ञ से बहिष्कृत हो जायगा ॥३॥

कुछ के मत में अध्वर्यु पत्नी और गार्हपत्य के बीच में चलता है। परन्तु उसको ऐसा भी न करना चाहिए, क्योंकि यदि वह ऐसा करेगा तो यज्ञ से पत्नी को अलग कर देगा। इसलिए गार्हपत्य के पूर्व को और आहवनीय के भीतर को जाता है। इस प्रकार वह यज्ञ के बाहर नहीं होता, और चूँकि पहले (आहवनीय तक जाते हुए) वह भीतर की ओर होकर गया था, वैसा ही अब भी करना चाहिए ॥४॥

अब पत्नी-संयाज करते हैं। यज्ञ से निश्चय ही सन्तान उत्पन्न होती है और यज्ञ से जो होती है, जोड़े से उत्पन्न होती है। जोड़े से जो उत्पन्न होती है वह यज्ञ के अन्त में उत्पन्न होती है। इसलिए यज्ञ की समाप्ति पर जोड़े से प्रजा उत्पन्न की जाती है। इसलिए पत्नी-संयाज किया जाता है ॥५॥

चार देवताओं के लिए यज्ञ करता है। चार जोड़ा है। दो का जोड़ा होता है। दो-दो मिलकर चार होते हैं। इससे उत्पन्न करनेवाला जोड़ा हो गया। इसलिए चार देवताओं के लिए यज्ञ करता है ॥६॥

ता वाऽआज्यहविषो भवन्ति । रेतो वाऽआज्यꣳ रेत एवैतत्सिञ्चति तस्मादाज्यहविषो भवन्ति ॥७॥ तेनोपाꣳशु चरन्ति । तिर-इव वै मिथुनेन चर्यते तिर-इवैतद्यदुपाꣳशु तस्मादुपाꣳशु चरन्ति ॥८॥ अथ सोमं यजति । रेतो वै सोमो रेत एवैतत्सिञ्चति तस्मात्सोमं यजति ॥९॥ अथ त्वष्टारं यजति । त्वष्टा वै सिक्तꣳ रेतो विकरोति तस्मात्त्वष्टारं यजति ॥१०॥ अथ देवानां पत्नीर्यजति । पत्नीषु वै योनौ रेतः प्रतिष्ठितं ततः प्रजायते तत्पत्नीष्वेवैतद्योनौ रेतः सिक्तं प्रतिष्ठापयति ततः प्रजायते तस्माद्देवानां पत्नीर्यजति ॥११॥ स यत्र देवानां पत्नीर्यजति । तत्पुरस्तात्तिरः करोत्युप ह वै तावद्देवता आसते यावन्न समिष्टयजुर्जुह्वतीदं नु नो जुह्वतीति ताभ्य एवैतत्तिरः करोति तस्मादिमा मानुष्यः स्त्रियस्तिर-इवैव पुꣳसो जिघत्सन्ति या-इव तु ता-इवेति ह स्माह याज्ञवल्क्यः ॥१२॥ अथाग्निं गृहपतिं यजति । अयं वाऽअग्निर्लोक इममेवैतल्लोकमिमाः प्रजा अभिप्रजनयति ता इमं लोकमिमाः प्रजा अभिप्रजायन्ते तस्मादग्निं गृहपतिं यजति ॥१३॥ तदिडान्तं भवति । न ह्यत्र परिधयो भवन्ति न प्रस्तरो यत्र वाऽअदः प्रस्तरेण यजमानꣳ स्वगाकरोति पतिं वाऽअनु जाया तद्वास्यापि पत्नी स्वगाकृता भवतीयसि तꣳ ह कुर्याद्यत्प्रस्तरस्य रूपं कुर्यात्तस्मादिडान्तमेव स्यादुतो प्रस्तरस्यैव रूपं क्रियते ॥१४॥ स यदि प्रस्तरस्य रूपं कुर्यात् । यथैवादः प्रस्तरेण यजमानꣳ स्वगाकरोत्येवमेवैतत्पत्नीꣳ स्वगाकरोति ॥१५॥ स यदि प्रस्तरस्य रूपं कुर्यात् । वेदस्यैकं तृणमाच्छिद्याग्रं जुह्वामनक्ति मध्यꣳ स्रुवे बुध्नꣳ स्थाल्याम् ॥१६॥ अथाग्नीदाहानुप्रहरेति । तूष्णीमेवानुप्रहृत्य चक्षुष्पा अग्नेऽसि चक्षुर्मे पाहीत्यात्मानमुपस्पृशति तनोऽअप्यात्मानं नानुप्रवृणक्ति ॥१७॥ अथाह संवदस्वेति । अगानग्नीदगञ्छ्रावय श्रौषट् स्वगा दैव्या होतृभ्यः स्वस्तिर्मानुषेभ्यः शम्योर्ब्रूहीति ॥१८॥ अथ जुहूं च स्रुवं च संप्रगृह्णाति । अदो हैवाहुतिं करोति यदनक्त्याहुतिर्भूत्वा देवलोकं गच्छा-

वे हवियाँ घी की होती हैं। घी ही वीर्य है। इस प्रकार वीर्य सींचता है, इसलिए घी की आहुति देता है ॥७॥

इसको ये धीमी आवाज से करते हैं। समागम छिपकर किया जाता है। और जो धीमी आवाज से किया जाय वह भी छिपकर करने के बराबर है, इसलिए इसको धीरे-धीरे करते हैं ॥८॥

पहले सोम को आहुति देता है। सोम वीर्य है। वीर्य को सींचता है। इस कारण ही सोम को आहुति देता है ॥९॥

अब त्वष्टा को आहुति देता है। त्वष्टा ही सींचे हुए वीर्य को विकृत करता है। इसलिए त्वष्टा के लिए आहुति देता है ॥१०॥

अब देवों की पत्नियों को आहुति देता है। पत्नियों की योनियों में वीर्य स्थापित होता है। उसी से सन्तान होती है। इस कृत्य द्वारा वह पत्नियों की योनि में वीर्य स्थापित करता है और वहाँ से उत्पत्ति होती है। इसलिए वह देव-पत्नियों के लिए आहुति देता है ॥११॥

जब वह देव-पत्नियों के लिए आहुति देता है तो (अग्नि को) पूर्व की ओर छिपा लेता है, क्योंकि देव उस समय तक ठहरे रहते हैं जब तक समिष्टयजु की आहुतियाँ पूरी न हो जायें, क्योंकि वे समझते हैं कि हमारे लिए आहुतियाँ दी जाएँगी। उन्हीं से इसको छिपा लेता है। इसीलिए याज्ञवल्क्य की सम्मति है कि स्त्रियाँ जब खाती हैं तो पुरुषों से अलग खाती हैं ॥१२॥

अब अग्नि के लिए जो गृहपति है, आहुति देता है। अग्नि ही यह लोक है। इसी लोक के लिए सन्तान उत्पन्न होती है। इसलिए गृहपति-रूपी अग्नि के लिए आहुति देता है ॥१३॥

अन्त में इडा होती है। न तो यहाँ परिधियाँ रहती हैं न प्रस्तर। जैसे पहले प्रस्तर की आहुति से यजमान को विदा किया था, इसी के साथ उसकी पत्नी भी विदा हुई क्योंकि पत्नी पति के पीछे चलती है। यदि प्रस्तर का रूप (स्थानापन्न) कुछ और करे तो पत्नी के लिए आलस्य का दोष लगे। इसलिए अन्त में इडा होती है। परन्तु प्रस्तर का स्थानापन्न भी होता है ॥१४॥

यदि वह प्रस्तर का रूप या स्थानापन्न करे तो जैसे पहले प्रस्तर द्वारा यजमान को विदाई दी, इसी प्रकार उसकी पत्नी को विदाई देता है ॥१५॥

यदि वह प्रस्तर का स्थानापन्न चुने तो वेद (कुशों का गुच्छा) का एक तृण लेकर अगला भाग जुहू में डुबोता है, बीच का स्रुवा में, अन्त का थाली में ॥१६॥

अब आग्नीध्र कहता है 'अनुप्रहर'—'इसे पीछे फेंक दो।' (अध्वर्यु) उसे चुपके से फेंक-कर नीचे का मन्त्र पढ़कर अपने को छूता है—"चक्षुष्पा अग्नेऽसि चक्षुर्मे पाहि" (यजु० २।१६)। "हे अग्ने, तू आँखों की रक्षा करनेवाला है। मेरी आँखों की रक्षा कर।" इस प्रकार वह अपने को आग में फेंकने से बचाता है ॥१७॥

अब (आग्नीध्र अध्वर्यु से) कहता है—'संवदस्व'—'संवाद कर।' अध्वर्यु—'हे अग्नीध, वह गया?' अग्नीध—'हाँ गया।' अध्वर्यु—'श्रावय' (देवों को सुना)। अग्नीध—'श्रौषट्' (वे सुनें)। अध्वर्यु—'देवताओं के होताओं के लिए विदाई हो।' मनुष्य—'होताओं के लिए स्वस्ति।' अग्नीध—'शंयो कहो।' [टिप्पणी—यह संवाद है] ॥१८॥

अब जुहू और स्रुवा को साथ उठाता है। पहले (प्रस्तर को) सिंचन करके यजमान के लिए आहुति दी थी कि वह आहुति बनकर देवलोक को जावे। इसलिए वह जुहू और स्रुवा को

दिति तस्माज्जुहूं च स्रुवं च संप्रगृह्णाति ॥१९॥ स वाऽअग्नये संप्रगृह्णाति । अग्ने
ऽदब्धायोऽशीतमेत्यमृतो ह्यग्निस्तस्मादाहादब्धायवित्यशीतमेत्यशिष्ठो ह्यग्निस्त-
स्मादाहाशीतमेति पाहि मा दिद्योः पाहि प्रसित्यै पाहि दुरिष्ट्यै पाहि दुरद्मन्या
ऽइति सर्वाभ्यो मार्त्तिभ्यो गोपायेत्येवैतदाहाविषं नः पितुं कृणुवित्यन्नं वै पितुर-
नमीवं न इदमकिल्बिषमन्नं कुर्वित्येवैतदाह सुषदा योनावित्यात्मन्येतदाह स्वा-
हा वाडिति तद्यथा वषट्कृतꣳ हुतमेवमस्यैतद्भवति ॥२०॥ अथ वेदं पत्नी वि-
स्रꣳसयति । योषा वै वेदिर्वृषा वेदो मिथुनाय वै वेदः क्रियतेऽथ यदेनेन यज्ञ
ऽउपालभते मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते ॥२१॥ अथ यत्पत्नी विस्रꣳसयति । यो-
षा वै पत्नी वृषा वेदो मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते तस्मादिदं पत्नी विस्रꣳसयति
॥२२॥ सा विस्रꣳसयति । वेदोऽसि येन त्वं देव वेद देवेभ्यो वेदोऽभवस्तेन म-
ह्यं वेदो भूया इति यदि यजुषा चिकीर्षेदेतेनैव कुर्यात् ॥२३॥ तमा वेदेः सꣳ-
स्तृणाति । योषा वै वेदिर्वृषा वेदः पश्चाद्वै परीत्य वृषा योषामधिद्रवति पश्चादे-
वैनामेतत्परीत्य वृष्णा वेदेनाधिद्रावयति तस्माद्वा वेदेः सꣳस्तृणाति ॥२४॥ अथ
समिष्टयजुर्जुहोति । प्राग्मे यज्ञोऽनुसंतिष्ठाताऽइत्यथ यदुत्म समिष्टयजुः पत्नीः सं-
याजयेत्प्रत्यङ्ह्व हैवास्यैष यज्ञः संतिष्ठेत तस्माद्वाऽएतर्हि समिष्टयजुर्जुहोति प्राङ्मे
यज्ञोऽनुसंतिष्ठाताऽइति ॥२५॥ अथ यस्मात्समिष्टयजुर्नाम । या वाऽएतेन यज्ञेन
देवता ह्वयति याभ्य एष यज्ञस्तायते सर्वा वै तास्ताः समिष्टा भवन्ति तद्यत्तासु
सर्वासु समिष्टास्वथैतज्जुहोति तस्मात्समिष्टयजुर्नाम ॥२६॥ अथ यस्मात्समिष्टयजु-
र्जुहोति । या वाऽएतेन यज्ञेन देवता ह्वयति याभ्य एष यज्ञस्तायतऽउप ह वै
ता आसते यावन्न समिष्टयजुर्जुह्वतीदं नु नो जुह्वत्विति ता एवैतद्यथायथं व्यव-
सृजति यत्र-यत्रासां चरणं तदनु यज्ञं वाऽएतदजीजनत यदेनमतत तं जनयित्वा य-
त्रास्य प्रतिष्ठा तत्प्रतिष्ठापयति तस्मात्समिष्टयजुर्जुहोति ॥२७॥ स जुहोति । देवा

लेता है ॥१६॥

वह उनको अग्नि के लिए उठाता है (यह मन्त्र पढ़कर) "अग्नेऽदब्धायोऽशीतम" (यजु० २।२०) —"हे शक्तिवाले और दूर जानेवाले अग्नि।" चूंकि अग्नि 'अमर' है इसलिए कहा— 'अदब्धायो।' अग्नि बहुत दूर पहुँचता है, (अशिष्ट है) इसलिए 'अशीतम' कहा। अब कहता है– "पाहि मा दिद्योः पाहि प्रसित्यै पाहि दुरिष्ट्यै पाहि दुरद्मन्या।"—"बचा मुझको वज्र से, बचा मुझको बन्धनों से, बचा मुझे दूषित यज्ञ से और बचा मुझे बुरे अन्न से।" इसका तात्पर्य यह है कि हर प्रकार की बुराइयों से बचा। अब कहता है—"अविषन् नः पितुं कृणु" (यजु० २।२०)– "हमारे अन्न को विषरहित कर" (पितु नाम है अन्न का)। इससे तात्पर्य है कि हमारे अन्न को सर्वथा विषरहित कर। अब कहता है–"सुषदा योनौ" (यजु०२।२०)–"सुख देनेवाली गोद में।" इसका तात्पर्य है तुझमें। (फिर कहा) 'स्वाहावाट्' (यजु० २।२०)। चूंकि वषट्कार किया, इसलिए यह ऐसा ही हो गया ॥२०॥

अब पत्नी वेद (कुशों के गुच्छों को) खोलती है। वेदि स्त्री है, वेद पुरुष है। वेद जोड़े के के लिए बनाया जाता है और इसलिए जब यज्ञ में वह वेदि को (वेद से) छूता है तो सन्तान उत्पन्न करनेवाली सन्धि हो जाती है ॥२१॥

पत्नी वेद को इसलिए खोलती है कि—पत्नी स्त्री है, वेद पुरुष है। इस प्रकार सन्तान उत्पन्न करनेवाली सन्धि हो जाती है। इसलिए पत्नी वेद को खोलती है ॥२२॥

यदि वह यजु० का मन्त्र पढ़कर खोलना चाहे तो इस यजु०को पढ़कर खोले—"वेदोऽसि येन त्वं देव वेद देवेभ्यो वेदोऽभवस्तेन मह्यं वेदो भूयाः" (यजु २।२१)—"तू वेद है हे देव, वेद तू देवों के लिए वेद हो गया। मेरे लिए वेद हो" ॥२३॥

(होता) उसको वेदि तक फैलाता है, क्योंकि वेदि स्त्री है और वेद पुरुष है, पुरुष स्त्री के पास पीछे से जाता है। इसलिए यह पीछे से अर्थात् पश्चिम से पुरुष-वेद को स्त्री-वेदि तक ले जाता है। इसलिए वह वेदि तक फैलाता है ॥२४॥

अब समिष्ट-यजु की आहुति देता है जिससे 'मेरा यज्ञ पूर्व में समाप्त हो जाय।' यदि वह समिष्ट-यजु पहले करता और पत्नी-संयाज पीछे, तो उसका यज्ञ पश्चिम में समाप्त होता। इसलिए वह समिष्ट-यजु की आहुतियाँ इस समय देता है कि मेरा यज्ञ पूर्व में समाप्त हो ॥२५॥

अब इसका समिष्ट-यजुः नाम क्यों पड़ा? जो देवता यज्ञ में बुलाये जाते हैं और जिन देवों के लिए यह यज्ञ किया जाता है, वे सब समिष्ट होते हैं (सम्+इष्टा) चाहे हुए या बुलाये हुए। उन सब समिष्टों में जो आहुति दी जाती है उसका नाम है समिष्ट-यजुः। (यजुः का अर्थ है आहुति) ॥२६॥

अब समिष्ट-यजुः क्यों किया जाता है? जिन देवताओं को वह इस यज्ञ द्वारा बुलाता है और जिन देवताओं के लिए यह यज्ञ किया जाता है, वे देवता ठहरे रहते हैं, जब तक कि समिष्ट-यजुः न हो, यह सोचते हुए कि हमारे लिए यह आहुतियाँ देगा। उन्हीं देवताओं का वह यथाविधि विसर्जन कर देता है; और जिस विधि के अनुसार उसने यज्ञ को उत्पन्न किया और फैलाया, उसी को उत्पन्न करके उसको प्रतिष्ठा में स्थापित करता है। इसलिए वह समिष्ट-यजुः की आहुति देता है ॥२७॥

वह यह मन्त्रांश पढ़कर आहुति देता है —"देवा गातुविदः" (यजु० २।२१)—"मार्ग

गातुविद इति गातुविदो हि देवा गातुं वित्त्वेति यज्ञं वित्त्वेत्येवैतदाह गातुमिते-
ति तदेतेन यथायथं व्यवसृजति मनसस्पतऽइमं देव यज्ञꣳ स्वाहा वाते धाऽइत्य-
यं वै यज्ञो योऽयं पवते तदिमं यज्ञꣳ सम्भृत्यैतस्मिन्यज्ञे प्रतिष्ठापयति यज्ञेन यज्ञꣳ
संदधाति तस्मादाह स्वाहा वाते धा इति ॥२८॥ अथ बर्हिर्जुहोति । अयं वै
लोको बर्हिरोषधयो बर्हिरस्मिन्नेवैतल्लोकऽओषधीर्दधाति ता इमा अस्मिँल्लोक
ऽओषधयः प्रतिष्ठितास्तस्माद्बर्हिर्जुहोति ॥२९॥ तां वाऽअतिरिक्तां जुहोति । स-
मिष्टयजुर्ह्येवान्तो यज्ञस्य यद्ध्यूर्ध्वꣳ समिष्टयजुषोऽतिरिक्तं तद्यदा हि समिष्टयजुर्जु-
होत्यथैताभ्यो जुहोति तस्मादिमा अतिरिक्ता असंमिता ओषधयः प्रजायन्ते ॥३०॥
स जुहोति । सं बर्हिरङ्क्ताꣳ हविषा घृतेन समादित्यैर्वसुभिः सं मरुद्भिः समिन्द्रो
विश्वेदेवेभिरङ्क्तां दिव्यं नभो गच्छतु यत्स्वाहेति ॥३१॥ अथ प्रणीता दक्षिणतः प-
रीत्य निनयति । युङ्क्ते वाऽएतद्यज्ञं यदेनं तनुते स यन्न निनयेत्पराङ् हाविमुक्त
एव यज्ञो यजमानं प्रक्षिणीयात्तथो ह यज्ञो यजमानं न प्रक्षिणाति तस्मात्प्रणी-
ता दक्षिणतः परीत्य निनयति ॥३२॥ स निनयति । कस्त्वा विमुञ्चति स त्वा
विमुञ्चति कस्मै त्वा विमुञ्चति तस्मै त्वा विमुञ्चति पोषायेति तत्पुष्टिमुत्तमां यज-
मानाय निराह स येनैव प्रणयति तेन निनयति येन ह्येव योग्यं युञ्जन्ति तेन
विमुञ्चन्ति योक्त्रेण हि योग्यं युञ्जन्ति योक्त्रेण विमुञ्चन्त्यथ फलीकरणान्कपालेना-
धोऽधः कृष्णाजिनमुपास्यति रक्षसां भागोऽसीति ॥३३॥ देवाश्च वाऽअसुराश्च ।
उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरऽएतस्मिन्यज्ञे प्रजापतौ पितरि संवत्सरेऽस्माकमयं भ-
विष्यत्यस्माकमयं भविष्यतीति ॥३४॥ ततो देवाः । सर्वं यज्ञꣳ संवृज्याथ यत्पा-
पिष्ठं यज्ञस्य भागधेयमासीत्तेनैनान्निरभजन्नस्ना पशोः फलीकरणैर्हविर्यज्ञात्सुनिर्भ-
क्ता असन्नित्येष वै सुनिर्भक्तो यं भागिनं निर्भजन्त्यथ यमभागं निर्भजन्त्येव स ता-
वद्धास तऽउत हि वशे लब्धाह किं मा बभक्थेति स यमेवैभ्यो देवा भागमक-

को पानेवाले देव ।'' वस्तुतः देव मार्ग को पानेवाले हैं । ''गातुं वित्त्वा'' (यजु०२।२१)—''मार्ग को पाकर ।'' इसका तात्पर्य है 'यज्ञ को पाकर'। ''गातुमित'' (यजु० २।२१)— ''मार्ग पर चलो ।'' इससे वह यथाविधि (देवों का) विसर्जन करता है । अब कहता है—''मनसस्पतऽइमं देव यज्ञँ स्वाहा वाते धाः'' (यजु० २।२१)—''हे मन के पति ! इस देवयज्ञ को वायु में रख । स्वाहा ।'' यह यज्ञ ही है जो बहता है अर्थात् पवन । इस प्रकार इस यज्ञ को तैयार करके उस यज्ञ (दर्श-पूर्णमास) में स्थापित करता है। यज्ञ को यज्ञ से मिलाता है, इसलिए कहा 'स्वाहा वाते धाः' ।।२८।।

अब बर्हि-यज्ञ करता है । यह लोक ही बर्हि है । ओषधियाँ बर्हि हैं । इस विधि से वह इस लोक में ओषधियाँ धारण करता है, और ये ओषधियाँ इस लोक में प्रतिष्ठित हैं। इसलिए बर्हि-यज्ञ करता है ।।२६।।

यह एक अतिरिक्त आहुति है । समिष्ट-यजुः यज्ञ का अन्त है । जो समिष्ट-यजुः से ऊपर है वह अतिरिक्त आहुति है । जब समिष्ट-यजुः करता है तो इन देवताओं के लिए करता है, इसी से ये अनन्त और असीमित ओषधियाँ होती हैं ।।३०।।

यह आहुति इस मन्त्र से दी जाती है—''सं बर्हिरङ्क्ताँ हविषा घृतेन समादित्यैर्वसुभिः सम्मरुद्भिः । समिन्द्रो विश्वेदेवेभिरङ्क्तां दिव्यं नभो गच्छतु यत् स्वाहा'' (यजु० २।२२)— ''बर्हि हवि और घी से युक्त हों । इन्द्र आदित्यों, वसुओं, रुद्रों और विश्वेदेवों से संयुक्त हो । जो स्वाहा अर्थात् आहुति दी गई है यह दिव्य आकाश को जाये'' ।।३१।।

अब दक्षिण की ओर जाकर प्रणीता पात्र के जल को डालता है, अथवा जब यज्ञ को करता है तो उसको जोतता है । यदि प्रणीता के जल को न डालेगा तो न छोड़ा हुआ (न खोला हुआ) यज्ञ पीछे को हटकर यजमान को हानि पहुँचावेगा । इस प्रकार यज्ञ यजमान को हानि नहीं पहुँचाता । इसलिए प्रणीता का जल दक्षिण को ओर जाकर डालता है ।।३२।।

वह इस मन्त्र को पढ़कर डालता है—''कस्त्वा विमुञ्चति, स त्वा विमुञ्चति। कस्मै त्वा विमुञ्चति, तस्मै त्वा विमुञ्चति । पोषाय'' (यजु० २।२३)— ''कौन तुझे खोलता है ? वह तुझे खोलता है । किसके लिए तुझको खोलता है ? उसके लिए तुझको खोलता है । पुष्टि के लिए ।'' इससे वह उत्तम पुष्टि को यजमान के लिए माँगता है । जिस पात्र के द्वारा जल लिया था उसी के द्वारा डालता है । क्योंकि जिससे वे (घोड़ों को या बैलों को) जोतते हैं उसीसे खोलते हैं । योक्त्र अर्थात् जुए की रस्सी से जोतते हैं और उसी से खोलते हैं। फलीकरण अर्थात् चावलों का कूड़ा कपाल के द्वारा कृष्णाजिन (हिरन के चमड़े) के नीचे फेंक देता है, यह कहकर— ''रक्षसां भागोऽसि'' (यजु० २।२३)—''राक्षसों का भाग है तू'' ।।३३।।

देव और असुर दोनों प्रजापति की सन्तान इस यज्ञ, प्रजापति, पिता अर्थात् संवत्सर के लिए झगड़ा करते थे कि 'यह हमारा होगा, यह हमारा होगा' ।।३४।।

अब देवों ने सब यज्ञ पर स्वत्व कर लिया । जो यज्ञ का बुरा भाग था वह उन असुरों क दे दिया, जैसे (यज्ञ के) पशु का रक्त और हविर्यज्ञ के चावल की भूसी । उन्होंने कहा—'इनको यज्ञ का कोई भाग न मिले ।'' क्योंकि जिसको यज्ञ का बुरा भाग मिलता है वह न मिलने के ही बराबर है, और जिसको कुछ भी नहीं मिलता उसे कुछ आशा होती है और कहता है—'तूने मुझको कौन-सा भाग दिया है ?' इसलिए जो भाग देवों ने असुरों के लिए रक्खा था, वही भाग

ल्पयंस्तमेवैभ्य एष एतद्भागं करोत्यथ यदधोऽधः कृष्णाजिनमुपास्यत्यनमावेवैभ्य एतदन्धे तमसि प्रवेशयति तथोऽएवासृक्पशो रक्षसां भागोऽसीत्यनमावन्धे तमसि प्रवेशयति तस्मात्पशोस्तेदनीं न कुर्वन्ति रक्षसाꣳ ह्येष भागः ॥३५॥ ब्राह्मणम् ॥३[१.२.]॥ ॥

सꣳस्थिते यज्ञे । दक्षिणातः परीत्य पूर्णपात्रं निनयति तथा ह्युदग्भवति तस्माद्दक्षिणातः परीत्य पूर्णपात्रं निनयति देवलोके मेऽप्यसदिति वै यजते यो यजते सोऽस्यैष यज्ञो देवलोकमेवाभिप्रैति तदनूची दक्षिणा यां ददाति सैति दक्षिणामन्वारभ्य यजमानः ॥१॥ स एष देवयानो वा पितृयाणो वा पन्थाः । तदुभयतोऽग्निशिखे समोषन्त्यौ तिष्ठतः प्रति तमोषतो यः प्रत्युष्योऽत्यु तꣳ सृजेते यो ऽतिसृज्यः शान्तिरापस्तदेतमेवैतत्पन्थानꣳ शमयति ॥२॥ पूर्णं निनयति । सर्वं वै पूर्णꣳ सर्वेणैवैनमेतच्छमयति संततमव्यवच्छिन्नं निनयति संततेनैवैनमेतदव्यवच्छिन्नेन शमयति ॥३॥ यद्वेव पूर्णपात्रं निनयति । यद्वै यज्ञस्य मिथ्या क्रियते व्यस्य तद्वृहन्ति क्षण्वन्ति शान्तिरापस्तदद्भिः शान्त्या शमयति तदद्भिः संदधाति ॥४॥ पूर्णं निनयति । सर्वं वै पूर्णꣳ सर्वेणैवैतत्संदधाति संततमव्यवच्छिन्नं निनयति संततेनैवैतदव्यवच्छिन्नेन संदधाति ॥५॥ तदञ्जलिना प्रतिगृह्णाति । सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सꣳ शिवेन त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टमिति यद्विवृढं तत्संदधाति ॥६॥ अथ मुखमुपस्पृशते । इदं तद्यस्मान्मुखमुपस्पृशतेऽमृतं वाऽआपोऽमृतेनैवैतत्सꣳस्पृशतऽएतदु चैवैतत्कर्मात्मन्कुरुते तस्मान्मुखमुपस्पृशते ॥७॥ अथ विष्णुक्रमान्क्रमते । देवान्वाऽएष प्रीणाति यो यजतऽएतेन यज्ञेनऽर्ग्भिरिव यजुर्भिरिव यदाहुतिभिरिव तस्य देवान्प्रीत्वा तेष्वपित्वी भवति तेष्वपित्वी भूत्वा तानेवाभिप्रक्रामति ॥८॥ यद्वेव विष्णुक्रमान्क्रमते । यज्ञो वै विष्णुः स देवेभ्य इमां विक्रान्तिं विचक्रमे यैषामियं विक्रान्तिरिदमेव प्र-

वह उन असुरों को देता है, अर्थात् (इस भूसी को) हिरन के लिए चमड़े के नीचे फेंक देता है। इस प्रकार वह इसे अन्धकार में डालता है, जहाँ आग नहीं है। इसी प्रकार पशु का रक्त भी अन्धकार में डालता है, यह कहकर कि तू राक्षसों का भाग है। इसलिए (यज्ञ में) प्रयुक्त नहीं करते क्योंकि यह राक्षसों का भाग है ॥३५॥

अध्याय ६—ब्राह्मण ३

यज्ञ की समाप्ति पर (अध्वर्यु) दक्षिण की ओर घूमकर पूर्णपात्र के जल को गिरा देता है। इस प्रकार (संकेत से बताता है) उत्तर की ओर गिराया जाता है। इसलिए दक्षिण की ओर घूमकर पूर्णपात्र को गिराता है। जो यज्ञ करता है वह इस कामना से करता है कि देवलोक में स्थान मिले। उसका यह यज्ञ भी देवलोक को चला जाता है। इसके पीछे दक्षिणा चलती है, जिसे वह (पुरोहित को) देता है। दक्षिणा को लेकर यजमान पीछे-पीछे आता है ॥१॥

मार्ग या तो देवयान होता है या पितृयान। दोनों ओर दो अग्नि-शिखाएँ जलती रहती हैं। जो भुरसाने के योग्य होता है उसे भुरसाती हैं और जो निकल जाने के योग्य होता है उसे निकल जाने देती है। जल शान्ति है इसलिए इसके द्वारा वह मार्ग को शान्त करता है ॥२॥

पूर्णपात्र को वह उँडेलता है। पूर्ण का अर्थ है सब। इस प्रकार 'सब' से वह मार्ग को शान्त करता है। वह निरन्तर बिना धार को तोड़े हुए उँडेलता है। इस प्रकार वह मार्ग को निरन्तर लगातार शान्त करता है ॥३॥

वह पूर्णपात्र को इसीलिए उँडेलता है। यज्ञ में जो भूल हो जाती है वहाँ काट या फाड़ देते हैं। जल शान्ति हैं इसलिए जलरूपी शान्ति से शान्त करता है अर्थात् जलों से चंगा करता है ॥४॥

पूर्ण (पात्र) को उँडेलता है। पूर्ण का अर्थ है सब। 'सब' के द्वारा इसको चंगा करता है। वह लगातार बिना धार तोड़े हुए उँडेलता है, इस प्रकार निरन्तर चंगा करता है ॥५॥

उसको अञ्जलि से लेता है यह मन्त्र पढ़कर— 'सं वर्च्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सँ शिवेन। त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्तो (तन्वो ?) यद् विलिष्टम् (विलीष्टम् ?)" (यजु० २।२४)—"तेज, शक्ति, शरीरों और कल्याणकारी मन से हम मिल गये। दानी त्वष्टा हमको धन दे; और जो कुछ हमारे शरीर में घाव था उसे चंगा कर दे।" ऐसा कहकर जो व्रण था उसको चंगा कर देता है ॥६॥

अब मुख का स्पर्श करता है। मुख स्पर्श करने के दो कारण हैं—पहला, जल अमृत है। अमृत से ही इसको स्पर्श करता है। दूसरे यह कि इस प्रकार वह इस कर्म को अपना (निजी) कर लेता है। इसलिए मुख का स्पर्श करता है ॥७॥

अब वह विष्णु के पगों को चलता है। जो यज्ञ करता है वह देवों को प्रसन्न करता है। इस यज्ञ द्वारा ऋचाओं से, यजुओं से या आहुतियों से देवों को प्रसन्न करके वह उनका हिस्सेदार होकर उन तक पहुँच जाता है ॥८॥

विष्णु के पगों को इसलिए चलता है —विष्णु यज्ञ है। उस (यज्ञ) ने देवों के लिए इस विक्रान्ति (शक्ति) को प्राप्त कर लिया जो इस समय उनके पास है। पहले पद से इस (पृथिवी)

थमेन पदेन पस्पाराथेदमन्तरिक्षं द्वितीयेन दिवमुत्तमेनैताम्वेवैष एतस्मै विष्णुर्यज्ञो
विक्रान्तिं विक्रमते तस्माद्विष्णुक्रमान्क्रमते तद्वाऽइत एव पराचीनं भूयिष्ठा-इव
क्रमन्ते ॥ ९॥ तद्ध तत्पृथिव्यां विष्णुर्व्यक्रंस्त । गायत्रेण छन्दसा ततो निर्भक्तो
योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मोऽन्तरिक्षे विष्णुर्व्यक्रंस्त त्रैष्टुभेन छन्दसा ततो नि-
र्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मो दिवि विष्णुर्व्यक्रंस्त जागतेन छन्दसा ततो
निर्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्म इत्येवमिमांल्लोकान्त्समारुह्याथैषा गतिरे-
षा प्रतिष्ठा य एष तपति तस्य ये रश्मयस्ते सुकृतोऽथ यत्परं भाः प्रजापतिर्वा
स स्वर्गो वा लोकस्तदेवमिमांल्लोकान्त्समारुह्याथैतां गतिमेतां प्रतिष्ठां गच्छति प-
रस्तादेवार्वाङ् क्रमेत य इतोऽनुशासनं चिकीर्षेद्द्वयं त्वस्मात्परस्तादर्वाङ् क्रमन्ति
॥ १०॥ अपसरणातो ह वाऽअग्रे देवा जयन्तोऽजयन् । दिवमेवाग्रेऽथेदमन्तरिक्षम-
थेतोऽनपसरणात्सपत्नाननुदन्त तथोऽएवैष एतदपसरणात एवाग्रे जयञ्जयति दि-
वमेवाग्रेऽथेदमन्तरिक्षमथेतोऽनपसरणात्सपत्नान्नुदतऽइयं वै पृथिवी प्रतिष्ठा तद-
स्यामेवैतत्प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठति ॥ ११॥ तद्ध तद्दिवि विष्णुर्व्यक्रंस्त । जागतेन
छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मोऽन्तरिक्षे विष्णुर्व्यक्रंस्त त्रै-
ष्टुभेन छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः पृथिव्यां विष्णुर्व्यक्रं-
स्त गायत्रेण छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मोऽस्मादन्नाद्यस्यै
प्रतिष्ठायाऽइत्यस्यां हीदं सर्वमन्नाद्यं प्रतिष्ठितं तस्मादाहास्मादन्नाद्यस्यै प्रतिष्ठा-
याऽइति ॥ १२॥ अथ प्राङ् प्रेक्षते । प्राची हि देवानां दिक्तस्मात्प्राङ् प्रेक्षते ॥ १३॥
स प्रेक्षते । अगन्म स्वरिति देवा वै स्वरगन्म देवानित्येवैतदाह सं ज्योतिषा-
भूमेति सं देवैरभूमेत्येवैतदाह ॥ १४॥ अथ सूर्यमुदीक्षते । सैषा गतिरेषा प्रतिष्ठा
तदेतां गतिमेतां प्रतिष्ठां गच्छति तस्मात्सूर्यमुदीक्षते ॥ १५॥ स उदीक्षते । स्वय-
म्भूरसि श्रेष्ठो रश्मिरित्येष वै श्रेष्ठो रश्मिर्यत्सूर्यस्तस्मादाह स्वयम्भूरसि श्रेष्ठो र-

को, दूसरे से अन्तरिक्ष को, तीसरे से द्यौ को। यह विष्णु-यज्ञ यजमान के लिए इस शक्ति को प्राप्त करा देता है। इसीलिए विष्णु के पगों को चलता है। अब इसी (पृथिवी) से बहुत-से (ऊपर को) चलते हैं ।।६।।

वह इस मन्त्र से—"पृथिव्यां विष्णुर्व्यक्रँस्त गायत्रेण च्छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः" (यजु० २।२५), "अन्तरिक्षे विष्णुर्व्यक्रँस्त त्रैष्टुभेन च्छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः" (यजु० २।२५), "दिवि विष्णुर्व्यक्रँस्त जागतेन च्छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः" (यजु० २।२५)—"पृथिवी में विष्णु गायत्री छन्द से चला। जो हमसे द्वेष करता है या जिससे हम द्वेष करते हैं, वह यहाँ से बहिष्कृत है", "अन्तरिक्ष में विष्णु त्रिष्टुभ छन्द से चला। जो हमसे द्वेष करता है या जिससे हम द्वेष करते हैं, वह यहाँ से बहिष्कृत है", "द्यौ लोक में विष्णु जगती छन्द से चला। जो हमसे द्वेष करते हैं या जिससे हम द्वेष करते हैं, वह यहाँ से बहिष्कृत है।" जब इन लोगों को प्राप्त हो गया तो यही गति है, यही प्रतिष्ठा है। जो यह तपता है अर्थात् सूर्य, उसकी ये किरणें हैं वे सुकृत हैं। यह जो परम-प्रकाश है वह प्रजापति या स्वर्ग-लोक है। इस प्रकार इन लोकों को प्राप्त होता है। वह इस गति और प्रतिष्ठा को पाता है। जो अनुशासन या उपदेश देना चाहे वह ऊपर से नीचे आता है। दो कारण हैं कि वह ऊपर से नीचे आता है—।।१०।।

(शत्रु के) भागने पर विजयी देवों ने पहले द्यौ को जीता, फिर अन्तरिक्ष को, फिर उन शत्रुओं को इस (पृथिवी) से भी निकाला जहाँ से भाग जाना कठिन था। उसी प्रकार यह (होता) भी (शत्रुओं के) भागने पर पहले द्यौ लोक को जीतता है, फिर अन्तरिक्ष को, फिर उनको इस (पृथिवी) से निकालता है जहाँ से भाग जाना नहीं बन सकता। यह पृथिवी की प्रतिष्ठा है इसलिए वह इस प्रतिष्ठा में ही प्रतिष्ठित होता है ।।११।।

और इस प्रकार भी—"दिविविष्णुर्व्यक्रँस्त। जागतेन च्छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मोऽन्तरिक्षे विष्णुर्व्यक्रँस्त त्रैष्टुभेन च्छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः पृथिव्यां विष्णुर्व्यक्रँस्त गायत्रेण च्छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मोऽस्मादन्नादस्यै प्रतिष्ठाया" (यजु० २।२५)—"द्यौ लोक में विष्णु जगती छन्द से चला। वहाँ से वह निकाल दिया गया जो हमसे द्वेष करता है या जिससे हम द्वेष करते हैं। अन्तरिक्ष में विष्णु त्रिष्टुभ छन्द से चला। वहाँ से वह निकाल दिया गया जो हमसे द्वेष करता है या जिससे हम द्वेष करते हैं। पृथिवी में विष्णु गायत्री छन्द से चला। वहाँ से वह निकाल दिया गया जो हमसे द्वेष करता है या जिससे हम द्वेष करते हैं। इस अन्न से और प्रतिष्ठा से (निकाल दिया गया)।" इस पृथिवी में ही सब अन्न आदि प्रतिष्ठित हैं इसीलिए कहा, 'इस अन्न से और इस प्रतिष्ठा से' ।।१२।।

अब वह पूर्व की ओर देखता है। पूर्व देवों का दिशा है। इसलिए पूर्व की ओर देखता है ।।१३।।

वह यह मन्त्र पढ़कर देखता है—"अगन्म स्वः" (यजु० २।२५)—"हम स्वर्ग को पहुँच गये।" देव ही स्वर्ग हैं इसलिए तात्पर्य है 'देवों को प्राप्त हो गये।' अब कहता है—"सं ज्योतिषाभूम" (यजु० २।२५)—"प्रकाश से हम मिल गये।" इससे तात्पर्य है कि हम देवों से मिल गये ।।१४।।

अब वह सूर्य की ओर देखता है, क्योंकि वही गति है, वही प्रतिष्ठा है। इस गति को और प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है, इसलिए सूर्य की ओर देखता है ।।१५।।

वह इस मन्त्र को पढ़कर देखता है—"स्वयम्भूरसि श्रेष्ठो रश्मिः" (यजु० २।२६)—"हे श्रेष्ठ किरण! तू स्वयम्भू है।" सूर्य श्रेष्ठ किरण है इसलिए कहा, 'हे श्रेष्ठ किरण, तू स्वयम्भू है।'

श्मिरिति वर्चोदा असि वर्चो मे देहीति तेवाहं ब्रवीमीति ह स्माह याज्ञवल्क्यस्तद्धैव ब्राह्मणेनैष्टव्यं यद्ब्रह्मवर्चसी स्यादित्युतो ह स्माहौपोदितेय एष वाव मह्यं गा दास्यति गोदा गा मे देहीत्येवं यं कामं कामयते सोऽस्मै कामः समृध्यते ॥१६॥ अथावर्तते । सूर्यस्यावृतमन्वावर्तऽइति तदेतां गतिमेतां प्रतिष्ठां गवितस्यैवावृतमन्वावर्तते ॥१७॥ अथ गार्हपत्यमुपतिष्ठते । द्वयं तद्यस्माद्गार्हपत्यमुपतिष्ठते गृहा वै गार्हपत्यो गृहा वै प्रतिष्ठा तद्गृहेष्वेवैतत्प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठति यावद्वेवास्येह मानुषमायुस्तस्माऽउ एवैतदुपतिष्ठते तस्माद्गार्हपत्यमुपतिष्ठते ॥१८॥ स उपतिष्ठते । अग्ने गृहपते सुगृहपतिस्त्वयाग्नेऽहं गृहपतिना भूयास७ सुगृहपतिस्त्वं मयाग्ने गृहपतिना भूया इति नात्र तिरोहितमिवास्त्यस्थूरि णौ गार्हपत्यानि सन्त्वित्यनार्त्तानि नौ गार्हपत्यानि सन्त्वित्येवैतदाह शत७ हिमा इति शतं वर्षाणि जीव्यासमित्येवैतदाह तदप्येतद्भुवन्नाद्रियेतापि हि भूया७सि शताद्वर्षेभ्यः पुरुषो जीवति तस्मादप्येतद्भुवन्नाद्रियेत ॥१९॥ अथावर्तते । सूर्यस्यावृतमन्वावर्तऽइति तदेतां गतिमेतां प्रतिष्ठां गवितस्यैवावृतमन्वावर्तते ॥२०॥ अथ पुत्रस्य नाम गृह्णाति । इदं मेऽयं वीर्यं पुत्रोऽनुसंतनवदिति यदि पुत्रो न स्यादप्यात्मन एव नाम गृह्णीयात् ॥२१॥ अथाहवनीयमुपतिष्ठते । प्राङ्गे यज्ञोऽनुसंतिष्ठाताऽइति तूष्णीमुपतिष्ठते ॥२२॥ अथ व्रतं विसृजते । इदमहं य एवास्मि सोऽस्मीत्यमानुष-इव वाऽएतद्भवति यद्व्रतमुपैति न हि तदवकल्पते यद्ब्रूयादिदमह७ सत्यादनृतमुपैमीति तदु खलु पुनर्मानुषो भवति तस्मादिदमहं य एवास्मि सोऽस्मीत्येवं व्रतं विसृजेत ॥२३॥ ॥ ब्राह्मणम् ॥४ [१-३.]॥ ॥ सप्तमः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या ११४ ॥ ॥ नवमोऽध्यायः ॥ ॥ अस्मिन्काण्डे कण्डिकासंख्या ८३७ ॥ ॥

इति माध्यन्दिनीये शतपथब्राह्मणे श्रीहविर्यज्ञनाम प्रथमं काण्डं समाप्तम् ॥ ॥

अब कहता है—"वर्च्चोदाऽअसि वर्च्चो मे देहि" (यजु० २।२६)—"तू तेज देनेवाला है, तू तेज दे।" याज्ञवल्क्य ने कहा, 'मैं यही कहता हूँ कि ब्राह्मण यह चाहे कि मैं ब्रह्मवर्च्चसी होऊँ।' औपोदितेय ने कहा, 'वह मुझे गायें देगा। इसलिए मैं कहता हूँ, तू गाय देनेवाला है मुझे गाय दे।' इस प्रकार (यजमान) जो चाहता है वही उसको मिल जाता है ॥१६॥

अब वह (बाईं ओर से दाहिनी ओर को) मुड़ता है यह पढ़कर—"सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते" (यजु०२।२६)—"मैं सूर्य के मार्ग को लौटता हूँ।" इस गति और प्रतिष्ठा को प्राप्त होकर वह लौटता है ॥१७॥

अब वह गार्हपत्य अग्नि के पास जाता है। गार्हपत्य घर है। घर ही प्रतिष्ठा है इसलिए वह घर में अर्थात् प्रतिष्ठा में ठहरता है और दूसरे, जो मनुष्य की पूरी आयु हो सकती है उसको प्राप्त करता है। इसलिए गार्हपत्य अग्नि के पास ठहरता है ॥१८॥

वह यह मन्त्र पढ़कर जाता है—"अग्ने गृहपते सुगृहपतिस्त्वयाऽग्नेऽहं गृहपतिना भूयासँ सुगृहपतिस्त्वम् मयाऽग्ने गृहपतिना भूयाः" (यजु०२।२७)—"हे गृहपति अग्नि! मैं तुझ गृहपति की सहायता से अच्छा गृहपति हो जाऊँ। हे अग्नि! मुझ गृहपति की सहायता से तू अच्छा गृहपति हो जा।" यह स्पष्ट ही है। अब कहता है—"अस्थूरि णौ गार्हपत्यानि सन्तु" (यजु० २।२७)—"हमारे घर के मामले एक बैल की गाड़ी जैसे न हों।" इस कहने का तात्पर्य है कि हमारे घर के मामले दुःख-रहित हों। अब कहता है— "शतँ हिमाः" (यजु० २।२७)—"सौ वर्ष तक।" इसका तात्पर्य है 'मैं सौ वर्ष तक जीऊँ।' परन्तु उसको ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि मनुष्य सौ वर्ष से अधिक जीता है। इसलिए उसको ऐसा नहीं कहना चाहिए ॥१९॥

अब वह (बाईं ओर से दाईं ओर) मुड़ता है यह पढ़कर—"सूर्यस्यावृतमन्वावर्त" (यजु० २।२७)—"सूर्य के मार्ग से लौटता हूँ।" वह इस गति और प्रतिष्ठा को प्राप्त करके इस (सूर्य के) मार्ग से लौटता है ॥२०॥

अब (यह मन्त्र पढ़ता हुआ) अपने पुत्र का नाम लेता है—"इदं मेऽयं वीर्यं पुत्रोऽनुसन्तनवत्"—"मेरा पुत्र मेरे इस वीर्य को जारी रखे।" यदि पुत्र न हो तो अपना ही नाम ले ॥२१॥

अब आहवनीय के पास खड़ा होता है। वह चुपके से खड़ा होता है यह जानकर कि पूर्व में मेरा यज्ञ समाप्त होगा ॥२२॥

अब व्रत का विसर्जन करता है (यह मन्त्र पढ़कर)—"इदमहं यऽएवाऽस्मि सोऽस्मि" (यजु०२।२८)—"यह मैं वहीं हूँ जो हूँ।" जब व्रत को किया था तो मनुष्य से ऊपर (देव) हो गया था। अब यह कहना तो उचित नहीं है कि मैं सच से झूठ को प्राप्त होऊँ; और वह मनुष्य हो ही जाता है, इसलिए उसको इस मन्त्र को पढ़कर ही व्रत का विसर्जन करना चाहिए—'मैं वही हूँ जो हूँ।' (यजु० २।२८) ॥२३॥

माध्यन्दिनीय शतपथब्राह्मण की श्रीमत् पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय कृत 'रत्नकुमारी-दीपिका' भाषा व्याख्या का हविर्यज्ञनाम प्रथम काण्ड समाप्त हुआ।

प्रथम काण्ड

प्रपाठक	कण्डिका-संख्या
प्रथम [१.२.२]	१२१
द्वितीय [१.३.३]	१२२
तृतीय [१.४.४]	१२८
चतुर्थ [१.६.१]	१२१
पंचम [१.७.२]	१२१
षष्ठ [१.८.२]	१११
सप्तम [१.९.३]	११४
योग	८३८

ओम् । स यद्वा ऽ इतश्चेतश्च सम्भरति । तत्सम्भाराणाꣳ सम्भारत्वं यत्र-यत्राग्ने-
र्न्यक्तं ततस्ततः सम्भरति तद्यशसैव त्वदेवैनमेतत्समर्धयति पशुभिरिव त्वन्मिथुने-
नेव त्वत्सम्भरन् ॥१॥ अथोल्लिखति । तद्यदेवास्यै पृथिव्या ऽ अभिष्ठितं वाभिष्ठ्यूतं
वा तदेवास्या ऽ एतदुद्धत्याथ यज्ञियायामेव पृथिव्यामाधत्ते तस्माद्वा ऽ उल्लिखति ॥२॥
अथाद्भिरभ्युक्षति । एष वा अपाꣳ सम्भारो यदद्भिरभ्युक्षति तद्यदपः सम्भरत्यन्नं
वा ऽ आपोऽन्नꣳ हि वा ऽ आपस्तस्माद्यदेमं लोकमाप आगच्छन्त्यथेहान्नाद्यं जायते
तदन्नाद्येनैवैनमेतत्समर्धयति ॥३॥ योषा वा ऽ आपः । वृषाग्निर्मिथुनेनैवैनमेतत्प्रज-
ननेन समर्धयत्यद्भिर्वा ऽ इदꣳ सर्वमाप्तमद्भिरेवैनमेतदाप्त्वाधत्ते तस्मादपः सम्भरति ॥४॥
अथ हिरण्यꣳ सम्भरति । अग्निर्ह वा ऽ अपोऽभिदध्यौ मिथुन्याभिः स्यामिति ताः
सम्बभूव तासु रेतः प्रासिञ्चत्तद्धिरण्यमभवत्तस्मादेतदग्निसंकाशमग्नेर्हि रेतस्तस्माद-
प्सु विन्दन्त्यप्सु हि प्रासिञ्चत्तस्मादेनेन न धावयति न किं चन करोत्यथ यशो
देव रेतसꣳ हि तद्यशसैवैनमेतत्समर्धयति सरेतसमेव कृत्स्नमग्निमाधत्ते तस्माद्धि-
रण्यꣳ सम्भरति ॥५॥ अथोषान्त्सम्भरति । असौ ह वै द्यौरस्यै पृथिव्या ऽ एतान्प-
शून्प्रददौ तस्मात्पशव्यमूषरमित्याहुः पशवो ह्येवैते साक्षादेव तत्पशुभिरेवैनमे-
तत्समर्धयति तेऽमुत आगता अस्यां पृथिव्यां प्रतिष्ठितास्तमनयोर्द्यावापृथिव्यो रसं
मन्यन्ते तदनयोरेवैनमेतद्द्यावापृथिव्यो रसेन समर्धयति तस्मादूषान्त्सम्भरति ॥६॥
अथाखुकरीषꣳ सम्भरति । आखवो ह वा ऽ अस्यै पृथिव्यै रसं विदुस्तस्मात्तेऽधो
ऽध इमां पृथिवीं चरन्तः पीविष्ठा अस्यै हि रसं विदुस्ते यत्र तेऽस्यै पृथिव्यै रसं

द्वितीय काण्ड

अथ एकपादिकानाम द्वितीयं काण्डम्

[अग्न्याधानम्, पुनराधेयम्, अग्निहोत्रम्, पिण्डपितृयज्ञः, आग्रयणेष्टिः, दाक्षायणयज्ञः, चातुर्मास्यानि]

अग्न्याधानम्

अध्याय १—ब्राह्मण १

वह इधर-उधर से इकट्ठा करता है। यही (भिन्न-भिन्न आवश्यक) वस्तुओं का इकट्ठा करना तैयारी है। जिस-जिस वस्तु में अग्नि रहता है उसी-उसी वस्तु में तैयारी की जाती है। इस तैयारी में यश से, पशुओं से और मिथुन अर्थात् जोड़े से युक्त करता है ॥१॥

अब वह रेखा खींचता है। इस पृथिवी के जिस भाग पर चला या जहाँ थूका उस भाग को निकाल देते हैं। इस प्रकार यज्ञ के योग्य पृथिवी में ही अग्न्याधान किया जाता है। इसीलिए रेखा खींची जाती है ॥२॥

अब जल छिड़कता है। यह जो जल से छिड़कना है मानो (अग्नि की) जल के साथ तैयारी है। जल लाया इसलिए जाता है कि जल अन्न है। अन्न ही जल है। इसलिए जब जल इस लोक में आ जाता है, तभी अन्न उत्पन्न होता है। इस प्रकार वह अग्नि को अन्न आदि से युक्त करता है ॥३॥

'आपः' जल स्त्री है। अग्नि पुरुष है। इस प्रकार वह अग्नि के लिए एक सन्तान-उत्पादक जोड़ा देता है। और चूंकि जल इस सब लोक में व्यापक है, इसलिए अग्नि को पहले जल के द्वारा तैयार करके ही स्थापित करता है। इसीलिए वह जल को लाता है ॥४॥

अब वह सोना (सुवर्ण) लाता है। एक बार अग्नि ने जल की ओर देखा और सोचा कि मैं इसके साथ मैथुन करूँ। उसने जल के साथ प्रसंग किया और जो वीर्य सींचा वह स्वर्ण हो गया। इसीलिए वह अग्नि के समान चमकता है, क्योंकि वह अग्नि का ही बीज है। वह (सोना) जल में पाया जाता है, क्योंकि जल में ही उसने वीर्य सींचा था। इसलिए इससे न कोई उसको धोता है और न कोई और काम करता है। अब (आग के लिए) यश है। क्योंकि देव-वीर्य अर्थात् यश से वह उसको समृद्ध करता है और वीर्यरूप पूर्ण अग्नि को आधान करता है। इसलिए वह स्वर्ण को लाता है ॥५॥

अब वह नमक को लाता है। उस द्यौ ने इस पृथिवी के लिए इन पशुओं को दिया। इसलिए कहते हैं कि नमक की भूमि (ऊषरम् या ऊसर) पशुओं के योग्य है। ये पशु ही इसलिए नमक हैं। इस प्रकार वह साक्षात् रूप से अग्नि को पशुओं से युक्त करता है। और पशु उस लोक (द्यौ) से आकर इस पृथिवी में प्रतिष्ठित हुए। उस (नमक) को इन द्यौ और पृथिवी का रस मानते हैं। इसलिए इन्हीं द्यौ और पृथिवी के रस से अग्नि को समृद्ध करता है। इसलिए नमक को लाता है ॥६॥

अब वह आखु-करीष (चूहों द्वारा निकाली हुई मिट्टी को) लाता है। चूहे इस पृथिवी के रस को जानते हैं, इसलिए यह इस पृथिवी को गहरा खोदते चले जाते हैं। इस पृथिवी के रस को प्राप्त करके वे मोटे हो गये, और जहाँ पृथिवी में उनको रस प्रतीत हुआ उन्होंने उसे खोदकर

विदुस्तत उत्किरन्ति तदस्याऽएवैनमेतत्पृथिव्यै रसेन समर्धयति तस्मादाखुकरीषꣳ सम्भरति पुरीष्य इति वै तमाहुर्यः श्रियं गच्छति समानं वै पुरीषं च करीषं च तदेतस्यैवावरुद्ध्यै तस्मादाखुकरीषꣳ सम्भरति ॥७॥ अथ शर्कराः सम्भरति । देवाश्च वाऽअसुराश्चोभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे सा हेयं पृथिव्यलेलायद्यथा पुष्करपर्णमेवं ताꣳ ह स्म वातः संवहति सोपैव देवान्जगामोपासुरान्त्सा यत्र देवानुपजगाम ॥८॥ तद्धोचुः । हन्तेमां प्रतिष्ठां दृꣳहामहै तस्यां ध्रुवायामशिथिलायामग्नीऽआदधामहै ततोऽस्यै सपत्नान्निर्भक्ष्याम इति ॥९॥ तद्यथा शङ्कुभिश्चर्म विहन्यात् । एवमिमां प्रतिष्ठाꣳ पर्यबृꣳहन्त सेयं ध्रुवाशिथिला प्रतिष्ठा तस्यां ध्रुवायामशिथिलायामग्नीऽआदधत ततोऽस्यै सपत्नान्निरभजन् ॥१०॥ तथोऽएवैष एतत् । इमां प्रतिष्ठाꣳ शर्कराभिः परिबृꣳहते तस्यां ध्रुवायामशिथिलायामग्नीऽआधत्ते ततोऽस्यै सपत्नान्निर्भजति तस्माच्छर्कराः सम्भरति ॥११॥ तान्वाऽएतान् । पञ्च सम्भारान्त्सम्भरति पाङ्क्तो यज्ञः पाङ्क्तः पशुः पञ्चऽर्तवः संवत्सरस्य ॥१२॥ तदाहुः । षडेवऽर्तवः संवत्सरस्येति न्यूनमु तर्हि मिथुनं प्रजननं क्रियते न्यूनाद्वाऽइमाः प्रजाः प्रजायन्ते तच्छ्रेयसमुत्तरावत्तस्मात्पञ्च भवन्ति यद्यु षडेवऽर्तवः संवत्सरस्येत्यग्निरेवैतेषाꣳ षष्ठस्तथोऽएवैतदन्यूनं भवति ॥१३॥ तदाहुः । नैवैकं चन सम्भारꣳ सम्भरेदित्यस्यां वाऽएते सर्वे पृथिव्यां भवन्ति स यदेवास्यामाधत्ते तत्सर्वान्त्सम्भारानाप्नोति तस्मान्नैवैकं चन सम्भारꣳ सम्भरेदिति तदु समेव भरेद्यदह्वेवास्यामाधत्ते तत्सर्वान्त्सम्भारानाप्नोति यदु सम्भारैः सम्भृतैर्भवति तदु भवति तस्मादु समेव भरेत् ॥१४॥ ब्राह्मणम् ॥१॥

कृत्तिकास्वग्नीऽआदधीत । एता वाऽअग्निनक्षत्रं यत्कृत्तिकास्तद्वै सलोम यो ऽग्निनक्षत्रेऽग्नी आदधाति तस्मात्कृत्तिकास्वादधीत ॥१॥ एकं द्वे त्रीणि । चत्वारीति वाऽअन्यानि नक्षत्राण्यथैता एव भूयिष्ठा यत्कृत्तिकास्तद्भूमानमेवैतदुपैति

बाहर निकाल डाला। इसलिए वह अग्नि को पृथिवी के इस रस से युक्त करता है। यही कारण है कि वह आखु-करीष को लाता है। जो श्री को प्राप्त कर लेता है, उसे पुरीष्य कहते हैं। पुरीष और करीष एक ही बात है। इसलिए इसकी बढ़ोतरी के लिए आखु-करीष को लाता है ॥७॥

अब वह कंकड़ (शर्करा) लाता है। देव और असुर दोनों प्रजापति की सन्तान अपनी बड़ाई के लिए झगड़ने लगे। यह पृथिवी कमल के दल के समान काँपने लगी, क्योंकि वायु इसको डगमगा रही थी। वह कभी देवों के पास जाती और कभी असुरों के। जब वह देवों के पास पहुँची तो—॥८॥

उन्होंने कहा, लाओ हम इसको दृढ़ कर लें; और जब यह दृढ़ और अचल हो जाय तो दोनों अग्नियों का आधान करें। इससे हम अपने शत्रुओं को यहाँ से बिल्कुल निकाल देंगे ॥९॥

इसलिए जैसे खूँटियों से चमड़े को तानते हैं, उसी प्रकार इसको दृढ़ किया; और यह अचल और दृढ़ हो गई। उसी दृढ़ अचल भूमि पर दो अग्नियों का आधान किया; और तब उन्होंने शत्रुओं को इसके भाग से बिल्कुल निकाल दिया ॥१०॥

इसी प्रकार यह (अध्वर्यु) भी कंकड़ों (शर्करा) से इसको दृढ़ करता है; और उस दृढ़ निश्चल पृथिवी में दो अग्नियों को स्थापित करता है; और शत्रुओं को मार भगाता है, इसलिए कंकड़ों को लाता है ॥११॥

इस प्रकार ये पाँच तैयारियाँ हैं क्योंकि यज्ञ पाँच भागों वाला (पांक्त) और पशु भी पाँच भागों वाला है; और वर्ष में पाँच ऋतुएँ भी हैं ॥१२॥

इसके विषय में उनका कहना है कि साल में छः ऋतुएँ हैं। न्यून के जोड़े से ही सन्तान उत्पन्न होती है। न्यून शरीर (के नीचे के स्थान) से ही यह प्रजा उत्पन्न होती है। यह भी (यजमान के लिए) श्रेयस्कर है। इसलिए पाँच तैयारियाँ होती हैं। और जब वर्ष की छः ऋतुएँ होती हैं तो छठी अग्नि होती है। इसलिए कोई न्यूनता नहीं हुई। [तात्पर्य यह है कि पाँच संभारों में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं माननी चाहिए। पाँच ऋतुओं के लिए पाँच संभार हो गये। यदि कोई कहे कि ऋतुएँ छः होती हैं इसलिए पाँच संभारों से न्यूनता पाई जायगी, तो इसका उत्तर यह है कि न्यूनता बुरी नहीं, क्योंकि न्यून से ही तो सन्तान होती है। दूसरी बात यह है कि यदि छः ऋतुएँ मानो तो पाच संभारों के साथ-साथ (अर्थात् जल, स्वर्ण, नमक, आखु-करीष और शर्करा) छठा अग्नि भी तो है। इससे छः संख्या भी पूरी हो गई और पाँच ही संभार ठीक ठहरे ॥१३॥

कुछ लोगों का मत है कि एक भी संभार नहीं होना चाहिए, क्योंकि इस पृथिवी में तो सभी चीजें हैं। जब इसी पृथिवी में अग्नि को स्थापित किया तो मानो सभी संभार प्राप्त हो गये। इसलिए किसी संभार की आवश्यकता नहीं। परन्तु उसको संभारों को एकत्रित करना ही चाहिए। क्योंकि जब वह इस पृथिवी में अग्नि का आधान करता है तब सभी संभारों को प्राप्त होता है और जो कुछ संभारों का लाभ है वह उसको भी प्राप्त हो जाता है। इसलिए संभारों को इकट्ठा करना ही चाहिए ॥१४॥

अध्याय १—ब्राह्मण २

अग्नियों का आधान कृत्तिका नक्षत्रों में करे। कृत्तिका अग्नि के नक्षत्र हैं। जो अग्नि के नक्षत्र में अग्नियों का आधान करता है वह सलोम (अनुकूलता) स्थापित करता है। इसलिये कृत्तिका नक्षत्र में अग्न्याधान करे ॥१॥

अन्य नक्षत्र एक, दो, तीन अथवा चार होते हैं (जबकि कृत्तिका सात होते हैं), इसलिए कृत्तिका बहुल हुए। इस प्रकार बहुत्व को प्राप्त होता है इसलिए अग्न्याधान कृत्तिका नक्षत्र में

तस्मात्कृत्तिकास्वादधीत ॥२॥ एता ह वै प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते । सर्वाणि ह वाऽअन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशश्च्यवन्ते तत्प्राच्यामेवास्यैतद्दिश्याहितौ भवतस्तस्मात्कृत्तिकास्वादधीत ॥३॥ अथ यस्मान्न कृत्तिकास्वादधीत । ऽऋक्षाणाᳬ ह वाऽएता अग्रे पत्न्य आसुः सप्तऽर्षीनु ह स्म वै पुरऽर्क्षा इत्याचक्षते ता मिथुनेन व्यार्ध्यन्तामी ह्युत्तराहि सप्तऽर्षय उद्यन्ति पुर एता अशमिव वै तद्यो मिथुनेन व्यृद्धः स नेन्मिथुनेन व्यृध्याऽइति तस्मान्न कृत्तिकास्वादधीत ॥४॥ तद्वेव दधीत । अग्निर्वाऽएतासां मिथुनमग्निनैता मिथुनेन समृद्धास्तस्मादिव दधीत ॥५॥

रोहिण्यामग्नीऽआदधीत । रोहिण्याᳬ ह वै प्रजापतिः प्रजाकामोऽग्नीऽआदधे स प्रजा असृजत ता अस्य प्रजाः सृष्टा एकरूपा उपस्तब्धास्तस्थू रोहिण्य इवैव तद्धि रोहिण्यै रोहिणीत्वं बहुर्हैव प्रजया पशुभिर्भवति य एवं विद्वान्रोहिण्यामाधत्ते ॥६॥ रोहिण्यामु ह वै पशवः । अग्नीऽआदधिरे मनुष्याणां कामᳬ रोहेमेति ते मनुष्याणां काममरोहन्यमु हैव तत्पशवो मनुष्येषु काममरोहँस्तमु हैव पशुषु कामᳬ रोहति य एवं विद्वान्रोहिण्यामाधत्ते ॥७॥ मृगशीर्षेऽग्नीऽआदधीत । एतद्वै प्रजापतेः शिरो यन्मृगशीर्षᳬ श्रीर्वै शिरः श्रीर्हि वै शिरस्तस्माद्योऽर्धस्य श्रेष्ठो भवत्यसावमुष्यार्धस्य शिर इत्याहुः श्रियᳬ ह गच्छति य एवं विद्वान्मृगशीर्षेऽआधत्ते ॥८॥ अथ यस्मान्न मृगशीर्षेऽआदधीत । प्रजापतेर्वाऽएतच्छरीरं यत्र वाऽएनं तदाविध्यंस्तदिषुणा त्रिकाण्डेनेत्याहुः स एतच्छरीरमजहाद्वास्तु वै शरीरमयज्ञियं निर्वीर्यं तस्मान्न मृगशीर्षेऽआदधीत ॥९॥ तद्वेव दधीत । न वाऽएतस्य देवस्य वास्तु नायज्ञियं न शरीरमस्ति यत्प्रजापतेस्तस्मादिव दधीत पुनर्वस्वोः पुनराधेयमादधीतेति ॥१०॥ फल्गुनीष्वग्नीऽआदधीत । एता वाऽइन्द्रनक्षत्रं यत्फल्गुन्योऽप्यस्य प्रतिनाम्न्योऽर्जुनो ह वै नामेन्द्रो यदस्य गुह्यं नामार्जुन्यो वै नामैतास्ता एतत्परोऽक्षमाचक्षते फल्गुन्य इति को ह्येतस्यार्हति गुह्यं नाम ग्र

करे ॥२॥

ये (कृत्तिका) पूर्व दिशा से हटते नहीं; अन्य सब नक्षत्र पूर्व दिशा से हटते हैं। इस प्रकार उसकी दोनों अग्नियाँ पूर्व की दिशा में ही स्थापित होती हैं, इसलिए कृत्तिका नक्षत्रों में ही अग्न्याधान करे ॥३॥

परन्तु कुछ लोग युक्ति देते हैं कि कृत्तिकाओं में अग्न्याधान नहीं करना चाहिए। क्योंकि ये कृत्तिका पहले ऋक्षों की पत्नियाँ थीं। सात ऋषियों को पहले ऋक्ष कहते थे। उनको मैथुन करने नहीं दिया गया, इसलिए उत्तर में सप्त-ऋषि निकलते हैं और ये (कृत्तिकाएँ) पूर्व में। मैथुन करने न देना यह दुर्भाग्य (अशम्) है। इसलिए कृत्तिका नक्षत्रों में अग्न्याधान न करे कि कहीं मैथुन से वर्जित न हो जाय ॥४॥

परन्तु कृत्तिका में अग्न्याधान किया जा सकता है, क्योंकि इनका जोड़ा तो अग्नि है। अग्नि जोड़े के साथ ही इनकी वृद्धि होती है। इसलिए अग्नि का आधान (कृत्तिका में) करे ॥५॥

रोहिणी नक्षत्र में भी अग्न्याधान करे, क्योंकि रोहिणी नक्षत्र में ही सन्तान के इच्छुक प्रजापति ने अग्न्याधान किया था। उसने प्रजा सृजी और वह प्रजा एक-रूप और ठीक रही, रोहिणी (लाल गाय) के समान। इसलिए रोहिणी नक्षत्र रोहिणी गौ के समान है। इसलिए जो कोई इस रहस्य को समझकर रोहिणी नक्षत्र में अग्न्याधान करता है वह सन्तान और पशुओं से फूलता-फलता है ॥६॥

रोहिणी नक्षत्र में ही पशु अग्नियों का आधान करते हैं कि मनुष्यों की इच्छा तक चढ़ सकें (रोहेम)। उन्होंने मनुष्यों की कामनाओं तक रोहण किया। और जो कामना पशुओं की मनुष्यों के प्रति पूरी हुई, वही पशुओं के प्रति उसकी पूरी होगी जो इस रहस्य को समझकर रोहिणी नक्षत्र में अग्न्याधान करता है ॥७॥

मृगशीर्ष नक्षत्र में भी अग्न्याधान हो सकता है, क्योंकि मृगशीर्ष प्रजापति का सिर है। श्री ही शिर है। इसलिए जो मनुष्य-जाति में श्रेष्ठ होता है उसको कहते हैं कि यह जाति का शिर है। जो इस रहस्य को समझकर मृगशीर्ष नक्षत्र में अग्न्याधान करता है वह श्री को प्राप्त होगा ॥८॥

अब मृगशीर्ष नक्षत्र में अग्न्याधान न करने की (युक्ति कुछ लोग यह देते हैं) कि यह प्रजापति का शरीर है। जब इसको देवों ने त्रिकाण्ड तीर से बींधा तो कहते हैं कि उसने शरीर त्याग दिया। इसलिए यह शरीर केवल वास्तु, अयज्ञिय (यज्ञ न करने योग्य) और निर्वीर्य हो गया। इसलिए मृगशीर्ष में अग्न्याधान न करे ॥९॥

परन्तु वह कर सकता है। यह जो प्रजापति का शरीर है, न तो वास्तु है, न ही अयज्ञिय और न निर्वीर्य (इसलिए मृगशीर्ष में अग्न्याधान करे)। पुनर्वसु नक्षत्र में पुनराधेय कर्म करे। ऐसा आदेश है ॥१०॥

फल्गुनी नक्षत्र में अग्न्याधान करे। ये फल्गुनी इन्द्र के नक्षत्र हैं और उसी के नाम पर हैं। इन्द्र का नाम अर्जुन भी है। यह उसका गुह्य (गुप्त) नाम है, और इन (फल्गुनी नक्षत्रों) का भी नाम अर्जुनी है। इसलिए वह परोक्ष रीति से इनको फल्गुनी कहता है, क्योंकि (इन्द्र का) गुह्य नाम कौन ले सकता है? इसके अतिरिक्त यजमान भी इन्द्र है। वह अपने ही

हीतुमिन्द्रो वै यजमानस्तत्स्वऽएवैतन्नक्षत्रेऽग्नी आधत्तऽइन्द्रो यज्ञस्य देवतैतेनो हास्यैतत्सेन्द्रमग्न्याधेयं भवति पूर्वयोरादधीत पुरस्तात्क्रतुर्हैवास्मै भवत्युत्तरयो रादधीत श्वःश्रेयस७ हैव स्माऽउत्तरावद्भवति ॥११॥ हस्तेऽग्नीऽआदधीत । य इ-च्छेत्प्र मे दीयेतेति तद्धाऽअनुष्ठ्या यद्धस्तेन प्रदीयते प्र हैवास्मै दीयते ॥१२॥ चि-त्रायामग्नीऽआदधीत । देवाश्च वा असुराश्चोभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे तऽउभयऽए-वामुं लोक७ समारुरुक्षां चक्रुर्दिवमेव ततोऽसुरा रौहिणमित्यग्निं चिक्यिरेऽने-नामुं लोक७ समारोक्ष्याम इति ॥१३॥ इन्द्रो ह वाऽईक्षां चक्रे । इमं चेद्वाऽइमे चिन्वते तत एव नोऽभिभवन्तीति स ब्राह्मणो ब्रुवाण एकेष्टकां प्रबध्येयाय ॥१४॥ स होवाच । हन्ताहमिमामप्युपदधाऽइति तथेति तामुपाधत्त तेषामल्प-कादेवाग्निरसंचित आस ॥१५॥ अथ होवाच । अन्वाऽअहं तां दास्ये या ममेहे-ति तामभिपद्याबबर्ह तस्यामावृढायामग्निर्व्यवशशादग्निर्व्यवशादमन्वसुरा व्यवशे-दुः स ता एवेष्टका वज्रान्कृत्वा ग्रीवाः प्रचिच्छेद ॥१६॥ ते ह देवाः समेत्योचुः । चित्रं वाऽअभूम यऽइयतः सपत्नानवधिष्मेति तद्वै चित्रायै चित्रात्व७ चित्र७ ह भ-वति हन्ति सपत्नान्हन्ति द्विषन्तं भ्रातृव्यं य एवं विद्वांश्चित्रायामाधत्ते तस्मादेतन्क्ष-त्रिय एव नक्षत्रमुपेप्सेज्जिघा७सतीव ह्येष सपत्नान्वीव जिगीषते ॥१७॥ नाना ह वाऽएतान्यग्रे क्षत्राण्यासुः । यथैवासौ सूर्य एवं तेषामेष उद्यन्नेव वीर्यं क्षत्र-मादत्त तस्मादादित्यो नाम यदेषां वीर्यं क्षत्रमादत्त ॥१८॥ ते ह देवा ऊचुः । यानि वै तानि क्षत्राण्यभूवन्न वै तानि क्षत्राण्यभूवन्निति तद्वै नक्षत्राणां नक्षत्रत्वं तस्माद्ध सूर्यनक्षत्रऽएव स्यादेष ह्येषां वीर्यं क्षत्रमादत्त यद्यु नक्षत्रकामः स्यादे-तद्वाऽअनपराद्धं नक्षत्रं यत्सूर्यः स एतेनैव पुण्याहेन यदेतेषां नक्षत्राणां कामयेत तदुपेप्सेत्तस्माद्ध सूर्यनक्षत्रऽएव स्यात् ॥१९॥ ब्राह्मणम् ॥२॥

वसन्तो ग्रीष्मो वर्षाः । ते देवा ऋतवः शरद्धेमन्तः शिशिरस्ते पितरो य ए-

नक्षत्र में अग्नि का आधान करता है। इन्द्र यज्ञ का देवता है। इस प्रकार उसका अग्न्याधान सेन्द्र (इन्द्र वाला) हो जाता है। पूर्व-फल्गुनी में अग्न्याधान करे। इससे उसका ऋतु या यज्ञ पहला अर्थात् प्रथम कोटि का हो जाता है। या पिछले फल्गुनी (उत्तर) में अग्न्याधान करे, इससे उसका यज्ञ उत्तरा के समान अर्थात् उन्नतशील हो जाता है। [यहाँ शब्दों का सादृश्य दिखाया है। पूर्व-फल्गुनी में आधान करने से पूर्व-फल अर्थात् अच्छा फल होगा। उत्तर-फल्गुनी में आधान करने से उत्तर-फल अर्थात् अच्छा फल होगा] ॥११॥

हस्त नक्षत्र में अग्न्याधान करे। जो जिसकी इच्छा करे उसको वही दिया जाय। इसी अनुष्ठान से (कार्य सफल) होगा। जो हाथ से प्रदान किया जाता है, वह अवश्य ही दिया जाता है। 'हस्त' नक्षत्र का शाब्दिक सम्बन्ध हाथ द्वारा किये गये दान से जोड़ा गया है ॥१२॥

चित्रा नक्षत्र में अग्न्याधान करे। प्रजापति के पुत्र देव और असुर बड़ाई के लिए लड़ पड़े। दोनों ने चाहा कि उस लोक (द्यौ लोक) को चढ़ जावें। अब असुरों ने रौहिण अग्नि को प्रज्वलित किया कि इसके द्वारा हम उस लोक को चढ़ जायेंगे। [यहाँ अग्नि को रौहिण कहा। चढ़ने के लिए भी 'रुह' धातु आता है। यह शाब्दिक सादृश्य है] ॥१३॥

इन्द्र ने अब सोचा कि यदि ये इस अग्नि का आधान कर लेंगे तो हमको हरा देंगे। अब वह ब्राह्मण का भेष रखकर एक ईंट लेकर वहाँ गया ॥१४॥

उसने कहा, 'मैं भी इस (ईंट) को रख दूँ।' उन्होंने कहा 'अच्छा।' उसने (वह ईंट) रख दी। उनके अग्न्याधान में अब बहुत थोड़ी-सी कसर रह गई ॥१५॥

अब उसने कहा, 'मैं इस (ईंट) को निकाले लेता हूँ। यह मेरी है।' उसने उसे पकड़ा और खींच लिया। तब अग्नि की वेदी गिर पड़ी और अग्नि के गिरने से असुर भी गिर पड़े। उसने अब उन ईंटों को वज्र बना दिया और उनसे (असुरों के) गले काट डाले ॥१६॥

अब देव इकट्ठे होकर बोले—हमने शत्रु मार डाले, यह तो चित्र अर्थात् विचित्र बात हुई! इसलिए चित्रा नक्षत्र का चित्रत्व (विचित्रता) है। जो इस रहस्य को समझकर चित्रा नक्षत्र में अग्न्याधान करता है वह विचित्र हो जाता है और अहितकारी शत्रुओं का नाश कर देता है। इसलिए क्षत्रिय को अवश्य ही इस नक्षत्र में अग्न्याधान करने की इच्छा होनी चाहिए, क्योंकि ऐसा आदमी प्रायः अपने शत्रु के नाश की इच्छा किया करता है ॥१७॥

पहले ये (नक्षत्र) बहुत-से क्षत्र थे जैसे वह सूर्य। जब वह उदय हुआ तो उसने उनके क्षत्र और वीर्य (शक्ति) को ले लिया। इसलिए उसको आदित्य कहते हैं कि वह इन (नक्षत्रों) के वीर्य और क्षत्र को ले लेता है। ['आदत्ते' का अर्थ है 'ले लेता है'। इसी 'आदत्ते' से आदित्य शब्द को निकाला है] ॥१८॥

अब उन देवों ने कहा, 'जो अब तक क्षत्र अर्थात् शक्ति थे वे अब क्षत्र न रहेंगे। इसीलिए नक्षत्रों का नक्षत्रत्व है। अर्थात् पहले वे 'क्षत्र' थे, अब देवों के कहने से क्षत्र नहीं रहे (अर्थात् न + क्षत्र = नक्षत्र हो गये)। इसलिए सूर्य को ही नक्षत्र मानना चाहिए क्योंकि उनका वीर्य सूर्य ने ले लिया। यदि (यजमान को) (अग्न्याधान के लिए) नक्षत्र की आवश्यकता हो तो यह सूर्य अच्छा नक्षत्र है। इस पुण्य दिन में वह जिन नक्षत्रों को चाहे उनका पुण्य ले ले। इसलिए उसको सूर्य को ही नक्षत्र मानना चाहिए ॥१६॥

अध्याय १—ब्राह्मण ३

वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा ये देव-ऋतुएँ हैं। शरद्, हेमन्त और शिशिर ये पितृ-ऋतुएँ हैं। जो

वापूर्यतेऽर्धमासः स देवा योऽपक्षीयते स पितरोऽहरेव देवा रात्रिः पितरः पुनरह्नः पूर्वाह्णो देवा अपराह्णः पितरः ॥१॥ ते वाऽएतऽऋतवः। देवाः पितरः स यो हैवं विद्वान्देवाः पितर इति ह्वयत्या हास्य देवा देवहूयं गच्छन्त्या पितरः पितृहूयमवन्ति हैनं देवा देवहूयेऽवन्ति पितरः पितृहूये य एवं विद्वान्देवाः पितर इति ह्वयति ॥२॥ स यत्रोदगावर्तते। देवेषु तर्हि भवति देवांस्तर्ह्यभिगोपायत्यथ यत्र दक्षिणावर्तते पितृषु तर्हि भवति पितृंस्तर्ह्यभिगोपायति ॥३॥ स यत्रोदगावर्तते। तर्ह्यग्नीऽआदधीतापहतपाप्मानो देवा अप पाप्मानꣳ हतेऽमृता देवा नामृतत्वस्याशास्ति सर्वमायुरेति यस्तर्ह्याधत्तेऽथ यत्र दक्षिणावर्तते यस्तर्ह्याधत्तेऽनपहतपाप्मानः पितरो न पाप्मानमपहते मर्त्याः पितरः पुरा हायुषो म्रियते यस्तर्ह्याधत्ते ॥४॥ ब्रह्मैव वसन्तः। क्षत्रं ग्रीष्मो विडेव वर्षास्तस्माद्ब्राह्मणो वसन्तऽआदधीत ब्रह्म हि वसन्तस्तस्मात्क्षत्रियो ग्रीष्मऽआदधीत क्षत्रꣳ हि ग्रीष्मस्तस्माद्वैश्यो वर्षास्वादधीत विड्ढि वर्षाः ॥५॥ स यः कामयेत। ब्रह्मवर्चसी स्यामिति वसन्ते स आदधीत ब्रह्म वै वसन्तो ब्रह्मवर्चसी हैव भवति ॥६॥ अथ यः कामयेत। क्षत्रꣳ श्रिया यशसा स्यामिति ग्रीष्मे स आदधीत क्षत्रं वै ग्रीष्मः क्षत्रꣳ हैव श्रिया यशसा भवति ॥७॥ अथ यः कामयेत। बहुः प्रजया पशुभिः स्यामिति वर्षासु स आदधीत विड्ढि वर्षा अन्नं विशो बहुर्हैव प्रजया पशुभिर्भवति य एवं विद्वान्वर्षास्वाधत्ते ॥८॥ ते वाऽएतऽऋतवः। उभयऽएवापहतपाप्मानः सूर्य एवैषां पाप्मनोऽपहन्तोद्यन्नेवैषामुभयेषां पाप्मानमपहन्ति तस्माद्यर्हिवैनं कदा च यज्ञ उपनमेदथाग्नीऽआदधीत न श्वःश्वमुपासीत को हि मनुष्यस्य श्वो वेद ॥९॥ ब्राह्मणम् ॥३॥

यदहरस्य श्वोऽग्न्याधेयꣳ स्यात्। दिवैवाश्नीयान्मनो ह वै देवा मनुष्यस्याजानन्ति तेऽस्यैतद्धोऽग्न्याधेयं विदुस्तेऽस्य विश्वे देवा गृहानागच्छन्ति तेऽस्य गृहे-

आधा मास बढ़ता है (अर्थात् शुक्ल पक्ष) वह देवों का है और जो घटता है (अर्थात् कृष्ण पक्ष) वह पितरों का है। दिन देवों का है, रात पितरों की। फिर दिन का दोपहर से पूर्व का भाग देवों का है, पिछला भाग पितरों का ॥१॥

अब ये ऋतुएँ देवों और पितरों की हैं। जो मनुष्य इस रहस्य को समझकर देवों और पितरों को बुलाता है उसका देव-निमंत्रण सुनकर देव आ जाते हैं और पितृ-निमंत्रण सुनकर पितर। जो मनुष्य देव और पितरों को जानकर बुलाता है उसकी देव देव-निमंत्रण में और पितर पितृ-निमंत्रण में रक्षा करते हैं ॥२॥

वह (सूर्य) जब उत्तर की ओर होता है तो देवों में होता है और देवों की रक्षा करता है, और जब दक्षिण की ओर होता है तो पितरों में होता है और पितरों की रक्षा करता है ॥३॥

जब (सूर्य) उत्तरायण हो तो अग्न्याधान करे। (सूर्य के द्वारा) देवों का पाप नष्ट हो गया। उसका भी पाप दूर हो जायगा। देव अमर हैं। इसलिए जो इस समय अग्न्याधान करता है उसको अमरत्व की आशा तो नहीं हो सकती, परन्तु वह पूर्ण आयु को प्राप्त हो जाता है। परन्तु जो दक्षिणायन सूर्य में अग्न्याधान करता है उसका पाप नहीं छूटता, क्योंकि पितरों का पाप नहीं छूटा। और वह आयु से पहले मर जाता है क्योंकि पितर अमर नहीं हैं ॥४॥

वसन्त ब्राह्मण है, ग्रीष्म क्षत्रिय, वर्षा वैश्य। इसलिए ब्राह्मण वसन्त में अग्न्याधान करे क्योंकि वसन्त ब्राह्मण है। इसलिए क्षत्रिय ग्रीष्म में अग्न्याधान करे क्योंकि ग्रीष्म क्षत्रिय है। इसलिए वैश्य वर्षा में अग्न्याधान करे क्योंकि वर्षा वैश्य है ॥५॥

जो इच्छा करे कि मैं ब्रह्मवर्चसी हो जाऊँ वह वसन्त में अग्न्याधान करे, क्योंकि वसन्त ब्राह्मण है। वह निश्चय करके ब्रह्मवर्चसी हो जाता है ॥६॥

जो चाहे कि मुझे शक्ति, श्री और यश प्राप्त हो वह ग्रीष्म में अग्न्याधान करे, क्योंकि ग्रीष्म क्षत्रिय है। उसे शक्ति, श्री और यश मिलेगा ॥७॥

और जो चाहे कि बहुत सन्तान तथा पशु हो जायँ, वह वर्षा में अग्न्याधान करे, क्योंकि वर्षा वैश्य है। अन्न वैश्य है। जो इस रहस्य को समझकर वर्षा में अग्न्याधान करता है, उसके बहुत सन्तान और पशु होते हैं ॥८॥

(कुछ का मत है कि) ये दोनों प्रकार की ऋतुएँ (देव-ऋतु और पितृ-ऋतु) पापों से युक्त हैं। सूर्य इनके पापों का दूर करनेवाला है। जब वह चमकता है तो इनके पाप नष्ट हो जाते हैं। इसलिए जब कभी यज्ञ की इच्छा हो तभी अग्न्याधान कर ले। कल के ऊपर न डाले क्योंकि कौन जानता है कि कल क्या होगा? ॥९॥

अध्याय १—ब्राह्मण ४

जिस दिन के अगले दिन अग्न्याधान करना है उस दिन (यजमान और उसकी स्त्री) दिन में ही भोजन करे, क्योंकि देव मनुष्यों के मन को जानते हैं। वे जानते हैं कि अगले दिन अग्न्याधान होगा। इसलिए सब देव घर मे आ जाते हैं। वे उसके घरों में ठहर जाते हैं

षूपवसन्ति स उपवसथः ॥१॥ तन्न्वेवानवक्लृप्तं यो मनुष्येष्वनश्नत्सु पूर्वोऽश्नीयादथ
किमु यो देवेष्वनश्नत्सु पूर्वोऽश्नीयात्तस्मादु दिवैवाश्नीयात्तदपि काममेव नक्तमश्नी-
यान्नो ह्यनाहिताग्नेर्व्रतचर्यास्ति मानुषो ह्येवैष तावद्भवति यावदनाहिताग्निस्त-
स्मादपि काममेव नक्तमश्नीयात् ॥२॥ तद्धैकेऽजमुपबध्नन्ति । आग्नेयोऽजोऽग्नेरेव
सर्वत्वायेति वदन्तस्तदु तथा न कुर्याद्यद्यस्याजः स्यादमोघऽएवैनं प्रातर्दद्यात्तेनैव
तं काममाप्नोति तस्मादु तन्नाद्रियेत ॥३॥ अथ चातुष्प्राश्यमोदनं पचन्ति । छ-
न्दाᳫंस्यनेन प्रीणीम इति यथा येन वाहनेन स्यन्त्स्यन्त्स्यात्तत्सुहितं कर्तवै ब्रूया-
देवमेतदिति वदन्तस्तदु तथा न कुर्याद्यदाऽअस्य ब्राह्मणाः कुले वसन्त्यृत्विजश्चा-
नृत्विजश्च तेनैव तं काममाप्नोति तस्मादु तन्नाद्रियेत ॥४॥ तस्य सर्पिरासेचनं कृ-
त्वा । सर्पिरासिच्याश्वत्थीस्तिस्रः समिधो घृतेनान्वज्य समिद्वतीभिर्घृतवतीभिर्ऋग्भि-
रभ्यादधाति शमीगर्भमेतदाप्नुम इति वदन्तः स यः पुरस्तात्संवत्सरमभ्यादध्यात्स ह
तं काममाप्नुयात्तस्मादु तन्नाद्रियेत ॥५॥ तदु होवाच भाल्लवेयः । यथा वाऽअन्य-
त्करिष्यन्त्सोऽन्यत्कुर्याद्यथान्यद्वदिष्यन्त्सोऽन्यद्वदेद्यथान्येन पथैष्यन्त्सोऽन्येन प्रति-
पद्येतैवं तद्य एतं चातुष्प्राश्यमोदनं पचेदपराद्धिरेव सेति न हि तदवकल्पते य-
स्मिन्नग्नावृचा वा साम्ना वा यजुषा वा समिधं वाभ्यादध्यादाहुतिं वा जुहुयाद्यत्तं
दक्षिणा वा हरेयुरनु वा गमयेयुर्दक्षिणा वा ह्येनᳫं हरन्त्यन्वाहार्यपचनो भवि-
ष्यतीत्यनु वा गमयन्ति ॥६॥ अथ जाग्रति जाग्रति देवाः । तद्देवानेवैतदुपावर्त-
ते स सदेवनरः श्रान्ततरस्तपस्वितरोऽग्नीऽआधत्ते तदपि काममेव स्वप्यान्नो ह्य-
नाहिताग्नेर्व्रतचर्यास्ति मानुषो ह्येवैष तावद्भवति यावदनाहिताग्निस्तस्मादपि का-
ममेव स्वप्यात् ॥७॥ तद्धैकेऽनुदिते मथित्वा । तमुदिते प्राञ्चमुद्धरन्ति तदु नदुभे
ऽअहोरात्रे परिगृह्णीमः प्राणोदानयोर्मनसश्च वाचश्च पर्याप्त्याऽइति वदन्तस्तदु त-
था न कुर्यादुभौ हैवास्य तथानुदितऽआहितौ भवतोऽनुदिते हि मथित्वा तमु-

(उपवसन्ति)। इसलिए इस दिन को उपवसथ (उपवास) कहते हैं ॥१॥

यह अनुचित है कि ठहरे हुए मनुष्यों के भोजन करने से पूर्व वह भोजन कर ले। इससे भी अधिक अनुचित यह है कि ठहरे हुए देवों के भोजन करने से पूर्व भोजन करले। इसलिए उस दिन, दिन में ही भोजन करना चाहिए। परन्तु यदि इच्छा हो तो रात में भी भोजन कर सकता है। क्योंकि अभी अग्न्याधान नहीं किया, इसलिए व्रत-चारी तो है नहीं। जब तक अग्न्याधान नहीं करता उस समय तक मनुष्य रहता है। इसलिए इच्छा हो तो रात में भी भोजन कर ले ॥२॥

कुछ लोग बकरे को बाँध लेते हैं। बकरा अग्नि का है, और यह काम अग्नि के सर्वत्व अर्थात् पूर्ति के लिए किया जाता है। परन्तु उसे ऐसा नहीं करना चाहिए। जिसके पास बकरा हो वह प्रातःकाल अग्नीध् (आग्नीध्र) को दे दे, उसी से काम चल जायगा। इसलिए इस प्रथा का आदर न करे ॥३॥

अब वह चार मनुष्यों के योग्य ओदन (चातुष्प्राश्य भात) पकाते हैं (और कहते हैं कि) 'हम इसके द्वारा छन्दों को प्रसन्न करते हैं।' जैसे जिस वाहन (बैलों की जोड़ी) को जोतना चाहें उनको पहले से अच्छी प्रकार खिलाने-पिलाने की आज्ञा देते हैं। परन्तु उसे ऐसा नहीं करना चाहिए। चूँकि ब्राह्मण उसी के कुल में रहते हैं, चाहे वे ऋत्विज हों, चाहे ऋत्विज न हों, इसलिए इसी से उसका काम निकल जाता है। इसलिए इस (प्रथा)-का आदर नहीं करना चाहिए ॥४॥

उस (भात) में घी के लिए गड्ढा करके उसमें घी छोड़कर अश्वत्थ की तीन समिधायें घी में भिगोकर 'समिधा' और 'घी' वाली तीन ऋचाओं* से उनको अग्नि पर रख देते हैं, यह कहकर कि शमीगर्भ (शमी वृक्ष के भीतर उत्पन्न हुए अश्वत्थ की लकड़ियों से अग्नि निकाली जाती है) का फल इसी से मिल जाता है। परन्तु उसको यह फल तभी मिलता है जब वह निरन्तर सालभर तक अग्न्याधान से पहले ये तीन आहुतियाँ देता रहे। इसलिए इस प्रथा का आदर नहीं करना चाहिए। [अर्थात् जो फल शमीगर्भ में उत्पन्न हुई समिधाओं से होता है वह अश्वत्थ की तीन समिधाओं को भात में भरे हुए घी में भिगोकर चढ़ाने से होता है। परन्तु याज्ञवल्क्य इसको केवल एक अंश में मानते हैं] ॥५॥

इस पर भाल्लवेय का कहना है कि 'चातुष्प्राश्य' भात पकाना उसी प्रकार अनुचित है जैसे कोई एक कार्य की इच्छा करे और करे दूसरा, या एक बात कहना चाहे और कहे दूसरी, या एक मार्ग से जाना चाहे और जाये दूसरे से। यह ठीक नहीं है कि जिस अग्नि में ऋक्, यजु या साम से आहुति चढ़ावें उसी अग्नि को या तो दक्षिण में ले जाये या बुझा दे। परन्तु अन्वाहार्य-पचन (भात पकाने) के लिए या तो यह इस भाग को दक्षिण को ले जाते हैं या बुझा देते हैं। (इसलिए यह कार्य अनुचित है) ॥६॥

अब वह जागरण करता है। देव जागते रहते हैं। इसलिए वह इस प्रकार देवों के निकट हो जाता है और अधिक देवता बनकर, श्रान्त बनकर और तपस्वी होकर अग्न्याधान करता है। परन्तु यदि उसकी इच्छा हो तो सो भी रहे, क्योंकि अग्न्याधान करने से पहले तो व्रतचारी होता नहीं। जब तक अग्न्याधान नहीं किया तब तक वह साधारण मनुष्य है और इच्छा के अनुसार सो सकता है ॥७॥

कुछ लोग सूर्योदय से पूर्व अग्नि को मथकर सूर्योदय के पश्चात् पूर्व की ओर (गार्हपत्य से आहवनीय की ओर) ले जाते हैं जिससे रात और दिन दोनों का काम निकल आवे तथा प्राण उदान और मन वाणी का भी। परन्तु उसको ऐसा नहीं करना चाहिए, क्योंकि जब सूर्योदय के

---

* समिधा और घी वाली तीन ऋचाएँ यह हैं--

१. समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्। आस्मिन् हव्या जुहोतन ॥

२. सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन। अग्नये जातवेदसे ॥

३. तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि। बृहच्छोचा यविष्ठ्य ॥ —यजु० ३।१, २, ३

दिते प्राञ्चमुद्धरन्ति स य उदितेऽआहवनीयं मन्थेत्स ह तत्पर्याप्नुयात् ॥८॥ अ-
हर्वै देवाः । अनपहतपाप्मानः पितरो न पाप्मानमपहते मर्त्याः पितरः पुरा
ह्यायुषो म्रियते योऽनुदिते मन्थत्यपहतपाप्मानो देवा अप पाप्मानꣳ हतेऽमृता
देवा नामृतत्वस्याशास्ति सर्वमायुरेति श्रीर्देवाः श्रियं गच्छति यशो देवा यशो ह
भवति य एवं विद्वानुदिते मन्थति ॥९॥ तदाहुः । यन्नऽर्चा न साम्ना न यजुषा-
ग्निराधीयतेऽथ केनाधीयतऽइति ब्रह्मणो हैवैष ब्रह्मणाधीयते वाग्वै ब्रह्म तस्यै
वाचः सत्यमेव ब्रह्म ता वाऽएताः सत्यमेव व्याहृतयो भवन्ति तदस्य सत्येनै-
वाधीयते ॥१०॥ भूरिति वै प्रजापतिः । इमामजनयत भुव इत्यन्तरिक्षꣳ स्वरिति
दिवमेतावद्वाऽइदꣳ सर्वं यावदिमे लोकाः सर्वेणैवाधीयते ॥११॥ भूरिति वै प्र-
जापतिः । ब्रह्माजनयत भुव इति क्षत्रꣳ स्वरिति विशमेतावद्वाऽइदꣳ सर्वं याव-
द्ब्रह्म क्षत्रं विट् सर्वेणैवाधीयते ॥१२॥ भूरिति वै प्रजापतिः । आत्मानमजनयत
भुव इति प्रजाꣳ स्वरिति पशूनेतावद्वाऽइदꣳ सर्वं यावदात्मा प्रजा पशवः सर्वे-
णैवाधीयते ॥१३॥ स वै भूर्भुव इति । एतावतैव गार्हपत्यमादधात्यथ यत्सर्वै-
रादध्यात्केनाहवनीयमादध्याद्धऽअन्तरे परिशिनष्टि तेनोऽएतान्ययातयामानि भ-
वन्ति तैः सर्वैः पञ्चभिराहवनीयमादधाति भूर्भुवः स्वरिति तान्यष्टावक्षराणि स-
म्पद्यन्तेऽष्टाक्षरा वै गायत्री गायत्रमग्नेश्छन्दः स्वेनैवैनमेतच्छन्दसाधत्ते ॥१४॥ दे-
वान्ह वाऽअग्नीऽआधास्यमानान् । तानसुररक्षसानि ररक्षुर्नाग्निर्जनिष्यते नाग्नी
आधास्यधऽइति तद्यद्ररक्षंस्तस्माद्रक्षाꣳसि ॥१५॥ ततो देवा एतं वज्रं ददृशुः ।
यदश्वं तं पुरस्तादुदश्रयंस्तस्याभयेऽनाष्ट्रे निवातेऽग्निरजायत तस्माद्यत्राग्निं मन्थि-
ष्यन्त्स्यात्तदश्वमानेतवै ब्रूयात्स पूर्वेणोपतिष्ठते वज्रमेवैतदुच्छ्रयति तस्याभयेऽनाष्ट्रे
निवातेऽग्निर्जायते ॥१६॥ स वै पूर्ववाट् स्यात् । स ह्यपरिमितं वीर्यमभिवर्धते
यदि पूर्ववाहं न विन्देदपि य एव कश्चाश्वः स्याद्यद्यश्वं न विन्देदप्यनड्वानेव

पश्चात् पूर्व की ओर ले जाते हैं तो दोनों अग्नियाँ सूर्योदय के पूर्व की ही हो जाती हैं। सूर्योदय के पश्चात् आहवनीय को मथने से भी यही कार्य निकल सकता है ॥८॥

देव दिन हैं। पितर पाप-शून्य नहीं हैं, (अर्थात्) सूर्य ने पितरों के पाप छुटाये नहीं; इसलिए जो सूर्योदय से पूर्व अग्नि को मथता है वह पापों से मुक्त नहीं होता। और पितर अमर नहीं हैं इसलिए वह जो सूर्योदय से पूर्व अग्नि को मथता है, पूर्ण आयु से पूर्व मर जाता है। जो पुरुष इस रहस्य को समझकर सूर्योदय के पश्चात् अग्नि को मथता है, वह पापों से छूट जाता है क्योंकि देव पापों से मुक्त हैं। और यद्यपि अमर नहीं होता तो भी पूर्ण आयु को अवश्य प्राप्त होता है क्योंकि देव अमर हैं। श्री को प्राप्त होता है क्योंकि देव श्री हैं। यश को प्राप्त होता है क्योंकि देव यश हैं ॥९॥

इस पर कुछ लोग कहते हैं कि यदि ऋक्, साम और यजुः से अग्न्याधान न किया जाय तो किससे किया जाये ? (इसका उत्तर यह है कि) यह अग्नि ब्रह्म की है इसलिए ब्रह्म से ही इसका आधान होना चाहिए। वाणी ब्रह्म है। उसी वाणी का यह (अग्नि) है। ब्रह्म सत्य है और इन व्याहृतियों में सत्य है। इसलिए सत्य के द्वारा इसका आधान होता है ॥१०॥

प्रजापति ने 'भू' से इस (पृथिवी) को उत्पन्न किया, 'भुवः' से अन्तरिक्ष को और 'स्वः' से द्यौलोक को। ये जो तीन लोक हैं उतना ही जगत् है। इसलिए 'सब' से ही आधान किया जाता है ॥११॥

प्रजापति ने 'भू' से ब्राह्मण उत्पन्न किये, 'भूवः' से क्षत्रिय और 'स्वः' से वैश्य। ये जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हैं इतना ही सब जगत् है, इसलिए 'सब' से ही आधान किया जाता है ॥१२॥

प्रजापति ने 'भू' से आत्मा को, 'भुवः' से प्रजा को और 'स्वः' से पशुओं को उत्पन्न किया। ये जो आत्मा, प्रजा और पशु हैं उतना ही यह सब जगत् है, इसलिए 'सब' से ही आधान किया जाता हे ॥१३॥

वह 'भूर्भुवः' से गार्हपत्य अग्नि का आधान करता है। यदि सब (तीनों व्याहृतियों) से आधान करता तो आहवनीय का आधान किससे करता ? इसलिए दो अक्षर (स्वः) छोड़ देता है। इससे (शेष तीन अक्षर) अधिक प्रभावशाली हो जाते हैं। इन पाँचों अक्षरों से अर्थात् 'भूर्भुवः स्वः' से आहवनीय का आधान करता है। इस प्रकार आठ अक्षर हो जाते हैं। गायत्री में भी आठ अक्षर होते हैं। गायत्री अग्नि का छन्द है। इस प्रकार वह (अग्नि का) आधान (अग्नि के ही) छन्द से करता है ॥१४॥

देवों ने अग्नियों का आधान करना चाहा। असुर और राक्षसों ने उनको रोका (और कहा कि) 'अग्नि उत्पन्न न होगी', 'अग्नि का आधान मत करो।' चूँकि उन्होंने रोका (अरक्षन्) इसलिए 'रक्ष्' धातु से उनका नाम राक्षस पड़ा ॥१५॥

तब देवों ने इस वज्र अर्थात् 'अश्व' को देखा। उन्होंने उसको सामने खड़ा कर लिया और उसके भयरहित, शत्रुरहित संरक्षण में अग्नि को उत्पन्न किया। इसलिए जहाँ अग्नि को मथना हो वहाँ अश्व को ले जाओ, ऐसा (अध्वर्यु अग्नीध्र को) बोले। वह सामने खड़ा होता है, वज्र को उठाता है और उसके भयरहित और शत्रु-शून्य संरक्षण में अग्नि उत्पन्न होती है ॥१६॥

इसको पूर्ववाट् (पूर्व को चलनेवाला या शायद अगुआ या युवा घोड़ा) होना चाहिए, क्योंकि इसमें अपरिमित वीर्य होता है। यदि पूर्ववाट् अश्व न मिले तो जैसा अश्व मिले वही सही। यदि अश्व न मिले तो अनड्वान (बैल) ही ले ले, क्योंकि यह (अग्नि) बैल का बन्धु

स्यादेष ह्येवानडुहो बन्धुः ॥१७॥ तं यत्र प्राञ्चꣳ हरन्ति । तत्पुरस्तादश्वं नयन्ति तत्पुरस्तादेवैतन्नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यपघ्नन्नेत्यथाभयेनानाष्ट्रेण हरन्ति ॥१८॥ तं वै तथैव कुर्युः । यथैनमेष प्रत्यङ्ङुपाचरेदेष वै यज्ञो यदग्निः प्रत्यङ् हैवैनं यज्ञः प्रविशति तं क्षिप्रे यज्ञ उपनमत्यथ यस्मात्पराङ् भवति पराङु हैवास्माद्यज्ञो भवति स यो हैनं तत्रानुव्याहरेत्पराङस्माद्यज्ञोऽभूदितीश्वरो ह यत्तथैव स्यात् ॥१९॥ एष उ वै प्राणः । तं वै तथैव कुर्युर्यथैनमेष प्रत्यङ्ङुपाचरेत्प्रत्यङ् हैवैनं प्राणः प्रविशत्यथ यस्मात्पराङ् भवति पराङु हैवास्मात्प्राणो भवति स यो हैनं तत्रानुव्याहरेत्पराङस्मात्प्राणोऽभूदितीश्वरो ह यत्तथैव स्यात् ॥२०॥ ॥ शतम् १०० ॥ ॥ अयं वै यज्ञो योऽयं पवते । तं वै तथैव कुर्युर्यथैनमेष प्रत्यङ्ङुपाचरेत्प्रत्यङ् हैवैनं यज्ञः प्रविशति तं क्षिप्रे यज्ञ उपनमत्यथ यस्मात्पराङ् भवति पराङु हैवास्माद्यज्ञो भवति स यो हैनं तत्रानुव्याहरेत्पराङस्माद्यज्ञोऽभूदितीश्वरो ह यत्तथैव स्यात् ॥२१॥ एष उ वै प्राणः । तं वै तथैव कुर्युर्यथैनमेष प्रत्यङ्ङुपाचरेत्प्रत्यङ् हैवैनं प्राणः प्रविशत्यथ यस्मात्पराङ् भवति पराङु हैवास्मात्प्राणो भवति स यो हैनं तत्रानुव्याहरेत्पराङस्मात्प्राणोऽभूदितीश्वरो ह यत्तथैव स्यात्तस्मादु तथैव कुर्युः ॥२२॥ अथाश्वमाक्रमयति । तमाक्रमय्य प्राञ्चमुन्नयति तं पुनरावर्तयति तमुदञ्चं प्रमुञ्चति वीर्यं वाऽअश्वो नेदस्मादिदं पराग्वीर्यमसदिति तस्मात्पुनरावर्तयति ॥२३॥ तमश्वस्य पदऽआधत्ते । वीर्यं वाऽअश्वो वीर्यऽएवैनमेतदाधत्ते तस्मादश्वस्य पदऽआधत्ते ॥२४॥ स वै तूष्णीमेवाग्रऽउपस्पृशति । अथोद्यच्छत्यथोपस्पृशति भूर्भुवः स्वरित्येव तृतीयेनादधाति त्रयो वाऽइमे लोकास्तदिमानेवैतल्लोकानाप्नोत्येतन्न्वेकम् ॥२५॥ अथेदं द्वितीयं । तूष्णीमेवाग्रऽउपस्पृशत्यथोद्यच्छति भूर्भुवः स्वरित्येव द्वितीयेनादधाति यो वाऽअस्यामप्रतिष्ठितो भारमुद्यच्छति नैनꣳ शक्नोत्युद्यन्तुꣳ सꣳ हैनꣳ शृणाति ॥२६॥ स यत्तूष्णीमुपस्पृशति ।

है ।।१७।।

और जब वह इस (अग्नि) को पूर्व की ओर ले जाते हैं तो आगे-आगे घोड़े को ले जाते हैं। इस प्रकार आगे-आगे चलकर वह दुरात्मा राक्षसों को हटाता चलता है। और वे इस (अग्नि) को (आहवनीय तक) बिना भय और बिना शत्रु के ले जाते हैं ।।१८।।

इस (अग्नि) को इस प्रकार ले जायें कि उसका मुँह (यजमान की ओर) रहे। यह अग्नि ही यज्ञ है। यजमान की ओर ही यज्ञ प्रवेश होता है, उसी की ओर यज्ञ शीघ्र झुक जाता है। और जिसकी ओर से यह (अग्नि) मुंह फेर लेता है उसकी ओर से यज्ञ भी मुँह फेर लेता है। यदि कोई किसी को दुर्वाक्य कहे कि यज्ञ तुझसे मुँह फेर ले तो उसका ऐसा ही हो जाय ।।१९।।

यह (अग्नि) प्राण है। इस (अग्नि) को इस प्रकार ले जाये कि इसका मुँह (यजमान की ओर) रहे, क्योंकि उधर से ही प्राण घुसता है। यदि (अग्नि) किसी से मुँह फेर लेता है तो प्राण भी उससे मुँह फेर लेता है। यदि कोई किसी से दुर्वाक्य कहे कि प्राण तुझसे मुँह फेर ले तो ऐसा ही हो जाय ।।२०।।

यह जो पवन है वही यज्ञ है। इस (अग्नि) को इस प्रकार ले जायें कि उसका मुँह (यजमान की) ओर रहे, क्योंकि इसी की ओर यज्ञ प्रवेश होता है, इसी की ओर झुक जाता है। जिसकी ओर से यह (अग्नि) मुँह फेर लेता है, उसकी ओर से यज्ञ भी मुँह फेर लेते हैं। यदि कोई किसी से दुर्वाक्य कहे कि यज्ञ तुझसे मुँह फेर ले तो ऐसा ही हो जाय ।।२१।।

यह (अग्नि) प्राण है। इस (अग्नि) को इस प्रकार ले जाये कि इसका मुँह (यजमान की ओर) रहे, क्योंकि इधर से ही प्राण घुसता है। यदि (अग्नि) किसी से मुँह फेर लेता है तो प्राण भी उससे मुँह फेर लेता है। यदि कोई किसी से दुर्वाक्य कहे कि प्राण उससे मुँह फेर ले तो ऐसा ही हो जाय। इसलिए अग्नि को हम इस प्रकार ले जायँ ।।२२।।

अब (अध्वर्यु) अश्व को (आहवनीय की ओर) ले जाता है। जब वह वहाँ पहुँच गया तो वह उसे पूर्व की ओर ले जाता है। (बायीं ओर से दाहिनी ओर) घुमाता है और पश्चिम-मुख खड़ा कर देता है। अश्व वीर्य है। वह अश्व को फिर इस प्रकार घुमाता है कि वीर्य उसकी ओर मुँह न मोड़े ।।२३।।

वह अग्नि को अश्व के पद-चिह्न पर रखता है। अश्व वीर्य है। इस प्रकार वीर्य में वह इस अग्नि को रखता है। इसीलिए अश्व के पद-चिह्न में वह अग्नि को रखता है ।।२४।।

पहले वह चुपके से (अग्नि से पद-चिह्न को) छूता है। फिर वह उसको उठाता है और फिर छूता है। फिर तीसरी बार रख देता है यह मन्त्रांश पढ़कर—'भूर्भुवः स्वः' (यजु० ३।५)। तीन ही लोक हैं। इस प्रकार वह इन लोकों को प्राप्त होता है। यह अग्न्याधान की एक विधि है ।।२५।।

दूसरी विधि यह है कि चूपके से पहले छुये, फिर उठावे, फिर दूसरी बार में ही 'भूर्भुवः स्वः' से आधान कर दे। बिना भूमि पर पैर जमाये जो बोझ को उठाता है वह उठा नहीं सकता। बोझ उसको दबा देता है। इसलिए वह पहली बार पैर जमा लेता है, फिर बोझ उठाता है। पहली बार अग्नि से पद-चिह्न को छूना पैर जमाने के तुल्य है ।।२६।।

यह जो चुपके से छूता है मानो इस पृथिवी में पैर जमाता है और आधान करता है। अब

तदस्यां प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठन्ति सोऽस्यां प्रतिष्ठित आधत्ते तथा न व्यथते तदु हैतत्पञ्चेव दध्रिरऽआसुरिः पाञ्चिर्माधुकिः सर्वं वाऽअन्यदियसितमिव प्रथमेनैवो-द्यत्यादध्याद्भूर्भुवः स्वरिति तदेवानियसितमित्यतो यतमथा कामयेत तथा कुर्यात् ॥२७॥ अथ पुरस्तात्परीत्य । पूर्वार्धमुल्मुकानामभिपद्य जपति द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णेति यथासौ द्यौर्बह्वी नक्षत्रैरेवं बहुर्भूयासमित्येवैतदाह यदाह द्यौरिव भूम्नेति पृथिवीव वरिम्णेति यथेयं पृथिव्युर्व्येवमुरुर्भूयासमित्येवैतदाह तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽइत्यस्यै ह्येनं पृष्ठऽआधत्तेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधऽइत्यन्नादोऽग्निरन्नादो भूयासमित्येवैतदाह सैषाशीरेव स यदि कामयेत जपेदेतद्यद्यु कामयेतापि नाद्रियेत ॥२८॥ अथ सर्पराज्ञ्या ऋग्भिरुपतिष्ठते । आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः । पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥ अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती । व्यख्यन्महिषो दिवम् ॥ त्रिᳬशद्धाम विराजति वाक्पतङ्गाय धीयते । प्रति वस्तोरह द्युभिरिति तद्यदेवास्यात्र सम्भारैर्वा नक्षत्रैर्वऽर्तुभिर्वाधानेन वानाप्तं भवति तदेवास्यैतेन सर्वमाप्तं भवति तस्मात्सर्पराज्ञ्या ऋग्भिरुपतिष्ठते ॥२९॥ तदाहुः । न सर्पराज्ञ्या ऋग्भिरुपतिष्ठेतेतीयं वै पृथिवी सर्पराज्ञी स यदेवास्यामाधत्ते तत्सर्वान्कामानाप्नोति तस्मान्न सर्पराज्ञ्या ऋग्भिरुपतिष्ठेतेति ॥३०॥ ब्राह्मणम् ॥४॥ अध्यायः ॥१[१०.]॥ ॥

उद्धृत्याहवनीयं पूर्णाहुतिं जुहोति । तद्यत्पूर्णाहुतिं जुहोत्यन्नादं वाऽएतमात्मनो जनयते यदग्निं तस्माऽएतदन्नाद्यमपिदधाति यथा कुमाराय वा जाताय वत्साय वा स्तनमपिदध्यादेवमस्माऽएतदन्नाद्यमपिदधाति ॥१॥ स एतेनान्नेन शान्तः । उत्तराणि हवीᳬषि श्रप्यमाणान्युपरमति शश्वद्ध वाऽअध्वर्युं वा यजमानं वा प्रदहेत्तौ ह्यस्य नेदिष्ठं चरतो यदस्मिन्नेतामाहुतिं न जुहुयात्तस्माद्वाऽएतामाहुतिं जुहोति ॥२॥ तां वै पूर्णां जुहोति । सर्वं वै पूर्णᳬ सर्वेणैवैनमेतच्छमयति

इसमें कोई व्यथा अर्थात् आपत्ति नहीं होती। आसुरि, पाञ्चि और माधुकि इस अग्नि को कुछ पश्चिम की ओर हटाकर रखते थे। उनका कथन था कि (अग्नि के छूने से) सब चीजें कुछ हट जाती हैं, इसलिए पहले ही उठाकर 'भूर्भुवः स्वः' से आधान करना चाहिए। परन्तु जैसा चाहे करे ॥२७॥

अब (यजमान) (अग्नि के) पूव की ओर मुड़ता है और जलती हुई समिधाओं का पूर्वार्ध पकड़कर कहता है—"द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा" (यजु० ३।५)—"द्यौ के समान बहुत और पृथिवी के समान विस्तृत।" 'द्यौरिव भूम्ना' कहने से तात्पर्य यह है कि जैसे द्यौलोक में बहुत-से नक्षत्र हैं, इसी प्रकार मैं भी बहुत हो जाऊँ। और 'पृथिवीव वरिम्णा' कहने से तात्पर्य यह है कि जैसे पृथिवी बड़ी है वैसे ही मैं भी हो जाऊँ। अब कहता है—"तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठे" (यजु० ३।५)—"हे देव-यज्ञ के योग्य पृथिवि, उस तेरी पीठ पर।" क्योंकि इसी की पीठ पर आधान करता है। अब कहता है—"अग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे" (यजु० ३।५)—"अन्न के खानेवाले अग्नि को अन्न की प्राप्ति के लिए रखता हूँ।" अग्नि अन्न का खानेवाला है। ऐसा कहने से तात्पर्य यह है कि मैं अन्न को खानेवाला होऊँ। यह आशीर्वाद है। चाहे तो जपे और चाहे तो छोड़ दे ॥२८॥

अब सर्प-राज्ञी वाली (तीन) ऋचाओं को पढ़कर खड़ा रखता है—"आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥१॥ अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणदपानती। व्यख्यन् महिषो दिवम् ॥२॥ त्रिँशद्धाम विराजति वाक् पतङ्गाय धीयते। प्रति वस्तोरह द्युभिः ॥३॥ (यजु० ३।६,७,८ या ऋग्वेद १०।१८९।१,२,३)।

[टिप्पणी—इन मन्त्रों की ऋषिका सार्पराज्ञी है)—"यह पृश्नि (चितकबरी) गौ आई और मा के आगे खड़ी हो गई। और पिता के आगे स्वर्लोक को हुई" ॥१॥ "इसके प्राण से साँस लेती हुई चमकनेवाले अन्तरिक्ष के बीच में चलती है। बड़े (पदार्थ) द्वारा द्यौलोक की व्याख्या करती हुई" ॥२॥ "तीन सौ धामों के ऊपर विराजती है। वाणी पतङ्ग (सूर्य) के लिए धारण की जाती है। प्रातःकाल प्रकाशों के द्वारा"] ॥३॥

वह इन सर्पराज्ञीवाली ऋचाओं को खड़े-खड़े इसलिए पढ़ता है कि जिस वस्तु की प्राप्ति उसको यज्ञ की तैयारी से, या नक्षत्रों से, या ऋतुओं से, या अग्न्याधान से न हो सकी, वह सब इससे हो जाती है ॥२९॥

परन्तु कुछ लोगों का कहना है कि सर्पराज्ञीवाली ऋचाओं को खड़े-खड़े पढ़ने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि यह पृथिवी ही सर्पराज्ञी है। जब पृथिवी में अग्न्याधान किया जाता है तो सब कामनाओं की पूर्ति हो जाती है। इसलिए सर्पराज्ञीवाली ऋचाओं को खड़े-खड़े पढ़ने की आवश्यकता नहीं ॥३०॥

अध्याय २—ब्राह्मण १

आहवनीय अग्नि को निकालकर पूर्ण आहुति देता है। पूर्ण आहुति इसलिए देता है कि वह अपने लिए (अग्नि को) अन्न का खानेवाला बनाता है। इसलिए वह उसको अन्न देता है। जैसे उत्पन्न हुए कुमार या बछड़े के लिए स्तन पिलाते हैं, उसी प्रकार वह इसको अन्न देता है ॥१॥

इस अन्न से शान्त होकर (अग्नि) आनेवाली हवियों के पकाने की प्रतीक्षा करता है। यदि उस (अग्नि) में यह आहुति न दी जाय तो वह अध्वर्यु को या यजमान को जला दे क्योंकि यही उसके पास होकर चलते हैं। इसीलिए वह उसको यह आहुति देता है ॥२॥

इस आहुति को (चमसे में) पूरा भरकर देता है। पूर्ण का अर्थ है 'सब'। इस प्रकार

स्वाहाकारेण जुहोत्यनिरुक्तो वै स्वाहाकारः सर्वं वाऽअनिरुक्तꣳ सर्वेणैवैनमे-
तच्छमयति ॥३॥ यां वै प्रजापतिः । प्रथमामाहुतिमजुहोत्स्वाहेति वै तामजुहो-
त्सो स्विदेषा निदानेन तस्मात्स्वाहेति जुहोति तस्यां वरं ददाति सर्वं वै वरः
सर्वेणैवैनमेतच्छमयति ॥४॥ तदाहुः । एतामेवाहुतिꣳ हुत्वाथोत्तराणि हवीꣳषि
नाद्रियेतैतयैव तं काममाप्नोति यमभिकाममुत्तराणि हवीꣳषि निर्वपतीति ॥५॥
स वाऽअग्नये पवमानाय निर्वपति । प्राणो वै पवमानः प्राणमेवास्मिन्नेतद्दधाति
तद्वैतयैवास्मिंस्तद्दधात्यन्नꣳ हि प्राणोऽन्नमेषाहुतिः ॥६॥ अथाग्नये पावकाय नि-
र्वपति । अन्नं वै पावकमन्नमेवास्मिन्नेतद्दधाति तद्वैतयैवास्मिंस्तद्दधात्येषा ह्येव
प्रत्यक्षमन्नमाहुतिः ॥७॥ अथाग्नये शुचये निर्वपति । वीर्यं वै शुचि यद्वाऽअस्यैत-
दुज्ज्वलत्येतदस्य वीर्यꣳ शुचि वीर्यमेवास्मिन्नेतद्दधाति तद्वैतयैवास्मिंस्तद्दधाति य-
दा ह्येवास्मिन्नेनामाहुतिं जुहोत्यथास्यैतद्वीर्यꣳ शुच्युज्ज्वलति ॥८॥ तस्मादाहुः ।
एतामेवाहुतिꣳ हुत्वाथोत्तराणि हवीꣳषि नाद्रियेतैतयैव तं काममाप्नोति यमभि-
काममुत्तराणिं हवीꣳषि निर्वपतीति तद्व निर्वपेदेवोत्तराणि हवीꣳषि परोऽक्ष-
मिव वाऽएतद्यददस्तदिदमितीव ॥९॥ स यदग्नये पवमानाय निर्वपति । प्राणा
वै पवमानो यदा वै जायतेऽथ प्राणोऽथ यावन्न जायते मातुर्वैव तावत्प्राणमनु
प्राणिति यथा वा तज्जातऽएवास्मिन्नेतत्प्राणं दधाति ॥१०॥ अथ यदग्नये पाव-
काय निर्वपति । अन्नं वै पावकं तज्जातऽएवास्मिन्नेतदन्नं दधाति ॥११॥ अथ य-
दग्नये शुचये निर्वपति । वीर्यं वै शुचि यदा वाऽअन्नेन वर्धतेऽथ वीर्यं तदन्नेनै-
वैनमेतद्वर्धयित्वाथास्मिन्नेतद्वीर्यꣳ शुचि दधाति तस्मादग्नये शुचये ॥१२॥ तद्वैतदेव
सद्विपर्यस्तमिव । अग्निर्ह यत्र देवेभ्यो मनुष्यानभ्युपाववर्त तद्धेक्षां चक्रे मैव सर्वे-
णेवात्मना मनुष्यानभ्युपावृतमिति ॥१३॥ स एतास्तिस्रस्तनूरेषु लोकेषु विन्य-
धत्त । यदस्य पवमानꣳ रूपमासीत्तदस्यां पृथिव्यां न्यधत्ताथ यत्पावकं तदन्तरिक्षे

वह 'सब' से उसको शान्त करता है। 'स्वाहा' कहके वह यह आहुति देता है। 'स्वाहा' अनिरुक्त अर्थात् अपरिमित है। 'सब' भी अपरिमित है। इस प्रकार 'सब' से इसको शान्त करता है ॥३॥

प्रजापति ने जो पहली आहुति दी वह 'स्वाहा' कहकर दी। निदान से यह आहुति भी वैसी ही है, इसलिए स्वाहा कहके देता है। इसमें वह वर देता है। 'वर' का अर्थ है 'सब', इसलिए 'सब' के द्वारा उसको शान्त करता है ॥४॥

इस पर कुछ लोग कहते हैं कि इस आहुति को देकर अब पीछे से कोई आहुतियाँ न दी जावें, क्योंकि जो इच्छा उन आहुतियों के देने से पूरी होती, वह इसी आहुति के देने से पूरी हो जाती है ॥५॥

अब वह 'अग्नि पवमान' के लिए आहुति निकालता है। प्राण ही पवमान है। इसलिए वह इस प्रकार उस (यजमान) में प्राण धारण कराता है, और वह इस (आहुति) के द्वारा उसमें धारण कराता है। अन्न ही प्राण है और अन्न ही यह आहुति है ॥६॥

अब वह 'अग्नि पावक' के लिए आहुति देता है। अन्न ही पावक है। उस (यजमान) में वह इस प्रकार अन्न को धारण कराता है। वह इसी (आहुति) के द्वारा उसमें धारण कराता है। और वह इस आहुति के द्वारा ऐसा करता है क्योंकि प्रत्यक्ष रूप से यह आहुति अन्न है ॥७॥

अब 'शुचि अग्नि' के लिए वह आहुति देता है। शुचि वीर्य है। यह जो उसकी ज्वाला है वही वीर्य है। इस प्रकार वह यजमान में वीर्य (पराक्रम) धारण कराता है। वह इस आहुति के द्वारा उसमें वीर्य धारण कराता है, क्योंकि जब वह आहुति देता है तो वीर्य (अर्थात् शुचि) प्रज्वलित होता है ॥८॥

इसलिए कहते हैं कि इस आहुति को देकर पीछे की आहुतियाँ न दी जायें, क्योंकि जो काम पीछे की आहुतियाँ देने से चलता है वह इसी आहुति के देने से चल जाता है। परन्तु उसको पिछली आहुतियाँ भी देनी चाहिएँ क्योंकि (पूर्ण आहुति में) जो परोक्ष-सा था वह इससे प्रकट हो जाता है ॥९॥

अग्नि पवमान के लिए आहुति इसलिए देता है कि प्राण ही पवमान है। जब बच्चा उत्पन्न होता है तब प्राण (का संचार) होता है, और जब तक उत्पन्न नहीं होता तब तक मा के प्राण से साँस लेता है और जब वह उत्पन्न होता है तो उसमें प्राण आता है ॥१०॥

अग्नि पावक के लिए आहुति इसलिए देता है कि अन्न ही पावक है। इस प्रकार जब बच्चा उत्पन्न होता है तब उसमें अन्न धारण कराया जाता है ॥११॥

अग्नि-शुचि के लिए आहुति इसलिए देता है कि शुचि वीर्य है। जब अन्न से बढ़ता है तो वीर्य होता है। अन्न से ही इसकी वृद्धि कराके उसमें शुचि अर्थात् वीर्य को धारण कराता है। इसलिए अग्नि-शुचि के लिए आहुति दी जाती है ॥१२॥

दूसरी प्रथा (केवल पूर्ण आहुति देने की) ठीक नहीं। जब अग्नि देवों से चलकर मनुष्यों तक आया तो उसने चाहा कि मैं अपनी सम्पूर्ण आत्मा से मनुष्यों के पास न आऊँ ॥१३॥

तब उसने इन लोकों में अपने तीन शरीर रक्खे। उसका जो पवमान रूप था वह पृथिवी में रक्खा. जो पावक रूप था वह अन्तरिक्ष में और जो 'शुचि' रूप था वह द्योलोक में। जो ऋषि

ऽथ यच्छुचि तद्दिवि तद्वाऽऋषयः प्रतिबुबुधिरे यऽउ तर्ह्यृषय आसुरसर्वेणा वै न आत्मनाग्निरभ्युपावृतदिति तस्माऽएतानि हवीꣳषि निरवपन् ॥१४॥ स यदग्नये पवमानाय निर्वपति । यदेवास्यास्यां पृथिव्याꣳ रूपं तदेवास्यैतेनाप्नोत्यथ यदग्नये पावकाय निर्वपति यदेवास्यान्तरिक्षे रूपं तदेवास्यैतेनाप्नोत्यथ यदग्नये शुचये निर्वपति यदेवास्य दिवि रूपं तदेवास्यैतेनाप्नोत्येवमु कृत्स्नमेवाग्निमनपनिहितमाधत्ते तस्मादु निर्वपेदेवोत्तराणि हवीꣳषि ॥१५॥ केवलबर्हिः प्रथमꣳ हविर्भवति । समानबर्हिषीऽउत्तरेऽअयं वै लोकः प्रथमꣳ हविरथेदमन्तरिक्षं द्वितीयं द्यौरेव तृतीयं बकुलेव वाऽइयं पृथिवी लेलयेवान्तरिक्षं लेलयेवासौ द्यौरुभे चिदेनां प्रत्युद्यामिनी स्तामिति तस्मात्समानबर्हिषी ॥१६॥ अष्टाकपालाः सर्वे पुरोडाशा भवन्ति । अष्टाक्षरा वै गायत्री गायत्रमग्नेश्छन्दः स्वेनैवैनमेतच्छन्दसाधत्ते तानि सर्वाणि चतुर्विꣳशतिः कपालानि सम्पद्यन्ते चतुर्विꣳशत्यक्षरा वै गायत्री गायत्रमग्नेश्छन्दः स्वेनैवैनमेतच्छन्दसाधत्ते ॥१७॥ अथादित्यै चरुं निर्वपति । प्रच्यवतऽइव वाऽएषोऽस्माल्लोकाद्य एतानि हवीꣳषि निर्वपतीमान्हि लोकान्त्समारोहन्नेति ॥१८॥ स यददित्यै चरुं निर्वपति । इयं वै पृथिव्यदितिः सेयं प्रतिष्ठा तदस्यामेवैतत्प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठति तस्माददित्यै चरुं निर्वपति ॥१९॥ तस्यै विराजौ संयाज्ये स्यातामित्याहुः । विराडीयमित्यथो त्रिष्टुभौ त्रिष्टुब्भीयमित्यथो जगत्यौ जगती ह्मीयमिति विराजावित्येव स्याताम् ॥२०॥ तस्यै धेनुर्दक्षिणा । धेनुरिव वाऽइयं मनुष्येभ्यः सर्वान्कामान्दुहे माता धेनुर्मातेव वाऽइयं मनुष्यान्बिभर्ति तस्माद्धेनुर्दक्षिणैतन्न्वेकमयनम् ॥२१॥ अथेदं द्वितीयम् । आग्नेयमेवाष्टाकपालं पुरोडाशं निर्वपति परोऽक्षमिव वाऽएतद्यदग्नये पवमानायाग्नये पावकायाग्नये शुचयऽइतीवाथाञ्जसैवैनमेतत्प्रत्यक्षमाधत्ते तस्मादग्नयेऽथादित्यै चरुं निर्वपति स य एव चरोर्बन्धुः स बन्धुः ॥२२॥ ब्राह्मणम् ॥५[२.१.]॥ ॥

उस समय थे उन ऋषियों को यह मालूम हो गया कि अग्नि सम्पूर्ण आत्मा से हमारे पास नहीं आया। इसलिए उन्होंने अग्नि के लिए वे आहुतियाँ तैयार कीं ॥१४॥

अब वह अग्नि-पवमान के लिए आहुति देता है तो वह उस रूप को प्राप्त करता है जो इस पृथिवी में रक्खा हुआ है; अब अग्नि-पावक के लिए आहुति देता है तो उस रूप को प्राप्त करता है जो अन्तरिक्ष में रक्खा हुआ है; और अग्नि-शुचि के लिए आहुति देता है तो उस रूप को प्राप्त करता है जो द्यौ में रक्खा हुआ है। इस प्रकार वह सम्पूर्ण अग्नि को बिना बिगाड़े हुए रख देता है। इसलिए भी उसको पिछली आहुतियाँ देनी चाहिएँ ॥१५॥

पहली आहुति में केवल बर्हि (कुश) होता है। बाद की दो आहुतियों में एक ही बर्हि होता है। पहली हवि इस लोक को, दूसरी अन्तरिक्ष को, तीसरी द्यौलोक को (प्रकट करती है)। यह पृथिवी बहुला-(दृढ़ या ठहरी हुई)-सी है। अन्तरिक्ष लेलया अर्थात् काँपता-सा है, द्यौ भी लेलया अर्थात् काँपता-सा है। ये दोनों उस पृथिवी के समान हो जायँ, इसलिए उन दोनों के लिए एक ही बर्हि होता है ॥१६॥

सब पुरोडाश आठ कपालों में होते हैं। गायत्री में आठ अक्षर होते हैं। गायत्री अग्नि का छन्द है। इस प्रकार वह अग्नि को उसी के छन्द के द्वारा रखता है। कुल कपाल २४ होते हैं। गायत्री में भी चौबीस अक्षर होते हैं। गायत्री अग्नि का छन्द है। वह अग्नि को उसी के छन्द के द्वारा रखता है ॥१७॥

अदिति के लिए चरु (उबला भात) देता है। जो इन हवियों को देता है वह इस लोक से उठता-जैसा है अर्थात् वह इन लोकों को चढ़ता है ॥१८॥

जब वह अदिति के लिए चरु (भात) देता है तो यही पृथिवी अदिति है। यही ठहरी हुई है। इस प्रकार वह इस ठहरी हुई पृथिवी में स्थित होता है, इसलिए अदिति के लिए चरु (भात) देता है ॥१९॥

कुछ लोग कहते हैं कि उस (अदिति) के लिए दो विराज् छन्द संयाज्य होवें। क्योंकि विराज् ही पृथिवी है; या त्रिष्टुभ् क्योंकि त्रिष्टुभ् यह पृथिवी है; या जगती क्योंकि जगती यह पृथिवी है परन्तु विराज् छन्द ही होने चाहिएँ ॥२०॥

इसके लिए दक्षिणा धेनु है। धेनु जैसी ही यह पृथिवी है। वह मनुष्यों की सब कामनाओं को दूध के समान देती है। धेनु मा है, यह पृथिवी भी मा है क्योंकि मनुष्यों का पालन करती है। इसलिए इसकी दक्षिणा धेनु है। यह (आहुतियों की) एक विधि हुई ॥२१॥

अब दूसरी। आठ कपालों के पुरोडाश को केवल अग्नि के लिए अर्पण कर देता है। मानो परोक्ष रीति से अग्नि-पवमान के लिए, अग्नि-पावक के लिए और अग्नि-शुचि के लिए और इसके पश्चात् ही वह अग्नि का प्रत्यक्ष रूप से आधान कर देता है। इसलिए वह पहले अग्नि के लिए, फिर अदिति के लिए चरु देता है। चरु के साथ वैसा ही करता है (जैसा पूर्व-विधि में) ॥२२॥

घ्नन्ति वाऽएतद्यज्ञं । यदेनं तन्वते यन्न्वेव राजानमभिषुण्वन्ति तत्तं घ्नन्ति यत्पशुꣳ संज्ञपयन्ति विशासति तत्तं घ्नन्त्युलूखलमुसलाभ्यां दृषदुपलाभ्याꣳ हविर्यज्ञं घ्नन्ति ॥१॥ स एष यज्ञो हतो न ददक्षे । तं देवा दक्षिणाभिरदक्षयंस्तद्यदेनं दक्षिणाभिरदक्षयंस्तस्माद्दक्षिणा नाम तद्यदेवात्र यज्ञस्य हतस्य व्यथते तदेवास्यैतद्दक्षिणाभिर्दक्षयत्यथ समृद्ध एव यज्ञो भवति तस्माद्दक्षिणा ददाति ॥२॥ ता वै षड्दद्यात् । षड्वाऽऋतवः संवत्सरस्य संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः स यावानेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावतीभिर्दक्षयति ॥३॥ द्वादश दद्यात् । द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः स यावानेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावतीभिर्दक्षयति ॥४॥ चतुर्विꣳशतिं दद्यात् । चतुर्विꣳशतिर्वै संवत्सरस्यार्धमासाः संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः स यावानेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावतीभिर्दक्षयत्येषा मात्रा दक्षिणानां दद्यात्त्वेव यथाश्रद्धं भूयसीस्तद्यद्दक्षिणा ददाति ॥५॥ द्वया वै देवा देवाः । अहैव देवा अथ ये ब्राह्मणाः शुश्रुवाꣳसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवास्तेषां द्वेधा विभक्त एव यज्ञ आहुतय एव देवानां दक्षिणा मनुष्यदेवानां ब्राह्मणानाꣳ शुश्रुवुषामनूचानामामाहुतिभिरेव देवान्प्रीणाति दक्षिणाभिर्मनुष्यदेवान्ब्राह्मणाञ्छुश्रुवुषोऽनूचानांस्तऽएनमुभये देवाः प्रीताः सुधायां दधति ॥६॥ तद्यथा योनौ रेतो दध्यात् । एवमेवैतदृत्विजो यजमानं लोके दधति तद्देभ्य एतद्ददाति ये मेदꣳ सम्प्रापिपन्निति नु दक्षिणानाम् ॥७॥ देवाश्च वाऽअसुराश्च । उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे तऽउभयऽएवानात्मान आसुर्मर्त्या ह्यासुरनात्मा हि मर्त्यस्तेषूभयेषु मर्त्येष्वग्निरेवामृत आस तꣳ ह स्मोभयेऽमृतमुपजीवन्ति स यꣳ ह स्मैषां घ्नन्ति तद्ध स्म वै स भवति ॥८॥ ततो देवाः । तनीयाꣳस इव परिशिशिषिरे तेऽर्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुरुतासुरान्त्सपत्नान्मर्त्यानभिभवेमेति तऽएतदमृतमग्न्याधेयं ददृशुः ॥९॥ ते होचुः । हन्तेदममृतमन्तरात्मन्नादधामहै तऽइदममृतमन्तरात्मन्नाधा-

अध्याय २—ब्राह्मण २

जब यज्ञ को करते हैं तो उसका आघात करते हैं। जब (सोम) राजा को निचोड़ते हैं तो उसका आघात करते हैं। जब पशु को मारते या काटते हैं तो उसका आघात करते हैं। ऊखल और मूसली से तथा (चक्की के) दोनों पत्थरों से हवि का आघात करते हैं ।।१।।

मारा हुआ यज्ञ शक्ति-रहित हो गया (दक्ष न रहा)। देवों ने दक्षिणा देकर उसको दक्ष बनाया। चूंकि दक्षिणाओं द्वारा उसको दक्ष बनाया, इसलिए इनका दक्षिणा नाम पड़ा। इन दक्षिणाओं के द्वारा उन्होंने उस (यज्ञ) को दक्ष बनाया। यज्ञ समृद्ध (शक्तिशाली) हो जाता है, इसीलिए दक्षिणा दी जाती है ।।२।।

(दक्षिणा में) छः (गौएँ) दे। संवत्सर में छः ऋतुएँ होती हैं। संवत्सर यज्ञ-प्रजापति है। जितना यज्ञ है, जितनी उसकी मात्रा है, उतनी ही दक्षिणाओं से इसको दक्ष बनाता है ।।३।

बारह (गौयें) दे। संवत्सर के बारह मास होते हैं। संवत्सर यज्ञ-प्रजापति है। जितना बड़ा यज्ञ है, जितनी उसकी मात्रा है, उतनी ही दक्षिणाओं से उसको दक्ष बनाता है ।।४।।

चौबीस दे। संवत्सर के चौबीस अर्द्धमास (पक्ष) होते हैं। संवत्सर यज्ञ-ज ।पति है। जितना बड़ा यज्ञ होता है, जितनी उसकी मात्रा होती है, उतनी ही दक्षिणाओं से वह उसको दक्ष बनाता है। दक्षिणाओं की यह मात्रा है, या श्रद्धा हो तो अधिक भी दे। दक्षिणा इसलिए दी जाती है कि—।।५।।

दो प्रकार के देव होते हैं। देव तो देव ही हैं और जो ब्राह्मण वेदों के जाननेवाले और उपदेश करने वाले हैं वे मनुष्य-देव हैं। उनका यज्ञ दो भागों में विभक्त है। देवों की आहुतियाँ हैं, और मनुष्यदेव, ब्राह्मण, वेदज्ञ, वेदोपदेष्टाओं की दक्षिणा। आहुतियों से देवों को प्रसन्न करता है और मनुष्य-देव, ब्राह्मण, वेदज्ञ, वेदोपदेष्टाओं को दक्षिणाओं से। दोनों प्रकार के देव प्रसन्न होकर उसके लिए सुधा (अमृत) देते हैं ।।६।।

जैसे योनि में वीर्य रक्खा जाता है इसी प्रकार ऋत्विज लोग यजमान को (स्वर्ग) लोक में रखते हैं, जब कि वह इनको दक्षिणा देता है कि वे उसे वहाँ पहुँचा देंगे। दक्षिणाओं के विषय में (यह बात हुई) ।।७।।

देव और असुर दोनों प्रजापति की सन्तान (बड़ाई के लिए) झगड़ने लगे। वे दोनों आत्मा-रहित थे, क्योंकि वे मर्त्य थे। जो मर्त्य होता है वह आत्मा-रहित होता है। इन दोनों मर्त्यों में केवल अग्नि ही अमर था। और इसी अमर के सहारे वे दोनों जीते थे। अब (असुरों ने) जिस (देव) को मारा वही मर गया ।।८।।

अब देव निर्बल हो गये। अब वे पूजा करते और तप करते रहे कि अपने शत्रु मर्त्य असुरों पर विजय पा सकें। उन्होंने इस अमर अग्न्याधेय को देखा ।।९।।

उन्होंने कहा, 'हम इस अमर को अपने आत्मा के भीतर धरें। हम इस अमृत को अपने

यामृता भूत्वास्तर्या भूत्वा स्तर्यान्त्सपत्नान्मर्त्यानभिभविष्याम इति ॥१०॥ ते होचुः । उभयेषु वै नोऽयमग्निः प्र त्वेवासुरेभ्यो ब्रवामेति ॥११॥ ते होचुः । आ वै वयमग्नी धास्यामहेऽथ यूयं किं करिष्यथेति ॥१२॥ ते होचुः । अथैनं वयं न्येव धास्यामहेऽत्र तृणानि दहात्र दारूणि दहात्रौदनं पचात्र माꣳसं पचेति स यं तमसुरा न्यदधत तेनानेन मनुष्या भुञ्जते ॥१३॥ अथैनं देवाः । अन्तरात्मन्नादधत तꣳ हेममृतमन्तरात्मन्नाधायामृता भूत्वास्तर्या भूत्वा स्तर्यान्त्सपत्नान्मर्त्यानभ्यभवंस्तथोऽ एवैष एतदमृतमन्तरात्मन्नाधत्ते नास्यामृतत्वस्याशास्ति सर्वमायुरेत्यस्तर्यो हैव भवति न हैनꣳ सपत्नस्तुस्तूर्षमाणश्चन स्तृणुते तस्माद्यदाहिताग्निश्चानाहिताग्निश्च स्पर्धेतेऽआहिताग्निरेवाभिभवत्यस्तर्यो हि खलु स तर्हि भवत्यमृतः ॥१४॥ तद्यत्रैनमदो मन्थन्ति । तज्जातमभिप्राणिति प्राणो वाऽअग्निर्जातमेवैनमेतत्सन्तं जनयति स पुनरपानिति तदेनमन्तरात्मन्नाधत्ते सोऽस्यैषोऽन्तरात्मन्नग्निराहितो भवति ॥१५॥ तमुद्दीप्य समिन्द्धे । इह यद्यऽइह सुकृतं करिष्यामीत्येवैनमेतत्समिन्द्धे योऽस्यैषोऽन्तरात्मन्नग्निराहितो भवति ॥१६॥ अन्तरेणागाद्व्यवृतदिति । न ह वाऽअस्यैतं कश्चनान्तरेणेति यावज्जीवति योऽस्यैषोऽन्तरात्मन्नग्निराहितो भवति तस्मादु तन्नाद्रियेत यदनुगच्छेन्न ह वाऽअस्यैषोऽनुगच्छति यावज्जीवति योऽस्यैषोऽन्तरात्मन्नग्निराहितो भवति ॥१७॥ ते वाऽएते प्राणा एव यदग्नयः । प्राणोदानावेवाहवनीयश्च गार्हपत्यश्च व्यानोऽन्वाहार्यपचनः ॥१८॥ तस्य वाऽएतस्याग्न्याधेयस्य । सत्यमेवोपचारः स यः सत्यं वदति यथाग्निꣳ समिद्धं तं घृतेनाभिषिञ्चेदेवꣳ हैनꣳ स उद्दीपयति तस्य भूयो-भूय एव तेजो भवति श्वः-श्वः श्रेयान्भवत्यथ योऽनृतं वदति यथाग्निꣳ समिद्धं तमुदकेनाभिषिञ्चेदेवꣳ हैनꣳ स जासयति तस्य कनीयः-कनीय एव तेजो भवति श्वः-श्वः पापीयान्भवति तस्मादु सत्यमेव वदेत् ॥१९॥ तदु हाप्यरुणमौपवेशिं ज्ञातय ऊचुः । स्थविरो वाऽअ

आत्म: के भीतर रख लेंगे और अमर और अजेय हो जायेंगे तो हम अपने जीतने के योग्य शत्रुओं पर विजय पा लेंगे' ॥१०॥

उन्होंने कहा, 'यह अग्नि हम दोनों के पास है। इसलिए असुरों से खुल्लमखुल्ला कहें ॥११॥

उन्होंने कहा, 'हम दोनों अग्नियों का आधान करेंगे। तब तुम क्या करोगे' ? ॥१२॥

उन्होंने कहा, 'हम इसका आधान करेंगे और कहेंगे, यहाँ तिनकों को जला, यहाँ लकड़ियों को जला, यहाँ भात पका, यहाँ माँस पका।' असुरों ने जिस अग्नि का आधान किया, यह वही है जिससे मनुष्य खाना पकाते हैं ॥१३॥

तब देवों ने इस अग्नि को अपने अन्तरात्मा में धारण किया और इसको अपने अन्तरात्मा में धारण करके अमर और विजयी हो गये तथा अपने जीतने योग्य असुर मर्त्य शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली। इसी प्रकार यह (यजमान) भी अपनी अन्तरात्मा में इस अमर अग्नि को धारण करता है, और यद्यपि उसे अमर होने की आशा नहीं होती, वह पूर्ण आयु को प्राप्त होता है क्योंकि वह अजेय हो जाता है और उसका शत्रु उस पर विजय पाना चाहता है, परन्तु विजय पा नहीं सकता। और इसलिए जब एक आहिताग्नि और अनाहिताग्नि परस्पर झगड़ते हैं तो आहिताग्नि अनाहिताग्नि को जीत लेता है, क्योंकि ऐसा करने से वह अवश्य ही दुर्जेय और अमर हो जाता है ॥१४॥

अब जब (अग्नि को) मथते हैं, तो उस उत्पन्न हुए (अग्नि) को (यजमान) फूंकता है। प्राण ही अग्नि है। मानो उस पैदा हुए को वह पैदा करता है। अब वह (यजमान) साँस को भीतर खींचता है। इस प्रकार वह (अग्नि को) अपने अन्तरात्मा में धारण करता है और वह अग्नि उसके अन्तरात्मा में स्थापित हो जाती है ॥१५॥

उसको जलाकर उद्दीप्त करता है—'इससे यज्ञ करूँगा। इससे शुभ कर्म करूँगा।' इस प्रकार वह उस अग्नि को उद्दीप्त करता है जो उसके अन्तरात्मा में स्थापित होती है ॥१६॥

(कुछ लोगों को भय है कि) कोई विघ्न बीच में आ जाय या अग्नि बुझ जाय ! परन्तु जीवन-पर्यन्त कोई उसके और अग्नि के बीच में नहीं आ सकता जिसके अन्तरात्मा में अग्नि स्थापित रहती है। इसलिए उसे भय न करना चाहिए। और बुझने के विषय में—जब तक वह जीता है वह अग्नि नहीं बुझ सकती जो उसके अन्तरात्मा में स्थापित रहती है ॥१७॥

ये जो अग्नियाँ है वे प्राण ही हैं। आहवनीय प्राण है। गार्हपत्य उदान है। अन्वाहार्यपचन अग्नि व्यान है ॥१८॥

इस अग्न्याधेय का उपचार (सेवा) सत्य है। जो कोई सच बोलता है मानो वह अग्नि पर घी छिड़कता है। क्योंकि उससे वह उसको प्रज्वलित करता है। उसका दिन-प्रतिदिन तेज बढ़ता है। दिन-प्रतिदिन उसका कल्याण होता है। और जो कोई झूठ बोलता है मानो वह जलती आग पर पानी डालता है क्योंकि वह इस प्रकार उसको कमजोर करता है। दिन-प्रतिदिन उसका तेज कम होता जाता है और दिन-प्रतिदिन वह पापी होता जाता है। इसलिए सच ही बोलना चाहिए ॥१९॥

औपवेशि अरुण से उसके बिरादरीवालों ने कहा, 'आप स्थविर (बूढ़े) हैं। दोनों अग्नियों

स्यामीऽआधत्स्वेति स होवाच ते मेतद्ब्रूथ वाचंयम एवेधि न वाऽआहिताग्निना-
नृतं वदितव्यं न वदन्जातु नानृतं वदेत्तावत्सत्यमेवोपचार इति ॥२०॥ ब्राह्मणम्
॥६[२.२.]॥ प्रथमः प्रपाठकः ॥ ॥ कण्डिकासंख्या ११४ ॥ ॥

वरुणो हैनद्राज्यकाम आदधे । स राज्यमगच्छत्तस्माद्यश्च वेद यश्च न वरुणो
राजेत्येवाहुः सोमो यशस्कामः स यशोऽगच्छत्तस्माद्यश्च सोमे लभते यश्च नोभा-
वेवागच्छतो यश एवैतद्द्रष्टुमागच्छन्ति यशो ह भवति राज्यं गच्छति य एवं विद्वा-
नाधत्ते ॥१॥ अग्नौ ह वै देवाः । सर्वाणि रूपाणि निदधिरे यानि च ग्राम्याणि
यानि चारण्यानि विजयं वोपप्रेष्यन्तः कामचारस्य वा कामायायं नो गोपिष्ठो
गोपायदिति वा ॥२॥ तान्यु हाग्निर्निचकमे । तैः संगृह्यऽर्तून्प्रविवेश पुनरेम
इति देवा एदग्निं तिरोभूतं तेषाꣳ हेयसेवास किमिह कर्तव्यं केह प्रज्ञेति वा
॥३॥ तत एतद्द्रष्टा पुनराधेयं ददर्श । तदादधे तेनाग्नेः प्रियं धामोपजगाम सो
ऽस्माऽउभयानि रूपाणि प्रतिनिःससर्ज यानि च ग्राम्याणि यानि चारण्यानि त-
स्मादाहुस्त्वाष्ट्राणि वै रूपाणीति त्वष्टुर्ह्येव सर्वꣳ रूपमुप ह त्वेवान्याः प्रजा याव-
त्सो-यावत्स इव तिष्ठन्ते ॥४॥ तस्मै कं पुनराधेयमादधीत । एवꣳ हैवाग्नेः प्रियं
धामोपगच्छति सोऽस्माऽउभयानि रूपाणि प्रतिनिःसृजति यानि च ग्राम्याणि या-
नि चारण्यानि तस्मिन्नेतान्युभयानि रूपाणि दृश्यन्ते परमता वै सा स्पृहयन्त्यु हा-
स्मै तथा पुष्यति लोक्यमेवापि ॥५॥ आग्नेयोऽयं यज्ञः । ज्योतिरग्निः पाप्मनो द-
ग्धा सोऽस्य पाप्मानं दहति स इह ज्योतिरिव श्रिया यशसा भवति ज्योतिरमुत्र
पुण्यलोकत्वेतन्नु तद्यस्मादादधीत ॥६॥ स वै वर्षास्वादधीत । वर्षा वै सर्वऽऋ-
तवो वर्षा हि वै सर्वऽऋतवोऽथादो वर्षमकुर्मादो वर्षमकर्मेति संवत्सरान्त्संप-
श्यन्ति वर्षा ह त्वेव सर्वेषामृतूनाꣳ रूपमुत हि तद्वर्षासु भवति यदाहुर्ग्रीष्मऽइव
वाऽअद्येत्युतो तद्वर्षासु भवति यदाहुः शिशिरऽइव वाऽअद्येति वर्षाद्विद्वर्षाः ॥७॥

का आधान कीजिये।' उसने उत्तर दिया, 'ऐसा मत कहो। वाणी का संयम करो। जो आहिताग्नि है उसे झूठ नहीं बोलना चाहिए। अच्छा हो कि वह कुछ न बोले। परन्तु झूठ बोले ही नहीं। इसलिये सत्य ही उपचार है'॥२०॥

पुनराधेयम्

अध्याय २—ब्राह्मण ३

वरुण ने इस (अग्नि) का राज्य की कामना से आधान किया। उसने राज्य को पा लिया। इसलिए चाहे कोई (अग्न्याधान करनेवाला) जाने या न जाने, लोग उस (अग्न्याधान करनेवाले) को 'वरुण राजा' कहते हैं। सोम ने यश की कामना से (अग्न्याधान किया), वह यशस्वी हो गया। इसलिए चाहे कोई सोम का लाभ करे या न करे, दोनों ही यश पाते हैं, क्योंकि लोग यश को ही देखने आते हैं। जो पुरुष इस रहस्य को समझकर अग्न्याधान करता है वह यशस्वी होता है और राज्य को प्राप्त होता है॥१॥

देवों ने सब रूपों को अग्नि के सुपुर्द कर दिया, चाहे वह ग्राम-सम्बन्धी हो या अरण्य-सम्बन्धी; चाहे विजय करने की इच्छा से, चाहे स्वतन्त्र विचरने के लिए; चाहे यह सोचकर कि (अग्नि) अच्छा रक्षक है इनकी रक्षा करेगा॥२॥

अग्नि को उनका लोभ हो गया। वह उनको इकट्ठा करके ऋतुओं में छिप गया। देवों ने सोचा कि वहीं चलें। जहाँ अग्नि छिपा हुआ था, वहीं गये। वे निराश हो गये कि 'क्या करना चाहिए?' 'क्या राय है?'॥३॥

तब त्वष्टा ने पुनराधेय अग्नि (फिर रक्खी हुई अग्नि) को देखा। उसने उसका आधान किया और इस प्रकार अग्नि के प्रिय धाम को पहुँच गया। उस (अग्नि) ने उस (त्वष्टा) के लिए दोनों रूप अर्थात् ग्राम-सम्बन्धी और अरण्य-सम्बन्धी छोड़ दिये। इसीलिए इन रूपों को त्वाष्ट्र (त्वष्टा) कहते हैं, क्योंकि त्वष्टा से ही ये सब रूप आते हैं। परन्तु दूसरी प्रजा इस-इस प्रकार रहती है॥४॥

इसलिए (मनुष्य को चाहिए) कि त्वष्टा के लिए ही पुनराधेय करे। इसी प्रकार वह अग्नि के प्रिय धाम का लाभ कर सकता है। और वह (अग्नि) उसके लिए दोनों रूप छोड़ देता है अर्थात् ग्राम के भी और अरण्य के भी। उसी में ये दोनों रूप दिखाई पड़ते हैं। वह बड़ा हो जाता है, लोग उससे डाह करते हैं। वह फूलता-फलता है और लोक में उसका यश होता है॥५॥

यह यश अग्नि का है। अग्नि ज्योति है। यह पापों को जलाती है। यह उस (यजमान) के पापों को भी जलाती है। यही ज्योति श्री और यश को देनेवाली होती है। ज्योति दूसरे लोक में पुण्य का मार्ग बनाती है। इसलिए (फिर) आधान करना चाहिए॥६॥

वर्षा में पुनराधान करे। वर्षा ही सब ऋतुओं का (प्रतिनिधि) है। वर्षा ही सब ऋतुएँ हैं। इसीलिए कहते हैं कि अमुक वर्ष में यह काम किया, अमुक वर्ष में यह काम किया। वर्षा सब ऋतुओं का एक रूप है। जब कहते हैं 'यह ग्रीष्म-सा है' तो यह वर्षा में ही है और जब कहता है कि 'आज शिशिर-सा है' तो यह भी वर्षा ही है। 'वर्ष से ही 'वर्षा' है॥७॥

अथैतदेव परोऽक्षꣳ रूपं । यदेव पुरस्ताद्दधाति तद्वसन्तस्य रूपं यत्स्तनयति तद्ग्री-
ष्मस्य यद्वर्षति तद्वर्षाणां यद्विद्योतते तच्छरदो यद्वृष्ट्वोद्गृह्णाति तद्धेमन्तस्य वर्षाः सर्व
ऽऋतव ऋतून्प्राविशदृतुभ्य एवैनमेतन्निर्मिमीते ॥८॥ आदित्यस्त्वेव सर्वऽऋतवः ।
यदेवोदेत्यथ वसन्तो यदा संगवोऽथ ग्रीष्मो यदा मध्यन्दिनोऽथ वर्षा यदापराह्णो
ऽथ शरद्यदेवास्तमेत्यथ हेमन्तस्तस्मादु मध्यन्दिनऽएवादधीत तर्हि ह्येषोऽस्य
लोकस्य नेदिष्ठं भवति तन्नेदिष्ठादेवैनमेतन्मध्यान्निर्मिमीते ॥९॥ छाययेव वाऽअ-
यं पुरुषः । पाप्मनानुषक्तः सोऽस्यात्र कनिष्ठो भवत्यधस्पदमिवेयस्यते तत्कनिष्ठ-
मेवैतत्पाप्मानमवबाधते तस्मादु मध्यन्दिनऽएवादधीत ॥१०॥ तं वै दर्भैरुद्धरति ।
दारुभिर्वै पूर्वमुद्धरति दारुभिः पूर्वं दारुभिरपरं जामि कुर्यात्समदं कुर्यादापो दर्भा
आपो वर्षा ऋतून्प्राविशदद्भिरेवैनमेतदृतुभ्यो निर्मिमीते तस्माद्दर्भैरुद्धरति ॥११॥
अर्कपलाशाभ्यां । व्रीहिमयमपूपं कृत्वा यत्र गार्हपत्यमाधास्यन्भवति तन्निदधाति
तद्गार्हपत्यमादधाति ॥१२॥ अर्कपलाशाभ्यां । यवमयमपूपं कृत्वा यत्राहवनीयमा-
धास्यन्भवति तन्निदधाति तदाहवनीयमादधाति पूर्वाभ्यामेवैनावेतदग्निभ्यामन्तर्दध्म
इति वदन्तस्तदु तथा न कुर्याद्गात्रिभिर्ह्येवान्तर्हितौ भवतः ॥१३॥ आग्नेयमेव प-
ञ्चकपालं पुरोडाशं निर्वपति । तस्य पञ्चपदाः पङ्क्तयो याज्यानुवाक्या भवन्ति पञ्च
वाऽऋतव ऋतून्प्राविशदृतुभ्य एवैनमेतन्निर्मिमीते ॥१४॥ सर्व आग्नेयो भवति ।
एवꣳ ह्यस्याग्नेः प्रियं धामोपागच्छत्तस्मात्सर्व आग्नेयो भवति ॥१५॥ तेनोपाꣳशु
चरन्ति । यद्वै ज्ञातये वा सख्ये वा निष्केवल्यं चिकीर्षति तिर इवैतेन बोभवद्वै-
श्वदेवोऽन्यो यज्ञोऽथैष निष्केवल्य आग्नेयो यद्वै तिर इव तदुपाꣳशु तस्मादुपाꣳशु
चरन्ति ॥१६॥ उच्चैरुत्तममनुयाजं यजति । कृतकर्मेव हि स तर्हि भवति सर्वो
हि कृतमनुबुध्यते ॥१७॥ स आश्राव्याह । समिधो यजेति तदाग्नेयꣳ रूपं परोऽक्षं
त्वग्नीन्यजेति त्वेव ब्रूयात्तदेव प्रत्यक्षमाग्नेयꣳ रूपꣳ ॥१८॥ स यजति । अग्नऽआज्य-

(वर्षा का) एक परोक्ष रूप है। जब यह पूर्व से बहता है तो वसन्त का रूप है, जो गरजता है वह ग्रीष्म का, जो बरसता है वह वर्षा का, जो बिजली चमकती है वह शरद् का, जब बरसकर बन्द हो जाता है वह हेमन्त का। वर्षा सब ऋतुएँ हैं। वह (अग्नि) ऋतुओं में प्रविष्ट हो गया। इसलिए ऋतुओं में से ही इसका निर्माण करते हैं ॥८॥

लेकिन आदित्य भी सब ऋतुएँ हैं। जब उदय होता है तो वसन्त, जब संगव होता है (अर्थात् जब गौएँ दुहने के लिए इकट्ठी की जाती हैं) तब ग्रीष्म, जब दोपहर होता है तो वर्षा, तीसरा पहर शरद्, जब अस्त होता है तब हेमन्त। इसलिए दोपहर के समय ही (पुनराधान) करे, क्योंकि उस समय सूर्य इस लोक के निकटतम होता है और इसलिए वह मध्य से ही (अग्नि का) निर्माण करता है ॥९॥

यह पुरुष छाया के समान पाप से लिप्त है। (दोपहर के समय) यह छाया सबसे छोटी होती है, पैर के नीचे ही सिकुड़ जाती है। इस प्रकार वह पाप को सबसे छोटा कर देता है। इसलिए दोपहर के समय ही पुनराधान करे ॥१०॥

वह (गार्हपत्य में से) दर्भों के द्वारा निकालता है। पहले वह दारु (लकड़ी) से निकालता है। पहले भी दारु से निकाले और फिर भी दारु से, तो दुहराने का दोषी हो और विघ्न पड़े। जल ही दर्भ है और जल ही वर्षा है। (अग्नि) ऋतुओं में प्रविष्ट हो गया। इसलिए वह उसे जलों में से जलों के द्वारा ही निकालता है। इसलिए दर्भों के द्वारा निकालता है ॥११॥

भात पकाकर वह दो आक के पत्तों पर रखता है; और उसको उस जगह रखता है जहाँ गार्हपत्य अग्नि रखनी है। फिर गार्हपत्य अग्नि की स्थापना कर देता है ॥१२॥

जौ के अपूप (पूये) पकाकर दो आक के पत्तों पर रखकर उस जगह रखता है जहाँ आहवनीय स्थापित करनी होती है और आहवनीय को स्थापित कर देता है। कुछ लोग कहते हैं कि हम इस प्रकार पहली दो अग्नियों से इनको ढक देते हैं। परन्तु ऐसा न करे क्योंकि ये रातों के द्वारा ढकी जाती हैं ॥१३॥

अब पाँच कपालों पर पुरोडाश को अग्नि के लिए तैयार करता है। इसके याज्य और अनुवाक्य पंक्ति छन्द के पाँच-पाँच पदवाले होते हैं। पाँच ही ऋतुएँ हैं। अग्नि ऋतुओं में घुसा था, इसलिए ऋतुओं से ही इसको निकालता है ॥१४॥

यह सब (यज्ञ) अग्नि का होता है। क्योंकि इसी से त्वष्टा अग्नि के प्रियधाम में घुसा, इसलिए यह सब अग्नि का ही होता है ॥१५॥

इसे चुपके-चुपके करते हैं। किसी सम्बन्धी या सखा के लिए जब कोई कुछ बनाना चाहता है तो छिपाकर रखता है। अन्य यज्ञ विश्वेदेवों का होता है और यह यज्ञ केवल अग्नि का ही है। जो छिपाकर किया जाता है वह चुपके से किया जाता है। इसलिए वे इसका चुपके-चुपके करते हैं ॥१६॥

अन्तिम अनुयाज को जोर से बोलते हैं, क्योंकि तब कार्य समाप्त हो जाता है। जब कार्य हो चुकता है तो उसे सभी जान जाते हैं ॥१७॥

वह पुकार (और आग्नीध्र द्वारा उत्तर दिये जाने के पश्चात् होतृ से) कहता है,* 'समिधाओं का यज्ञ करो।' वह अग्नि का परोक्ष-रूप है। परन्तु उसको यह भी कहना चाहिए कि 'अग्नियों का यज्ञ करो', क्योंकि वह अग्नि का प्रत्यक्ष रूप है ॥१८॥

अब वह पढ़ता है—(अ) "अग्नऽआज्यस्य व्यन्तु वौऽक्"—"हे अग्नि ! (ये समिधायें)

* अध्वर्यु कहता है, 'ओं श्रावय'; इस पर आग्नीध्र कहता है, 'अस्तु, श्रौषट्'।

स्य व्यन्तु वौकगग्निमाज्यस्य वेतु वौकगग्निनाज्यस्य व्यन्तु वौकगग्निराज्यस्य वेतु वौकगिति ॥१९॥ अथ स्वाहाग्निमित्याह । आग्नेयमाज्यभागꣳ स्वाहाग्निं पवमानमिति यदि पवमानाय ध्रियेरन्त्स्वाहाग्निमिन्दुमन्तमिति यद्यग्नयऽइन्दुमते ध्रियेरन्त्स्वाहाग्निꣳ स्वाहाग्नीनाज्यपाञ्जुषाणोऽअग्निराज्यस्य वेवित्विति यजति ॥२०॥ अथाहाग्नयेऽनुब्रूहीति । आग्नेयमाज्यभागꣳ सोऽन्वाहाग्निꣳ स्तोमेन बोधय समिधानोऽअमर्त्यम् । हव्या देवेषु नो दधदिति स्वपितीव खलु वाऽएतमुद्बासितो भवति सम्प्रबोधयत्येवैनमेतत्समुदीर्यति जुषाणोऽअग्निराज्यस्य वेवित्विति यजति ॥२१॥ अथ यद्यग्नये पवमानाय ध्रियेरन् । अग्नये पवमानायानुब्रूहीति ब्रूयात्सोऽन्वाहाग्नऽआयूꣳषि पवसऽआसुवोर्जमिषं च नः । आरे बाधस्व दुच्छुनामिति तथाहाग्नेयो भवति सोमो वै पवमानस्तद्व सौम्यादाज्यभागान्नयन्ति जुषाणोऽअग्निः पवमान आज्यस्य वेवित्विति यजति ॥२२॥ अथ यद्यग्नयऽइन्दुमते ध्रियेरन् । अग्नयऽइन्दुमतेऽनुब्रूहीति ब्रूयात्सोऽन्वाहेह्यू षु ब्रवाणि तेऽग्नऽइत्थेतरा गिरः । एभिर्वर्धसऽइन्दुभिरिति तथा हाग्नेयो भवति सोमो वाऽइन्दुस्तद्व सौम्यादाज्यभागान्नयन्ति जुषाणोऽअग्निरिन्दुमानाज्यस्य वेवित्विति यजत्येवमु सर्वमाग्नेयं करोति ॥२३॥ अथाहाग्नयेऽनुब्रूहीति हविषः । अग्निं यजाग्नये स्विष्टकृतेऽनुब्रूह्यग्निꣳ स्विष्टकृतं यजेत्यथ यद्देवान्यजेत्यग्नीन्यजेत्येवैतदाह ॥२४॥ स यजति । अग्नेर्वसुवने वसुधेयस्य वेतु वौकगग्नाऽउ वसुवने वसुधेयस्य वेतु वौकग्देवोऽअग्निः स्विष्टकृदिति स्वयमाग्नेयस्तृतीय एवम्वाग्नेयाननुयाजान्करोति ॥२५॥ ता वाऽएताः । षड्भिर्व्याहृतीर्यजति चतस्रः प्रयाजेषु द्वेऽअनुयाजेषु षड्वाऽऋतव ऋतून्प्राविशदृतुभ्य एवैनमेतन्निर्मिमीते ॥२६॥ द्वादश वा त्रयोदश वाक्षराणि भवन्ति । द्वादश वा वै त्रयोदश वा संवत्सरस्य मासाः संवत्सरमृतून्प्राविशदृतुभ्य एवैनमेतत्संवत्सरान्निर्मिमीते न द्वे यन सहाजामितायै जामि ह कुर्याद्यद्द्वे चित्सह स्यातां व्यन्तु वे-

घी को ग्रहण करे। वौझक्।"(आ) "अग्निमाज्यस्य वेतु वौझक्।" ("तनूनपात्) आज्य की अग्नि को स्वीकार करे। वौझक्।" (इ) "अग्निनाज्यस्य व्यन्तु वौझक्।"— "वे (इडा) अग्नि के द्वारा आज्य को स्वीकार करें, वौझक्।" (ई) "अग्निराज्यस्य वेतु वौझक्"—"अग्नि आज्य को स्वीकार करे, वौझक्" ॥१९॥

अब कहता है—'स्वाहाग्निम्'—आग्नेय आज्य भाग के लिए। यदि पवमान के लिए आधान करे तो कहे 'स्वाहाग्निं पवमानम्', यदि इन्दुमान् अग्नि के लिए आधान करें तो कहे, 'स्वाहाग्निमिन्दुमन्तम्'। 'स्वाहाग्निम्', 'स्वाहाग्नीनाज्यपाञ् जुषाणोऽग्निराज्यस्य वेतु।' यह (होता) पढ़ता है ॥२०॥

आग्नेय आज्य भाग के सम्बन्ध में (अध्वर्यु) कहता है, "अग्नयेऽनुब्रूहि"—"अग्नि के लिए पढ़ो।" तब (होता) पढ़ता है—"अग्निं स्तोमेन बोधय, समिधानोऽमर्त्यम्। हव्या देवेषु नो दधत्।"—"स्तुति द्वारा अग्नि को जगाओ जो अमरत्व को प्रज्वलित करता है, जिससे यह अग्नि हमारे हवियों को देवताओं तक ले जावे।" जब अग्नि अपने स्थान से निकाला जाता है तो सोता-सा है। अब (ऋत्विज) उसको जगाता है। अब वह पढ़ता है—"जुषाणोऽग्निराज्यस्य वेतु" अर्थात् "अग्नि कृपा करके आज्य को ग्रहण करे" ॥२१॥

यदि अग्नि-पवमान के लिए आधान करना हो तो कहे "अग्नये पवमानाय अनुब्रूहि" अर्थात् "पवमान अग्नि की स्तुति करो।" तब होता पढ़े—"अग्नऽआयूँषि पवसऽआसुवोर्जमिषं च नः। आरे बाधस्व दुच्छुनाम्" (ऋग्वेद ९।६६।१९)—"हे अग्नि! तू आयु को (उम्रों को) फूँकती है। हमारे लिए अन्न और रस उत्पन्न करो। विपत्तियों को हमसे दूर करो।" इस प्रकार यह अग्नि-युक्त हो जाता है। सोम पवमान है। परन्तु इसको वह सोम के आज्य भाग से निकालते हैं। अब वह पढ़ता है—"जुषाणोऽग्निः पवमान आज्यस्य वेतु।"—"अग्नि पवमान प्रसन्न होकर आज्य को स्वीकार करे" ॥२२॥

यदि वह इन्दुमान् अग्नि के लिए आधान करे तो कहता है—"अग्नयेऽइन्दुमतेऽनुब्रूहि।" "इन्दुमान् अग्नि के लिए प्रार्थना करो।" तब होता पढ़े—"एह्यूषु ब्रवाणि तेऽग्ने इत्थेतरा गिरः। एभिर्वर्धास इन्दुभिः" (ऋग्वेद ६।१६।१६)—"हे अग्नि, आ। मैं और प्रार्थनायें तेरे लिए कहूँगा। इन इन्दुओं (बूँदों) से बढ़।" इस प्रकार वह अग्नि का सम्बन्धी हो जाता है। सोम ही इन्दु है। सोम आज्य भाग से लाते हैं। इसलिए पढ़ता है—"जुषाणोऽग्निरिन्दुमानाज्यस्य वेतु।"—"अग्नि इन्दुमान प्रसन्न होकर आज्य को स्वीकार करे।" इस प्रकार वह इन सब को अग्नि-युक्त कर देता है ॥२३॥

अब वह हवियों के विषय में कहता है—'अग्नयेऽनुब्रूहि।' अर्थात् अग्नि की प्रार्थना करो। 'अग्निं यज' अर्थात् अग्नि को पूजो। 'अग्नये स्विष्टकृतेऽनुब्रूहि।' अर्थात् स्विष्टकृत् की प्रार्थना करो। 'अग्निं स्विष्टकृतं यज।' अर्थात् अग्नि स्विष्टकृत् को पूजो। फिर कहे 'देवान् यज।'—देवों को पूजो। 'अग्नीन् यज।'—अग्नियों को पूजो ॥२४॥

अब वह प्रार्थना करता है—"अग्नेर्वसुवने वसुधेयस्य वेतु, वौझक्।"—"(बर्हि) अग्नि की वृद्धि के लिए वसुधा को ग्रहण करे, वौझक्।"—"अग्नाऽउ वसुवने वसुधेयस्य वेतु वौझक्।" "(नराशंस) अग्नि में वृद्धि के लिए वसुधा को स्वीकार करे, वौझक्।" "देवोऽअग्निः स्विष्टकृत्।" अर्थात् देव स्विष्टकृत् अग्नि।" यह तीसरी प्रार्थना स्वयं अग्नि की ही है। इस प्रकार सब अनुयाजों को अग्नि का कर देता है ॥२५॥

ये छः विभक्तियाँ हैं—चार प्रयाज में और दो अनुयाजों में। छः ऋतुएँ हैं। (अग्नि) ऋतुओं में प्रविष्ट हुआ था। इस प्रकार ऋतुओं से ही उनका निर्माण करता है ॥२६॥

(इन छः विभक्तियों में) बारह या तेरह अक्षर होते हैं। वर्ष में बारह या तेरह महीने होते हैं। अग्नि ऋतुओं अर्थात् वर्ष में प्रविष्ट हुआ था। इस प्रकार ऋतुओं में अर्थात् संवत्सर से उसका निर्माण करता है। दुहराने के दोष से बचने के लिए दो एक-से नहीं होते। यदि दो एक-से हों तो दुहराने का दोष लगे। इसलिए प्रयाजों में कहते हैं 'व्यन्तु' या 'वेतु', और अनुयाजों में

त्विन्येव प्रयाजानाᳫं रूपं वसुवने वसुधेयस्येत्यनुयाजानाम् ॥२७॥ तस्य हिरण्यं
दक्षिणा । आग्नेयो वाऽएष यज्ञो भवत्यग्ने रेतो हिरण्यं तस्माद्धिरण्यं दक्षिणान-
ड्वान्वा स हि वहेनाग्नेयोऽग्निदग्धमिव ह्यस्य वहं भवति देवानाᳫं हव्यवाहनो
ऽग्निरिति वहति वाऽएष मनुष्येभ्यस्तस्मादनड्वान्दक्षिणा ॥२८॥ ब्राह्मणम् ॥१
[२.३.] ॥ ॥

प्रजापतिर्ह वाऽइदमग्रऽएक एवास । स ऐक्षत कथं नु प्रजायेयेति सोऽश्रा-
म्यत्स तपोऽतप्यत सोऽग्निमेव मुखाज्जनयां चक्रे तद्यदेनं मुखादजनयत तस्माद-
न्नादोऽग्निः स यो हैवमेतमग्निमन्नादं वेदान्नादो हैव भवति ॥१॥ तद्वाऽएनमेत
दग्रे देवानामजनयत । तस्मादग्निरग्रिर्ह वै नामैतद्यदग्निरिति स जातः पूर्वः प्रे-
याय यो वै पूर्व एत्यग्रऽएतीति वै तमाहुः सोऽएवास्याग्निता ॥२॥ स ऐक्षत
प्रजापतिः । अन्नादं वाऽइममात्मनोऽजीजने यदग्निं न वाऽइह मदन्यदन्नमस्ति यं
वाऽअयं नाद्यादिति काल्वालीकृता हैव तर्हि पृथिव्यास नौषधय आसुर्न वन-
स्पतयस्तदेवास्य मनस्यास ॥३॥ अथैनमग्निर्व्यात्तेनोपपर्यावर्त । तस्य भीतस्य
स्वो महिमापचक्राम वाग्वाऽअस्य स्वो महिमा वागस्यापचक्राम स आत्मन्नेवा-
हुतिमीषे स उदमृष्ट तद्यदुदमृष्ट तस्मादिदं चालोमकमिदं च तत्र विवेद घृता-
हुतिं वैव पयआहुतिं वोभयᳫं ह त्वेव तत्पय एव ॥४॥ सा हैनं नाभिराधयां
चकार । केशमिश्रेव हास तां व्यौक्षदोष धयेति तत ओषधयः समभवंस्तस्मादो-
षधयो नाम स द्वितीयमुदमृष्ट तत्रापरामाहुतिं विवेद घृताहुतिं वैव पयआहुतिं
वोभयᳫं ह त्वेव तत्पय एव ॥५॥ सा हैनमभिराधयां चकार । स व्यचिकित्स-
ज्जुहवानी३ मा हौषा३मिति तᳫं स्वो महिमाभ्युवाद जुहुधीति स प्रजापतिर्विदां
चकार स्वो वै मा महिमाहेति स स्वाहेत्येवाजुहोत्तस्मादु स्वाहेत्येव हूयते तत
एष उदियाय य एष तपति ततोऽयं प्रबभूव योऽयं पवते तत एवाग्निः पराङ्

कहते हैं 'वसुवने वसुधेयस्य' ॥२७॥

इसकी दक्षिणा है स्वर्ण। यह यज्ञ अग्नि का है और स्वर्ण अग्नि का रेत अर्थात् वीर्य है। इसलिए स्वर्ण दक्षिणा है, या बैल, क्योंकि बैल का कन्धा अग्नि का होता है। इसका कन्धा अग्नि से दग्ध-सा होता है। दूसरे, अग्नि देवों का ढोनेवाला है, और बैल मनुष्यों का बोझ ढोनेवाला है। इसलिए बैल दक्षिणा (में दिया जाता है) ॥२८॥

अग्निहोत्रम्

अध्याय २—ब्राह्मण ४

यहाँ पहले एक प्रजापति ही था। उसने सोचा, मैं कैसे उत्पन्न (प्रकट) होऊँ? उसने श्रम और तप किया। उसने मुख से अग्नि को उत्पन्न किया। चूंकि उसको मुख से उत्पन्न किया इसलिए अग्नि अन्न का खानेवाला है। जो इस प्रकार अग्नि का अन्न को खानेवाला जानता है वह अन्न का खानेवाला होता है ॥१॥

इस अग्नि को देवों से पहले उत्पन्न किया, इसलिए अग्नि का अग्रि नाम है। अग्नि और अग्रि एक बात है। वह उत्पन्न होकर पूर्व की ओर अर्थात् आगे गया। जो पहले (पूर्व) जाता है उसको कहते हैं आगे (अग्रे) गया। यही अग्नि की अग्निता है ॥२॥

प्रजापति ने सोचा कि मैंने इस अग्नि को अपना अन्न खानेवाला बनाया है, और मुझे छोड़कर और कोई अन्न तो है ही नहीं; और मुझे वह खायेगा नहीं। उस समय पृथिवी गंजी थी। न ओषधियाँ थीं, न वनस्पतियाँ। उसको इसी बात का सोच था ॥३॥

अब (अग्नि) उसकी ओर मुंह फाड़कर दौड़ा। वह डर गया और उसकी महिमा चली गई। वाणी ही उसकी महिमा है। यह वाणी ही चली गई। उसने अपने में ही आहुति की इच्छा की, और (हाथ) मले। चूंकि हाथ मले, इसीलिए ये (हथेलियाँ) लोभरहित होती हैं। अब उसने घी की आहुति या दूध की आहुति ली। ये दोनों दूध ही तो हैं ॥४॥

वह उसे पसन्द न आई क्योंकि वह केशमिश्रित (बालों से मिली हुई) थी। उसने उसे (आग में) डाल दिया यह कहकर—'ओषं धय' (जलते हुए खा)। इससे 'ओषधि' उत्पन्न हुई। इसीलिए उनका नाम 'ओषधि' है। अब फिर उसने हथेलियाँ मलीं। तब दूसरी आहुति मिली। घी की आहुति या दूध की आहुति, ये दोनों दूध ही तो हैं ॥५॥

वह उसको पसन्द आ गई। उसे संकोच हुआ, 'इसे (आग में) छोड़ूँ या न छोड़ूँ।' उसकी महिमा ने कहा, 'आहुति दे।' प्रजापति ने जाना कि यह तो मेरी ही (स्व) महिमा है जो कह रही है (आह)। इसलिए उसने 'स्वाहा' कहकर आहुति दे दी। इसलिए 'स्वाहा' कहकर आहुति दी जाती है। अब वह निकला जो तपता है अर्थात् सूर्य, और वह आया जो बहता है अर्थात् वायु।

पर्यावर्वर्त ॥६॥ स हुत्वा प्रजापतिः । प्र चाजायतात्स्यतश्चाग्नेर्मृत्योरात्मानमत्रायत स यो हैवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोत्येताᳪ हैव प्रजातिं प्रजायते यां प्रजापतिः प्राजायतैवमु हैवात्स्यतोऽग्नेर्मृत्योरात्मानं त्रायते ॥७॥ स यत्र म्रियते । यत्रैनमग्नावभ्यादधति तदेषोऽग्नेरधिजायतेऽथास्य शरीरमेवाग्निर्दहति तद्यथा पितुर्वा मातुर्वा जायेतैवमेषोऽग्नेरधिजायते शश्वद्ध वाऽएष न सम्भवति योऽग्निहोत्रं न जुहोति तस्माद्वाऽअग्निहोत्रᳪ होतव्यम् ॥८॥ तद्वाऽएतत् । एव विचिकित्सायै जन्म यत्प्रजापतिर्व्यचिकित्सत्स विचिकित्सञ्छ्रेयस्यध्रियत यः प्र चाजायतात्स्यतश्चाग्नेर्मृत्योरात्मानमत्रायत स यो हैवमेतद्विचिकित्सायै जन्म वेद यद्ध किं च विचिकित्सति श्रेयसि हैव ध्रियते ॥९॥ स हुत्वा न्यमृष्ट । ततो विकङ्कतः समभवत्तस्मादेष यज्ञियो यज्ञपात्रीयो वृक्षस्तत एते देवानां वीरा अजायन्ताग्निर्योऽयं पवते सूर्यः स यो हैवमेतान्देवानां वीरान्वेदाहास्य वीरो जायते ॥१०॥ तऽउ हैतऽऊचुः । वयं वै प्रजापतिं पितरमनु स्मो हन्त वयं तत्सृजामहै यदस्मानन्वसदिति ते परिश्रित्य गायत्रेणापहिंकारेण तुष्टुविरे तद्यत्पर्यश्रयन्त्स समुद्रोऽथेयमेव पृथिव्यास्तावः ॥११॥ ते स्तुत्वा प्राञ्च उच्चक्रमुः । पुनरेम इति देवा एताᳪ सम्भूताᳪ सा हैनानुदीक्ष्य हिंचकार ते देवा विदां चक्रुरेष साम्नो हिंकार इत्यपहिंकारᳪ हैव पुरा ततः सामास स एष गवि साम्नो हिंकारस्तस्मादेषोपजीवनीयोपजीवनीयो ह वै भवति य एवमेतं गवि साम्नो हिंकारं वेद ॥१२॥ ते होचुः । भद्रं वाऽइदमजीजनामहि ये गामजीजनामहि यज्ञो ह्येवेयं नो ह्यृते गोर्यज्ञस्तायतेऽन्नᳪ ह्येवेयं यद्धि किं चान्नं गौरेव तदिति ॥१३॥ तद्वाऽएतदेवैतासां नाम । एतद्यज्ञस्य तस्मादेतत्परिहरेत्साधु पुण्यमिति बह्व्यो ह वाऽअस्यैता भवन्त्युपनामुक एनं यज्ञो भवति य एवं विद्वानेतत्परिहरति साधु पुण्यमिति ॥१४॥ तामु हाग्निरभिदध्यौ । मिथुन्यनया स्यामिति ताᳪ सम्बभूव तस्याᳪ रेतः प्रासिञ्चत्तत्प-

अब अग्नि चला गया ॥६॥

प्रजापति ने आहुतियाँ देकर अपने को फिर उत्पन्न कर लिया, और अग्नि-रूपी मृत्यु से अपने को बचा लिया जो उसको खाना चाहती थी। इसलिए जो आदमी समझकर अग्निहोत्र करता है वह प्रजा-रूप में अपने को उत्पन्न करता है जैसे प्रजापति ने किया, और खानेवाली अग्नि से अपने को बचा लेता है ॥७॥

और जब वह मरता है और जब उसको अग्नि में रखते हैं तो वह अग्नि से फिर उठता है। अग्नि उसके शरीर को ही जलाता है। जैसे वह मा या बाप से उत्पन्न होता है उसी प्रकार अग्नि से उत्पन्न होता है। और जो अग्निहोत्र नहीं करता वह उत्पन्न होता ही नहीं। इसलिए अग्निहोत्र अवश्य करना चाहिए ॥८॥

संकोच के द्वारा जन्म के विषय में यह बात है कि जब प्रजापति ने संकोच किया तो न संकोच करते हुए भी श्रेय पर आरूढ़ रहा, यहाँ तक कि उसने अपने को उत्पन्न किया और अपने को मृत्युरूपी अग्नि से बचाया जबकि वह उसे खाना चाहता था; इसी प्रकार वह भी जो संकोच से जन्म को जानता है, यदि कभी संकोच करता है तो भी श्रेय पर आरूढ़ रहता है ॥९॥

आहुति देकर उसने (हथेलियाँ) मलीं। तब विकङ्कत वृक्ष उत्पन्न हुआ। इसीलिए यह यज्ञ-सम्बन्धी वृक्ष है और यज्ञ-सम्बन्धी पात्र इससे बनाये जाते हैं। अब देवों में जो वीर हैं वे उत्पन्न हुए, अर्थात् अग्नि, वायु और सूर्य। सचमुच जो इन वीर देवों को जानता है उसके वीर उत्पन्न होता है ॥१०॥

उन्होंने कहा, 'हम पिता प्रजापति के पीछे हुए हैं। अब हम प्रजा उत्पन्न करें जो हमारे पीछे हो।' उन्होंने एक घेरा घेरकर गायत्री से हिङ्कार छोड़कर प्रार्थना की। जिससे उन्होंने घेरा था वह समुद्र था; और पृथिवी आस्ताव (अर्थात् प्रार्थना की) जगह हो गई ॥११॥

वे स्तुति करके पूर्व को गये, यह कहकर कि 'हम लौटे जाते हैं।' देव एक गाय के पास आये जो उत्पन्न हो गई थी। उसने उनकी ओर देखकर 'हिंकार' किया। देवों ने जाना कि यह सामवेदीय हिंकार है। पहले वह हिंकार-शून्य था। अब ठीक शाम हो गया। यह सामवेदीय हिंकार गाय के मध्य में थी। इसलिए यह (गाय) जीविका का साधन हो गई। जो कोई गाय में इस सामवेदीय हिंकार के भेद को जानता है, वह जीविका का साधन हो जाता है ॥१२॥

उन्होंने कहा, 'यह जो हमने उत्पन्न किया वह भद्र है, यह जो हमने गाय उत्पन्न की; इसलिए कि यह तो यज्ञ ही है, क्योंकि गाय के बिना यज्ञ हो ही नहीं सकता। यह अन्न भी है, क्योंकि जो भी कुछ अन्न है वह गाय ही है ॥१३॥

यह ('गो' नाम) उन (गौओं) का भी है और यज्ञ का भी। इसलिए उसको दुहराना चाहिए यह कहकर 'साधु है, पुण्य है।' जो कोई इस रहस्य को समझकर 'साधु, पुण्य' दुहराता है, (गायें) उसके लिए बहुतायत देती हैं और यज्ञ उसकी ओर झुकता है ॥१४॥

अब अग्नि ने उससे प्रेम किया कि मैं इसके साथ मैथुन करूँ। उसने उसके साथ मैथुन

योऽभवत्तस्मादेतदामायां गवि सत्याᳪ शृतमग्नेर्हि रेतस्तस्माद्यदि कृष्णायां यदि रोहिण्याᳪ शुक्लमेव भवत्यग्निसंकाशमग्नेर्हि रेतस्तस्मात्प्रथमदुग्धमुष्णं भवत्यग्नेर्हि रेतः ॥१५॥ ते होचुः । हन्तेदं जुहवामहा३इति कस्मै न इदं प्रथमाय होष्यन्तीति मह्यमिति हैवाग्निरुवाच मह्यमिति योऽयं पवते मह्यमिति सूर्यस्ते न सम्पादयां चक्रुस्ते हासम्पाद्योचुः प्रजापतिमेव पितरं प्रत्ययाम स यस्मै न इदं प्रथमाय होतव्यं वक्ष्यति तस्मै न इदं प्रथमाय होष्यन्तीति ते प्रजापतिं पितरं प्रतीत्योचुः कस्मै न इदं प्रथमाय होष्यन्तीति ॥१६॥ स होवाच । अग्नयेऽग्नेरनुष्या स्वᳪ रेतः प्रजनयिष्यते तथा प्रजनिष्यध्वऽइत्यथ तुभ्यमिति सूर्यमथ यदेव हूयमानस्य व्यश्नुते तदेवैतस्य योऽयं पवतऽइति तदेभ्य इदमप्येतर्हि तथैव जुह्वत्यग्नयऽएव सायᳪ सूर्याय प्रातरथ यदेव हूयमानस्य व्यश्नुते तदेवैतस्य योऽयं पवते ॥१७॥ ते हुत्वा देवाः । इमां प्रजातिं प्राजायन्त यैषामियं प्रजातिरिमां विजितिं व्यजयन्त येयमेषां विजितिरिममेव लोकमग्निरजयदन्तरिक्षं वायुर्दिवमेव सूर्यः स यो हैवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोत्येताᳪ हैव प्रजातिं प्रजायते यामेतऽएतत्प्राजायन्तैतां विजितिं विजयते यामेतऽएतद्व्यजयन्तैतैरु हैव सलोको भवति य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति तस्माद्वाऽअग्निहोत्रᳪ होतव्यम् ॥१८॥ ब्राह्मणम् ॥ २ [२.४.]॥ अध्यायः ॥२[११.]॥ ॥

सूर्यो ह वाऽअग्निहोत्रं । तद्यदेतस्या अग्रऽआहुतेरुदैत्तस्मात्सूर्योऽग्निहोत्रᳪ ॥१॥ स यत्सायमस्तमिते जुहोति । य इदं तस्मिन्निह सति जुहवानीत्यथ यत्प्रातरनुदिते जुहोति य इदं तस्मिन्निह सति जुहवानीति तस्माद्धि सूर्योऽग्निहोत्रमित्याहुः ॥२॥ ॥ शतम् १००० ॥ ॥ अथ यदस्तमेति । तदग्नावेव योनौ गर्भो भूत्वा प्रविशति तं गर्भं भवन्तमिमाः सर्वाः प्रजा अनु गर्भा भवन्तीलिता हि शेरे संजानाना अथ यद्रात्रिस्तिर एवैतत्करोति तिर इव हि गर्भाः ॥३॥ स यत्सा-

किया। उसमें वीर्य सींचा। वह दूध हो गया। इसलिए गाय जब तक कच्ची रहती है (वह दूध) पकता है, क्योंकि वह अग्नि का वीर्य है। इसलिए चाहे काली गाय में हो चाहे लाल में, दूध सफेद ही होता है, अग्नि के समान चमकता हुआ, क्योंकि अग्नि का वीर्य है। इसलिए जब वह पहले दुहा जाता है तो गर्म होता है, क्योंकि वह अग्नि का वीर्य है ।।१५।।

उन्होंने (मनुष्य ने ?) कहा, 'इसकी आहुति दें।' (देवों ने कहा) 'ये पहले किसके लिए आहुति देंगे ?' अग्नि ने कहा, 'मेरे लिए।' वायु ने कहा, 'मेरे लिए।' सूर्य ने कहा, 'मेरे लिए।' वे निश्चय न कर सके और निश्चय न करके कहा, 'पिता प्रजापति के पास चलें। वे जिसको पहली आहुति के योग्य बतायेंगे, लोग भी उसीको पहली आहुति देंगे।' वे पिता प्रजापति के पास जाकर बोले, 'हममें से किसको लोग पहले आहुति देंगे ?' ।।१६।।

उसने कहा, 'अग्नि के लिए। अग्नि तुरन्त ही अपने वीर्य को उत्पन्न करेगा। इससे तुम्हारी भी प्रजा होगी।' फिर सूर्य से कहा, 'इसके पश्चात् तुम्हारे लिए (आहुति दी जायगी)। और जो (दूध) आहुति देने से बच रहा वह उसके लिए जो बहता है (वायु के लिए)। इसलिए अब तक लोग इसी प्रकार आहुति देते हैं—सायंकाल में अग्नि के लिए और प्रातःकाल में सूर्य के लिए; और जो आहुति देने से बच रहता है वह वायु के लिए ।।१७।।

आहुति देकर देवों ने उस प्रकार अपने को प्रजा के रूप में उत्पन्न किया जिस प्रकार उत्पन्न हुए। इस प्रकार उन्होंने वह विजय पाई जो सचमुच पाई। अग्नि ने यह लोक जीता, वायु ने अन्तरिक्ष और सूर्य ने द्यौ। जो कोई इस रहस्य को समझकर अग्निहोत्र करता है उसके उसी प्रकार प्रजा होती है जैसे देवों के हुई, और वह उसी प्रकार विजय पाता है जैसे देवों ने। जो इस रहस्य को समझकर अग्निहोत्र करता है वह (उन देवों के साथ) इस लोक का हिस्सेदार होता है। इसलिए अग्निहोत्र अवश्य करना चाहिए ।।१८।।

अध्याय ३—ब्राह्मण १

सूर्य ही अग्निहोत्र है। क्योंकि वह इस आहुति के पहले उदय हुआ, इसलिए सूर्य अग्निहोत्र है ।।१।।

सायंकाल को अग्निहोत्र= (अग्रे होत्रस्य) अस्त होते हुए सूर्य के बाद आहुति देता है तो सोचता है कि जो यह है इसके यहाँ रहते हुए मैं आहुति दे दूँ। और जो सूर्योदय से पहले प्रातः-काल के समय आहुति देता है तो सोचता है कि जो यह है उसके यहाँ रहते हुए आहुति दूँ। इसलिए 'सूर्य ही अग्निहोत्र है' ऐसा कहते हैं ।।२।।

अब जब वह अस्त हो जाता है तब अग्निरूपी योनि में गर्भ होकर प्रवेश करता है, और उसके गर्भ होने पर यह सब प्रजा गर्भ हो जाती है। थपथपाये जाकर मानो वे सन्तुष्ट होकर सो जाते हैं। रात्रि उस (सूर्य) को इसलिए छिपा लेता है कि गर्भ भी तो छिपा रहता है ।।३।।

यमस्तमिते जुहोति । गर्भमेवैतत्सन्तमभिजुहोति गर्भᳯ सन्तमभिकरोति स यद्गर्भाः सन्तमभिजुहोति तस्मादिमे गर्भा अनश्नन्तो जीवन्ति ॥४॥ अथ यत्प्रातरनुदिते जुहोति । प्रजनयत्येवैनमेतत्सोऽयं तेजो भूत्वा विभ्राजमान उदेति शश्वद्ध वै नोद्वियाद्यदस्मिन्नेतामाहुतिं न जुहुयात्तस्माद्वा ऽएतामाहुतिं जुहोति ॥५॥ स यथाहिस्त्वचो निर्मुच्येत । एवᳯ रात्रेः पाप्मना निर्मुच्यते यथा ह वाऽअहिस्त्वचो निर्मुच्येतैवᳯ सर्वस्मात्पाप्मनो निर्मुच्यते य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति तदेतस्यैवानु प्रजातिमिमाः सर्वाः प्रजा अनु प्रजायन्ते वि हि सृज्यन्ते यथार्थᳯ ॥६॥ स यः पुरादित्यस्यास्तमयात् । आहवनीयमुद्धरत्येते वै विश्वे देवा रश्मयोऽथ यत्परं भाः प्रजापतिर्वा स इन्द्रो वैतद्ध ह वै विश्वे देवा अग्निहोत्रं जुह्वतो गृहानागच्छन्ति स यस्यानुद्धृतमागच्छन्ति तस्माद्देवा अपप्रयन्ति तद्वाऽअस्मै तद्व्यृध्यते यस्माद्देवा अपप्रयन्ति तस्यानु व्यृद्धिं यश्च वेद यश्च नानुद्धृतमभ्यस्तमगादित्याहुः ॥७॥ अथ यः पुरादित्यस्यास्तमयात् । आहवनीयमुद्धरति यथा श्रेयस्यागमिष्यत्यावसथेनोपक्लृप्तेनोपासीतैवं तत्स यस्योद्धृतमागच्छन्ति तस्याहवनीयं प्रविशन्ति तस्याहवनीये निविशन्ते ॥८॥ स यत्सायमस्तमिते जुहोति । अग्नावेवैभ्य एतत्प्रविष्टेभ्यो जुहोत्यथ यत्प्रातरनुदिते जुहोत्यप्रेतेभ्य एवैभ्य एतज्जुहोति तस्मादुदितहोमिनां विछिन्नमग्निहोत्रं मन्यामहऽइति ह स्माहासुरिर्यथा शून्यमावसथमाहरेदेवं तदिति ॥९॥ द्वयं वाऽइदं जीवनं । मूलि चैवामूलं च तदुभयं देवानाᳯ सन्मनुष्या उपजीवन्ति पशवो मूला ओषधयो मूलिन्यस्ता पशवो मूला ओषधीर्मूलिनीर्जग्ध्वापः पीत्वा तत एष रसः सम्भवति ॥१०॥ स यत्सायमस्तमिते जुहोति । अस्य रसस्य जीवनस्य देवेभ्यो जुहवानि यदेषामिदᳯ सदुपजीवाम इति स यत्ततो रात्र्याश्नाति हुतोछिष्टमेव तन्निरवत्तबल्यश्नाति हुतोछिष्टस्य ह्येवाग्निहोत्रं जुह्वदशिता ॥११॥ अथ यत्प्रातरनुदिते जुहोति । अस्य रसस्य जीवनस्य देवेभ्यो

वह सायंकाल को अस्त होने पर इसलिए आहुति देता है कि (सूर्य) जो गर्भरूप है उसको आहुति दी जाय, और चूँकि उसको गर्भ के रूप में आहुति देता है इसलिए यह गर्भस्थ जीव बिना खाये जीते रहते हैं ॥४॥

प्रातःकाल उदय होने से पूर्व इसलिए आहुति देता है कि इस (सूर्यरूपी बालक) को जन्म दे। वह तेज होकर चमकता हुआ निकलता है। अगर वह आहुति न देता तो कदापि न निकलता। इसलिए वह आहुति देता है ॥५॥

जैसे साँप केंचुली छोड़ता है इसी प्रकार वह पाप-युक्त रात्रि को छोड़ता है। जो रहस्य को समझकर अग्निहोत्र करता है वह उसी प्रकार पाप-युक्त रात्रि से छूट जाता है जैसे साँप केंचुली से। उस (सूर्य) के छूटने पर सब प्रजा फिर से उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि वे अपने प्रयोजन के अनुकूल विचरते हैं ॥६॥

वह जो सूर्यास्त से पहले आहवनीय को (गार्हपत्य से) निकालता है—ये किरणें ही विश्वेदेव (सब देव) हैं। इससे अधिक जो प्रकाशित होता है प्रजापति या इन्द्र है। अग्निहोत्र करनेवाले के घर सब देवता पहुँच जाते हैं। और जो कोई आग न निकाल पावे और देवतागण आ जायँ तो वे चले जाते हैं। और जिसके यहाँ से देवतागण लौट जायँ वह सफल नहीं होता। और जिसके यहाँ से देवतागण चले गये और वह विफल हुआ, उसके विषय में लोग कहते हैं कि चाहे यह जाने या न जाने, इसका सूर्य अस्त हो गया क्योंकि इसने (गार्हपत्य से आहवनीय अग्नि को) नहीं निकाला ॥७॥

सूर्यास्त से पहले आहवनीय निकालने का यह कारण है कि जब कोई बड़ा आने वाला होता है तो घर को साफ करके सत्कार करते हैं, उसी प्रकार यह भी। क्योंकि जिस किसी के अग्नि निकालने के पीछे (देवतागण) आते हैं, वे उसके आहवनीय गृह में घुस जाते हैं और उसी आहवनीय गृह में ठहर जाते हैं ॥८॥

वह शाम को सूर्यास्त होने पर अग्नि में इसलिए आहुति देता है कि वह घर में प्रवेश किये हुए (देवताओं) के लिए आहुति देता है। और सूर्योदय होने से पहले आहुति देने का प्रयोजन यह है कि जब तक देव जाने न पावें, तब तक आहुति दी जाय। इसीलिए आसुरी का कहना था कि सूर्योदय होने के पश्चात् आहुति देनेवालों का अग्निहोत्र व्यर्थ हो जाता है जैसे खाली घर में कोई खाना ले जाय ॥९॥

जीविकाएँ दो प्रकार की हैं—जड़ वाली और बिना जड़ की। ये दोनों देवताओं की हैं। इन्हीं के सहारे मनुष्य जीते हैं। पशु बिना जड़ के हैं और ओषधियाँ जड़वाली; बिना जड़-वाले पशु जब जड़वाली ओषधियों को खाते और जल पीते हैं तब रस उत्पन्न होता है ॥१०॥

वह सूर्यास्त के पश्चात् शाम को आहुति इसलिए देता है कि इस जीवन-रस की आहुति देवताओं के लिए दे दूँ, क्योंकि यह रस उन्हीं का है जिसको खाकर हम जीते हैं। और जो वह रात्रि में भोजन करता है वह आहुति का शेष भाग है जिसमें से बलि निकाला जा चुका है (अर्थात् अन्य जीवों के लिए भाग बाँट दिया गया हो)। क्योंकि जो अग्निहोत्र करता है वह यज्ञ के शेष भाग को खाता है ॥११॥

और जो प्रातःकाल सूर्योदय से पहले आहुति देता है, वह सोचता है कि इस जीवन-रस

जुहवानि यदेषामिदꣳ सदुपजीवाम इति स यत्ततोऽश्नाश्नाति हुतोच्छिष्टमेव तन्निरवत्तबल्यश्नाति हुतोच्छिष्टस्य ह्येवाग्निहोत्रं जुह्वदशिता ॥ १२ ॥ तदाहुः । समेवान्ये यज्ञास्तिष्ठन्तेऽग्निहोत्रमेव न संतिष्ठतेऽपि द्वादशसंवत्सरमनन्तवदेवाथैतदेवानन्तꣳ सायꣳ हि हुत्वा वेद प्रातर्होष्यामीति प्रातर्हुत्वा वेद पुनः सायꣳ होष्यामीति तदेतदनुपस्थितमग्निहोत्रं तस्यानुपस्थितिमन्वनुपस्थिता इमाः प्रजाः प्रजायन्तेऽनुपस्थितो ह वै श्रिया प्रजया प्रजायते य एवमेतदनुपस्थितमग्निहोत्रं वेद ॥ १३ ॥ तद्दुग्धाधिश्रयति । शृतमसदिति तदाहुर्यदुल्लं तर्हि जुहुयादिति तद्वै नोदन्तं कुर्यादुप ह दहेच्चुदन्तं कुर्यादप्रजज्ञि वै रेत उपदग्धं तस्मान्नोदन्तं कुर्यात् ॥ १४ ॥ अधिश्रित्यैव जुहुयात् । यन्न्वेवैतदग्ने रेतस्तेन न्वेव शृतं यद्वेनदग्नावधिश्रयन्ति तेनोऽएव शृतं तस्मादधिश्रित्यैव जुहुयात् ॥ १५ ॥ तदवज्योतयति । शृतं वेदानीत्यथापः प्रत्यानयति शान्त्यै न्वेव रसस्यो चैव सर्वत्वाय यदा हि यदा वर्षत्यथौषधयो जायन्तऽओषधीर्जग्ध्वापः पीत्वा तत एष रसः सम्भवति तस्माद्रु रसस्यो चैव सर्वत्वाय तस्माद्यद्येनं क्षीरं केवलं पानेऽभ्याभवेदुदस्तोकमाश्चोतयितवै ब्रूयाच्छान्त्यै न्वेव रसस्यो चैव सर्वत्वाय ॥ १६ ॥ अथ चतुरुन्नयति । चतुर्धाविहितꣳ ह्रीदं पयोऽथ समिधमादायोदाद्रवति समिद्धहोमायैव सोऽनुपसाद्य पूर्वामाहुतिं जुहोति स यदुपसादयेद्यथा यस्माऽअशनमाहरिष्यन्त्स्यात्तदन्तरा निदध्यादेव तदथ यदनुपसाद्य यथा यस्माऽअशनमाहरेत्तस्माऽआहृत्यैवोपनिदध्यादेवं तदुपसाद्योत्तरां नानावीर्येऽएवैनेऽएतत्करोति मनश्च ह वै वाक्चैतेऽआहुती तन्मनश्चैवैतद्वाचं च व्यावर्तयति तस्मादिदं मनश्च वाक्च समानमेव सन्नानेव ॥ १७ ॥ स वै द्विरग्नौ जुहोति । द्विरुपमार्ष्टि द्विः प्राश्नाति चतुरुन्नयति तद्दश दशाक्षरा वै विराड्विराड् यज्ञस्तद्विराजमेवैतद्यज्ञमभिसम्पादयति ॥ १८ ॥ स यदग्नौ जुहोति । तद्देवेषु जुहोति तस्माद्देवाः सन्त्यथ यदुपमार्ष्टि तत्पितृषु चौषधीषु च जुहोति त-

की देवताओं के लिए आहुति दे दूँ, क्योंकि यह इनका है जिसको खाकर हम जीते हैं। वह जो दिन में भोजन करता है वह यज्ञ-शेष है, जिसमें से बलि निकाला जा चुका हो। जो अग्निहोत्र करता है वह यज्ञ के शेष भाग को खाता है ॥१२॥

इस विषय में कहा जाता है कि अन्य सब यज्ञ समाप्त हो जाते हैं परन्तु अग्निहोत्र समाप्त नहीं होता। बारह वर्ष चलनेवाला यज्ञ भी अन्तवाला है, परन्तु अग्निहोत्र अन्तवाला नहीं है। क्योंकि सायं को आहुति देकर जानता है कि प्रातःकाल आहुति दूंगा, और प्रातःकाल आहुति देकर जानता है कि सायं को आहुति दूंगा। इसलिए अग्निहोत्र अनन्त है और इससे अनन्त सन्तान उत्पन्न होती है। और जो मनुष्य अग्निहोत्र की अनन्तता को समझता है, उसके अनन्त सन्तान और वैभव होता है ॥१३॥

दूध दुहकर (गार्हपत्य अग्नि पर) पकाने रखता है जिससे पक जावे। इस विषय में कहते हैं कि जब उबाल आवे तब आहुति दे। परन्तु उबाल आ जायगा तो जल जायगा और जला हुआ बीज उपजता नहीं। इसलिए उबाल न आने देना चाहिए ॥१४॥

आग पर चढ़ाकर ही आहुति दे, क्योंकि यह (दूध) अग्नि वा वीर्य है। इसको आग पर इसलिए रखते हैं कि गर्म हो जाय। इसलिए आग पर रखकर ही आहुति देनी चाहिए ॥१५॥

अब प्रकाशित करता है (अर्थात् तिनके जलाकर उसके प्रकाश से दूध को देखता है) कि यह पक गया क्या? अब उस पर जल छिड़कता है शान्ति के लिए तथा रस की वृद्धि के लिए। जब बरसता है तब ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं। ओषधियों को खाने और जल को पीने से यह रस उत्पन्न होता है। इसलिए रस की वृद्धि के लिए वह जल छोड़ता है। इसलिए यदि 'केवल' (खालिस) दूध पीना हो तो उसमें एक बूंद जल अवश्य मिला ले, शान्ति के लिए तथा रस की वृद्धि के लिए ॥१६॥

अब वह दूध को चार (चमचों) में निकालता है, क्योंकि वह दूध चार प्रकार से (चार थनों से) मिला था। अब वह समिद्ध होम के लिए समिधा को उठाता है और (चमसे को) बिना नीचे रक्खे हुए पूर्व-आहुति देता है। यदि (चमसे को) नीचे रख देगा तो मानो वह किसी के लिए खाना ले जाते हुए बीच मार्ग में रख दे। परन्तु बिना नीचे रक्खे हुए (आहुति देना) मानो किसी को खाना ले जाते हुए पहले उसके पास पहुँचाकर (बर्तन) नीचे रक्खे। नीचे रखने के बाद एक और (आहुति देता है)। इस प्रकार इन दो आहुतियों को नानावीर्य (भिन्न-भिन्न पराक्रमवाली) बनाता है। ये दो आहुतियाँ मन और वाणी हैं। इस प्रकार मन और वाणी को एक-दूसरे से अलग करता है। इस प्रकार मन और वाणी समान होते हुए भी नाना हैं ॥१७॥

दो बार अग्नि में आहुति देता है। दो बार (चमसे को) पोंछता है। दो बार (दूध) खाता है। चार बार (चमसे में) निकालता है। ये दस (क्रियाएँ) हुईं। विराज् छन्द में दस अक्षर होते हैं। विराज् ही यज्ञ है। इस प्रकार वह यज्ञ को विराज् बना देता है ॥१८॥

वह अग्नि में जो आहुति देता है, वह देवताओं के लिए देता है। इसी से देव (यज्ञों में) सम्मिलित हैं। और जो पोंछ डालता है उसकी पितरों और ओषधियों के लिए आहुति देता है।

स्मात्पितरश्चौषधयश्च सन्त्यथ यद्धुत्वा प्राश्नाति तन्मनुष्येषु जुहोति तस्मान्मनुष्याः
सन्ति ॥१९॥ या वै प्रजा यज्ञेऽनन्वाभक्ताः । पराभूता वै ता एवमेवैतद्या इमाः
प्रजा अपराभूतास्ता यज्ञमुखऽआभजति तेनो ह पशवोऽन्वाभक्ता यन्मनुष्याननु
पशवः ॥२०॥ तद्ध होवाच याज्ञवल्क्यः । न वै यज्ञ इव मन्तवै पाकयज्ञ इव वा
ऽइतीदᳬ हि यदन्यस्मिन्यज्ञे स्रुच्यवद्यति सर्वं तदग्नौ जुहोत्यथैतदग्नौ हुत्वोत्सृ-
प्याचामति निर्लेढि तदस्य पाकयज्ञस्येवेति तदस्य तत्पशव्यᳬ रूपं पशव्यो हि
पाकयज्ञः ॥२१॥ सैषैकाहुतिरेवाग्रे । यामिवामूं प्रजापतिरजुहोदथ यदेतऽएतत्प-
श्चेवाधियन्ताग्निर्योऽयं पवते सूर्यस्तस्मादेषा द्वितीयाहुतिर्हूयते ॥२२॥ सा या पू-
र्वाहुतिः । साग्निहोत्रस्य देवता तस्मात्तस्यै जुहोत्यथ योत्तरा स्विष्टकृद्भाजनमेव
सा तस्मात्तामुत्तरार्धे जुहोत्येषा हि दिक् स्विष्टकृतस्तन्मिथुनायैवैषा द्वितीयाहु-
तिर्हूयते द्वन्द्वᳬ हि मिथुनं प्रजननम् ॥२३॥ तद्द्वयमेवैतेऽआहुती । भूतं चैव भ-
विष्यच्च जातं च जनिष्यमाणं चागतं चाशा चाद्य च श्वश्च तद्द्वयमेवानु ॥२४॥
आत्मैव भूतं । अद्धा हि तद्यद्भूतमद्धो तद्यदात्मा प्रजैव भविष्यदनद्धा हि तद्य-
द्भविष्यदनद्धो तद्यत्प्रजा ॥२५॥ आत्मैव जातम् । अद्धा हि तद्यज्जातमद्धो तद्य-
दात्मा प्रजैव जनिष्यमाणमनद्धा हि तद्यज्जनिष्यमाणमनद्धो तद्यत्प्रजा ॥२६॥
आत्मैवागतम् । अद्धा हि तद्यदागतमद्धो तद्यदात्मा प्रजैवाशानद्धा हि तद्यदा-
शानद्धो तद्यत्प्रजा ॥२७॥ आत्मैवाद्य । अद्धा हि तद्यदद्याद्धो तद्यदात्मा प्रजैव
श्वोऽनद्धा हि तद्यच्छ्वोऽनद्धो तद्यत्प्रजा ॥२८॥ सा या पूर्वाहुतिः । सात्मानमभि
हूयते तां मन्त्रेण जुहोत्यद्धा हि तद्यन्मन्त्रोऽद्धो तद्यदात्माऽथ योत्तरा सा प्रजा-
मभि हूयते तां तूष्णीं जुहोत्यनद्धा हि तद्यत्तूष्णीमनद्धो तद्यत्प्रजा ॥२९॥ स जु-
होति । अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेत्यथ प्रातः सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहे-
ति तत्सत्येनैव हूयते यदा ह्येव सूर्योऽस्तमेत्यथाग्निर्ज्योतिर्यदा सूर्य उदेत्यथ सूर्यो

इससे पितर और ओषधियाँ (यज्ञ में) सम्मिलित हैं। यह जो आहुति देकर खाता है वह मनुष्यों के लिए आहुति देता है। इससे (मनुष्य यज्ञ में) सम्मिलित होते हैं ॥१९॥

जो यज्ञ में सम्मिलित नहीं किये जाते वे तिरस्कृत हैं। इस प्रकार जो प्रजा तिरस्कृत नहीं है उसके लिए यज्ञ के आरम्भ में ही भाग निकल जाता है। इस प्रकार पशु (मनुष्यों के) साथ-साथ भाग लेते हैं क्योंकि पशु मनुष्यों के पीछे चलनेवाले हैं ॥२०॥

इस पर याज्ञवल्क्य का कहना है कि इस (अग्निहोत्र) को हविर्यज्ञ नहीं मानना चाहिए। इसको तो पाकयज्ञ (Domestic Sacrifice) कहना चाहिए, क्योंकि हविर्यज्ञ में जो कुछ स्रुक् में लिया जाता है वह सब अग्नि में छोड़ दिया जाता है। और यहाँ अग्नि में आहुति देने के पश्चात् आचमन करता और खाता है। यह सब पाकयज्ञ की ही क्रिया है। यह यज्ञ का पाशविक रूप है क्योंकि पाकयज्ञ पाशविक है ॥२१॥

पहली एक आहुति वही है जिसको प्रजापति ने दिया था और जिसके पीछे देवों ने (यज्ञ) जारी रक्खा अर्थात् अग्नि, वायु और सूर्य ने। इसलिए यह दूसरी आहुति देता है ॥२२॥

वह जो पूर्वाहुति दी गई वह तो अग्निहोत्र का देवता है, इसलिए उसी के लिए दी जाती है। और जो दूसरी आहुति है वह स्विष्टकृत् के समान है, इसलिए वह उत्तर की ओर दी जाती है। (उत्तरा आहुति उत्तर की ओर दी जाने से शब्दों का सादृश्य है), क्योंकि स्विष्टकृत् की यही दिशा है। यह दूसरी आहुति जोड़ा बनाने के लिए दी जाती है, क्योंकि जोड़े से ही सन्तान उत्पन्न होती है ॥२१॥

ये दोनों आहुतियाँ दो का जोड़ हैं—भूत और भविष्य का और उत्पन्न हुए तथा उत्पन्न होनेवाले का, जो है और जिसकी आशा है उन दोनों का, आज का और कल का ॥२४॥

आत्मा ही भूत है। भूत निश्चित है और आत्मा भी निश्चित है। भविष्यत् प्रजा है। भविष्यत् अनिश्चित है और प्रजा भी अनिश्चित है ॥२५॥

जो उत्पन्न हो गया वह आत्मा है, क्योंकि जो उत्पन्न हो गया वह निश्चित है और आत्मा भी निश्चित है। जो उत्पन्न होनेवाला है वह प्रजा है, क्योंकि जो उत्पन्न होनेवाला है वह अनिश्चित है और प्रजा भी अनिश्चित है ॥२६॥

जो प्राप्त हो गया (आगत, actual) यही आत्मा है, क्योंकि जो प्राप्त हो गया वह निश्चित है और आत्मा भी निश्चित है। आशा प्रजा है क्योंकि प्रजा भी अनिश्चित है और आशा भी अनिश्चित है ॥२७॥

आत्मा आज है, क्योंकि आज भी निश्चित है और आत्मा भी निश्चित है। कल प्रजा है क्योंकि कल भी अनिश्चित है और प्रजा भी अनिश्चित है ॥२८॥

यह जो पूर्वाहुति है वह आत्मा के लिए दी जाती हैं। यह मन्त्र से दी जाती है, क्योंकि मन्त्र निश्चित है और आत्मा भी निश्चित है। दूसरी प्रजा के लिए दी जाती है। वह मौन होकर दी जाती है, क्योंकि मौन अनिश्चित है और प्रजा भी अनिश्चित है ॥२९॥

(सायंकाल की) आहुति इस मन्त्र से दी जाती है—"अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा" (यजु० ३।९), और प्रातःकाल इस मन्त्र से—"सूर्योज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा" (यजु० ३।९)। सत्यता के साथ आहुति दी जाती है, क्योंकि जब सूर्य डूब जाता है तो अग्नि ही ज्योति रहती है।

ज्योतिर्यद्धै सत्येन हूयते तद्देवान्गच्छति ॥३०॥ तद्ध हैतदेवारुणये ब्रह्मवर्चसका-
माय तद्वानूवाचाग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्च इति ब्रह्मवर्चसी हैव
भवति य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति ॥३१॥ तद्वस्त्येव प्रजननस्येव रूपम् । अ-
ग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति तदुभयतो ज्योती रेतो देवतया परिगृह्णात्युभयतः-
परिगृहीतं वै रेतः प्रजायते तदुभयत एवैतत्परिगृह्य प्रजनयति ॥३२॥ अथ प्रा-
तः । सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहेति तदुभयतो ज्योती रेतो देवतया परिगृ-
ह्णात्युभयतःपरिगृहीतं वै रेतः प्रजायते तदुभयत एवैतत्परिगृह्य प्रजनयति त
त्प्रजननस्य रूपम् ॥३३॥ तद्ध होवाच जीवलश्चैलकिः । गर्भमेवारुणिः करोति
न प्रजनयतीति स एतेनैव सायं जुहुयात् ॥३४॥ अथ प्रातः । ज्योतिः सूर्यः सूर्यो
ज्योतिः स्वाहेति तद्वहिर्धा ज्योती रेतो देवतया करोति वहिर्धा वै रेतः प्रजातं
भवति तदेनत्प्रजनयति ॥३५॥ तदाहुः । अग्नावेवैतत्सायँ सूर्यं जुहोति सूर्ये प्रा-
तरग्निमिति तद्वै तदुदितहोमिनामेव यदा ह्येव सूर्योऽस्तमेत्यथाग्निर्ज्योतिर्यदा सूर्य
उदेत्यथ सूर्यो ज्योतिर्नास्य सा परिचक्षेयमेव परिचक्षा यत्तस्यै नाह्ना देवतायै हू-
यते याग्निहोत्रस्य देवताग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति तत्र नाग्नये स्वाहेत्यथ प्रा-
तः सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहेति तत्र न सूर्याय स्वाहेति ॥३६॥ अनेनैव
जुहुयात् । सजूर्देवेन सवित्रेति तत्सवितृमत्प्रसवाय सजू रात्र्येन्द्रवत्येति तद्रात्र्या
मिथुनं करोति सेन्द्रं करोतीन्द्रो हि यज्ञस्य देवता जुषाणोऽअग्निर्वेतु स्वाहेति
तदग्नये प्रत्यक्षं जुहोति ॥३७॥ अथ प्रातः । सजूर्देवेन सवित्रेति तत्सवितृमत्प्र-
सवाय सजूरुषसेन्द्रवत्येत्यह्नेति वा तदह्नां वोषसां वा मिथुनं करोति सेन्द्रं क-
रोतीन्द्रो हि यज्ञस्य देवता जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहेति तत्सूर्याय प्रत्यक्षं जुहो-
ति तस्मादेवमेव जुहुयात् ॥३८॥ ते होचुः । को न इदँ होष्यतीति ब्राह्मण
एवेति ब्राह्मणेदं नो जुहुधीति किं मे ततो भविष्यतीत्यग्निहोत्रोच्छिष्टमेवेति स

और जब सूय निकलता है तो सूर्य ज्योति होता है। जो सत्यता के साथ आहुति देता है वह देवों को प्राप्त होता है ।।३०।।

ब्रह्मवर्चस् की कामना के लिए तक्षा ने अरुणि के प्रति यही कहा था—'अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः सूर्योवर्चो ज्योतिर्वर्चः' (यजु० ३।९)। जो पुरुष समझकर अग्निहोत्र करता है वह ब्रह्मवर्चसी हो जाता है ।।३१।।

यह मन्त्र सन्तानोत्पत्ति का रूप है। "अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा" कहकर वह ज्योतिरूपी वीर्य को देवता के द्वारा दोनों ओर से घेर देता है। दोनों ओर से घिरकर ही तो वीर्य से उत्पत्ति होता है। इस प्रकार दोनों ओर से घेरकर ही वह इससे सन्तानोत्पत्ति कराता है ।।३२।।

प्रातःकाल की आहुति का मन्त्र—"सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा" (यजु० ३।९)। कहकर वह ज्योतिरूपी वीर्य को देवता के द्वारा दोनों ओर से घेर देता है, क्योंकि दोनों ओर से घिरकर ही वीर्य से उत्पत्ति होती है। इस प्रकार दोनों ओर से इसे घेरकर ही वह इससे सन्तानोत्पत्ति कराता है ।।३३।।

जीवल चैलकि का कथन है कि आरुणि गर्भ ही धारण करता है, सन्तानोत्पत्ति नहीं कराता। इसलिए उसी आहुति से सायंकाल को होत्र करे ।।३४।।

प्रातःकाल "ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा" (यजु० ३।९), कहकर वह देवता के द्वारा ज्योति रूपी वीर्य को बाहर कर देता है। बाहर आकर ही वीर्य उत्पत्ति करता है, इसलिए इसके द्वारा उत्पत्ति करता है ।।३५।।

इसके विषय में कुछ लोग कहते हैं कि वह सायंकाल को अग्नि में सूर्य के लिए आहुति देता है और प्रातःकाल सूर्य में अग्नि के लिए। यह उनके लिए सच है जो 'उदितहोमि' अर्थात् सूर्योदय के पश्चात् होम करनेवाले हैं। क्योंकि जब सूर्य अस्त होता है तब अग्नि ज्योति होती है और जब सूर्य उदय होता है तो सूर्य ज्योति होता है। इसमें कोई दोष नहीं है। दोष इसमें है कि जो अग्निहोत्र के देवता हैं उनको निश्चय करके न कहा जाय (अर्थात् सूर्य और अग्नि को अलग-अलग)। वह कहता है 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा' न कि 'अग्नये स्वाहा।' इसी प्रकार प्रातःकाल के समय 'सूर्योज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा' न कि 'सूर्याय स्वाहा' ।।३६।।

(सायंकाल को) इससे भी आहुति दे—'सजूर्देवेन सवित्रा' (यजु० ३।१०)। इस प्रकार सवितृ-युक्त हो जाता है, प्रेरणा के लिए। फिर कहता है 'सजूरात्र्येन्द्रवत्या', इससे वह इसका रात्रि से जोड़ मिलाता है और इन्द्र से युक्त करता है। इन्द्र ही यज्ञ का देवता है। 'जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा' (यजु० ३।१०) कहकर वह प्रत्यक्ष रूप से अग्नि के लिए आहुति देता है ।।३७।।

अब प्रातःकाल को 'सजूर्देवेन सवित्रा' कहकर प्रेरणा के लिए सवितृ-युक्त करता है। अब कहता है—'सजूरुषसेन्द्रवत्या', इस प्रकार वह इसका दिन या उषा से जोड़ मिलाता है और इसे इन्द्र-युक्त करता है। इन्द्र यज्ञ का देवता है। 'जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा' (यजु० ३।१०) कहकर वह प्रत्यक्ष रूप से सूर्य के लिए आहुति देता है। इसलिए इसी प्रकार आहुति दे ।।३८।।

उन्होंने कहा—'हमारे लिए कौन आहुति देगा?' 'ब्राह्मण ही।' 'हे ब्राह्मण, हमारे लिए आहुति दे।' 'तब मेरा भाग क्या होगा?' 'अग्निहोत्र का उच्छिष्ट (बचा हुआ)।' यह जो

यत्स्रुचि परिशिनष्टि तदग्निहोत्रोच्छिष्टमथ यत्स्थाल्यां यथा परीणह्यो निर्वपेदेवं तत्तस्मात्तस्य एव कश्च पिबेत्तद्धि नाब्राह्मणः पिबेदग्नौ ह्यधिश्रयन्ति तस्मान्नाब्राह्मणः पिबेत् ॥३१॥ ब्राह्मणम् ॥३ [३.१.]॥ ॥

एता ह वै देवता योऽस्ति । तस्मिन्वसन्तीन्द्रो यमो राजा नडो नैषिधोऽनश्नत्सांगमनोऽसन्याꣳसवः ॥१॥ तद्वाऽएष एवेन्द्रः । यदाहवनीयोऽथैष एव गार्हपत्यो यमो राजाथैष एव नडो नैषिधो यदन्वाहार्यपचनस्तस्यदेतमहरहर्दक्षिणात आहरन्ति तस्मादाङरहरहर्वै नडो नैषिधो यमꣳ राजानं दक्षिणात उपनयतीति ॥२॥ अथ य एष सभायामग्निः । एष एवानश्नत्सांगमनस्तस्यदेतमनशित्वोपसंगच्छन्ते तस्मादेषोऽनश्नन्नथ यदेतद्भस्मोद्धृत्य परावपन्त्येष एवासन्याꣳसवः स यो हैवमेतद्वेदैवं मय्येता देवता वसन्तीति सर्वान्हैवैतांल्लोकान्जयति सर्वांल्लोकाननुसंचरति ॥३॥ तेषामुपस्थान । यदेव सायं प्रातराहवनीयमुप च तिष्ठतऽउप चास्ते तदेव तस्योपस्थानमथ यदेव प्रतिपरेत्य गार्हपत्यमास्ते वा शेते वा तदेव तस्योपस्थानमथ यत्रैव संव्रजन्नन्वाहार्यपचनमुपस्मरेत्तदेव तं मनसोपतिष्ठेत तदेव तस्योपस्थानम् ॥४॥ अथ प्रातः । अनशित्वा मुहूर्तꣳ सभायामासित्वापि कामं पल्ययेत तदेव तस्योपस्थानमथ यत्रैव भस्मोद्धृतमुपनिगच्छेत्तदेव तस्योपस्थानमेवमु हास्यैता देवता उपस्थिता भवन्ति ॥५॥ यजमानदेवत्यो वै गार्हपत्यः । अथैष भ्रातृव्यदेवत्यो यदन्वाहार्यपचनस्तस्मादेतं नाहरहराहरेयुर्न ह वाऽअस्य सपत्ना भवन्ति यस्यैवं विदुष एतं नाहरहराहरन्त्यन्वाहार्यपचनो वाऽएषः ॥६॥ उपवसथऽएवैनमाहरेयुः । यत्रैवास्मिन्यद्यन्तो भवन्ति तस्मो हास्यैषोऽमोघायाहृतो भवति ॥७॥ नवावसिते वैनमाहरेयुः । तस्मिन्पचेयुस्तद्ब्राह्मणा अश्नीयुर्यद्यु तन्न विन्देद्यत्पचेदपि गोरिव दुग्धमधिश्रयितवै ब्रूयात्तस्मिन्ब्राह्मणान्याययितवै ब्रूयात्पापीयाꣳसो ह वाऽअस्य सपत्ना भवन्ति यस्यैवं विदुष एवं

स्रुवे में रह जाता है वह अग्निहोत्र का उच्छिष्ट है। जो थाली में रह जाता है वह वैसा ही है जैसा कि (गाड़ी के) घेरे में से (चावल निकालना)। यदि कोई इसे पिये तो ब्राह्मण के सिवाय अन्य न पीवे। यह अग्नि में रखा हुआ (पवित्र) है, इसलिए अब्राह्मण न पीवे ॥३९॥

अध्याय ३—ब्राह्मण २

जो कोई (यजमान) होता है उसमें ये देवते होते हैं—इन्द्र, राजा, यम, नड-नैषिध (या नैषध), अनश्नत् सांगमन, असन्पांसव ॥१॥

यह जो आहवनीय है वह इन्द्र है, जो गार्हपत्य है वह राजा यम है। यह जो अन्वाहार्य-पचन (दक्षिणाग्नि) है वह नड-नैषिध है। चूंकि प्रतिदिन दक्षिण से (अग्नि) लाते हैं, इसलिए कहते हैं कि नड-नैषिध प्रतिदिन राजा यम को दक्षिण से लाता है ॥२॥

और यह जो सभा में अग्नि है वह अनश्नत् सांगमन है। इसको अनश्नत् इसलिए कहते हैं कि लोग बिना खाये उसके पास जाते हैं। और उसमें से राख निकालकर जहाँ फेंकते हैं वह असन्पांसव है। जो इस बात को जानता है वह सब लोकों को जीतता है, सब लोकों में विचरता है और समझता है कि ये देवतागण मुझमें विद्यमान हैं ॥३॥

अब उन (अग्नियों) के उपस्थान (उपासना) के विषय में। जो सायं और प्रातः को आहवनीय के पास खड़ा होना और बैठना है यही उसकी उपासना है, और जब लौटकर गार्हपत्य के पास बैठना या लेटना है वह उसकी उपासना है, और जब (आहवनीय से) निकलकर अन्वाहार्य-पचन का स्मरण करना तथा मन में उसके पास ठहरना है वह उसकी उपासना है ॥४॥

और प्रातःकाल बिना खाये मुहूर्त-भर सभा में बैठना और यथेच्छा परिक्रमा देना है वही उसकी उपासना है। और जहाँ उसमें से लेकर भस्म डाली जाती है वहाँ ठहरना है, वही उसकी उपासना है। इस प्रकार उन देवताओं की उपासना हो गई ॥५॥

गार्हपत्य का देवता यजमान है, और अन्वाहार्य-पचन का देवता उसका शत्रु है, इसलिए (दक्षिणाग्नि को) रोज-रोज (गार्हपत्य से) नहीं ले जाना चाहिए। उसके कोई शत्रु नहीं होते। जो इस बात को जानता है उसके यहाँ इस अग्नि को रोज-रोज नहीं निकालते। यह अन्वाहार्य-पचन है ॥६॥

उपवास के दिन ही उसको लाना चाहिए जब इसमें यज्ञ करनेवाले हों, और यह (यजमान के) अमोघ (निश्चित सफलता) के लिए लाई जाती है ॥७॥

या इसको नये घर में ले जायें। उसमें पकावें और ब्राह्मणों को खिलाएँ। यदि पकाने के लिए और कुछ न मिले तो गाय के दूध को ही अग्नि पर रख दें और ब्राह्मणों को पिला दें। जिस किसी यह जाननेवाले के लिए वे ऐसा करते हैं उसके शत्रु पापी (अवनति-शील) हो जाते हैं।

कुर्वन्ति तस्मादिवमेव चिकीर्षेत् ॥८॥ तद्यत्रैतत्प्रथमꣳ समिद्धो भवति । धूप्यत ऽइव तर्हि हैष भवति रुद्रः स यः कामयेत यथेमा रुद्रः प्रजा अश्रद्धयेवं बप्सह्सेव बन्निघातमिव बप्सतऽएवमन्नमद्यामिति तर्हि ह स जुहुयात्प्राप्नोति हैवैतदन्नाद्यं य एवं विद्वांस्तर्हि जुहोति ॥९॥ अथ यत्रैतत्प्रदीप्ततरो भवति । तर्हि हैष भवति वरुणः स यः कामयेत यथेमा वरुणः प्रजा गृह्णन्निव बप्सह्सेव बन्निघातमिव बप्सतऽएवमन्नमद्यामिति तर्हि ह स जुहुयात्प्राप्नोति हैवैतदन्नाद्यं य एवं विद्वांस्तर्हि जुहोति ॥१०॥ अथ यत्रैतत्प्रदीप्तो भवति । उच्चैर्धूमः परमया जूत्या बल्बलीति तर्हि हैष भवतीन्द्रः स यः कामयेतेन्द्र इव श्रिया यशसा स्यामिति तर्हि ह स जुहुयात्प्राप्नोति हैवैतदन्नाद्यं य एवं विद्वांस्तर्हि जुहोति ॥११॥ अथ यत्रैतत्प्रतितरामिव । तिरश्चीवार्चिः संशाम्यतो भवति तर्हि हैष भवति मित्रः स यः कामयेत मैत्रेणेदमन्नमद्यामिति यमाहुः सर्वस्य वाऽअयं ब्राह्मणो मित्रं न वाऽअयं कं चन हिनस्तीति तर्हि ह स जुहुयात्प्राप्नोति हैवैतदन्नाद्यं य एवं विद्वांस्तर्हि जुहोति ॥१२॥ अथ यत्रैतदङ्गाराश्चाकश्यन्तऽइव । तर्हि हैष भवति ब्रह्म स यः कामयेत ब्रह्मवर्चसी स्यामिति तर्हि ह स जुहुयात्प्राप्नोति हैवैतदन्नाद्यं य एवं विद्वांस्तर्हि जुहोति ॥१३॥ एतेषामेकꣳ संवत्सरमुपेत्सेत् । स्वयं जुह्वद्यदि वास्यान्यो जुहुयादथ योऽन्यथान्यथा जुहोति यथापो वाभिखनन्नन्यद्वान्नाद्यꣳ स सामि निवर्त्तेतैवं तदथ यः सार्धं जुहोति यथापो वाभिखनन्नन्यद्वान्नाद्यं तत्त्विप्रेऽभितृन्द्यादेवं तत् ॥१४॥ अग्नयो ह वाऽएता अन्नाद्यस्य यदाहुतयः । अभि हैवैतदन्नाद्यं तृणत्ति य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति ॥१५॥ सा या पूर्वाहुतिः । ते देवा अथ योत्तरा ते मनुष्या अथ यत्स्रुचि परिशिनष्टि ते पशवः ॥१६॥ स वै कनीय इव पूर्वामाहुतिं जुहोति । भूय इवोत्तरां भूय इव स्रुचि परिशिनष्टि ॥१७॥ स यत्कनीय इव पूर्वामाहुतिं जुहोति ।

इसलिए ऐसा ही करना चाहिए ।।८।।

जब अग्नि पहले ही जलाई जाती है और उसमें धुआँ ही निकलता है, तब यह अग्नि रुद्र होती है। जैसे रुद्र इन प्रजाओं को कभी अश्रद्धा से, कभी कड़ेपन में, कभी मारकर बरतता है, उसी प्रकार यदि कोई चाहे कि अन्न खाऊँ तो वह यह आहुति दे। जो कोई समझकर आहुति देता है उसको अन्न की प्राप्ति हो जाती है।

जब अग्नि अधिक प्रदीप्त हो जाती है तो वरुण हो जाती है। जैसे वरुण प्रजा को कभी पकड़कर, कभी कड़ेपन से और कभी मारकर बरसता है, इसी प्रकार यदि कोई चाहे कि मैं अन्न खाऊँ तो वह यह आहुति दे। जो कोई समझकर आहुति देता है उसको अन्न की प्राप्ति हो जाती है ।।१०।।

जब अग्नि बहुत प्रज्वलित होती है और पुष्कल धुआँ चक्कर काटता हुआ ऊपर को उठता है तो यह इन्द्र हो जाती है। जो कोई चाहे कि इन्द्र के समान श्री और यश वाला हो जाऊँ तो वह यह आहुति दे। जो कोई समझकर आहुति देता है उसको अन्न की प्राप्ति हो जाती है ।।११।।

जब यह अग्नि घटती हुई शान्त-सी तिरछी जलती है तो मित्र हो जाती है। यदि कोई चाहे कि मित्रता से अन्न खाऊँ, जैसे कहा करते हैं कि अमुक ब्राह्मण मित्र है, वह किसी की हानि नहीं करता, तो वह आहुति दे। जो समझकर आहुति देता है वह अन्न को प्राप्त कर लेता है ।।१२।।

जब इस (अग्नि) के अङ्गारे जलते हैं तब यह ब्रह्म हो जाती है। जो चाहे कि मैं ब्रह्म-वर्चसी हो जाऊँ वह यह आहुति दे। जो समझकर आहुति देता है उसे अन्न की प्राप्ति हो जाती है ।।१३।।

उसको साल-भर तक इनमें से एक का सेवन करना चाहिए, चाहे स्वयं आहुति दे या किसी से दिलावे। और जो कभी किसी के और कभी किसी के लिए आहुति देता है तो वैसा ही व्यर्थ है जैसे पानी के लिए कभी यहाँ खोदे, कभी वहाँ, या अन्न के लिए और बीच में छोड़ दे। और यदि लगातार आहुति देता जाय तो ऐसा है जैसे जल या अन्न के लिए खोदता-खोदता शीघ्र प्राप्त कर ले ।।१४।।

ये जो आहुतियाँ हैं वे अन्न के (खोदने के) लिए अभ्रि या खुरपा हैं। जो समझकर अग्निहोत्र करता है वह अन्न की प्राप्ति करता है।

जो पूर्वाहुति है वह देव है, जो पिछली है वह मनुष्य और जो स्रुक् में बच रहे वह पशु ।।१६।।

पूर्वाहुति में थोड़ा ही डालता है, पिछली में अधिक और उससे भी अधिक स्रुक् में बचा रखता है ।।१७।।

पूर्वाहुति में थोड़ा-सा इसलिए डालता है कि देव आदमियों से कम हैं। दूसरी आहुति में

कनीयाᳪंसो हि देवा मनुष्येभ्योऽथ यद्भूयऽइवोत्तरां भूयाᳪंसो हि मनुष्या देवेभ्योऽथ यद्भूय इव स्रुचि परिशिनष्टि भूयाᳪंसो हि पशवो मनुष्येभ्यः कनीयाᳪंसो ह वाऽअस्य भार्या भवन्ति भूयाᳪंसः पशवो य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति तद्वै समृद्धं यस्य कनीयाᳪंसो भार्या असन्भूयाᳪंसः पशवः ॥१८॥ ब्राह्मणम् ॥४ [३.२.]॥

॥ द्वितीयः प्रपाठकः ॥ ॥ कण्डिकासंख्या १०३ ॥ ॥

यत्र वै प्रजापतिः प्रजाः ससृजे । स यत्राग्निᳪं ससृजे स इदं जातः सर्वमेव दग्धुं दध्रऽइत्येवाबिलमेव ता यास्तर्हि प्रजा आसुस्ता हैनᳪं सम्पेष्टुं दध्रिरे सोऽतितिक्षमाणः पुरुषमेवाभ्येयाय ॥१॥ स होवाच । न वाऽअहमिदं तितिक्षे हन्त त्वा प्रविशानि तं मा जनयित्वा बिभृहि स यथैव मां त्वमस्मिंल्लोके जनयित्वा भरिष्यस्येवमेवाहं त्वाममुष्मिंल्लोके जनयित्वा भरिष्यामीति तथेति तं जनयित्वाबिभः ॥२॥ स यदग्नीऽआधत्ते । तदेनं जनयति तं जनयित्वा बिभर्ति स यथा हैवैष एतमस्मिंल्लोके जनयित्वा बिभर्त्येवमु हैवैष एतममुष्मिंल्लोके जनयित्वा बिभर्ति ॥३॥ तन्न साम्युद्वासयेत । सामि हास्मै स ग्लायति स यथा हैवैष एतस्माऽअस्मिंल्लोके सामि ग्लायत्येवमु हैवैष एतस्माऽअमुष्मिंल्लोके सामि ग्लायति तस्मान्न साम्युद्वासयेत ॥४॥ स यत्र म्रियते । यत्रैनमग्नावभ्यादधति तदेषोऽग्नेरधिजायते स एष पुत्रः सन्पिता भवति ॥५॥ तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तᳪं । शतमिन्नु शरदोऽअन्ति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम् । पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोरिति पुत्रो ह्येष सन्त्स पुनः पिता भवत्येतन्नु तद्यस्मादग्नीऽआदधीत ॥६॥ तद्वाऽएष एव मृत्युः । य एष तपति तद्यदेष एव मृत्युस्तस्माद्या एतस्मादर्वाच्यः प्रजास्ता म्रियन्तेऽथ याः पराच्यस्ते देवास्तस्मादु तेऽमृतास्तस्येमाः सर्वाः प्रजा रश्मिभिः प्राणेष्वभिहितास्तस्माद्रश्मयः प्राणानभ्यवतायन्ते ॥७॥ स यस्य कामयते । तस्य प्राणमादायोदेति स म्रियते स यो हैतं मृत्युम-

अधिक इसलिए डालता है कि मनुष्य देवों से अधिक हैं। स्रुक् में सबसे अधिक इसलिए छोड़ता है कि पशु मनुष्यों से भी अधिक हैं। जो कोई समझकर अग्निहोत्र करता है उसके आश्रित मनुष्यों (भार्य) की अपेक्षा पशु अधिक होते हैं। जिसके भार्य (आश्रित मनुष्य) कम और पशु अधिक हों, उसी को समृद्ध पुरुष कहते हैं ॥१८॥

अध्याय ३—ब्राह्मण ३

जब प्रजापति ने प्रजा उत्पन्न की और अग्नि उत्पन्न की तो यह उत्पन्न होते ही सबको जलाने लगी, और सबने उससे बचना चाहा, और जो प्रजा थी उसने उसको बुझाना चाहा। यह सहन न करके वह पुरुष के पास आई ॥१॥

उसने कहा—"मैं यह सहन नहीं कर सकती। तुझमें घुस जाऊँ। तू मुझे उत्पन्न करके पालन करा। जैसा तू इस लोक में मुझे जन्म देकर पालन करेगा वैसा ही परलोक में तुझे जन्म देकर पालन करूँगी।" उसने कहा—"अच्छा।" उसने उसे उत्पन्न किया और पालन किया ॥२॥

जब वह दो अग्नियों का आधान करता है तो उनको उत्पन्न करता है और उत्पन्न करके उनका पालन करता है। और जैसा वह इसका इस लोक में उत्पन्न करके पालन करता है, वैसा ही वह (अग्नि) उस लोक में उसको उत्पन्न करके उसका पालन करता है।

इस अग्नि को अधूरा न हटावे। यदि इसको अधूरा हटा देगा तो जिस प्रकार अग्नि को इस लोक में ह्रास करेगा, उसी प्रकार अग्नि उस लोक में उसका भी ह्रास कर देगा। इसलिए उसको अग्नि को अधूरा न हटाना चाहिए ॥४॥

और जब वह मरता है और उसे अग्नि पर रखते हैं तो वह अग्नि से ही उत्पन्न होता है। जो (अग्नि) अब तक उसका पुत्र था, वह अब उसका पिता हो जाता है ॥५॥

इसीलिए ऋषि ने कहा था—"शतमिन्नु शरदोऽअन्ति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्। पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः" (यजु० २५।२२; ऋ० १।८९।९) —"हे देवताओ, सौ वर्ष हमारे सामने हैं जब तुम हमारे शरीरों के बुढ़ापे को करते हो। जब पुत्र पिता हो जाते हैं आप हमारी पूरी होनेवाली आयु को बीच में मत काटो।" क्योंकि जो (अग्नि) अब तक पुत्र था अब पिता हो गया। यही कारण है कि अग्न्याधान करना चाहिए ॥६॥

यह जो सूर्य है वह मृत्यु है, इसलिए उससे इस ओर की प्रजा मर जाती है। और जो उससे परली ओर हैं अर्थात् देव, वे अमर रहते हैं। ये सब प्रजाएँ किरणों द्वारा प्राणों में स्थित हैं। इसीलिए किरणें प्राणों तक जाती हैं ॥७॥

यह सूर्य जिसको चाहता है उसके प्राण लेकर उदय होता है और वह मर जाता है। जो

नतिमुच्याथामुं लोकमेति यथा हैवास्मिंल्लोके न संयतमाद्रियते यदा यदैव का-
मयतेऽथ मारयत्येवमु हैवामुष्मिंल्लोके पुनःपुनरेव प्रमारयति ॥८॥ स यत्साय-
मस्तमिते द्वेऽआहुती जुहोति । तदेताभ्यां पूर्वाभ्यां पद्भ्यामेतस्मिन्मृत्यौ प्रतिति-
ष्ठत्यथ यत्प्रातरनुदिते द्वेऽआहुती जुहोति तदेताभ्यामपराभ्यां पद्भ्यामेतस्मिन्मृत्यौ
प्रतितिष्ठति स एनमेष उद्यन्नेवादायोदेति तदेतं मृत्युमतिमुच्यते सैषाग्निहोत्रे
मृत्योरतिमुक्तिरति ह वै पुनर्मृत्युं मुच्यते य एवमेतामग्निहोत्रे मृत्योरतिमुक्तिं
वेद ॥९॥ यथा वाऽइषोरनीकम् । एवं यज्ञानामग्निहोत्रं येन वाऽइषोरनीकमे-
ति सर्वा वै तेनेषुरेत्येतेनो हास्य सर्वे यज्ञक्रतव एतं मृत्युमतिमुक्ताः ॥१०॥ अ-
होरात्रे ह वाऽअमुष्मिंल्लोके परिप्लवमाने । पुरुषस्य सुकृतं क्षिणुतोऽर्वाचीनं वा
ऽअतोऽहोरात्रे तयो हास्याहोरात्रे सुकृत न क्षिणुतः ॥११॥ स यथा रथोपस्थे
तिष्ठन् । उपरिष्टाद्रथचक्रे पल्यङ्ग्यमानेऽउपावेक्षेतैवं परस्तादर्वाचीनोऽहोरात्रेऽउ-
पावेक्षते न ह वाऽअस्याहोरात्रे सुकृतं क्षिणुतो य एवमेतामहोरात्रयोरतिमुक्तिं
वेद ॥१२॥ पूर्वेणाहवनीयं परीत्य । अन्तरेण गार्हपत्यं चैति न वै देवा मनुष्यं
विदुस्तऽएनमेतदन्तरेणातियन्तं विदुरयं वै न इदं जुहोतीत्यग्निर्वै पाप्मनोऽपह-
न्ता तावस्याहवनीयश्च गार्हपत्यश्चान्तरेणातियतः पाप्मानमपहतः सोऽपहतपा-
प्मा ज्योतिरेव श्रिया यशसा भवति ॥१३॥ उत्तरतो वाऽअग्निहोत्रस्य द्वारं ।
स यथा द्वारा प्रपद्येतैवं तदथ यो दक्षिणत एत्यास्ते यथा बहिर्धा चरेदेवं तत्
॥१४॥ नौर्ह वाऽएषा स्वर्ग्या । यदग्निहोत्रं तस्याऽएतस्यै नावः स्वर्ग्याया आह-
वनीयश्चैव गार्हपत्यश्च नौमण्डेऽअथैष एव नावाजो यत्क्षीरहोता ॥१५॥ स य-
त्प्राङुपोदेति । तदेनां प्राचीमभ्यजति स्वर्गं लोकमभि तया स्वर्गं लोकं सम-
श्नुते तस्या उत्तरत आरोहणं तेनं स्वर्गं लोकं समापयत्यथ यो दक्षिणत
एत्यास्ते यथा प्रतीर्णायामागच्छेत्स विहीयेत स तत एव बहिर्धा स्यादेवं तत् ॥१६॥

इस मृत्यु से न बचकर उस लोक में जाता है, उसको बार-बार मारा जाता है, उसी प्रकार जैसे इस लोक में कैदी पर सख्ती करते हैं और जब चाहते हैं तब मार डालते हैं ।।८।।

यह जो शाम को सूर्यास्त होने पर दो आहुतियाँ देता है वह इन दो अगले पैरों से इस मृत्यु पर प्रतिष्ठा पाता है। और यह जो सूर्योदय से पूर्व ही आहुतियां देता है वह पिछले दो पैरों से इस मृत्यु पर प्रतिष्ठा पाता है, और जब सूर्य निकलता है तो उसको लेकर मृत्यु से छूट जाता है। यह अग्निहोत्र के द्वारा मृत्यु से छूटने का विधान है । जो इस प्रकार अग्निहोत्र द्वारा मृत्यु से छुटकारे का ज्ञान रखता है, वह बार-बार की मौत से छूट जाता है ।।९।।

जैसे तीर की नोक होती है वैसे ही यज्ञ और अग्निहोत्र का सम्बन्ध है। जिधर तीर की नोक जाती है उसी ओर तीर जाता है। इस (अग्निहोत्र) द्वारा सब यज्ञ मृत्यु से छूटने के साधन हैं ।।१०।।

रात और दिन घूमते हुए मनुष्य के सुकृत को उस लोक में क्षीण कर देते हैं। परन्तु दिन और रात उसके इस ओर हैं, इसलिए दिन-रात उसके सुकृत को क्षीण नहीं करते ।।११।।

और जैसे रथ में बैठे हुए ऊपर से रथ के घूमते हुए पहियों को देखता है, उसी प्रकार वह ऊपर से दिन और रात को देखता है। और जो इस प्रकार दिन और रात से छुटकारा पाने का भेद जानता है, उसके सुकृत को दिन और रात क्षीण नहीं कर सकते ।।१२।।

(यजमान) पूर्व की ओर से आहवनीय का चक्कर लगाकर उसके और गार्हपत्य के बीच में होकर (अपने स्थान को) जाता है, क्योंकि (अभी) देव (इस) मनुष्य को पहचानते नहीं। परन्तु जब वह बीच में से जाता है तो पहचानते हैं कि यही हमको आहुति देगा। अग्नि पाप का नाशक है और आहवनीय और गार्हपत्य उसके पाप को नष्ट कर देते हैं जो उन दोनों के बीच में होकर निकलता है। और उसका पाप नष्ट हो जाने पर भी वह श्री और यश से युक्त होकर ज्योति हो जाता है ।।१३।।

अग्निहोत्र का द्वार उत्तर की ओर है। इसलिये वह ऐसे घुसता है मानो द्वार में होकर घुसा। और जो दक्षिण से जाकर बैठ जाय तो मानो वह बाहर चला गया ।।१४।।

अग्निहोत्र स्वर्ग की नाव है। आहवनीय और गार्हपत्य उस स्वर्ग की नाव की दो तरफें हैं, और दूध की आहुति देनेवाला मल्लाह है ।।१५।।

जब वह पूर्व की ओर चलता है तो मानो वह इस नाव को पूर्व की ओर स्वर्ग की ओर ले जाता है और उसके द्वारा स्वर्गलोक को प्राप्त कर लेता है। उस पर उत्तर से चढ़ना उसको स्वर्गलोक में ले जाना है। जो दक्षिण से घुसकर उसमें बैठता है तो ऐसा समझना चाहिए मानो वह उस समय नाव में घुसने लगा जब वह चल पड़ी और वह पीछे और बाहर रह गया ।।१६।।

अथ यामेताꣳ समिधमभ्यादधाति सेष्टका येन मन्त्रेण जुहोति तद्यजुर्येनैतामिष्ट-
कामुपदधाति यदा वाऽइष्टकोपधीयतेऽथाहुतिर्हूयते तदस्योपहितास्वेवेष्टकास्वे-
ता आहुतयो हूयन्ते या एता अग्निहोत्राहुतयः ॥१७॥ प्रजापतिर्वाऽअग्निः । सं-
वत्सरो वै प्रजापतिः संवत्सरे-संवत्सरे ह वाऽअस्याग्निहोत्रं चित्येनाग्निना सं-
तिष्ठते सवत्सरे-संवत्सरे चित्यमग्निमाप्नोति य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोत्येतद्ध
ह्यस्याग्निहोत्रं चित्येनाग्निना संतिष्ठते चित्यमग्निमाप्नोति ॥१८॥ सप्त च वै श-
तान्यशीतीनामृचः । विꣳशतिश्च स यत्सायं प्रातरग्निहोत्रं जुहोति ते द्वेऽआहुती
ता अस्य संवत्सरऽआहुतयः सम्पद्यन्ते ॥१९॥ सप्त चैव शतानि विꣳशतिश्च ।
संवत्सरे-संवत्सरे ह वाऽअस्याग्निहोत्रं महतोक्थ्येन सम्पद्यते संवत्सरे-संवत्सरे
महदुक्थमाप्नोति य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोत्येतद्ध ह्यस्याग्निहोत्रं महतोक्थ्येन
सम्पद्यते महदुक्थमाप्नोति ॥२०॥ ब्राह्मणम् ॥१ [३.३.]॥ ॥

अग्नौ ह वै देवाः । सर्वान्पशून्निदधिरे ये च ग्राम्या ये चारण्या विजयं वोप-
प्रेष्यन्तः कामचारस्य वा कामायायं नो गोपिष्ठो गोपायदिति वा ॥१॥ तानु ह्या-
ग्निर्निचकमे । तैः संगृह्य रात्रिं प्रविवेश पुनरेम इति देवा एतदग्निं तिरोभूतं ते
ह विदां चक्रुरिह वै प्राविक्षद्रात्रिं वै प्राविक्षदिति तमेतत्प्रत्यायत्याꣳ रात्रौ सा-
यमुपातिष्ठन्त देहि नः पशून्पुनर्नः पशून्देहीति तेभ्योऽग्निः पशून्पुनरददात् ॥२॥
तस्मै कमग्नीऽउपतिष्ठेत । अग्नी वै दातारौ ताविवैतद्याचते सायमुपतिष्ठेत सायꣳ
हि देवा उपातिष्ठन्त दत्तो हैवास्माऽएतौ पशून्य एवं विद्वानुपतिष्ठते ॥३॥ अ-
थ यस्मान्नोपतिष्ठेत । उभये ह वाऽइदमग्रे सहासुर्देवाश्च मनुष्याश्च तद्यद्ध स्म म-
नुष्याणां न भवति तद्ध स्म देवान्याचन्तऽइदं वै नो नास्तीदं नोऽस्त्विति ते त-
स्याऽएव याच्ञायै द्वेषेण देवास्तिरोभूता नेद्धिनसानि नेद्द्वेष्योऽसानीति तस्मा-
न्नोपतिष्ठेत ॥४॥ अथ यस्मादुपैव तिष्ठेत । यज्ञो वै देवानामाशीर्यजमानस्य त-

इस पर जो समिधा रखता है वह मानो ईंट है। जिस मन्त्र से आहुति देता है वह यजुः है जिससे वह ईंट रक्खी जाती है। और जब ईंट रख ली जाती है तब आहुति दी जाती है। इसलिए उन रक्खी हुई ईंटों पर वे ही आहुतियाँ दी जाती हैं, जो अग्निहोत्र की आहुतियाँ हैं। (दूसरे बड़े यज्ञ से उपमा दी है) ।।१७।।

प्रजापति अग्नि हैं और प्रजापति संवत्सर है। इसलिए वर्ष-प्रतिवर्ष अग्नि-चय पर अग्निहोत्र होता है और वर्ष-प्रतिवर्ष अग्नि-चय किया जाता है, उस मनुष्य का जो यह समझकर अग्निहोत्र करता है ।।१८।।

अस्सी ऋचाओं की सात सौ बीस आहुतियाँ देवें। सायं और प्रातः के अग्निहोत्र की दो आहुतियाँ होती हैं। इस प्रकार वर्ष-भर में—।।१९।।

सात सौ बीस आहुतियाँ हुईं। इस प्रकार वर्ष-प्रतिवर्ष यह अग्निहोत्र बड़ी स्तुति द्वारा किया जाता है। और जो अग्निहोत्र (उसके) रहस्य को समझकर करता है उसको बड़ी स्तुति की प्राप्ति हो जाती है ।।२०।।

अध्याय ३—ब्राह्मण ४

देवों ने अपने सब पशुओं को, चाहे गाँव के, चाहे जंगली, अग्नि को सौंप दिया। या तो वे विजय के लिए जा रहे थे या स्वतन्त्र विचरना चाहते थे, या यह समझकर कि अग्नि रक्षक है, इनकी रक्षा करेगा ।।१।।

अग्नि को उन पर लोभ आ गया। वह उनको लेकर रात्रि में प्रविष्ट हो गया। देवों ने कहा, चलो लौट चलें और जहाँ अग्नि छिपा था वहाँ पहुँच गये। उन्होंने जान लिया कि अग्नि यहाँ छिपा है, रात में छिपा है। जब सायंकाल को रात्रि वापस आई तो उन्होंने कहा, 'हमारे पशु लौटा, हमारे पशु लौटा।' अग्नि ने उनके पशु लौटा दिये ।।२।।

इसलिए दोनों अग्नियों का नम्रता से सेवन करे। दोनों अग्नियाँ दाता हैं। उन्हीं से माँगता है। शाम को सेवन करे। शाम ही को देवताओं ने सेवन किया था। जो ज्ञानपूर्वक दोनों अग्नियों का सेवन करता है उसको वे पशु देते हैं ।।३।।

अग्नियों का सेवन करने के विरुद्ध यह युक्ति दी जाती है। पहले देव और मनुष्य दोनों साथ रहते थे। जो चीज मनुष्यों के पास नहीं होती थी उसको वे देवों से माँगते थे, 'हमारे पास यह वस्तु नहीं है। इसे हमको दीजिए।' इस माँगने के द्वेष के कारण देव छिप गये। इसलिए देवों के पास नहीं जाना चाहिए कि कहीं वे हिंसा या द्वेष न करें ।।४।।

सेवन करने के पक्ष में यह युक्ति दी जाती है—यज्ञ देवों का है और आशीर्वाद यजमान

द्वाऽएष एव यज्ञो यदाहुतिराशीरेव यजमानस्य तद्यदेवास्यात्र तदेवैतदुपतिष्ठ-
मानः कुरुते तस्मादुपैव तिष्ठेत ॥५॥ अथ यस्मान्नोपतिष्ठेत । यो वै ब्राह्मणं वा
शꣳसमानोऽनुचरति क्षत्रियं वायं मे दास्यत्ययं मे गृहान्करिष्यतीति यो वै तं
वाग्घेन वा कर्मणा वाभिरिराधयिषति तस्मै वै स देयं मन्यतेऽथ य आह किं नु
त्वं ममासि यो मे न ददासीतीश्वर एनं द्वेष्टोरीश्वरो निर्वेदं गन्तोस्तस्मान्नोपतिष्ठे-
तैतद्ध्येवैष एत याचते यदिन्द्रे यज्जुहोति तस्मान्नोपतिष्ठेत ॥६॥ अथ यस्मादु-
पैव तिष्ठेत । उत वै याचन्दातारं लभतऽएवोतो भर्ता भार्यं नानुबुध्यते स य-
देवाह भार्यो वै तेऽस्मि बिभृद्धि मेत्यथैनं वेदाथैनं भार्यं मन्यते तस्मादुपैव ति-
ष्ठेतेदमित्तु समस्तं यस्मादुपतिष्ठेत ॥७॥ प्रजापतिर्वाऽएष भूत्वा । यावत ईष्टे या-
वदेनमनु तस्य रेतः सिञ्चति यदग्निहोत्रं जुहोतीदमेवैतत्सर्वमुपतिष्ठमानोऽनुवि-
करोतीदꣳ सर्वमनुप्रजनयति ॥८॥ स वाऽउपवत्या प्रतिपद्यते । इयं वाऽउप ह्य-
येनेयमुप यद्धीदं किं च जायतेऽस्यां तदुपजायतेऽथ यन्न्यूहत्यस्यामिव तदुपोप्यते
तदह्ना रात्र्या भूयो-भूय एवाक्षय्यं भवति तदक्षय्येणैवैतद्भूम्ना प्रतिपद्यते ॥९॥ स
आह । उपप्रयन्तोऽअध्वरमित्यध्वरो वै यज्ञ उपप्रयन्तो यज्ञमित्येवैतदाह मन्त्रं वो-
चेमाग्नयऽइति मन्त्रमु ह्यस्माऽएतद्वक्ष्यन्भवत्यारेऽअस्मे च शृण्वतऽइति यद्यप्य-
स्मदारकादस्यथ न एतच्छृण्वेवैवमेवैतन्मन्यस्वेत्येवैतदाह ॥१०॥ अग्निर्मूर्धा दिवः ।
ककुत्पतिः पृथिव्या अयम् । अपाꣳ रेताꣳसि जिन्वतीत्यन्वेव धावति तद्यथा या-
चन्कल्याणं वदेदामुष्यायणो वै त्वमस्यलं वै त्वमेतस्माऽअसीत्येवमेषा ॥११॥ अ-
थेन्द्राग्नी । उभा वामिन्द्राग्नीऽआहुवध्याऽउभा राधसः सह मादयध्यै । उभा दाता-
राविषाꣳ रयीणामुभा वाजस्य सातये हुवे वामित्येष वाऽइन्द्रो य एष तपति स
यदस्तमेति तदाहवनीयं प्रविशति तदुभावेवैतत्सह सन्ताऽउपतिष्ठतऽउभौ मे स-
ह सन्तौ दत्तामिति तस्मादैन्द्राग्नी ॥१२॥ अयं ते योनिर्ऋत्वियः । यतो जातोऽअ-

का। यह आहुति (अग्निहोत्र) भी यज्ञ ही है और जो कुछ वह (यजमान) वहाँ रहकर करता है वह यजमान के लिए आशीर्वाद है। इसलिए अवश्य सेवन करना चाहिए ॥५॥

सेवन के विरुद्ध यह युक्ति है—जो कोई ब्राह्मण या क्षत्रिय के पास जाकर उसकी प्रशंसा करता है और कहता है 'यह मुझे दान देगा या मेरा घर बनवा देगा', वह उसको वाणी और कर्म से खुश करता है; परन्तु जो कहता है 'तू मेरा कौन है ? मुझे क्या देगा ?' तो वह मालिक उससे अप्रसन्न रहेगा, उससे द्वेष करेगा। इसलिए अग्नियों के पास नहीं जाना चाहिए क्योंकि प्रज्वलित करने और आहुति देने से वह माँग चुकता है, फिर (माँगने के लिए) अग्नियों के पास नहीं जाना चाहिए ॥६॥

अब सेवन के पक्षों में यह युक्ति है। जो माँगता है उसको दाता भी मिल जाता है। कोई मालिक अपने नौकर की आवश्यकताओं को नहीं जानता जब तक नौकर नहीं कहता कि 'मैं आपके ही ऊपर हूँ। आप मेरा पालन कीजिए।' जब जान जाता है कि यह मेरे ही आश्रित है तो उसका पालन करता है। इसलिए अग्नियों का सेवन ही करना चाहिए। अग्नियों के सेवन के पक्ष में ये युक्तियाँ हैं ॥७॥

अग्नि प्रजापति है। इसलिए जब अग्निहोत्र किया जाता है तो वह (अग्नि) जिस पर शासन करता है या जो उसके अनुकूल होता है उसके वीर्य का वह सिंचन करता है। (अग्नियों के) सेवन करनेवाला उस अग्नि का इन सब बातों में अनुकरण करता है और सन्तानोत्पत्ति करता है ॥८॥

वह 'उप'* वाले मन्त्र से प्रार्थना करता है। 'उप' का अर्थ है पृथिवी, और यह दो प्रकार से—जो कुछ इस संसार में उत्पन्न होता है वह इस पृथिवी पर उत्पन्न होता है ('उप' + जायते); और जो नष्ट होता है वह यहीं दबाया जाता है ('उप' + उप्यते)। इसलिए यहाँ रात-दिन आधिक्य होता रहता है (अर्थात् पृथिवी पर जो उत्पन्न हुआ वह भी आधिक्य है और जो उसमें गाड़ दिया गया वह भी आधिक्य हुआ)। इसलिए वह ('उप' वाले मन्त्र से आरम्भ करके) आधिक्य से आरम्भ करता है ॥९॥

अब वह कहता है, "उप प्रयन्तोऽध्वरम्" अर्थात् "मैं अध्वर में (पर) जाऊँ।" 'अध्वर' नाम है यज्ञ का। इसलिए "मैं यज्ञ में (पर) जाऊँ" ऐसा अर्थ हुआ। अब कहता है, "मन्त्रं वोचेमाग्नये।"—"अग्नि के लिए मन्त्र बोले।" क्योंकि वह मन्त्र बोलने ही को है। अब कहता है, "आरेऽअस्मे च शृण्वते।"—"उसके लिए जो हमको दूर से सुनता है" अर्थात् 'यद्यपि तू हमसे दूर है तो भी तू इस प्रार्थना को सुन, और हमारा भला चीत' ॥१०॥

अब कहता है, "अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्याऽअयम्। अपाँ रेताँसि जिन्वति" (यजुर्वेद ३।१२)—"अग्नि द्यौ लोक का सिर, महान्, पृथिवी का पति है। यह जलों में वीर्य को सींचता है।" इस प्रकार इस मन्त्र के द्वारा वह प्रार्थना करता हुआ उसके पीछे दौड़ता है जैसे माँगनेवाले दौड़ते हैं और कहता है, 'तू ऐसों की सन्तान है, तू ऐसा कर सकता है, तू ऐसा है' ॥११॥

अब इन्द्र और अग्निवाला मन्त्र—"उभा वामिन्द्राग्नीऽआहुवध्याऽउभा राधसः सह मादयध्यै। उभा दाताराविषाँ रयीणामुभा वाजस्य सातये हुवे वाम्" (यजु० ३।१३)—"इन्द्र और अग्नि, मैं तुम दोनों को बुलाता हूँ। मैं तुम दोनों को प्रीति की हवि से प्रसन्न करूँगा। तुम दोनों बल और धन के दाता हो। तुम दोनों को अन्न की प्राप्ति के लिए बुलाता हूँ।" इन्द्र सूर्य का नाम है। जब वह अस्त हो जाता है तो आहवनीय अग्नि में प्रविष्ट हो जाता है। इसलिए प्रार्थी उन दोनों मिले हुओं से प्रार्थना करता है कि ये दोनों मिलकर मुझको देंगे। इसीलिए इन्द्र और अग्निवाला मन्त्र पढ़ता है ॥१२॥

अब पढ़ता है, "अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातोऽअरोचथाः। तं जानन्नग्नऽआरोहाथा

---

* उप प्रयन्तोऽध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्नये। आरेऽअस्मे च शृण्वते। (यजु० ३।११)

रोचयाः । तं जानन्नग्न ऽआरोहाथा नो वर्धया रयिमिति पुष्टं वै रयिर्भूयो-भूय ए-
व न इदं पुष्टं कुर्वित्येवैतदाह ॥१३॥ अयमिह प्रथमः । धायि धातृभिर्होता य-
जिष्ठोऽअध्वरेष्वीड्यः । यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशे-विशऽइ-
त्यन्वेव धावति तद्यथा याचन्कल्याणं वदेदामुष्यायणो वै त्वमस्यलं वै त्वमेतस्मा
ऽअसीत्येवमेषा यथोऽएवैष तथोऽएवैनमेतदाह यदाह विभ्वं विशे-विशऽइति वि-
भूर्ह्येष विशे-विशे ॥१४ अस्य प्रत्नाम् । अनु द्युतꣳ शुक्रं दुदुह्रेऽअह्रयः । पयः
सहस्रसामृषिमिति परमा वाऽएषा सनीनां यत्सहस्रसनिस्तदेतस्यैवावरुद्ध्यै तस्मा-
दाह पयः सहस्रसामृषिमिति ॥१५॥ तदेतत्समाहार्यꣳ षडृचं । तस्योपवती प्रथ-
मा प्रत्नवत्युत्तमान्वोचाम तद्यस्मादुपवत्यथाद एव प्रत्नं यावन्तो ह्येव सनाग्रे दे-
वास्तावन्त एव देवास्तस्माददः प्रत्नं तदिमेऽएवान्तरेण सर्वे कामास्तेऽअस्माऽइमे
संजानाने सर्वान्कामान्त्संनमतः ॥१६॥ स वै त्रिः प्रथमां जपति । त्रिरुत्तमां त्रि-
वृत्प्रायणा हि यज्ञास्त्रिवृदुदयनास्तस्मात्त्रिः प्रथमां जपति त्रिरुत्तमाम् ॥१७॥ यद्व
वाऽअत्राग्निहोत्रं जुह्वत् । वाचेन वा कर्मणा वा मिथ्या करोत्यात्मनस्तदवद्य-
त्यायुषो वा वर्चसो वा प्रजायै वा ॥१८॥ तद्व खलु तनूपा अग्नेऽसि । तन्वं मे
पाह्यायुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि । अग्ने यन्मे तन्वा
ऊनं तन्मऽआपृणेति ॥१९॥ यद्व वाऽअत्राग्निहोत्रं जुह्वत् । वाचेन वा कर्मणा
वा मिथ्या करोत्यात्मनस्तदवद्यत्यायुषो वा वर्चसो वा प्रजायै वा तन्मे पुनरा-
प्यायेत्येवैतदाह यथो हास्यैतत्पुनराप्यायते ॥२०॥ इन्धानास्त्वा । शतꣳ हिमा
द्युमन्तꣳ समिधीमहीति शतं वर्षाणि जीव्यास्मेत्येवैतदाह तावद्धा महान्तꣳ स-
मिधीमहीति यदाह द्युमन्तꣳ समिधीमहीति वयस्वन्तो वयस्कृतꣳ सहस्वन्तः स-
हस्कृतमिति वयस्वन्तो वयं भूयास्म वयस्कृत्त्वं भूया इत्येवैतदाह सहस्वन्तो वयं
भूयास्म सहस्कृत्त्वं भूया इत्येवैतदाहाग्ने सपत्नदम्भनमदब्धासोऽअदाभ्यमिति वया

नो वर्धया रयिम्" (यजु० ३।१४) -- "यह तेरी ऋतु के अनुकूल योनि है जहाँ से उत्पन्न होकर तू चमकता है। हे अग्नि ! इस बात को जानकर उठ और हमारा धन बढ़ा।" 'रयि' का अर्थ है पुष्टि। इस मन्त्र का अर्थ यह है कि 'तू हमारी बढ़ोतरी कर' ।।१३।।

अब कहता है, "अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठोऽअध्वरेष्वीड्यः। यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे" (यजु० ३।१५) -- "विधाताओं द्वारा प्रथम यह यहाँ बनाया गया, सर्वश्रेष्ठ होता और यज्ञ में पूजा के योग्य, जिसको अप्नवान और भृगु ने प्रज्वलित किया, वनों में विचित्रता से चमकते हुए और घर-घर में फैलते हुए' ।।१४।।

अब कहता है, "अस्य प्रत्नामनु द्युतँ शुक्रं दुदुह्रे अह्रयः। पयः सहस्रसामृषिम्" (यजुर्वेद ३।१६) -- "(अह्रयः) न शरमानेवाले लोगों ने (अस्य) इस अग्नि के (प्रत्नाम्) सन्तान (द्युतँ) प्रकाशयुक्त (शुक्रं) शुद्ध (पयः) दूध को (सहस्रसाम्+ऋषिम्) हजारों देनेवाले ऋषि से (दुदुह्रे) दुहा।" 'सहस्रसा' का अर्थ है परम दान देनेवाला। इसी की प्राप्ति के लिए वह कहता है 'सहस्रसाम् ऋषिम्' ।।१५।।

ये छः ऋचाओं के मन्त्र हैं। पहले में 'उप' शब्द है और पिछले में 'प्रत्न' (अर्थात् यजुर्वेद के तीसरे अध्याय, ११ से १६ मन्त्र तक)। हमने इनका उच्चारण इसलिए किया 'उप' वाली यह अर्थात् पृथिवी है और प्रत्न (सन्तान) वह अर्थात् द्यौ है। क्योंकि जितने देव पहले थे उतने अब भी हैं, इसलिए 'प्रत्न' का अर्थ द्यौलोक है। अब इन्हीं दोनों के बीच में सब कामनाएँ हैं और ये दोनों यजमान के हित के लिए और उसकी कामनाओं की पूर्ति के लिए संयुक्त हैं ।।१६।।

पहला मन्त्र तीन बार जपता है और अन्तिम तीन बार। क्योंकि यज्ञ तीन आरम्भ और तीन अन्तवाले होते हैं, इसलिए तीन बार प्रथम मन्त्र जपता है और तीन बार अन्तिम ।।१७।।

अग्निहोत्र करने में जो कुछ भूल वाणी या कर्म से करता है उससे वह आत्मा आयु, वर्चस् और प्रजा को हानि पहुँचाता है ।।१८।।

इसलिए कहता है, "तनूपाऽअग्नेऽसि तन्वं मे पाह्यायुर्दाऽअग्नेऽस्यायुर्मे देहि वर्चोदाऽअग्नेऽसि वर्चो मे देहि। अग्ने यन्मे तन्वाऽऊनं तन्मऽआपृण" (यजु० ३।१७) -- "हे अग्नि ! तू शरीरों का रक्षक है, मेरे शरीर की रक्षा कर। हे अग्नि ! तू आयु को देनेवाला है, मुझे आयु दे। हे अग्नि ! तू वर्चस् को देनेवाला है, मुझे वर्चस् दे। हे अग्नि ! जो मेरे शरीर में कमी है उसको मेरे लिए पूरा कर" ।।१९।।

और अग्निहोत्र करने में वह वाणी या कर्म से जो भूल करता है उससे वह आत्मा आयु, वर्चस् और प्रजा को हानि पहुँचाता है। जब वह इस मन्त्र को पढ़ता है 'मेरी कमी को पूरा कर' तो वह कमी पूरी हो जाती है ।।२०।।

अब कहता है, "इन्धानास्त्वा शतँ हिमा द्युमन्तँ समिधीमहि" (यजु० ३।१८) -- "प्रज्वलित हम सौ वर्षों तक तुझ जलते हुए के ऊपर समिधा रखते हैं।" इससे तात्पर्य है कि हम सौ वर्ष जीते रहें, और 'जलते हुए तुझ पर समिधा रक्खें' का अर्थ है कि 'हे महान् ! हम तुझको प्रज्वलित करते हैं।' अब कहता है-"वयस्वन्तो वयस्कृतँ सहस्वन्तः सहस्कृतम्" (यजु० ३।१८) -"अन्नवाले हम तुझ अन्न देनेवाले को, बलवान् हम बल देनेवाले तुझको।" इसका अर्थ है कि 'हम अन्नवाले हों, तू अन्न देनेवाला हो। हम बलवाले हों, तू बल देनेवाला हो।' अब कहा-"अग्ने सपत्नदम्भनमदब्धासोऽअदाभ्यम्।" (यजु० ३।१८) -- "हे अग्नि ! क्षतिरहित हम तुझ क्षतिरहित

वयꣳ सपत्नान्पापीयसः क्रियास्मेत्येवैतदाह ॥२१॥ चित्रावसो स्वस्ति ते पारम-शीयेति । त्रिरेतज्जपति रात्रिर्वै चित्रावसुः सा हीयꣳ संगृह्येव चित्राणि वसति तस्मान्नारकाच्चित्रं ददृशे ॥२२॥ एतेन ह स्म वा ऽऋषयः । रात्रेः स्वस्ति पारꣳ स-मश्नुवत ऽएतेनो ह स्मैनान्रात्रेर्नाष्ट्रा रक्षाꣳसि न विन्दन्त्येतेनो ऽएवैष एतद्रात्रेः स्वस्ति पारꣳ समश्नुत ऽएतेनो ऽएनꣳ रात्रेर्नाष्ट्रा रक्षाꣳसि न विन्दन्त्येतावन्नु ति-ष्ठन्जपति ॥२३॥ अथासीनः । सं त्वमग्ने सूर्यस्य वर्चसा गथा इति तद्यदस्तं यन्ना-दित्य आहवनीयं प्रविशति तेनैतदाह समृषीणाꣳ स्तुतेनेति तद्यदुपतिष्ठते तेनै-तदाह सं प्रियेण धाम्नेत्याहुतयो वा ऽअस्य प्रियं धामाहुतिभिरेव तदाह समह-मायुषा सं वर्चसा सं प्रजया सꣳ रायस्पोषेण ग्मिषीयेति यथा त्वमेतैः समगथा एवमहमायुषा वर्चसा प्रजया रायस्पोषेणेति यद्भूम्नेति तदेवमहमेतैः संगच्छा ऽइत्ये-वैतदाह ॥२४॥ अथ गामभ्येति । अन्ध स्थान्धो वो भक्षीय मह स्थ महो वो भक्षीयेति यानि वो वीर्याणि यानि वो महाꣳसि तानि वो भक्षीयेत्येवैतदा-होर्ज स्थोर्जं वो भक्षीयेति रस स्थ रसं वो भक्षीयेत्येवैतदाह रायस्पोष स्थ रा-यस्पोषं वो भक्षीयेति भूमा स्थ भूमानं वो भक्षीयेत्येवैतदाह ॥२५॥ ॥ शतम् ११०० ॥ ॥ रेवती रमध्वमिति रेवन्तो हि पशवस्तस्मादाह रेवती रमध्वमित्य-स्मिन्योनावस्मिन्गोष्ठे ऽस्मिंल्लोके ऽस्मिन्क्षये । इहैव स्त मापगातेत्यात्मन एवैत-दाह मदेव मापगातेति ॥२६॥ अथ गामभिमृशति । सꣳहितासि विश्वरूपीति विश्वरूपा इव हि पशवस्तस्मादाह विश्वरूपीत्यूर्जा माविश गौपत्येनेत्यूर्जेति य-दाह रसेनेति तदाह गौपत्येनेति यदाह भूम्नेति तदाह ॥२७॥ अथ गार्हपत्यम-भ्येति । स गार्हपत्यमुपतिष्ठत ऽउप त्वाग्ने दिवे-दिवे दोषावस्तर्धिया वयम् । नमो भरन्त एमसीति नम एवास्मा ऽएतत्करोति यथैनं न हिꣳस्यात् ॥२८॥ राजन्तम-ध्वराणां । गोपामृतस्य दीदिविम् । वर्धमानꣳ स्वे दम ऽइति स्वं वै त ऽइदं यन्मम

और शत्रुओं का दमन करनेवाले को।" इसका तात्पर्य यह है कि 'तेरी सहायता से शत्रुओं को सर्वथा दुःखी करें' ॥२१॥

तीन बार इस मन्त्रांश को जपे— "चित्रावसो स्वस्ति ते पारमशीय" (यजु० ३।१८)— "हे चित्रवाली, हम भलीभाँति तेरे पार को पा जायँ।" 'चित्रावसु' रात है, क्योंकि यह चित्रों को इकट्ठा करके रहती है। इसीलिए (रात में) दूर से चित्र स्पष्ट नहीं दीखता ॥२२॥

इसी मन्त्र से ऋषि लोग रात के पार को भलीभाँति पा गये और इसी के कारण दुरात्मा राक्षसों ने उनको न पाया। इसी प्रकार इसी मन्त्र के द्वारा वह रात के पार को भलीभाँति पा जाता है और इसी के कारण दुरात्मा राक्षस उसको नहीं पा सकते। इस मन्त्र को वह खड़े होकर जपता है ॥२३॥

अब बैठे-बैठे यह जपता है —"सं त्वमग्ने सूर्यस्य वर्चसागथाः" (यजु० ३।१९)— "हे अग्नि, तू सूर्य के वर्चस् (प्रकाश) को प्राप्त हो गया।" यह वह कहता है क्योंकि डूबता हुआ सूर्य आहवनीय में घुस जाता है, इसीलिये कहा। अब कहा—"समृषीणाँ स्तुतेन।" (यजु० ३।१९) "ऋषियों की स्तुति से।" चूँकि वह खड़े होकर स्वयं प्रार्थना करता है इसलिए ऐसा कहता है— "सं प्रियेण धाम्ना" (यजु० ३।१९)— "प्रिय घर के द्वारा।" आहुतियाँ इसका प्रियधाम हैं। इसलिए 'धाम के द्वारा' का अर्थ है आहुतियों के द्वारा। अब कहा—"समहमायुषा सं वर्चसा सं प्रजया सँ रायस्पोषेण ग्मिषीय" (यजु० ३।१९)— "मैं आयु, वर्चस्, सन्तान और धन की प्राप्ति करूँ।" इसका तात्पर्य यह है कि 'जैसे तूने ये चीजें प्राप्त कीं, वैसे मैं भी आयु, वर्चस्, सन्तान और धन अर्थात् समृद्धि को प्राप्त हो जाऊँ' ॥२४॥

अब इस मन्त्र को पढ़कर गाय के पास जाता है—"अन्ध स्थान्धो वो भक्षीय मह स्थ महो वो भक्षीय" (यजु० ३।२०)— "तुम अन्ध (अन्न) हो, मैं तुम्हारा अन्न खाऊँ; तुम धन हो, मैं तुम्हारा धन खाऊँ।" इसका तात्पर्य है कि तुम्हारे जो पराक्रम हों और जो धन हों उनका मैं उपभोग करूँ। अब कहा —"ऊर्ज स्थोर्जं वो भक्षीय" (यजु० ३।२०)— "तुम ऊर्ज हो, मैं तुम्हारे ऊर्ज को भोगूँ।" अर्थात् 'तुम रस हो। मैं तुम्हारे रस को भोगूँ।' अब कहा—"रायस्पोष स्थ रायस्पोषं वो भक्षीय" (यजु० ३।२०) — "तुम धन हो, तुम्हारे धन को मैं भोगूँ।" अर्थात् तुम समृद्धि हो, मैं तुम्हारी समृद्धि का भोग करूँ ॥२५॥

अब कहा "रेवती रमध्वम्" (यजु० ३।२१) — "हे धनवालो! रमण करो।" रेवन्त अर्थात् धनवाले पशु हैं। इसलिए कहा, 'रेवती रमध्वम्।' अब कहा—"अस्मिन् योनावस्मिन् गोष्ठेऽस्मिँल्लोकेऽस्मिन्क्षये। इहैव स्त मापगात।"—"इस स्थान में, इस बाड़े में, इस लोक में, इस घर में, यहाँ ही रहो, यहाँ से न जाओ।" यहाँ अपने लिए कहा है अर्थात् 'मुझको छोड़कर न जाओ' ॥२६॥

अब इस मन्त्र से गाय को छूता है—"सँहितासि विश्वरूपी" (यजु० ३।२२)—"तू इकट्ठा करनेवाली और नाना रूपवाली है।" पशु भिन्न-भिन्न रूपवाले होते हैं इसलिए (गाय को) 'विश्वरूपी' कहा। अब कहा—"ऊर्जा माविश गौपत्येन" (यजु० ३।२२)—"(गौपत्येन ऊर्जा) गौओं से युक्त ऊर्ज के द्वारा (मा) मुझमें (विश) प्रविष्ट हो।" यहाँ 'ऊर्ज' कहने से 'रस' का तात्पर्य है और 'गौपत्य' कहने से तात्पर्य है 'संवृद्धि' का ॥२७॥

अब गार्हपत्य में जाता है और उसकी अर्चना करता है इस मन्त्र से—"उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्। नमोभरन्तऽएमसि" (यजु० ३।२२)— "हे अग्नि! दिन-प्रतिदिन नमस्कार करते हुए हम रात को प्रकाशित करनेवाले तुझको बुद्धि से प्राप्त होते हैं। वह इसलिए इसकी अर्चना करता है कि कहीं वह उसको हानि न पहुँचा दे ॥२८॥

अब कहता है, "राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिवम्। वर्धमानँ स्वे दमे" (यजु०

तन्नो भूयो-भूय एव कुर्वित्येवैतदाह ॥२९॥ स नः पितेव सूनवे । अग्ने सूपायनो भव । सचस्वा नः स्वस्तयऽइति यथा पिता पुत्राय सूपचरो नैवैनं केन चन हिनस्त्येवं नः सूपचर एधि मैव त्वा केन चन हिꣳसिष्मेत्येवैतदाह ॥३०॥ अथ द्विपदाः । अग्ने त्वं नोऽअन्तम उत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः । वसुरग्निर्वसुश्रवा अच्छा नक्षि द्युमत्तमꣳ रयिं दाः ॥ तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः । स नो बोधि श्रुधी हवमुरुष्या णोऽअघायतः समस्मादिति ॥३१॥ यद्वाऽआहवनीयमुपतिष्ठते । पशूꣳस्तद्याचते तस्मात्तमुच्चावचैश्छन्दोभिरुपतिष्ठतऽउच्चावचा इव हि पशवोऽथ यद्गार्हपत्यं पुरुषांस्तद्याचते तद्गायत्रं प्रथमं त्रिचं गायत्रं वाऽअग्नेश्छन्दः स्वेनैवैनमेतच्छन्दसोपपरैति ॥३२॥ अथ द्विपदाः । पुरुषछन्दसं वै द्विपदा द्विपाद्वाऽअयं पुरुषः पुरुषानेवैतद्याचते पुरुषान्हि याचते तस्माद्द्विपदाः पशुमान्ह वै पुरुषवान्भवति य एवं विद्वानुपतिष्ठते ॥३३॥ अथ गामभ्यैति । इडऽएह्यदितऽएहीतीडा हि गौरदितिर्हि गौस्तामभिमृशति काम्या एतेति मनुष्याणाꣳ ह्येतासु कामाः प्रविष्टास्तस्मादाह काम्या एतेति मयि वः कामधरणं भूयादित्यहं वः प्रिया भूयासमित्येवैतदाह ॥३४॥ अथान्तरेणाहवनीयं च गार्हपत्यं च । प्राङ् तिष्ठन्नग्निमीक्षमाणो जपति सोमानꣳ स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते । कक्षीवन्तं य औशिजः ॥ यो रेवान्योऽअमीवहा वसुवित्पुष्टिवर्धनः । स नः सिषक्तु यस्तुरः ॥ मा नः शꣳसोऽअररुषो धूर्तिः प्रणङ्मर्त्यस्य । रक्षा णो ब्रह्मणास्पतऽइति ॥३५॥ यद्वाऽआहवनीयमुपतिष्ठते । दिवं तदुपतिष्ठतेऽथ यद्गार्हपत्यं पृथिवीं तदथैतदन्तरिक्षमेषा हि दिग्बृहस्पतेरेताꣳ ह्येतद्दिशमुपतिष्ठते तस्माद्बार्हस्पत्यं जपति ॥३६॥ महि त्रीणामवोऽस्तु । द्युक्षं मित्रस्यार्यम्णः । दुराधर्षं वरुणस्य ॥ न हि तेषाममा चन नाध्वसु वारणेषु । ईशे रिपुरघशꣳसः ॥ ते हि पुत्रासोऽअदितेः प्र जीवसे मर्त्याय । ज्योतिर्यछन्त्यजस्रमिति तत्रास्ति नाध्वसु वा-

३।२३)—"यज्ञों के प्रकाशित करनेवाले, ऋत के चमकानेवाले रक्षक, अपने घर में बढ़नेवाले तुझको।" इसका तात्पर्य है कि यह मेरा घर तेरा ही घर है। इसको हमारे लिए समृद्धि-शील कर ॥२९॥

अब कहा, "स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये" (यजु० ३।२४) "हे अग्नि, तू हमारे लिए उसी प्रकार सुलभ हो जैसे पिता पुत्र को। और हमारी स्वस्ति कर।" इसका तात्पर्य है कि जैसे पिता पुत्र के लिए सुलभ होता है और किसी प्रकार उसको हानि नहीं पहुँचाता, इसी प्रकार तू भी हमारे लिए सुलभ हो, किसी प्रकार हानि न पहुँचा ॥३०॥

अब वह दो पदवाले मन्त्र को पढ़ता है, 'अग्ने त्वं नोऽअन्तमऽउत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः। वसुरग्निर्वसुश्रवाऽअच्छा नक्षि द्युमत्तमँ रयिं दाः" (यजु० ३।२५)—"तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः। स नो बोधि श्रुधी हवमुरुष्या णोऽअघायतः समस्मात्" (यजु० ३।२६)—"हे अग्नि! तू मेरे निकट रह। रक्षक, कल्याणकारी और घर का हितकर हो। हे अग्नि, तुम वसु (धन) हो, वसुश्रवा अर्थात् धन देने के लिए प्रसिद्ध हो। हमको अच्छा-अच्छा चमकदार धन दो" (यजु० ३।२५)—"अपने मित्रों को सुख के लिए हम तुझ प्रकाशस्वरूप और चमकनेवाले के पास आते हैं। हमारे साथ रह, हमारी बात सुन और हमको पापी शत्रु से बचा" (यजु० ३।२६) ॥३१॥

जब आहवनीय की अर्चना करता है तो पशुओं की याचना करता है, इसलिए ऊँचे-नीचे मन्त्रों को जपता है, क्योंकि पशु भिन्न आकार के होते हैं। जब गार्हपत्य की अर्चना करता है तो पुरुषों की याचना करता है। इसलिए पहली तीन ऋचाएँ गायत्री छन्द में हैं। गायत्री अग्नि का छन्द है। इसलिए उसी के छन्द से स्तुति करता है ॥३२॥

अब वह (ऊपर के) दो पदवाले मन्त्र जपता है। दो पदवाले मन्त्र पुरुष छन्द हैं, क्योंकि पुरुष भी दो पैरवाला है, इसलिए पुरुषों की याचना करता है। पुरुषों की याचना करता है इसलिए दो पदोंवाले मन्त्र को जपता है। जो इस रहस्य को समझकर (दोनों अग्नियों की) सेवा करता है उसको पशु और पुरुष दोनों प्राप्त होते हैं ॥३३॥

अब वह इस मन्त्र को जपकर गाय के पास जाता है, "इड ऽएह्यदित ऽएहि" (यजुर्वेद ३।२७)—"हे इडा, आ। हे अदिति, आ।" इडा गौ है। अदिति गौ है। "काम्याऽ एत" अर्थात् "कामना के योग्य तुम आओ" यह कहकर छूता है। इनमें मनुष्यों की कामनाएँ हैं, इसलिए इनको 'काम्या एत' कहा (यजु० ३।२७)। अब कहा—"मयि वः कामधरणं भूयात्" (यजु० ३।२७)—"आपकी मेरे में इच्छा-पूर्ति हो" अर्थात् मैं आपका प्रिय होऊँ, यह तात्पर्य है ॥३४॥

अब आहवनीय और गार्हपत्य के बीच में खड़ा होकर पूर्व को देखकर (इन तीन मन्त्र) को जपता है—'सोमानँ स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते। कक्षीवन्तं यऽ औशिजः॥ यो रेवान् योऽ अमीवहा वसुवित् पुष्टिवर्धनः। स नः सिषक्तु यस्तुरः॥ मा नः शँसोऽअररुषो धूर्तिः प्रणङ् मर्त्यस्य। रक्षा णो ब्रह्मणस्पते" (यजु० ३।२८, २९, ३०)—"हे वाणी के पति, सोम को अर्पण करनेवाले कक्षीवान औशिज को सुरीला कर", "धनवाला, दुखःनाशक, समृद्धिशील और पुष्टि देनेवाला तथा तीव्र, हमारे पास आवे", "हे वाणी के पति! हमारी रक्षा कर। बुरों का शाप हम तक न आवे और न किसी मनुष्य की धूर्तता" ॥३५॥

जब वह आहवनीय में जाता है तो मानो द्यौलोक में जाता है और जब गार्हपत्य में जाता है तो मानो पृथिवीलोक में, इससे वह अन्तरिक्ष में जाता है। यह बृहस्पति की दिशा है। इस दिशा को प्राप्त होना चाहता है, इसलिए बृहस्पतिवाला मन्त्र जपता है ॥३६॥

अब जपता है, "महि त्रीणामवोऽस्तु द्युक्षं मित्रस्यार्यम्णः। दुराधर्षं वरुणस्य" (यजु० ३।३१)। "नहि तेषाममा चन नाध्वसु वारणेषु। ईशे रिपुरघशँसः' (यजु० ३।३२)। "ते हि पुत्रासोऽ अदितेः प्र जीवसे मर्त्याय। ज्योतिर्यच्छन्त्यजस्रम्" (यजु० ३।३३)—"बड़ी द्यौलोक सम्बन्धी, न पराजित होनेवाली मित्र, अर्यमा और वरुण तीनों की रक्षा (हमारे लिए) हो," "(इन देवों से रक्षित) लोगों पर भयानक मार्गों अथवा घरों में पापी शत्रु स्वत्व नहीं प्राप्त कर सकते", "(ये देव) निरन्तर मनुष्य के लिए अदिति के पुत्रों के जीवन के लिए ज्योति देते हैं।"

रणेष्वित्येते ह वाऽअधानो वारणा यऽइमेऽन्तरेण द्यावापृथिवीऽएतान्ह्येतदुपतिष्ठते तस्मादाह नाधसु वारणेष्विति ॥३७॥ अथैन्द्री । इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता सेन्द्रमेवैतदग्न्युपस्थानं कुरुते कदा चन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषऽइति यजमानो वै दाश्वान्न यजमानाय द्रुह्यसीत्येवैतदाहोपोपेन्नु मघवन्भूय इन्नु ते दानं देवस्य पृच्यतऽइति भूयो-भूय एव न इदं पुष्टं कुर्वित्येवैतदाह ॥३८॥ अथ सावित्री । सविता वै देवानां प्रसविता तथो हास्माऽएते सवितृप्रसूता एव सर्वे कामाः समृध्यन्ते तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयादिति ॥३९॥ अथाग्नेयी । तदग्नयऽएवैतदात्मानमन्ततः परिददाति गुप्त्यै परि ते दूडभो रथोऽस्मां॥३ऽअश्नोतु विश्वतः । येन रक्षसि दाशुष इति यजमाना वै दाश्वा७सो यो ह वाऽअस्यानाधृष्यतमो रथस्तेनैष यजमानानभिरक्षति स यस्तेऽनाधृष्यतमो रथो येन यजमानानभिरक्षसि तेन नः सर्वतोऽभिगोपायेत्येवैतदाह त्रिरेतज्जपति ॥४०॥ अथ पुत्रस्य नाम गृह्णाति । इदं मेऽयं वीर्यं पुत्रोऽनुसंतनवदिति यदि पुत्रो न स्यादप्यात्मन एव नाम गृह्णीयात् ॥४१॥ ब्राह्मणम् ॥२[३.४]॥ अध्यायः ॥३[१२]॥ ॥

अथ हुतेऽग्निहोत्रऽउपतिष्ठते । भूर्भुवः स्वरिति तत्सत्येनैवैतद्वाच७ समर्धयति यदाह भूर्भुवः स्वरिति तया समृद्धयाशिषमाशास्ते सुप्रजाः प्रजाभि स्यामिति तत्प्रजामाशास्ते सुवीरो वीरैरिति तद्वीरानाशास्ते सुपोषः पोषैरिति तत्पुष्टिमाशास्ते ॥१॥ यद्वाऽअदो दीर्घमग्न्युपस्थानम् । आशीरेव साशीरियं तदेतावतैवैतत्सर्वमाप्नोति तस्मादेतेनैवोपतिष्ठेतैतेन न्वेव वयमुपचराम इति ह स्माहासुरिः ॥२॥ अथ प्रवत्स्यन् । गार्हपत्यमेवाग्रऽउपतिष्ठतेऽथाहवनीय७ ॥३॥ स गार्हपत्यमुपतिष्ठते । नर्य प्रजां मे पाहीति प्रजाया हैष ईष्टे तत्प्रजामेवास्माऽएतत्परिददाति गुप्त्यै ॥४॥ अथाहवनीयमुपतिष्ठते । शᳬस्य पशून्मे पाहीति पशूना७

यहाँ कहा 'नाध्वसु वारणेषु (भयानक मार्गों में)' क्योंकि द्यौ और पृथिवी के बीच के मार्ग भयानक हैं। इन्ही मार्गों में उसको चलना है। इसलिए कहता है 'भयानक मार्गों में' ॥३७॥

अब इन्द्र की स्तुति है। इन्द्र ही यज्ञ का देवता है। इसलिए इन्द्र से ही अग्नि के उपस्थान को सम्बद्ध करता है, "कदा चन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे" (यजु०३।३४)—"हे इन्द्र! तू कभी रिक्त (barren) नहीं, और कभी अपने सेवक को विफल नहीं करता।" 'दाशुषे' का तात्पर्य है यजमान। 'तू यजमान से कभी द्रोह नहीं करता' इस मन्त्र के पढ़ने से यही तात्पर्य है। अब कहता है, "उपोपेन्नु मघवन् भूयऽ इन्नु ते दानं देवस्य पृच्यते" (यजु०३।३४)—"हे मघवन्, तुझ देव का दान अधिक ही होता जाता है।" इसका तात्पर्य यह है कि हमको यहाँ अधिक पुष्ट कर ॥३८॥

अब सावित्री का जाप है। सविता देवों का प्रेरक है। सविता की प्रेरणा से ही सब काम सफल होते हैं। इसलिए कहा "तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्' (यजु० ३।३५) ॥३९॥

अब अग्नि के लिए एक मन्त्र है। अपने को अन्त में रक्षार्थ अग्नि के ही समर्पण करता है, "परि ते दूडभो रथोऽस्माँऽ अश्नोतु विश्वतः। येन रक्षसि दाशुषः" (यजु० ३।३६)—"तेरा अवध्य रथ हमको चारों ओर से ढक ले जिससे तू पूजकों की रक्षा करता है।" 'दाशुषः' का अर्थ है यजमान। और अग्नि के पास जो अवध्य रथ है उससे वह यजमानों की रक्षा करता है। इस कहने का तात्पर्य है कि 'हे अग्नि, जो अवध्य रथ तेरे पास है और जिससे तू यजमानों की रक्षा किया करता है, उससे हर ओर से हमारी रक्षा कर।' तीन बार इसको जपता है ॥४०॥

अब वह अपने पुत्र का नाम लेता है—'मेरा यह लड़का (नाम लेकर) मेरे इस एक क्रम को जारी रक्खे।' यदि उसके पुत्र न हो तो अपना ही नाम ले ले ॥४१॥

अध्याय ४—ब्राह्मण १

अग्निहोत्र के पश्चात् वह अग्नि को 'भूर्भुवः स्वः' (यजु० ३।३७) कहकर प्रार्थना करता है। ऐसा कहकर वह अपनी वाणी को सत्य से पवित्र करता है, और वाणी को पवित्र करके आशीर्वाद माँगता है—"सुप्रजाः प्रजाभिः स्याँ" (यजु० ३।३७) अर्थात् "मैं अच्छी सन्तान-वाला होऊँ।" इससे सन्तान को चाहता है। "सुवीरो वीरैः" (यजु० ३।३७), इससे वीरों को चाहता है। "सुपोषः पोषैः" (यजु० ३।३७), इससे पुष्टि चाहता है ॥१॥

वह बड़ी प्रार्थना भी आशीर्वाद थी और यह छोटी प्रार्थना भी उसी के लिए। इसलिए इससे भी वह सबको प्राप्त करता है, इसलिए वह यह प्रार्थना करे। असुरि का कथन है, 'हम इसी से (अग्निहोत्र) करें' ॥२॥

यदि प्रवास (यात्रा) करना हो तो पहले गार्हपत्य में जावे, फिर आहवनीय में ॥३॥

प्रजापति के पास जाकर कहे, "नर्य प्रजां मे पाहि" (यजु० ३।३७)—"हे नरों के मित्र, मेरी सन्तान की रक्षा कर।" (गार्हपत्य अग्नि) प्रजा का अधिष्ठाता है, इसलिए रक्षा के लिए वह प्रजा को उसी के सुपुर्द कर जाता है ॥४॥

अब आहवनीय के पास जाकर कहता है, "शंस्य पशून् मे पाहि" (यजु० ३।३७)—

ह्येष ईष्टे तत्पशूनेवास्माऽएतत्परिददाति गुप्त्यै ॥५॥ अथ प्र वा व्रजति प्र वा धावयति । स यत्र वेलां मन्यते तत्स्यन्त्वा वाचं विसृजतेऽथ प्रोष्य परेत्य यत्र वेलां मन्यते तद्वाचं यच्छति स यद्यपि राजान्तरेणा स्यान्नैव तमुपेयात् ॥६॥ स आहवनीयमेवाग्रऽउपतिष्ठते । अथ गार्हपत्यं गृहा वै गार्हपत्यो गृहा वै प्रतिष्ठा तद्गृहेष्वेवैतत्प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठति ॥७॥ स आहवनीयमुपतिष्ठते । आगन्म विश्ववेदसमस्मभ्यं वसुवित्तमम् । अग्ने सम्राडभि द्युम्नमभि सह आयच्छस्वेत्यथोपविश्य तृणान्यपलुम्पति ॥८॥ अथ गार्हपत्यमुपतिष्ठते । अयमग्निर्गृहपतिर्गार्हपत्यः प्रजाया वसुवित्तमः । अग्ने गृहपतेऽभि द्युम्नमभि सह आयच्छस्वेत्यथोपविश्य तृणान्यपलुम्पत्येतन्नु जपेनैतेन न्वेव भूयिष्ठा इवोपतिष्ठन्ते ॥९॥ स वै खलु तूष्णीमेवोपतिष्ठेत । इदं वै यस्मिन्वसति ब्राह्मणो वा राजा वा श्रेयान्मनुष्यो न्वेव तमेव नार्हति वक्तुमिदं मे त्वं गोपाय प्राक्हं वत्स्यामीत्यथास्मिन्नेते श्रेयाꣳसो वसन्ति देवा अग्नयः क उ तानर्हति वक्तुमिदं मे यूयं गोपायत प्राक्हं वत्स्यामीति ॥१०॥ मनो ह वै देवा मनुष्यस्याजानन्ति । स वेद गार्हपत्यः परिदां मेदमुपागादिति तूष्णीमेवाहवनीयमुपतिष्ठते स वेदाहवनीयः परिदां मेदमुपागादिति ॥११॥ अथ प्र वा व्रजति प्र वा धावयति । स यत्र वेलां मन्यते तत्स्यन्त्वा वाचं विसृजतेऽथ प्रोष्य परेत्य यत्र वेलां मन्यते तद्वाचं यच्छति स यद्यपि राजान्तरेणा स्यान्नैव तमुपेयात् ॥१२॥ स आहवनीयमेवाग्रऽउपतिष्ठते । अथ गार्हपत्यं तूष्णीमेवाहवनीयमुपतिष्ठते तूष्णीमुपविश्य तृणान्यपलुम्पति तूष्णीमेव गार्हपत्यमुपतिष्ठते तूष्णीमुपविश्य तृणान्यपलुम्पति ॥१३॥ अथातो गृहाणामेवोपचारः । एतद्ध वै गृहपतेः प्रोषुष आगताद्गृहाः समुत्त्रस्ता इव भवन्ति किमयमिह वदिष्यति किं वा करिष्यतीति स यो ह तत्र किंचिद्वदति वा करोति वा तस्माद्गृहाः प्रत्रसन्ति तस्येश्वरः कुलं विक्षोब्धोरथ यो ह तत्र न वदति न किं चन क-

"हे प्रशंसनीय, मेरे पशुओं को बचा।" (आहवनीय अग्नि) पशुओं का अधिष्ठाता है, इसलिए पशुओं की रक्षा के लिए (आहवनीय के) सुपुर्द करता है ॥५॥

अब वह चलता है या (किसी यान में बैठकर) रवाना होता है, और जिस किसी सीमा को मान लेता है वहाँ तक चलकर बोलता है (अर्थात् अब तक मौन था, अब बोलता है)। और जब यात्रा से वापस आता है तो मानी हुई सीमा के भीतर आने पर मौन रहता है और चाहे उस समय घर में राजा भी उपस्थित हो (तो भी उसके पास न जाकर) पहले अग्नि के पास जाता है ॥६॥

पहले आहवनीय के पास और फिर गार्हपत्य के पास जाता है। गार्हपत्य ही घर है और घर ही प्रतिष्ठा का स्थान है। इसलिए वह अपने को घर में अर्थात् प्रतिष्ठा के स्थान में स्थापित करता है ॥७॥

वह इस मन्त्र से आहवनीय में जाता है—"आगन्म विश्ववेदसमस्मभ्यं वसुवित्तमम्। अग्ने सम्राडभि द्युम्नमभि सहऽ आयच्छस्व" (यजु० ३।३८)—"हे सम्राट् अग्नि! हम तुझ विश्ववेद (सबके जाननेवाले), वसुवित्तम (धन बाँटनेवाले) के पास आते हैं। हमको प्रकाश और बल दे।" और तृणों से आग को हाँकता है ॥८॥

इस मन्त्र से गार्हपत्य के पास जाता है—"अयमग्निर्गृहपतिर्गार्हपत्यः प्रजाया वसुवित्तमः। अग्ने गृहपतेऽभि द्युम्नमभि सहऽ आयच्छस्व' (यजु० ३।३९)—"गार्हपत्य अग्नि घर का स्वामी और हमारी सन्तान के लिए दान देनेवाला है। हे घर के स्वामी! अग्नि हमको प्रकाश और बल दे।" अब वह बैठकर तृणों से अग्नि को हाँकता है। इस प्रकार (यजमान) जप करके अग्नि के पास जाया करते हैं ॥९॥

मौन होकर भी जा सकता है और वह इसलिए—'यदि किसी स्थान में कोई ब्राह्मण राजा या श्रेष्ठ मनुष्य रहता हो तो कोई उससे यह नहीं कह सकता कि मैं यात्रा पर जा रहा हूँ, तुम मेरे माल की रक्षा करना। यहाँ भी श्रेष्ठ अग्नि देवों का निवास है। इसलिए इनसे कौन कह सकता है कि आप रक्षा कीजिए, मैं यात्रा को जा रहा हूँ ॥१०॥

देव मनुष्यों के मन को जानते हैं। गार्हपत्य पर अग्नि को मालूम है कि यह अपने को मुझे सौंपने आया है। आहवनीय में भी मौन होकर जावे, क्योंकि आहवनीय को भी मालूम है कि यह अपने को मुझे सौंपने आया है ॥११॥

अब वह पैदल या सवारी में चल पड़ता है और नियत सीमा तक जाने के बाद बोलता है (मौन तोड़ता है)। और जब लौटता है तो जिसको सीमा मान रक्खा है उसको देखते ही मौन धारण कर लेता है, और चाहे भीतर राजा भी क्यों न हो वह उसके पास नहीं जाता ॥१२॥

वह पहले आहवनीय के पास जाता है और फिर गार्हपत्य के पास। आहवनीय के पास मौन होकर जाता है और मौन ही बैठकर तृणों से अग्नि को हाँकता है। गार्हपत्य में भी मौन होकर जाता है और मौन ही बैठकर तृणों से अग्नि को हाँकता है ॥१३॥

अब घर (में आने) के विषय में यह उपचार है। जब कोई गृपति बाहर से वापस आता है तो घरवाले डर जाते हैं कि यह क्या कहेगा या क्या करेगा। और जब वह कुछ कहता या करता है तो घरवाले डर जाते हैं और उसके कुल में क्षोभ होता है। और जो गृहपति न

रोति तं गृह्या उपसꣳश्रयन्ते न वाऽअयमिहावादीन्न किं चनाकरदिति स यदि ह्या-
पि सुक्रुद्ध इव स्यादु एव ततस्तत्कुर्याद्यद्वदिष्यन्वा करिष्यन्वा स्यादेष उ गृह्या-
णामुपचारः ॥१४॥ ब्राह्मणम् ॥३ [४.१.]॥ ॥

प्रजापतिं वै भूतान्युपासीदन् । प्रजा वै भूतानि वि नो धेहि यथा जीवामेति ततो देवा यज्ञोपवीतिनो भूत्वा दक्षिणं जान्वाच्योपासीदंस्तानब्रवीद्यज्ञो वोऽन्नममृतत्वं व ऊर्ग्वः सूर्यो वो ज्योतिरिति ॥१॥ अथैनं पितरः । प्राचीनावीतिनः सव्यं जान्वाच्योपासीदंस्तानब्रवीन्मासि-मासि वोऽशनꣳ स्वधा वो मनोजवी वश्चन्द्रमा वो ज्योतिरिति ॥२॥ अथैनं मनुष्याः । प्रावृता उपस्थं कृत्वोपासीदंस्तानब्रवीत्सायं प्रातर्वोऽशनं प्रजा वो मृत्युर्वोऽग्निर्वो ज्योतिरिति ॥३॥ अथैनं पशव उपासीदन् । तेभ्यः स्वैरमेव चकार यदैव यूयं कदा च लभाध्वै यदि काले यद्यनाकालेऽथैवाश्नाथेति तस्मादेते यदैव कदा च लभन्ते यदि काले यद्यनाकालेऽथैवाश्नन्ति ॥४॥ अथ हैनꣳ शश्वदप्यसुरा उपसेदुरित्याहुः । तेभ्यस्तमश्च मायां च प्रददावस्त्यहैवासुरमायेतीव पराभूता ह त्वेव ताः प्रजास्ता इमाः प्रजास्तथैवोपजीवन्ति यथैवाभ्यः प्रजापतिर्व्यदधात् ॥५॥ नैव देवा अतिक्रामन्ति । न पितरो न पशवो मनुष्या एवैकेऽतिक्रामन्ति तस्माद्यो मनुष्याणां मेद्यत्यशुभे मेद्यति विह्रूर्छति हि न ह्ययनाय चन भवत्यनृतꣳ हि कृत्वा मेद्यति तस्मादु सायंप्रातराश्येव स्यात्स यो हैवं विद्वान्त्सायंप्रातराशी भवति सर्वꣳ हैवायुरेति यदु ह किं च वाचा व्याहरति तदु हैव भवत्येतद्धि देवसत्यं गोपायति तद्वैतत्तेजो नाम ब्राह्मणं य एतस्य व्रतꣳ शक्नोति चरितुम् ॥६॥ तद्वाऽएतत् । मासि-मास्येव पितृभ्यो ददतो यदैवैष न पुरस्तान्न पश्चाद्ददृशेऽथैभ्यो ददात्येष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः स एताꣳ रात्रिं क्षीयते तस्मिन्क्षीणे ददाति तथैभ्योऽसमदं करोत्यथ यदक्षीणे दद्यात्समदꣳ ह कुर्याद्देवेभ्यश्च पितृभ्यश्च तस्माद्यदैवैष न पुर-

कुछ कहता है, न करता है तो उसके घरवाले सन्तुष्ट रहते हैं कि इसने कुछ नहीं कहा या कुछ नहीं किया। इसलिए यदि गृहपति किसी कारण क्रुद्ध भी हो तो जो कुछ कहना या करना हो, वह दूसरे दिन कहे या करे। यह घर में आने की विधि है ॥१४॥

पिण्डपितृयज्ञः

अध्याय ४—ब्राह्मण २

प्राणि-लोक एक बार प्रजापति के पास गये। ये साधारण प्राणी थे। उन्होंने कहा, 'हमको वह विधि बताओ जिससे जीवन व्यतीत करें।' इस पर यज्ञोपवीत पहने हुए देव दाहिनी जानु को नमाकर, उसके पास आकर बैठे। उसने उनसे कहा, 'यज्ञ तुम्हारा अन्न है, अमृतत्व तुम्हारा बल है और सूर्य तुम्हारी ज्योति' ॥१॥

अब पितर दाहिने कंधे पर यज्ञोपवीत पहने बाईं जानु नमाकर उसके पास बैठे। उसने उनसे कहा, 'तुम्हारा मासिक भोजन होगा। तुम्हारे मन की तेजी (मनोजवा) तुम्हारी स्वधा और चन्द्रमा तुम्हारी ज्योति' ॥२॥

अब मनुष्य उसके पास आये कपड़े पहने (प्रावृत) और शरीर को झुकाये हुए। उनका उसने कहा, 'सायं और प्रातः तुम्हारा भोजन होगा। मृत्यु तुम्हारी प्रजा और अग्नि तुम्हारी ज्योति' ॥३॥

अब उसके पास पशु आए। उनको उसने अपनी इच्छावाला (स्वेच्छाचारी) कर दिया। जब कभी तुम कोई चीज पाओ, चाहे समय पर, चाहे कुसमय, तुम खा जाओ। इसलिए जब वे कोई चीज पाते हैं चाहे समय पर, चाहे कुसमय, वे खा जाते हैं ॥४॥

तत्पश्चात् कहते हैं कि असुर भी (प्रजापति के पास) पहुँचे। उनको उसने अन्धकार और माया दी। इसीलिए आसुरी माया होती है। वे तो नष्ट हो गये, परन्तु आजकल भी वैसी प्रजा है जो उसी प्रकार बरतती है, जैसे प्रजापति ने उनके लिए निर्धारित किया था ॥५॥

देव, पितर या पशु इन नियमों का उल्लंघन नहीं करते। कुछ मनुष्य ही उल्लंघन करते हैं। इसलिए मनुष्यों में जो मोटा हो जाता है वह अशुभ कार्यों के कारण मोटा हो जाता है, और चूंकि वह अनृत के कारण मोटा होता है इसलिए वह चल नहीं सकता और उसके पैर लड़खड़ाते हैं। इसलिए सायं और प्रातःकाल को ही खाना चाहिए। जो इस रहस्य को जानकर सायं और प्रातः ही खाता है वह पूर्ण आयु को प्राप्त होता है। और जो कुछ वह बोलता है वही होता है, क्योंकि देव सत्य की रक्षा करता है। जो आदमी प्रजापति के व्रत को पाल सकता है, उसमें ब्रह्म-तेज आ जाता है ॥६॥

यह तेज उसी को होता है जो मास में एक बार पितरों को भोजन देता है। जब पूर्व या पश्चिम में चाँद न दीखे तब उनको भोजन देता है। क्योंकि चन्द्रमा सोम राजा है जो देवों का भोजन है। (अमावस्या की) रात को वह क्षीण होता है, तब (देवताओं का भोजन भी क्षीण होता है इसलिए उस समय पितरों को) भोजन देता है। इस प्रकार वह (देवों और पितरों में) समन्वय कराता है। परन्तु यदि उस समय देगा जब (चाँद) क्षीण नहीं है तो देवों और पितरों

स्तान्न पश्चाद्ददृशेऽथैभ्यो ददाति ॥७॥ स वाऽअपराह्णे ददाति । पूर्वाह्णो वै देवानां मध्यन्दिनो मनुष्याणामपराह्णः पितॄणां तस्मादपराह्णे ददाति ॥८॥ स जघनेन गार्हपत्यं । प्राचीनावीती भूत्वा दक्षिणासीन एतं गृह्णाति स तत एवोपोत्थायोत्तरेणान्वाहार्यपचनं दक्षिणा तिष्ठन्नवहन्ति सकृत्फलीकरोति सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरस्तस्मात्सकृत्फलीकरोति ॥९॥ तं श्रपयति । तस्मिन्नधिश्रितऽआज्यं प्रत्यानयत्यग्नौ वै देवेभ्यो जुह्वत्युद्धरन्ति मनुष्येभ्योऽथैव पितॄणां तस्मादधिश्रित ऽआज्यं प्रत्यानयति ॥१०॥ स उद्वास्याग्नौ द्वेऽआहुती जुहोति देवेभ्यः । देवान्वा ऽएष उपावर्तते य आहिताग्निर्भवति यो दर्शपूर्णमासाभ्यां यजतेऽथैतत्पितृयज्ञेनेवाचारीत्तद्देवेभ्यो निह्नुते स देवैः प्रसूतोऽथैतत्पितृभ्यो ददाति तस्मादुद्वास्याग्नौ द्वेऽआहुती जुहोति देवेभ्यः ॥११॥ स वाऽअग्नये च सोमाय च जुहोति । स यदग्नये जुहोति सर्वत्र ह्येवाग्निरन्वाभक्तोऽथ यत्सोमाय जुहोति पितृदेवत्यो वै सोमस्तस्मादग्नये च सोमाय च जुहोति ॥१२॥ स जुहोति । अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा सोमाय पितृमते स्वाहेत्यग्नौ मेक्षणमभ्यादधाति तत्स्विष्टकृद्भाजनमथ दक्षिणेनान्वाहार्यपचनं सकृदुल्लिखति तद्वेदिभाजनं सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरस्तस्मात्सकृदुल्लिखति ॥१३॥ अथ परस्तादुल्मुकं निदधाति । स यदनिधायोल्मुकमथैतत्पितृभ्यो दद्यादसुररक्षसानि हैषामेतद्विमथ्नीरंस्तथो हैतत्पितॄणामसुररक्षसानि न विमथ्नते तस्मात्परस्तादुल्मुकं निदधाति ॥१४॥ स निदधाति । ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमाना असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति । परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टांल्लोकात्प्रणुदात्यस्मादित्यग्निर्हि रक्षसामपहन्ता तस्मादेवं निदधाति ॥१५॥ अथोदपात्रमादायावनेजयति । असाववनेनिक्ष्वेत्येव यजमानस्य पितरमसाववनेनिक्ष्वेति पितामहमसाववनेनिक्ष्वेति प्रपितामहं तद्यथाशिष्यतेऽभिषिञ्चेदेवं तत् ॥१६॥ अथ सकृदाच्छिन्नान्युपमूलं दिनानि भवन्ति । अग्रमिव वै देवानां मध्यमिव

में झगड़ा हो जायगा। इसलिए तभी भोजन दे जब (चन्द्र) न पूर्व में दीखे न पश्चिम में ॥७॥

वह दोपहर के बाद देता है। देवों का पहला पहर (पूर्वाह्न) है, दोपहर (मध्यन्दिन) मनुष्यों का और तीसरा पहर (अपराह्न) है पितरों का। इसलिए तीसरे पहर देता है ॥८॥

वह गार्हपत्य के पीछे बैठकर जनेऊ दक्षिण कन्धे पर रक्खे हुए दक्षिण की ओर मुँह करके (गाड़ी में से हवि) लेता है। फिर वहाँ से उठकर अन्वाहार्य-पचन के उत्तर की ओर खड़ा होकर दक्षिण की ओर मुँह करके (चावलों को) फटकता है। एक बार ही फटकता है; क्योंकि एक ही बार पितर गुजर गये इसलिए एक बार ही फटकता है ॥९॥

फिर पकाता है। इसके पकते हुए में घी छोड़ता है। देवों के लिए हवि अग्नि में छोड़ी जाती है, मनुष्यों के लिए (भोजन) अग्नि से निकालकर लिया जाता है और पितरों के लिए इस प्रकार करते हैं।—जब यह आग पर पक रहा हो, उसमें घी छोड़ते हैं ॥१०॥

वहाँ से उठाकर अग्नि में देवों के लिए दो आहुतियाँ देता है। जो अग्नि स्थापित करता है (अग्निहोत्र के लिए) या जो दर्शपूर्णमास करता है, वह देवों की सेवा में उपस्थित होता है। परन्तु यहाँ उसे पितृयज्ञ करना है। इसलिए देवों को प्रसन्न करता है कि उनको प्रसन्न करने के पश्चात् पितरों को देवे। इसलिए वहाँ से (हवि को) उठाकर अग्नि में देवों के लिए दो आहुतियाँ देता है ॥११॥

वह अग्नि और सोम के लिए आहुतियाँ देता है। अग्नि को आहुति इसलिए देता है कि अग्नि का भाग तो सभी जगह दिया जाता है। सोम के लिए यों देता है कि सोम पितरों का देवता है। इसलिए अग्नि और सोम के लिए देता है ॥१२॥

वह इस मन्त्र से आहुति देता है, "अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा। सोमाय पितृमते स्वाहा" (यजु० २।२९)—"बुद्धिमान् कवियों के लिए, ले जानेवाले अग्नि के लिए। पितृयुक्त सोम के लिए।" स्विष्टकृत् के बदले आग पर मेक्षण (चमचा pot-ladle) रखता है। अब दक्षिणाग्नि के दक्षिण को एक रेखा खींचता है, वेदि के पहले। पितर लोग एक ही बार गुजर गये, इसलिए एक ही बार रेखा खींचता है ॥१३॥

अब दूसरे छोर पर जलती हुई लकड़ी (उल्मुक) रखता है। क्योंकि यदि बिना इस लकड़ी के रक्खे पितरों को भोजन दिया गया तो असुर और राक्षस उसको बिगाड़ ही जायँगे, जबकि इस प्रकार असुर और राक्षस उसको नहीं बिगाड़ते, इसलिए वह जलती हुई लकड़ी को रखता है ॥१४॥

वह मन्त्र पढ़कर रखता है, "ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमानाऽअसुराः सन्तः स्वधया चरन्ति। परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टाँल्लोकात् प्रणुदात्यस्मात्" (यजु० २।३०)—"जो असुर रूपों को बदलते हुए स्वतन्त्रता से विचरते हैं, छोटे शरीरवाले या बड़े शरीरवाले, अग्नि उनको इस लोक से निकाल दे।" अग्नि राक्षसों का भगानेवाला है, इसलिए वह इस लकड़ी को रखता है ॥१५॥

अब जल का पात्र लाकर हाथ धुलाता है। यजमान के बाप का नाम लेकर 'आप हाथ धोइये', यजमान के बाबा का नाम लेकर, 'आप हाथ धोइये', यजमान के परदादा का नाम लेकर, 'आप हाथ धोइये।' जैसे मेहमान को जल देते हैं ऐसे यहाँ भी ॥१६॥

कुश एक चोट में ही मूल से काटे जाते हैं। उनका अगला भाग देवों का होता है, बीच

मनुष्याणां मूलमिव पितृणां तस्मादुपमूलं दिनानि भवन्ति सकृदाछिन्नानि भवन्ति सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरस्तस्मात्सकृदाछिन्नानि भवन्ति ॥१७॥ तानि दक्षिणोपस्तृणाति । तत्र ददाति स वाऽइति ददातीतीव वै देवेभ्यो जुह्वत्युद्धरन्ति मनुष्येभ्योऽथैवं पितृणां तस्मादिति ददाति ॥१८॥ स ददाति । असावेतत्तऽइत्येव यजमानस्य पित्रे ये च त्वामन्वित्यु हैकऽआहुस्तदु तथा न ब्रूयात्स्वयं वै तेषाᳪ सह येषाᳪ सह तस्मादु ब्रूयादसावेतत्तऽइत्येव यजमानस्य पित्रेऽसावेतत्तऽइति पितामहायासावेतत्तऽइति प्रपितामहाय तद्यदितः पराग्ददाति सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरः ॥१९॥ तत्र जपति । अत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वमिति यथाभागमश्नीतेत्येवैतदाह ॥२०॥ अथ पराङ् पर्यावर्तते । तिर-इव वै पितरो मनुष्येभ्यस्तिर-इवैतद्भवति स वाऽआ तमितोरासीतेत्याहुरेतावान्ह्यसुरिति स वै मुहूर्तमेवासित्वा ॥२१॥ अथोपपर्यावृत्य जपति । अमीमदन्त पितरो यथाभागमावृषायिषतेति यथाभागमाशिषुरित्येवैतदाह ॥२२॥ अथोदपात्रमादायावनेजयति । असाववनेनिक्ष्वेत्येव यजमानस्य पितरमसाववनेनिक्ष्वेति पितामहमसाववनेनिक्ष्वेति प्रपितामहं तद्यथा जक्षुषेऽभिषिञ्चेदेवं तत् ॥२३॥ अथ नीविमुद्वृह्य नमस्करोति । पितृदेवत्या वै नीविस्तस्मान्नीविमुद्वृह्य नमस्करोति यज्ञो वै नमो यज्ञियानेवैनानेतत्करोति षट् कृत्वो नमस्करोति षड्वाऽऋतव ऋतवः पितरस्तस्मात्षट् कृत्वो नमस्करोति गृहान्नः पितरो दत्तेति गृहाणाᳪ ह पितर ईशतऽएषोऽएतस्याशीः कर्मणोऽथावजिघ्रति प्रत्यवधाय पिण्डान्त्स यजमानभागोऽग्नौ सकृदाछिन्नान्यभ्यादधाति पुनरुल्मुकमपि सृजति ॥२४॥ ब्राह्मणम् ॥४ [४. २.] ॥ ॥

तदु होवाच कहोडः कौषीतकिः । अनयोर्वाऽअयं द्यावापृथिव्यो रसोऽस्य रसस्य हुत्वा देवेभ्योऽथैतमश्नामेति तस्माद्वाऽआग्रयणेष्ट्या यजतऽइति ॥१॥ तदु

का मनुष्यों का और मूल पितरों का। इसलिए वे मूल से काटे जाते हैं। वे एक ही चोट से इसलिए काटे जाते हैं कि पितर लोग एक ही बार में गुजर गये।।१७।।

वह उनके सिरों को दक्षिण की ओर करके फैलाता है। तब (पिण्ड) देता है। वह इस प्रकार पिण्ड देता है (हाथ से बनाकर)। देवों को इस प्रकार दिया जाता है (यहाँ भी हाथ से विधि बताई जाती है)। मनुष्यों को इस प्रकार परोसते हैं, और पितरों के लिए इस प्रकार। इसलिए वह इस प्रकार देता है ।।१८।।

यजमान के बाप का नाम लेकर 'यह तुम्हारे लिए', कुछ लोग इसके साथ यह भी कहते हैं—'और उनके लिए जो तुम्हारे पीछे आवें।' परन्तु उसको ऐसा न कहना चाहिए, क्योंकि वह भी तो उन्हीं में से है। इसलिए पिता का नाम लेकर कहे 'यह तुम्हारे लिए', बाबा का नाम लेकर, 'यह तुम्हारे लिए', पर-दादे का नाम लेकर, 'यह तुम्हारे लिए।' वर्तमान समय से आरम्भ करके पिछले-पिछले के क्रम से देता है, क्योंकि पितरों के गुजरने का वर्तमान की अपेक्षा यही क्रम है ।।१९।।

अब वह जपता है, "अत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वम्" (यजु० २।३१)— "हे पितरो ! यहाँ प्रसन्नता से खाओ जैसे बैल आकर खाते हैं अपने-अपने हिस्से का।" इसका तात्पर्य यह है कि 'अपना-अपना भाग खाओ' ।।२०।।

अब मुड़कर खड़ा होता है (अर्थात् उत्तर की ओर), क्योंकि पितर मनुष्यों से बिल्कुल दूसरी ओर हैं और वह भी पितरों से दूसरी ओर है। कुछ लोग कहते हैं कि जब तक साँस रोक सके उस समय तक खड़ा रहे, क्योंकि प्राण इतने ही होते हैं। अस्तु, एक मुहूर्त रहकर—।।२१।।

(दाहिनी ओर) मुड़कर जपता है, "अमीमदन्त पितरो यथा भागमावृषायिषत" (यजु० २।३१)—"पितरों ने खा लिया। बैलों के समान उन्होंने अपना-अपना भाग पा लिया" ।।२२।।

अब जल-पात्र लेकर हाथ धुलाता है। यजमान के बाप का नाम लेकर 'तुम धोओ', बाबा का नाम लेकर 'तुम धोओ', परदादे का नाम लेकर 'तुम धोओ।' जिस प्रकार मेहमानों को खाना खिलाकर धुलाते हैं उसी प्रकार यहाँ भी ।।२३।।

नीवि (निचला कपड़ा और ऊपर का कपड़ा दोनों मे गाँठ दी जाती है) को खोलकर नमस्कार करता है। नीवि पितरों की है इसलिए उसे खोलकर नमस्कार करता है। नमस्कार यज्ञ है। इसलिए इस प्रकार वह उनको यज्ञ के योग्य बनाता है। छः बार नमस्कार करता है। क्योंकि छः ऋतुएँ हैं और पितर ऋतुएँ हैं, इसलिए छः बार नमस्कार करता है। अब वह कहता है, "गृहान्नः पितरो दत्त" (यजु० २।३२)—"हे पितरो, हमको घर दीजिए।" पितर घरों के रक्षक हैं, इसलिए इस कर्म से आशीर्वाद चाहता है। पिण्डों को पीछे हटाकर सूंघता है, क्योंकि यह यजमान का भाग है। एक चोट में काटी हुई (कुश) को अग्नि पर रखता है, और जलती हुई लकड़ी (उल्मुक) को फेंकता है ।।२४।।

अध्याय ४—ब्राह्मण ३

कहोड कौषीतकि ने कहा, यह (वृक्षों का) रस वस्तुतः द्यावापृथिवी का है। हम देवों को आहुति देकर खावें। इसलिए 'आग्रयणेष्टि' यज्ञ किया जाता है ।।१।।

होवाच याज्ञवल्क्यः । देवाश्च वाऽअसुराश्चोभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे ततोऽसुरा उभयीरोषधीर्याश्च मनुष्या उपजीवन्ति याश्च पशवः कृत्ययेव त्विषेणेव त्वत्प्रलिलिपुरुतैवं चिद्देवानभिभवेमेति ततो न मनुष्या आशुर्न पशव आलिलिशिरे ता हेमाः प्रजा अनाशकेन नोत्पराबभूवुः ॥२॥ तद्ध देवाः शुश्रुवुः । अनाशकेन ह वाऽइमाः प्रजाः पराभवन्तीति ते होचुर्हन्तेदमासामपजिघांसामेति केनेति यज्ञेनैवेति यज्ञेन ह स्म वै तद्देवाः कल्पयन्ते यदेषां कल्पमासऽर्षयश्च ॥३॥ ते होचुः । कस्य न इदं भविष्यतीति ते मम-ममेत्येव न सम्पादयां चक्रुस्ते हासम्पाद्योचुराजिमेवास्मिन्नजामहै स यो न उज्जेष्यति तस्य न इदं भविष्यतीति तथेति तस्मिन्नाजिमाजन्त ॥४॥ ताविन्द्राग्नीऽउदजयतां । तस्मादैन्द्राग्नो द्वादशकपालः पुरोडाशो भवतीन्द्राग्नी ह्यस्य भागधेयमुदजयतां तौ यत्रेन्द्राग्नीऽउज्जिगीवांसौ तस्थतुस्तद्विश्वे देवा अन्वाजग्मुः ॥५॥ क्षत्रं वाऽइन्द्राग्नी । विशो विश्वे देवा यत्र वै क्षत्रमुज्जयत्यन्वाभक्ता वै तत्र विट्तद्विश्वान्देवानन्वाभजतां तस्मादेष वैश्वदेवश्चरुर्भवति ॥६॥ तं वै पुराणानां कुर्यादित्याहुः । क्षत्रं वाऽइन्द्राग्नी नेत्क्षत्रमभ्यारोहयाणीति तौ वाऽउभावेव नवानां स्यातां यद्धि पुरोडाश इतरश्चरुरितरस्तेनैव क्षत्रमनभ्यारूढं तस्मादुभावेव नवानां स्याताम् ॥७॥ तऽउ ह विश्वे देवा ऊचुः । अनयोर्वाऽअयं द्यावापृथिव्यो रसो हन्तेमेऽअस्मिन्नाभजामेति ताभ्यामेतं भागमकल्पयन्नेतं द्यावापृथिव्यमेककपालं पुरोडाशं तस्माद्द्यावापृथिव्य एककपालः पुरोडाशो भवति तस्येयमेव कपालमेकेव हीयं तस्मादेककपालो भवति ॥८॥ तस्य परिचक्षा । यस्यै वै कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यते सर्वत्रैव स्विष्टकृदन्वाभक्तोऽथैतं सर्वमेव जुहोति न स्विष्टकृतेऽवद्यति सा परिचक्षोतो हुतः पर्यावर्तते ॥९॥ तदाहुः । पर्याभूद्वाऽअयमेककपालो मोहिष्यति राष्ट्रमिति नास्य सा परिचक्षाहवनीयो वाऽआहुतीनां प्रतिष्ठा स यदाहवनीयं प्राप्यापि

याज्ञवल्क्य का भी कथन है कि प्रजापति की सन्तान देव और असुर बड़ाई के लिए लड़ पड़े। तब असुरों ने दोनों प्रकार की ओषधियों को, अर्थात् उनको भी जिनके सहारे मनुष्य रहते हैं और उनको भी जिनके सहारे पशु रहते हैं, कुछ अपनी चालाकी से (कृत्यया) और कुछ विष के द्वारा नष्ट कर दिया कि इस प्रकार हम देवों पर विजय पा लेंगे। इस पर न मनुष्य कुछ खा सके और न पशु, और भोजन के अभाव में ये सब पराजित-से हो गये ॥२॥

अब देवों ने सुना कि बिना भोजन के यह सब प्रजा पराजित हो रही है। उन्होंने कहा, 'इस सब (विष आदि) को हटाना चाहिए।' 'कैसे ?' 'यज्ञ के द्वारा।' देव जो कुछ करना चाहते थे वह उन्होंने यज्ञ के द्वारा किया और ऋषियों ने भी ॥३॥

तब उन्होंने कहा, 'यह (यज्ञ) हममें से किसका होगा ?' हर एक ने कहा, 'मेरा'-'मेरा' और निश्चित न कर सके। निश्चय न कर सकने पर उन्होंने कहा, 'चलो बाजी बदकर दौड़ें। हममें से जो जीत जायगा यह (यज्ञ) उसी का होगा।' 'अच्छा' कहकर वे दौड़े ॥४॥

इन्द्र और अग्नि जीत गये। इसलिए पुरोडाश के बारह कपाल इन्द्र और अग्नि के होते हैं। क्योंकि इन्द्र और अग्नि ने अपना भाग जीत लिया और इन्द्र और अग्नि जीतने पर जहाँ खड़े थे वहाँ सब देव भी चले गये ॥५॥

इन्द्र और अग्नि क्षत्रिय हैं, सब देव वैश्य। जहाँ क्षत्रिय जीतता है वहाँ वैश्यों को अवश्य भाग मिलता है। इसलिए देवों को भाग मिल गया, इसलिए चरु सब देवों (विश्वेदेवा) का होता है ॥६॥

कुछ लोगों का विचार है कि (चरु) पुराने (अन्न) का हो, क्योंकि इन्द्र और अग्नि क्षत्रिय हैं इसलिए (विश्वेदेवों को भी यदि इन्द्र और अग्नि के समान नया अन्न दिया जायगा तो) वैश्य क्षत्रियों के बराबर हो जाएँगे। परन्तु दोनों को नया ही होना चाहिए। केवल यह पुरोडाश है और यह चरु है। इन दोनों के नये होने से ही क्षत्रियों के बराबर (वैश्य) नहीं हो सकते। इसलिए दोनों (पुरोडाश और चरु) नये अन्न के ही हों ॥७॥

अब देवों ने कहा, 'यह रस वस्तुतः द्यावापृथिवी का है, इसलिए हम इनको यज्ञ में भाग देवें।' इसलिए उन्होंने उन दोनों को भाग दिया अर्थात् एक कपाल का पुरोडाश द्यावापृथिवी को दिया। इसलिए एक कपाल का पुरोडाश द्यावापृथिवी का होता है। अब चूंकि यह पृथिवी उस (रस) का कपाल है और वह एक ही है, इसलिए (पुरोडाश भी) एक कपाल का होता है ॥८॥

(ऐसा करने में) उसका एक दोष (है)। चाहे किसी देवता को हवि दी जाय, पीछे से एक भाग स्विष्टकृत् का होता है। परन्तु यहाँ (पुरोडाश) की पूरी आहुति दे दी जाती है। स्विष्टकृत् के लिए कुछ बचाया नहीं जाता। यह एक दोष है, इसलिए आहुति उलटी पड़ जाती है ॥९॥

इसलिए कहते हैं, 'यह एक कपाल उलटा पड़ गया। यह राष्ट्र को बिगाड़ देगा।' परन्तु इसमें कुछ दोष नहीं। आहुतियों की प्रतिष्ठा आहवनीय है। जब आहुति आहवनीय में पहुँच गई

दश कृत्वः पर्यावर्तेत न तदाद्रियेत यदीत्वन्ये वदन्ति कस्तत्संधमुपेयात्तस्मादाज्यस्यैव यजेदाज्यꣳ ह वाऽअनयोर्द्यावापृथिव्योः प्रत्यक्षꣳ रसस्तत्प्रत्यक्षमेवैनेऽएतत्स्वेन रसेन मेधेन प्रीणाति तस्मादाज्यस्यैव यजेत् ॥१०॥ एतेन वै देवाः । य ज्ञेनेष्ट्वोभयीनामोषधीनां याश्च मनुष्या उपजीवन्ति याश्च पशवः कृत्यामिव त्वद्विषमिव वदपजघ्नुस्तत आश्नन्मनुष्या आलिशन्त पशवः ॥११॥ अथ यदेष एतेन यजते । तन्नाह न्वेवैतस्य तथा कश्चन कृत्ययेव वद्विषेणेव वत्प्रलिम्पतीति देवा अकुर्वन्निति वेवैष एतत्करोति यमु चैव देवा भागमकल्पयन्त तमु चैवैभ्य एष एतद्भागं करोतीमा उ चैवैतदुभयीरोषधीर्याश्च मनुष्या उपजीवन्ति याश्च पशवस्ता अनमीवा अकिल्विषाः कुरुते ता अस्यानमीवा अकिल्विषा इमाः प्रजा उपजीवन्ति तस्माद्वाऽएष एतेन यजते ॥१२॥ तस्य प्रथमजो गौर्दक्षिणा । अग्र्यमिव हीदꣳ स यदीजानः स्याद्दर्शपूर्णमासाभ्यां वा यजेतायेतेन यजेत यद्युऽअनीजानः स्याद्यातुष्याश्यमेवैनमोदनमन्वाहार्यपचने पचेयुस्तं ब्राह्मणा अश्नीयुः ॥१३॥ द्वया वै देवा देवाः । अहैव देवा अथ ये ब्राह्मणाः शुश्रुवाꣳसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवास्तद्यथा वषट्कृतꣳ हुतमेवमस्यैतद्भवति तत्रो यद्दक्षुयात्तद्याज्ञादक्षिणाꣳ हविः स्यादिति व्याकुर्नाग्निहोत्रे जुहुयात्समदꣳ ह कुर्याद्यदग्निहोत्रे जुहुयादन्यद्वाऽआग्रयणमन्यदग्निहोत्रं तस्मान्नाग्निहोत्रे जुहुयात् ॥१४॥ ब्राह्मणम् ॥५[४.३.]॥
तृतीयः प्रपाठकः ॥ ॥ कण्डिकासंख्या ११३ ॥ ॥

प्रजापतिर्ह वाऽएतेनाग्रे यज्ञेनेजे । प्रजाकामो बहुः प्रजया पशुभिः स्याꣳ श्रियं गच्छेयं यशः स्यामन्नादः स्यामिति ॥१॥ स वै दक्षो नाम । तद्यदेनेन सोऽग्रेऽयजत तस्माद्दाक्षायणयज्ञो नामोतैनमेके वसिष्ठयज्ञ इत्याचक्षतऽएष वै वसिष्ठ एतमेव तदन्वाचक्षते स एतेन यज्ञेनेजे स एतेन यज्ञेनेष्ट्वा येयं प्रजापतेः प्रजातिर्या श्रीरेतद्बभूवैताꣳ ह वै प्रजातिं प्रजायतऽएताꣳ श्रियं गच्छति य एवं विद्वाने-

तो चाहे दस बार उलट जाय कुछ परवाह नहीं। और यदि कोई कहे कि इन (दोषों) के भार को कौन सहे तो केवल घी की ही आहुति दे, क्योंकि इन द्यावा-पृथिवी का प्रत्यक्ष रस घी है। इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप में इनको वह इन्हीं के रस या मेध (तत्त्व) से तृप्त करता है, इसलिए घी की ही आहुति दे ॥१०॥

यज्ञ करके देवों ने उन सब ओषधियों को, जिनके सहारे मनुष्य रहते हैं या पशु रहते हैं, (असुरों की) चालाकी और विष (के प्रभाव) से मुक्त कर दिया। इसलिए अब मनुष्य भोजन करने लगे और पशु चरने लगे ॥११॥

अब वह जो यज्ञ करता है, या तो इसलिए करता है कि कोई चालाकी या विष से (वनस्पति) को बिगाड़ने न पाये, या केवल इसलिए कि देवों ने ऐसा किया था। और जो भाग देवों ने अपने लिए निकाला था वह भी उनके लिए निकाल देता है। इसके अतिरिक्त वह दोनों प्रकार के पौधों को अर्थात् जिनके सहारे मनुष्य रहते हैं और जिनके सहारे पशु रहते हैं, उनको विषरहित कर देता है और ये मनुष्य और पशु इसके दोष-रहित पौधों के सहारे जीते हैं। इसलिए वह इस यज्ञ को करता है ॥१२॥

इस यज्ञ की दक्षिणा है पहलौटी बछड़ा, क्योंकि यह (गाय का) अग्र अर्थात् पहला फल होता है। यदि दर्श और पूर्णमास यज्ञ कर चुका हो तो पहले वह आहुतियाँ दे और फिर इस यज्ञ को पीछे से करे। और यदि (दर्श और पूर्णमास) नहीं किया तो अन्वाहार्य-पचन अग्नि पर चातुष्प्राश्य को पका ले और ब्राह्मणों को खिला दे ॥१३॥

देव दो प्रकार के हैं — एक तो देव; और दूसरे ब्राह्मण जो वेदपाठी हैं, ये मनुष्य-देव हैं। जिस प्रकार वषट्कार की आहुति होती है वैसी यह भी है। इस समय भी वह जितना हो सके उतनी दक्षिणा दे, क्योंकि कहते हैं कि कोई हवि दक्षिणा के बिना पूरी नहीं होती। अग्निहोत्र में (नया अन्न) न डाले, नहीं तो झगड़ा होगा। आग्रयण भिन्न है और अग्निहोत्र भिन्न। इसलिए अग्निहोत्र में (नया अन्न) न डाले ॥१४॥

अध्याय ४—ब्राह्मण ४

प्रजापति ने पहले प्रजा की कामना से यह यज्ञ किया। उसने सोचा—'मैं बहुत प्रजा और पशु-युक्त हो जाऊँ, श्री मिल जाय, यशस्वी हो जाऊँ, अन्न पचानेवाला हो जाऊँ' ॥१॥

उसका नाम दक्ष था। और चूंकि पहले उसने इस यज्ञ को किया, इसलिए यज्ञ का 'दाक्षायण यज्ञ' नाम पड़ा। कुछ लोग दक्ष को वसिष्ठ-यज्ञ कहते हैं, क्योंकि वह वसिष्ठ ही है। उसी के नाम पर यज्ञ का नाम पड़ा। उसने यज्ञ किया और इस यज्ञ से उस प्रजापति ने जो सन्तान, जो श्री, जो विभूति प्राप्त की उसी सन्तान, उसी श्री को वह भी प्राप्त होता है जो इस

तेन यज्ञेन यजते तस्माद्वाऽएतेन यजेत ॥२॥ तेनो ह तत ईजे । प्रतीदर्शः श्वै-
क्नः स ये तं प्रत्यासुस्तेषां विवचनमिवास विवचनमिव ह वै भवति य एवं
विद्वानेतेन यज्ञेन यजते तस्माद्वाऽएतेन यजेत ॥३॥ तमाजगाम । सुप्ला सार्ञ्जयो
ब्रह्मचर्यं तस्मादेतं च यज्ञमनूचेऽन्यमु च सोऽनूच्य पुनः सृञ्जयाञ्जगाम ते ह सृ-
ञ्जया विदां चक्रुर्यज्ञं वै नोऽनूच्यागन्निति ते होचुः सह वै नस्तद्देवैरागन्यो नो
यज्ञमनूच्यागन्निति स वै सहदेवः सार्ञ्जयस्तदप्येतन्निवचनमिवास्त्यन्यद्वाऽअग्रे सु-
प्ला नाम दधऽइति स एतेन यज्ञेनेजे स एतेन यज्ञेनेष्ट्वा येयꣳ सृञ्जयानां प्रजातिर्या
श्रीरेतद्बभूवैताꣳ ह वै प्रजातिं प्रजायतऽएताꣳ श्रियं गच्छति य एवं विद्वानेतेन
यज्ञेन यजते तस्माद्वाऽएतेन यजेत ॥४॥ तेनो ह तत ईजे । देवभागः श्रौतर्षः
स उभयेषां कुरूणां च सृञ्जयानां च पुरोहित आस परमता वै सा यो न्वेवैकस्य
राष्ट्रस्य पुरोहितोऽसत्सा न्वेव परमता किमु यो द्वयोः परमतामिव ह वै गच्छ-
ति य एवं विद्वानेतेन यज्ञेन यजते तस्माद्वाऽएतेन यजेत ॥५॥ तेनो ह तत
ईजे । दक्षः पार्वतिस्तऽइमेऽप्येतर्हि दाक्षायणा राज्यमिवैव प्राप्ता राज्यमिह वै
प्राप्नोति य एवं विद्वानेतेन यजते तस्माद्वाऽएतेन यजेत स वाऽएकैक एवानू-
चीनाहं पुरोडाशो भवत्येतेनो हास्यासपत्नानुपबाधा श्रीर्भवति स वै द्वे पौर्ण-
मास्यौ यजते द्वेऽअमावास्ये द्वे वै मिथुनं मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते ॥६॥ अथ
यत्पूर्वेद्युः । अग्नीषोमीयेण यजते पौर्णमास्यां ते द्वे देवते द्वे वै मिथुनं मिथुनमे-
वैतत्प्रजननं क्रियते ॥७॥ अथ प्रातः । आग्नेयः पुरोडाशो भवत्यैन्द्रꣳ सांनाय्यं
ते द्वे देवते द्वे वै मिथुनं मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते ॥८॥ अथ यत्पूर्वेद्युः । ऐ-
न्द्राग्नेन यजतेऽमावास्यायां ते द्वे देवते द्वे वै मिथुनं मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते
॥९॥ अथ प्रातः । आग्नेयः पुरोडाशो भवति मैत्रावरुणी पयस्या नेद्यज्ञादयानी-
ति न्वेवाग्नेयः पुरोडाशोऽथैतावेव मित्रावरुणौ द्वे देवते द्वे वै मिथुनं मिथुनमे-

यज्ञ को समझकर करता है। इसलिए इस यज्ञ को अवश्य करे ॥२॥

प्रतीदर्श श्वैक्न ने भी इसी यज्ञ को किया। और जिन्होंने उसका अनुकरण किया उनके लिए वह विवचन (authority) से था। जो इस रहस्य को समझकर इस यज्ञ को करता है वह विवचन ही हो जाता है। इसलिए इस यज्ञ को अवश्य करे ॥३॥

सुप्ला सार्ञ्जय ब्रह्मचर्य व्रत के लिए उसके पास आया, इसलिए उसे यह यज्ञ और अन्य भी सिखाया। वह उनको सीखकर सार्ञ्जय वाले लोगों के पास (अपने देश में) चला गया। अब उन्होंने जान लिया कि यह हमारे लिए यज्ञ को सीखकर आया है। उन्होंने कहा, 'यह जो यज्ञ सीखकर आया है मानो 'देवों के साथ' आया है, इसलिए उसका सहदेव सार्ञ्जय नाम पड़ गया। अब तक यह कहावत चली आती है कि अरे सुप्ला का दूसरा नाम रख दिया गया। उसने उस यज्ञ को किया और जो सन्तान और वैभव इस यज्ञ के करने से सृञ्जयों को प्राप्त हुआ, उसी सन्तान को वह भी उत्पन्न करता है और उसी वैभव को प्राप्त होता है जो इस रहस्य को समझकर यह यज्ञ करता है। इसलिए इस यज्ञ को अवश्य करे ॥४॥

देवभाग श्रौतष ने भी यह किया था। वह कुरुओं और सृञ्जयों दोनों का पुरोहित था। जो एक राष्ट्र का पुरोहित होता है उसकी बड़ी पदवी होती है, और उसकी पदवी का क्या कहना जो दो राष्ट्रों का पुरोहित हो! जो इस रहस्य को समझकर इस यज्ञ को करता है वह उसी बड़ी पदवी को पाता है। इसलिए इस यज्ञ को अवश्य करे ॥५॥

दक्ष पार्वति ने भी यही यज्ञ किया था। और आज तक यह दाक्षायण (उसी की सन्तान) राज्य को पाये हुए हैं। जो कोई इस रहस्य को समझकर इस यज्ञ को करता है वह भी राज्य को पा जाता है। इसलिए इस यज्ञ को अवश्य करे। एक-एक पुरोडाश प्रतिदिन देना होता है। इसलिए उसकी श्री बिना सपत्नी के और बिना बाधा के होती है। वह पूर्णमासी के दो दिन और अमावस्या के दो दिन यज्ञ करता है। दो का नाम है जोड़ा। इस प्रकार वह उत्पन्न करनेवाले जोड़े से सम्पन्न हो जाता है ॥६॥

पूर्णमासी को पहले दिन अग्नि और सोम को एक पुरोडाश देता है। ये दो देवता हैं। दो का अर्थ है जोड़ा। इस प्रकार वह उत्पन्न करनेवाले जोड़े से सम्पन्न हो जाता है ॥७॥

दूसरे दिन अग्नि का पुरोडाश और इन्द्र का सान्नाय्य ये दो देवता हैं। दो का अर्थ है जोड़ा। इस प्रकार वह उत्पन्न करनेवाले जोड़े से सम्पन्न हो जाता है ॥८॥

अमावस्या को पहले दिन इन्द्र और अग्नि को पुरोडाश देता है। ये दो देवता हैं। दो का अर्थ है जोड़ा। इस प्रकार एक उत्पत्ति करनेवाले जोड़े से सम्पन्न हो जाता है ॥९॥

दूसरे दिन अग्नि के लिए पुरोडाश और मित्र-वरुण के लिए दही (पयस्या)। अग्नि का पुरोडाश केवल इसलिए कि वह यज्ञ से चला न जाय। मित्र और वरुण दो देवता हैं। दो का अर्थ है जोड़ा। वह इस प्रकार उत्पन्न करनेवाले जोड़े से सम्पन्न हो जाता है। यह उसका वह रूप है

वैतत्प्रजननं क्रियतऽएतद्ध ह्यस्य तद्रूपं येन बहुर्भवति येन प्रजायते ॥१०॥ अथ यत्पूर्वेद्युः । अग्नीषोमीयेण यजते पौर्णमास्यां यमेवामुमुपवसथेऽग्नीषोमीयं पशुमालभते स एवास्य सः ॥११॥ अथ प्रातः । आग्नेयः पुरोडाशो भवत्यैन्द्रꣳ सांनाय्यं प्रातःसवनमेवास्याग्नेयः पुरोडाश आग्नेयꣳ हि प्रातःसवनमथैन्द्रꣳ सांनाय्यं माध्यन्दिनमेवास्य तत्सवनमैन्द्रꣳ हि माध्यन्दिनꣳ सवनम् ॥१२॥ अथ यत्पूर्वेद्युः । ऐन्द्राग्नेन यजतेऽमावास्यायां तृतीयसवनमेवास्य तद्वैश्वदेवं वै तृतीयसवनमिन्द्राग्नी वै विश्वे देवाः ॥१३॥ अथ प्रातः । आग्नेयः पुरोडाशो भवति मैत्रावरुणी पयस्या नेद्यज्ञादयानीति न्वेवाग्नेयः पुरोडाशोऽथ यामेवामूं मैत्रावरुणीं वशामनूबन्ध्यामालभते सैवास्य मैत्रावरुणी पयस्या स पौर्णमासेन चामावास्येन चेष्ट्वा यावत्सौम्येनाध्वरेणेष्ट्वा जयति तावज्जयति तद्ध खलु महायज्ञो भवति ॥१४॥ अथ यत्पूर्वेद्युः । अग्नीषोमीयेण यजते पौर्णमास्यामेतेन वाऽइन्द्रो वृत्रमहन्नेतेनोऽएव व्यजयत यास्येयं विजितिस्तां तथोऽएवैष एतेन पाप्मानं द्विषन्तं भ्रातृव्यꣳ हन्ति तथोऽएव विजयतेऽथ यत्संनयत्यामावास्यं वै सांनाय्यं दूरे तद्यदमावास्येति क्षिप्रऽएवैतद्वृत्रं जघ्नुषे तमेतेन रसेनाप्रीणन्क्षिप्रे ह वै पाप्मानमपहते य एवं विद्वान्पौर्णमास्याꣳ संनयत्येष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमास्तमेतत्पूर्वेद्युरभिषुण्वन्ति प्रातर्भक्षयिष्यन्तस्तमेतद्भक्षयन्ति यदपक्षीयते ॥१५॥ अथ यत्पूर्वेद्युः । अग्नीषोमीयेण यजते पौर्णमास्यामभिषुणोत्येवैनमेतत्तस्मिन्नभिषुतऽएतꣳ रसं दधात्येतेन रसेन तीव्रीकरोति स्वदयति ह वै देवेभ्यो हव्यꣳ स्वदते ह्यस्य देवेभ्यो हव्यं य एवं विद्वान्पौर्णमास्याꣳ संनयति ॥१६॥ अथ यत्पूर्वेद्युः । ऐन्द्राग्नेन यजतेऽमावास्यायां दर्शपूर्णमासयोर्वै देवते स्त इन्द्राग्नीऽएव तेऽएवैतदञ्जसा प्रत्यक्षं यजत्यञ्जसा ह वाऽअस्य दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्टं भवति य एवमेतद्वेद ॥१७॥ अथ प्रातः । आग्नेयः पुरोडाशो भवति मैत्रावरुणी पयस्या नेद्यज्ञादयानी-

जिससे वह बहुत (या अनेक) हो जाता है जिससे उत्पन्न होता है ।।१०।।

और जो पूर्णमासी को पहले दिन अग्नि-सोम का पुरोडाश दिया जाता है, वह ऐसा ही है जैसा कि (सोम यज्ञ में) उपवास के दिन पशु-आलभन है ।।११।।

दूसरे दिन अग्नि का पुरोडाश और इन्द्र का सान्नाय्य । अग्नि का पुरोडाश वैसा ही है जैसा (सोम यज्ञ में) प्रातःकाल की आहुति, क्योंकि प्रातःकाल का सवन अग्नि का होता है। इन्द्र का सान्नाय्य वैसा ही है जैसा (सोम यज्ञ में) मध्य दिन का सवन, क्योंकि मध्य दिन का सवन इन्द्र का होता है ।।१२।।

अमावस्या को पहले दिन जो इन्द्र और अग्नि का पुरोडाश दिया जाता है वह वैसा ही है जैसा तृतीय सवन । क्योंकि तृतीय सवन विश्वेदेवों का है और वस्तुतः इन्द्र और अग्नि विश्वेदेव ही हैं ।।१३।।

और जो दूसरे दिन अग्नि के लिए पुरोडाश और मित्र-वरुण के लिए दही होता है, इसमें अग्नि का पुरोडाश केवल इसलिए है कि कहीं अग्नि यज्ञ को छोड़कर चला न जाय। और पयस्या अर्थात् दही मित्र और वरुण के लिए उसी प्रकार है जैसे (सोमयज्ञ में) मित्र और वरुण के लिए अनूबन्ध्या (बाँझ गाय) मारी जाती है। इस प्रकार पूर्णमासी और अमावस्या की इष्टियों से मनुष्य को उतना ही फल मिल जाता है जितना सोमयज्ञ से, क्योंकि यह महायज्ञ है ।।१४।।

और यह जो पूर्णमासी को पहले दिन अग्नि और सोम के लिए आहुति दी जाती है वह इसलिए है कि इन्द्र ने वृत्र को मारा था। इसी से उसको वह विजय प्राप्त हुई जो आज उसे प्राप्त है। इसी प्रकार यह (यजमान) भी इस यज्ञ से द्वेषी पापी शत्रु को मारता है और उस पर विजय प्राप्त करता है। और यह जो सान्नाय्य अर्थात् दूध और दही को मिलाना है, यह सान्नाय्य अमावस्या का है। अमावस्या का अर्थ है दूर होना। जिस (इन्द्र) ने वृत्र को मारा था उसको तुरन्त ही यह आहुति दी गई थी और तुरन्त ही उसको रस से प्रसन्न किया गया था। इसलिए जो पुरुष इस रहस्य को समझकर पूर्णमासी को सान्नाय्य बनाता है, वह तुरन्त ही पाप को दूर भगा देता है। यह जो चरु है वह सोम राजा और देवों का अन्न है। वे पहले दिन रस निकालते हैं कि दूसरे दिन खायेंगे। इसलिए जब (चाँद) क्षीण होने लगता है तो मानो (देव) उसको खाने लगते हैं ।।१५।।

और यह जो पूर्णमासी को पहले दिन अग्नि और सोम के लिए पुरोडाश दिया जाता है, मानो उस प्रकार वह सोम-रस निचोड़ लेते हैं। और निचोड़ने के पश्चात् उसमें मिलाता है और उस रस को तीव्र करता है। जो पुरुष इस भेद को समझकर पूर्णमासी को सान्नाय्य तैयार करता है वह मानो देवों के लिए हव्य को स्वादिष्ट बनाता है और उसका हव्य देवों के लिए स्वादिष्ट हो जाता है ।।१६।।

और यह जो अमावस्या को पहले दिन इन्द्र और अग्नि के लिए पुरोडाश दिया जाता है वह इसीलिए है कि इन्द्र और अग्नि अमावस्या और पूर्णमासी के देवता हैं। इन्हीं के लिए वह सीधा प्रत्यक्ष रूप से हव्य देता है। और जो इस भेद को समझता है वह दर्श और पूर्णमास की इष्टियों को करता है ।।१७।।

और दूसरे दिन अग्नि का पुरोडाश होता है और मित्र और वरुण के लिए पयस्या (दही)।

ति न्वेवाग्नेयः पुरोडाशोऽथैताविवार्धमासौ मित्रावरुणौ य एवापूर्यते स वरुणो योऽपक्षीयते स मित्रस्तावेताꣳ रात्रिमुभौ समागच्छतस्तदुभावेवैतत्सह सन्तौ प्रीणाति सर्वꣳ ह वाऽअस्य प्रीतं भवति सर्वमाप्तं य एवमेतद्वेद ॥१८॥ तद्वाऽएताꣳ रात्रिं । मित्रो वरुणे रेतः सिञ्चति तदेतेन रेतसा प्रजायते यदापूर्यते तस्यदेषात्र मैत्रावरुणी पयस्यावक्लृप्ततमा भवति ॥१९॥ सांनाय्यभाजना वाऽअमावास्या । तददस्तत्पौर्णमास्यां क्रियते स यद्धात्रापि संनयेज्जामि कुर्यात्समदं कुर्यात्तदेनमद्ध्य ओषधिभ्यः सम्भृत्याहुतिभ्योऽधिजनयति स एष आहुतिभ्यो जातः पश्चाद्ददृशे ॥२०॥ मिथुनाद्विद्वाऽएनमेतत्प्रजनयति । योषा पयस्या रेतो वाजिनं तद्वाऽअनुष्ठ्या यन्मिथुनाज्जायते तदेनमेतस्मान्मिथुनात्प्रजननात्प्रजनयति तस्मादेषात्र पयस्या भवति ॥२१॥ अथ वाजिभ्यो वाजिनं जुहोति । ऋतवो वै वाजिनो रेतो वाजिनं तदनुष्ठ्येवैतद्रेतः सिच्यते तदृतवो रेतः सिक्तमिमाः प्रजाः प्रजनयन्ति तस्माद्वाजिभ्यो वाजिनं जुहोति ॥२२॥ स वै पश्चादिव यज्ञस्य जुहोति । पश्चाद्धि परीत्य वृषा योषामधिद्रवति तस्याꣳ रेतः सिञ्चति स वै प्रागेवाग्रे जुहोत्यग्ने वीहीत्यनुवषट्करोति तत्स्विष्टकृद्भाजनꣳ स वै प्रागेव जुहोति ॥२३॥ अथ दिशो व्याघारयति । दिशः प्रदिश आदिशो विदिश उद्दिशो दिग्भ्यः स्वाहेति पञ्च दिशः पञ्चऽर्तवस्तदृतुभिरेवैतद्दिशो मिथुनीकरोति ॥२४॥ तद्वै पञ्चैव भक्षयन्ति । होता चाध्वर्युश्च ब्रह्मा चाग्नीध्रश्च यजमानः पञ्च वाऽऋतवस्तदृतूनामेवैतद्रूपं क्रियते तदृतुष्वेवैतद्रेतः सिक्तं प्रतिष्ठापयति प्रथमो यजमानो भक्षयति प्रथमो रेतः परिगृह्णानीत्यथोऽअप्युत्तमो मय्युत्तमे रेतः प्रतितिष्ठादित्युपह्वत उपह्वयस्वेति सोममेवैतत्कुर्वन्ति ॥२५॥ ब्राह्मणम् ॥१ [४.४.]॥ अध्यायः ॥४ [१३.]॥ ॥

प्रजापतिर्ह वाऽइदमग्रऽएक एवास । स ऐक्षत कथं नु प्रजायेयेति सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत स प्रजा असृजत ता अस्य प्रजाः सृष्टाः पराबभूवुस्तानीमानि

अब अग्नि का पुरोडाश इसीलिए है कि अग्नि यज्ञ को छोड़कर न चला जाय। मित्र और वरुण अर्धमास हैं। बढ़ता हुआ वरुण है और घटता हुआ मित्र। उस (अमावस्या की) रात्रि को वे दोनों मिलते हैं। और जब वे मिलते हैं तब (यजमान) दोनों को प्रसन्न करता है। जो इस रहस्य को समझता है सब उससे प्रसन्न रहते हैं और उसको सब-कुछ प्राप्त होता है ॥१८॥

उसी रात को मित्र वरुण में वीर्य सींचता है। और जब यह (चन्द्र) घटता है तो फिर उसी वीर्य से उत्पन्न होता है। यह जो मित्र और वरुण की पयस्या (दही) है, वह (सान्नाय्य के) समान है ॥१९॥

अमावस्या सान्नाय्य के ही योग्य है। यह (अमावस्या को भी) और पूर्णमासी को भी तैयार किया जाता है। अब यदि वह यहाँ भी (अर्थात् पूर्णमासी को भी) सान्नाय्य बनावे तो दुहराने के दोष का भागी हो और देवताओं में झगड़ा हो जाय। इस (सोम) को जलों और ओषधियों से इकट्ठा करके आहुतियों में होकर उत्पन्न करता है। और यह (सोम या चाँद) आहुतियों से उत्पन्न होकर पश्चिम की ओर चमकता है ॥२०॥

इसको जोड़े से उत्पन्न करता है। पयस्या स्त्री है और मट्ठा वीर्य है। जो जोड़े से उत्पन्न होता है वह ठीक होता है। इसलिए वह इसको जोड़े से उत्पन्न करता है और इसीलिए यहाँ पयस्या तैयार की जाती है ॥२१॥

अब मट्ठे की आहुति दोनों घोड़ों (वाजियों) के लिए दी जाती है। घोड़े (वाजी) ऋतुएँ हैं और (वाजी) मट्ठा वीर्य है। यह वीर्य अनुष्ठान से सींचा जाता है। सींचे हुए वीर्य से ऋतुएँ इन प्रजाओं को उत्पन्न करती हैं। इसीलिए 'वाजी' घोड़े के लिए 'वाजी' मट्ठे की आहुति देता है। ('वाजी' घोड़े को भी कहते हैं और मट्ठे को भी) ॥२२॥

वह यज्ञ के पीछे की ओर से आहुति देता है। पीछे की ओर से ही पुरुष स्त्री के पास जाता और वीर्य-सिंचन करता है। वह पहले पूर्व की ओर आहुति देता है। 'अग्ने वीहि' (हे अग्नि, स्वीकार करो) यह पढ़कर वषट्कार को दुहराता है। यह स्विष्टकृत् के बदले में है। इसको पूर्व की ओर देता है ॥२३॥

अब वह इस मन्त्र से दिशाओं के लिए आहुति देता है—'दिशः प्रदिशऽआदिशो विदिशऽउद्दिशो दिग्भ्यः स्वाहा' (यजु० ६।१९)। पाँच दिशाएँ हैं और पाँच ऋतुएँ। इस प्रकार दिशाओं का जोड़ा मिलाता है ॥२४॥

(चमसे में जो मट्ठा बच रहता है उसे) पाँच लोग चखते हैं—होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा, आग्नीध्र और यजमान। पाँच ही तो ऋतुएँ हैं। इस प्रकार वह ऋतुओं का तद्रूप हो जाता है। और जो वीर्य सींचा जाता है वह प्रतिष्ठित हो जाता है। यजमान (यह सोचते हुए) पहले चखता है कि मुझे पहले वीर्य की प्राप्ति हो। और वह पीछे भी चखता है कि मुझमें वीर्य अन्त तक रहे। 'उपहूत उपह्वयस्व' कहकर वह इस (मट्ठे) को सोम बना लेता है ॥२५॥

चातुर्मास्यानि

अध्याय ५—ब्राह्मण १

पहले केवल प्रजापति ही था। उसने सोचा कि कैसे प्रजा उत्पन्न करूँ? उसने श्रम किया और तप तपा। उसने प्रजा उत्पन्न की। वह उत्पन्न हुई प्रजा गुज़र गई। यह वे पक्षी हैं। पुरुष

वयाꣳसि पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठं द्विपाद्वाऽअयं पुरुषस्तस्माद्द्विपादो वयाꣳसि ॥१॥ स ऐक्षत प्रजापतिः । यथा न्वेव पुरैकोऽभूवमेवमु न्वेवाप्येतर्ह्येक एवास्मीति स द्वितीयाः ससृजे ता अस्य परैव बभूवुस्तदिदं क्षुद्रꣳ सरीसृपं यदन्यत्सर्पेभ्यस्तृतीयाः ससृजऽइत्याहुस्ता अस्य परैव बभूवुस्तऽइमे सर्पा एता ह त्वेव द्वयीर्याज्ञवल्क्य उवाच त्रयीरु तु पुनरृचा ॥२॥ सोऽर्चञ्छ्राम्यन्प्रजापतिरीक्षां चक्रे । कथं नु मे प्रजाः सृष्टाः पराभवन्तीति स हैतदेव ददर्शानशनतया वै मे प्रजाः पराभवन्तीति स आत्मन एवाग्रे स्तनयोः पय आप्याययां चक्रे स प्रजा असृजत ता अस्य प्रजाः सृष्टा स्तनावेवाभिपद्य तास्ततः सम्बभूवुस्ता इमा अपराभूताः ॥३॥ तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तं । प्रजा ह तिस्रोऽअत्यायमीयुरिति तद्याः पराभूतास्ता एवैतदभ्यनूक्तं न्यन्या अर्कमभितो विविश्रऽइत्यग्निर्वाऽअर्कस्तद्या इमाः प्रजा अपराभूतास्ता अग्निमभितो निविष्टास्ता एवैतदभ्यनूक्तम् ॥४॥ महद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तरिति । प्रजापतिमेवैतदभ्यनूक्तं पवमानो हरित आविवेशेति दिशो वै हरितस्ता अयं वायुः पवमान आविष्टस्ता एवैषऽर्गभ्यनूक्ता ता इमाः प्रजास्तथैव प्रजायन्ते यथैव प्रजापतिः प्रजा असृजतेदꣳ हि यदैव स्त्रियै स्तनावाप्यायेतेऽऊधः पशूनामथैव यज्जायते तज्जायते तास्तत स्तनावेवाभिपद्य सम्भवन्ति ॥५॥ तद्वै पय एवान्नम् । एतद्ध्यग्रे प्रजापतिरन्नमजनयत तद्वाऽअन्नमेव प्रजा अन्नाद्धि सम्भवन्तीदꣳ हि यासां पयो भवति स्तनावेवाभिपद्य तास्ततः सम्भवन्त्यथ यासां पयो न भवति जातमेव ता अथादयन्ति तद्व ता अन्नादेव सम्भवन्ति तस्मादन्नमेव प्रजाः ॥६॥ स यः प्रजाकामः । एतेन हविषा यजतऽआत्मानमेवैतद्यज्ञं विधत्ते प्रजापतिं भूतꣳ ॥७॥ ॥ शतम् १२०० ॥ ॥ स वाऽआग्नेयोऽष्टाकपालः पुरोडाशो भवति । अग्निर्वै देवतानां मुखं प्रजनयिता स प्रजापतिस्तस्मादाग्नेयो भवति ॥८॥ अथ सौम्यश्चरुर्भवति । रेतो वै सोमस्तदग्नौ प्रजनयितरि

प्रजापति के निकटतम है। पुरुष के दो पैर होते हैं, इसलिए चिड़ियों के भी दो पैर होते हैं ॥१॥

प्रजापति ने सोचा कि मैं पहले भी अकेला था और अब भी अकेला हूँ। इसलिये उसने दुबारा सृष्टि की। वह भी गुजर गई। ये वे कीड़े हैं जो साँप के अतिरिक्त हैं। कहते हैं कि उसने तीसरी बार सृष्टि की। वह भी गुजर गई। वे साँप हैं। याज्ञवल्क्य उसको दो प्रकार के बताते हैं, परन्तु ऋग्वेद के अनुसार तीन प्रकार के हैं ॥२॥

प्रजापति ने पूजा और श्रम करते हुए सोचा कि मेरी बनाई प्रजा गुजर कैसे जाती है? तब उसे मालूम हुआ कि मेरी प्रजा बिना भोजन के मर जाती है। इसलिये उसने अपने स्तनों में पहले से ही दूध भर दिया। तब उसने प्रजा उत्पन्न की, और यह उत्पन्न प्रजा स्तनों का दूध पीकर जीती रही। ये वे हैं जो मरे नहीं ॥३॥

इसीलिये ऋषि ने ऐसा कहा—"प्रजा ह तिस्रोऽअत्यायमीयुः" (ऋ० ८।१०१।१४)—"तीन प्रजायें मर चुकीं" यह उसके लिए कहा गया जो मर चुकीं। "न्यन्याऽअर्कमभितो विविश्रे" (ऋ० ८।१०१।१४)--"दूसरी आग (प्रकाश) के चारों ओर बस गई।" 'अग्नि' ही 'अर्क' है। इसलिये कहा कि जो प्रजा जीती रही वह अग्नि के चारों ओर बस गई ॥४॥

"महद्ध (बृहद्ध) तस्थौ भुवनेष्वन्तः" (ऋ० ८।१०१।१४)—"महान् (आत्मा) भुवनों के भीतर रही।" यह प्रजापति के विषय में कहा गया। "पवमानो हरितऽआविवेश" (ऋग्वेद ८।१०१।१४)—"पवमान (पवित्र करनेवाला वायु) देशों में प्रवेश हो गया।" 'हरित' का अर्थ है दिशाएँ। 'पवमान' यह हवा है। यह हवा ही दिशाओं में भर गई। इसी का ऋचा में संकेत है। जिस प्रकार प्रजापति ने इन प्रजाओं को उत्पन्न किया, उसी प्रकार ये उत्पन्न होते हैं। क्योंकि जब स्त्रियों और पशुओं के थनों में दूध आ जाता है तभी बच्चा पैदा होता है, और स्तन को पीकर ही वे जीते हैं ॥५॥

यह दूध ही अन्न है, क्योंकि प्रजापति ने पहले इसी भोजन को उत्पन्न किया। अन्न ही प्रजा है क्योंकि अन्न ही से यह उत्पन्न होती हैं। जिनके स्तनों में दूध है उसको पीकर ही वे जीते हैं। और जिनके दूध नहीं होता वे अपने बच्चों को जन्मते ही 'चुगा' देते हैं। इस प्रकार वे अन्न से ही जीते हैं, इसलिये अन्न ही प्रजा है ॥६॥

जो सन्तान की कामना करता है वह इस हवि से यज्ञ करता है। इस प्रकार अपने को प्रजापतिरूपी यज्ञ बना लेता है ॥७॥

अग्नि का पुरोडाश आठ कपालों में होता है। अग्नि ही देवतागणों का मुख और उत्पादक है। वह प्रजापति है। इसलिए अग्नि के लिए पुरोडाश होता है ॥८॥

इसके पीछे सोम का चरु होता है। सोम वीर्य है और वह उत्पादक अग्नि में है। वह

सोमꣳ रेतः सिञ्चति तत्पुरस्तान्मिथुनं प्रजननम् ॥९॥ अथ सावित्रः । द्वादशक-
पालो वाष्टाकपालो वा पुरोडाशो भवति सविता वै देवानां प्रसविता प्रजाप-
तिर्मध्यतः प्रजनयिता तस्मात्सावित्रो भवति ॥१०॥ अथ सारस्वतश्चरुर्भवति ।
पौष्णश्चरुर्योषा वै सरस्वती वृषा पूषा तत्पुनर्मिथुनं प्रजननमेतस्माद्वाऽउभयतो
मिथुनात्प्रजननात्प्रजापतिः प्रजाः ससृजऽइतश्चोर्ध्वा इतश्चावाचीस्तथोऽएवैष एत-
स्मादुभयत एव मिथुनात्प्रजननात्प्रजाः सृजतऽइतश्चोर्ध्वा इतश्चावाचीस्तस्माद्वाऽए-
तानि पञ्च हवीꣳषि भवन्ति ॥११॥ अथातः पयस्याया एवायतनं । मारुतस्तु स-
प्तकपालो विशो वै मरुतो देवविशस्ता हैदमनिषेद्धा-इव चेरुस्ताः प्रजापतिं य-
जमानमुपेत्योचुर्वि वै ते मथिष्यामहऽइमाः प्रजा या एतेन हविषा स्रक्ष्यसऽइति
॥१२॥ स ऐक्षत प्रजापतिः । परा मे पूर्वाः प्रजा अभूवन्निमा उ चेदिमे विमथ्नते
न ततः किं चन परिशेक्ष्यतऽइति तेभ्य एतं भागमकल्पयदेतं मारुतꣳ सप्तकपा-
लं पुरोडाशꣳ स एष मारुतः सप्तकपालस्तद्यत्सप्तकपालो भवति सप्त-सप्त हि
मारुता गणास्तस्मान्मारुतः सप्तकपालः पुरोडाशो भवति ॥१३॥ तं वै स्वतवो-
भ्य इति कुर्यात् । स्वयꣳ हि तऽएतं भागमकुर्वततो स्वतवोभ्यो याज्यानुवाक्ये
न विन्दन्ति स उ खलु मारुत एव स्यात्स वाऽएष प्रजाभ्य एवाहिꣳसायै क्रियते
तस्मान्मारुतः ॥१४॥ अथातः पयस्यैव । पयसो वै प्रजाः सम्भवन्ति पयसः सम्भू-
तास्तद्यत एव सम्भूता यतः सम्भवन्ति तदेवाभ्य एतत्करोति तद्याः पूर्वैर्हविर्भिः
प्रजाः सृजते ता एतस्मात्पयस एतस्यै पयस्यायै सम्भवन्ति ॥१५॥ तस्यां मिथुनम-
स्ति । योषा पयस्या रेतो वाजिनं तस्मान्मिथुनाद्विश्वमसंमितमनु प्राजायत तद्य-
देतस्मान्मिथुनाद्विश्वमसंमितमनु प्राजायत तस्माद्वैश्वदेवी भवति ॥१६॥ अथ द्या-
वापृथिव्य एककपालः पुरोडाशो भवति । एतैर्वै हविर्भिः प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा
ता द्यावापृथिवीभ्यां पर्यगृह्णात्ता इमा द्यावापृथिवीभ्यां परिगृहीतास्तथोऽएवैष

अग्नि उस सोम या वीर्य को सींचता है। इस प्रकार उत्पादक जोड़ा होता है ॥६॥

अब आठ या बारह कपालों में सविता के लिए पुरोडाश होता है। सविता देवों का प्रेरक है। वह प्रजापति है। बीच का जनक है। इसलिये पुरोडाश होता है ॥१०॥

अब सरस्वती के लिए चरु आता है, और एक चरु पूषा के लिए। सरस्वती स्त्री है और पूषा पुरुष। इस प्रकार जननेवाला जोड़ा मिल गया। इस प्रकार दो प्रकार के जोड़ों के मिलने से प्रजापति ने प्रजा को उत्पन्न किया–एक से ऊपर की और एक से नीचे की। इसलिये इनके पाँच हवियाँ होती हैं (अर्थात् १. अग्नि का पुरोडाश, २. सोम का चरु, ३. सविता का पुरोडाश, ४. सरस्वती की चरु, ५. पूषा का चरु) ॥११॥

अब इसके पश्चात् पयस्या का आयतन एवं मरुत् का सात कपालों का पुरोडाश। मरुत् हैं वैश्य अर्थात् देवों के आदमी। वे स्वतन्त्र फिरते थे। जब प्रजापति यज्ञ कर रहा था तो उन्होंने उसके पास जाकर कहा––'तू इस यज्ञ के द्वारा जो प्रजा उत्पन्न करेगा, उसे हम नष्ट कर डालेंगे' ॥१२॥

प्रजापति ने सोचा कि मेरी पहली प्रजायें तो मर चुकीं। यदि (मरुत्) इस प्रजा को भी मार डालेंगे, तो कुछ न बचेगा। इसलिये उसने उनके लिए अलग भाग रख दिया, अर्थात् सात कपालों में मरुत् के लिए पुरोडाश। ये सात कपाल इसलिए होते हैं कि मरुत् लोगों के सात-सात के गण* होते हैं। इसलिये मरुतों के सात कपाल होने हैं ॥१३॥

'स्वतवोभ्यः' (अपने स्वत्व को बढ़ानेवालों के लिए) ऐसा कहकर आहुति देनी चाहिए, क्योंकि उन्होंने अपने स्वत्व को ले लिया। परन्तु यदि याज्ञिकों को याज्य-अनुवाक्य न मिले तो केवल 'मरुतों के लिए' ऐसा कर देवें। यह प्रजा की अहिंसा के लिए किया जाता है, इसलिये मरुतों के लिए होता है ॥१४॥

अब इसके बाद पयस्या की आहुति। दूध से ही प्रजाएँ पलती हैं, दूध से ही प्रजाएँ पली थीं। इसलिये वह अब उनके लिए उसी की आहुति देता है जिसके द्वारा वे पली थीं। जिसको प्रजापति ने पहली हवियों से उत्पन्न किया, वे दूध से ही पलती हैं अर्थात् उसी पयस्या से ॥१५॥

इसमें जोड़ा हो जाता है। पयस्या स्त्री है और मट्ठा वीर्य है। इसी जोड़े से क्रमानुसार अनन्त विश्व उत्पन्न हुआ। और चूंकि इस जोड़े से विश्वदेव उत्पन्न हुआ इसलिए इसको 'वैश्व-देवी' अर्थात् सब देवों की आहुति कहते हैं ॥१६॥

अब एक कपाल पर द्यावापृथिवी की आहुति होती है। इन्हीं हवियों से प्रजापति ने प्रजा को उत्पन्न करके द्यौ और पृथिवी के बीच में रख दिया, इसलिये ये द्यौ और पृथिवी के बीच

---

* त्रिः षष्टिस्त्वा मरुतो वावृधाना उस्रा इव राशयो यज्ञियासः। उप त्वेमः कृधि नो भागधेयं शुष्मं त एना हविषा विधेम (ऋ० ८।९६।८)। यहाँ ६३ मरुत् हैं। उनके सात-सात के नौ गण हुए।

एतच्च एतैर्हविर्भिः प्रजाः सृजते ता द्यावापृथिवीभ्यां परिगृह्णाति तस्माद्द्यावापृथिव्य एककपालः पुरोडाशो भवति ॥१७॥ अथात आवृदेव । नोपकिरन्त्युत्तरवेदिं विसृष्टमसत्सर्वमसद्वैश्वदेवमसदिति त्रेधा बर्हिः संनद्धं भवति तत्पुनरेकधे-तद्धि प्रजननस्य रूपं प्रजननमु हीदं पिता माता यज्जायते तत्तृतीयं तस्मात्त्रेधा सत्पुनरेकधा प्रस्व उपसंनद्धा भवन्ति तं प्रस्तरं गृह्णाति प्रजननमु हीदं प्रजननमु हि प्रस्वस्तस्मात्प्रसूः प्रस्तरं गृह्णाति ॥१८॥ आसाद्य हवींष्यग्निं मन्थन्ति । अग्निं ह वै जायमानमनु प्रजापतेः प्रजा जज्ञिरे तथोऽ एवैतस्याग्निमेव जायमानमनु प्रजा जायन्ते तस्मादासाद्य हवींष्यग्निं मन्थन्ति ॥१९॥ नवप्रयाजं भवति । नवानुयाजं दशाक्षरा वै विराडथैतामुभयतो न्यूनां विराजं करोति प्रजननायैतस्माद्वाऽ उभयतो न्यूनात्प्रजननात्प्रजापतिः प्रजाः ससृजऽ इतश्चोर्ध्वा इतश्चावाचीस्तथोऽ एवैष एतस्मादुभयत एव न्यूनात्प्रजननात्प्रजाः सृजतऽ इतश्चोर्ध्वा इतश्चावाचीस्तस्मान्नवप्रयाजं भवति नवानुयाजम् ॥२०॥ त्रीणि समिष्टयजूंषि भवन्ति । न्याय इव हीदं हविर्यज्ञाद्यत्र नवप्रयाजं नवानुयाजमथोऽ अप्येकमेव स्याद्धविर्यज्ञो हि तस्य प्रथमजो गौर्दक्षिणा ॥२१॥ एतेन वै प्रजापतिः यज्ञेनेष्ट्वा । येयं प्रजापतेः प्रजातिर्या श्रीरेतद्बभूवैतां ह वै प्रजातिं प्रजायतऽ एतां श्रियं गच्छति य एवं विद्वानेतेन यज्ञेन यजते तस्माद्वाऽ एतेन यजेत ॥२२॥ ब्राह्मणम् ॥ २[५.१.]॥॥

वैश्वदेवेन वै प्रजापतिः । प्रजाः ससृजे ता अस्य प्रजाः सृष्टा वरुणस्य यवाञ्जक्षुर्वरुण्यो ह वाऽ अग्रे यवस्तद्यन्निव वरुणस्य यवान्प्रादस्तस्माद्वरुणप्रघासा नाम ॥१॥ ता वरुणो जग्राह । ता वरुणगृहीताः परिदीर्णा अनत्यश्च प्राणत्यश्च शिश्यिरे च निषेदुश्च प्राणोदानौ हैवाभ्यो नापचक्रमतुरथान्याः सर्वा देवता अपचक्रमुस्तयोर्हैवास्य हेतोः प्रजा न पराबभूवुः ॥२॥ ता एतेन हविषा प्रजापतिरभिषज्यत् । तद्याश्चैवास्य प्रजा जाता आसन्याश्चाजातास्ता उभयीर्वरुणपाशा-

में रक्खे हुए हैं। जो कोई इन आहुतियों से कोई आहुति देता है वह प्रजा को उत्पन्न करके द्यौ और पृथिवी के बीच में रख देता है। इसलिये द्यावापृथिवी का एक कपाल होता है ॥१७॥

अब इसके पीछे कार्यक्रम कहते हैं। उत्तर-वेदि नहीं बनाते जिससे यह परिमित न हो; पूर्ण हो और विश्वेदेवों की हो। बर्हि को तीन गट्ठों में बाँधते हैं, फिर एक में कर लेते हैं। उत्पत्ति का यही रूप है। माता-पिता दो होते हैं। जो सन्तान उत्पन्न होती है वह तीसरी होती है। इसलिये जो त्रित्व है वह पीछे से एक हो जाता है। बर्हि के फूले हुए सिरे (प्रस्वः) बँधे होते हैं। उनको वह प्रस्तर के रूप में ग्रहण करता है, क्योंकि यह जलनेवाला संयोग है। फूले हुए बर्हि उत्पन्न करनेवाले होते हैं। यही कारण है कि वह फूले हुए कुशों को प्रस्तर के रूप में ग्रहण करता है ॥१८॥

हवियों को रखकर अग्नि को मथता है। अग्नि के उत्पन्न होने के पश्चात् ही प्रजापति की प्रजा हुई। इसी प्रकार इस यजमान के भी अग्नि के उत्पन्न होने पर ही प्रजा होगी। यही कारण है कि वह हवियों को रखने के पश्चात् अग्नि का मन्थन करते हैं ॥१९॥

नौ प्रयाज होते हैं और नौ अनुयाज। विराट् छन्द में दस अक्षर होते हैं। इसलिये वह दोनों बार विराट् से न्यून (दस से कम नौ बार) ही जनने के लिए लेता है। क्योंकि प्रजापति ने न्यून प्रजनन से ही दो बार उत्पत्ति की, ऊपर की ओर और नीचे की ओर, इसीलिए नौ प्रयाज होते हैं और नौ अनुयाज ॥२०॥

तीन समिष्ट-यजुष् होते हैं, क्योंकि यह हविर्यज्ञ से बड़ा होता है, क्योंकि इसमें नौ प्रयाज होते हैं और नौ अनुयाज। समिष्ट-यजुष् एक भी हो सकता है; तब यह हविर्यज्ञ ही होता है। इसकी दक्षिणा पहलौटी गौ होती है ॥२१॥

जो इस रहस्य को समझकर इस यज्ञ को करता है, उसको वही प्रजा उत्पन्न होती है और वही श्री प्राप्त होती है जो प्रजापति के यज्ञ करने से प्रजा उत्पन्न हुई और श्री उसको प्राप्त हुई ॥२२॥

अध्याय ५—ब्राह्मण २

प्रजापति ने वैश्वदेव यज्ञ करके ही प्रजा उत्पन्न की। वह उससे उत्पन्न हुई प्रजा वरुण के जौ को खा गई। जौ पहले वरुण का ही था। चूंकि उन्होंने वरुण के जौ खाये, इसलिये इस यज्ञ का नाम 'वरुण प्राघास' पड़ा ॥१॥

वरुण ने उनको पकड़ लिया। वरुण से पकड़े जाकर वे सूज गये, और वे लेट गये तथा साँस बाहर-भीतर लेते हुए बैठे रहे। केवल प्राण और उदान ने उनको न छोड़ा; और सब देवता छोड़ गये, और इन्हीं दो के कारण प्रजा मरी नहीं ॥२॥

प्रजापति ने इस हवि के द्वारा उनको चंगा किया। और जो प्रजा उत्पन्न हो चुकी थी और जो अभी उत्पन्न नहीं हुई थी, उस सबको वरुण के जाल से मुक्त कर दिया, और उसकी

त्प्रामुञ्चत्ता अस्यानमीवा अकिल्विषाः प्रजाः प्राजायत ॥३॥ अथ यदेष एतैश्चतु-
र्थे मासि यजते । तन्नाह न्वेवैतस्य तथा प्रजा वरुणो गृह्णातीति देवा अकुर्व-
न्निति न्वेवैष एतत्करोति याश्च न्वेवास्य प्रजा जाता याश्चाजातास्ता उभयीर्वरु-
णपाशात्प्रमुञ्चति ता अस्यानमीवा अकिल्विषाः प्रजाः प्रजायते तस्माद्वाऽएष ए-
तैश्चतुर्थे मासि यजते ॥४॥ तद्वै द्वे वेदी द्वावग्नी भवतः । तद्यद्वे वेदी द्वावग्नी भ-
वतस्तदुभयत एवैतद्वरुणपाशात्प्रजाः प्रमुञ्चतीतश्चोर्ध्वा इतश्चावाचीस्तस्माद्वे वेदी
द्वावग्नी भवतः ॥५॥ स उत्तरस्यामेव वेदौ । उत्तरवेदिमुपकिरति न दक्षिणस्यां
क्षत्रं वै वरुणो विशो मरुतः क्षत्रमेवैतद्विश उत्तरं करोति तस्मादुपर्यासीनं क्ष-
त्रियमधस्तादिमाः प्रजा उपासते तस्मादुत्तरस्यामेव वेदाऽउत्तरवेदिमुपकिरति न
दक्षिणस्याम् ॥६॥ अथैतान्येव पञ्च हवींऽषि भवन्ति । एतैर्वै हविर्भिः प्रजाप-
तिः प्रजा असृजतैतैरुभयतो वरुणपाशात्प्रजाः प्रामुञ्चदितश्चोर्ध्वा इतश्चावाचीस्त-
स्माद्वाऽएतानि पञ्च हवींऽषि भवन्ति ॥७॥ अथैन्द्राग्नो द्वादशकपालः पुरोडाशो
भवति । प्राणोदानौ वाऽइन्द्राग्नी तद्यथा पुण्यं चक्षुषे पुण्यं कुर्यादेवं तत्तयोर्हि-
वास्य हेतोः प्रजा न पराबभूवुस्तत्प्राणोदानाभ्यामेवैतत्प्रजा भिषज्यति प्राणोदा-
नौ प्रजासु दधाति तस्मादैन्द्राग्नो द्वादशकपालः पुरोडाशो भवति ॥८॥ उभयत्र
पयस्ये भवतः । पयसो वै प्रजाः सम्भवन्ति पयसः सम्भूतास्तद्यत एव सम्भूता
यतः सम्भवन्ति तत एवैतदुभयतो वरुणपाशात्प्रजाः प्रमुञ्चतीतश्चोर्ध्वा इतश्चावा-
चीस्तस्मादुभयत्र पयस्ये भवतः ॥९॥ वारुण्युत्तरा भवति । वरुणो ह वाऽअस्य
प्रजा अगृह्णात्तत्प्रत्यक्षं वरुणपाशात्प्रजाः प्रमुञ्चति मारुती दक्षिणाजामितायै न्वे-
व मारुती भवति जामि ह कुर्याद्यदुभे वारुण्यौ स्यातामतो ह वाऽअस्य दक्षि-
णतो मरुतः प्रजा अजिघांऽसंस्तानेतेन भागेनाशमयंस्तस्मान्मारुती दक्षिणा ॥१०॥
तयोरुभयोरेव करीराण्यावपति । कं वै प्रजापतिः प्रजाभ्यः करीरैरकुरुत कमेवै-

प्रजा रोगरहित और दोषरहित उत्पन्न हुई ।।३।।

यह यजमान जो चौथे मास में यज्ञ करता है, वह इसलिये करता है कि प्रजा वरुण के जाल से बची रहे, या चूँकि देवों ने यह यज्ञ किया था, और वह जो सन्तान उत्पन्न हो चुकी और जो होनेवाली है उसको वरुण के जाल से मुक्त कर देता है और उसकी सन्तान निर्दोष और नीरोग उत्पन्न होती है, इसलिये वह चौथे मास में (वरुण प्रघास यज्ञ) करता है ।।४।।

इस (यज्ञ) में दो वेदियाँ होती हैं और दो अग्नियाँ। दो वेदियाँ और दो अग्नियाँ क्यों होती हैं ? इसलिये कि वह दोनों ओर से प्रजा को वरुण के जाल से छुड़ा देता है, ऊपर की भी और नीचे की भी। इसलिये दो वेदियाँ और दो अग्नियाँ होती हैं ।।५।।

उत्तर की दिशा में उत्तर की वेदी बनाई जाती है, दक्षिण की दिशा में नहीं। वरुण क्षत्रिय है और मरुत् वैश्य लोग। वह इस प्रकार क्षत्रियों को वैश्यों से उच्च ठहराता है, इसीलिये क्षत्रियों को उच्च आसन पर बिठाकर सर्वसाधारण उनकी पूजा करते हैं। यही कारण है कि उत्तर की दिशा में वेदी बनाते हैं, दक्षिण की दिशा में नहीं ।।६।।

पहले पाँच हवियाँ होती हैं। क्योंकि इन पाँच हवियों के द्वारा ही प्रजापति ने प्रजायें उत्पन्न कीं और इन्हीं के द्वारा प्रजाओं को दोनों ओर से वरुण के जाल से बचाया, वे जो ऊपर की ओर थे और जो नीचे की ओर। यही कारण है कि पाँच हवियाँ होती हैं ।।७।।

अब इन्द्र-अग्नि के लिए बारह कपालों में पुरोडाश दिया जाता है। इन्द्र-अग्नि वस्तुतः प्राण और उदान हैं। यह एक प्रकार से उसके लिए पुण्य करना है जिसने पुण्य किया। क्योंकि इन्हीं दो के कारण प्रजा मरी नहीं। इसलिए अब वह अपनी प्रजा को प्राण और उदान के द्वारा चंगा करता है। प्रजाओं में प्राण और उदान को स्थापित करता है। इसलिये बारह कपालों का पुरोडाश इन्द्र और अग्नि के लिए होता है ।।८।।

दोनों (अग्नियों) के लिए पयस्या की आहुतियाँ होती हैं। दूध से ही प्रजा जीती है और दूध से ही जीते रहे। इसलिये उसी वस्तु के द्वारा जिससे वे बचे रहे और जिससे वे पलते हैं, वह उनको वरुण के जाल से दोनों ओर छुड़ाता है, ऊपर की ओर से और नीचे की ओर से। इसलिये दोनों (अग्नियों) के लिए पयस्या की आहुति होती है ।।९।।

उत्तर की हवि वरुण के लिए होती है। क्योंकि वरुण ने ही तो उसकी प्रजा पकड़ी थी। इसलिये वह प्रत्यक्ष ही वरुण के जाल से प्रजा को छुड़ाता है। दक्षिण की हवि मरुतों के लिए होती है। एक-सी न हो, इसलिये मरुतों के लिए होती है। यदि दोनों आहुतियाँ वरुण के लिए होतीं तो एक-सी हो जातीं। दक्षिण से ही मरुतों ने प्रजा को मारना चाहा था और उसी भाग से (प्रजापति ने) उनको शान्त किया। इसलिये दक्षिण की आहुति मरुतों की होती है ।।१०।।

उन दोनों आहुतियों के ऊपर करीर-फल* (करीराणि) डालता है। प्रजापति ने करीर-फल से ही प्रजाओं को सुखी (संस्कृत में 'क' का अर्थ सुख है) किया। इसलिये वह प्रजाओं

* क्या यह व्रज का करील तो नहीं है ? एगेलिंग के अनुसार Capparis Aphvlla.

ष एतत्प्रजाभ्यः कुरुते ॥११॥ तयोरुभयोरेव शमीपलाशान्यावपति । शं वै प्र-
जापतिः प्रजाभ्यः शमीपलाशैरकुरुत शम्वेवैष एतत्प्रजाभ्यः कुरुते ॥१२॥ अथ का-
य एककपालः पुरोडाशो भवति । कं वै प्रजापतिः प्रजाभ्यः कायेनैककपालेन
पुरोडाशेनाकुरुत कम्वेवैष एतत्प्रजाभ्यः कायेनैककपालेन पुरोडाशेन कुरुते त-
स्मात्काय एककपालः पुरोडाशो भवति ॥१३॥ अथ पूर्वेद्युः । अन्वाहार्यपचने
ऽतुषानिव यवान्कृत्वा तानीषदिवोपतप्य तेषां करम्भपात्राणि कुर्वन्ति यावन्तो
गृह्याः स्युस्तावन्त्येकेनातिरिक्तानि ॥१४॥ तत्रापि मेषं च मेषीं च कुर्वन्ति । त-
योर्मेषे च मेष्यां च यद्यनेडकीरूर्णा विन्देत्ताः प्रणिह्य निश्लेषयेद्यद्युऽअनेडकीर्न
विन्देदथोऽअपि कुशोर्णा एव स्युः ॥१५॥ तद्यन्मेषश्च मेषी च भवतः । एष वै
प्रत्यक्षं वरुणस्य पशुर्यन्मेषस्तत्प्रत्यक्षं वरुणपाशात्प्रजाः प्रमुञ्चति यवमयौ भवतो
यवान्हि जनुषीर्वरुणोऽगृह्णान्मिथुनौ भवतो मिथुनादेवैतद्वरुणपाशात्प्रजाः प्रमु-
ञ्चति ॥१६॥ स उत्तरस्यामेव पयस्यायां मेषीमवदधाति । दक्षिणस्यां मेषमेवमिव
हि मिथुनं क्लृप्तमुत्तरतो हि स्त्री पुमाꣳसमुपशेते ॥१७॥ स सर्वाण्येव हवीꣳष्य-
ध्वर्युः । उत्तरस्यां वेदावासादयत्यथैतामेव पयस्यां प्रतिप्रस्थाता दक्षिणस्यां वेदा-
वासादयति ॥१८॥ आसाद्य हवीꣳष्यग्निं मन्थति । अग्निं मन्थित्वानुप्रहृत्याभिजु-
होत्यथाध्वर्युरेवाहाग्नये समिध्यमानायानुब्रूहीति ताऽउभावेवेध्मावभ्याधत्त उभौ
समिधौ परिशिꣳष्टऽउभौ पूर्वावाघारावाघारयतोऽथाध्वर्युरेवाहाग्निमग्नीत्संमृड्ढीत्य-
संमृष्टमेव भवति सम्प्रेषितम् ॥१९॥ अथ प्रतिप्रस्थाता प्रतिपरैति । स पत्नीमु-
दानेष्यन्पृच्छति केन चरसीति वरुण्यं वाऽएतत्स्त्री करोति यदन्यस्य सत्यन्येन च-
रत्यथो नेन्मेऽन्तःशल्या जुहवदिति तस्मात्पृच्छति निरुक्तं वाऽएनः कनीयो भव-
ति सत्यꣳ हि भवति तस्मादेव पृच्छति सा यन्न प्रतिजानीत ज्ञातिभ्यो हास्यै त-
दहितꣳ स्यात् ॥२०॥ तां वाचयति । प्रघासिनो हवामहे मरुतश्च रिशादसः ।

को उसी से सुख पहुँचाता है ॥११॥

उनके ऊपर वे वह शमी वृक्ष के पत्ते भी डालता है। प्रजापति ने प्रजाओं को शमी के वृक्षों से ही शान्त (शं) किया, इसलिये वह प्रजाओं को उसी से शान्त करता है ॥१२॥

अब एक कपाल का पुरोडाश 'क' अर्थात् प्रजापति के लिए होता है। 'क' प्रजापति ने 'क' के लिए एक कपाल के पुरोडाश से प्रजाओं को सुख (क) पहुँचाया। इसी प्रकार यह भी 'क' के लिए एक कपाल के पुरोडाश से प्रजा को सुख (क) पहुँचाता है। इसलिये 'क' (प्रजापति) के लिए एक कपाल का पुरोडाश होता है ॥१३॥

अब यज्ञ के पहले दिन अन्वाहार्य-पचन अर्थात् दक्षिणाग्नि पर जौ की भूसी निकालकर और उनको कुछ पकाकर करम्भ के इतने पात्र बनाते हैं जितने घर के लोग हों और एक अधिक। (करम्भ जौ और दही का बनता है ॥१४॥

वहीं एक मेष और एक मेषी भी बनाते हैं। यदि एडक भेड़ के सिवाय किसी अन्य भेड़ की ऊन मिले तो उस मेष और मेषी को साफ करके उस पर लगा दें। और यदि एडक भेड़ को छोड़कर अन्य की ऊन न मिले तो कुशों का अग्र-भाग ही लगा दें ॥१५॥

यह मेष-मेषी क्यों बनाते हैं? मेष प्रत्यक्ष रूप से वरुण का पशु है। इस प्रकार प्रत्यक्ष ही वरुण के पाश से प्रजा को छुड़ा देता है। उनको जौ का इसलिये बनाते हैं कि जब इन्होंने जौ खाये तभी तो वरुण ने इनको पकड़ा। जोड़ा इसलिए बनाते हैं कि जोड़े से ही प्रजा वरुण के पाश से छूटती है ॥१६॥

उत्तरी पयस्या पर मेषी को रखता है और दक्षिण की पयस्या पर मेष को। क्योंकि इसी प्रकार ठीक जोड़ा मिलता है। क्योंकि स्त्री पुरुष से उत्तर की (बाईं) ओर लेटती है ॥१७॥

अध्वर्यु अन्य सब हवियों को उत्तर की वेदी में रखता है, और प्रतिप्रस्थाता दक्षिण की वेदी में पयस्या को रखता है ॥१८॥

हवियों को रखकर अग्नि का मन्थन करता है। अग्नि को मथकर और वेदी पर लाकर आहुति देता है। पहले अध्वर्यु होता से कहता है—'अग्नये समिध्यमानाम्।' (जलाई गई अग्नि लिये) ऐसा कह। तब दोनों (अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता) ईंधन रखकर एक-एक समिधा रखते हैं, और दोनों पहली आघार या आहुति छोड़ते हैं। इस प्रकार अध्वर्यु कहता है—'अग्निमग्नीत् संमृड्ढि।' (हे अग्नीध्, अग्नि को ठीक कर)। अभी केवल कहा जाता है, अग्नि ठीक नहीं की जाती ॥१९॥

अब प्रतिप्रस्थाता (उस जगह जहाँ गृह-पत्नी होती है) लौटता है। वह पत्नी को ले जाने की इच्छा करता हुआ पूछता है—'तू किसके साथ सहवास करती है?' (केन चरसि?)। यदि स्त्री एक की होकर दूसरे के साथ सहवास करे तो पाप करती है। वह इसलिये पूछता है कि कहीं वह मन में पछतावा करके आहुति न दे दे। निरुक्त पाप (अर्थात् पाप कहा हुआ) कम हो जाता है; क्योंकि यह सच होता है। इसलिये वह ऐसा पूछता है। यदि वह पाप को छिपा लेगी तो उसके सम्बन्धियों के लिए अहित होगा ॥२०॥

अब वह उससे कहलवाता है—"प्रघासिनो हवामहे मरुतश्च रिशादसः। करम्भेण

करम्भेण सजोषस इति यथा पुरोऽनुवाक्यैवमेषैतयैवैनानेतेभ्यः पात्रेभ्यो ह्वयति ॥२१॥ तानि वै प्रतिपुरुषं । यावन्तो गृह्याः स्युस्तावन्त्येकेनातिरिक्तानि भवन्ति तत्प्रतिपुरुषमेवैतदेकैकेन या अस्य प्रजा जातास्ता वरुणपाशात्प्रमुञ्चत्येकेनातिरिक्तानि भवन्ति तया एवास्य प्रजा अजातास्ता वरुणपाशात्प्रमुञ्चति तस्मादेकेनातिरिक्तानि भवन्ति ॥२२॥ पात्राणि भवन्ति पात्रेषु ह्यशनमश्यते यवमयानि भवन्ति यवान्हि जक्षुषीर्वरुणोऽगृह्णाच्छूर्पेण जुहोति शूर्पेण ह्यशनं क्रियते पत्नी जुहोति मिथुनादेवैतद्वरुणपाशात्प्रजाः प्रमुञ्चति ॥२३॥ पुरा यज्ञात्पुराज्ञतिभ्यो जुहोति । अजुतादो वै विशो विशो वै मरुतो यत्र वै प्रजापतेः प्रजा वरुणगृहीताः परिदीर्णा अनत्यश्च प्राणत्यश्च शिशियिरे च निषेदुश्च तद्धासां मरुतः पाप्मानं विमेथिरे तथोऽएवैतस्य प्रजानां मरुतः पाप्मानं विमथ्नन्ति तस्मात्पुरा यज्ञात्पुराज्ञतिभ्यो जुहोति ॥२४॥ स वै दक्षिणेऽग्नौ जुहोति । यद्ग्रामे यदरण्यऽइति ग्रामे वा ह्यरण्ये वैनः क्रियते यत्सभायां यदिन्द्रियऽइति यत्सभायामिति यन्मानुषऽइति तदाह यदिन्द्रियऽइति यद्देवत्रेति तदाह यदेनश्चकृमा वयमिदं तदवयजामहे स्वाहेति यत्किं च वयमेनश्चकृमेदं वयं तस्मात्सर्वस्मात्प्रमुच्यामहऽइत्येवैतदाह ॥२५॥ अथैन्द्रीं मरुत्वतीं जपति । यत्र वै प्रजापतेः प्रजानां मरुतः पाप्मानं विमेथिरे तद्धेक्षां चक्रऽइमे ह मे प्रजा न विमथ्नीरन्निति ॥२६॥ स एतामैन्द्रीं मरुत्वतीमजपत् । क्षत्रं वाऽइन्द्रो विशो मरुतः क्षत्रं वै विशो निषेद्धा निषिद्धा असन्निति तस्मादैन्द्री ॥२७॥ मो षू णः । इन्द्रात्र पृत्सु देवैरस्ति हि ष्मा ते शुष्मिन्नवयाः । महश्चिद्यस्य मीढुषो यव्या हविष्मतो मरुतो वन्दते गीरिति ॥२८॥ अथैनां वाचयति । अक्रन्कर्म कर्मकृत इत्यक्रन्हि कर्म कर्मकृतः सह वाचा मयोभुवेति सह हि वाचाक्रन्देवेभ्यः कर्म कृत्वेति देवेभ्यो हि कर्म कृत्वास्तं प्रेत सचाभुव इत्यन्यतो ह्योऽया सह भवन्ति तस्मादाह सचाभुव इत्यस्तं प्रेतेति ज-

सजोषसः" (यजु० ३।४४)—"प्रघास और करम्भ नामी हवियों को खूब खानेवाले और इन शत्रुओं का नाश करनेवाले मरुतों को हम बुलाते हैं।" यह अनुवाक्य है। इससे वह मरुतों को पात्रों तक बुलाती है ॥२१॥

हर एक के लिए एक-एक पात्र होता है। जितने घर के लोग होते हैं उतने ही पात्र होते हैं और एक अधिक। एक-एक पुरुष के लिए एक-एक इसलिये होता है कि जो प्रजा उत्पन्न हुई है वह वरुण के पाश से छूट जाय। जो एक पात्र बच रहा वह इसलिये कि उससे जो सन्तान अभी उत्पन्न नहीं हुई वह वरुण के पाश से छूट जाय। इसलिये एक पात्र अधिक होता है ॥२२॥

पात्र इसलिए होते हैं कि पात्रों में ही खाना खाते हैं। जौ के इसलिए बनाये जाते हैं क्योंकि जब प्रजा ने जौ खाये तभी वरुण ने उनको पकड़ा। शूर्प (छाज) से आहुति देते हैं कि शूर्प (छाज) से ही भोजन तैयार किया जाता है। (पति के साथ) पत्नी भी आहुति देती है क्योंकि जोड़े द्वारा ही वरुण के पाश से प्रजा को छुड़ाता है ॥२३॥

यज्ञ से पूर्व, आहुति से पूर्व ही इसलिए अर्पण करती है क्योंकि लोग (विश) आहुतियों को नहीं खाते और मरुत् लोग (विश) हैं। जब प्रजापति की प्रजा को वरुण ने पकड़ लिया और विदीर्ण कर दिया और वह श्वास-प्रश्वास लेते हुए लेट गये और बैठ गये, तब उनके पापों को मरुतों ने ही दूर किया था। इसी प्रकार इस यजमान की सन्तान का पाप भी मरुत् ही दूर करते हैं, इसलिए यज्ञ के पहले ही और आहुतियों से ही अर्पण करती है ॥२४॥

वह दक्षिण-अग्नि में आहुति देता है यह पढ़कर, "यद् ग्रामे यदरण्ये" (यजु० ३।४५)—"जो (पाप) गाँव में किया और जो वन में।" पाप गाँव में भी होता है और वन में भी। फिर कहता है—"यत् सभायां यदिन्द्रिये।" (यजु० ३।४५) अर्थात् "जो पाप सभा में किया और जो इन्द्रिय (अपने) में।' 'सभा में' का अर्थ है मनुष्यों के प्रति, 'इन्द्रिय में' का अर्थ है देवताओं के प्रति। अब कहता है—"यदेनश्चकृमा वयमिदं तदवयजामहे स्वाहा।" (यजु० ३।४५)—"जो कुछ पाप हमने किया उसके लिए हम यज्ञ करते हैं।" तात्पर्य यह है कि जो कुछ पाप हमने किया उस सबसे हम छुटकारा पाते हैं ॥२५॥

अब इन्द्र और मरुत् का मन्त्र पढ़ता है। जब प्रजापति की प्रजाओं का मरुतों ने पाप छुड़ाया तो उसने सोचा, 'ये मेरी प्रजा का नाश न करेंगे' ॥२६॥

उसने इन्द्र और मरुत् के मन्त्र को पढ़ा। इन्द्र क्षत्रिय है और मरुत् वैश्य (या साधारण लोग)। क्षत्रिय ही लोगों को वश में करनेवाले हैं। इन्द्र के मन्त्र को इसलिए पढ़ता है कि वह लोगों को वश में कर लेगा ॥२७॥

"मो षू णऽ इन्द्राऽत्र पृत्सु देवैरस्ति हि ष्मा ते शुष्मिन्नवयाः। महश्चिद् यस्य मीढुषो यव्या हविष्मतो मरुतो वन्दते गीः" (यजु० ३।४६)—"हे इन्द्र, युद्धों में हमारा देवों के साथ (झगड़ा) न हो। हे बलवान्! तेरे लिए यज्ञ में भाग है। हे बहुत बड़े दान की वर्षा करनेवाले, यजमान की स्तुति तेरे जौ के द्वारा पूज्य मरुतों की प्रशंसा करती है ॥२८॥

अब वह (पत्नी से) कहलवाता है—"अक्रन् कर्म कर्मकृते" (यजु० ३।४७)—"कर्म के कुशल लोगों ने कर्म कर लिया।" कर्म-कुशल लोगों ने कर्म कर ही लिया। अब कहता है—"सह वाचा मयो भुवा" (यजु० ३।४७)—"हर्ष-पूर्ण वाणी के साथ।" उन्होंने वाणी के साथ कर्म किया (अर्थात् मन्त्र पढ़ते हुए)। अब कहती है—"देवेभ्यः कर्म कृत्वा।" (यजु० ३।४७)—"देवों के लिए कर्म करके।" क्योंकि देवों के लिए ही तो कर्म किया गया। अब कहती है, "अस्तं प्रेत सचाभुवः (यजु० ३।४७)—"हे साथियो! घर जाओ।" 'सचाभुवः' इसलिए कहा कि वे दूसरी जगह से लाई गईं और अब वे उसके साथ हैं। वह कहती है, "अस्तं प्रेत" (घर जाओ);

घनार्धो वाऽएष यज्ञस्य यत्पत्नी तामेतत्प्राचीं यज्ञं प्रासीषदद्गृहा वाऽअस्तं गृहाः प्रतिष्ठा तद्गृहेष्वेवैनामेतत्प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति ॥२९॥ प्रतिपराणीयोदेति प्रतिप्रस्थाता । संमृजन्त्यग्निꣳ संमृष्टेऽग्नौ ताऽउभाविवोत्तरावाघारावाघारयतोऽथाध्वर्युरेवाश्राव्य होतारं प्रवृणीते प्रवृतो होतोत्तरस्यै वेदेर्होतृषदनऽउपविशत्युपविश्य प्रसौति ताऽउभाविव प्रसूतौ स्रुच आदायातिक्रामतोऽतिक्रम्याश्राव्याध्वर्युरेवाह समिधो यजेति यज-यजेति चतुर्थे-चतुर्थे प्रयाजे समानयमानौ नवभिः प्रयाजैश्चरतः ॥३०॥ अथाध्वर्युरेवाहाग्नयेऽनुब्रूहीति । आग्नेयमाज्यभागं ता उभाविव चतुराज्यस्यावदायातिक्रामतोऽतिक्रम्याश्राव्याध्वर्युरेवाहाग्निं यजेति ताऽउभाविव वषट्कृते जुहुतः ॥३१॥ अथाध्वर्युरेवाह सोमायानुब्रूहीति । सौम्यमाज्यभागं ताऽउभाविव चतुराज्यस्यावदायातिक्रामतोऽतिक्रम्याश्राव्याध्वर्युरेवाह सोमं यजेति ताऽउभाविव वषट्कृते जुहुतः ॥३२॥ तद्यत्किं च वाचा कर्तव्यम् । अध्वर्युरेव तत्करोति न प्रतिप्रस्थाता तद्यदध्वर्युरेवाश्रावयतीहैव यत्र वषट्क्रियते ॥३३॥ कृतानुकर एव प्रतिप्रस्थाता । क्षत्रं वै वरुणो विशो मरुतस्तत्क्षत्रायैवैतद्विशं कृतानुकरामनुवर्त्मानं करोति प्रत्युद्यामिनीꣳ ह क्षत्राय विशं कुर्याद्यदपि प्रतिप्रस्थाताश्रावयेत्तस्मान्न प्रतिप्रस्थाताश्रावयति ॥३४॥ पाणावेव प्रतिप्रस्थाता । स्रुचौ कृत्वोपास्तेऽथाध्वर्युरेवैतैर्हविर्भिः प्रचरत्याग्नेयेनाष्टाकपालेन पुरोडाशेन सौम्येन चरुणा सावित्रेण द्वादशकपालेन वाष्टाकपालेन वा पुरोडाशेन सारस्वतेन चरुणा पौष्णेन चरुणैन्द्राग्नेन द्वादशकपालेन पुरोडाशेन ॥३५॥ अथैताभ्यां पयस्याभ्यां प्रचरिष्यन्तौ विपरिहरतः । स यो मेषो भवति मारुत्यां तं वारुण्यामवदधाति या मेषी भवति वारुण्यां तां मारुत्यामवदधाति तद्यदेवं विपरिहरतः क्षत्रं वै वरुणो वीर्यं पुमान्वीर्यमेवैतत्क्षत्रे धत्तोऽवीर्या वै स्त्री विशो मरुतस्तदवीर्यामेवैतद्विशं कुरुतस्तस्मादेवं विपरिहरतः ॥३६॥ अथाध्वर्युरेवाह वरुणाया-

पत्नी यज्ञ का निचला भाग है। और उसने उसको यज्ञ के पूर्व की ओर बिठलाया है। 'अस्तं' का अर्थ है 'गृह'। घर बैठने की जगह है। इसलिए वह उसको बैठने की जगह अर्थात् घर में बिठालता है। (Perhaps this part is to be addressed by यज्ञपति to his पत्नी। He asks her to go home from the sacrificial place.) ।।२९।।

प्रतिप्रस्थाता उसको बिठालकर लौट आता है। अब वे आग को ठीक करते हैं। जब आग ठीक हो गई तो दोनों (अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता) दूसरी आहुति देते हैं। फिर अध्वर्यु (आग्नीध्र को) श्रौषट् की आज्ञा देकर होता का वरण करता है। वरा हुआ होता वेदी के उत्तर में होता के स्थान में बैठता है और बैठकर दोनों को प्रेरणा करता है। इस प्रकार प्रेरित होकर वे दोनों स्रुचों को लेकर (दक्षिण की ओर) आते हैं। और 'श्रौषट्' की आज्ञा देकर अध्वर्यु (होता से) कहता है—'समिधो यज।' और हर प्रयाज में कहता है – 'यज, यज।' चौथे प्रयाज में (चमचे से जुहू में) घी डालता है और दोनों नौ प्रयाजों को करते हैं।।३०।।

अब अध्वर्यु (होता से) कहता है, 'अग्नये अनुब्रूहि।' (अग्नि के लिए प्रार्थना कर)। यह अग्नि के आज्य भाग की ओर संकेत है। अब ये दोनों आज्य भाग में से चार भाग लेकर (उत्तर की ओर) चले जाते हैं। (उत्तर की ओर) जाकर और 'श्रौषट्' कहकर अध्वर्यु कहता है, 'अग्निं यज।' 'वषट्' कहकर वे दोनों आहुतियाँ देते हैं।।३१।।

मब अध्वर्यु कहता है, 'सोमाय अनुब्रूहि।' (सोम के लिए प्रार्थना कर)। यह सोम के आज्य-भाग के लिए कहा। दोनों आज्य के चार भाग लेकर चलते हैं और चलकर और 'श्रौषट्' कहकर अध्वर्यु होता से कहता है, 'सोमं यज।' तब दोनों 'वषट्' कहकर आहुतियाँ डालते हैं।।३२।।

जो कुछ वाणी से कहना होता है उसे अध्वर्यु कहता है, न कि प्रतिप्रस्थाता। अब केवल अध्वर्यु ही 'श्रौषट्' क्यों कहता है? वस्तुतः जब वषट् कहा जाता है—।।३३।।

तो प्रतिप्रस्थाता केवल कियें का अनुकरण करता है। वरुण क्षत्रिय है। मरुत् विश या लोग हैं। इस प्रकार वह विशों या लोगों से क्षत्रिय का अनुकरण कराता है। अगर प्रतिप्रस्थाता भी 'श्रौषट्' कहेगा तो क्षत्रिय और अन्य लोग समान हो जायेंगे। इसलिए प्रतिप्रस्थाता श्रौषट् नहीं कहता।।३४।।

प्रतिप्रस्थाता दो स्रुचों को हाथ में लेकर बैठ जाता है। तब अध्वर्यु उन आहुतियों को करता है। अग्नि की आहुति आठ कपालवाले पुरोडाश से, सोम की चरु से, सविता की बारह कपालों या आठ कपालों के पुरोडाश से, सरस्वती की चरु से, पूषा की चरु से, इन्द्र-अग्नि की बारह कपालों के पुरोडाश से।।३५।।

इन दोनों पयस्यों को करने की इच्छा करते हुए दोनों (अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता) मेष और मेषी को बदल लेते हैं। जो मेष मरुतों के पात्र में था उसे वरुण के पात्र में रख देता है। जो वरुण के पात्र में मेषी थी उसे मरुतों के पात्र में रख देता है। यह परिवर्तन इसलिए करते हैं कि वरुण क्षत्रिय है। पुरुष वीर्य है। इस प्रकार वह क्षत्रिय में वीर्य धारण कराते हैं। स्त्रीवीर्य शून्य है। मरुत् लोग (विश) हैं। इस प्रकार वे लोगों को वीर्यरहित करते हैं। इसीलिए वे इस प्रकार बदलते हैं।।३६।।

अब अध्वर्यु (होता से) कहता है, 'वरुणाय अनुब्रूहि।'—'वरुण के लिए प्रार्थना कर।'

नुब्रूहीति । स उपस्तृणीतऽआज्यमथास्यै वारुण्यै पयस्यायै द्विरवद्यति सोऽन्य-
तरेणावदानेन सह मेषमवदधात्यथोपरिष्टादाज्यस्याभिघारयति प्रत्यनक्त्यवदाने
ऽअतिक्रामत्यतिक्रम्याश्राव्याह वरुणं यजेति वषट्कृते जुहोति ॥३७॥ सव्ये पा-
णावध्वर्युः । स्रुचौ कृत्वा दक्षिणेन प्रतिप्रस्थातुर्वा सोऽन्वारभ्याह मरुद्भ्योऽनुब्रू-
हीत्युपस्तृणीतऽआज्यं प्रतिप्रस्थाताथास्यै मारुत्यै पयस्यायै द्विरवद्यति सोऽन्यत-
रेणावदानेन सह मेषीमवदधात्यथोपरिष्टादाज्यस्याभिघारयति प्रत्यनक्त्यवदाने
ऽअतिक्रामत्यथाध्वर्युरेवाश्राव्याह मरुतो यजेति वषट्कृते जुहोति ॥३८॥ अथा-
ध्वर्युरेव कायेन । एककपालेन पुरोडाशेन प्रचरति कायेनैककपालेन पुरोडाशेन
प्रचर्याध्वर्युरेवाहाग्नये स्विष्टकृतेऽनुब्रूहीति स सर्वेषामेव हविषामध्वर्युः सकृत्स-
कृदवद्यत्यथैतस्याऽएव पयस्यायै प्रतिप्रस्थाता सकृदवद्यत्यथोपरिष्टाद्विराज्यस्या-
भिघारयतस्ताऽउभावेवातिक्रामतोऽतिक्रम्याश्राव्याध्वर्युरेवाहाग्निᳪ स्विष्टकृतं यजे-
ति ताऽउभावेव वषट्कृते जुहुतः ॥३९॥ अथाध्वर्युरेव प्राशित्रमवद्यति । इडाᳪ
समवदाय प्रतिप्रस्थात्रेऽतिप्रजिहीते तत्रापि प्रतिप्रस्थाता मारुत्यै पयस्यायै द्विर-
भ्यवद्यत्यथोपरिष्टाद्विराज्यस्याभिघारयत्युपहूय मार्जयन्ते ॥४०॥ अथाध्वर्युरेवाह ब्र-
ह्मन्प्रस्थास्यामि । समिधमाधायाग्निमग्नीत्संमृड्ढीति स स्रुचोरेवाध्वर्युः पृषदाज्यं व्या-
नयतेऽथ यदि प्रतिप्रस्थातुः पृषदाज्यं भवति तत्स द्वेधा व्यानयतऽउतो तत्र पृष-
दाज्यं न भवति स यदेवोपभृत्याज्यं तत्स द्वेधा व्यानयते ताऽउभावेवातिक्रामतो
ऽतिक्रम्याश्राव्याध्वर्युरेवाह देवान्यजेति यज-यजेति चतुर्थे-चतुर्थेऽनुयाजे समानय-
मानौ नवभिरनुयाजैश्चरतस्तद्यन्नवप्रयाजं भवति नवानुयाजं तदुभयत एवैतद्वरु-
णपाशात्प्रजाः प्रमुञ्चतीतश्चोर्ध्वा इतश्चावाचीस्तस्मान्नवप्रयाजं भवति नवानुयाजम्
॥४१॥ ताऽउभावेव सादयित्वा स्रुचो व्यूहतः । स्रुचो व्यूह्य परिधीन्त्समज्य परि-
धिमभिपद्याश्राव्याध्वर्युरेवाहेषिता दैव्या होतारो भद्रवाच्याय प्रेषितो मानुषः सू-

वह अब आज्य का नीचे का भाग (जुहू में) डालता है और वरुण की पयस्या में से दो भाग लेकर इनमें से किसी भाग के साथ मेष को रखता है। अब उन पर घी छोड़ता है और जहाँ से वे भाग काटे गये उस स्थान को पूर्ण कर देता है। फिर (दक्षिण की ओर) आ जाता है। इसके पश्चात् अध्वर्यु 'श्रौषट्' कहकर होता से कहता है, 'वरुणं यज।' और 'वषट्कार' कहकर आहुति देता है ॥३७॥

अब अध्वर्यु बायें हाथ में दोनों स्रुचों को लेकर दाहिने हाथ से प्रतिप्रस्थाता का कपड़ा पकड़कर कहता है, 'मरुद्भयोऽनुब्रूहि।'–'मरुतों के लिए प्रार्थना कर।' अब प्रतिप्रस्थाता आज्य के निचले भाग को (जुहू में) डालकर मरुतों के पयस्या से दो भाग काटकर किसी एक के साथ मेषी को रखता है और ऊपर से घी छोड़ता है और जहाँ से दो भाग काटे गये थे उनके स्थान की पूर्ति कर देता है और (दक्षिण की ओर) चला आता है। अब अध्वर्यु 'श्रौषट्' कहकर कहता है—'मरुतो यज।' और वषट्कार कहकर आहुति देता है ॥३८॥

अब अध्वर्यु 'क' के एक कपालवाले पुरोडाश को लेता है और 'क' के एक कपालवाले पुरोडाश को लेकर अध्वर्यु कहता है, 'अग्नये स्विष्टकृतेऽनुब्रूहि।'—'स्विष्टकृत् अग्नि के लिए प्रार्थना कर।' अब अध्वर्यु सब हवियों में से एक-एक भाग लेता है; और प्रतिप्रस्थाता भी उसी पयस्या में से एक भाग लेता है। अब वे दो बार घी छोड़ते हैं और दोनों (दक्षिण की ओर) आते हैं। अध्वर्यु 'श्रौषट्' कहकर कहता है, 'अग्निं स्विष्टकृतं यज।' वे दोनों 'वषट्' कहकर आहुति देते हैं ॥३९॥

अब अध्वर्यु अगला भाग काटता है। अब इडा को टुकड़े-टुकड़े करके प्रतिप्रस्थाता के हवाले करता है। प्रतिप्रस्थाता उन पर मरुतों के पयस्या से दो भाग रख देता है। (अध्वर्यु) उन पर दो बार घी छोड़ता है और 'इडा' कहकर वह अपने को पवित्र कर लेता है ॥४०॥

अब अध्वर्यु कहता है, 'ब्रह्मन्! मैं आगे जाऊँ।' समिधाओं को रखकर कहता है, 'हे अग्नीध्र, अग्नि ठीक कर।' अब अध्वर्यु स्रुचों में नवनी (पृषदाज्य) को डालता है। प्रतिप्रस्थाता भी यदि उसके पास नवनी हो तो उसके दो भाग करके स्रुचों में उँडेलता है। परन्तु यदि नवनी न हो तो उपभृति में जो घी हो उसके दो भाग करके अलग-अलग उँडेल देता है। अब वे दोनों (दक्षिण की ओर) चलते हैं और अध्वर्यु 'श्रौषट्' कहकर कहता है—'देवान् यज यज।' इस प्रकार हर अनुयाज में कहता है और हर चौथे अनुयाज में चमचे में घी छोड़ता है। इस प्रकार वे दोनों नौ अनुयाज करते हैं। नौ प्रयाज और नौ अनुयाज क्यों किये जाते हैं? इसलिए कि दोनों बार प्रजा को वरुण के पाश से छुड़ाता है–पहले से ऊपर के और पिछले से नीचे के। इसीलिए नौ प्रयाज होते हैं, और नौ अनुयाज ॥४१॥

अब वे दोनों स्रुचों को (वेदी में) रखकर अलग कर देते हैं। स्रुचों को अलग करके, परिधियों पर घी डालकर और एक परिधि को लेकर 'श्रौषट्' कहकर अध्वर्यु होता से कहता है–'दिव्य-होता लोग भद्र कहने के लिए बुलाये गये और मनुष्य-होता सूक्तवाक् अर्थात् प्रार्थना के

न्नवाकायेति सूक्तवाक७ होता प्रतिपद्यतेऽथैताऽउभाविव प्रस्तरौ समुल्लुम्पतऽउ-
भावनुप्रहरत उभौ तृणेऽअप्रगृह्योपासाते यदा होता सूक्तवाकमाह ॥४२॥ अ-
थाग्नीदाहानुप्रहरेति । ताऽउभाविवानुप्रहरत उभावात्मानाऽउपस्पृशेते ॥४३॥
अथाह संवदस्वेति । अगानग्नीदगञ्छ्रावय श्रौषट् स्वगा दैव्या होतृभ्यः स्वस्तिर्मा-
नुषेभ्यः शं योर्ब्रूहीत्यध्वर्युरेवैतदाह ताऽउभाविव परिधीननुप्रहरत उभौ स्रुचः स-
म्प्रगृह्य स्फ्ये सादयतः ॥४४॥ अथाध्वर्युरेव प्रतिपरेत्य । पत्नीः संयाजयत्युपास्त
ऽएव प्रतिप्रस्थाता पत्नीः संयाज्योदित्यध्वर्युः ॥४५॥ त्रीणि समिष्टयजू७षि जुहो-
ति । तूष्णीमेव प्रतिप्रस्थाता स्रुचं प्रगृह्णाति तद्ये वैश्वदेवेन यजमानयोर्वाससी
परिहिते स्यातां तेऽएवात्रापि स्यातामथास्यै वारुण्यै पयस्यायै क्षामकर्पमिश्रमा-
दायावभृथं यन्ति वरुण्यं वाऽएतन्निर्वरुणतायै तत्र न साम गीयते न ह्यत्र साम्ना
किं चन क्रियते तूष्णीमेवेत्याभ्यवेत्योपमारयति ॥४६॥ अवभृथ निचुम्पुण । नि-
चेरुरसि निचुम्पुणः । अव देवैर्देवकृतमेनोऽयासिषमव मर्त्यैर्मर्त्यकृतं पुरुराव्णो
देव रिषस्पाहीति काम७ स्नैते यस्मै कामयेत तस्मै दद्यान्न हि दीक्षितवसने भ-
वतः स यथाहिस्त्वचो निर्मुच्येतैव७ सर्वस्मात्पाप्मनो निर्मुच्यते ॥४७॥ अथ केश-
श्मश्रू वपते । समारोह्याग्नीऽउदवसायेव ह्येतेन यजते न हि तदवकल्पते यदुत्तर-
वेदावग्निहोत्रं जुहुयात्तस्मादुदवस्यति गृहानित्वा निर्मथ्याग्नी पौर्णमासेन यजत
ऽउत्सन्नयज्ञ-इव वाऽएष यच्चातुर्मास्यान्यथैष कॢप्तः प्रतिष्ठितो यज्ञो यत्पौर्णमासं
तत्कॢप्तेनैवैतद्यज्ञेनान्ततः प्रतितिष्ठति तस्मादुदवस्यति ॥४८॥ ब्राह्मणम् ॥३[५.
२]॥ ॥

वरुणप्रघासैर्वै प्रजापतिः । प्रजा वरुणपाशात्प्रामुञ्चत्ता स्यानमीवा अकि-
ल्बिषाः प्रजाः प्राजायन्ताथैतैः साकमेधैरेतैर्वै देवा वृत्रमघ्नन्नेतैर्वेव व्यजयन्त य-
येमेषां विजितिस्तां तथोऽएवैष एतैः पाप्मानं द्विषन्तं भ्रातृव्य७ हन्ति तथो

लिए।' अब होता सूक्तवाक् कहता है। इस पर दोनों प्रस्तरों को लेकर (आग में) डाल देते हैं। दोनों एक तृण लेकर (आग के पास) बैठे रहते हैं। अब होता सूक्तवाक् को कहता है ॥४२॥

आग्नीध्र कहता है, 'अनुप्रहर (डाल)।' दोनों डालते हैं और अपने शरीर का स्पर्श करते हैं ॥४३॥

अब आग्नीध्र कहता है, '(मुझसे) संवाद कर।' अध्वर्यु कहता है, 'आग्नीध् ! क्या वह गया ?' 'हाँ वह गया।' 'यहाँ देवताओं को सुनाओ।' 'वे सुनें।' 'दैवी-होता विदा हों। मनुष्य-होता का कल्याण हो।' अब अध्वर्यु होता से कहता है, 'शान्ति कह।' वे दोनों परिधियों को फेंक देते हैं, और दोनों स्रुचों को मिलाकर स्फ्या पर रख देते हैं ॥४४॥

अब अध्वर्यु (गार्हपत्य अग्नि के पास) लौटकर 'पत्नी संयाज' करता है। प्रतिप्रस्थाता ठहरा रहता है। अध्वर्यु पत्नी-संयाज करके उत्तर की ओर चला जाता है ॥४५॥

अब अध्वर्यु तीन समिष्ट-यजुष् की आहुति देता है। प्रतिप्रस्थाता स्रुच लेकर मौन होकर आहुति देता है। यजमान और पत्नी ने जो वस्त्र वैश्वदेव के समय पहने थे वे अब भी पहनें। अब वरुण की पयस्या के जले भाग को लेकर अवभृथ अर्थात् स्नान के स्थान में आवें। यह (स्नान) वरुण के लिए है जिसके पाश से छूट जाय। वहाँ साम नहीं गाया जाता क्योंकि साम से तो कुछ किया नहीं जाता। अध्वर्यु चुपके से वहाँ जाकर (जले भाग के पात्र को) जल में डुबो देता है ॥४६॥

अब वह कहता है, "अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुणः। अव देवैर्देवकृतमेनोऽयासिषमव मर्त्यैर्मर्त्यकृतं पुरुराव्णो देव रिषस्पाहि" (यजु० ३।४८)—"हे धीरे चलनेवाले जलाशय, तू चुपके-चुपके चलता है। देवों की सहायता से इन देव-कृत पापों से छूट जाऊँ और मनुष्यों की सहायता से मनुष्य-कृत पापों से। हे देव, मुझे राक्षस से बचा।" (स्नान के समय के वस्त्रों को) मन चाहे किसी (पुरोहित) को दे देवे, क्योंकि ये वस्त्र दीक्षित पुरुष के तो होते ही नहीं। जैसे साँप केंचुल छोड़ता है, इसी प्रकार यह पापों को छोड़ता है ॥४७॥

अब यजमान के बाल और दाढ़ी बनाते हैं। अब दोनों अग्नियों को लेते हैं, क्योंकि जगह बदलकर ही दूसरा यज्ञ होता है। उत्तर वेदी पर अग्निहोत्र करना ठीक नहीं। अब घर जाकर अग्नि मथकर वह पूर्णमासी का यज्ञ करता है। यह चातुर्मास्य यज्ञ अलग है, पूर्णमासी का निश्चित यज्ञ है। इसलिए वह निश्चित यज्ञ द्वारा अपने को स्थापित कर लेता है। इसीलिए वह जगह बदलता है ॥४८॥ (वर्षाकाल का वरुण-प्रघास पर्व समाप्त)

अध्याय ५—ब्राह्मण ३

वरुण-प्रघास के द्वारा प्रजापति ने प्रजा को वरुण के जाल से छुड़ाया, और प्रजा रोग-रहित और दोषरहित उत्पन्न हुई। और इन 'साकमेध' आहुतियों के द्वारा देवों ने वृत्र को मारा और उस विजय को प्राप्त किया जिसको वे इस समय भोग रहे हैं। उसी प्रकार यह (यजमान) भी अपने पापी शत्रुओं और अहितैषियों को मारता है और उन पर विजयी होता है। इसीलिए

व्यजयन्त तस्माद्वाऽ एष एतैश्चतुर्थे मासि यजते स वै द्व्यहमनूचीनाह्नं यजते ॥१॥
स पूर्वेद्युः । अग्नयेऽनीकवतेऽष्टाकपालं पुरोडाशं निर्वपत्यग्निꣳ ह वै देवा अनीकं कृत्वोपप्रेयुर्वृत्रꣳ हनिष्यन्तः स तेजोऽग्निर्नाव्यथत तथोऽएवैष एतत्पाप्मानं द्विषन्तं भ्रातृव्यꣳ हनिष्यन्नग्निमेवानीकं कृत्वोपप्रैति स तेजोऽग्निर्न व्यथते तस्मादग्नयेऽनीकवते ॥२॥ अथ मरुद्भ्यः सांतपनेभ्यः । मध्यन्दिने चरुं निर्वपति मरुतो ह वै सांतपना मध्यन्दिने वृत्रꣳ संतेपुः स संतप्तोऽनन्नेव प्राणान्परिदीर्णः शिश्ये तथोऽएवैतस्य पाप्मानं द्विषन्तं भ्रातृव्यं मरुतः सांतपनाः संतपन्ति तस्मान्मरुद्भ्यः सांतपनेभ्यः ॥३॥ अथ मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्यः । शाखया वत्सानपाकृत्य पवित्रवति संदोह्य तं चरुꣳ श्रपयति चरुरु ह्येव स यत्र ह्व च तण्डुलानावपन्ति तन्मेधो देवा दधिरे प्रातर्वृत्रꣳ हनिष्यन्तस्तथोऽएवैष एतत्पाप्मानं द्विषन्तं भ्रातृव्यꣳ हनिष्यन्मेधो धत्ते तद्यत्क्षीरौदनो भवति मेधो वै पयो मेधस्तण्डुलास्तमुभयं मेधमात्मन्धत्ते तस्मात्क्षीरौदनो भवति ॥४॥ तस्यावृत् । सैव स्तीर्णा वेदिर्भवति या मरुद्भ्यः सांतपनेभ्यस्तस्यामेव स्तीर्णायां वेदौ परिधींश्च शकलांश्चोपनिदधाति तथा संदोह्य चरुꣳ श्रपयति श्रपयित्वाभिघार्योद्वासयति ॥५॥ अथ द्वे पिशीले वा पात्र्यौ वा निर्णेनिजति । तयोरेनं द्वेधोद्धरन्ति तयोर्मध्ये सर्पिरासेचने कृत्वा सर्पिरासिञ्चति स्रुवं च स्रुचं च संमार्ग्ध्येताऽओदनावादायोदैति स्रुवं च स्रुचं चादायोदैति स इमामेव स्तीर्णां वेदिमभिमृश्य परिधीन्परिधाय यावतः शकलान्कामयते तावतोऽभ्यादधात्येताऽओदनावासादयति स्रुवं च स्रुचं चासादयत्युपविशति होता होतृषदने स्रुवं च स्रुचं चाददान आह ॥६॥ अग्नयेऽनुब्रूहीति । आग्नेयमाज्यभागꣳ स दक्षिणस्यौदनस्य सर्पिरासेचनाच्चतुराज्यस्यावदायातिक्रामत्यतिक्रम्याश्राव्याहाग्निं यजेति वषट्कृते जुहोति ॥७॥ अथाह सोमायानुब्रूहीति । सौम्यमाज्यभागꣳ स उत्तरस्यौदनस्य सर्पिरासेचनाच्चतुराज्यस्यावदायातिक्रामत्यति-

(वरुणप्रघास के) चौथे मास में यह (साकमेध) यज्ञ करता है। वह इस यज्ञ को दो लगातार दिनों में करता है ॥१॥

पहले दिन 'अनीकवत्' अग्नि के लिए आठ कपालों का पुरोडाश देता है, क्योंकि अग्नि को 'अनीक' (नुकीला) करके ही वे देव वृत्र को मारने दौड़े थे। और उस तेज को अग्नि ने छोड़ा नहीं। उसी प्रकार (यजमान भी) पापी अहितकारी शत्रु को मारने के लिए अग्नि को 'अनीक' (नुकीला) करके दौड़ता है। उस तेज को अग्नि नहीं छोड़ता, इसलिए 'अग्नि अनीकवत् के लिए' ॥२॥

दोपहर को 'सांतपन मरुतों' के लिए 'चरु' देता है। क्योंकि दोपहर को गर्म (सन्तप्त) हवाओं ने वृत्र को झुलसा दिया। इस प्रकार झुलसकर वह हाँपता हुआ और जख्मी पड़ा था। इसी प्रकार 'सांतपन मरुत्' (गर्म हवाएँ) उस यजमान के पापी, अहितकारी, शत्रु को झुलसा देते हैं, इसलिए 'सांतपन मरुतों के लिए' ॥३॥

इसके पश्चात् (सायंकाल को) 'गृहमेधी मरुतों' के लिए (चरु)। (पलाश की) शाखा से बछड़ों को दूर करके वह पवित्रोंवाले बर्तन में (गायों को) दुहकर चरु को पकाता है। जिसमें तण्डुल या चावल पकाते हैं वह 'चरु' कहलाता है। जिस अगले दिन देव वृत्र को मारने जा रहे थे उसकी शाम को देवों ने यही भोजन किया था (मेधो दधिरे)। यहाँ 'मेध' का अर्थ भोजन है ('Nourishment' according to Eggeling)। इसी प्रकार यह यजमान भी पापी अहितकारी शत्रु को मारने के लिए इसी मेध या भोजन को करता है। यह दूध और चावल दोनों का क्यों बनाते हैं ? दूध 'मेध' या शक्तिवाला भोजन है और चावल भी शक्तिवाला भोजन है। इस प्रकार वह अपने में दोनों शक्तियों (मेध) को धारण करता है। इसलिए दूध और चावल का चरु बनाते हैं ॥४॥

यह इस प्रकार से—जो कुशों से आच्छादित वेदी 'सांतपन मरुतों' के लिए थी, वही अब भी काम में आती है। इसी कुशों से आच्छादित (स्तीर्णा) वेदी में 'परिधि' और 'शकल' अर्थात् बड़ी समिधाओं और छोटे टुकड़ों को रखता है और उसी प्रकार दुहकर चरु पकाता है, और पकाकर और चुपड़कर (घी डालकर) आग से हटा लेता है ॥५॥

तब दो बर्तनो या थालियों को माँजता है। और उनमें उस (चरु) के दो बराबर भाग करके रख देता है। उनके बीच में गड्ढा करके उनमें घी छोड़ता है। अब स्रुवा और स्रुक् दोनों को पोंछता है, और भात के दोनों पात्रों को लेकर (वेदी तक) आता है। फिर वह स्रुवा और स्रुक् को लेकर (वेदी तक) आता है, और कुशों से आच्छादित वेदी को छूकर समिधाएँ रखकर जितने टुकड़ों को चाहता है रख देता है। तब वह दोनों भात की थालियों को और स्रुवा और स्रुक् को यथोचित स्थान पर रख देता है। होता होता के आसन पर बैठ जाता है। स्रुवा और स्रुक् को लेकर अध्वर्यु कहता है—॥६॥

'अग्नि के लिए कह।' अग्नि के आज्य भाग की ओर संकेत करके। दाहिने भात की प्याली के गड्ढे के घी में से चार भाग लेकर दक्षिण की ओर जाता है, और जाकर आग्नीध्र के लिए 'श्रौषट्' कहता है। फिर (होता से) कहता है, 'अग्निं यज।' और वषट्कार कहने के अनन्तर आहुति देता है ॥७॥

अब सोम के आज्य भाग की ओर संकेत करके कहता है, 'सोम के लिए कह।' और बायें भात की थाली के गड्ढे के घी में से चार भाग लेकर आता है और आकर 'श्रौषट्' कहकर वह

क्रम्याश्राव्याह सोमं यजेति वषट्कृते जुहोति ॥८॥ अथाह मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्यो ऽनुब्रूहीति । स दक्षिणस्यौदनस्य सर्पिरासेचनात्तत आज्यमुपस्तृणीते तस्य द्विरवद्यत्यथोपरिष्टादाज्यस्याभिघारयत्यतिक्रामत्यतिक्रम्याश्राव्याह मरुतो गृहमेधिनो यजेति वषट्कृते जुहोति ॥९॥ अथाहाग्नये स्विष्टकृतेऽनुब्रूहीति । स उत्तरस्यौदनस्य सर्पिरासेचनात्तत आज्यमुपस्तृणीते तस्य द्विरवद्यत्यथोपरिष्टादाज्यस्याभिघारयत्यतिक्रामत्यतिक्रम्याश्राव्याहाग्निं स्विष्टकृतं यजेति वषट्कृते जुहोत्यथेडामेवावद्यति न प्राशित्रमुपह्वय मार्जयन्तऽएतन्न्वेकमयनम् ॥१०॥ अथेदं द्वितीयं । सैव स्तीर्णा वेदिर्भवति या मरुद्भ्यः सांतपनेभ्यस्तस्यामेव स्तीर्णायां वेदौ परिधींश्च शकलांश्चोपनिदधाति तया संदोह्य चरुं श्रपयति नेदेव प्रतिविशमाज्यमधिश्रयति श्रपयित्वाभिघार्योद्वास्यानक्ति स्थाल्यामाज्यमुद्वासयति स्रुवं च स्रुचं च संमार्ग्यैतं सोखमेव चरुमादायोदेति स्थाल्यामाज्यमादायोदेति स्रुवं च स्रुचं चादायोदेति स इमामेव स्तीर्णां वेदिमभिमृश्य परिधीन्परिधाय यावतः शकलान्कामयते तावतोऽभ्यादधात्यथैतं सोखमेव चरुमासादयति स्थाल्यामाज्यमासादयति स्रुवं च स्रुचं चासादयत्युपविशति होता होतृषदने स्रुवं च स्रुचं चाददान आह ॥११॥ अग्नयेऽनुब्रूहीति । आग्नेयमाज्यभागं स स्थाल्यै चतुराज्यस्यावदायातिक्रामत्यतिक्रम्याश्राव्याहाग्निं यजेति वषट्कृते जुहोति ॥१२॥ अथाह सोमायानुब्रूहीति । सौम्यमाज्यभागं स स्थाल्याऽएव चतुराज्यस्यावदायातिक्रामत्यतिक्रम्याश्राव्याह सोमं यजेति वषट्कृते जुहोति ॥१३॥ अथाह मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्योऽनुब्रूहीति । स उपस्तृणीतऽआज्यमथास्य चरोर्द्विरवद्यत्यथोपरिष्टादाज्यस्याभिघारयति प्रत्यनक्त्यवदानेऽअतिक्रामत्यतिक्रम्याश्राव्याह मरुतो गृहमेधिनो यजेति वषट्कृते जुहोति ॥१४॥ अथाहाग्नये स्विष्टकृतेऽनुब्रूहीति । स उपस्तृणीतऽआज्यमथास्य चरोः सकृदवद्यत्यथोपरिष्टाद्द्विराज्यस्याभिघारयति न प्रत्यन-

कहता है, 'सोमं यज ।' इसके अनन्तर 'वषट्कार' कहके आहुति देता है ॥८॥

अब कहता है, 'गृहमेधी मरुतों के लिए कह ।' दाहिने भात की प्याली के गड्ढे में घी फैलाता है। उसमें से दो भाग लेकर उन पर घी छोड़ता है और चला आता है। वहाँ आकर श्रौषट् कहकर कहता है, 'मरुतो गृहमेधिनो यज ।' और वषट्कार कहकर आहुति देता है ॥९॥

अब कहता है, 'स्विष्टकृत् अग्नि के लिए कह ।' बायें भात के गड्ढे के घी को फैलाता है और दो भाग लेकर उन पर घी छोड़ता है और चला आता है। आकर 'श्रौषट्' कहकर कहता है—'अग्ने स्विष्टकृतं यज ।' और 'वषट्' कहकर आहुति देता है। अब इडा को काटता है परन्तु अगला भाग नहीं। इडा कहकर वे अपने को पवित्र कर लेते हैं। यह एक प्रकार है (साकमेध का) ॥१०॥

अब यह दूसरा। वेदी वही स्तीर्ण रहती है जो 'सातपन मरुतों' के लिए थी। इसी आच्छादित वेदी में परिधि और शकलों को रखता है। और (गौओं को उसी तरह) दुहकर चरु पकाता है। घृत वहीं (?) रखता है। चरु पकाकर घी डालता है, और आग से हटा लेता है। थाली में घी को निकालता है, स्रुवा और स्रुक् को पोंछता है। चरु को बर्तन में लेकर (वेदी तक) आता है। फिर थाली में घी लेकर आता है और फिर स्रुवा और स्रुक् को लेकर आता है। अब वह कुशों से ढकी हुई वेदी को छूता है। और परिधियों को (आहवनीय अग्नि पर) रखता है और जितने लकड़ी के टुकड़ों को चाहता है रख देता है। अब वह चरुके बर्तन को रख देता है, घी की थाली को रख देता है, स्रुवा और स्रुक् को रख देता है। होता होता के आसन पर बैठ जाता है। स्रुवा और स्रुक् को लेकर (अध्वर्यु) कहता है—॥११॥

'अग्नि के लिए कह ।' यह अग्नि के आज्य भाग के विषय में। अब थाली में से घी के चार भाग लेकर (अग्नि के दक्षिण को) जाता है। जाकर और (आग्नीध्र को) श्रौषट् कहकर (होता से) कहता है, 'अग्निं यज' और वषट्कार कहकर आहुति डालता है ॥१२॥

अब वह कहता है, 'सोम के लिए कह ।' यह सोम को आज्यभाग के सम्बन्ध में कहा। अब प्याली में से चार भाग लेकर जाता है। जाकर श्रौषट् कहकर कहता है 'सोमं यज' और वषट्कार के पश्चात् आहुति देता है ॥१३॥

अब कहता है, 'गृहमेधी मरुतों के लिए कह'। अब वह (जुहू में) घी को फैलाता है। चरु में से दो भाग काटता है। उस पर घी डालता है। फिर दो भागों को चुपड़ता है और (वेदी तक) जाता है। जाकर और श्रौषट् कहकर कहता है, 'मरुतो गृहमेधिनो यज' और वषट्कार कहकर आहुति दे देता है ॥१४॥

अब कहता है, 'अग्निस्स्विष्टकृत के लिए कह ।' अब वह घी को फैलाता है, चरु में से एक टुकड़ा लेता है और दो बार घी छोड़ता है, और दोनों टुकड़ों को बिना चुपड़े हुए जाता है।

ह्यवदानमतिक्रामत्यतिक्रम्याश्राव्याहाग्नि७ स्विष्टकृते यजेति वषट्कृते जुहोति ॥१५॥ अथैडामेवावद्यति न प्राशित्रम् । उपहूय प्राश्नन्ति यावन्तो गृह्या हविरुच्छिष्टाशाः स्युस्तावन्तः प्राश्नीयुरथोऽअप्यृत्विजः प्राश्नीयुरथोऽअप्यन्ये ब्राह्मणाः प्राश्नीयुर्यदि बहुरोदन स्यादथैतामनिरशितां कुम्भीमपिधाय निदधाति पूर्णदर्वाय मातृभिर्वत्सान्त्समवार्जन्ति तद्ध पशवो मेधमात्मन्दधते यवाग्वैता७ रात्रिमग्निहोत्रं जुहोति निवान्यां प्रातर्दुहन्ति पितृयज्ञाय ॥१६॥ अथ प्रातर्हुते वाहुते वा । यतरया कामयेत सोऽस्याऽअनिरशितायै कुम्भ्यै दर्व्योपहन्ति पूर्णा दर्वि परापत सुपूर्णा पुनरापत । वस्नेव विक्रीणावहाऽइषमूर्ज७ शतक्रतविति यथा पुरोऽनुवाक्यैवमेवैतयैवैनमेतस्मै भागाय ह्वयति ॥१७॥ अथऽर्षभमाह्वयितवै ब्रूयात् । स यदि रुयात्स वषट्कार इत्यु हैकऽआहुस्तस्मिन्वषट्कारे जुहुयादित्यथोऽइन्द्रमेवैतत्स्वेन रूपेण ह्वयति वृत्रस्य बधायैतद्वाऽइन्द्रस्य रूपं यदृषभस्तत्स्वेनैवैनमेतद्रूपेण ह्वयति वृत्रस्य बधाय स यदि रुयादा मऽइन्द्रो यज्ञमगन्त्सेन्द्रो मे यज्ञ इति ह विद्याद्यद्यु न रुयाद्ब्राह्मण एव दक्षिणत आसीनो ब्रूयाज्जुहुधीति सैवैन्द्री वाक् ॥१८॥ स जुहोति । देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे । निहारं च हरासि मे निहारं निहराणि ते स्वाहेति ॥१९॥ अथ मरुद्भ्यः क्रीडिभ्यः । सप्तकपालं पुरोडाशं निर्वपति मरुतो ह वै क्रीडिनो वृत्र७ हनिष्यन्तमिन्द्रमागतं तमभितः परिचिक्रीडुर्महयन्तस्तथोऽएवैतं पाप्मानं द्विषन्तं भ्रातृव्य७ हनिष्यन्तमभितः परिक्रीडन्ते महयन्तस्तस्मान्मरुद्भ्यः क्रीडिभ्योऽथातो महाहविष एव तस्यथा महाहविषस्तथो तस्य ॥२०॥ ब्राह्मणम् ॥४[५.३.]॥ चतुर्थः प्रपाठकः समाप्तः ॥ कण्डिकासंख्या १०५ ॥ ॥

महाहविषा ह वै देवा वृत्रं जघ्नुः । तेनोऽएव व्यजयन्त येयमेषां विजितिस्तां तथोऽएवैष एतेन पाप्मानं द्विषन्तं भ्रातृव्य७ हन्ति तथोऽएव विजयते त-

जाकर श्रौषट् कहकर कहता है, 'अग्नि स्विष्टकृतं यज।' वषट्कार कहकर आहुति दे देता हैं ॥१५॥

अब इडा में से काटता है परन्तु आगे का भाग नहीं। (इडा को) कहकर वे (ऋत्विज) खाते हैं। घर के जितने लोग बची हुई हवि को खानेवाले हों वे खावें, या ऋत्विज लोग खावें। यदि भात अधिक हो तो अन्य ब्राह्मण भी खावें। जब तक कुम्भी (पात्र) बिल्कुल खाली न होने पावे उसे ढककर 'पूर्णदर्व' के लिए रख देते हैं। अब गायों के लिए बछड़ों को छोड़ देते हैं। इस प्रकार पशु भोजन को जाते हैं। उस रात को वह यवागू (जो और गुड़ का मिला हुआ) से अग्निहोत्र करता है। प्रातःकाल पितृयज्ञ के लिए निवान्या गौ को (जो गौ दूसरे के बछड़े को पिलाती है) दुहता है ॥१६॥

इसके बाद, प्रात: के समय, अग्निहोत्र करने के बाद अथवा उससे पहले, जैसा भी वह चाहे, वे (शेष चरु को) दर्वी चमचे से बिना खाली हुई कुम्भी में से काटता है, यह कहकर (यजु० ३।४९) "पूर्णा दर्वि परापत सुपूर्णा पुनरापत ! वस्नेव विक्रीणावहाऽइषमूर्जँ शतक्रतो।" अर्थात् "पूर्ण हे दर्वि ! दूर उड़ो। अच्छी तरह पूर्ण, वापस हम तक उड़ो; हे शतक्रतु इन्द्र, वस्ना या ब्यापार वस्तु के समान हम दोनों भोज्य और पेय का मोल-भाव करें।" उसी प्रकार अनुवाक्य के समान इस ऋचा को कहकर वह उसे (इन्द्र को) भाग के लिए बुलाता है ॥१७॥

अब वह यजमान से कहे, 'बैल को बुलवा।' कुछ लोग कहते हैं कि 'यदि बैल डकारे तो यह वषट्कार है। इसी वषट्कार के पश्चात् आहुति देनी चाहिए।' इस प्रकार वह वृत्र के वध के लिए इन्द्र को उसी के रूप में बुलाता है। ऋषभ (बैल) इन्द्र का ही रूप है। इस प्रकार वह वृत्र के वध के लिए इन्द्र को उसी के रूप में बुलाता है। यदि वह डकारे तो जानना चाहिए कि मेरे यज्ञ में इन्द्र आ गया, मेरा यज्ञ इन्द्र-युक्त हो गया। और यदि (बैल) न डकारे तो दक्षिण की ओर बैठा हुआ ब्राह्मण कहे 'जुहुधि' (आहुति दो)। यह वस्तुतः इन्द्र की वाणी है ॥१८॥

वह इस मन्त्र से आहुति देता है, "देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे। निहारं च हरासि मे निहारं निहराणि ते स्वाहा" (यजु० ३।५०)—"मुझे दे। मैं तुझे देता हूँ। मेरे अर्पण कर। मैं तेरे अर्पण करता हूँ। मेरे लिए उपहार ला। मैं तेरे लिए उपहार लाऊँ। स्वाहा" ॥१९॥

अब सात कपालों का पुरोडाश खेलनेवाले मरुतों के लिए देता है, क्योंकि जब इन्द्र वृत्र को मारने के लिए गया तो खेलनेवाले मरुत् उसके चारों ओर खेलते थे और उसकी प्रशंसा करते थे। ऐसे ही वे यजमान के चारों ओर प्रशंसा करते हुए खेलते हैं। क्योंकि वह अपने दुष्ट और अहितकर शत्रु को मारने जा रहा है, इसलिए 'खेलनेवाले मरुतों' के लिए आहुति दी जाती है। इसके पश्चात् महाहविष् होता है। यह उसी प्रकार है जैसे महाहविष् की अलग आहुति दी जाय ॥२०॥

अध्याय ५—ब्राह्मण ४

देवों ने वृत्र को महाहवि के द्वारा मारा। उसी से उन्होंने वह विजय प्राप्त की जो उनको मिली हुई है। इसलिए वह अपने पापी, अहितकारी शत्रु को मार डालता और उस पर विजय पा

स्माद्वाऽएष एतेन यजते ॥१॥ तस्यावृत् । उपकिरन्त्युत्तरवेदिं गृह्णन्ति पृषदाज्यं मन्थन्त्यग्निं नवप्रयाजं भवति नवानुयाजं त्रीणि समिष्टयजूꣳषि भवन्त्यथैतान्येव पञ्च हवीꣳषि भवन्ति ॥२॥ स यदाग्नेयोऽष्टाकपालः पुरोडाशो भवति । अग्निना ह वाऽएनं तेजसाघ्नन्त्स तेजोऽग्निर्नाव्यथत तस्मादाग्नेयो भवति ॥३॥ अथ यत्सौम्यश्चरुर्भवति । सोमेन ह वाऽएनꣳ राजाघ्नन्त्सोमराजान एव तस्मात्सौम्यश्चरुर्भवति ॥४॥ अथ यत्सावित्रः । द्वादशकपालो वाष्टाकपालो वा पुरोडाशो भवति सविता वै देवानां प्रसविता सवितृप्रसूता हैवैनमघ्नꣳस्तस्मात्सावित्रो भवति ॥५॥ अथ यत्सारस्वतश्चरुर्भवति । वाग्वै सरस्वती वाग् हैवानुममाद प्रहर जहीति तस्मात्सारस्वतश्चरुर्भवति ॥६॥ अथ यत्पौष्णश्चरुर्भवति । इयं वै पृथिवी पूषेयꣳ हैवैनं बधाय प्रतिप्रददावनया हैवैनं प्रतिप्रत्तं जघ्नुस्तस्मात्पौष्णश्चरुर्भवति ॥७॥ अथैन्द्राग्नो द्वादशकपालः पुरोडाशो भवति । एतेन हैवैनमघ्नꣳस्तेजो वाऽअग्निरिन्द्रियं वीर्यमिन्द्र एताभ्यामेनमुभाभ्यां वीर्याभ्यामघ्नन्ब्रह्म वाऽअग्निः क्षत्रमिन्द्रस्तेऽउभे सꣳरभ्य ब्रह्म च क्षत्रं च सयुजौ कृत्वा ताभ्यामेनमुभाभ्यां वीर्याभ्यामघ्नꣳस्तस्मादैन्द्राग्नो द्वादशकपालः पुरोडाशो भवति ॥८॥ अथ माहेन्द्रश्चरुर्भवति । इन्द्रो वाऽएष पुरा वृत्रस्य बधादथ वृत्रꣳ हत्वा यथा महाराजो विजिग्यान एवं महेन्द्रोऽभवत्तस्मान्माहेन्द्रश्चरुर्भवति महान्तमु चैवैनमेतत्खलु करोति वृत्रस्य बधाय तस्माद्विव माहेन्द्रश्चरुर्भवति ॥९॥ अथ वैश्वकर्मण एककपालः पुरोडाशो भवति । विश्वं वाऽएतत्कर्म कृतꣳ सर्वं जितं देवानामासीत्साकमेधैरीजानानां विजिग्यानानां विश्वमेवैतस्यैतत्कर्म कृतꣳ सर्वं जितं भवति साकमेधैरीजानस्य विजिग्यानस्य तस्माद्वैश्वकर्मण एककपालः पुरोडाशो भवति ॥१०॥ एतेन वै देवाः । यज्ञेनेष्ट्वा येयं देवानां प्रजातिर्या श्रीरेतद्बभूवुरेताꣳ ह वै प्रजातिं प्रजा-

लेता है जो इस यज्ञ को करता है ॥१॥

उसकी विधि इस प्रकार है, एक उत्तर वेदी बनाते हैं। घी की नवनी लेते हैं, और अग्नि को मथते हैं। नौ प्रयाज होते हैं, नौ अनुयाज और तीन समिष्ट-यजु। पहले पाँच हवियें होती हैं ॥२॥

अग्नि के लिए आठ कपालों का पुरोडाश होता है। अग्नि को तीक्ष्ण करके उन्होंने (वृत्र को) मारा था, और अग्नि-तेज विफल नहीं हुआ। इसलिए अग्नि की हवि होती है ॥३॥

अब सोम का चरु होता है। सोम राजा की सहायता से उसको मारा था, इसलिए सोम राजा की हवि होती है ॥४॥

अब सविता के लिए बारह कपालों या आठ कपालों का पुरोडाश होता है। सविता देवों का प्रेरक है। सविता की प्रेरणा से ही उसको मारा था, इसलिए यह सविता की हवि हुई ॥५॥

अब सरस्वती का चरु हुआ। वाणी ही सरस्वती है और वाणी ने ही उनको यह कहकर उत्साह दिलाया, 'मारो। मारो।' इसलिए सरस्वती का चरु हुआ ॥६॥

अब पूषा का चरु होता है। पृथिवी ही पूषा है। इसी ने वध के लिए वृत्र को पेश कर दिया। और पृथिवी के पेश कर देने पर उन्होंने उसे मारा। इसलिए पूषा का चरु हुआ ॥७॥

अब बारह कपालों का पुरोडाश इन्द्र और अग्नि के लिए हुआ। इसी अग्नि के द्वारा उन्होंने उसे मारा था। अग्नि ही तेज है और इन्द्र वीर्य। इन्हीं दोनों शक्तियों के द्वारा उन्होंने उसे मारा। अग्नि ब्राह्मण है, इन्द्र क्षत्रिय। इन दोनों को मिलाकर अर्थात् ब्रह्म-शक्ति और क्षत्र-शक्ति को मिलाकर उन्होंने उसको इन दो शक्तियों के द्वारा मारा था, इसलिए बारह कपालों का पुरोडाश इन्द्र और अग्नि के लिए हुआ ॥८॥

अब महेन्द्र के लिए चरु होता है। वृत्र के वध से पहले वह केवल इन्द्र था। वृत्र के बध के अनन्तर महेन्द्र हो गया, जैसे विजय के पीछे महाराजा। इसलिए महेन्द्र के लिए चरु हुआ। इससे वह वृत्र के मारने के लिए उसको बड़ा (बलिष्ठ) भी कर देता है। इसलिए महेन्द्र के लिए चरु हुआ ॥९॥

अब विश्वकर्मा के लिए एक कपाल का पुरोडाश होता है। देवों ने साकमेध यज्ञ करके और (वृत्र पर) विजय पाकर अपने काम को पूरा कर लिया ('विश्वं कृतं' का अर्थ है पूरा कर लेना) और सब-कुछ जीत लिया। इसी प्रकार जो पुरुष साकमेध यज्ञ कर लेता है और विजय पा लेता है, वह अपने काम को पूरा कर लेता है। इसीलिए विश्वकर्मा के लिए एक कपाल का पुरोडाश होता है ॥१०॥

देवों की जो प्रजाति (फूलना-फलना) और श्री इस समय हे, वह सब इसी यज्ञ को करके हुई है। इसी प्रकार जो इस रहस्य को समझकर इस यज्ञ को करता है उसकी सन्तान फूलती-

यतऽएतां श्रियं गच्छति य एवं विद्वानेतेन यज्ञेन यजते तस्माद्वाऽएतेन यजेत ॥११॥ ब्राह्मणम् ॥[५.४.]॥ अध्यायः ॥५ [१४.]॥ ॥

महाहविषा ह वै देवा वृत्रं जघ्नुः । तेनोऽएव व्यजयन्त येयमेषां विजितिस्तामथ यानेवैषां तस्मिन्त्संग्रामेऽघ्नंस्तान्पितृयज्ञेन समैरयन्त पितरो वै तऽआसंस्तस्मात्पितृयज्ञो नाम ॥१॥ तद्वसन्तो ग्रीष्मो वर्षाः । एते ते ये व्यजयन्त शरद्धेमन्तः शिशिरस्तेऽउ ते यान्पुनः समैरयन्त ॥२॥ अथ यदेष एतेन यजते । तन्नाह न्वेवैतस्य तथा कं चन घ्नन्तीति देवा अकुर्वन्निति न्वेवैष एतत्करोति यमु चैवैभ्यो देवा भागमकल्पयंस्तमु चैवैभ्य एष एतद्भागं करोति यानु चैव देवाः समैरयन्त तानु चैवैतदवति स्वानु चैवैतत्पितृंल्लोकमुपोन्नयति यद्ध चैवास्यात्रात्मनोऽचरणेन हन्यते वा मीयते वा तद्ध चैवास्यैतेन पुनराप्यायते तस्माद्वाऽएष एतेन यजते ॥३॥ स पितृभ्यः सोमवद्भ्यः । षट्कपालं पुरोडाशं निर्वपति सोमाय वा पितृमते षड्वाऽऋतव ऋतवः पितरस्तस्मात्षट्कपालो भवति ॥४॥ अथ पितृभ्यो बर्हिषद्भ्यः । अन्वाहार्यपचने धानाः कुर्वन्ति ततोऽर्धाः पिᳲषन्त्यर्धा इत्येव धाना अपिष्टा भवन्ति ता धानाः पितृभ्यो बर्हिषद्भ्यः ॥५॥ अथ पितृभ्योऽग्निष्वात्तेभ्यः । निवान्यायै दुग्धे सकृदुपमथितं एकशलाकया मन्थो भवति सकृद्ध ह्येव पराञ्चः पितरस्तस्मात्सकृदुपमथितो भवत्येतानि हवीᳲषि भवन्ति ॥६॥ ॥ शतम् १३०० ॥ ॥ तद्ये सोमेनेजानाः । ते पितरः सोमवन्तोऽथ ये दत्तेन पक्वेन लोकं जयन्ति ते पितरो बर्हिषदोऽथ ये ततो नान्यतरच्चन यानग्निरेव दहन्त्स्वदयति ते पितरोऽग्निष्वात्ता एतऽउ ते ये पितरः ॥७॥ स जघनेन गार्हपत्यम् । प्राचीनावीती भूत्वा दक्षिणासीन एतं षट्कपालं पुरोडाशं गृह्णाति स तत एवोपोत्थायोत्तरेणान्वाहार्यपचनं दक्षिणा तिष्ठन्नवहन्ति सकृत्फलीकरोति सकृद्ध ह्येव पराञ्चः पितरस्तस्मात्सकृत्फलीकरोति ॥८॥ स दक्षिणैव दृषदुपलेऽउपदधाति ।

फलती है और उसको श्री भी प्राप्त होती है। इसलिए इस यज्ञ को करे ॥११॥

अध्याय ६–ब्राह्मण १

देवों ने 'महाहवि' के द्वारा ही वृत्र को मारा और उस विजय को पाया जो इस समय उनको प्राप्त है। और जो उनमें वीर उस संग्राम में मारे गये उनको पितृयज्ञ से जिलाया। वे पितर ही तो थे। इसलिए पितृयज्ञ नाम पड़ा ॥१॥

अब वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा। ये वे हैं जिन्होंने (वृत्र) को जीता। शरद्, हेमन्त और शिशिर ये वे हैं जिनको दुबारा जिलाया ॥२॥

जब वह यह यज्ञ करता है तो इसलिए करता है कि एक तो (असुर) उसके किसी (सम्बन्धी) को न मार सकें, दूसरे चूँकि देवों ने यज्ञ किया था। इसके अतिरिक्त वह इसलिए भी यज्ञ करता है कि देवों ने जिन पितरों के लिए भाग निकाला था वह भाग उन तक पहुँच जावे। इस प्रकार जिनको देवों ने पुनर्जीवित किया उनको सन्तुष्ट करता है और अपने पितरों को श्रेय-लोक तक पहुंचाता है। और जो कुछ हानि या मृत्यु अपने अनुचित आचार से होती उसका प्रतीकार हो जाता है। इसलिए यह यज्ञ करता है ॥३॥

छः कपालों का पुरोडाश 'सोमवन्त पितरों' के लिए होता है, या 'पितृमत् सोम' के लिए। छः ऋतुएँ होती हैं। ऋतुएँ ही पितर हैं। इसलिए छः कपाल होते हैं ॥४॥

अब 'बर्हिषद् पितरों के लिए अन्वाहार्यपचन (या दक्षिणाग्नि) पर धान भूनते हैं। आधे धान पीस लेते हैं और आधे बिना पिसे होते हैं। ये धान 'बर्हिषद् पितरों' के लिए होते हैं ॥५॥

अब 'अग्नि-ष्वात्ता पितरों' के लिए हवि को बनाते हैं। इस प्रकार कि (पिसे हुए धानों में) अन्य के बछड़े को पिलानेवाली गाय का दूध मिलाकर और उसे एक शलाका से एक बार ही हिलाकर बनाते हैं। पितर एक बार ही परलोक को चले गये, इसलिए एक ही बार चलाते हैं; ये हवियाँ हुई ॥६॥

जिन्होंने सोम यज्ञ किया था वे हुए 'सोमवन्त पितर', और जो दिये हुए पके अन्न से लोक को जीतते हैं वे हुए 'बर्हिषद् पितर', और जिन्होंने न यह किया न वह और जिनको अग्नि ने जला दिया वे हुए 'अग्नि-ष्वात्ता'। ये पितर हुए ॥७॥

वह छः कपालों के पुरोडाश के लिए (चावल) गार्हपत्य के पीछे दक्षिण की ओर बैठकर और दाहिने कन्धे पर सामने की ओर जनेऊ रखकर निकालता है। वहाँ से उठकर अन्वाहार्यपचन के उत्तर की ओर खड़ा होकर दक्षिण की ओर मुख किये हुए पछोरता है। उनको एक ही बार साफ करता है ॥८॥

दक्षिण की ओर दृषद् और उपल (चाकी के पाट) को रखता है और गार्हपत्य के दक्षिण

दक्षिणार्धे गार्हपत्यस्य षट्कपालान्युपदधाति तद्ध्येतां दक्षिणां दिशꣳ सचन्तऽएषा हि दिक् पितृणां तस्मादेतां दक्षिणां दिशꣳ सचन्ते ॥९॥ अथ दक्षिणेनान्वाहार्यपचनं । चतुःस्रक्तिं वेदिं करोत्यवान्तरदिशोऽनु स्रक्तीः करोति चतस्रो वाऽअवान्तरदिशोऽवान्तरदिशो वै पितरस्तस्मादवान्तरदिशोऽनु स्रक्तीः करोति ॥१०॥ तन्मध्येऽग्निꣳ समादधाति । पुरस्ताद्धि देवाः प्रत्यञ्चो मनुष्यानभ्युपावृत्तास्तस्मात्तेभ्यः प्राङ् तिष्ठञ्जुहोति सर्वतः पितरोऽवान्तरदिशो वै पितरः सर्वत-इव ह्येमा अवान्तरदिशस्तस्मान्मध्येऽग्निꣳ समादधाति ॥११॥ स तत एव प्राक् स्तम्बयजुर्हरति । स्तम्बयजुर्हृत्वाथेत्येवाग्रे परिगृह्णात्यथेत्यथेति पूर्वेण परिग्राहेण परिगृह्य लिखति हरति यद्धार्यं भवति स तथैवोत्तरेण परिग्राहेण परिगृह्णात्युत्तरेण परिग्राहेण परिगृह्य प्रतिमृज्याह प्रोक्षणीरासादयेत्यासादयन्ति प्रोक्षणीरिध्मं बर्हिरुपसादयन्ति स्रुचः संमार्ष्ट्याज्येनोदेति स यज्ञोपवीती भूत्वाज्यानि गृह्णाति ॥१२॥ तदाहुः । द्विरुपभृति गृह्णीयाद्द्वौ ह्यत्रानुयाजौ भवत इति तदष्टावेव कृत्व उपभृति गृह्णीयान्नेद्यज्ञस्य विधाया अयानीति तस्मादष्टावेव कृत्व उपभृति गृह्णीयादाज्यानि गृहीत्वा स पुनः प्राचीनावीती भूत्वा ॥१३॥ प्रोक्षणीरध्वर्युरादत्ते । स इध्ममेवाग्रे प्रोक्षत्यथ वेदिमथास्मै बर्हिः प्रयच्छन्ति तत्पुरस्ताद्ग्रन्थ्यासादयति तत्प्रोक्ष्योपनिनीय विस्रꣳस्य ग्रन्थिं न प्रस्तरं गृह्णाति सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरस्तस्मान्न प्रस्तरं गृह्णाति ॥१४॥ अथ संनहनमनुविस्रꣳस्य । अपसलवि त्रिः परिस्तृणान्पर्येति सोऽपसलवि त्रिः परिस्तीर्य यावत्प्रस्तरभाजनं तावत्परिशिनष्ट्यथ पुनः प्रसलवि त्रिः पर्येति यत्पुनः प्रसलवि त्रिः पर्येति तद्यान्येवामूंस्त्रयान्पितॄनन्ववागात्तेभ्य एवैतत्पुनरपोदेतीमꣳ स्वं लोकमभि तस्मात्पुनः प्रसलवि त्रिः पर्येति ॥१५॥ स दक्षिणैव परिधीन्परिदधाति । दक्षिणा प्रस्तरꣳ स्तृणाति नान्तर्दधाति विधृती सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरस्तस्मान्नान्तर्दधाति विधृती ॥१६॥ स

भाग में छः कपालों को रखता है। दक्षिण दिशा में इसलिए रखते हैं कि दक्षिण दिशा पितरों की है। इसलिए दक्षिण दिशा की ओर रखते हैं ॥९॥

अब दक्षिणाग्नि के दक्षिण की ओर एक चौकोर वेदि बनाता है, जिसके कोने अवान्तर दिशाओं की ओर होते हैं। अवान्तर दिशा चार हैं और अवान्तर दिशा ही पितर हैं। इसलिए वेदि के कोने अवान्तर दिशाओं की ओर होते हैं ॥१०॥

उसके मध्य में अग्नि को रखता है। देव पूर्व से पश्चिम को मनुष्यों तक आये। इसलिए पूर्व की ओर मुख करके खड़ा होकर आहुति देता है। पितर सभी ओर हैं। अवान्तर दिशा ही पितर है। इसलिए वह अग्नि को मध्य में रखता है ॥११॥

वहाँ से वह स्तम्बयजु (कुश) को पूर्व की ओर फेंकता है। अब कुशों से वेदी को घेरत है—पहले इस प्रकार (पश्चिम की ओर), फिर इस प्रकार (उत्तर की ओर), फिर इस प्रकार (पूर्व की ओर)। पहली लकीर (या पंक्ति) से घेरकर (अध्वर्यु) रेखा खींचता है, और जो कुछ हटाना होता है उसे हटा देता है। अब वह दूसरी लकीर से घेरता है और दूसरी लकीर से घेरकर और चिकनाकर कहता है, 'प्रोक्षणी को रख।' अतः वे प्रोक्षणी को रखते हैं। और समिधा और बर्हि को ये उसके पास रखते हैं। वह स्रुकों को पोंछता है, और घी लेकर आता है। वह यज्ञोपवीत पहने-पहने ही घी को लेता है ॥१२॥

इस सम्बन्ध में कुछ लोग कहते हैं कि अनुयाज दो होते हैं, इसलिए उपभृति में दो बार घी ले। परन्तु उसे आठ बार करके घी लेना चाहिए। कहीं ऐसा न हो कि वह यज्ञ की विधि से दूर हो जाय। इसलिए आठ बार करके घी लेवे। घी लेकर और जनेऊ को दाहिने कन्धे पर करके—॥१३॥

अध्वर्यु प्रोक्षणी लेता है। पहले समिधों पर जल छिड़कता है, फिर वेदी पर। अब वे बर्हि को उसे देते हैं। और वह बर्हि को पूर्व की ओर गाँठ करके रखता है। अब उस पर जल छिड़ककर, गाँठ को खोलकर वह गाँठ को पकड़ता है, न कि प्रस्तर को। पितर एक बार ही चले गये इसलिए वह प्रस्तर को नहीं लेता ॥१४॥

(बर्हि के मुट्ठे को) खोलकर वह दाहिनी ओर से बाईं ओर को तीन बार घूमता है (वेदि पर) बर्हि को फैलाता हुआ। दाहिनी ओर से बाईं ओर को तीन तहों में फैलाकर वह इतने कुश बचा लेता है कि प्रस्तर बन सके। अब वह तीन बार बाईं ओर से दाहिनी ओर को मुड़ता है। वह तीन बार बाईं ओर से दाहिनी ओर को इसलिए मुड़ता है कि पहले वह अपने तीन पितरों के पीछे गया था, अब वह फिर अपने लोक को वापस आ जाता है। इसलिए वह तीन बार बाईं ओर से दाहिनी ओर को मुड़ता है ॥१५॥

वह परिधियों को दक्षिण की ओर रखता है। और प्रस्तर को भी दक्षिण की ओर रखता है। दो विधृतियों को बीच में नहीं रखता। पितर एक बार ही परलोक को सिधार गये, इसलिए दो विधृतियों को बीच में नहीं रखता ॥१६॥

तत्र जुहूमासादयति । अथ पूर्वामुपभृतमथ ध्रुवामथ पुरोडाशमथ धाना अथ म-
न्थमासाद्य हवीꣳषि संमृशति ॥१७॥ ते सर्वऽएव यज्ञोपवीतिनो भूत्वा । इत्या-
द्यजमानश्च ब्रह्मा च पश्चात्परीतः पुरस्तादग्नीत् ॥१८॥ तेनोपाꣳशु चरन्ति । तिर-
इव वै पितरस्तिर-इवैतद्यदुपाꣳशु तस्मादुपाꣳशु चरन्ति ॥१९॥ परिवृते चरन्ति ।
तिर-इव वै पितरस्तिर-इवैतद्यत्परिवृतं तस्मात्परिवृते चरन्ति ॥२०॥ अग्नेध्म-
मभ्यादधदाह । अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहीति स एकामेव होता सामिधेनीं त्रि-
रन्वाह सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरस्तस्मादेकाꣳ होता सामिधेनीं त्रिरन्वाह ॥२१॥
सोऽन्वाह । उशन्तस्त्वा निधीमह्युशन्तः समिधीमहि । उशन्नुशत आवह पितॄन्ह-
विषेऽअत्तवऽइत्यथाग्निमावह सोममावह पितॄन्सोमवत आवह पितॄन्बर्हिषद
आवह पितॄनग्निष्वात्तानावह देवाँ३ऽआज्यपाँ३ऽआवहाग्निꣳ होत्रायावह स्वं म-
हिमानमावहेत्यावाह्योपविशति ॥२२॥ अथाश्राव्य न होतारं प्रवृणीते । पि-
तृयज्ञो वाऽअयं नेद्धोतारं पितृषु दधानीति तस्मान्न होतारं प्रवृणीते सीद हो-
तरित्येवाहोपविशति होता होतृषदनऽउपविश्य प्रसौति प्रसूतोऽध्वर्युः स्रुचावा-
दाय प्रत्यङ्ङतिक्रामत्यतिक्रम्याश्राव्याह समिधो यजेति सोऽपबर्हिषश्चतुरः प्रयाजा-
न्यजति प्रजा वै बर्हिर्नेत्प्रजाः पितृषु दधानीति तस्मादपबर्हिषश्चतुरः प्रयाजान्य-
जत्यथाज्यभागाभ्यां चरत्याज्यभागाभ्यां चरित्वा ॥२३॥ ते सर्वऽएव प्राचीनावी-
तिनो भूत्वा । एतैर्हविर्भिः प्रचरिष्यन्त इत्याद्यजमानश्च ब्रह्मा च पुरस्तात्प-
रीतः पश्चादग्नीत्तदुताश्रावयत्यो३ स्वधेत्यस्तु स्वधेति प्रत्याश्रावणꣳ स्वधा नम
इति वषट्कारः ॥२४॥ तदु होवाचासुरिः । आश्रावयेयुरेव प्रत्याश्रावयेयुर्वषट्कुर्यु-
र्नेद्यज्ञस्य विधाया अयामेति ॥२५॥ अथाह पितृभ्यः सोमवद्भ्योऽनुब्रूहीति । सो-
माय वा पितृमते स द्वे पुरोऽनुवाक्येऽअन्वाहैकया वै देवान्प्रच्यावयन्ति द्वाभ्यां
पितॄन्सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरस्तस्माद्द्वे पुरोऽनुवाक्येऽअन्वाह ॥२६॥ स उप-

अब वह जुहू को रखता है और उसके पूर्व को उपभृत को। अब ध्रुवा, पुरोडाश, धान, मन्थ को रखकर हवियों को छूता है ॥१७॥

ये सब यज्ञोपवीती होकर यजमान और ब्रह्मा इस प्रकार पश्चिम को चलते हैं और अग्नीध् पूर्व को ॥१८॥

वे इसको धीरे-धीरे करते हैं। पितर भी छिपे हुए हैं और जो धीरे-धीरे पढ़ा जाय वह भी छिपे के ही समान है। इसलिए धीरे-धीरे ही पढ़ते हैं ॥१९॥

वे इस यज्ञ को घिरे हुए स्थान में करते हैं। पितर छिपे हुए हैं और जो घिरे स्थान में किया जाता है वह भी छिपे के तुल्य है ॥२०॥

अब वह समिधों को रखकर कहता है, 'जलती हुई आग के लिए कह।' होता एक सामिधेनी ऋचा को तीन बार पढ़ता है। पितर लोग एक ही बार परलोक को चले गये, इसलिए एक ही सामिधेनी ऋचा को तीन बार पढ़ता है ॥२१॥

वह जपता है, "उशन्तस्त्वा नि धीमहि। उशन्तः समिधीमहि। उशन्नुशत ऽआ वह पितॄन् हविषेऽअत्तवे' (यजु० १९।७०)—"प्रेम से हम तुझको रखते हैं। प्रेम से तुझे प्रज्वलित करते हैं। हे प्यारे, प्यारे पितरों को हवि खाने के लिए ला।" अब कहता है, 'अग्नि को ला, सोम को ला, सोमवन्त पितरों को ला, बर्हिषद् पितरों को ला, अग्निष्वात्ता पितरों को ला, घी पीनेवाले देवों को ला, होता के लिए अग्नि को ला, अपनी महिमा को ला।' इस प्रकार बुलाकर वह बैठ जाता है ॥२२॥

अब 'श्रौषट्' करने के पश्चात् वह होता का वरण नहीं करता। यह पितृयज्ञ है। ऐसा न हो कि होता को पितरों के हवाले कर दे, इसलिए होता का वरण नहीं करता। केवल यह कहकर कि, 'होता, बैठ', बैठ जाता है। होता होता-के-आसन पर बैठकर (अध्वर्यु को) प्रेरणा करता है। प्रेरित होकर अध्वर्यु दो स्रुकों को लेता है और पश्चिम की ओर जाता है। वहाँ जाकर 'श्रौषट्' कहकर कहता है, 'समिधो यज' (समिधों का यज्ञ कर)। बर्हि को छोड़कर चार प्रयाजों को करता है। बर्हि प्रजा है। ऐसा न हो कि प्रजा पितरों के हवाले हो जाय, इसलिए बर्हि को छोड़कर चार प्रयाजों को करता है। अब दो आज्य भागों को देते हैं और उनको देकर—॥२३॥

वे अपने जनेऊ को दाहिने कन्धे पर कर लेते हैं क्योंकि इन हवियों को देने की इच्छा कर रहे हैं। यजमान और ब्रह्मा इस प्रकार करके (पश्चिम से) पूर्व की ओर मुड़ते हैं, और आग्नीध्र (पूर्व से) पश्चिम की ओर। आगे (अध्वर्यु) श्रौषट् में कहते हैं 'ओ३म्! स्वधा।' (आग्नीध्र) उत्तर देता है, 'अस्तु स्वधा।' और वषट्कार है 'स्वधा नमः' ॥२४॥

इस पर आसुरि ने कहा, 'श्रौषट् कहो' और उत्तर में श्रौषट् कहना चाहिए और वषट्कार बोलना चाहिए। कहीं ऐसा न हो कि यज्ञ की विधि से हम हट जायें ॥२५॥

तब (अध्वर्यु) कहता है, 'सोमवन्त पितरों को बुलाओ।' सोमवन्त पितरों के लिए (होता) दो अनुवाक्य बोलता है—एक अनुवाक्य देवों के लिए बोला जाता है और दो पितरों के लिए। पितर एक बार ही परलोक को सिधार गये, इसलिए पितरों के लिए दो अनुवाक्य हुए ॥२६॥

स्तृणीतऽआज्यम् । अथास्य पुरोडाशस्यावद्यति स तेनैव सह धानानां तेन सह मन्थस्य तत्सकृदवदधात्यथोपरिष्टाद्द्विराज्यस्याभिघारयति प्रत्यनक्त्यवदानानि नातिक्रामतीत एवोपोत्थायाश्राव्याह पितृन्त्सोमवतो यजेति वषट्कृते जुहोति ॥२७॥ अथाह पितृभ्यो बर्हिषद्भ्योऽनुब्रूहीति । स उपस्तृणीतऽआज्यमथासां धानानामवद्यति स तेनैव सह मन्थस्य तेन सह पुरोडाशस्य तत्सकृदवदधात्यथोपरिष्टाद्द्विराज्यस्याभिघारयति प्रत्यनक्त्यवदानानि नातिक्रामतीत एवोपोत्थायाश्राव्याह पितॄन्बर्हिषदो यजेति वषट्कृते जुहोति ॥२८॥ अथाह पितृभ्योऽग्निष्वात्तेभ्योऽनुब्रूहीति । स उपस्तृणीतऽआज्यमथास्य मन्थस्यावद्यति स तेनैव सह पुरोडाशस्य तेन सह धानानां तत्सकृदवदधात्यथोपरिष्टाद्द्विराज्यस्याभिघारयति प्रत्यनक्त्यवदानानि नातिक्रामतीत एवोपोत्थायाश्राव्याह पितॄनग्निष्वात्तान्यजेति वषट्कृते जुहोति ॥२९॥ अथाहाग्नये कव्यवाहनायानुब्रूहीति । तत्स्विष्टकृते हव्यवाहनो वै देवानां कव्यवाहनः पितृणां तस्मादाहाग्नये कव्यवाहनायानुब्रूहीति ॥३०॥ स उपस्तृणीतऽआज्यम् । अथास्य पुरोडाशस्यावद्यति स तेनैव सह धानानां तेन सह मन्थस्य तत्सकृदवदधात्यथोपरिष्टाद्द्विराज्यस्याभिघारयति न प्रत्यनक्त्यवदानानि नातिक्रामतीत एवोपोत्थायाश्राव्याहाग्निं कव्यवाहनं यजेति वषट्कृते जुहोति ॥३१॥ स यन्नातिक्रामति । इत एवोपोत्थाय जुहोति सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरोऽथ यत्सकृत्सकृत्सर्वेषाꣳ हविषाꣳ समवद्यति सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरोऽथ यद्व्यतिषङ्गमवदानान्यवद्यत्यृतवो वै पितर ऋतूनेवैतद्व्यतिषजत्यृतून्त्संदधाति तस्माद्व्यतिषङ्गमवदानान्यवद्यति ॥३२॥ तद्धैके । एतमेव होत्रे मन्थमवदधति तꣳ होतोपह्वयावेव जिघ्रति तं ब्रह्मणे प्रयच्छति तं ब्रह्मावेव जिघ्रति तमग्नीधे प्रयच्छति तमग्नीदेवेव जिघ्रत्येतन्न्वेवैतत्कुर्वन्ति यथा त्वेवेतरस्य यज्ञस्येडाप्राशित्रꣳ समवद्यन्त्येवमेवैतस्यापि समवद्येयुस्तामुपह्वयावेव जिघ्रन्ति न प्राश्नन्ति प्र

अब घी को फैलाता है। वह पुरोडाश में से टुकड़ा काटता है, और साथ ही धान और मन्थ। ये सब एक ही साथ (जुहू में) रख देता है। दो बार घी छोड़ता है और टुकड़ों को फिर चुपड़ता है। वह दक्षिण को जाता नहीं, किन्तु उठकर और श्रौषट् कहकर कहता है—'पितॄन् सोमवतो यज।' और वषट्कार के पश्चात् आहुति दे देता है ॥२७॥

अब कहता है—'बर्हिषद् पितरों को बुलाओ।' अब घी को फैलाता है और धानों में से एक टुकड़ा लेकर मन्थ तथा पुरोडाश के साथ एक ही बार जुहू में रख देता है। दो बार घी छोड़ता है और उन टुकड़ों को चुपड़ता है। वह जाता नहीं, किन्तु उठकर और 'श्रौषट्' कहकर कहता है—'बर्हिषद् पितरों के लिए हवि दो', और वषट्कार के पश्चात् आहुति दे देता है ॥२८॥

अब कहता है—'अग्निष्वात्ता पितरों को बुलाओ।' घी को फैलाता है। मन्थ में से एक टुकड़ा काटता है और धान और पुरोडाश के साथ एक ही बार में (जुहू में) रख देता है। दो बार ऊपर से घी छोड़ता है, फिर उन टुकड़ों को चुपड़ता है। वह चलता नहीं, किन्तु उठकर 'श्रौषट्' कहकर कहता है–'अग्निष्वात्ता पितरों के लिए आहुति दो।' फिर वषट्कार के पश्चात् आहुति दे देता है ॥२६॥

अब कहता है—'कव्यवाहन अग्नि को बुलाओ।' यह स्विष्टकृत अग्नि के लिए कहा। वह देवों के लिए हव्यवाहन है और पितरों के लिए कव्यवाहन; इसलिए 'कव्यवाहन अग्नि के लिए' ऐसा कहा ॥३०॥

अब वह घी को फैलाता है। पुरोडाश में से टुकड़ा काटता है, धान और मन्थ के साथ (जुहू में) रख देता है। दो बार घी छोड़ता है और टुकड़ों को चुपड़ता नहीं, न चलता है, किन्तु उठकर और श्रौषट् कहकर कहता है—'कव्यवाहन अग्नि के लिए आहुति दो' और वषट्कार के पश्चात् आहुति दे देता है ॥३१॥

वह चलता क्यों नहीं और उठकर ही आहुति क्यों दे देता है? इसका कारण यह है कि पितर लोग एक बार ही परलोक को चले गये। और हवियों में से एक ही टुकड़ा क्यों काटता है? इसलिए कि पितर एक ही बार परलोक को चले गये। और टुकड़ों को काटकर एक साथ क्यों रखता है? इसलिए कि ऋतुएँ ही पितर हैं। इस प्रकार वह ऋतुओं को मिलाकर रखता है, ऋतुओं में सन्धि करता है। इसलिए इन टुकड़ों को एक-साथ रखता है ॥३२॥

कुछ लोग सब मन्थ को होता को दे देते हैं। होता उसका आवाहन करके सूंघता है, और ब्रह्मा को दे देता है। उसे ब्रह्मा सूंघता है और आग्नीध्र को देता है। आग्नीध्र भी उसे सूंघता है। वे ऐसा करते हैं। दूसरे यज्ञों में इडा को काटते हैं। इसमें भी काटना चाहिए। (इड का)

शितव्य ह्येव वयं मन्यामहऽइति ह स्माहासुरिर्यस्य कस्य चाग्नौ जुह्वतीति ॥३३॥
अथ यतरो दास्यन्भवति । यद्यध्वर्युर्वा यजमानो वा स उदपात्रमादायापसलवि
त्रिः परिषिञ्चन्पर्येति स यजमानस्य पितरमवनेजयत्यसाववनेनिक्ष्वेत्यसाववने-
निक्ष्वेति पितामहमसाववनेनिक्ष्वेति प्रपितामहं तद्यथाशिष्यतेऽभिषिञ्चेदेवं तत्
॥३४॥ अथास्य पुरोडाशस्यावदाय । सव्ये पाणौ कुरुते धानानामवदाय सव्ये पा-
णौ कुरुते मन्थस्यावदाय सव्ये पाणौ कुरुते ॥३५॥ स येमामवान्तरदिशमनु स्र-
क्तिः । तस्यां यजमानस्य पित्रे ददात्यसावेतत्तऽइत्यथ येमामवान्तरदिशमनु स्रक्ति-
स्तस्यां यजमानस्य पितामहाय ददात्यसावेतत्तऽइत्यथ येमामवान्तरदिशमनु स्र-
क्तिस्तस्यां यजमानस्य प्रपितामहाय ददात्यसावेतत्तऽइत्यथ येमामवान्तरदिशमनु
स्रक्तिस्तस्यां निमृष्टेऽत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वमिति यथाभागमश्नीते-
त्येवैतदाह तद्यदेवं पितृभ्यो ददाति नेनो स्वान्पितॄनेतस्माद्यज्ञान्नान्तरेति ॥३६॥
ते सर्वऽएव यज्ञोपवीतिनो भूत्वा । उदञ्च उपनिष्क्रम्याहवनीयमुपतिष्ठन्ते देवा-
न्वाऽएष उपावर्तते य आहिताग्निर्भवति यो दर्शपूर्णमासाभ्यां यजतेऽथैतत्पितृ-
यज्ञेनेवाचारिषुस्तद्ध देवेभ्यो निह्नुवते ॥३७॥ ऐन्द्रीभ्यामाहवनीयमुपतिष्ठन्ते । इ-
न्द्रो ह्याहवनीयोऽक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रिया अधूषत । अस्तोषत स्वभानवो वि-
प्रा नविष्ठया मती योजा न्विन्द्र ते हरी ॥ सुसंदृशं त्वा वयं मघवन्वन्दिषीमहि ।
प्र नूनं पूर्णबन्धुर स्तुतो यासि वशाँ२॥ऽअनु योजा न्विन्द्र ते हरीऽइति ॥३८॥
अथ प्रतिपरेत्य गार्हपत्यमुपतिष्ठन्ते । मनो न्वाह्वामहे नाराशꣳसेन स्तोमेन । पि-
तॄणां च मन्मभिः ॥ आ न एतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे । ज्योक्च सूर्यं दृशे ॥
पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः । जीवं व्रातꣳ सचेमहीति पितृयज्ञेनेव
वाऽएतदचारिषुस्तद्ध खलु पुनर्जीवानपिपद्यन्ते तस्मादाह जीवं व्रातꣳ सचेमही-
ति ॥३९॥ अथ यतरो ददाति । स पुनः प्राचीनावीती भूत्वाभिप्रपद्य जपत्यमीम-

आवाहन करके सूंघते हैं, खाते नहीं। परन्तु आसुरि की सम्मति है कि 'हमारा विचार है कि जो कुछ अग्नि में डाला जाय उसका कुछ भाग खाना भी चाहिए' ॥३३॥

अब जो हवि देनेवाला हो, चाहे अध्वर्यु, चाहे यजमान, वह पानी का बर्तन लेकर तीन बार दाहिनी से बाईं ओर को पानी छिड़कता हुआ चलता है। वह यजमान के (पितरों के) लिए 'असौ अवनेनिक्ष्व' (आप धोवें) इस प्रकार दो बार कहकर पानी डालता है, और 'आप धोवें, आप धोवें' कहकर बाबा (पितामह) के लिए (दक्षिण-पश्चिमी कोने में), फिर परबाबा (प्रपितामह) के लिए 'आप धोवें, आप धोवें' कहकर दक्षिण-पूर्वी कोने में। जैसे अतिथि को सत्कार के लिए जल देते हैं उसी प्रकार यहाँ भी ॥३४॥

अब पुरोडाश में से एक टुकड़ा काटकर बायें हाथ में लेता है। धानों में से भी एक भाग काटकर बायें हाथ में लेता है, और मन्थ में से भी एक टुकड़ा काटकर बायें हाथ में लेता है ॥३५॥

अब वह अवान्तर दिशा के सामने (उत्तर-पश्चिम की ओर) यजमान के बाप के लिए देता है, यह कहकर कि 'यह तुम्हारे लिए', और इस अवान्तर दिशा के सामने (दक्षिण-पश्चिम की ओर) यजमान के बाबा के लिए, यह कहकर कि 'यह तुम्हारे लिए।' और इस अवान्तर दिशा के सामने (दक्षिण-पूर्व की ओर) यजमान के परबाबा के लिए यह कहकर कि 'यह तुम्हारे लिए।' और इस अवान्तर दिशा के सामने (उत्तर-पूर्व की ओर) इस मन्त्र से हाथ धोता है—"अत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वम्" (यजु० २।३१)—"हे पितरो यहाँ खाओ, बैल के समान अपने-अपने भागों को।" इसका तात्पर्य यह है कि 'आप अपना-अपना भाग खाइये।' वह इस प्रकार पितरों को क्यों खिलाता है? इसलिए कि अपने पितरों को यज्ञ से वंचित नहीं करता ॥३६॥

अब वे सब यज्ञोपवीत धारण किये हुए उत्तर की ओर जाकर आहवनीय के (उत्तर को) खड़े होते हैं। जो आहिताग्नि होकर दर्श-पूर्णमास यज्ञ करता है वह देवों का निकटवर्ती होता है। परन्तु ये अभी पितृ-यज्ञ कर रहे थे, इसलिए अब ये देवों को सन्तुष्ट करते हैं ॥३७॥

अब वे इन्द्र-सम्बन्धी दो मन्त्रों को पढ़कर आहवनीय के पास खड़े होते हैं—"अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रियाऽअधूषत। अस्तोषत स्वभानवो विप्रा नविष्ठया मती योजा न्विन्द्र ते हरी ॥ सुसंदृशं त्वा वयं मघवन् वन्दिषीमहि। प्र नूनं पूर्णबन्धुर स्तुतो यासि वशाँ२ऽअनु योजा न्विन्द्र ते हरी" (यजु० ३।५१,५२ या ऋ० १।८२।२,३)—"प्यारों ने खा लिया, वे सन्तुष्ट हो गये और उन्होंने अपने को झाड़ डाला। प्रकाशयुक्त विप्रों ने स्तुति की – हे इन्द्र! अपने दोनों घोड़ों को जोत। हे इन्द्र, तुझ उत्तम की हम स्तुति करेंगे। इस प्रकार स्तुति किया गया तू अपने रथ में हमारी इच्छा के अनुसार आ। हे इन्द्र! तू अपने दोनों घोड़ों को जोत" ॥३८॥

अब वे गार्हपत्य तक लौटते हैं और खड़े होकर इन मन्त्रों को पढ़ते हैं—"मनो न्वाह्वामहे नाराशꣳसेन स्तोमेन। पितॄणां च मन्मभिः॥ आ नऽएतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे। ज्योक् च सूर्यं दृशे॥ पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः। जीवं व्रातꣳ सचेमहि।" (यजु० ३।५३, ५४, ५५ या ऋग्वेद १०।५७।३,४,५)—"हम नाराशंसी स्तोम के द्वारा मन का आवाहन करते हैं, और पितरों के स्तोम से। हमारे पास बुद्धि, शक्ति और जीवन के लिए मन फिर आवे कि हम बहुत दिनों तक सूर्य के दर्शन करें। हे पितरो, देव्य जन हम को फिर मन दें कि हम जीवित लोगों के साथ रह सकें।" अब तक वे पितृ-यज्ञ कर रहे थे। अब वे फिर जीवन को लौटते हैं। इसीलिए कहा—'हम जीवित लोगों के साथ रह सकें ॥३९॥

अब जिसने पिण्ड दिया था वह फिर दाहिने कन्धे पर जनेऊ रखकर यह मन्त्र जपता

दन्त पितरो यथाभागमावृषायिषतेति यथाभागमाशिषुरित्येवैतदाह ॥४०॥ अथो-
दपात्रमादाय । पुनः प्रसलवि त्रिः परिषिञ्चन्पर्येति स यजमानस्य पितरमवनेज-
यत्यसाववनेनिक्ष्वेत्यसाववनेनिक्ष्वेति पितामहमसाववनेनिक्ष्वेति प्रपितामहं त
द्यथा जक्षुषेऽभिषिञ्चेदेवं तत्तद्यत्पुनः प्रसलवि त्रिः परिषिञ्चन्पर्येति प्रसलवि न
इदं कर्मानुसंतिष्ठाताऽइति तस्मात्पुनः प्रसलवि त्रिः परिषिञ्चन्पर्येति ॥४१॥ अथ
नीविमुद्वृह्य नमस्करोति । पितृदेवत्या वै नीविस्तस्मान्नीविमुद्वृह्य नमस्करोति
यज्ञो वै नमो यज्ञियानेवैनानेतत्करोति षट् कृत्वो नमस्करोति षड्वाऽऋतव ऋत-
वः पितरस्तदृतुष्वेवैतद्यज्ञं प्रतिष्ठापयति तस्मात्षट् कृत्वो नमस्करोति गृहान्नः पि
तरो दत्तेति गृहाणाꣳ ह पितर ईशतऽएषोऽएतस्याशीः कर्मणः ॥४२॥ ते सर्व
ऽएव यज्ञोपवीतिनो भूत्वा । अनुयाजाभ्यां प्रचरिष्यन्त इत्याद्यजमानश्च ब्रह्मा च
पश्चात्परीतः पुरस्तादग्नीदुपविशति होता होतृषदने ॥४३॥ अथाह ब्रह्मन्प्रस्था-
स्यामि । समिधमाधायाग्निमग्नीत्संमृड्ढीति स्रुचावादाय प्रत्यङ्ङतिक्रामत्यतिक्रम्याश्रा-
व्याह देवान्यजेति सोऽपबर्हिषौ द्वावनुयाजौ यजति प्रजा वै बर्हिर्नेत्प्रजाः पि-
तृषु दधानीति तस्मादपबर्हिषौ द्वावनुयाजौ यजति ॥४४॥ अथ सादयित्वा स्रुचौ
व्यूहति । स्रुचौ व्युह्य परिधीन्त्समज्य परिधिमभिपद्याश्राव्याहेषिता दैव्या होता-
रो भद्रवाच्याय प्रेषितो मानुषः सूक्तवाकायेति सूक्तवाकꣳ होता प्रतिपद्यते ना-
ध्वर्युः प्रस्तरꣳ समुच्छुम्पतीत्येवोपास्ते यदा होता सूक्तवाकमाह ॥४५॥ अथाग्नी-
दाहानुप्रहरेति । स न किं चनानुप्रहरति तूष्णीमेवात्मानमुपस्पृशति ॥४६॥ अ-
थाह संवदस्वेति । अगानग्नीदगञ्छ्रावय श्रौषट् स्वगा दैव्या होतृभ्यः स्वस्तिर्मानुषे-
भ्यः शं योर्ब्रूहीत्युपस्पृशत्येव परिधीन्नानुप्रहरत्यथैतद्बर्हिरनुसमस्यति परिधींश्च ॥४७॥
तद्धैके । हविरुच्छिष्टमनुसमस्यन्ति तदु तथा न कुर्याद्धुतोच्छिष्टं वाऽएतन्नेद्धुतोच्छिष्टम-
ग्नौ जुहवामेति तस्मादपो वैवाभ्यवहरेयुः प्राश्नीयुर्वा ॥४८॥ ब्राह्मणम् ॥२[६.१.]॥॥

है—"अमीमदन्त पितरो यथाभागमावृषायिषत" (यजु० २।३१)—"पितरों ने खा लिया। बैलों के समान वे अपने-अपने भाग को ले गये।" इससे तात्पर्य यह है कि उन्होंने अपना-अपना भाग खाया ॥४०॥

अब वह जल के पात्र को लेता है और छिड़कता हुआ फिर तीन बार बाईं ओर से दाहिनी ओर को लौटता एवं 'आप धोइयें' कहकर यजमान के पिता के लिए जल छोड़ता है, 'आप धोइये' कहकर यजमान के बाबा के लिए, 'आप धोइये' कहकर यजमान के परबाबा के लिए। जैसे अतिथि के सत्कार के लिए, जो खाना खाता है, जल दिया जाता है वैसे ही यहाँ भी किया जाता है। और तीन बार बाईं ओर से दाहिनी ओर जल छिड़कते हुए चलने के विषय में वह सोचता है कि 'हमारा यह काम इसी प्रकार (?) पूरा हो जायगा।' इसलिए वह तीन बार बाईं ओर जल छिड़कता हुआ चलता है ॥४१॥

अब नीवि अर्थात धोती के निचले भाग को नीचे खींचकर नमस्कार करता है। नीवि पितरों की है, इसलिए उसे खींचकर नमस्कार करता है। नमस्कार यज्ञ है। इस प्रकार वह उनको यज्ञ का अधिकारी बनाता है। छः बार नमस्कार करता है, क्योंकि छः ऋतुएँ होती हैं। ऋतुएँ पितर हैं। इस प्रकार ऋतुओं में ही इस यज्ञ की स्थापना करता है। इसलिए छः बार नमस्कार करता है। अब कहता है—'पितरो! हमको घर दो।' क्योंकि पितर घर के रक्षक हैं, और इस यज्ञ में यह आशीर्वाद है ॥४२॥

वे सब यज्ञोपवीत धारण करके (बायें कन्धे पर जनेऊ लाकर) तैयारी करते हैं। इस प्रकार यजमान और ब्रह्मा पश्चिम की ओर आते हैं और आग्नीध्र पूर्व की ओर, और होता होता के स्थान पर बैठ जाता है ॥४३॥

अब वह कहता है—'हे ब्रह्मा! मैं आगे चलूंगा।' अब वह समिधा रखकर कहता है—'आग्नीध्र! आग ठीक कर।' अब दोनों स्रुकों को लेकर पश्चिम की ओर जाता है। वहाँ जाकर और 'श्रौषट्' कहकर कहता है—'देवों के लिए आहुति दे।' वह दो अनुयाज देता है, बर्हि का अनुयाज छोड़कर। बर्हि प्रजा है। इसलिए बर्हि का अनुयाज छोड़कर दो अनुयाज ही करता है जिससे प्रजा पितरों के हवाले न हो जाय ॥४४॥

अब दोनों स्रुकों को रखकर अलग-अलग कर देता है। उनको अलग करके और परिधियों को घी में भिगोकर एक परिधि को लेता है और 'श्रौषट्' कहकर कहता है--'भद्र कहने के लिए दिव्य-होता बुलाये गये और स्तुति के लिए मनुष्य-होता बुलाया गया। होता सूक्तवाक् या स्तुति कहता है। अध्वर्यु प्रस्तर को नहीं उठाता; केवल देखता रहता है जब कि होता स्तुति करता है ॥४५॥

अब आग्नीध्र कहता है—'छोड़।' अध्वर्यु कुछ छोड़ता नहीं। केवल चुपचाप अपने शरीर को छू लेता है ॥४६॥

अब आग्नीध्र कहता है—'संवाद कर।' अध्वर्यु पूछता है—'हे आग्नीध्र! वह गया?' (उत्तर देता है) 'वह गया।' 'देव सुनें।' 'दैवी-होता विदा हों।' 'मनुष्य-होता का कल्याण हो।' 'कल्याण के वाक्य कह।' यह कहकर वह केवल परिधियों को छूता है, परन्तु अग्नि में डालता नहीं। बर्हि और परिधियों को पीछे से छोड़ता है ॥४७॥

कुछ लोग बची-खुची हवि को भी (अग्नि में) डाल देते हैं; परन्तु ऐसा न करना चाहिए, क्योंकि यह आहुति का उच्छिष्ट (जूठा) है। इसलिए ऐसा न हो कि आहुति की जूठन छोड़ दी जाय। इसलिए उसे या तो जल में छोड़ देना चाहिए या खा लेना चाहिए ॥४८॥

महाहविषा ह वै देवा वृत्रं जघ्नुः । तेनो ऽएव व्यजयन्त येयमेषां विजितिस्तामथ यान्येषां तस्मिन्त्संग्रामऽइषव आर्छंस्तानेतैरेव शल्यान्निरहरन्त तान्व्यवृहन्त यत्त्र्यम्बकैरयजन्त ॥१॥ अथ यदेष एतैर्यजते । तस्माद्ध न्वेवैतस्य तथा कं चनेषुर्हनतीति देवा अकुर्वन्निति न्वेवैष एतत्करोति याश्च न्वेवास्य प्रजा जाता याश्चाजातास्ता उभयी रुद्रियात्प्रमुञ्चति ता अस्यानमीवा अकिल्बिषाः प्रजाः प्रजायन्ते तस्माद्वा ऽएष एतैर्यजते ॥२॥ ते वै रौद्रा भवन्ति । रुद्रस्य ह्येषुस्तस्माद्रौद्रा भवन्त्येककपाला भवन्त्येकदेवत्या असन्निति तस्मादेककपाला भवन्ति ॥३॥ ते वै प्रतिपुरुषं । यावन्तो गृह्याः स्युस्तावन्त एकेनातिरिक्ता भवन्ति तत्प्रतिपुरुषमेवैतदेकैकेन या अस्य प्रजा जातास्ता रुद्रियात्प्रमुञ्चत्येकेनातिरिक्ता भवन्ति तद्या एवास्य प्रजा अजातास्ता रुद्रियात्प्रमुञ्चति तस्मादेकेनातिरिक्ता भवन्ति ॥४॥ स जघनेन गार्हपत्यं । यज्ञोपवीती भूत्वोदङ्ङासीन एतान्गृह्णाति स तत एवोपोत्थायोदङ्ङ्तिष्ठन्नवहन्त्युदीच्यौ दृषदुपले ऽउपदधात्युत्तरार्धे गार्हपत्यस्य कपालान्युपदधाति तद्यदेव तामुत्तरां दिशं सचन्त ऽएषा ह्येतस्य देवस्य दिक्तस्मादेतामुत्तरां दिशं सचन्ते ॥५॥ ते वा अक्ताः स्युः । अक्तं हि हविस्त ऽउ वा ऽअनक्ता एव स्युरभिमानुको ह रुद्रः पशून्त्स्याद्यदञ्ज्यात्तस्मादनक्ता एव स्युः ॥६॥ तान्त्सार्धं पात्र्यां समुद्वास्य । अन्वाहार्यपचनादुल्मुकमादायोदङ् परेत्य जुहोत्येषा ह्येतस्य देवस्य दिक् पथि जुहोति पथा हि स देवश्चरति चतुष्पथे जुहोत्येतद्ध वा ऽअस्य साधितं प्रज्ञातमवसानं यच्चतुष्पथं तस्माच्चतुष्पथे जुहोति ॥७॥ पलाशस्य पलाशेन मध्यमेन जुहोति । ब्रह्म वै पलाशस्य पलाशं ब्रह्मणैवैतज्जुहोति स सर्वेषामेवावद्यत्येकस्यैव नावद्यति य एषोऽतिरिक्तो भवति ॥८॥ स जुहोति । एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राम्बिकया तं जुषस्व स्वाहेत्यम्बिका ह वै नामास्य स्वसा तयास्यैष सह भागस्तद्यदस्यैष स्त्रिया सह भागस्तस्मात्त्र्यम्बका नाम तद्या अस्य

अध्याय ६–ब्राह्मण २

देवों ने महाहवि के द्वारा ही वृत्र को मारा था। उसी से उनको वह विजय मिली जो उनको प्राप्त है। उनमें से जिनके शरीर में उस युद्ध में वाण लगे थे उनको निकाला। उनको उन्होंने त्र्यम्बक यज्ञ करके निकाला ॥१॥

इसलिए जो कोई इस प्रकार यज्ञ करता है वह या तो इसलिए करता है कि उसके लोगों के कोई तीर न लगेगा; या इसलिए कि देवताओं ने ऐसा किया था। इस प्रकार वह उस सन्तान को जो उत्पन्न हो चुकी है और उस सन्तान को भी जो अभी उत्पन्न नहीं हुई, रुद्र के फन्दे से छुड़ा देता है और उसकी सन्तान रोगरहित और दोषरहित उत्पन्न होती हैं। इसीलिये वह यज्ञ करता है ॥२॥

(त्र्यम्बक यज्ञ) रुद्र के लिए किया जाता है। वाण रुद्र के ही हैं। इसलिए रुद्र की ही आहुतियाँ होती हैं। यह एक कपाल (का पुरोडाश) होता है। एक देवता के लिए ही होती है, इसलिए वे एक कपाल की ही होती हैं ॥३॥

प्रति पुरुष के लिए एक-एक। जितने घर के लोग हों उनके लिए एक-एक और एक अधिक। एक-एक के लिए एक-एक। इससे वह उत्पन्न हुई सन्तान को रुद्र के वश से छुड़ाता है। और जो एक अधिक हुई उसके सहारे से जो सन्तान अभी उत्पन्न नहीं हुई उसको रुद्र के वश से छुड़ाता है। इसीलिए वे इतने होते हैं और एक अधिक ॥४॥

यह यज्ञोपवीत धारण किये हुए उत्तराभिमुख गार्हपत्य के पीछे बैठकर (पुरोडाश के लिए चावलों को) निकालता है। वहाँ से वह उठता है और उत्तराभिमुख खड़ा होकर पछोरता है। अब दृषद और उपल (चक्की के पाट) उत्तर की ओर रखता है और गार्हपत्य के उत्तरार्द्ध में कपालों को रखता है। उत्तर की ओर ही क्यों रखता है ? इसलिए कि उत्तर देव की दिशा है। इसलिए उत्तर की दिशा में रखते हैं ॥५॥

(कुछ की राय में) उनमें घी मिलाना चाहिए। हवि में घी मिला होता है, परन्तु घी न मिलाना ही अच्छा है। यदि घी मिला दिया जायगा तो रुद्र यजमान के पशुओं के पीछे पड़ेगा। इसलिए घी नहीं मिलाना चाहिए ॥६॥

एक पात्र में सब (पुरोडाश) को करके दक्षिणाग्नि से एक जलती लकड़ी लेकर उत्तर की ओर जाकर आहुति दे देता है, क्योंकि उत्तर की दिशा इस देव की है। मार्ग में ही आहुति देता है, क्योंकि वह देव (रुद्र) मार्ग में ही चलता है। चौराहे पर ही देता है, क्योंकि चौराहे पर ही (रुद्र का) प्राचीन स्थान है। इसलिए चौराहे पर ही आहुति देता है ॥७॥

पलाश पत्र के बीच के पत्ते से आहुति देता है। पलाश ब्रह्म है। इसलिए ब्रह्म के द्वारा ही आहुति देता है। वह सब (पुरोडाशों में से) एक-एक टुकड़ा काटता है, केवल अधिक पुरोडाश (जो एक अधिक था) में से नहीं काटता ॥८॥

वह इस मन्त्र को पढ़कर आहुति देता है–"एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राम्बिकया तं जुषस्व स्वाहा" (यजु० ३।५७) — "हे रुद्र, तेरी बहिन अम्बिका के साथ यह तेरा भाग है, तू इसे ग्रहण कर; स्वाहा।" उसकी बहिन का नाम अम्बिका है। उसके साथ मिला हुआ उसका यह भाग है। और चूंकि एक स्त्री उस भाग में शरीक है, अतः उन आहुतियों का नाम पड़ा 'अम्बिका'। इन

प्रजा जातास्ता रुद्रियात्प्रमुञ्चति ॥९॥ अथ य एष एकोऽतिरिक्तो भवति । तमाखूत्कर उपकिरत्येष ते रुद्र भाग आखुस्ते पशुरिति तदस्मा आखुमेव पशूनामनुदिशति तेनो इतरान्पशून्न हिनस्ति तद्यदुपकिरति तिर इव वै गर्भास्तिर इवैतद्यदुपकीर्णं तस्माद्वा उपकिरति तथो एवास्य प्रजा अजातास्ता रुद्रियात्प्रमुञ्चति ॥१०॥ अथ पुनरेत्य जपन्ति । अव रुद्रमदीमह्यव देवं त्र्यम्बकम् । यथा नो वस्यसस्करद्यथा नः श्रेयसस्करद्यथा नो व्यवसाययात् ॥ भेषजमसि भेषजं गवेऽश्वाय पुरुषाय भेषजꣳ सुखं मेषाय मेष्या इत्याशीरेवैषैतस्य कर्मणः ॥११॥ अथापसलवि त्रिः परियन्ति । सव्यानूरूनुपाघ्नानास्त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् । उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतादित्याशीरेवैषैतस्य कर्मण आशिषमेवैतदाशासते तद्ध्येव शमिव यो मृत्योर्मुच्यते नामृतात्तस्मादाह मृत्योर्मुक्षीय मामृतादिति ॥१२॥ तद्ध हापि कुमार्यः परीयुः । भगस्य भजामहा इति या ह वै सा रुद्रस्य स्वसाम्बिका नाम सा ह वै भगस्येष्टे तस्मादु हापि कुमार्यः परीयुर्भगस्य भजामहा इति ॥१३॥ तासामुतासां नह्योऽस्ति । त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनम् । उर्वारुकमिव बन्धनादितो मुक्षीय मामुत इति सा यदित इत्याह ज्ञातिभ्यस्तदाह मामुत इति पतिभ्यस्तदाह पतयो ह्येव स्त्रियै प्रतिष्ठा तस्मादाह मामुत इति ॥१४॥ अथ पुनः प्रसलवि त्रिः परियन्ति । दक्षिणानूरूनुपाघ्नाना एतेनैव मन्त्रेण तद्यत्पुनः प्रसलवि त्रिः परियन्ति प्रसलवि न इदं कर्मानुसंतिष्ठाता इति तस्मात्पुनः प्रसलवि त्रिः परियन्ति ॥१५॥ अथैतान्यजमानोऽञ्जलौ समोप्य । ऊर्ध्वानुदस्यति यथा गौर्नोदाश्नुयात्तदात्मभ्य एवैतच्छल्यान्निर्मिमते तान्विलिप्सन्त उपस्पृशन्ति भेषजमेवैतत्कुर्वते तस्माद्विलिप्सन्त उपस्पृशन्ति ॥१६॥ तान्द्वयोर्मूतकयोरुपनह्य । वेणुयष्ट्यां वा कुपे वोभयत आबध्योदङ् परेत्य यदि वृक्षं वा स्थाणुं वा वेणुं वा वल्मीकं वा विन्देत्तस्मिन्नासजत्येतत्ते

आहुतियों के द्वारा, उसके जो सन्तान हुई है उसको रुद्र के पंजे से छुड़ा देता है ।।९।।

और एक जो (पुरोडाश की टिकिया) उसको चूहे के बिल में गाड़ देती है, यह मन्त्र पढ़कर—"एष ते रुद्र भागऽआखुस्ते पशुः" (यजु० ३।५७)—"हे रुद्र ! यह भाग है और चूहा तेरा पशु है।" इस प्रकार वह चूहे को ही (रुद्र का पशु) नियत कर देता है और वह (रुद्र) किसी अन्य पशु को नहीं सताता। गाड़ता क्यों है ? इसलिए कि गर्भ गुप्त होते हैं। और जो गड़ा हुआ होता है वह भी गुप्त होता है। इसीलिए वह उसको गाड़ता है। इसके द्वारा वह अपनी उस सन्तान को जो अभी उत्पन्न नहीं हुई रुद्र के पंजे से छुड़ा देता है ।।१०।।

अब वे लौटकर यह मन्त्र जपते हैं—"अव रुद्रमदीमह्यव देवं त्र्यम्बकम् । यथा नो वस्य-सस्करद् यथा नः श्रेयसस्करद् यथा नो व्यवसाययात् ।। भेषजमसि भेषजं गवेऽश्वाय पुरुषाय भेषजम् । सुखं मेषाय मेष्यै" (यजु० ३।५८,५९)—"हम त्र्यम्बक देव रुद्र को सन्तुष्ट करते हैं कि वह हमको घर आदि से युक्त करे, हमको कल्याण दे, और हमको व्यवसायी बनावे" (यजु० ३।५८)—"हे रुद्र ! आप औषध हैं—गाय, घोड़े, पुरुष के लिए औषध हैं। भेड़े और भेड़ी के लिए सुख हैं (अर्थात् सब प्राणियों के लिए सुख के दाता हैं), इस यज्ञ में यह आशीर्वाद है" (यजु० ३।५९) ।।११।।

अब वे तीन बार वेदी के चारों ओर (बाईं ओर से) फिरते हैं, बाईं जाँघों को पीटते हुए और यह मन्त्र जपते हुए—"त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धि पुष्टिवर्धनम् । उर्वारुकमिव बन्धनात्मृत्यो-र्मुक्षीय माऽमृतात्" (यजु० ३।६०)—"सुगन्धयुक्त और पुष्टि को बढ़ानेवाले त्र्यम्बक की हम स्तुति करते हैं कि वह हमको मौत के बन्धन से इस प्रकार छुड़ा ले जैसे उर्वारुक (लौकी) अपने डण्ठल से; परन्तु मोक्ष से नहीं" ।।१२।।

कुमारियाँ भी परिक्रमा करें, इसलिए कि उनका कल्याण हो। रुद्र की बहिन अम्बिका भाग्य की अधिष्ठात्री है। इसलिए कुमारियों को भी परिक्रमा देनी चाहिए, इस इच्छा से कि उनका भाग्य जागे ।।१३।।

उनके लिए यह मन्त्र है—"त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनम् । उर्वारुकमिव बन्धना-दितो मुक्षीय मामुतः" (यजु० ३।६०)—"हम सुगन्धयुक्त पतियों को प्राप्त करानेवाले त्र्यम्बक की स्तुति करती हैं कि वह हमको इस (लोक) से लौकी के डण्ठल की भाँति छुड़ा दे, न कि उस (लोक) से" (यजु० ३।६०)। 'इस (लोक) से' का तात्पर्य है 'मेरे माता-पिता आदि से।' 'वहाँ से नहीं' का तात्पर्य है—'पति से नहीं'। (अर्थात् वधू अपने माँ-बाप को छोड़कर पति के घर में नित्य रहने की प्रार्थना करती है) पति ही स्त्री की प्रतिष्ठा है। इसलिए कहती है 'वहाँ से नहीं' ।।१४।।

अब वे फिर वेदी के चारों ओर दाहिनी ओर से फिरते हैं, दाहिनी जाँघों को पीटते हुए और वही मन्त्र जपते हुए। वे दाहिनी ओर घूमकर तीन बार क्यों फिरते हैं ? इसलिए कि वे समझते हैं कि ऐसा करने से हमारे दाहिनी ओर काम सिद्ध होगा। इसलिए वे तीन बार दाहिनी ओर से परिक्रमा देते हैं ।।१५।।

अब यजमान इन बचे हुए पुरोडाश की टिकियों को अंजलि में लेकर ऊपर को इस प्रकार फेंकता है कि गौ न छू सके, और फिर हाथ में लेता है। जो पकड़ में नहीं आते और गिर पड़ते हैं उनको केवल छू लेता है। इस प्रकार वे उनको औषध के समान बनाते हैं। इसलिए यदि वे पकड़ में नहीं आते तो छू लेता है ।१६।।

अब इनको दो टोकरियों में रखकर और या तो बाँस के दो सिरों से या तराजू की डण्डी के दो सिरों से बाँधकर उत्तर की ओर चलता है। और रास्ते में कोई वृक्ष, ठूँठ, बाँस या चिटोहर

रुद्रावसं तेन परो मूजवतोऽतीहीत्यवसेन वाऽअध्वानं यन्ति तदेनꣳ सावसमेवान्ववार्जति यत्र-यत्रास्य चरणं तदन्वत्र ह वाऽअस्य परो मूजवद्भ्यश्चरणं तस्मादाह परो मूजवतोऽतीहीत्यवततधन्वा पिनाकावस इत्यहिꣳसन्नः शिवोऽतीहीत्येवैतदाह कृत्तिवासा इति निष्वापयत्येवैनमेतत्स्वपन्नु हि न कं चन हिनस्ति तस्मादाह कृत्तिवासा इति ॥१७॥ अथ दक्षिणान्बाहूनन्वावर्तन्ते । ते प्रतीत्तं पुनरायन्ति पुनरेत्याप उपस्पृशन्ति रुद्रियेणेव वाऽएतदचारिषुः शान्तिरापस्तदद्भिः शान्त्या शमयन्ते ॥१८॥ अथ केशश्मश्रू वपते । समारोह्याग्नीऽउद्वसायेव ह्येतेन यजते न हि तदवकल्पते यदुत्तरवेदावग्निहोत्रं जुहुयात्तस्मादुद्वस्यति गृहानित्वा निर्मथ्याग्नी पौर्णमासेन यजतऽउत्सन्नयज्ञ-इव वाऽएष यच्चातुर्मास्यान्यथैष क्लृप्तः प्रतिष्ठितो यज्ञो यत्पौर्णमासं तत्क्लृप्तेनैवैतद्यज्ञेनान्ततः प्रतितिष्ठति तस्मादुद्वस्यति ॥१९॥ ब्राह्मणम् ॥३ [६.२.]॥ ॥

अक्षय्यꣳ ह वै सुकृतं चातुर्मास्ययाजिनो भवति । संवत्सरꣳ हि जयति तेनास्याक्षय्यं भवति तं वै त्रेधा विभज्य यजति त्रेधा विभज्य प्रजयति सर्वं वै संवत्सरः सर्वं वाऽअक्षय्यमेतेनो हास्याक्षय्यꣳ सुकृतं भवत्यृतुरु हैवैतद्भूत्वा देवानप्येत्यक्षय्यमु वै देवानामेतेनो हैवास्याक्षय्यꣳ सुकृतं भवत्येतन्नु तद्यस्माच्चातुर्मास्यैर्यजते ॥१॥ अथ यस्माच्छुनासीर्येण यजेत । या वै देवानाꣳ श्रीरासीत्साकमेधैरीजानानां विजिग्यानानां तच्छुनमथ यः संवत्सरस्य प्रजितस्य रस आसीत्तत्सीरꣳ सा या चैव देवानाꣳ श्रीरासीत्साकमेधैरीजानानां विजिग्यानानां य उ च संवत्सरस्य प्रजितस्य रस आसीत्तमेवैतदुभयं परिगृह्यात्मन्कुरुते तस्माच्छुनासीर्येण यजते ॥२॥ तस्यावृत् । नोपकिरन्त्युत्तरवेदिं न गृह्णन्ति पृषदाज्यं न मन्थन्त्यग्निं पञ्च प्रयाजा भवन्ति त्रयोऽनुयाजा एकꣳ समिष्टयजुः ॥३॥ अथैतान्येव पञ्च हवीꣳषि भवन्ति । एतैर्वै हविर्भिः प्रजापतिः प्रजा असृजतैतैरुभयतो वरुणपाशा-

मिल जाय तो इस मन्त्र से उसमें बाँध देता है—"एतत् ते रुद्रावसं तेन परो मूजवतोऽतीहि" (यजु० ३।६१)—"हे रुद्र! यह तेरा तोशा है। इसे लेकर तू मूजवत के उस पार आ।" तोशा लेकर ही लोग यात्रा को चलते हैं। इसलिए जहाँ जाना हो वहाँ तोशा लेकर विदा करता है। इस प्रसंग में उसकी यात्रा मूजवत के उधर है, इसलिए कहता है कि मूजवत के उधर। अब कहता है—"अवततधन्वा पिनाकावसः" (यजु० ३।६१)—"बिना खिंचे हुए धनुष और वज्र से युक्त।" इससे तात्पर्य है 'हिंसा न करते हुए, कल्याण करते हुए जाओ।' अब कहता है—"कृत्तिवासा" (यजु० ३।६१) "चमड़ा पहने हुए।" इससे वह उसे सुला देता है। सोते हुए कोई किसी को हानि नहीं पहुँचा सकता। इसलिए कहा 'चमड़ा पहने हुए' ॥१७॥

अब वे दक्षिण की ओर फिरते हैं, बिना पीछे देखते हुए। लौटकर जल का स्पर्श करते हैं। अब तक रुद्र यज्ञ कर रहे थे। जल शान्ति है। इसलिए शान्तिरूपी जल से अपने को पवित्र करते हैं ॥१८॥

अब वह केश और दाढ़ी मुँडवाता है, और (उत्तर वेदी की) अग्नि लेता है, क्योंकि जगह बदलकर ही तो वह (पौर्णमास) यज्ञ कर सकता है। यह ठीक नहीं है कि उत्तर वेदी पर अग्निहोत्र करे, इसलिए वह जगह बदल लेता है। घर जाकर और अग्नियों का मन्थन करके वह पौर्णमास यज्ञ करता है। चातुर्मास्य यज्ञ अलग होते हैं, परन्तु पौर्णमास यज्ञ नियत और प्रतिष्ठित है। इसलिए वह उस नियत यज्ञ को करके अपने को प्रतिष्ठित करता है। इसलिए जगह बदल देता है ॥१९॥

अध्याय ६–ब्राह्मण ३

जो चातुर्मास्य यज्ञ करता है उसका पुण्य कभी नाश नहीं होता। वह संवत्सर को जीत लेता है, इसलिए वह नाश नहीं होता। वह इसके तीन भाग करके यज्ञ करता है। वह इसके तीन भाग करके जीतता है। 'संवत्सर' का अर्थ है 'सम्पूर्ण'। 'सम्पूर्ण' नाश नहीं होता। इसलिए उसका सुकृत भी अक्षय होता है। वह ऋतु हो जाता है और देवों को प्राप्त होता है। देवों में तो 'क्षय' है ही नहीं। इसलिए उसके लिए अक्षय सुकृत होता है। यही प्रयोजन है कि वह चातुर्मास्य यज्ञ करता है ॥१॥

अब शुनासीर यज्ञ क्यों करना चाहिए? साकमेध करनेवाले और (वृत्र पर) विजय पानेवाले देवों की जो 'श्री' थी वह है 'शुनम्' और प्राप्त हुए 'संवत्सर' का जो रस था वह है 'सीर'। साकमेध करनेवाले और (वृत्र पर) विजय पानेवाले देवों की जो 'श्री' थी और प्राप्त हुए संवत्सर का जो 'रस' था, उन दोनों को ग्रहण करके अपना बना लेता है, इसलिए 'शुनासीर यज्ञ' करता है ॥२॥

इसकी यह विधि है – उत्तरवेदी नहीं बनाते। नौनी घी नहीं लेते। अग्नि का मन्थन नहीं करते। पाँच प्रयाज होते हैं, तीन अनुयाज और एक समिष्ट यजुः ॥३॥

पहले ये साधारण पाँच हवियाँ होती हैं। इन्हीं हवियों से प्रजापति ने प्रजा उत्पन्न की।

त्प्रजाः प्रामुच्यन्तैतैर्वै देवा वृत्रमघ्नन्नेतैर्वेव व्यजयन्त येयमेषां विजितिस्तां तथोऽए-
वैष एतैर्या चैव देवानाꣳ श्रीरासीत्साकमेधैरीजानानां विजिग्यानानां य उ च सं-
वत्सरस्य प्रजितस्य रस आसीत्तमेवैतदुभयं परिगृह्यात्मन्कुरुते तस्माद्वाऽएतानि
पञ्च हवीꣳषि भवन्ति ॥४॥ अथ शुनासीर्यो द्वादशकपालः पुरोडाशो भवति ।
स बन्धुः शुनासीर्यस्य यं पूर्वमवोचाम ॥५॥ अथ वायव्यं पयो भवति । पयो ह
वै प्रजा जाता अभिसंजानते विजिग्यानं मा प्रजाः श्रियै यशसेऽन्नाद्यायाभिसंजा-
नान्ताऽइति तस्मात्पयो भवति ॥६॥ तद्यद्वायव्यं भवति । अयं वै वायुर्योऽयं प-
वतऽएष वाऽइदꣳ सर्वं प्यायययति यदिदं किं च वर्षति वृष्टाद्वोषधयो जायन्त
ऽओषधीर्जग्ध्वापः पीत्वा तत एतद्रसोऽधि पयः सम्भवत्येष हि वाऽएतज्जनयति
तस्माद्वायव्यं भवति ॥७॥ अथ सौर्य एककपालः पुरोडाशो भवति । एष वै सूर्यो
य एष तपत्येष वाऽइदꣳ सर्वमभिगोपायति साधुना वदसाधुना वदेष इदꣳ सर्वं
विदधाति साधौ वदसाधौ वदेष मा विजिग्यानं प्रीतः साधुना वदभिगोपायत्सा-
धौ वद्विदधदिति तस्मात्सौर्य एककपालः पुरोडाशो भवति ॥८॥ तस्याश्वः श्वेतो
दक्षिणा । तदेतस्य रूपं क्रियते य एष तपति यद्यश्वꣳ श्वेतं न विन्देदपि गौरेव
श्वेतः स्यात्तदेतस्य रूपं क्रियते य एष तपति ॥९॥ स यत्रैव साकमेधैर्यजते । त-
च्छुनासीर्येण यजेत यद्वै त्रिः संवत्सरस्य यजते तेनैव संवत्सरमाप्नोति तस्माद्यदैव
कदा चैतेन यजेत ॥१०॥ तद्धैके । रात्रीरापिपयिषन्ति स यदि रात्रीरापिपयिषेद्व-
ददः पुरस्तात्फाल्गुन्यै पौर्णमास्याऽउद्दृष्टं तच्छुनासीर्येण यजेत ॥११॥ अथ दीक्षेत ।
तं नानीजानं पुनः फाल्गुनी पौर्णमास्यभिपर्येयात्पुनःप्रयागरूप-इव ह स यदेन-
मनीजानं पुनः फाल्गुनी पौर्णमास्यभिपर्येयात्तस्मादेनं नानीजानं पुनः फाल्गुनी
पौर्णमास्यभिपर्येयादिति नूत्सृजमानस्य ॥१२॥ अथ पुनः प्रयुञ्जानस्य । पूर्वेद्युः फा-
ल्गुन्यै पौर्णमास्यै शुनासीर्येण यजेताथ प्रातर्वैश्वदेवेनाथ पौर्णमासेनैतदु पुनः प्र-

इन्हीं के द्वारा दोनों ओर से वरुण के पाश से प्रजा को छुड़ाया। इन्हीं से देवों ने वृत्र को मारा। इन्हीं से उनको यह विजय मिली जो उनको प्राप्त है। इन्हीं के द्वारा साकमेध यज्ञ करनेवाले और (वृत्र को) जीतनेवाले देवों की जो श्री थी और जो प्राप्त हुए सवत्सर का रस था, उन दोनों को ग्रहण करके अपना बना लेता है। इसीलिए इन पाँच हवियों से यज्ञ करता है ॥४॥

अब शुनासीर्य पुरोडाश बारह कपालों का होता है। शुनासीर्य यज्ञ के विषय में पहले कह ही दिया गया ॥५॥

वायु के लिए दूध की आहुति होती है। प्रजा उत्पन्न होते ही दूध पीती है। वह सोचता है कि मुझ जीते हुए को प्रजा प्राप्त होवे। श्री, यश, अन्न, मेरा हो। इसलिए दूध की आहुति होती है ॥६॥

वायु के लिए क्यों आहुति होती है? यह जो चलता है यह वायु ही तो है। इसी के द्वारा तो वर्षा होती है। वर्षा से औषध होती हैं। औषध खाकर और जल पीकर ही तो जल में से दूध होता है। इसलिए (वायु से) ही दूध होता है, इसलिए वायु के लिए आहुति देता है ॥७॥

अब एक कपाल का पुरोडाश सूर्य के लिए। यह सूर्य ही तो है जो तपता है। यही तो सबकी रक्षा करता है; कभी साधु द्वारा, कभी असाधु द्वारा। यही सबको धारण करता है; कभी साधु द्वारा, कभी असाधु द्वारा। यह सोचता है कि 'मैं विजयी हो गया। अब वह प्रसन्न होकर 'साधु' द्वारा मेरी रक्षा करे। साधु द्वारा धारण करे।' इसलिए सूर्य का एक कपाल का पुरोडाश होता है ॥८॥

इसकी दक्षिणा है सफेद घोड़ा। इसलिए उस तपनेवाले सूर्य के रूप की होती है। यदि सफेद घोड़ा न मिले तो सफेद गौ ही होवे। इस प्रकार वह तपनेवाले सूर्य के रूप की होती है ॥९॥

जब यह साकमेध यज्ञ करे तभी शुनासीर यज्ञ करे। वर्ष में तीन बार करने से सम्पूर्णता मिल जाती है। इसलिए कभी कर ले ॥१०॥

कुछ लोग रात्रि को लेना चाहते हैं। यदि वह रात्रि को लेना चाहे तो जब सामने आकाश में फाल्गुनी पूर्णमासी दिखाई पड़े उस समय शुनासीर यज्ञ को करे ॥११॥

अब वह दीक्षा लेवे कि कहीं फाल्गुनी पूर्णमासी बिना यज्ञ के न रह जाय, क्योंकि यदि फाल्गुनी पूर्णमासी बिना यज्ञ के गुजर जायगी तो उसको फिर प्रयोग करना पड़ेगा। इसलिए फाल्गुनी पूर्णमासी बिना सोम यज्ञ के नहीं गुजरनी चाहिए। यह उसके लिए जो (चातुर्मास्य आहुतियों को) छोड़ बैठता है ॥१२॥

जो (चातुर्मास्य यज्ञ) फिर करना चाहता है, उसे फाल्गुनी पूर्णमासी के पहले दिन शुनासीर यज्ञ करना चाहिए, दूसरे दिन वैश्वदेव यज्ञ, फिर पौर्णमास यज्ञ। यह उसके लिए है

युञ्जानस्य ॥१३॥ अथातः । परिवर्तनस्यैव सर्वतोमुखो वाऽअसावादित्य एष वा
ऽइदꣳ सर्वं निर्धयति यदिदं किं च शुष्यति तेनैष सर्वतोमुखस्तेनान्नादः ॥१४॥
सर्वतोमुखोऽयमग्निः । यतो ह्येव कुतश्चाग्नावभ्यादधति तत एव प्रदहति तेनैष
सर्वतोमुखस्तेनान्नादः ॥१५॥ अथायमन्यतोमुखः पुरुषः । स एतत्सर्वतोमुखो भ-
वति यत्परिवर्तयते स एवमेवान्नादो भवति ययैतावेतद्य एवं विद्वान्परिवर्तयते
तस्माद्वै परिवर्तयेत ॥१६॥ तदु होवाचासुरिः । किं नु तत्र मुखस्य यदपि सर्वा-
ण्येव लोमानि वपेत यद्वै त्रिः संवत्सरस्य यजते तेनैव सर्वतोमुखस्तेनान्नादस्त-
स्मान्नाद्रियेत परिवर्तयितुमिति ॥१७॥ ब्राह्मणम् ॥४[६.३.]॥ ॥

तद्यदाहुः । साकमेधैर्वै देवा वृत्रमघ्नंस्तैर्वेव व्यजयन्त येयमेषां विजितिस्तामि-
ति सर्वैर्हु त्वेव देवाश्चातुर्मास्यैर्वृत्रमघ्नन्त्सर्वैर्वेव व्यजयन्त येयमेषां विजितिस्ताम्
॥१॥ ते होचुः । केन राज्ञा केनानीकेन योत्स्याम इति स हाग्निरुवाच मया रा-
ज्ञा मयानीकेनेति तेऽग्निना राज्ञाग्निनानीकेन चतुरो मासः प्राजयंस्तान्ब्रह्मणा च
त्रय्या च विद्यया पर्यगृह्णन् ॥२॥ ते होचुः । केनैव राज्ञा केनानीकेन योत्स्याम
इति स ह वरुण उवाच मया राज्ञा मयानीकेनेति ते वरुणेनैव राज्ञा वरुणेना-
नीकेनापरांश्चतुरो मासः प्राजयंस्तान्ब्रह्मणा चैव त्रय्या च विद्यया पर्यगृह्णन् ॥३॥
ते होचुः । केनैव राज्ञा केनानीकेन योत्स्याम इति स हेन्द्र उवाच मया राज्ञा
मयानीकेनेति तऽइन्द्रेणैव राज्ञेन्द्रेणानीकेनापरांश्चतुरो मासः प्राजयंस्तान्ब्रह्मणा
चैव त्रय्या च विद्यया पर्यगृह्णन् ॥४॥ स यद्वैश्वदेवेन यजते । अग्निनैवैतद्राज्ञाग्नि-
नानीकेन चतुरो मासः प्रजयति तच्छ्येनी शलली भवति लोहः क्षुरः सा या
श्येनी शलली सा त्रय्यै विद्यायै रूपं लोहः क्षुरो ब्रह्मणो रूपमग्निर्हि ब्रह्म
लोहित-इव ह्यग्निस्तस्माल्लोहः क्षुरो भवति तेन परिवर्तयते तद्ब्रह्मणा चैवैन-
मेतत्त्रय्या च विद्यया परिगृह्णाति ॥५॥ अथ यद्वरुणप्रघासैर्यजते । वरुणेनैवैतद्रा-

जो चातुर्मास्य को फिर शुरू करना चाहता है ।।१३।।

अब सिर मुंडाना । यह सूर्य तो सब ओर मुख किये रहता है । यह जो कुछ सूखता है उसे सूर्य ही तो पीता है । इसलिए यह (यजमान भी) (सिर मुंडाने से) सर्वतोमुख और अन्न पचानेवाला हो जाता है ।।१४।।

यह अग्नि भी सर्वतोमुख है । क्योंकि जो कुछ अग्नि में जिधर से भी डाला जाय भस्म हो जाता है, इसलिए यह (यजमान) भी (सिर मुंडाने से) सर्वतोमुख और अन्न पचानेवाला हो जाता है ।।१५।।

यह पुरुष तो एक ही ओर मुख रखता है । परन्तु सिर जो मुंडाता है वह सर्वतोमुख हो जाता है । और जो इस रहस्य को समझकर सिर मुंडाता है वह दोनों (अग्नि और सूर्य) के समान अन्न पचानेवाला होता है । इसलिए उसको बिल्कुल सिर मुंडाना चाहिए ।।१६।।

इस विषय में आसुरि की राय थी कि 'चाहे सब लोम मुंडा लें, तो भी इससे और मुख से क्या सम्बन्ध ? वर्ष में तीन बार यज्ञ करने से ही सर्वतोमुख और अन्न पचानेवाला होता है । इसलिए सिर मुंडाने की कोई आवश्यकता नहीं ।।१७।।

अध्याय ६-ब्राह्मण ४

यह जो कहा गया है कि देवों ने साकमेध यज्ञ के द्वारा वृत्र को मारा और उस विजय को पा लिया जो उनको प्राप्त है, यह सभी चातुर्मास्य यज्ञों के द्वारा ऐसा हुआ कि देवों ने वृत्र को मारा और जो विजय उनको प्राप्त है वह सभी के द्वारा हुई है ।।१।।

उन्होंने कहा, 'किस राजा के द्वारा और किस नेता की सहायता से हम लड़ेंगे ?' अग्नि ने कहा—'मुझ राजा और मुझ नेता की सहायता से ।' अग्नि राजा और अग्नि नेता की सहायता से उन्होंने चारों महीनों को जीता, और ब्रह्म तथा तीन विद्याओं की सहायता से उन (महीनों) को घेरा ।।२।।

उन्होंने कहा—'किस राजा और किस नेता की सहायता से हम लड़ेंगे ?' वरुण ने कहा—'मुझ राजा और मुझ नेता की सहायता से ।' उन्होंने वरुण राजा और वरुण नेता की सहायता से दूसरे चार महींनों को जीता, और ब्रह्म तथा तीन विद्याओं की सहायता से उनको घेरा ।।३।।

उन्होंने कहा—'किस राजा और किस नेता की सहायता से हम लड़ेंगे ?' इन्द्र ने कहा—'मुझ राजा और मुझ नेता की सहायता से ।' इन्द्र राजा और इन्द्र नेता की सहायता से उन्होंने शेष चार महीनों को जीता, और उनको ब्रह्म तथा तीन विद्याओं की सहायता से घेरा ।।४।।

जब वह वैश्वदेव यज्ञ करता है तो इसी अग्नि राजा और अग्नि नेता की सहायता से चारों महीनों को जीतता है । (सिर मुंडाने के लिए) त्र्येनी शलली (साही का काँटा जिसमें तीन धब्बे हों) और तांबे का क्षुरा होता है । त्र्येनी शलली तीन विद्याओं का रूप है और क्षुरा ब्रह्म का रूप है । अग्नि ब्रह्म है, अग्नि लाल है इसलिए तांबे का क्षुरा होता है । उससे चारों ओर मुंडवाता है । इस प्रकार वह (अध्वर्यु को) ब्रह्म और तीन विद्याओं से घेरता है ।।५।।

जब वह वरुण-प्राघास यज्ञ करता है तो वरुण राजा और वरुण नेता के द्वारा दूसरे चार

ज्ञा वरुणेनानीकेनापरांश्चतुरो मासः प्रजयति तच्छ्येनी शलली भवति लोकः क्षुरस्तेन परिवर्तयते तद्ब्रह्मणा चैवैनमेतत्त्रय्या च विद्यया परिगृह्णाति ॥६॥ अथ यत्साकमेधैर्यजते । इन्द्रेणैवैतद्यज्ञेनेन्द्रेणानीकेनापरांश्चतुरो मासः प्रजयति तच्छ्येनी शलली भवति लोकः क्षुरस्तेन परिवर्तयते तद्ब्रह्मणा चैवैनमेतत्त्रय्या च विद्यया परिगृह्णाति ॥७॥ स यद्वैश्वदेवेन यजते । अग्निरेव तर्हि भवत्यग्नेरेव सायुज्यꣳ सलोकतां जयत्यथ यद्वरुणप्रघासैर्यजते वरुण एव तर्हि भवति वरुणस्यैव सायुज्यꣳ सलोकतां जयत्यथ यत्साकमेधैर्यजतऽइन्द्र एव तर्हि भवतीन्द्रस्यैव सायुज्यꣳ सलोकतां जयति ॥८॥ स यस्मिन्हऽर्तावमुं लोकमेति । स एनमृतुः परस्माऽऋतवे प्रयच्छति पर उ परस्माऽऋतवे प्रयच्छति स परममेव स्थानं परमां गतिं गच्छति चातुर्मास्ययाजी तदाहुर्न चातुर्मास्ययाजिनमनुविन्दन्ति परमꣳ ह्येव खलु स स्थानं परमां गतिं गच्छतीति ॥९॥ ब्राह्मणम् ॥५ [६.४.]॥ पञ्चमः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या १०४ ॥ षष्ठोऽध्यायः [१५.] ॥ अस्मिन्काण्डे कण्डिकासंख्या ५४१ ॥ ॥

इति माध्यन्दिनीये शतपथब्राह्मणे एकपादिकानाम द्वितीयं काण्डं समाप्तम् ॥२॥

महीनों को जीतता है। तब भी श्येनी शलली और तांबे का क्षुरा काम में आता है। उसी से सिर मुंडवाता है। इस प्रकार ब्रह्म तथा तीन विद्याओं की सहायता से उसको घेरता है ॥६॥

जब वह साकमेध यज्ञ करता है तो इन्द्र राजा और इन्द्र नेता की सहायता से शेष चार मासों को जीतता है। तब भी श्येनी शलली और तांबे के क्षुरे से मुण्डन होता है और ब्रह्म तथा तीन विद्याओं की सहायता से उसको घेरता है ॥७॥

जब वह वैश्वदेव यज्ञ करता है तो अग्नि ही हो जाता है और अग्नि के सायुज्य और सालोक्य को प्राप्त होता है। जब वह वरुण-प्राघास यज्ञ करता है तो वरुण हो जाता है और वरुण के सायुज्य और सालोक्य को प्राप्त होता है। जब वह साकमेध यज्ञ करता है तो इन्द्र हो जाता है और इन्द्र के ही सायुज्य और सालोक्य को प्राप्त होता है ॥८॥

वह जिस ऋतु में परलोक को जाता है वह ऋतु उसको दूसरे ऋतु के हवाले करता है, और वह अपने से आगेवाले ऋतु के हवाले करता है। जो चातुर्मास्य यज्ञ करता है वह परम धाम और परम गति को प्राप्त होता है, इसीलिए कहा है कि चातुर्मास्य यज्ञ करनेवाले को कोई नहीं पाते क्योंकि वह परम धाम और परम गति को प्राप्त हो जाता है ॥९॥

माध्यन्दिनीय शतपथब्राह्मण की श्रीमत् पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय कृत 'रत्नकुमारी-दीपिका' भाषा व्याख्या का एकपादिकानाम द्वितीय काण्ड समाप्त हुआ।

द्वितीय—काण्ड

प्रपाठक	कण्डिका-संख्या
प्रथम [२. २. २]	११४
द्वितीय [२. ३. २]	१०३
तृतीय [२. ४. ३]	११३
चतुर्थ [२. ५. ३]	११५
पञ्चम [२. ६. ४]	१०४
योग	५४९
पूर्व के काण्ड का	८३८
पूर्णयोग	१३८७

ओम् । देवयजनं जोषयन्ते । स यदेव वर्षिष्ठꣳ स्यात्तज्जोषयेरन्यदन्यद्भूमेर्ना-
भिशयीतातो वै देवा दिवमुपोदक्रामन्देवान्वाऽएष उपोत्क्रामति यो दीक्षते स
सदेवे देवयजने यजते स यद्धान्यद्भूमेरभिशयीतापरतर-इव हैष्टा स्यात्तस्माद्यदेव
वर्षिष्ठꣳ स्यात्तज्जोषयेरन् ॥१॥ तद्वर्ष्म सत्समꣳ स्यात् । समꣳ सदविभ्रꣳशि स्या-
दविभ्रꣳशि सत्प्राक्प्रवणꣳ स्यात्प्राची हि देवानां दिगथोऽउदक्प्रवणमुदीची हि
मनुष्याणां दिग्दक्षिणतः प्रत्युच्छ्रितमिव स्यादेषा वै दिक् पितॄणाꣳ स यद्दक्षिणा-
प्रवणꣳ स्यात्क्षिप्रे ह यजमानोऽमुं लोकमियात्तथो ह यजमानो ज्योग्जीवति त-
स्माद्दक्षिणतः प्रत्युच्छ्रितमिव स्यात् ॥२॥ न पुरस्ताद्देवयजनमात्रमतिरिच्येत । द्वि-
षन्तꣳ हास्य तद्भ्रातृव्यमभ्यतिरिच्यते कामꣳ ह दक्षिणतः स्यादेवमुत्तरत एतद्ध
त्वेव समृद्धं देवयजनं यस्य देवयजनमात्रं पश्चात्परिशिष्यते क्षिप्रे हैनमुत्तरा दे-
वयज्योपनमतीति नु देवयजनस्य ॥३॥ तदु होवाच याज्ञवल्क्यः । वार्ष्णाय दे-
वयजनं जोषयितुमैम तत्सात्ययज्ञोऽब्रवीत्सर्वा वाऽइयं पृथिवी देवी देवयजनं
यत्र वाऽअस्यै क्व च यजुषैव परिगृह्य याजयेदिति ॥४॥ ऋत्विजो हैव देवयज-
नम् । ये ब्राह्मणाः शुश्रुवाꣳसोऽनूचाना विद्वाꣳसो याजयन्ति सैवाह्वलैतन्नेदिष्ठ-
मामिव मन्यामहऽइति ॥५॥ तच्छालां वा विमितं वा प्राचीनवꣳशं मिन्वन्ति ।
प्राची हि देवानां दिक् पुरस्ताद्वै देवाः प्रत्यञ्चो मनुष्यानुपावृत्तास्तस्मात्तेभ्यः प्रा-
ङ्तिष्ठञ्जुहोति ॥६॥ तस्मादु ह न प्रतीचीनशिराः शयीत । नेद्देवानभिप्रसार्य श-
याऽइति या दक्षिणा दिक् सा पितॄणां या प्रतीची सा सर्पाणां यतो देवा उच्च-

तृतीय काण्ड

अथाध्वर नाम तृतीयं काण्डम्

[सोमयागो दीक्षाभिषवान्तः]

अध्याय १–ब्राह्मण १

वे यज्ञ का स्थान तलाश करते हैं। जो सबसे ऊँचा स्थान हो उसे तलाश करें, जिसके ऊपर और कोई भूमि न हो। ऐसे ही स्थान से देवों ने द्यौलोक को प्राप्त किया था। जो दीक्षा लेता है वह देवों को प्राप्त होता है। वह देव-युक्त स्थान में यज्ञ करता है। यदि उससे अन्य भूमि ऊँची होगी तो वह यज्ञ करने में नीचा हो जायगा। इसलिए उनको ऐसा स्थान तलाश करना चाहिए जो सबसे ऊँचा हो ॥१॥

वह ऊँचा स्थान चौरस होना चाहिए, चौरस के साथ-साथ स्थिर हो। स्थिर के साथ-साथ पूर्व की ओर कुछ झुका हुआ हो, क्योंकि पूर्व देवों की दिशा है। या उत्तर की ओर झुका हुआ हो क्योंकि उत्तर मनुष्यों की दिशा है। वह दक्षिण की ओर कुछ उठा हुआ हो क्योंकि यह पितरों की दिशा है। यदि दक्षिण की ओर झुका हुआ होगा तो यजमान शीघ्र ही उस लोक को चला जायगा। परन्तु इस प्रकार यजमान दीर्घजीवी होता है। इसलिए यह दक्षिण की ओर उठा हुआ होना चाहिए ॥२॥

यज्ञ का स्थान पूर्व की ओर अधिक चौड़ा न हो। यदि अधिक होगा तो अहितकारी शत्रु के अनुकूल होगा। इसलिए दक्षिण में भी इतना ही हो और उत्तर में भी इतना ही। वह यज्ञ-स्थान अच्छा होता है जो पश्चिन में अधिक होता है, क्योंकि उसके लिए देवों की पूजा प्राप्त हो जाती है। इतना यज्ञ के स्थान के विषय में हुआ ॥३॥

अब याज्ञवल्क्य का कहना है—'हम वार्ष्ण्य के लिए यज्ञ का स्थान तलाश करने लगे।' सात्ययज्ञ बोला—'यह सब पृथिवी देवी यज्ञ का स्थान है। इसमें से जितने भाग को यजुः के द्वारा घेरकर यज्ञ करो वही यज्ञ-स्थान है ॥४॥

ऋत्विज ही यज्ञ का स्थान (देव-यजन) हैं। जो वेदपाठी विद्वान् ब्राह्मण जहाँ यज्ञ करते हैं वहाँ कोई त्रुटि नहीं होती। उसको हम (देवों से) निकटतम मानते हैं ॥५॥

वहाँ वे एक दालान या मकान बनाते हैं जो प्राचीन वंश हो (अर्थात् जिसकी धन्नियाँ पश्चिम से पूर्व को जाती हों)। पूर्व देवों की दिशा है। देव पूर्व से पश्चिम को चलकर ही मनुष्यों तक पहुँचते हैं। इसीलिए पूर्व की ओर मुँह करके खड़े होकर आहुतियाँ दी जाती हैं ॥६॥

इसीलिए पश्चिम की ओर सिर करके न सोना चाहिए, क्योंकि देवों की ओर टाँगें करके सोवेगा। दक्षिण दिशा पितरों की है। पश्चिम दिशा साँपों की है। अहीन (जो हीन न हो अर्थात्

क्रमुः सैषाह्वीना योदीची दिक् सा मनुष्याणां तस्मान्मानुषऽउदीचीनवꣳशामेव शालां वा विमितं वा मिन्वन्त्युदीची हि मनुष्याणां दिग्दीक्षितस्यैव प्राचीनवꣳशा नादीक्षितस्य ॥७॥ तां वाऽएतां परिश्रयन्ति । नेदभिवर्षादिति न्वेव वर्षा देवान्वाऽएष उपावर्तते यो दीक्षते स देवतानामेको भवति तिरऽइव वै देवा मनुष्येभ्यस्तिरऽइवैतद्यत्परिश्रितं तस्मात्परिश्रयन्ति ॥८॥ तन्न सर्वऽइवाभिप्रपद्येत । ब्राह्मणो वैव राजन्यो वा वैश्यो वा ते हि यज्ञियाः ॥९॥ स वै न सर्वेणेव संवदेत । देवान्वाऽएष उपावर्तते यो दीक्षते स देवतानामेको भवति न वै देवाः सर्वेणेव संवदन्ते ब्राह्मणेन वैव राजन्येन वा वैश्येन वा ते हि यज्ञियास्तस्माद्यद्येनꣳ शूद्रेण संवादो विन्देदेतेषामेवैकं ब्रूयादिममिति विचक्ष्वेममिति विचक्ष्वेत्येष उ तत्र दीक्षितस्योपचारः ॥१०॥ अथारणी पाणी कृत्वा । शालामध्यवस्यति स पूर्वार्ध्यꣳ स्थूणाराजमभिपद्यैतद्यजुराहेदमगन्म देवयजनं पृथिव्या यत्र देवासोऽअजुषन्त विश्वऽइति तदस्य विश्वैश्च देवैर्जुष्टं भवति ये चेमे ब्राह्मणाः शुश्रुवाꣳसोऽनूचाना यद्धास्य तेऽक्षिभ्यामीक्षन्ते ब्राह्मणाः शुश्रुवाꣳसस्तद्धास्य तैर्जुष्टं भवति ॥११॥ यद्धाह । यत्र देवासोऽअजुषन्त विश्वऽइति तदस्य विश्वैर्देवैर्जुष्टं भवत्यृक्सामाभ्याꣳ संतरन्तो यजुर्भिरित्यृक्सामाभ्यां वै यजुर्भिर्यज्ञस्योदृचं गच्छन्ति यज्ञस्योदृचं गच्छानीत्येवैतदाह रायस्पोषेण समिषा मदेमेति भूमा वै रायस्पोषः श्रीर्वै भूमाशिषमेवैतदाशास्ते समिषा मदेमेतीषं मदतीति वै तमाहुर्यः श्रियमश्नुते यः परमतां गच्छति तस्मादाह समिषा मदेमेति ॥१२॥ ब्राह्मणम् ॥१॥ ॥

अपराह्णे दीक्षेत । पुरा केशश्मश्रोर्वपनाद्यत्कामयेत तदश्नीयाद्यद्वा सम्पद्येत व्रतꣳ ह्येवास्यातोऽशनं भवति यद्यु नाशिशिषेदपि कामं नाश्नीयात् ॥१॥ ॥ शतं १४०० ॥ ॥ अथोत्तरेण शालां परिश्रयन्ति । तदुदकुम्भमुपनिदधति तन्नापित उपतिष्ठते तत्केशश्मश्रु च वपते नखानि च निकृन्ततेऽस्ति वै पुरुषस्यामेध्यं य-

ठीक) दिशा वह है जहाँ से देव चढ़े थे। उत्तर की दिशा मनुष्यों की है। इसीलिए मनुष्यों के मकान या दालान उदीचीन वंश (अर्थात् दक्षिण से उत्तर की ओर जानेवाली धन्नियों के) होते हैं क्योंकि उत्तर मनुष्यों की दिशा है। केवल दीक्षित के लिए प्राचीन वंश मकान होवे; अदीक्षित के लिए नहीं ।।७।।

उसको घेर देते हैं कि कहीं वर्षा न हो। कम-से-कम वर्षा में (तो यह होना ही चाहिए)। जो दीक्षा लेता है वह देवों के निकट आ जाता है, वह देवों में से एक हो जाता है। देव मनुष्यों से छिपे हुए होते हैं। जो घिरा होता है वह भी छिपा हुआ होता है। इसलिए उसे घेर लेते हैं ।।८।।

इसमें सब कोई न घुसे; केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य ही। क्योंकि यही यज्ञ के अधिकारी हैं ।।९।।

वह सबसे बात न करे। जो दीक्षा लेता है वह देवों के समीप हो जाता है, वह देवतों में से एक हो जाता है। देवता सबसे नहीं बोलते; केवल ब्राह्मण से, क्षत्रिय से और वैश्य से। क्योंकि यही यज्ञ के अधिकारी हैं। यदि शूद्र से बोलने की आवश्यकता पड़े तो (द्विजों से ही) एक को कहे—"इससे ऐसा कह दो! इससे ऐसा कह दो।" दीक्षित पुरुष के लिए यही उपचार है ।।१०।।

अब दो अरणियों को हाथ में लेकर शाला को पसन्द करता है और पूर्व की ओर के विशेष आसन पर बैठकर यह यजुः पढ़ता है—"एदमगन्म देवयजनं पृथिव्या यत्र देवासोऽअजुषन्त विश्वे" (यजु० ४।१)—"हम पृथिवी के उस यज्ञ-स्थान पर आये हैं जिसको सब देवताओं ने पसन्द किया।" इस प्रकार यह सब देवों तथा वेदज्ञ ब्राह्मणों द्वारा पसन्द हो जाती है। और जिसको वेदपाठी ब्राह्मण आँखों से देख लेते हैं वह उनको पसन्द हो जाती है ।।११।।

और जब वह कहता है—'यत्र देवासोऽअजुषन्त विश्वे' (जिसको सब देवों ने पसन्द किया) तो सब देवता उसकी खातिर उसको पसन्द कर लेते हैं। अब वह पढ़ता है—"ऋक् सामाभ्याँ संतरन्तो यजुर्भिः" (यजु० ४।१)—"ऋक्, साम और यजुओं द्वारा तरते हुए।" ऋक् साम और यजुः द्वारा ही यज्ञ को पूरा करते हैं, इससे उसका तात्पर्य है कि मेरा यज्ञ पूर्णता को प्राप्त हो। अब कहता है—"रायस्पोषेण समिषा मदेम" (यजु० ४।१)—"धन और पुष्टि को पाकर आनन्द मनावें।" 'रायस्पोष' का अर्थ है 'बहुतायत' (भूमा)। बहुतायत ही 'श्री' है। इस प्रकार वह आशीर्वाद देता है। वह कहता है—'समिषा मदेम' (इष अर्थात् ओज के साथ) क्योंकि जो कोई श्री वाला हो जाता है या बड़प्पन को प्राप्त होता है उसको लोग कहते हैं कि यह इष अर्थात् ओज को पाकर प्रसन्न हो रहा है। इसलिए कहा—'समिषा मदेम' ।।१२।।

अध्याय १—ब्राह्मण २

अपराह्न अर्थात् दोपहर के बाद दीक्षा दे। केश और दाढ़ी मुँडाने से पहले जो मन चाहे या जो मिल सके उसे खा ले, क्योंकि इसके पीछे व्रत ही उसका भोजन होता है (अर्थात् दूध आदि) परन्तु यदि खाना न चाहे तो न खावे ।।१।। [१४००]

अब शाला के उत्तर में स्थान घेरते हैं। उसमें जल का एक घड़ा रखते हैं। इसके पास नाई बैठता है। अब (यजमान) बाल और दाढ़ी मुँडवाता है और नाखुन कतरवाता है, क्योंकि पुरुष का वह भाग अमेध्य या अपवित्र समझा जाता है जहाँ पानी नहीं पहुँचता। उसके बाल,

त्रास्यापो नोपतिष्ठन्ते केशश्मश्रौ च वाऽअस्य नखेषु चापो नोपतिष्ठन्ते तद्यत्के-
शश्मश्रु च वपते नखानि च निकृन्तते मेध्यो भूत्वा दीक्षाऽइति ॥२॥ तद्धैके ।
सर्वऽएव वपन्ते सर्वऽएव मेध्या भूत्वा दीक्षिष्यामहऽइति तदु तथा न कुर्याद्यद्वै
केशश्मश्रु च वपते नखानि च निकृन्तते तदेव मेध्यो भवति तस्मादु केशश्मश्रु
चैव वपेत नखानि च निकृन्तेत ॥३॥ स वै नखान्येवाग्रे निकृन्तते । दक्षिण-
स्यैवाग्रे सव्यस्य वाऽअग्रे मानुषेऽथैवं देवत्राङ्गुष्ठयोरेवाग्रे कनिष्ठिकयोर्वाऽअग्रे
मानुषेऽथैवं देवत्रा ॥४॥ स दक्षिणमेवाग्रे गोदानं वितारयति । सव्यं वाऽअग्रे
मानुषेऽथैवं देवत्रा ॥५॥ स दक्षिणमेवाग्रे गोदानमभ्युनत्ति । इमा आपः शमु मे
सन्तु देवीरिति स यदाहेमा आपः शमु मे सन्तु देवीरिति वज्रो वाऽआपो वज्रो
हि वाऽआपस्तस्माद्येनैता यन्ति निम्नं कुर्वन्ति यत्रोपतिष्ठन्ते निर्दहन्ति तत्तदेतमे-
वैतद्वज्रꣳ शमयति तथो हैनमेष वज्रः शान्तो न हिनस्ति तस्मादाहेमा आपः श-
मु मे सन्तु देवीरिति ॥६॥ अथ दर्भतरुणकमन्तर्दधाति । ओषधे त्रायस्वेति वज्रो
वै क्षुरस्तथो हैनमेष वज्रः क्षुरो न हिनस्त्यथ क्षुरेणाभिनिदधाति स्वधिते मैनꣳ
हिꣳसीरिति वज्रो वै क्षुरस्तथो हैनमेष वज्रः क्षुरो न हिनस्ति ॥७॥ प्रच्छिद्योद-
पात्रे प्रास्यति । तूष्णीमेवोत्तरं गोदानमभ्युनत्ति तूष्णीं दर्भतरुणकमन्तर्दधाति तू-
ष्णीं क्षुरेणाभिनिधाय प्रच्छिद्योदपात्रे प्रास्यति ॥८॥ अथ नापिताय क्षुरं प्रयच्छति ।
स केशश्मश्रु वपति स यदा केशश्मश्रु वपति ॥९॥ अथ स्नाति । अमेध्यो वै पु-
रुषो यदनृतं वदति तेन पूतिरन्तरतो मेध्या वाऽआपो मेध्यो भूत्वा दीक्षाऽइति
पवित्रं वाऽआपः पवित्रपूतो दीक्षाऽइति तस्माद्वै स्नाति ॥१०॥ स स्नाति । आ-
पोऽअस्मान्मातरः शुन्धयन्त्वित्येतद्ध्याह शुन्धयन्त्विति घृतेन नो घृतप्वः पुनन्त्विति
तद्वै सपूतं यं घृतेनापुनंस्तस्मादाह घृतेन नो घृतप्वः पुनन्त्विति विश्वꣳ हि रिप्रं
प्रवहन्ति देवीरिति यद्वै विश्वꣳ सर्वं तद्यदमेध्यꣳ रिप्रं तत्सर्वꣳ ह्यस्मादमेध्यं प्रव-

दाढ़ी और नाखुनों में जल नहीं पहुंच सकते। इसलिए बाल और दाढ़ी मुँडवाते हैं और नाखुन कतरवाते हैं कि जिससे वह शुद्ध होकर दीक्षा ले ॥२॥

कुछ लोग सब बाल मुँडवा देते हैं जिससे सम्पूर्ण शुद्ध होकर दीक्षा लें। परन्तु ऐसा न करे, क्योंकि बाल और दाढ़ी मुँडवाने और नाखुन कतरवाने से भी शुद्ध हो जाते हैं। इसलिए केश और दाढ़ी ही मुँडवावे और नाखुन कतरवा ले ॥३॥

पहले नाखुन कतरवाता है। पहले दाहिने हाथ के। मनुष्यों में पहले बायें हाथ के नाखुन कतरवाने का रिवाज है, परन्तु देवों में इस प्रकार (अर्थात् दाहिने हाथ के पहले कतरे जाते हैं)। पहले दोनों अँगूठों के। मनुष्यों में पहले कनिष्ठिका अँगुली के नाखुन कतरने का रिवाज है, परन्तु देवों में इस प्रकार (अर्थात् पहले अँगूठों के नाखुन काटना चाहिए) ॥४॥

पहले दाहिनी मूँछों में कंघी करता है। मनुष्यों में पहले बायें में की जाती है। देवों में इस प्रकार (अर्थात् पहले दाहिनी मूँछों में) ॥५॥

पहले वह दाहिनी मूँछों को भिगोता है यह मन्त्र पढ़कर—"इमा आपः शमु मे सन्तु देवीः" (यजु० ४।१)—"ये दिव्य जल मेरी शान्ति के लिए हों।" ऐसा वह क्यों कहता है कि ये दिव्य जल मेरी शान्ति के लिए हों? जल वज्र हैं। वस्तुतः जल वज्र हैं। इसलिए ये जल जिधर को बहते हैं उधर को गड्ढा कर देते हैं, और जहाँ पहुँचते हैं वहाँ वे भस्म अर्थात् नष्ट कर देते हैं। इसलिए इस प्रकार वह वज्र को शान्त करता है। इस प्रकार शान्त हुआ वज्र उसको हानि नहीं पहुँचाता। इसीलिए कहा कि—'ये दिव्य जल मेरी शान्ति के लिए हों' ॥४॥

अब दर्भ की बालों के साथ रखता है यह मन्त्र पढ़कर—"ओषधे त्रायस्व" (यजु० ४।१)—"हे ओषधि, तू रक्षा कर।" क्षुरा वज्र है। इस प्रकार यह क्षुरारूपी वज्र उसको नहीं हानि पहुँचाता। इसलिए वह क्षुरे को यह पढ़कर चलाता है—"स्वधिते मैनँ हिंसीः"—"हे क्षुरे, इसको मत हानि पहुँचा।" क्योंकि क्षुरा वज्र है और इस प्रकार यह वज्ररूपी क्षुरा हानि नहीं पहुँचाता ॥७॥

काटकर पानी के पात्र में डालता है। बायीं तरफ के बालों को मौन होकर भिगोता है और मौन होकर ही उनपर दर्भ रखता है और मौन होकर ही क्षुरा चलाता है और बाल काटकर जल के पात्र में छोड़ देता है ॥८॥

अब क्षुरा नाई को दे देता है। (नाई) बाल और दाढ़ी मूँडता है। जब केश और दाढ़ी मुँड जाते हैं—॥९॥

तो स्नान करता है। पुरुष अपवित्र है क्योंकि झूठ बोलता है। इसलिए उसका भीतरी अंश अपवित्र है। जल पवित्र है। 'पवित्र होकर दीक्षा लूँ।' जल पवित्र है। 'पवित्र होकर दीक्षा लूँ' इसलिए स्नान करता है ॥१०॥

वह यह मन्त्र पढ़कर स्नान करता है—"आपोऽस्मान् मातरः शुन्धयन्तु" (यजु० ४।२ या ऋ० १०।१७।१०)—"जल माताएँ हमको शुद्ध करें।" इससे तात्पर्य है कि वे शुद्ध करें। अब कहता है—"घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु" (ऋ० १०।७७।१० या यजु० ४।२)—"घी को पवित्र करनेवाले हमको घी से पवित्र करें।" जो घी से पवित्र होता है वह वस्तुतः पवित्र हो जाता है। इसलिए वह कहता है कि 'घी को पवित्र करनेवाले हमको घी से पवित्र करें।' "विश्वँ हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीः" (यजु० ४।२)—"ये दिव्य पदार्थ सब दोष को दूर कर देते हैं।" 'विश्व' का अर्थ है 'सब', 'रिप्र' का अर्थ है 'अमेध्य' या अपवित्र। वे उससे सब अपवित्र दोषों को दूर

हन्ति तस्मादाह विश्वꣳ हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीरिति ॥११॥ अथ प्राङिवोदङ्-
ङुत्क्रामति । उदिदाभ्यः शुचिरा पूत एमीत्युद्ध्याभ्यः शुचिः पूत एति ॥१२॥ अथ
वासः परिधत्ते । सर्वत्वायैव स्वामेवास्मिन्नेतत्त्वचं दधाति या ह वाऽइयं गोस्त्व-
क्पुरुषे हैषाग्रऽआस ॥१३॥ ते देवा अब्रुवन् । गौर्वाऽइदꣳ सर्वं बिभर्ति हन्त
येयं पुरुषे त्वग्गव्येतां दधाम तयैषा वर्षन्तं तया हिमं तया घृणिं तितिक्षिष्यत
ऽइति ॥१४॥ तेऽवच्छाय पुरुषम् । गव्येतां त्वचमदधुस्तयैषा वर्षन्तं तया हिमं
तया घृणिं तितिक्षते ॥१५॥ अवच्छितो हि वै पुरुषः । तस्मादस्य यत्रैव क्व च
कुशो वा यद्वा विकृन्तति तत एव लोहितमुत्पतति तस्मिन्नेतां त्वचमदधुर्वास
एव तस्मान्नान्यः पुरुषाद्वासो बिभर्त्येताꣳ ह्यस्मिंस्त्वचमदधुस्तस्मादु सुवासा एव
बुभूषेत्स्वया त्वचा समृध्याऽइति तस्मादप्यश्लीलꣳ सुवाससं दिदृक्षन्ते स्वया हि त्व-
चा समृद्धो भवति ॥१६॥ नो हान्ते गोर्नग्नः स्यात् । वेद ह गौरहमस्य त्वचं
बिभर्मीति सा बिभ्यती त्रसति त्वचं मऽआदास्यतऽइति तस्मादु गावः सुवासस-
मुपैव निश्रयन्ते ॥१७॥ तस्य वाऽएतस्य वाससः । अग्नेः पर्यासो भवति वायोर-
नुछादो नीविः पितृणाꣳ सर्पाणां प्रघातो विश्वेषां देवानां तन्तव आरोका नक्ष-
त्राणामेवꣳ हि वाऽएतत्सर्वे देवा अन्वायत्तास्तस्माद्दीक्षितवसनं भवति ॥१८॥
तद्वाऽअहतꣳ स्यात् । अयातयामतायै तद्वै निष्पेष्टवै ब्रूयाद्यदेवास्यात्रामेध्या कृ-
णत्ति वा वयति वा तदस्य मेध्यमसदिति यद्युऽअहतꣳ स्यादद्भिरभ्युक्षेन्मेध्यमस-
दित्यथो यदिदꣳ स्नातवस्यं निहितमपल्पूलनकृतं भवति तेनो हापि दीक्षेत
॥१९॥ तत्परिधत्ते । दीक्षातपसोस्तनूरसीत्यदीक्षितस्य वाऽअस्यैषाग्रे तनूर्भवत्य-
थात्र दीक्षातपसोस्तस्मादाह दीक्षातपसोस्तनूरसीति तां त्वा शिवाꣳ शग्मां परि-
दधऽइति तां त्वा शिवाꣳ साध्वीं परिदधऽइत्येवैतदाह भद्रं वर्णं पुष्यन्निति पाप
वाऽएषोऽग्रे वर्णं पुष्यति यममुमदीक्षितोऽथात्र भद्रं तस्मादाह भद्रं वर्णं पुष्य-

कर देते हैं। इसीलिए कहता है कि 'ये दिव्य पदार्थ सब दोषों को दूर कर देते हैं' ॥११॥

अब उत्तर-पूर्व की ओर चलता है यह मन्त्रांश पढ़कर—"उदिदाभ्यः शुचिरा पूतऽएमि" (यजु० ४।२)–"मैं शुद्ध-पवित्र होकर इनसे चलता हूँ।" वस्तुतः वह शुद्ध और पवित्र होकर इनसे चलता है ॥१२॥

अब वह कपड़ा पहनता है, सर्वत्व अर्थात् पूर्णता के लिए। मानो वह इस प्रकार अपनी ही खाल ओढ़ता है। जो गाय के ऊपर का यह चमड़ा है वह पहले मनुष्य के ऊपर था ॥१३॥

देवों ने कहा—'वस्तुतः गाय इस (पृथिवी) पर सभी को धारण करती है। यह जो पुरुष के ऊपर खाल है उसे गाय पर रख दें। इससे वह वर्षा, शीत और गर्मी को सह लेगी' ॥१४॥

उन्होंने पुरुष की खाल खींचकर गाय के ऊपर रख दी। इससे वह वर्षा, शीत और गर्मी को सह लेती है ॥१५॥

पुरुष की खाल खींच ली गयी है। इसलिए जहाँ कहीं कुश या और कोई चीज छिद जाती है वहीं खून निकल आता है। इसलिये उस चमड़े को ऊपर रख दिया। इसलिए मनुष्य के सिवाय और कोई कपड़े नहीं पहनता। क्योंकि उसी के ऊपर वह चमड़े के समान रख दिया गया है इसलिए उसे वस्त्रों से विभूषित होना चाहिए, जिससे वह अपनी ही खाल से ढक जाय। इसलिए एक भद्दे आदमी को भी कपड़े में ढकना चाहते हैं क्योंकि वह अपने ही चमड़े से ढका होता है ॥१६॥

उसको गाय के सामने नंगा नहीं होना चाहिए। क्योंकि गाय जानती है कि मैं इसी का चमड़ा ओढ़े हूँ और वह डरकर भागती है कि यह कहीं अपना चमड़ा न ले ले। इसलिए भी जो कपड़े पहने होता है उसी के पास गायें भली-भाँति जाती हैं ॥१७॥

अब इस कपड़े का ताना अग्नि का होता है और बाना वायु का। पितरों की नीवि, सर्पों का प्रघात (आगे का किनारा), तन्तु विश्वेदेवों का, और छिद्र नक्षत्रों के। इसमें सभी देवतागण शामिल हैं। इसलिए यह दीक्षित का कपड़ा होता है ॥१८॥

यह वस्त्र (यथासम्भव) अहत (=न मारा हुआ) अर्थात् पत्थर पर न पीटा हुआ, (बे-धुला हुआ) होना चाहिए, जिससे पूरा ओज प्राप्त हो। (अध्वर्यु प्रतिप्रस्थातृ को) आदेश देवे कि उस वस्त्र को पीटे जिससे यदि अपवित्र स्त्री का कता या बुना भाग हो तो वह निकल जाय और वस्त्र पवित्र हो जाय। यदि वह नया हो तो उस पर जल छिड़के जिससे वह पवित्र हो जाय। या ऐसे कपड़े से दीक्षा ले जो अलग रक्खा रहता हो और स्नान के पश्चात् ही पहना जाता हो। वह (किसी तीक्ष्ण खार आदि में) डुबोया हुआ न हो ॥१९॥

वह इस मन्त्र को पढ़कर पहनता है—"दीक्षातपसोस्तनूरसि।"–"दीक्षा और तप का तू शरीर या ढकना है।" इससे पहले वह अदीक्षित का शरीर था। अब दीक्षा और तप का हुआ। इसलिए कहा कि 'तू दीक्षा और तप का शरीर है।' अब कहता है—"तां त्वा शिवाꣳ शग्मां परिदधे।"–"मैं तुझ कल्याणकारी और शुभ (कपड़े) को धारण करता हूँ।" 'शग्मां' का अर्थ है 'साध्वी' (उत्तम) को। अब कहता है—"भद्रं वर्णं पुष्यन्।"–"भद्रवर्ण का पोषण करनेवाला।" जो वर्ण अदीक्षित होने की अवस्था में धारण किया गया वह पापयुक्त था। अब भद्र है। इसलिए कहा कि 'भद्रवर्ण का पोषण करनेवाला' ॥२०॥

न्निति ॥२०॥ अथैनꣳ शालां प्रपादयति । स धेन्वै चानडुहश्च नाश्नीयाद्धेन्वनडुहौ वाऽइदꣳ सर्वं बिभृतस्ते देवा अब्रुवन्धेन्वनडुहौ वाऽइदꣳ सर्वं बिभृतो हन्त यदन्येषां वयसां वीर्यं तद्धेन्वनडुहयोर्दधामेति स यदन्येषां वयसां वीर्यमासीत्तद्धेन्वनडुहयोरदधुस्तस्माद्धेनुश्चैवानड्वांश्च भूयिष्ठं भुङ्क्तस्तद्धैतत्सर्वाश्यमिव यो धेन्वनडुहयोरश्नीयादन्तगतिरिव तꣳ हाद्भुतमभिजनितोर्जायायै गर्भं निरबधीदिति पापमकदिति पापी कीर्तिस्तस्माद्धेन्वनडुहयोर्नाश्नीयात्तदु होवाच याज्ञवल्क्योऽश्नाम्येवाहमꣳसलं चेद्भवतीति ॥२१॥ ब्राह्मणम् ॥२॥

अपः प्रणीय । आग्नावैष्णवमेकादशकपालं पुरोडाशं निर्वपत्यग्निर्वै सर्वा देवता अग्नौ हि सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुह्वत्यग्निर्वै यज्ञस्यावरार्ध्यो विष्णुः परार्ध्यस्तत्सर्वाश्चैवैतद्देवताः परिगृह्य सर्वं च यज्ञं परिगृह्य दीक्षाऽइति तस्मादाग्नावैष्णव एकादशकपालः पुरोडाशो भवति ॥१॥ तद्धैके । आदित्येभ्यश्चरुं निर्वपन्ति तदस्ति पर्युदितमिवाष्टौ पुत्रासोऽअदितेर्ये जातास्तन्वस्परि । देवाँ२॥ऽउप प्रैत्सप्तभिः परा मार्ताण्डमास्यदिति ॥२॥ अष्टौ ह वै पुत्रा अदितेः । यांस्त्वेतद्देवा आदित्या इत्याचक्षते सप्त हैव तेऽविकृतꣳ हाष्टमं जनयां चकार मार्ताण्डꣳ संदेघो हैवास यावानेवोर्ध्वस्तावांस्तिर्यङ् पुरुषसंमित इत्यु हैकऽआहुः ॥३॥ तऽउ हैतऽऊचुः । देवा आदित्या यदस्मानन्वजनिमा तदमुयेव भूदन्तेमं विकरवामेति तं विचक्रुर्यथायं पुरुषो विकृतस्तस्य यानि माꣳसानि संकृत्य संन्यासुस्ततो हस्ती समभवत्तस्मादाहुर्न हस्तिनं प्रतिगृह्णीयात्पुरुषाजानो हि हस्तीति यमु ह तद्विचक्रुः स विवस्वानादित्यस्तस्येमाः प्रजाः ॥४॥ स होवाच । राध्नवान्मे स प्रजायां य एतमादित्येभ्यश्चरुं निर्वपादिति राध्नोति हैव य एतमादित्येभ्यश्चरुं निर्वपत्ययं त्वेवाग्नावैष्णवः प्रज्ञातः ॥५॥ तस्य सप्तदश सामिधेन्यो भवन्ति । उपाꣳशु देवते यजति पञ्च प्रयाजा भवन्ति त्रयोऽनुयाजाः संयाजयन्ति पत्नीः सर्वत्वायैव समिष्टयजुरेव न

अब (अध्वर्यु) उसको शाला में ले जाता है। वह गाय या बैल का (मांस) न खावे, क्योंकि गाय और बैल ही इस सब विश्व को धारण करते हैं। देवों ने कहा—"ये गाय और बैल संसार को धारण करते हैं इसलिए अन्य प्राणियों का जो वीर्य या पराक्रम है वह गाय और बैल में रख दें। इसलिए जो पराक्रम अन्य प्राणियों में था उसे उन्होंने गाय और बैलों में रख दिया। इसलिए गाय और बैल बहुत खाते हैं। इसलिए यदि गाय या बैल का (मांस) खा जायगा तो सब ही खा लिया जायगा और अन्त में सबका नाश हो जायगा। वह दूसरे जन्म में अद्भुत योनि को प्राप्त होगा। कहा जायगा कि इसने पत्नी के गर्भ का नाश कर दिया; पाप कर दिया। उसकी कीर्ति पापयुक्त होगी। इसलिए गाय और बैल का मांस न खावे। परन्तु याज्ञवल्क्य ने कहा—"मैं तो खाता हूँ अगर नर्म (अंसल) हो ॥२१॥

अध्याय १—ब्राह्मण ३

जलों को लाकर अग्नि और विष्णु के लिए ११ कपालों का पुरोडाश निकालता है। अग्नि ही सब देवता हैं क्योंकि अग्नि में ही सब देवताओं के लिए आहुति दी जाती है। अग्नि यज्ञ का नीचे का आधा है और विष्णु ऊपर का आधा। वह सोचता है कि 'मैं सब देवताओं का परिग्रहण करके और सब यज्ञ को घेरके दीक्षित हो जाऊँगा, इसलिए वह अग्नि और विष्णु के लिए ग्यारह कपालों का पुरोडाश बनाता है ॥१॥

इस पर कुछ लोग आदित्य के लिए चरु देते हैं। इस पर एक श्रुति है—"अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जातास्तन्वस्परि। देवाँ उप प्रैत् सप्तभिः परा मार्ताण्डमास्यत्।" (ऋ० १०।७२।८)—"अदिति के आठ पुत्र हैं, जो उसके शरीर से उत्पन्न हुए हैं। सातों के साथ वह देवों तक पहुँची, और मार्तण्ड को उसने फेंक दिया" ॥२॥

अदिति के आठ पुत्र थे। परन्तु जो आदित्य (अर्थात् अदिति के अपत्य) कहलाते हैं वे सात ही हैं। आठवें मार्तण्ड को उसने अविकृत (बिगड़े) रूप में उत्पन्न किया। वह सन्देह-मात्र था अर्थात् वह किसी निश्चित रूप का न था। जितना ऊँचा था उतना ही चौड़ा था। कुछ लोग कहते हैं कि वह मनुष्य के आकार का था ॥३॥

आदित्य देव अर्थात् अदिति के पुत्रों ने कहा—"जो हमारे पीछे उत्पन्न हुआ है वह विकृत न हो जाय। लाओ इसे बनावें।" उन्होंने उसे वैसा ही बनाया जैसा मनुष्य बनाया जाता है। जो मांस काटकर डाल दिया गया उससे हाथी बन गया। इसलिए कहते हैं कि भेंटस्वरूप हाथी न लेना चाहिए क्योंकि हाथी मनुष्य से उत्पन्न हुआ है, और जिसे बनाया वह हुआ 'विवस्वान्' (सूर्य) या सूर्य, और इसी की यह सब प्रजा हैं ॥४॥

उसने कहा—"मेरी प्रजा में से वह फलीभूत होगा जो आदित्यों को चरु देता है।" इसलिए वह सफल होता है जो आदित्यों को चरु देता है। यह चरु अग्नि और विष्णु के लिए विख्यात है ॥५॥

इसकी सत्रह साभिधेनियाँ हैं। इन दोनों देवताओं के लिए धीमी आवाज में आहुति दी जाती है। पाँच प्रयाज होते हैं और तीन अनुयाज। पूर्णता के लिए पत्नी-संयाज करते हैं। समिष्ट-

जुहोति नेदिदं दीक्षितवसनं परिधाय पुरा यज्ञस्य सꣳस्थाया अन्तं गच्छानीत्यन्तो हि यज्ञस्य समिष्टयजुः ॥६॥ अथाग्रेण शालां तिष्ठन्नभ्यङ्क्ते । अरुर्वै पुरुषोऽवछितोऽनरुरेवैतद्भवति यदभ्यङ्क्ते गवि वै पुरुषस्य त्वग्गोर्वाऽएतन्नवनीतं भवति स्वयैवैनमेतत्त्वचा समर्धयति तस्माद्वाऽअभ्यङ्क्ते ॥७॥ तद्वै नवनीतं भवति । घृतं वै देवानां फाण्टं मनुष्याणामथैतन्नाहैव घृतं नो फाण्टꣳ स्यादेव घृतꣳ स्यात्फाण्टमयातयामतायै तदेनमयातयाम्नैवायातयामानं करोति ॥८॥ तमभ्यनक्ति । शीर्षतोऽग्रऽआ पादाभ्यामनुलोमं महीनां पयोऽसीति महय इति ह वाऽएतासामेकं नाम यद्गवां तासां वाऽएतत्पयो भवति तस्मादाह महीनां पयोऽसीति वर्चोदा असि वर्चो मे देहीति नात्र तिरोहितमिवास्ति ॥९॥ अथाक्ष्यावानक्ति । अरुर्वै पुरुषस्याक्षि प्रशान्ममेति ह स्माह याज्ञवल्क्यो दुरक्ष-इव ह्यास पूयो हैवास्य दूषीका तेऽएवैतदनरुष्करोति यदक्ष्यावानक्ति ॥१०॥ यत्र वै देवाः । असुररक्षसानि जघ्नुस्तच्छुष्णो दानवः प्रत्यङ् पतित्वा मनुष्याणामक्षीणि प्रविवेश स एष कनीनकः कुमारक-इव परिभासते तस्माऽएवैतद्यज्ञमुपप्रयन्त्सर्वतोऽश्मपुरां परिदधात्यश्मा ह्याञ्जनम् ॥११॥ त्रैककुदं भवति । यत्र वाऽइन्द्रो वृत्रमहंस्तस्य यदक्ष्यासीत्तं गिरिं त्रिककुदमकरोत्तद्यत्त्रैककुदं भवति चक्षुष्येवैतच्चक्षुर्दधाति तस्मात्त्रैककुदं भवति यदि त्रैककुदं न विन्देदप्यत्रैककुदमेव स्यात्समानी ह्येवाञ्जनस्य बन्धुता ॥१२॥ शरेषीकयानक्ति । वज्रो वै शरो विरक्षस्तायै सतूला भवत्यमूलं वाऽइदमुभयतः परिच्छिन्नꣳ रक्षोऽन्तरिक्षमनुचरति यथायं पुरुषोऽमूल उभयतः परिच्छिन्नोऽन्तरिक्षमनुचरति तद्यत्सतूला भवति विरक्षस्तायै ॥१३॥ स दक्षिणमेवाग्रऽआनक्ति । सव्यं वाऽअग्रे मानुषेऽथैवं देवत्रा ॥१४॥ स आनक्ति । वृत्रस्यासि कनीनक इति वृत्रस्य ह्येष कनीनकश्चक्षुर्दा असि चक्षुर्मे देहीति नात्र तिरोहितमिवास्ति ॥१५॥ स दक्षिणꣳ सकृद्यजुषानक्ति । सकृत्तूष्णीमथोत्तरꣳ स-

यजुः की आहुति नहीं देते कि कहीं ऐसा न हो कि दीक्षित के वस्त्र पहनकर यज्ञ की पूर्ति से यज्ञ के अन्त को पहुँच जाय। क्योंकि समिष्ट-यजुः यज्ञ का अन्त है ॥६॥

अब शाला के आगे खड़े होकर अभ्यंजन (नवनी शरीर पर मलना) कराता है। त्वचा से वंचित होकर पुरुष घाववाला हो जाता है। जब उसका अभ्यंजन होता है तो घाव भर जाते हैं। क्योंकि मनुष्य की त्वचा तो गाय के ऊपर है और घी (नवनी) भी गाय की होती है। इस प्रकार (अध्वर्यु) उसको उसी की चीज दिला देता है। इसीलिए अभ्यंजन किया जाता है ॥७॥

यह नवनी है। घी देवों का है और फाण्ट (अर्थात् वे मक्खन के कण जो मट्ठा चलाने में ऊपर उतरा आते हैं) मनुष्यों का। नवनी न तो घी है, न फाण्ट है। वृद्धि के लिए घी और फाण्ट दोनों होने चाहिएँ। जो वृद्धियुक्त चीज है उससे वह यजमान को वृद्धियुक्त करता है ॥८॥

वह शिर से पैर तक अनुलोम की रीति से अभ्यंजन (उबटन) करता है, इस मन्त्र को पढ़कर — "महीनां पयोऽसि" (यजु० ४।३)। 'मही' उन गायों में से एक का नाम है और यह (नवनी) उनका 'पय' है। इसीलिए कहा—'महीनां पयोऽसि।' अब कहता है—"वर्चोदाऽअसि वर्चो मे देहि" (यजु० ४।३) —"तू वर्चस् देनेवाला है, मुझे वर्चस् दे।" यह स्पष्ट है ॥९॥

अब आँख में काजल लगाता है। याज्ञवल्क्य ने कहा कि 'मनुष्य की आँख जख्मवाली है। मेरी आँख ठीक है।' पहले उसकी आँख खराब थी। अब वह काजल लगाकर उसकी आँख को नीरोग करता है ॥१०॥

जब देवों ने असुर राक्षसों को मारा तो शुष्ण दानव पीछे को लौटकर मनुष्यों की आँखों में समा गया। वही आँख की पुतली होकर छोटा बालक-सा प्रतीत होता है (कुमारक पुतली को भी कहते हैं और बालक को भी)। इस प्रकार यजमान यज्ञ में प्रवेश होते समय इस अंजन को लगाकर मानो उस दानव के चारों ओर पत्थर की दीवार खड़ी कर देता है, क्योंकि अंजन पत्थर का है। (सुरमा पत्थर का होता है) ॥११॥

यह त्रिककुद पहाड़ का सुरमा है। जब इन्द्र ने वृत्र को मारा तो उसकी आँख को जो पुतली थी उसका त्रिककुद पहाड बना दिया। अब त्रिककुद पहाड़ से सुरमा लाने का तात्पर्य यह है कि आँख में रख देवे। यदि त्रिककुद पर्वत का सुरमा न मिले तो त्रिककुद को छोड़कर किसी अन्य स्थान से सुरमा लावे, क्योंकि सुरमों का फल एक ही है ॥१२॥

सुरमा सींक से लगता है, क्योंकि सींक वज्र है। इसी (सींक) की नोक पर रुई लगी होती है जिससे राक्षस निकल जाय, क्योंकि राक्षस बिना मूल के और दोनों ओर से स्वतन्त्र होकर हवा में घूमता है, इसी तरह जैसे आदमी हवा में बिना मूल के और बिना रोकटोक के घूमता है। सींक के किनारे पर रुई इसीलिए लगी होती है कि राक्षस दूर हो जाय ॥१३॥

पहले दाहिनी आँख में सुरमा या अंजन लगाया जाता है। आदमी की बाईं आँख में पहले अंजन लगाया जाता है, देवताओं की (इसके विपरीत), ऐसी ही चाल है ॥१४॥

वह इस मन्त्र को पढ़कर अंजन लगाता है—"वृत्रस्यासि कनीनकः" (यजु० ४।३) —"तू वृत्र की आँख है।" वस्तुतः यह वृत्र की ही आँख है। अब कहता है—"चक्षुर्दाऽअसि चक्षुर्मे देहि" (यजु० ४।३) —"तू आँख देनेवाला है, मुझे आँख दे।" यह स्पष्ट है ॥१५॥

दाहिनी आँख में एक यजुः-मन्त्र पढ़कर लगाता है और एक बार चुपचाप। बाईं आँख में

कृष्णविषाणानक्ति द्विस्तूष्णीं तदुत्तरमेवैतदुत्तरावत्करोति ॥१६॥ तद्यत्पञ्च कृत्व आ-
नक्ति । संवत्सरसंमितो वै यज्ञः पञ्च वाऽऋतवः संवत्सरस्य तं पञ्चभिराप्नोति
तस्मात्पञ्च कृत्व आनक्ति ॥१७॥ अथैनं दर्भपवित्रेण पावयति । अमेध्यो वै पुरु-
षो यदनृतं वदति तेन पूतिरन्तरतो मेध्या वै दर्भा मेध्यो भूत्वा दीक्षाऽइति प-
वित्रं वै दर्भाः पवित्रपूतो दीक्षा इति तस्मादेनं दर्भपवित्रेण पावयति ॥१८॥ त-
द्वाऽएकꣳ स्यात् । एको ह्येवायं पवते तदेतस्यैव रूपेण तस्मादेकꣳ स्यात् ॥१९॥
अथोऽअपि त्रीणि स्युः । एको ह्येवायं पवते सोऽयं पुरुषेऽन्तः प्रविष्टस्त्रेधावि-
हितः प्राण उदानो व्यान इति तदेतस्यैवानु मात्रां तस्मात्त्रीणि स्युः ॥२०॥ अ-
थोऽअपि सप्त स्युः । सप्त वाऽइमे शीर्षन्प्राणास्तस्मात्सप्त स्युस्त्रिः सप्तान्येव स्युरे-
कविꣳशतिरेषैव संपत् ॥२१॥ तꣳ सप्तभिः-सप्तभिः पावयति । चित्पतिर्मा पुना-
त्विति प्रजापतिर्वै चित्पतिः प्रजापतिर्मा पुनात्वित्येवैतदाह वाक्पतिर्मा पुनात्वि-
ति प्रजापतिर्वै वाक्पतिः प्रजापतिर्मा पुनात्वित्येवैतदाह देवो मा सविता पुना-
त्विति तद्धि सुपूतं यं देवः सवितापुनात्तस्मादाह देवो मा सविता पुनात्वच्छिद्रे-
ण पवित्रेणेति यो वाऽअयं पवतऽएषोऽच्छिद्रं पवित्रमेतेनैतदाह सूर्यस्य रश्मिभि-
रित्येते वै पवितारो यत्सूर्यस्य रश्मयस्तस्मादाह सूर्यस्य रश्मिभिरिति ॥२२॥ त-
स्य ते पवित्रपतऽइति । पवित्रपतिर्हि भवति पवित्रपूतस्येति पवित्रपूतो हि भ-
वति यत्कामः पुने तच्छकेयमिति यज्ञस्योदृचं गच्छानीत्येवैतदाह ॥२३॥ अथाशि-
षामारम्भं वाचयति । आ वो देवास ईमहे वामं प्रयत्यध्वरे । आ वो देवास
आशिषो यज्ञियासो हवामहऽइति तदस्मै स्वाः सतीरेवैता आशिष आशास्ते
॥२४॥ अथाङ्गुलीर्न्यचति । स्वाहा यज्ञं मनसऽइति द्वे स्वाहोरोरन्तरिक्षादिति द्वे
स्वाहा द्यावापृथिवीभ्यामिति द्वे स्वाहा वातादारभऽइति मुष्टीकरोति न वै य-
ज्ञः प्रत्यक्षमिवारभे यथायं दण्डो वा वासो वा परोऽक्षं वै देवाः परोऽक्षं य-

एक बार एक यजुः-मन्त्र पढ़कर लगाता है और दो बार चुपचाप। इस प्रकार बाईं आँख को बड़प्पन दे देता है ॥१६॥

यह पाँच बार क्यों लगाता है? इसका कारण यह है कि यज्ञ और संवत्सर एक-से हैं। संवत्सर में पाँच ऋतुएँ होती हैं। इस प्रकार वह पाँच बार लगाने से संवत्सर को पा लेता है। इसलिए पाँच बार लगाता है ॥१७॥

अब यह इसको दर्भ के पवित्रा से पाक करता है। मनुष्य झूठ बोलने से अपवित्र हो जाता है। पवित्रा पाक है। वह सोचता है कि 'पाक होकर दीक्षा लूँ।' दर्भ शुद्धि का साधन है। वह सोचता है कि 'पवित्र होकर दीक्षा लूँ।' इसलिए दर्भ के पवित्रा से अपने को शुद्ध करता है ॥१८॥

यह (दर्भ का पवित्रा) एक ही हो। यह पवन भी तो एकही है, और पवन के ही लक्षण का यह पवित्रा है (पवन का अर्थ भी पवित्र करनेवाला है), इसलिए दर्भ एक ही होना चाहिए ॥१९॥

या तीन पवित्रा हों। यह पवन तो एक ही है, लेकिन पुरुष के शरीर में पहुँचकर प्राण, व्यान और उदान बन जाता है। पवित्रा का भी यही लक्षण है। इसलिए तीन पवित्रा हो सकते हैं ॥२०॥

ये सात भी हो सकते हैं। सिर के प्राण सात हैं, इसलिए सात हो सकते हैं। ये सात के तिगुने अर्थात् २१ भी हो सकते हैं। पूर्णता इसी में है ॥२१॥

सात पवित्रों से वह यह मन्त्र पढ़कर पवित्र करता है—"चित्पतिर्मा पुनातु" (यजु० ४।४)। 'चित्पति' का अर्थ है प्रजापति, अर्थात् प्रजापति मुझे शुद्ध करे। "वाक्पतिर्मा पुनातु" (यजु० ४।४)। 'वाक्पति' भी प्रजापति है, अर्थात् प्रजापति मुझे पवित्र करे। "देवो मा सविता पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण" (यजु० ४।४)। 'सुपूत' (अर्थात् यथार्थ शुद्ध) वह है जिसको सविता देव ने शुद्ध किया हो। "अच्छिद्रेण पवित्रेण" (यजु० ४।४), क्योंकि वायु ही छिद्ररहित पवित्र करनेवाला है। "सूर्यस्य रश्मिभिः" (यजु० ४।४), क्योंकि सूर्य की किरणें सबसे अधिक पवित्र करनेवाली हैं ॥२२॥

"तस्य ते पवित्रपते" (यजु० ४।४)—"वह (जो दीक्षित पुरुष है) पवित्रता का पति है।" "पवित्रपूतस्य" (यजु० ४।४), क्योंकि वह पवित्रा से शुद्ध किया हुआ है। "यत् कामः पुने तच्छकेयम्" (यजु० ४।४), अर्थात् "जिस कामना से मैं पवित्र हुआ हूँ वह करसकूँ" अर्थात् यज्ञ को पा सकूँ ॥२३॥

अब वह आशीर्वाद का मन्त्र बोलता है—"आ वो देवासऽईमहे वामं प्रयत्यध्वरे। आ वो देवासऽआशिषो यज्ञियासो हवामहे" (यजु० ४।५)—"हे देवो, हम आपका यज्ञ के आरम्भ में आवाहन करते हैं। हे देवो, हम आपका यज्ञ में आशीर्वाद के लिए आवाहन करते हैं।" इस प्रकर ऋत्विज लोग अपने आशीर्वाद को उसके लिए देते हैं ॥२४॥

अब वह अँगुलियों को यह मन्त्र पढ़कर भीतर की ओर मोड़ता है—"स्वाहा यज्ञं मनसः" (यजु० ४।६)। इस मन्त्र से दो छोटी अँगुलियों को। "स्वाहोरोरन्तरिक्षात्" (यजु० ४।६)। इससे दो अनामिकाओं को। "स्वाहा द्यावापृथिवीभ्याँ" (यजु० ४।६)। इससे दो बीच की अँगुलियों को। "स्वाहा वातादारभे" (यजु० ४।५)। इससे दोनों मुट्ठियाँ बाँधता है। जैसे डंडा या कपड़ा पकड़ा जाता है उसी प्रकार प्रत्यक्ष रीति से यज्ञ नहीं पकड़ा जा सकता है। जैसे देव परोक्ष हैं, वैसे ही यज्ञ परोक्ष है ॥२५॥

ज्ञः ॥२५॥ स यदाह । स्वाहा यज्ञं मनसऽइति तन्मनस आरभते स्वाहोरोरन्तरिक्षादिति तदन्तरिक्षादारभते स्वाहा द्यावापृथिवीभ्यामिति तदाभ्यां द्यावापृथिवीभ्यामारभते ययोरिदꣳ सर्वमधि स्वाहा वातादारभऽइति वातो वै यज्ञस्तद्यज्ञं प्रत्यक्षमारभते ॥२६॥ अथ यत्स्वाहा-स्वाहेति करोति । यज्ञो वै स्वाहाकारो यज्ञमेवैतदात्मन्धत्तेऽत्रोऽएव वाचं यच्छति वाग्वै यज्ञो यज्ञमेवैतदात्मन्धत्ते ॥२७॥ अथैनꣳ शालां प्रपादयति । स जघनेनाहवनीयमेत्यग्रेण गार्हपत्यꣳ सोऽस्य संचरो भवत्या सुत्यायै तद्यदस्यैष संचरो भवत्या सुत्यायाऽअग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य गर्भो दीक्षितोऽन्तरेणा वै योनिं गर्भः संचरति स यत्स तत्रेङ्गति बत्परि वदावर्तते तस्मादिमे गर्भा एङ्गन्ति बत्परि वदावर्तन्ते तस्मादस्यैष सचरो भवत्या सुत्यायै ॥२८॥ ब्राह्मणम् ॥३॥

सर्वाणि ह वै दीक्षाया यजूꣳष्यौद्ग्रभणानि । उद्गृभ्णीते वाऽएषोऽस्माल्लोकाद्देवलोकमभि यो दीक्षतऽएतैरेव तद्यजुर्भिरुद्गृभ्णीते तस्मादाहुः सर्वाणि दीक्षाया यजूꣳष्यौद्ग्रभणानीति तन एतान्यवान्तरामाचक्षतऽऔद्ग्रभणानीत्याहुतयो ह्येता आहुतिर्हि यज्ञः परोऽक्षं वै यजुर्जपत्यथैष प्रत्यक्षं यज्ञो यदाहुतिस्तदेतेन यज्ञेनोद्गृभ्णीतेऽस्माल्लोकाद्देवलोकमभि ॥१॥ ततो यानि त्रीणि स्रुवेण जुहोति । तान्याधीतयजूꣳषीत्याचक्षते सम्पदऽएव कामाय चतुर्थꣳ हूयतेऽथ यत्पञ्चमꣳ स्रुचा जुहोति तदेव प्रत्यक्षमौद्ग्रभणमनुष्टुभा हि तज्जुहोति वाग्घ्यनुष्टुब्वाग्घि यज्ञः ॥२॥ यज्ञेन वै देवाः । इमां जितिं जिग्युर्यैषामियं जितिस्ते होचुः कथं न इदं मनुष्यैरनभ्यारोह्यꣳ स्यादिति ते यज्ञस्य रसं धीत्वा यथा मधु मधुकृतो निर्धयेयुर्विदुह्य यज्ञं यूपेन योपयित्वा तिरोऽभवन्नथ यदेनेनायोपयंस्तस्माद्यूपो नाम ॥३॥ तद्वाऽऋषीणामनुश्रुतमास । ते यज्ञꣳ समभरन्यथायं यज्ञः सम्भृत एवं वाऽएष यज्ञꣳ सम्भरति यदेतानि जुहोति ॥४॥ तानि वै पञ्च जुहोति । संवत्सरसंमितो

जब वह कहता है—"स्वाहा यज्ञं मनसः" तो मन से यज्ञ का आरम्भ करता है। जब कहता है—"स्वाहोरोरन्तरिक्षात्", तब अन्तरिक्ष से आरम्भ करता है। जब कहता है "स्वाहा द्यावापृथिवीभ्याम्" तब द्यौ और पृथिवी से आरम्भ करता है जिनमें ये सब चीजें शामिल हैं। जब वह कहता है "स्वाहा वातादारभे" तो यज्ञ को स्वयं ही ले लेता है, क्योंकि 'वात' यज्ञ है ॥२६॥

जब वह कहता है "स्वाहा, स्वाहा" तो यज्ञ ही स्वाहा है, इसलिए यज्ञ को धारण करता है। अब वह वाणी को रोकता है। वाक् ही यज्ञ है, इसलिए यज्ञ को यज्ञ की आत्मा में ही धारण करता है ॥२७॥

अब वह उसको यज्ञ में प्रवेश करता है। वह आहवनीय के पीछे और गार्हपत्य के आगे चलता है। इस प्रकार सोम निचोड़ने तक चलता है। सोम निचोड़ने तक वह इस प्रकार क्यों चलता है? इसका कारण यह है—अग्नि यज्ञ की योनि है और दीक्षित पुरुष गर्भ है। गर्भ योनि के भीतर चलता है। और जैसे दीक्षित पुरुष यहाँ चलता और फिर मुड़कर लौट देता है उसी प्रकार योनि के गर्भ चलता है और फिर मुड़कर लौट देता है। इसलिए सोम निचोड़ने तक यही चाल रहती है ॥२८॥

अध्याय १—ब्राह्मण ४

दीक्षा-सम्बन्धी सब यजु औद्ग्रभण कहलाते हैं, क्योंकि जो पुरुष दीक्षित होता है वह इस लोक से देवलोक को उठता है (उद् गृभ्णीते) और इन यजुओं के द्वारा उठता है इसीलिए ये औद्ग्रभण कहलाते हैं। इन अवान्तर (बीच में होनेवाले) कृत्यों को भी औद्ग्रभण कहते हैं। क्योंकि ये आहुतियाँ हैं और आहुतियाँ यज्ञ हैं। यजुः का जाप तो परोक्ष यज्ञ है और यह आहुति प्रत्यक्ष यज्ञ है। इसी यज्ञ से इस लोक से देवलोक को उठते हैं ॥१॥

स्रुवों से जो तीन आहुतियाँ दी जाती हैं उनको 'अधीत यजुः' कहते हैं। चौथी आहुति कामना के लिए होती है। पाँचवीं आहुति जो स्रुक् या जुहू से दी जाती है वह प्रत्यक्ष में औद्ग्रभण कहलाती है। क्योंकि यह अनुष्टुम् छन्द से दी जाती है। अनुष्टुम् वाणी है। वाणी यज्ञ है ॥२॥

यज्ञ से देवों ने वह विजय पाई जो उनकी मिली हुई है। वे कहने लगे—"यह मनुष्यों के लिए अप्राप्य कैसे हो?" उन्होंने यज्ञ के रस को चूसा जैसे शहद की मक्खी शहद को चूसती हैं, और यज्ञ को नीरस करके और यूप के द्वारा यज्ञ को तितर-बितर करके छिप गये। चूंकि उन्होंने इससे यज्ञ को तितर-बितर किया (योपयन्) इसलिए इसका यूप नाम पड़ा ॥३॥

ऋषियों ने इस बात को सुना। उन्होंने यज्ञ को इकट्ठा किया, जैसे यज्ञ इकट्ठा किया जाता है। यह औद्ग्रभण आहुतियों द्वारा यज्ञ को इकट्ठा करता है ॥४॥

वह पाँच आहुतियाँ देता है क्योंकि यज्ञ और संवत्सर की संगति है। साल में पाँच ऋतुए

वै यज्ञः पञ्च वाऽऋतवः संवत्सरस्य तं पञ्चभिराप्नोति तस्मात्पञ्च जुहोति ॥५॥
अथातो होमस्यैव । आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहेत्या वाऽअग्रे कुवते यजेयेति त-
द्यदेवात्र यज्ञस्य तदेवैतत्संभृत्यात्मन्कुरुते ॥६॥ मेधायै मनसेऽग्नये स्वाहेति । मे-
धया वै मनसाभिगच्छति यजेयेति तद्यदेवात्र यज्ञस्य तदेवैतत्संभृत्यात्मन्कुरुते ॥७॥
दीक्षायै तपसेऽग्नये स्वाहेति । अन्वेवैतदुच्यते नेत्तु हूयते ॥८॥ सरस्वत्यै पूष्णे
ऽग्नये स्वाहेति । वाग्वै सरस्वती वाग्यज्ञः पशवो वै पूषा पुष्टिर्वै पूषा पुष्टिः प-
शवः पशवो हि यज्ञस्तद्यदेवात्र यज्ञस्य तदेवैतत्सम्भृत्यात्मन्कुरुते ॥९॥ तदाहुः ।
अनद्धेवैता आकूतयो हूयन्तेऽप्रतिष्ठिता अदेवकास्तत्र नेन्द्रो न सोमो नाग्निरिति
॥१०॥ आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहेति । नात एकं चनाग्निर्वाऽअद्धेवाग्निः प्रतिष्ठि-
तः स यदग्नौ जुहोति तेनैवैता अद्धेव तेन प्रतिष्ठितास्तस्मादु सर्वास्वेवाग्नये स्वा-
हेति जुहोति तत एतान्याधीतयजूꣳषीत्याचक्षते ॥११॥ आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वा-
हेति । आत्मना वाऽअग्रऽआकुवते यजेयेति तमात्मनऽएव प्रयुङ्क्ते यत्तनुते ते
ऽअस्यैतेऽआत्मन्देवतेऽआधीते भवत आकूतिश्च प्रयुक्च ॥१२॥ मेधायै मनसेऽग्नये
स्वाहेति । मेधया वै मनसाभिगच्छति यजेयेति तेऽअस्यैतेऽआत्मन्देवतेऽआधीते
भवतो मेधा च मनश्च ॥१३॥ सरस्वत्यै पूष्णेऽग्नये स्वाहेति । वाग्वै सरस्वती
वाग्यज्ञः सास्यैषात्मन्देवताधीता भवति वाक्पशवो वै पूषा पुष्टिर्वै पूषा पुष्टिः
पशवः पशवो हि यज्ञस्तेऽस्यैतऽआत्मन्पशव आधीता भवन्ति तद्यदस्यैता आ-
त्मन्देवता आधीता भवन्ति तस्मादाधीतयजूꣳषि नाम ॥१४॥ अथ चतुर्थीं जुहो-
ति । आपो देवीर्बृहतीर्विश्वशम्भुवो द्यावापृथिवीऽउरोऽअन्तरिक्ष । बृहस्पतये
हविषा विधेम स्वाहेत्येषा ह नेदीयो यज्ञस्यापाꣳ हि कीर्तयत्यापो हि यज्ञो
द्यावापृथिवीऽउरोऽअन्तरिक्षेति लोकानाꣳ हि कीर्तयति बृहस्पतये हविषा वि-
धेम स्वाहेति ब्रह्म वै बृहस्पतिर्ब्रह्म यज्ञ एतेनो हैषा नेदीयो यज्ञस्य ॥१५॥

होती हैं। इससे पाँच की प्राप्ति होती है, इसलिए पाँच आहुतिएँ दी जाती हैं ॥५॥

होम की ये आहुतियाँ हैं–पहली–"आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहा" (यजु० ४।७)–"विचार, प्रयोग और अग्नि के लिए स्वाहा।" पहले यज्ञ का विचार ही करता है (कुवते)। अब इस आहुति में जो यज्ञ का भाग शामिल है उसे अपना बना लेता है ॥६॥

दूसरी—"मेधायै मनसेऽग्नये स्वाहा" (यजु० ४।७)–"बुद्धि, मन और अग्नि के लिए स्वाहा।" बुद्धि और मन से वह यज्ञ करना चाहता है। अब इस आहुति में जो यज्ञ का भाग है उसको अपना बना लेता है ॥७॥

"दीक्षायै तपसेऽग्नये स्वाहा" (यजु० ४।७)–"दीक्षा, तप और अग्नि के लिए स्वाहा।" यह केवल बोला जाता है। इससे आहुति नहीं दी जाती ॥८॥

तीसरी—"सरस्वत्यै पूष्णेऽग्नये स्वाहा" (यजु० ४।७)—"सरस्वती, पूषा और अग्नि के लिए स्वाहा।" वाणी सरस्वती है। वाणी यज्ञ है। पशु पूषा हैं क्योंकि पूषा का अर्थ है पुष्टि। पशु पुष्टि हैं और पशु यज्ञ हैं। इस (तीसरी) आहुति में जो यज्ञ का भाग है उसको वह अपना बना लेता है ॥९॥

इस पर कहा जाता है कि ये आहुतियाँ अनिश्चित हैं। ये प्रतिष्ठित नहीं हैं। इनमें किसी देवता, इन्द्र, सोम या अग्नि का नाम नहीं है ॥१०॥

"आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहा" में किसी देवता का निश्चय नहीं है। (इस आक्षेप का उत्तर यह है कि) अग्नि तो निश्चित है। अग्नि प्रतिष्ठित है। जब अग्नि में आहुतियाँ दी जाती हैं तो वे निश्चित हो जाती हैं। इसीलिए ये सब आहुतियाँ 'अग्नये स्वाहा' कहकर दी जाती हैं। इन आहुतियों को 'अधीत यजूंषि' कहते हैं ॥११॥

"आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहा।" यहाँ वह आत्मा से ही यज्ञ का विचार करता है और आत्मा से ही प्रयोग करता है। ये दोनों देवता अर्थात् आकूति (विचार) और प्रयुक् (प्रयोग) आत्मा में ही उठते हैं (अधीत) ॥१२॥

"मेधायै मनसेऽग्नये स्वाहा।" यहाँ मेधा और मन से यज्ञ की प्राप्ति करता है, इसलिए मेधा और ये दोनों देवता स्थित होते हैं ॥१३॥

"सरस्वत्यै पूष्णेऽग्नये स्वाहा।" वाणी ही सरस्वती है। वाणी यज्ञ है। यह सरस्वती देवता आत्मा में स्थित होता है। पशु पूषा हैं। पूषा पुष्टि है। पशु यज्ञ हैं। आत्मा में पशु स्थित होते हैं। इसलिए 'अधीत यजूंषि' इनका नाम हुआ ॥१४॥

अब चौथी आहुति देता है—"आपो देवीर्बृहतीर्विश्वशम्भुवो द्यावापृथिवीऽउरोऽ अन्तरिक्ष। बृहस्पतये हविषा विधेम स्वाहा" (यजु० ४।७)–"हे दिव्य, बड़े, संसार के हितकारक आपो देवता, हे द्यावापृथिवी, हे विस्तृत अन्तरिक्ष! हम हवि से बृहस्पति की पूजा करें।" ये आहुति यज्ञ के घनिष्ठ हैं। आपो देवता की कीर्तियाँ हैं। 'आप' ही यज्ञ है। "द्यावापृथिवी, उरोऽअन्तरिक्ष" से लोकों की कीर्ति कहता है। "बृहस्पतये हविषा विधेम स्वाहा।" यहाँ ब्रह्म की बृहस्पति है। ब्रह्म ही यज्ञ है। इस प्रकार यह आहुति यज्ञ से घनिष्ठ सम्बन्ध रखतीहै ॥१५॥

अथ यां पञ्चमीᳫ स्रुचा जुहोति । सा हैव प्रत्यक्षं यज्ञोऽनुष्टुभा हि तां जुहोति वाग्घ्यनुष्टुब्वाग्घि यज्ञः ॥१६॥ अथ यद्ध्रुवायामाज्यं परिशिष्टं भवति । तज्जुह्वामानयति त्रिः स्रुवेणाज्यविलापन्याऽअधि जुह्वां गृह्णाति यत्तृतीयं गृह्णाति तत्स्रुवमभिपूरयति ॥१७॥ स जुहोति । विश्वो देवस्य नेतुर्मर्तो वुरीत सख्यम् । विश्वो राय इषुध्यति द्युम्नं वृणीत पुष्यसे स्वाहेति ॥१८॥ सैषा देवताभिः पङ्क्तिर्भवति । विश्वो देवस्येति वैश्वदेवं नेतुरिति सावित्रं मर्तो वुरीतेति मैत्रं द्युम्नं वृणीतेति बार्हस्पत्यं द्युम्नᳫ हि बृहस्पतिः पुष्यसऽइति पौष्णᳫ ॥१९॥ सैषा देवताभिः पङ्क्तिर्भवति । पाङ्क्तो यज्ञः पाङ्क्तः पशुः पञ्चऽर्तवः संवत्सरस्यैतमेवैतयाप्नोति यद्देवताभिः पङ्क्तिर्भवति ॥२०॥ तां वाऽअनुष्टुभा जुहोति । वाग्वाऽअनुष्टुब्वाग्यज्ञस्तद्यज्ञं प्रत्यक्षमाप्नोति ॥२१॥ तदाहुः । एतामेवैकां जुहुयाद्यस्मै कामायेतरा हूयन्तऽएतयैव तं काममाप्नोतीति तां वै यद्येकां जुहुयात्पूर्णां जुहुयात्सर्वं वै पूर्णᳫ सर्वमेवैनयैतदाप्नोत्यथ यत्स्रुवमभिपूरयति स्रुचं तदभिपूरयति तां पूर्णां जुहोत्यन्वेवैतदुच्यते सर्वास्वेव हूयन्ते ॥२२॥ तां वाऽअनुष्टुभा जुहोति । सैषानुष्टुप्सत्येकत्रिᳫशदक्षरा भवति दश पाण्या अङ्गुलयो दश पाद्या दश प्राणा आत्मैकत्रिᳫशो यस्मिन्नेते प्राणाः प्रतिष्ठिता एतावान्वै पुरुषः पुरुषो यज्ञः पुरुषसंमितो यज्ञः स यावानेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावन्तमेवैनयैतदाप्नोति यदनुष्टुभैकत्रिᳫशदक्षरया जुहोति ॥२३॥ ब्राह्मणं ॥४॥ अध्यायः ॥१[१६.]॥ ॥

दक्षिणेनाहवनीयं प्राचीनग्रीवे कृष्णाजिनेऽउपस्तृणाति । तयोरेनमधि दीक्षयति यदि द्वे भवतस्तदनयोर्लोकयो रूपं तदेनमनयोर्लोकयोरधि दीक्षयति ॥१॥ संबद्धान्ते भवतः । सबद्धान्ताविव हीमौ लोकौ तर्ह्यसमुते पश्चाद्भवतस्तदिमावेव लोकौ मिथुनीकृत्य तयोरेनमधि दीक्षयति ॥२॥ यद्युऽएक भवति । तदेषां लोकानाᳫ रूपं तदेनमेषु लोकेष्वधि दीक्षयति यानि शुक्लानि तानि दिवो रूपं या-

अब जो स्रुक् से पाँचवीं आहुति दी जाती है वह तो साक्षात् यज्ञ है, क्योंकि यह अनुष्टुम् छन्द में दी जाती है। वाणी अनुष्टुम् है। वाणी यज्ञ है ॥१६॥

ध्रुवा में जो आज्य बच रहता है वह जुहू में छोड़ा जाता है। अब तीन बार स्रुवा से आज्य घी पिघलनेवाले पात्र से जुहू में डालते हैं। तीसरी बार जो लेता है उससे स्रुवा को भर लेता है ॥१७॥

अब वह इस मन्त्र से आहुति देता है—"विश्वो देवस्य नेतुर्मर्त्तो वुरीत सख्यम्। विश्वे रायऽइषुध्यति द्युम्नं वृणीत पुष्यसे स्वाहा" (यजु० ४।८; ऋ० ५।५०।१)—"सब आदमी दिव्य नेता की मित्रता को ग्रहण करें। सब धन को चाहते हैं। अपनी पुष्टि के लिए यश को चाहें" ॥१८॥

यह आहुति और ऋचा देवताओं की अपेक्षा से सम्बन्धित है—'विश्वो देवस्य' से तात्पर्य है वैश्वदेव का, 'नेतुः' से सविता का, 'मर्तो वुरीत' से मित्र का, 'द्युम्नं वृणीत' से बृहस्पति का, 'पुष्य' से पूषा का ॥१६॥

यह आहुति और ऋचा देवताओं की अपेक्षा से पाँच से सम्बन्धित है। यज्ञ के पाँच भाग हैं। पशु के पाँच भाग हैं। ऋतुएँ पाँच हैं। इस प्रकार पाँच देवताओं वाली आहुति के द्वारा वह सम्वत्सर की प्राप्ति कर लेता है ॥२०॥

इसको वह अनुष्टुम् छन्द में देता है। वाणी अनुष्टुम् है। वाणी यज्ञ है। इस प्रकार प्रत्यक्ष यज्ञ की प्राप्ति करता है ॥२१॥

इस पर कहते हैं कि बस इसी एक आहुति को देवे। अन्य आहुतियाँ जिस-जिस कामना के लिए दी जाती हैं वे सब इसी से पूरी हो जाती हैं। जो इस आहुति को देता है, पूर्ण आहुति को देता है। 'सर्व' का अर्थ है पूर्ण। स्रुवा को भरकर वह जुहू को भर लेता है और जुहू को पूरा-पूरा छोड़ देता है। परन्तु यह केवल कथन मात्र है। आहुतियाँ तो पाँचों ही दी जाती हैं ॥२२॥

इसको अनुष्टुम् छन्द में देते हैं। अनुष्टुम् में ३१ अक्षर होते हैं। दस हाथ की उँगलियाँ हैं, दस पैर की, दस प्राण हैं। ३१वाँ आत्मा जिसमें ये प्राण हैं। इतना ही पुरुष है। पुरुष यज्ञ है। उतने ही यज्ञ के भाग हैं जितने पुरुष के। इसलिए जितना यज्ञ है, जितनी उसकी मात्रा है, उतनी ही वह इस ३१ अक्षरवाले अनुष्टुम् की आहुति देकर उसको प्राप्त कर लेता है ॥२३॥

अध्याय २—ब्राह्मण १

आहवनीय के दक्षिण की ओर दो मृगचर्मों को इस प्रकार बिछाता है कि उनकी गर्दन पूर्व की ओर रहे। उन पर वह उसको दीक्षा देता है। ये जो दो होते हैं ये दोनों लोकों के रूप हैं। इस प्रकार वह उसको इन दोनों लोकों में दीक्षित करता है ॥१॥

ये दोनों सिरों पर जुड़े होते हैं। ये दोनों लोक भी सिरे पर जुड़े होते हैं। पीछे की ओर ये छिद्रों द्वारा जुड़े होते हैं। इन दोनों लोकों को जोड़कर वह उसको दीक्षा देता है ॥२॥

यदि एक ही चर्म हो तो वह इन तीनों लोकों का रूप है। इस प्रकार वह उसको इन तीनों लोकों में दीक्षित करता है। जो श्वेत बाल हैं वे द्यौ का रूप हैं, जो काले हैं वे इस पृथिवी

नि कृष्णानि तान्यस्यै यदि वेतरथा यान्येव कृष्णानि तानि दिवो रूपं यानि शु-
क्लानि तान्यस्यै यान्येव बभ्रूणीव हरीणि तान्यन्तरिक्षस्य रूपं तदेनमेषु लोके-
ष्वधि दीक्षयति ॥३॥ अन्तकमु तर्हि पश्चात्प्रत्यस्येत् । तदिमानेव लोकान्मिथुनी-
कृत्य तेष्वेनमधि दीक्षयति ॥४॥ अथ जघनेन कृष्णाजिनं पश्चात् प्राङ् जान्वाक्न
उपविशति स यत्र शुक्लानां च कृष्णानां च संधिर्भवति तदेवमभिमृश्य जपत्यृक्सा-
मयोः शिल्पे स्थऽइति यद्वै प्रतिरूपं तच्छिल्पमृचां च साम्नां च प्रतिरूपे स्थ इत्ये-
वैतदाह ॥५॥ ते वामारभऽइति । गर्भो वाऽएष भवति यो दीक्षते स छन्दाꣳ-
सि प्रविशति तस्मान्न्यक्नाङ्गुलिरिव भवति न्यक्नाङ्गुलयऽइव हि गर्भाः ॥६॥ स
यदाह । ते वामारभऽइति ते वां प्रविशामीत्येवैतदाह ते मा पातमास्य यज्ञ-
स्योदृच इति ते मा गोपायतमास्य यज्ञस्य सꣳस्थाया इत्येवैतदाह ॥७॥ अथ द-
क्षिणेन जानुनारोहति । शर्मासि शर्म मे यच्छेति चर्म वाऽएतत्कृष्णस्य तदस्य त-
न्मानुषꣳ शर्म देवत्रा तस्मादाह शर्मासि शर्म मे यच्छेति नमस्तेऽअस्तु मा मा हिꣳ-
सीरिति श्रेयाꣳसं वाऽएष उपाधिरोहति यो यज्ञं यज्ञो हि कृष्णाजिनं तस्माऽए-
वैतद्यज्ञाय निह्नुते तथो हैनमेष यज्ञो न हिनस्ति तस्मादाह नमस्तेऽअस्तु मा
मा हिꣳसीरिति ॥८॥ स वै जघनार्धऽइवैवाग्रऽआसीत । अथ यदग्रऽएव मध्य
ऽउपविशेद्य एनं तत्रानुव्याहरेदुद्रास्यति वा प्र वा पतिष्यतीति तथा हैव स्या-
त्तस्माज्जघनार्धऽइवैवाग्रऽआसीत ॥९॥ अथ मेखलां परिहरते । अङ्गिरसो ह वै
दीक्षितानबल्यमविन्दत्ते नान्यद्व्रतादशनमवाकल्पयंस्तऽएतामूर्जमपश्यन्त्समाप्तिं तां
मध्यत आत्मन ऊर्जमदधत समाप्तिं तया समाप्नुवंस्तथोऽएवैष एतां मध्यत आ-
त्मन ऊर्जं धत्ते समाप्तिं तया समाप्नोति ॥१०॥ सा वै शाणी भवति । मृद्वसदिति
न्वेव शाणी यत्र वै प्रजापतिरजायत गर्भो भूत्वैतस्माद्यज्ञात्तस्य यन्नेदिष्ठमुल्बमा-
सीत्ते शणास्तस्मात्ते पूतयो वान्ति यद्वस्य जराय्वासीत्तद्दीक्षितवसनमन्तरं वाऽउ

का। या इसके विपरीत यों भी कह सकते हैं कि जो काले बाल हैं वे द्यौ का रूप हैं और जो श्वेत बाल हैं वे इस पृथिवी का। जो भूरे पीले-पीले हैं वे अन्तरिक्ष का रूप हैं। इस प्रकार वह उसको इन तीनों लोकों में दीक्षित करता है ।।३।।

अन्त में उसे उस (मृगचर्म) के पीछे को मुड़ना चाहिए। इन लोकों को जोड़कर वह उसको उनमें दीक्षित करता है ।।४।।

अब वह मृगचर्मों के पीछे पूर्वाभिमुख और जानु को झुकाकर बैठ जाता है और जहाँ सफेद और काले बाल मिलते हैं वहाँ इस प्रकार (श्वेत बाल अँगूठे से और काले अगली अँगुली से एक-साथ) छूकर यह मन्त्र पढ़ता है–"ऋक् सामयोः शिल्पे स्थः" (यजु० ४।९)–"तुम ऋक् और साम के प्रतिरूप हो।" शिल्प कहते हैं प्रतिरूप को। इसका तात्पर्य यह है कि 'ऋचाओं और सामों के प्रतिरूप* हो' ।।५।।

अब कहता है, "ते वामारभे" (यजु० ४।९)–"मैं तुमको छूता हूँ।" जो दीक्षित होता है वह गर्भ बनकर छन्दों में घुस जाता है। इसलिए उसकी अँगुलियाँ सिकुड़ जाती हैं। गर्भ बँधी हुई मुट्ठी के समान होते हैं ।।६।।

और जब वे कहते हैं 'मैं तुमको छूता हूँ' तो इसका तात्पर्य है कि 'मैं तुममें प्रवेश करता हूँ।' अब कहता है— ते मा पातमास्य यज्ञस्योदृचः" (यजु० ४।९)—"तुम मेरी इस यज्ञ के अन्त तक रक्षा करो।" इसका तात्पर्य है कि तुम यज्ञ के अन्त तक मेरी रक्षा करो ।।७।।

अब दाहिनी जानु से उठता है। और पढ़ता है–"शर्मासि शर्म मे यच्छ" (यजु० ४।९)–"तू शरण (कल्याण) है, मुझे शरण दे"–"नमस्तेऽअस्तु मा मा हिंसी" (यजु० ४।९)–"तुझे नमस्कार हो। तू मुझे पीड़ा न दे।" मनुष्य के लिए तो वह काला मृग का चर्म है। देवताओं के लिए यह 'शर्म' या 'शरण' है। जो अपने को यज्ञ के तल तक उठाता है वह मानो अपने को उच्चतर तल तक उठाता है। यह काला मृगचर्म यज्ञ है। इस प्रकार वह उस यज्ञ को प्रसन्न करता है जिससे वह यज्ञ उसे हानि न पहुँचावे। इसलिए कहता है—'नमस्ते अस्तु मा मा हिंसीः' ।।८।।

पहले वह मृगचर्म के पीछे की ओर बैठे। यदि पहले ही बीच में बैठ जावे और कोई उसको शाप दे कि 'यह नष्ट हो जायगा' या 'इसका पतन हो जायगा' तो ऐसा हो ही जायगा। इसलिए उसको मृगचर्म के पिछले भाग में ही बैठना चाहिए ।।९।।

अब वह मेखला को पहनता है। पहले अंगिरा लोगों को दीक्षा दी जाने लगी तो उनमें निर्बलता आ गई, क्योंकि उन्होंने व्रत के दूध के सिवाय और कुछ खाना नहीं तैयार किया था। तब उन्होंने इस (मेखला-सम्बन्धी) बल को देखा और उसको प्राप्त करके शरीर के बीच (कमर) में बाँधा। इससे इनको पूर्णता प्राप्त हो गई ।।१०।।

यह (मेखला) सन की बनाई जाती है। सन की इसलिए बनाई जाती है कि नर्म रहे। जब प्रजापति गर्भ होकर उस यज्ञ से निकला, तब जो उसका उल्व था वह सन बन गया। इसीलिए उनमें बू आती है। और जो जरायु था वह दीक्षित का वस्त्र हो गया। उल्व जरायु के

* सामानि यस्य लोमानि।

ल्बं जरायुणो भवति तस्मादिषात्तरा वाससो भवति स यथैवातः प्रजापतिर्जायत गर्भो भूत्वैतस्माद्यज्ञादेवमेवैषोऽतो जायते गर्भो भूत्वैतस्माद्यज्ञात् ॥११॥ सा वै त्रिवृद्भवति । त्रिवृद्ध्यन्नं पशवो ह्यन्नं पिता माता यज्जायते तत्तृतीयं तस्मात्त्रिवृद्भवति ॥१२॥ मुञ्जवल्शेनान्वस्ता भवति । वज्रो वै शरो विरक्षस्तायै स्तुकासर्गं सृष्टा भवति सा यत्प्रसलवि सृष्टा स्याद्ययेदन्या रज्जवो मानुषी स्याद्यदपसलवि सृष्टा स्यात्पितृदेवत्या स्यात्तस्मात्स्तुकासर्गं सृष्टा भवति ॥१३॥ तां परिहरते । ऊर्गस्याङ्गिरसीत्यङ्गिरसो ह्येतामूर्जमपश्यन्नूर्णम्रदा ऊर्जं मयि धेहीति नात्र तिरोहितमिवास्ति ॥१४॥ अथ नीविमुद्गूहते । सोमस्य नीविरसीत्यदीक्षितस्य वाऽअस्यैषाग्रे नीविर्भवत्यथात्र दीक्षितस्य सोमस्य तस्मादाह सोमस्य नीविरसीति ॥१५॥ अथ प्रोर्णुते । गर्भो वाऽएष भवति यो दीक्षते प्रावृता वै गर्भा उल्बेनेव जरायुणेव तस्माद्वै प्रोर्णुते ॥१६॥ स प्रोर्णुते । विष्णोः शर्मासि शर्म यजमानस्येत्युभयं वाऽएषोऽत्र भवति यो दीक्षते विष्णुश्च यजमानश्च यदह दीक्षते तद्विष्णुर्भवति यद्यजते तद्यजमानस्तस्मादाह विष्णोः शर्मासि शर्म यजमानस्येति ॥१७॥ अथ कृष्णविषाणां सिचि बध्नीते । देवाश्च वाऽअसुराश्चोभये प्राजापत्याः प्रजापतेः पितुर्दायमुपेयुर्मन एव देवा उपायन्वाचमसुरा यज्ञमेव तद्देवा उपायन्वाचमसुरा अमूमेव देवा उपायन्निमामसुराः ॥१८॥ ते देवा यज्ञमब्रुवन् । योषा वाऽइयं वागुपमन्त्रयस्व ह्वयिष्यते वै त्वेति स्वयं वा हैवैक्षत योषा वाऽइयं वागुपमन्त्रयै ह्वयिष्यते वै मेति तामुपामन्त्रयत सा हास्माऽआरकादिवैवाग्रऽआसूयत्तस्मादु स्त्री पुंसोपमन्त्रितारकादिवैवाग्रेऽसूयति स होवाचारकादिव वै मऽआसूयीदिति ॥१९॥ ते होचुः । उपैव भगवो मन्त्रयस्व ह्वयिष्यते वै त्वेति तामुपामन्त्रयत सा हास्मै निपलाशमिवोवाद तस्मादु स्त्री पुंसोपमन्त्रिता निपलाशमिवैव वदति स होवाच निपलाशमिव वै मेऽवादीदिति ॥२०॥ ते होचुः ।

भीतर होता है। इसीलिए यह (मेखला) वस्त्र के भीतर होती है। जैसे प्रजापति गर्भ होकर उस यज्ञ से निकला, इसी प्रकार यह दीक्षित पुरुष भी गर्भ होकर उस यज्ञ से उत्पन्न होता है ॥११॥

मेखला तीन लड़ी वाली होती है। क्योंकि अन्न तीन भागों वाला होता है। पशु अन्न हैं। माता और पिता दो होते हैं, और तीसरा वह होता है जो पैदा होता है। इसीलिए मेखला में तीन लड़ियाँ होती हैं ॥१२॥

वह मूँज से बँधी होती है। मूँज का शर वज्र है, इसलिए इससे राक्षस भाग जाते हैं। यह केशों के समान गूँथी जाती है। अगर वह रस्सी के समान 'पसलवि' अर्थात् सूर्य की चाल के समान बाईं ओर से दाहिनी ओर को गूँथी जाय तो मानुषी हो जाय। यदि 'अपसलवि' अर्थात् दाहिनी ओर से बाईं ओर को गूँथी जाय तो पितरों जैसी हो जाए। इसलिए केशों के समान गूँथी जाती है ॥१३॥

उसको यह मन्त्र पढ़कर धारण करता है—"ऊर्गस्याङ्गिरसि" (यजु० ४।१०)। क्योंकि अंगिरों ने इस 'ऊर्ज' को देखा था। "ऊर्णम्रदाऽऊर्जं मयि धेहि" (यजु० ४।१०)—"तू ऊन के समान नरम है, मुझे ऊर्ज दे।" यहाँ सब स्पष्ट है ॥१४॥

अब नीचे का मन्त्र पढ़कर नीवि को बाँधता है, "सोमस्य नीविरसि" (यजु० ४।१०)—"तू सोम की नीवि है।" पहले अदीक्षित की नीवि थी, अब दीक्षित की नीवि हो गई। इसलिए कहा 'सोम की नीवि है।' (यहाँ सोम का अर्थ 'दीक्षित' प्रतीत होता है। ऋग्वेद के ९वें मण्डल में सोम इसी अर्थ में कई जगह आया है) ॥१५॥

अब वह (सिर को) ढकता है। जो दीक्षित होता है वह गर्भ बन जाता है। गर्भ उल्व और जरायुज से ढके होते हैं। इसलिए वह (सिर को) ढकता है ॥१६॥

वह यह मन्त्र पढ़कर ढकता है—"विष्णोः शर्मासि शर्म यजमानस्य" (यजु० ४।१०)—"तू विष्णु की शरण है, यजमान की शरण है।" जो दीक्षित होता है वह विष्णु और यजमान दोनों होता है। चूँकि वह दीक्षित होता है इसलिए विष्णु बन जाता है, और चूँकि यज्ञ करता है इसलिए यजमान हो जाता है। इसलिए कहा कि 'तू विष्णु की शरण है, यजमान की शरण है' ॥१७॥

अब वह काले हिरण के सींग को (अपने वस्त्र के) सिरे से बाँधता है। देव और असुर दोनों प्रजापति की सन्तान अपने पिता प्रजापति के दायभाग को प्राप्त हुए। देवों ने मन को पाया और असुरों ने वाणी को। देवों ने उस (द्यौ) लोक को पाया और असुरों ने इस (पृथिवी) लोक को ॥१८॥

उन देवों ने यज्ञ से कहा—'यह वाक् स्त्री है। तू इसको संकेत कर। वह तुझे अपने पास बुलायेगी।' या शायद उसने स्वयं ही सोचा कि 'वाक् स्त्री है। मैं इसको संकेत करूँ। यह मुझे अपने पास बुला लेगी।' उसने उसकी ओर संकेत किया। परन्तु उसने दूर से उसको तिरस्कृत कर दिया। इसीलिए स्त्री पहले पुरुष का दूर से तिरस्कार कर देती है। उसने कहा, 'इसने मुझे दूर से ही तिरस्कृत कर दिया' ॥१९॥

वे देवता बोले, 'भले आदमी, फिर संकेत कर, वह तुझे बुला लेगी।' उसने इशारा किया, लेकिन (वाक् ने) उसकी ओर सिर हिलाकर इनकार कर दिया। इसीलिए जब कोई पुरुष स्त्री को बुलाता है तो वह सिर हिलाकर इनकार कर देती है। उसने कहा, 'इसने मुझे सिर हिलाकर इनकार कर दिया' ॥२०॥

उपेव भगवो मन्त्रयस्व ह्वयिष्यते वै त्वेति तामुपामन्त्रयत सा हैनं नुकूव तस्मादु
स्त्री पुमाꣳसꣳ ह्वयत एवोत्तमꣳ स होवाचाह्वत वै मेति ॥२१॥ ते देवा ईक्षां
चक्रिरे । योषा वा इयं वाग्यदेनं न युवितेहैव मा तिष्ठन्तमभ्येहीति ब्रूहि तां
तु न आगतां प्रतिप्रब्रूतादिति सा हैनं तदेव तिष्ठन्तमभ्येयाय तस्मादु स्त्री पु-
माꣳसꣳ सꣳस्कृते तिष्ठन्तमभ्येति ताꣳ हैभ्य आगतां प्रतिप्रोवाचेयं वा आगादिति
॥२२॥ तां देवाः । असुरेभ्योऽन्तरायंस्ताꣳ स्वीकृत्याग्नावेव परिगृह्य सर्वहुतमजु-
हवुराहुतिर्हि देवानाꣳ स यामेवामूमनुष्टुभाजुहवुस्तदेवैनां तद्देवाः स्व्यकुर्वत ते
ऽसुरा आत्तवचसो हेऽलवो हेऽलव इति वदन्तः पराबभूवुः ॥२३॥ तत्रैतामपि
वाचमूदुः । उपजिज्ञास्याꣳ स म्लेच्छस्तस्मान्न ब्राह्मणो म्लेच्छेदसुर्या हैषा वा नतैवैष
द्विषताꣳ सपत्नानामादत्ते वाचं तेऽस्यात्तवचसः पराभवन्ति य एवमेतद्वेद ॥२४॥
सोऽयं यज्ञो वाचमभिदध्यौ । मिथुन्येनया स्यामिति ताꣳ संबभूव ॥२५॥ इन्द्रो
ह वा ईक्षां चक्रे । महद्वा इतोऽभ्वं जनिष्यते यज्ञस्य च मिथुनाद्वाचश्च यन्मा त-
न्नाभिभवेदिति स इन्द्र एव गर्भो भूत्वैतन्मिथुनं प्रविवेश ॥२६॥ स ह संवत्सरे
जायमान ईक्षां चक्रे । महावीर्या वा इयं योनिर्या मामदीधरत यद्वै मेतो महदे-
वाभ्वं नानुप्रजायेत यन्मा तन्नाभिभवेदिति ॥२७॥ तां प्रतिपरामृश्यावेष्ट्याच्छिनत् ।
तां यज्ञस्य शीर्षन्प्रत्यदधाद्यज्ञो हि कृष्णः स यः स यज्ञस्तत्कृष्णाजिनं यो सा यो-
निः सा कृष्णविषाणाथ यदेनामिन्द्र आवेष्ट्याच्छिनत्तस्मादावेष्टितेव स यथैवात इ-
न्द्रोऽजायत गर्भो भूत्वैतस्मान्मिथुनादेवमेवैषोऽतो जायते गर्भो भूत्वैतस्मान्मिथु-
नात् ॥२८॥ तां वा उत्तानामिव बध्नाति । उत्तानेव वै योनिर्गर्भं बिभर्त्यथ द-
क्षिणां भ्रुवमुपर्युपरि ललाटमुपस्पृशतीन्द्रस्य योनिरसीतीन्द्रस्य ह्येषा योनिरतो
वा ह्येनां प्रविशन्प्रविशत्यतो वा जायमानो जायते तस्मादाहेन्द्रस्य योनिरसी-
ति ॥२९॥ ॥ शतम् १५०० ॥ ॥ अथोल्लिखति । सुसस्याः कृषीस्कृधीति यज्ञमेवै-

उन्होंने कहा, 'भले आदमी, फिर संकेत कर, वह तुझे बुला लेगी।' उसने उसकी ओर इशारा किया। अब उस (वाणी) ने उसको बुला लिया। इसलिए जब मनुष्य इशारा करता है तो स्त्री उसको बुला ही लेती है। उसने कहा, 'इसने मुझे बुला लिया' ॥२१॥

अब देवों ने सोचा—'यह वाणी स्त्री है। यह कहीं इसको रिझा न ले (और कहीं यज्ञ भी इस प्रकार असुरों के पास न चला जाय)। उससे कहा कि 'जहाँ मैं खड़ा हूँ, वहीं आ' और जब वह आ जाय तो सूचना दे। अब वह वहीं चली आई जहाँ वह खड़ा था। इसलिए स्त्री उसी घर में चली जाती है जहाँ पुरुष स्थित रहता है। उस (यज्ञ) ने उन (देवताओं) को सूचना दी कि वास्तव में वह आ गई ॥२२॥

तब देवों ने उसे असुरों से अलग कर लिया। अब देवों ने उस स्वीकार करके अग्नि में लपेटकर उसको देवताओं के लिए आहुति दे दी। और चूँकि अनुष्टुभ् छन्द से आहुति दे दी, इसलिए उसको अपनी सत्ता में शामिल कर दिया (क्योंकि अनुष्टुभ् वाणी है)। जब वाणी को देवों ने स्वीकार कर लिया तो असुर लोग कुछ न कह सके और 'हेऽलवो हेऽलवः' कहकर पराजित हो गये, (हाय वाक्, हाय वाक्) ॥२३॥

इस प्रकार उन्होंने अर्थहीन वाणी बोली। और जो ऐसी वाणी बोलता है वह म्लेच्छ है। इसलिए कोई ब्राह्मण म्लेच्छ भाषा न बोले, क्योंकि यह आसुरी भाषा है। इसी प्रकार वह शत्रु को भाषा से वंचित कर सकता है। और जो इस रहस्य को समझता है उसके शत्रु भाषा से वंचित होकर पराजित हो जाते हैं ॥२४॥

अब इस यज्ञ ने चाहा कि वाणी के साथ प्रसंग करूँ। उसने प्रसंग किया ॥२५॥

अब इन्द्र ने सोचा कि यज्ञ और वाणी के प्रसंग से एक भीषण राक्षस उत्पन्न होगा और मुझे हरा देगा। इसलिए इन्द्र स्वयं गर्भ होकर उसमें प्रविष्ट हो गया ॥२६॥

जब वह एक साल बाद पैदा हुआ तो सोचने लगा, 'जिस योनि ने मुझे धारण किया, वह तो 'महावीर्या' है। अब मैं ऐसी तरकीब करूँ कि इसमें कोई बड़ा राक्षस न पैदा हो जाय जो मुझे हरा दे' ॥२७॥

उसको पकड़कर और अच्छी तरह भींचकर उसने तोड़ डाला और यज्ञ के सिर पर रख दिया। कृष्णमृग यज्ञ है। कृष्ण मृगचर्म भी यज्ञ ही है और कृष्णमृग का सींग योनि है। और चूँकि इन्द्र ने खूब भींचकर योनि को तोड़ा, इसलिए सींग को बड़ी मजबूती से वस्त्र से बाँधते हैं। और जैसे इन्द्र गर्भ होकर उस जोड़े से उत्पन्न हुआ, इसी तरह यजमान भी गर्भ होकर उस (सींग और चर्म) के जोड़े से उत्पन्न होता है ॥२८॥

वह इस सींग को इस प्रकार बाँधता है कि खुला भाग ऊपर को रहे, क्योंकि योनि में गर्भ इसी प्रकार रहता है। अब दाहिनी भौं के ऊपर ललाट को (इस सींग से) छुआता है, यह मन्त्र पढ़कर—"इन्द्रस्य योनिरसि" (यजु० ४।१०)—"तू इन्द्र की योनि है।" यह इन्द्र की योनि ही तो है क्योंकि इसमें प्रवेश होकर ही वह यजमान उसमें प्रवेश करता है और यहाँ से उत्पन्न होकर ही वहाँ से उत्पन्न होता है। इसीलिए कहता है कि 'तू इन्द्र की योनि है' ॥२९॥ [शतम् १५००]

अब वह उस सींग से एक लकीर खींचता है यह मन्त्रांश पढ़कर—"सुसस्याः कृषीस्कृधि"

तज्जनयति यदा वै सुषमं भवत्यथालं यज्ञाय भवति यदो दुःषमं भवति न त-र्ह्यात्मने चनालं भवति तस्माद्यज्ञमेवैतज्जनयति ॥३०॥ अथ न दीक्षितः । काष्ठेन वा नखेन वा कण्डूयेत गर्भो वाऽएष भवति यो दीक्षते यो वै गर्भस्य काष्ठेन वा नखेन वा कण्डूयेदपास्यन्नित्येत्ततो दीक्षितः पामनो भवितोर्दीक्षितं वाऽअ-नु रेताꣳसि ततो रेताꣳसि पामनानि जनितोः स्वा वै योनी रेतो न हिनस्त्ये-षा वाऽएतस्य स्वा योनिर्भवति यत्कृष्णविषाणा तस्यो हैनमेषा न हिनस्ति त-स्माद्दीक्षितः कृष्णविषाणयैव कण्डूयेत नान्येन कृष्णविषाणायाः ॥३१॥ अथास्मै दण्डं प्रयच्छति । वज्रो वै दण्डो विरक्षस्तायै ॥३२॥ औदुम्बरो भवति । अन्नं वा ऽऊर्गुदुम्बर ऊर्जोऽन्नाद्यस्यावरुद्ध्यै तस्मादौदुम्बरो भवति ॥३३॥ मुखसंमितो भ-वति । एतावद्वै वीर्यꣳ स यावदेव वीर्यं तावांस्तद्भवति यन्मुखसंमितः ॥३४॥ तमुच्छ्रयति । उच्छ्रयस्व वनस्पतऽऊर्ध्वो मा पाह्यꣳहस आस्य यज्ञस्योदृच इत्यूर्ध्वो मा गोपायास्य यज्ञस्य सꣳस्थाया इत्येवैतदाह ॥३५॥ अत्र हैके । अङ्गुलीश्च न्य-चन्ति वाचं च यच्छन्त्यतो हि किं च न जपिष्यन्भवतीति वदन्तस्तदु तथा न कु-र्याद्यथा परास्वं धावन्तमनुलिप्सेत तं नानुलभेतैवꣳ ह स यज्ञं नानुलभते तस्मा-दमुत्रैवाङ्गुलीर्न्यचेदमुत्र वाचं यच्छेत् ॥३६॥ अथ यद्दीक्षितः । ऋचं वा यजुर्वा सा-म वाभिव्याहरत्यभिस्थिरमभिस्थिरमेवैतद्यज्ञमारभते तस्मादमुत्रैवाङ्गुलीर्न्यचेदमुत्र वाचं यच्छेत् ॥३७॥ अथ यद्वाचं यच्छति । वाग्वै यज्ञो यज्ञमेवैतदात्मन्धत्तेऽथ य-द्वाचंयमो व्याहरति तस्मादु हैष विसृष्टो यज्ञः पराङावर्तते तत्रो वैष्णवीमृचं वा यजुर्वा जपेद्यज्ञो वै विष्णुस्तद्यज्ञं पुनरारभते तस्यो हैषा प्रायश्चित्तिः ॥३८॥ अथै-क उद्वदति । दीक्षितोऽयं ब्राह्मणो दीक्षितोऽयं ब्राह्मण इति निवेदितमेवैनमे-तत्सन्तं देवेभ्यो निवेदयत्ययं महावीर्यो यो यज्ञं प्रापदित्ययं युष्माकैकोऽभूत्तं गो-पायतेत्येवैतदाह त्रिष्कृत्व आह त्रिवृद्धि यज्ञः ॥३९॥ अथ यद्ब्राह्मण इत्याह ।

(यजु० ४।१०)—"कृषि को धान्य-पूरित कर।" इस प्रकार वह यज्ञ को उत्पन्न करता है क्योंकि जब सुकाल होता है तो यज्ञ के लिए पुष्कल सामग्री होती है। और जब दुष्काल होता है तो अपने लिए भी काफी नहीं होता। इसलिए यज्ञ को उत्पन्न करता है।।३०।।

दीक्षित को खुजलाना नहीं चाहिए, न लकड़ी से, न नाखुन से। जो दीक्षित होता है वह गर्भ हो जाता है। गर्भ को यदि कोई नाखुन से या लकड़ी से खुजलावे तो वह बाहर निकलकर मर जायगा। इससे दीक्षित पुरुष को खुजली हो जायगी और उसके बाद उसकी जो सन्तान (रेत का अर्थ यहाँ सन्तान है) होगी वह भी खुजलीवाली पैदा होगी। अपनी ही योनि अपनी सन्तान को हानि नहीं पहुँचाती। और यह जो कृष्णमृग का सींग है यह उसकी योनि है। इसलिए वह उसको हानि नहीं पहुँचाता। इसलिए दीक्षित को चाहिए कि कृष्णमृग के सींग से ही खुजलावे। कृष्णमृग के सींग के सिवाय किसी अन्य चीज से न खुजलावे।।३१।।

अब (अध्वर्यु) उसको दण्ड (डण्डा) देता है। राक्षसों को दूर करने के लिए, क्योंकि डण्डा वज्र है।।३२।।

यह उदुम्बर का होता है। तेज और अन्न की प्राप्ति के लिए, क्योंकि उदुम्बर अन्न और तेज है। इसलिए डण्डा उदुम्बर लकड़ी का होता है।।३३।।

यह डण्डा उसके मुख तक पहुँचना चाहिए। उतना ही उसका वीर्य (बल) होता है। जो डण्डा मुख तक पहुँचता है वह उसके वीर्य (पराक्रम की शक्ति) के बराबर होता है।।३४।।

वह इस मन्त्र को पढ़कर उसको खड़ा करता है—"उच्छ्रयस्व वनस्पतऽऊर्ध्वो मा पाह्यँहसऽआस्य यज्ञस्योदृचः" (यजु० ४।१०)—"हे डण्डे, तू खड़ा हो। इस यज्ञ के अन्त तक पहुँचने के लिए मुझे पाप से बचा।" इसका तात्पर्य यह है कि यज्ञ की समाप्ति तक खड़ा होकर मेरी रक्षा कर।।३५।।

इसी अवसर पर कुछ लोग अँगुलियों को चटखाते और वाणी को बोलते हैं, क्योंकि अब इसके पीछे कुछ भी न बोल सकेगा। परन्तु ऐसा नहीं करना चाहिए क्योंकि अगर कोई भाग जाय और दूसरा उसको पकड़ने दौड़े और न पकड़ पावे, इस प्रकार यहाँ वह यज्ञ को नहीं पकड़ पावेगा। इसलिए उसी (पहले कहे अवसर पर) अँगुलियों को चटखावे और वाणी को बोले।।३६।।

जब दीक्षित पुरुष (वाणी को रोकने के पश्चात्) या तो कोई ऋचा बोले, या साम या यजुः, तो वह यज्ञ को स्थिर बनाता है। इसलिए उसी अवसर पर अँगुलियों को चटखाता और वाणी को रोकता है।।३७।।

और जब वह वाणी को रोकता है तो मानो यज्ञ को उसी के आत्मा में स्थापित करता है क्योंकि वाणी यज्ञ है। परन्तु जब वाणी को रोककर उससे यज्ञ से इतर कोई बात कहता है तो यज्ञ छूटकर भाग जाता है। उस समय विष्णु-सम्बन्धी ऋचा या यजुः का पाठ करना चाहिए, क्योंकि यज्ञ विष्णु है। इस प्रकार वह फिर यज्ञ को प्राप्त कर लेता है। यही उस भूल का प्रायश्चित्त है।।३८।।

इस पर कोई पुकारता है, 'यह ब्राह्मण दीक्षित हो गया, यह ब्राह्मण दीक्षित हो गया।' इस प्रकार घोषित करके वह इसको देवताओं के प्रति घोषित करता है, 'यह महावीर्य है। इसने यज्ञ को पा लिया। यह तुममें से एक हो गया। इसकी रक्षा कीजिए।' वह तीन बार कहता है क्योंकि यज्ञ तीन भागों वाला है।।३९।।

उसे अब तक 'ब्राह्मण' कहते हैं। उसका ब्राह्मण होना अनिश्चित है, क्योंकि ऐसा

अनड्वेव वाऽअस्यातः पुरा जानं भवतीदꣳ ह्यान्न ऋताꣳसि योषितमनुसचन्ते तदुत
ऋताꣳस्येव रेत आदधतीत्यथात्राद्धा जायते यो ब्रह्मणो यो यज्ञाज्जायते तस्माद-
पि राजन्यं वा वैश्यं वा ब्राह्मण इत्येव ब्रूयाद्ब्रह्मणो हि जायते यो यज्ञाज्जायते
तस्मादाहुर्न सवनकृतꣳ हन्यादेनस्वी हैव सवनकृतेति ॥४०॥ ब्राह्मणम् ॥५
[२.१]॥ ॥ प्रथमः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या १२४ ॥ ॥

वाचं यच्छति । स वाचंयम आस्तऽआस्तमयात्तस्माद्वाचं यच्छति ॥१॥ यज्ञेन वै
देवाः । इमां जितिं जिग्युर्येषामियं जितिस्ते होचुः कथं न इदं मनुष्यैरनभ्यारो-
ह्यꣳ स्यादिति ते यज्ञस्य रसं धीत्वा यथा मधु मधुकृतो निर्धयेयुर्विदुह्य यज्ञं यूपे-
न योपयित्वा तिरोऽभवन्नथ यदेनेनायोपयंस्तस्माद्यूपो नाम ॥२॥ तद्वाऽऋषीणा-
मनुश्रुतमास । ते यज्ञꣳ समभरन्यथायं यज्ञः सम्भृत एवं वाऽएष यज्ञꣳ सम्भरति
यो दीक्षते वाग्वै यज्ञः ॥३॥ तामस्तमिते वाचं विसृजते । संवत्सरो वै प्रजाप-
तिः प्रजापतिर्यज्ञोऽहोरात्रे वै संवत्सर एते ह्येनं परिप्लवमाने कुरुतः सोऽहन्न-
दीक्षिष्ट स रात्रिं प्रापत्स यावानेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावन्तमेवैतदाप्त्वा वाचं
विसृजते ॥४॥ तद्धैके । नक्षत्रं दृष्ट्वा वाचं विसर्जयन्त्यत्रानुष्यास्तमितो भवतीति
वदन्तस्तदु तथा न कुर्यात्ष्वा ते स्युर्यन्मेघः स्यात्तस्माद्यत्रैवानुष्यास्तमितं मन्येत
तदेव वाचं विसर्जयेत् ॥५॥ अनेनो हैके वाचं विसर्जयन्ति । भूर्भुवः स्वरिति
यज्ञमाप्याययामो यज्ञꣳ संदध्म इति वदन्तस्तदु तथा न कुर्यान्न ह स यज्ञमाप्याय-
यति न संदधाति य एतेन वाचं विसर्जयति ॥६॥ अनेनैव वाचं विसर्जयेत् ।
व्रतं कृणुत व्रतं कृणुताग्निर्ब्रह्माग्निर्यज्ञो वनस्पतिर्यज्ञिय इत्येष ह्यस्यात्र यज्ञो भ-
वत्येतद्धविर्यथा पुराग्निहोत्रं तद्यज्ञेनैवैतद्यज्ञꣳ सम्भृत्य यज्ञे यज्ञं प्रतिष्ठापयति य-
ज्ञेन यज्ञꣳ संतनोति संततꣳ ह्येवास्यैतद्व्रतं भवत्या सुत्याये त्रिष्कृत्व आह त्रिवृ-
द्धि यज्ञः ॥७॥ अथाग्निमभ्यावृत्य वाचं विसृजते । न ह स यज्ञमाप्याययति न सं-

कहा जाता है कि राक्षस लोग स्त्रियों के पीछे घूमा करते हैं और उनमें अपना वीर्य स्थापित कर देते हैं। इसलिए सच्चा ब्राह्मण वही है जो यज्ञ से उत्पन्न होता है। इसलिए क्षत्रिय या वैश्य को भी ब्राह्मण कहना चाहिए, क्योंकि जो यज्ञ से उत्पन्न होता है वह ब्राह्मण ही है। इसलिए कहते हैं कि यज्ञ करनेवाले को कभी न मारे। ऐसा करना महापाप है ॥४०॥

अध्याय २—ब्राह्मण २

वह बोलता नहीं। सूर्यास्त तक मौन रखता है। न बोलने का कारण यह है ॥१॥

देवों को जो महत्ता प्राप्त है वह उनको यज्ञ से मिली है। उन्होंने कहा, 'कौन-सी विधि हो कि जो लोक हमको प्राप्त हैं उसे मनुष्य न ले सकें?' उन्होंने यज्ञ के रस को इस प्रकार चूस लिया जैसे मधुमक्खी शहद को चूसती है, और चूसे हुए यज्ञ के फोक को यूप के पास फैलाकर छिप गये। यूप को यूप इसलिए कहते हैं कि इसके पास उन्होंने यज्ञ को बिखेर दिया (अयोपयन्) ॥२॥

ऋषियों ने इस बात को सुना। उन्होंने यज्ञ को इकट्ठा किया। जैसे वह यज्ञ इकट्ठा किया गया, इसी प्रकार जो पुरुष दीक्षित हो जाता है वह भी यज्ञ को इकट्ठा करता है। वाणी ही यज्ञ है ॥३॥

सूर्य के अस्त होने पर मौन तोड़ता है। प्रजापति सम्वत्सर है। प्रजापति यज्ञ है। रात-दिन सम्वत्सर हैं, क्योंकि दोनों घूम-फिरकर सम्वत्सर बनाते हैं। वह दिन में दीक्षित हुआ और अब उसने रात प्राप्त कर ली। जितना यज्ञ है, जितनी इसकी मात्रा है उतना ही प्राप्त करके वह मौन को तोड़ता है ॥४॥

कुछ लोगों की राय है कि जब तारा दीख जाय तो मौन तोड़ दे, क्योंकि तभी सूर्य अस्त हुआ समझा जाता है। परन्तु ऐसा न करे, क्योंकि यदि बादल हो तो कैसा होगा? इसलिए जब समझे कि सूर्य अस्त हो गया तभी मौन तोड़ दे ॥५॥

कुछ लोग 'भूर्भुवः स्वः' कहकर मौन तोड़ते हैं। क्योंकि इस प्रकार यज्ञ में बल आ जाता है, यज्ञ चंगा हो जाता है। परन्तु ऐसा न करे, क्योंकि ऐसा करने से न तो यज्ञ में बल आता है न वह चंगा ही होता है ॥६॥

इस मन्त्र से मौन तोड़े—"व्रतं कृणुत व्रतं कृणुताग्निर्ब्रह्माग्निर्यज्ञो वनस्पतिर्यज्ञियः" (यजु० ४।२१)—"व्रत (व्रत का भोजन) करो क्योंकि अग्नि ब्रह्म है, अग्नि यज्ञ है, वनस्पति यज्ञ के लिए है।" यही उसका इस समय का यज्ञ है। यही हवि है जैसे पहले अग्निहोत्र था। इस प्रकार यज्ञ से यज्ञ को पुष्ट करता है, यज्ञ में यज्ञ की प्रतिष्ठा करता है, यज्ञ से यज्ञ को तानता है। क्योंकि यह व्रत का भोजन सोम खींचने तक काम देता है। वह 'व्रत कृणुत' को तीन बार दुहराता है क्योंकि यह यज्ञ तीन भागोंवाला है ॥७॥

वह अग्नि की ओर घूमकर मौन तोड़ता है। जो और कुछ पढ़कर मौन तोड़ता है वह न

दधाति योऽतोऽन्येन वाचं विसृजते स प्रथमं व्याहरत्सत्यं वाचोऽभिव्याहरति ॥८॥ अग्निर्ब्रह्मेति । अग्निर्ह्येव ब्रह्माग्निर्यज्ञ इत्यग्निर्ह्येव यज्ञो वनस्पतिर्यज्ञिय इति वनस्पतयो हि यज्ञिया न हि मनुष्या यजेरन्यद्वनस्पतयो न स्युस्तस्मादाह वनस्पतिर्यज्ञिय इति ॥९॥ अथास्मै व्रतꣳ श्रपयन्ति । देवान्वाऽएष उपावर्तते यो दीक्षते स देवतानामेको भवति शृतं वै देवानाꣳ हविर्नाशृतं तस्माच्छ्रपयन्ति तदेष एव व्रतयति नाग्नौ जुहोति तद्यदेष एव व्रतयति नाग्नौ जुहोति ॥१०॥ यज्ञेन वै देवाः । इमां जितिं जिग्युर्यैषामियं जितिस्ते होचुः कथं न इदं मनुष्यैरनभ्यारोह्यꣳ स्यादिति ते यज्ञस्य रसं धीत्वा यथा मधु मधुकृतो निर्धयेयुर्विदुह्य यज्ञं यूपेन योपयित्वा तिरोऽभवन्नथ यदेनेनायोपयंस्तस्माद्यूपो नाम ॥११॥ तद्वाऽऋषीणामनुश्रुतमास । ते यज्ञꣳ समभरन्यथायं यज्ञः सम्भृत एष वाऽअत्र यज्ञो भवति यो दीक्षतऽएष ह्येनं तनुतऽएष एनं जनयति तद्यदेवात्र यज्ञस्य निर्धीतं यद्विदुग्धं तदेवैतत्पुनराप्याययति यदेष एव व्रतयति नाग्नौ जुहोति न ह्याप्याययेद्यदग्नौ जुहुयाज्जुह्वदु हैव मन्येत नाजुहुत् ॥१२॥ इमे वै प्राणाः । मनोजाता मनोयुजो दक्षक्रतवो वागेवाग्निः प्राणोदानौ मित्रावरुणौ चक्षुरादित्यः श्रोत्रं विश्वे देवा एतासु हैवास्यैतद्देवतासु हुतं भवति ॥१३॥ तद्धैके । प्रथमे व्रतऽउभौ व्रीहियवावावपन्त्युभाभ्याꣳ रसाभ्यां यदेवात्र यज्ञस्य निर्धीतं यद्विदुग्धं तत्पुनराप्याययाम इति वदन्तो यद्यु व्रतदुघा न दुहीत यस्यैवातः कामयेत तस्य व्रतं कुर्यादित्तु ह्येवास्यैताऽउभौ व्रीहियवावन्वारब्धौ भवत इति तदु तथा न कुर्यान्न ह स यज्ञमाप्याययति न संदधाति य उभौ व्रीहियवावावपति तस्मादन्यतरमेवावपेद्धविर्वाऽअस्यैताऽउभौ व्रीहियवौ भवतः स यदेवास्यैतौ हविर्भवतस्तदेवास्यैतावन्वारब्धौ भवतो यद्यु व्रतदुघा न दुहीत यस्यैवातः कामयेत तस्य व्रतं कुर्यात् ॥१४॥ तद्धैके । प्रथमे व्रते सर्वौषधꣳ सर्वसुरभ्यावपन्ति यदि दीक्षितमार्ति-

यज्ञ को प्रबल बनाता है और न यज्ञ को चंगा करता है। पहला वाक् बोलकर वह सच बोलता है ॥८॥

वह कहता है—'अग्निर्ब्रह्म' क्योंकि अग्नि ही ब्रह्म है। 'अग्निर्यज्ञः' क्योंकि अग्नि ही यज्ञ है। 'वनस्पतिर्यज्ञियः' क्योंकि वनस्पतियाँ ही यज्ञ है। यदि वनस्पतियाँ न हों तो मनुष्य यज्ञ कैसे करें ? इसलिए कहा, 'वनस्पतिर्यज्ञियः' ॥९॥

अब वह उसके लिए 'व्रत के भोजन' को पकाते हैं। जो दीक्षित होता है वह देवों के समीप हो जाता है, देवों में से एक हो जाता है। देवों का खाना पका होना चाहिए, न कि बे-पका। इसलिए पकाते हैं। वह इस दूध (व्रत-भोजन) को पीता है, आहुति नहीं देता। वह स्वयं खा लेता है, और आहुति क्यों नहीं देता इसका कारण यह है—॥१०॥

देवों को जो विजय प्राप्त है वह उन्होंने यज्ञ के द्वारा प्राप्त की है। उन्होंने कहा कि कौन-सी विधि हो कि इसको मनुष्य न पा जायें ? उन्होंने यज्ञ के रस को ऐसे चूस लिया जैसे शहद की मक्खियाँ शहद को, और बचे हुए यज्ञ के फोक को यूप के द्वारा बिखेरकर छुप गये। चूँकि इसके द्वारा यज्ञ के फोक को बिखेरा (अयोपयन्), इसलिए इसका यूप नाम पड़ा ॥११॥

इसको ऋषियों ने सुना। उन्होंने यज्ञ को इकट्ठा किया। जैसे वह यज्ञ इकट्ठा किया गया, उसी प्रकार वह जो दीक्षित होता है यज्ञ ही हो जाता है, क्योंकि यही उसको तानता है और उत्पन्न करता है। यज्ञ का रस चूस लिया गया था, उस रस से वह फिर यज्ञ को युक्त कर देता है जब वह व्रत-भोजन (दूध) को पीता है और आहुतियाँ नहीं देता। यदि वह इसकी आहुति देवे तो यज्ञ को इससे युक्त न कर सके। परन्तु उसको सोचना चाहिए कि मैं आहुति ही दे रहा हूँ न कि आहुति नहीं दे रहा ॥१२॥

यह प्राण (मनोजाता) मन से ही उत्पन्न हुए हैं। और (मनोयुजः) मन से युक्त और (दक्ष क्रतवः) ज्ञान से युक्त हैं। अग्नि वाणी है। मित्र और वरुण प्राण और उदान हैं। आदित्य चक्षु है और सब देव श्रोत्र हैं। इन्हीं देवताओं की वह आहुति देता है (दूध पान करना मानो इन देवताओं के लिए आहुति देना है) ॥१३॥

कुछ लोग पहले दिन के व्रत-भोज में चावल और जौ मिला लेते हैं। उनका कहना है कि यज्ञ का जो भाग चूस लिया गया, उसको हम इन दोनों पदार्थों के द्वारा फिर प्राप्त कराते हैं। और यदि व्रत की गाय दूध न दे तो इन्हीं पदार्थों से व्रत का भोजन बना ले। इस प्रकार चावल और जौ दोनों अन्वारब्ध हो जाते हैं। लेकिन ऐसा न करना चाहिए, क्योंकि जो चावल और जौ दोनों मिलाता है वह न तो यज्ञ को रस से युक्त करता है न उसे चंगा करता है। इसलिए इनमें से एक ही मिलाना चाहिए। चावल और जौ (दर्शपूर्णमास में तो) हवि के काम में आते हैं। और उस समय उनका आरब्ध हो ही जाता है। यदि व्रत की गौ दूध न दे तो इन दोनों पदार्थों में से किसी एक से अपनी इच्छानुसार व्रत-भोज बना ले ॥१४॥

कुछ लोग प्रथम दिवस के व्रत-भोज में सब औषध और सब सुगन्धित पदार्थ मिला लेते

विन्देय्येनैवातः कामयेत तेन भिषज्येद्यया व्रतेन भिषज्येदिति तदु तथा न कुर्या-
न्मानुषꣳ ह ते यज्ञे कुर्वन्ति व्यृद्धं वै तद्यज्ञस्य यन्मानुषं नेद्व्यृद्धं यज्ञे करवाणीति
यदि दीक्षितमार्तिर्विन्देय्येनैवातः कामयेत तेन भिषज्येत्समाप्तिर्ह्येव पुण्या ॥१५॥
अथास्मै व्रतं प्रयच्छति । अतिनीय मानुषं कालꣳ सायंदुग्धमपररात्रे प्रातर्दुग्धमप-
राह्णे व्याकृत्या ऽएव दैवं चैवैतन्मानुषं च व्याकरोति ॥१६॥ अथास्मै व्रतं प्रदा-
स्यन्नप उपस्पर्शयति । दैवीं धियं मनामहे सुमृडीकामभिष्टये वर्चोधां यज्ञवाहसꣳ
सुतीर्था नो ऽअसद्वशे ऽइति मानुषाय वा ऽएष पुराशनायावनेनिक्ते ऽथात्र दैव्यै धि-
ये तस्मादाह दैवीं धियं मनामहे सुमृडीकामभिष्टये वर्चोधां यज्ञवाहसꣳ सुतीर्था
नो ऽअसद्वशे ऽइति स यावत्कियच्च व्रतं व्रतयिष्यन्नप उपस्पृशेदेतेनैवोपस्पृशेत् ॥१७॥
अथ व्रतं व्रतयति । ये देवा मनोजाता मनोयुजो दक्षक्रतवस्ते नो ऽवन्तु ते नः
पान्तु तेभ्यः स्वाहेति तद्यथा वषट्कृतꣳ हुतमेवमस्यैतद्भवति ॥१८॥ अथ व्रतं
व्रतयित्वा नाभिमुपस्पृशते । श्वात्राः पीता भवत यूयमापो ऽअस्माकमन्तरुदरे सु-
शेवाः । ता अस्मभ्यमयक्ष्मा अनमीवा अनागसः स्वदन्तु देवीरमृता ऋतावृध इ-
ति देवान्वा ऽएष उपावर्तते यो दीक्षते स देवतानामेको भवत्यनुत्सिक्तं वै दे-
वानाꣳ हविर्यथैतद्व्रतप्रदो मिथ्य करोति व्रतमुपोत्सिञ्चन्व्रतं प्रमीणाति तस्यो है-
षा प्रायश्चित्तिस्तथो हास्यैतन्न मिथ्याकृतं भवति न व्रतं प्रमीणाति तस्मादाह
श्वात्राः पीता भवत यूयमापो ऽअस्माकमन्तरुदरे सुशेवाः । ता अस्मभ्यमयक्ष्मा अ-
नमीवा अनागसः स्वदन्तु देवीरमृता ऋतावृध इति स यावत्कियच्च व्रतं व्रतयि-
त्वा नाभिमुपस्पृशेदेतेनैवोपस्पृशेत्कस्तद्वेद यद्व्रतप्रदो व्रतमुपोत्सिञ्चेत् ॥१९॥ अथ
यत्र मेक्ष्यन्भवति । तत्कृष्णविषाणया लोष्टं वा किंचिद्वोपहन्तीयं ते यज्ञिया त-
नूरितीयं वै पृथिवी देवी देवयजनी सा दीक्षितेन नाभिमिक्ष्या तस्या एतदु ह्ये-
व यज्ञियां तनूमपायज्ञियꣳ शरीरमभिनिहृत्यपो मुञ्चामि न प्रजामित्युभयं वा ऽअत

हैं कि यदि दीक्षित पुरुष को कोई रोग हो जाय तो जिस पदार्थ की इच्छा हो उसके द्वारा चंगा हो जाय, जैसे व्रत-भोज से चंगा हो जाता है। परन्तु ऐसा न करना चाहिए, क्योंकि यह अशुभ है। यह मानुषी प्रवृत्ति है, और जो मानुषी है वह यज्ञ के लिए अशुभ होती है। यदि दीक्षित पुरुष को रोग हो जाय तो वह जिससे चाहे उससे अपने को चंगा कर सकता है। पूर्णता होनी चाहिए (अर्थात् रोग की अवस्था में जो उपचार हो उसको यज्ञ का अंश क्यों बनाया जाय) ॥१५॥

मानुषी काल को बिताने के पश्चात् अध्वर्यु उसे व्रत-भोज देता है–शाम का दूध रात के पिछले पहर में और प्रातः का दूध दोपहर के बाद। यह व्याकृति (Distinction) के लिए। इस प्रकार वह दैवी कार्य को मानुषी कार्य से अलग करता है ॥१६॥

जब वह उसको व्रत-भोज देता है तो उससे जल छुआता है इस मन्त्र को पढ़कर—"दैवीं धियं मनामहे सुमृडीकामभिष्टये वर्चोधां यज्ञवाहसꣳ सुतीर्था नोऽअसद्वशे" (यजु० ४।११) "अपने सुख की पूर्ति के लिए हम सुख देनेवाली, ब्रह्मवर्चस् को बढ़ानेवाली, यज्ञ को धारण करनेवाली दैवी बुद्धि को चाहते हैं। वह हमारे लिए सुतीर्थ और वश में रहनेवाली हो जाय।" इससे पहले वह मानुषी भोजन के लिए अपने-आपको पवित्र बनाता था, अब दैवी भोजन के लिए। इसीलिए यह ऊपर का मन्त्र पढ़ता है। जब-जब व्रत-भोज ग्रहण करने के लिए वह कोई विधि करे तो यह मन्त्र पढ़ना चाहिए ॥१७॥

अब वह व्रत-भोज को इस मन्त्र से ग्रहण करता है—"ये देवा मनोजाता मनोयुजो दक्षक्रतवस्ते नोऽवन्तु ते नः पान्तु तेभ्यः स्वाहा" (यजु० ४।११)—"जो मनोजाता, मनोयुजः और दक्षक्रतु देव हैं, वे हमारी रक्षा करें, हमको सुरक्षित रखें। उनके लिए स्वाहा।" इस प्रकार ग्रहण किया हुआ व्रत-भोज वषट्कार की आहुति के समान हो जाता है ॥१८॥

व्रत-भोज को ग्रहण करने के अनन्तर वह नाभि को इस मन्त्र से छूता है—"श्वात्राः पीता भवत यूयमापोऽअस्माकमन्तरुदरे सुशेवाः। ताऽअस्मभ्यमयक्ष्माऽअनमीवाऽअनागसः स्वदन्तु देवीरमृताऽऋतावृधः" (यजु० ४।१२)—"हे जलो, जो तुम पिये गये हो वह हमारे पेट में जाकर अच्छी सेवा करनेवाले होओ। ये पवित्र दिव्य और अमृतरूपी जल हमको नीरोग और बलिष्ठ करें।" जो दीक्षित होता है वह देवों के समीप हो जाता है और देवों में से एक हो जाता है। देवों की हवि किसी बाह्य वस्तु से मिली नहीं होती। अब यदि व्रत-भोज में कुछ मिल जाय तो ऐसा समझना चाहिए मानो देवों की हवि मिलावट कर दी गई। इस पाप का यह प्रायश्चित्त है जो ऊपर का मन्त्र पढ़ा गया (अर्थात् यजु० ४।१२), क्योंकि सम्भव है कि व्रत-भोज बनाने में कुछ मिलावट हो गई हो। जब व्रत-भोज पीने के पश्चात् नाभि-स्पर्श करे तो इस मन्त्र को पढ़कर करना चाहिए ॥१९॥

जब पेशाब करे तो काले मृग के सींग से मिट्टी का ढेला उठावे और पढ़े—"इयं ते यज्ञिया तनूः" (यजु० ४।१३)—"यह तेरा यज्ञ-सम्बन्धी शरीर है।" क्योंकि यह पृथिवी देवी है और यज्ञ की स्थली है। दीक्षित को चाहिए कि इसे दूषित न करे। उस (पृथिवी) के इस यज्ञ-सम्बन्धी शरीर को (अर्थात् ढेले को) उठाकर इस अ-यज्ञ-सम्बन्धी शरीर द्वारा लघुशंका से अपने को पवित्र करता है यह कहकर—"अपो मुंचामि न प्रजाम्" (यजु०४।१३)—"जलों को छोड़ता हूँ, न कि सन्तान को।" इस स्थान से दोनों निकलते हैं, जल भी और वीर्य भी। यहाँ वह जल को

एत्यापश्च रेतश्च स एतदप एव मुञ्चति न प्रजामꣳहोमुचः स्वाहाकृता इत्यꣳहस इव ह्येता मुञ्चन्ति यदुदरे गुष्पितं भवति तस्मादाहाꣳहोमुच इति स्वाहाकृताः पृथिवीमाविशतेत्याहुतयो भूत्वा शान्ताः पृथिवीमाविशतेत्येवैतदाह ॥२०॥ अथ पुनर्लोष्टं न्यस्यति । पृथिव्या सम्भवेतीयं वै पृथिवी देवी देवयजनी सा दीक्षितेन नाभिमिह्या तस्या एतदुद्धृत्येव यज्ञियां तनूमथायज्ञियꣳ शरीरमभ्यमिहत्तामेवास्यामेतत्पुनर्यज्ञियां तनूं दधाति तस्मादाह पृथिव्या सम्भवेति ॥२१॥ अथाग्नये परिदाय स्वपिति । देवान्वाऽएष उपावर्तते यो दीक्षते स देवतानामेको भवति न वै देवाः स्वपन्त्यनवरुद्धो वाऽएतस्यास्वप्नो भवत्यग्निर्वै देवानां व्रतपतिस्तस्माऽएवैतत्परिदाय स्वपित्यग्ने त्वꣳ सु जागृहि वयꣳ सु मन्दिषीमहीत्यग्ने त्वं जागृहि वयꣳ स्वप्स्याम इत्येवैतदाह रक्षा णोऽअप्रयुछन्निति गोपाय नोऽप्रमत्त इत्येवैतदाह प्रबुधे नः पुनस्कृधीति यथेतः सुप्त्वा स्वस्ति प्रबुध्यामहाऽएवं नः कुर्वित्येवैतदाह ॥२२॥ अथ यत्रꣳसुप्त्वा पुनर्नावद्रास्यन्भवति । तद्वाचयति पुनर्मनः पुनरायुर्मऽआगन्पुनः प्राणः पुनरात्मा मऽआगन्पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं मऽआगन्निति सर्वे ह वाऽएते स्वपतोऽपक्रामन्ति प्राण एव न तैरेवैतत्सुप्त्वा पुनः संगछते तस्मादाह पुनर्मनः पुनरायुर्मऽआगन्पुनः प्राणः पुनरात्मा मऽआगन्पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं मऽआगन् । वैश्वानरोऽअदब्धस्तनूपा अग्निर्नः पातु दुरितादवद्यादिति तद्यदेवात्र स्वप्नेन वा येन वा मिथ्याकर्म तस्मान्नः सर्वस्मादग्निर्गोपायवित्येवैतदाह तस्मादाह वैश्वानरो अदब्धस्तनूपा अग्निर्नः पातु दुरितादवद्यादिति ॥२३॥ अथ यद्दीक्षितः । अव्रत्यं वा व्याहरति क्रुध्यति वा तन्मिथ्याकरोति व्रतं प्रमीणात्यक्रोधो ह्येव दीक्षितस्याग्निर्वै देवानां व्रतपतिस्तमेवैतदुपधावति त्वमग्ने व्रतपा असि देवऽआ मर्त्येष्वा । त्वं यज्ञेष्वीड्यऽइति तस्यो हैषा प्रायश्चित्तिस्तथो हास्यैतन्न मिथ्याकृतं भवति न व्रतं प्रमीणाति तस्मादाह त्वमग्ने व्रतपा असि देवऽआ म-

छोड़ता है, न कि प्रजा को। अब कहता है—"अँहोमुचः स्वाहाकृताः" (यजु० ४।१३)—अर्थात् "(यह जल) कष्ट को दूर करनेवाले और स्वाहा से पवित्र किये गये हैं" अर्थात् पहले दूध के रूप में पान किये गये थे। क्योंकि उदर में जो कष्ट-युक्त जल (मूत्र) होता है उसको दूर करते हैं। अब कहता है—"पृथिवीमाविशत" (यजु० ४।१३)—"पृथिवी में प्रवेश करो" (मूत्र को सम्बोधन करके)। अर्थात् यह कहता है कि 'आहुति बनकर शान्त होकर पृथिवी में प्रवेश करे' ॥२०॥

अब फिर ढेले को फेंक देता है यह कहकर—"पृथिव्या संभव" (यजु० ४।१३)—"पृथिवी से मिल जा।" यह पृथिवी देवी और यज्ञ की स्थली है। दीक्षित को चाहिए कि उसे मूत्र से अपवित्र न करे। उसके इस यज्ञ-सम्बन्धी शरीर को उठाकर उस अ-यज्ञ-सम्बन्धी शरीर में मूत्र छोड़ा। अब उसको फिर यज्ञ-सम्बन्धी शरीर में रख देता है। इसलिए कहता है—"पृथिव्या संभव" (यजु० ४।१३)—"पृथिवी में मिल जा" ॥२१॥

अब अपने-आपको अग्नि के सुपुर्द करके सो रहता है। जो दीक्षित होता है वह देवों के समीप खिंच आता है। वह देवों में एक हो जाता है। देव तो सोते नहीं। परन्तु वह सोये बिना रह नहीं सकता। अग्नि देवों में व्रतपति है। इसलिए वह अपने को अग्नि के समर्पण करके सोता है यह पढ़कर—"अग्ने त्वँ सु जागृहि वयँ सु मन्दिषीमहि" (यजु० ४।१४)—"हे अग्नि! तू जाग और हम भली-भाँति आराम कर लें।" अर्थात् वह अग्नि से कहता है कि तू जाग और हम सोवें। फिर वह कहता है—"रक्षा णोऽअप्रयुच्छन्" (यजु० ४।१४)—"हमारी निरन्तर रक्षा कर।" अर्थात् प्रमादरहित होकर रक्षा कर। "प्रबुधे नः पुनस्कृधि" (यजु० ४।१४)—"हम अच्छी तरह जागें।" अर्थात् हमको इस योग्य बना कि हम जब जागें तो स्वस्थ हों ॥२२॥

अब सो चुकने के पश्चात् फिर उसे आलस्य न आ जाय, इसलिए (अध्वर्यु) उससे यह मन्त्र बुलवाता है—"पुनर्मनः पुनरायुर्मऽआगन्पुनः प्राणः पुनरात्मा मऽआगन् पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं मऽआगन्" (यजु० ४।१५)—"मेरा मन फिर आ गया। मेरी आयु फिर आ गई। मेरे प्राण फिर आ गये। मेरा आत्मा फिर आ गया। मेरी आँख फिर आ गई। मेरे कान फिर आ गये।" सोनेवाले के ये सब उससे दूर हो जाते हैं; केवल प्राण रह जाता है। इसलिए कहा—"पुनर्मनः पुनरायुर्मऽआगन् पुनः प्राणः पुनरात्मा मऽआगन् पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं मऽआगन्। वैश्वानरोऽअदब्धस्तनूपाऽअग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात्" (यजु० ४।१५)—"वैश्वानर अर्थात् सब पुरुषों का हितकारक और 'अदब्ध' अर्थात् किसी से न सताया हुआ अग्नि हमको निन्दित (नाम न लेने योग्य) पाप से बचावे।" उसके कहने का तात्पर्य यह है कि जो सोने में या अन्यथा पाप हो सकते हों उनसे ईश्वर हमारी रक्षा करे। इसलिए यह मन्त्र पढ़ता है, "पुनर्मनः···दुरितादवद्यात् (यजु० ४।१५) ॥२३॥

जो पुरुष दीक्षित हुआ है वह यदि व्रत के विरुद्ध आचरण करता है या क्रोध करता है तो वह पाप करता है और व्रत को भंग कर देता है। दीक्षित पुरुष को क्रोध नहीं करना चाहिए। अग्नि देवों का व्रतपति है। इसलिए उसी का आश्रय लेता है यह मन्त्र पढ़कर—"त्वमग्ने व्रतपाऽअसि देवऽआ मर्त्येष्वा। त्वं यज्ञेष्वीड्यः" (यजु० ४।१६)—"हे अग्निदेव! आप व्रत के पालनेवाले हैं, मनुष्यों के बीच में। आप यज्ञों में प्रशंसा के योग्य हैं।" यह उस पाप का प्रायश्चित्त है। ऐसा पढ़ने से वह यह दोष नहीं करता और न उसका व्रत भंग होता है। इसलिए वह कहता है

त्येषा । त्वं यज्ञश्रीश्र इति ॥२४॥ अथ यद्दीक्षितायाभिहरन्ति । तस्मिन्वाचयति रास्वेयत्सोमा भूयो भरेति सोमो ह वाऽअस्माऽएतद्युते यद्दीक्षितायाभिहरन्ति स यदाह रास्वेयत्सोमेति रास्व न इयत्सोमेत्येवैतदाहा भूयो भरेत्या नो भूयो हरेत्येवैतदाह देवो नः सविता वसोर्दाता वस्वदादिति तथो हास्माऽएतत्सवितृप्रसूतमेव दानाय भवति ॥२५॥ पुरास्तमयादाह । दीक्षित वाचं यच्छेति तामस्तमिते वाचं विसृजते पुरोदयादाह दीक्षित वाचं यच्छेति तामुदिते वाचं विसृजते संतत्याऽएवाहरेवैतद्रात्र्या संतनोत्यह्ना रात्रिम् ॥२६॥ नैनमन्यत्र चरन्तमभ्यस्तमियात् । न स्वपन्तमभ्युदियात्स यदेनमन्यत्र चरन्तमभ्यस्तमियाद्रात्रेरेनं तदन्तरियाद्यत्स्वपन्तमभ्युदियादह्न एनं तदन्तरियान्नात्र प्रायश्चित्तिरस्ति प्रतिगुप्यमेवैतस्मात् न पुरावभृथादपोऽभ्यवेयान्नैनमभिवर्षेदनवक्लृप्तᳬ ह तद्यत्पुरावभृथादपोऽभ्यवेयाद्यद्वैनमभिवर्षेदथ परिह्वालं वाचं वदति न मानुषीं प्रसृतां तद्धत्परिह्वालं वाचं वदति न मानुषीं प्रसृताम् ॥२७॥ यज्ञेन वै देवाः । इमां जितिं जिग्युर्येषामियं जितिस्ते होचुः कथं न इदं मनुष्यैरनभ्यारोह्यᳬ स्यादिति ते यज्ञस्य रसं धीत्वा यथा मधु मधुकृतो निर्धयेयुर्विदुह्य यज्ञं यूपेन योपयित्वा तिरोऽभवन्नथ यदेनेनायोपयंस्तस्माद्यूपो नाम ॥२८॥ तद्वाऽऋषीणामनुश्रुतमास । ते यज्ञᳬ समभरन्यथायं यज्ञः सम्भृत एवं वाऽएष यज्ञᳬ सम्भरति यो दीक्षते वाग्वै यज्ञस्तद्यदेवात्र यज्ञस्य निर्धीतं यद्विदुग्धं तदेवैतत्पुनराप्याययति यत्परिह्वालं वाचं वदति न मानुषीं प्रसृतां न ह्याप्याययेद्यत्प्रसृतां मानुषीं वाचं वदेत्तस्मात्परिह्वालं वाचं वदति न मानुषीं प्रसृताᳬ ॥२९॥ स वै धीक्षते । वाचे हि धीक्षते यज्ञाय हि धीक्षते यज्ञो हि वाग्धीक्षितो ह वै नामैतद्यद्दीक्षित इति ॥३०॥ ब्राह्मणम् ॥ १ [२.२] ॥ ॥

आदित्यं चरुं प्रायणीयं निर्वपति । देवा ह वाऽअस्यां यज्ञ तन्वाना इमां य-

"त्वमग्ने व्रतपा···यज्ञेष्वीड्यः" (यजु० ४।१६) ॥२४॥

अब लोग दीक्षित पुरुष के लिए जो भेंट देते हैं उस समय (अध्वर्यु) उससे यह जाप कराता है—"रास्वेयत् सोमा भूयो भर" (यजु० ४।१६)—"हे सोम ! इतने को दे, और अधिक को भरपूर कर।" जो भेंट लाई जाती है उसका सोम ही देनेवाला है, इसलिए कहता है "रास्वेयत् सोमा भूयो भर।" तात्पर्य यह है कि हे सोम ! इतना हमारे लिए दे और आगे के लिए अधिक ला। अब कहता है—"देवो नः सविता वसोर्दाता वस्वदात्" (यजु० ४।१६)—"धन के दाता सविता देव ने यह धन मुझे दिया।" इस प्रकार यह दान सविता से प्रेरित हुआ होता है ॥२५॥

सूर्यास्त से पहले (अध्वर्यु) कहता है, 'दीक्षित पुरुष, तू वाणी को रोक।' सूर्यास्त से पीछे वह वाणी को छोड़ देता है। सूर्योदय के पहले (अध्वर्यु) कहता है, 'दीक्षित पुरुष, तू वाणी को रोक।' सूर्योदय के पीछे वह वाणी को छोड़ देता है। यह वह सिलसिला कायम रखने के लिए करता है। दिन का रात के साथ सिलसिला कायम करता है और रात का दिन के साथ ॥२६॥

ऐसा न हो कि वह (यज्ञशाला से) बाहर हो और सूर्य अस्त हो जाय, और न ऐसा हो कि वह सोता रहे और सूर्योदय हो जाय। यदि वह बाहर हो और सूर्यास्त हो जाय तो सूर्य उसके और रात के बीच में अन्तर डाल देगा, और अगर सूर्योदय के समय सोता रहेगा तो सूर्य उसके और दिन के बीच में अन्तर डाल देगा अर्थात् उसका सिलसिला (सन्तति) टूट जायगा। इसका कोई प्रायश्चित्त भी नहीं है। इसलिए इससे बचा रहे। स्नान से पहले जलों में न जावे और न वर्षा में भीगे, क्योंकि स्नान से पहले जलों में प्रवेश करना या वर्षा में भीगना अनुचित है। रुक-रुककर बोलता है, मनुष्य की भाँति नहीं। रुक-रुककर क्यों बोलता है और मनुष्य की भाँति क्यों नहीं? इसका कारण नीचे दिया है—॥२७॥

देवों ने उस विजय को जो उनको प्राप्त है यज्ञ के द्वारा ही प्राप्त किया। उन्होंने कहा—'यह जगत् ऐसा कैसे हो जिसमें मनुष्य न रह सकें?' उन्होंने यज्ञ के रस को चूस लिया जैसे मधु-मक्खी शहद को। यज्ञ को दुहकर उसे यूप से तितर-बितर करके छिप गये। चूंकि यूप के द्वारा तितर-बितर किया इसलिए इसका नाम यूप पड़ा ॥२८॥

ऋषियों ने इसको सुना। उन्होंने यज्ञ को इकट्ठा किया। जैसे यज्ञ इकट्ठा किया गया, उसी प्रकार जो दीक्षित होता है वह यज्ञ को इकट्ठा करता है, क्योंकि वाणी ही यज्ञ है। और यज्ञ का जो भाग चूस लिया गया उसको रुक-रुककर बोलकर फिर स्थापित कर देता है और मनुष्य के समान नहीं बोलता। यदि वह मनुष्य की भाँति जल्दी-जल्दी बोले तो उस भाग को स्थापित न कर सके। इसलिए वह मनुष्य की भाँति नहीं बोलता, किन्तु रुक-रुककर बोलता है ॥२९॥

अब वह 'धीक्षते' अर्थात् दीक्षा लेता है। वाणी के लिए दीक्षा लेता है। यज्ञ के लिए दीक्षा लेता है। वाणी ही यज्ञ है। 'धीक्षा' को ही 'दीक्षा' कहते हैं ॥३०॥

अध्याय २—ब्राह्मण ३

अदिति के लिए प्रायणीय चरु बनाता है। (यहाँ प्रायणीय-इष्टि का वर्णन है।) जब देव

ज्ञादन्तरीयुः सा हैषामियं यज्ञं मोहयां चकार कथं नु मयि यज्ञं तन्वाना मां य-
ज्ञादन्तरीयुरिति तᳫं ह यज्ञं न प्रजज्ञुः ॥१॥ ते होचुः । यन्नुस्यामेव यज्ञमतᳫंस्म-
हि कथं नु नोऽमुहत्कथं न प्रजानीम इति ॥२॥ ते होचुः । अस्यामेव यज्ञं त-
न्वाना इमां यज्ञादन्तरगाम सा न इयमेव यज्ञममूमुहदिमामेवोपधावामेति ॥३॥
ते होचुः । यन्नु त्वय्येव यज्ञमतᳫंस्महि कथं नु नोऽमुहत्कथं न प्रजानीम इति
॥४॥ सा होवाच । मय्येव यज्ञं तन्वाना मां यज्ञादन्तरगात सा वोऽहमेव यज्ञ-
ममूमुहं भागं नु मे कल्पयतनाथ यज्ञं द्रक्ष्यथाथ प्रज्ञास्यथेति ॥५॥ तथेति देवा
अब्रुवन् । तवैव प्रायणीयस्तवोदयनीय इति तस्मादेष आदित्य एव प्रायणीयो
भवत्यादित्य उदयनीय इयᳫं ह्येवादितिस्ततो यज्ञमपश्यंस्तमतन्वत ॥६॥ स य-
दादित्यं चरुं प्रायणीयं निर्वपति । यज्ञस्यैव दृष्ट्यै यज्ञं दृष्ट्वा क्रीणानि तं तनवा
इति तस्मादादित्यं चरुं प्रायणीयं निर्वपति तद्धि निरुप्तᳫं हविरासीदनिष्टा देव-
ता ॥७॥ अथैभ्यः पथ्या स्वस्तिः प्रारोचत । तामयजन्वाग्वै पथ्या स्वस्तिर्वाग्यज्ञ-
स्तद्यज्ञमपश्यंस्तमतन्वत ॥८॥ अथैभ्योऽग्निः प्रारोचत । तमयजन्त्स यदाग्नेयं यज्ञ-
स्यासीत्तदपश्यन्यद्धि शुष्कं यज्ञस्य तदाग्नेयं तदपश्यंस्तदतन्वत ॥९॥ अथैभ्यः सोमः
प्रारोचत । तमयजन्त्स यत्सौम्यं यज्ञस्यासीत्तदपश्यन्यद्वाऽआर्द्रं यज्ञस्य तत्सौम्यं
तदपश्यंस्तदतन्वत ॥१०॥ अथैभ्यः सविता प्रारोचत । तमयजन्पशवो वै सविता
पशवो यज्ञस्तद्यज्ञमपश्यंस्तमतन्वताथ यस्यै देवतायै हविर्निरुप्तमासीत्तामयजन्
॥११॥ ता वाऽएताः । पञ्च देवता यजति यो वै स यज्ञो मुग्ध आसीत्पाङ्क्तो वै
स आसीत्तमेताभिः पञ्चभिर्देवताभिः प्राजानन् ॥१२॥ ऋतवो मुग्धा आसन्पञ्च ।
तानेताभिरेव पञ्चभिर्देवताभिः प्राजानन् ॥१३॥ दिशो मुग्धा आसन्पञ्च । ता ए-
ताभिरेव पञ्चभिर्देवताभिः प्राजानन् ॥१४॥ उदीचीमेव दिशम् । पथ्यया स्वस्त्या
प्राजानंस्तस्मादत्रोत्तराहि वाग्वदति कुरुपञ्चालत्रा वाग्घ्येषा निदानेनोदीचीᳫं ह्ये-

इस पृथिवी पर यज्ञ रचाने लगे तो उन्होंने इस पृथिवी को ही यज्ञ से बहिष्कृत कर दिया। उस पृथिवी ने उनके इस यज्ञ को मोहित (गड़बड़) कर दिया। उसने कहा कि ये लोग मेरे ऊपर तो यज्ञ रचते हैं और मुझी को यज्ञ से बाहर निकाले देते हैं! उनको इस यज्ञ का प्रज्ञान न हुआ ॥१॥

उन्होंने कहा—'हमने जिस यज्ञ को इस पृथिवी में रचा, वह यज्ञ गड़बड़ कैसे हो गया? हमको इसका प्रज्ञान क्यों न हो सका?' ॥२॥

उन्होंने कहा—'हमने इसी पर यज्ञ रचा और इसी को यज्ञ से बाहर कर दिया। इसी ने यज्ञ को गड़बड़ा दिया। इसलिए इसी के पास चलें' ॥३॥

उन्होंने कहा—'जब हमने तेरे ही ऊपर यज्ञ रचा तो यह यज्ञ गड़बड़ा कैसे गया? हमको इस यज्ञ का प्रज्ञान कैसे न हो सका?' ॥४॥

उसने उत्तर दिया—'तुमने मेरे ही ऊपर यज्ञ रचा, मुझी को यज्ञ से बाहर कर दिया। मैंने ही यज्ञ को गड़बड़ा दिया। मेरा भाग निकाल दो। तब तुम यज्ञ को देखोगे, तभी तुमको इसका परिज्ञान होगा' ॥५॥

देवों ने कहा—'अच्छा ऐसा ही करेंगे। प्रायणीय और उदयनीय आहुतियाँ तेरी ही होंगी।' इसलिए प्रायणीय आहुति अदिति की होती है और उदयनीय भी अदिति की। यह पृथिवी ही अदिति है। तब उन्होंने यज्ञ को देखा और उसको रच डाला ॥६॥

वह जो अदिति के लिए प्रायणीय चरु बनाता है, वह यज्ञ के दर्शन के लिए। 'यज्ञ को देखकर मैं (सोम) को खरीदूंगा और यज्ञ को रचूंगा' ऐसा सोचकर वह अदिति के लिए प्रायणीय चरु तैयार करता है। हवि तो तैयार हो गई थी, परन्तु (अदिति) देवता के लिए दी नहीं गई थी ॥७॥

अब इनको पथ्य-स्वस्ति (मार्ग का कल्याण) मिली। उसके लिए इन्होंने आहुति दी। वाणी ही पथ्य-स्वस्ति है। वाणी ही यज्ञ है। इस प्रकार उन्होंने यज्ञ को देखा और उसको रचा ॥८॥

अब उनको अग्नि मिला। उसके लिए उन्होंने आहुति दी। अब उन्होंने यज्ञ के उस भाग को देखा जो अग्नि का भाग था। यज्ञ का जो शुष्क भाग है वह अग्नि का है। उसको उन्होंने देखा और रचा ॥९॥

अब इनको सोम मिला। उसके लिए उन्होंने आहुति दी। अब उन्होंने यज्ञ के उस भाग को देखा जो सोम का भाग था। यज्ञ का जो गीला भाग है वह सोम का भाग है। उसको उन्होंने देखा और रचा ॥१०॥

अब इनको सविता मिला। उसके लिए उन्होंने आहुति दी। पशु ही सविता है। पशु ही यज्ञ हैं। उस यज्ञ को उन्होंने देखा। उस यज्ञ को रचा। इस प्रकार जिस देवता के लिए हवि बनाई गई उसी के लिए दी गई ॥११॥

अब वह पाँच देवताओं को आहुति देता है। क्योंकि जब यह यज्ञ गड़बड़ाया गया तो इसके पाँच भाग हो गये। इन पाँच देवताओं के द्वारा उनको उनका ज्ञान हुआ ॥१२॥

ऋतुएं भी गड़बड़ाकर पाँच हो गईं। इनको भी पाँच देवताओं के द्वारा जाना गया ॥१३॥

दिशाएं भी गड़बड़ाकर पाँच हो गईं। इनको भी पाँच देवताओं के द्वारा पहचाना गया ॥१४॥

पथ्य-स्वस्ति के द्वारा उन्होंने उत्तर दिशा को पहचाना। इसलिए कुरु-पांचालों में वाणी ही उत्तर (उत्कृष्ट) होती है। यह (पथ्य-स्वस्ति) वाणी ही तो है। इसी के द्वारा उन्होंने उत्तर

तया दिशं प्राजानन्नुदीची ह्येतस्यै दिक् ॥१५॥ प्राचीमेव दिशम् । अग्निना प्राजानंस्तस्मादग्निं पश्चात्प्राञ्चमुद्धृत्योपासते प्राचीꣳ ह्येतेन दिशं प्राजानन्प्राची ह्येतस्य दिक् ॥१६॥ दक्षिणामेव दिशꣳ । सोमेन प्राजानंस्तस्मात्सोमं क्रीतं दक्षिणा परिवहन्ति तस्मादाहुः पितृदेवत्यः सोम इति दक्षिणाꣳ ह्येतेन दिशं प्राजानन्दक्षिणा ह्येतस्य दिक् ॥१७॥ प्रतीचीमेव दिशꣳ । सवित्रा प्राजानन्नेष वै सविता य एष तपति तस्मादेष प्रत्यङ्ङेति प्रतीचीꣳ ह्येतेन दिशं प्राजानन्प्रतीची ह्येतस्य दिक् ॥१८॥ ऊर्ध्वामेव दिशम् । अदित्या प्राजानन्नियं वाऽअदितिस्तस्मादस्यामूर्ध्वा ओषधयो जायन्तऽऊर्ध्वा वनस्पतय ऊर्ध्वाꣳ ह्येतया दिशं प्राजानन्नूर्ध्वा ह्येतस्यै दिक् ॥१९॥ शिरो वै यज्ञस्यातिथ्यम् । बाहू प्रायणीयोदयनीयावभितो वै शिरो बाहू भवतस्तस्मादभित आतिथ्यमेते हविषी भवतः प्रायणीयश्चोदयनीयश्च ॥२०॥ तदाहुः । यदेव प्रायणीये क्रियेत तदुदयनीये क्रियेत यदेव प्रायणीयस्य बर्हिर्भवति तदुदयनीयस्य बर्हिर्भवतीति तदपोद्धृत्य निदधाति ताꣳ स्थालीꣳ सहामकर्षीं प्रमृज्य मेक्षणं निदधाति यऽएव प्रायणीयस्यऽर्त्विजो भवन्ति तऽउदयनीयस्यऽर्त्विजो भवन्ति तद्यदेतत्समानं यज्ञे क्रियते तेन बाहू सदृशौ तेन सरूपौ ॥२१॥ तदु तथा न कुर्यात् । काममेवैतद्बर्हिरनुप्रहरेदेवं मेक्षणं निर्णिज्य स्थालीं निदध्याद्यऽएव प्रायणीयस्यऽर्त्विजो भवन्ति तऽउदयनीयस्यऽर्त्विजो भवन्ति यद्यु ते विप्रेताः स्युरप्यन्यऽएव स्युः स यद्वै समानीर्देवता यजति समानानि हवीꣳषि भवन्ति तेनैव बाहू सदृशौ तेन सरूपौ ॥२२॥ स वै पञ्च प्रायणीये देवता यजति । पञ्चोदयनीये तस्मात्पञ्चेत्थादङ्गुलयः पञ्चेत्थात्तद्धम्यूक्तं भवति न पत्नीः संयाजयन्ति पूर्वार्धं वाऽअन्वात्मनो बाहू पूर्वार्धमेवैतद्यज्ञस्याभिसंस्करोति तस्माद्धम्यूक्तं भवति न पत्नीः संयाजयन्ति ॥२३॥ ब्राह्मणम् ॥२ [२.३.]॥ ॥

दिवि वै सोम आसीत् । अथेह देवास्ते देवा अकामयन्ता नः सोमो गच्छेत्ते-

दिशा को पहचाना। इस (पथ्य-स्वस्ति) की दिशा उत्तर है ॥१५॥

पूर्व दिशा को अग्नि के द्वारा पहचाना। इसलिए अग्नि के पीछे से होकर पूर्व की ओर ले जाते हैं, और उसकी उपासना करते हैं। क्योंकि (अग्नि) के द्वारा उन्होंने पूर्व दिशा को पहचाना और पूर्व दिशा उसी की है ॥१६॥

दक्षिण दिशा को सोम के द्वारा पहचाना। इसलिए सोम-क्रय के पीछे उसको दक्षिण को ले जाते हैं। इसीलिए कहते हैं कि सोम पितृ-देव वाला है। उसी के द्वारा उन्होंने दक्षिण दिशा को पहचाना। दक्षिण दिशा इसी की है ॥१७॥

सविता के द्वारा उन्होंने पश्चिम दिशा को पहचाना। क्योंकि सविता तपता है, इसीलिए वह पश्चिम को जाता है। उसी के द्वारा उन्होंने पश्चिम को पहचाना। पश्चिम दिशा उसी की है ॥१८॥

अदिति के द्वारा उन्होंने ऊर्ध्व (ऊपर की) दिशा को पहचाना। यह (पृथिवी) ही अदिति है। इसलिए इस पृथिवी पर ओषधियाँ ऊपर को उगती हैं। उसी के द्वारा उन्होंने ऊपर की दिशा को पहचाना। ऊपर की दिशा उसी की है ॥१९॥

(सोम के प्रति) जो आतिथ्य किया जाता है वह यज्ञ का शिर है। प्रायणीय और उदयनीय (अर्थात् आरम्भ की और अन्त की क्रियाएँ) यज्ञ के बाहू हैं। बाहू शिर के दोनों ओर रहते हैं। इसलिए प्रायणीय और उदयनीय आतिथ्य के दोनों ओर होती हैं ॥२०॥

कुछ लोग कहते हैं कि जो कृत्य प्रायणीय में हो, वही उदयनीय में भी हो; जो प्रायणीय की बर्हि है वही उदयनीय की भी। वह इसको वहाँ से हटाकर अलग रख देता है। थाली को भुने हुए कर्ष के साथ और चमचे (मेक्षणं) को माँजकर एक ओर रख देता है। जो प्रायणीय के ऋत्विज् होते हैं वही उदयनीय के भी होते हैं। ये यज्ञ में एक-से होते हैं। इसलिए एक-सा स्वरूप होने के कारण ये यज्ञ के बाहू कहलाते हैं ॥२१॥

परन्तु ऐसा नहीं करना चाहिए। बर्हि को (आग में) डाल देना चाहिए और चमचे को भी, और थाली को माँजकर अलग रख देना चाहिए। जो प्रायणीय के ऋत्विज् हों वही उदयनीय के भी हों। यदि कोई मर जाय तो दूसरे नियत कर लिये जायँ। ये दोनों यज्ञ के बाहू इसलिए हैं कि इनके देवता एक ही हैं और आहुतियाँ एक ही। इस प्रकार इनका स्वरूप भी एक ही है ॥२२॥

प्रायणीय में पाँच देवताओं की आहुतियाँ दी जाती हैं, और उदयनीय में भी। इसलिए पाँच अँगुलियाँ यहाँ हैं और पाँच अँगुलियाँ वहाँ। प्रायणीय के अन्त में शम्यु होता है, पत्नी-संयाज नहीं होता। भुजाएँ शरीर का अगला भाग हैं। यह प्रायणीय भी यज्ञ का अगला भाग है। इसलिए इसके अन्त में शम्यु होता है, पत्नी-संयाज नहीं होता ॥२३॥

अध्याय २—ब्राह्मण ४

सोम द्यौलोक में था, और देव यहाँ (पृथिवी पर) थे। देवों ने चाहा कि सोम हमारे समीप

नागतेन यजेमहीति तऽएते मायेऽअसृजन्त सुपर्णीं च कद्रूं च तद्धिष्ण्यानां ब्राह्मणे व्याख्यायते सौपर्णीकाद्रवं यथा तदास ॥१॥ तेभ्यो गायत्री सोममच्छापतत् । तस्याऽआहरन्त्यै गन्धर्वो विश्वावसुः पर्यमुष्णात्ते देवा अविदुः प्रच्युतो वै परस्तात्सोमोऽथ नो नागच्छति गन्धर्वा वै पर्यमोषिषुरिति ॥२॥ ते होचुः । योषित्कामा वै गन्धर्वा वाचमेवैभ्यः प्रहिणवाम सा नः सह सोमेनागमिष्यतीति तेभ्यो वाचं प्राहिण्वन्त्सैनान्त्सह सोमेनागच्छत् ॥३॥ ते गन्धर्वा अन्वागत्याब्रुवन् । सोमो युष्माकं वागेवास्माकमिति तथेति देवा अब्रुवन्निहो चेदागान्मैनामभीषहेव नैष्ट विह्वयामहाऽइति तां व्यह्वयन्त ॥४॥ तस्यै गन्धर्वाः । वेदानेव प्रोचिरऽइति वै वयं विद्मेति वयं विद्मेति ॥५॥ अथ देवाः । वीणामेव सृष्ट्वा वादयन्तो निगायन्तो निषेदुरिति वै ते वयं गास्याम इति त्वा प्रमोदयिष्यामहऽइति सा देवानुपाववर्त सा वै सा तन्मोघमुपाववर्त या स्तुवद्भ्यः शꣳसद्भ्यो नृत्तं गीतमुपाववर्त तस्मादप्येतर्हि मोघसꣳहिता एव योषा एवꣳ हि वागुपावर्तत तामु ह्यन्या अनु योषास्तस्माद्य एव नृत्यति यो गायति तस्मिन्नेवैता निमिश्लतमा-इव ॥६॥ तद्वाऽएतदुभयं देवेष्वासीत् । सोमश्च वाक्च स यत्सोमं क्रीणात्यागत्याऽएवागतेन यजाऽइत्यनागतेन ह वै स सोमेन यजते योऽक्रीतेन यजते ॥७॥ अथ यद्ध्रुवायामाज्यं परिशिष्टं भवति । तज्जुह्वां चतुष्कृत्वो विगृह्णाति बर्हिषा हिरण्यं प्रबध्यावधाय जुहोति कृत्स्नेन पयसा जुहवानीति समानजन्म वै पयश्च हिरण्यं चोभयꣳ ह्यग्निरेतसꣳ ॥८॥ स हिरण्यमवदधाति । एषा ते शुक्र तनूरेतद्वर्च इति वर्चो वाऽएतद्यद्धिरण्यं तया सम्भव भ्राजं गच्छेति स प्रदाह तया सम्भवेति तया सम्पृच्यस्वेत्येवैतदाह भ्राजं गच्छेति सोमो वै भ्राट् सोमं गच्छेत्येवैतदाह ॥९॥ तां यथैवादो देवाः । प्राहिण्वन्त्सोममच्छैवमेवैनामेष एतत्प्रहिणोति सोममच्छ वाग्वै सोमक्रयणी निदानेन तामेतयाकृत्या प्रीणाति प्री-

आ जाय तो उसके द्वारा यज्ञ करें। उन्होंने दो माया बनाई, सुपर्णी और कद्रू। सुपर्णी और कद्रू की कथा धिष्ण्यों के ब्राह्मण में लिखी है ॥१॥

उनके लिए गायत्री सोम के पास उड़ गई। जब वह उसे ला रही थी तो गन्धर्व विश्वावसु ने उसको चुरा लिया। देवताओं ने जान लिया कि सोम अब द्यौलोक में नहीं है, गन्धर्वों ने इसे चुरा लिया है ॥२॥

उन्होंने कहा —'गन्धर्व लोगों को स्त्रियाँ प्रिय हैं। उनके पास वाणी भेज दें। वह सोम के साथ हमारे पास चली आवेगी।' उन्होंने वाणी को भेजा और वह सोम को लेकर चली आई ॥३॥

गन्धर्व उसके पीछे-पीछे आये और कहने लगे कि 'सोम तुम्हारा और वाणी हमारी।' देवों ने कहा 'अच्छा। परन्तु यदि वह यहाँ आना चाहे तो उसको बलात्कार से न ले जाओ। उसको राजी करो।' इस प्रकार उन्होंने उसको राजी करना चाहा ॥४॥

गन्धर्वों ने उसके लिए वेदों का पाठ किया और कहने लगे —'हम जानते हैं, हम जानते हैं' ॥५॥

तब देवों ने वीणा बनाई और बजा-बजाकर कहने लगे कि 'हम इस प्रकार बजायेंगे, हम इस प्रकार तुझे प्रसन्न करेंगे।' वह देवों के पास चली आई। परन्तु वह व्यर्थ ही आई क्योंकि जो लोग स्तुति और प्रार्थना करते थे (अर्थात् वेद-पाठी गन्धर्व) उनसे हटकर गाने-बजानेवालों के पास आ गई। इसीलिए स्त्रियाँ आज तक व्यर्थ बातों में फँसी रहती हैं। जैसे वाणी ने किया वैसे ही अन्य स्त्रियाँ भी करती हैं, और जो गाता-बजाता है उसी पर वे मोहित हो जाती हैं ॥६॥

इस प्रकार सोम और वाणी दोनों देवों को मिल गये। सोम को खरीदा इसलिए जाता है कि अपनी सम्पत्ति से यज्ञ किया जा सके। यदि बिना खरीदे सोम से यज्ञ किया तो मानो नाजायज सम्पत्ति से यज्ञ किया गया ॥७॥

ध्रुवा में जो घी बचा था, उसको चार भाग करके जुहू में डाल देता है, और बर्हि (कुशा) से सोने का टुकड़ा बाँधकर (जुहू में) रख देता है और आहुति देने में यह समझता है कि मैं शुद्ध घी से आहुति देता हूँ, क्योंकि घी और सोना दोनों समान-जन्मा हैं। दोनों की उत्पत्ति अग्नि के वीर्य से हुई ॥८॥

सोने के टुकड़े को रखने में यह मन्त्र पढ़ता है—"एषा ते शुक्र तनूरेतद् वर्चः" (यजु० ४।१७)—"हे चमकनेवाले शुक्र या अग्नि ! यह (घी) तेरा शरीर है, यह (सोना) तेरी ज्योति है।" हिरण्य यानी सोना वस्तुतः ज्योति ही है। अब कहता है—"तया सम्भव भ्राजं गच्छ" (यजु० ४।१७)—"उससे मिल और ज्योति को प्राप्त कर।" 'उससे मिल' का अर्थ है 'उसके साथ संयुक्त हो जाय', 'ज्योति को प्राप्त कर' का अर्थ है 'सोम को प्राप्त कर', क्योंकि 'भ्राजं' या 'ज्योति' का अर्थ है 'सोम' ॥९॥

जिस प्रकार देवों ने वाणी को सोम के पास भेजा था, इसी प्रकार इसको भी वह सोम के पास भेजता है। वाणी ही सोम-क्रय करनेवाली है। इस आहुति से वह इसी को प्रसन्न करता है

तया सोमं क्रीणानीति ॥१०॥ स जुहोति । जूरसीत्येतद्ध वा अस्या एकं नाम यज्जूरसीति धृता मनसेति मनसा वाऽइयं वाग्धृता मनो वाऽइदं पुरस्ताद्वाच इत्थं वद मैतद्वादीरित्यलग्लमिव ह वै वाग्वदेद्यन्मनो न स्यात्तस्मादाह धृता मनसेति ॥११॥ जुष्टा विष्णवऽइति । जुष्टा सोमायेत्येवैतदाह यमह्येम इति तस्यास्ते सत्यसवसः प्रसवऽइति सत्यप्रसवा न एधि सोमं नोऽच्छेहीत्येवैतदाह तन्वो यन्त्रमशीय स्वाहेति स ह वै तन्वो यन्त्रमश्नुते यो यज्ञस्योदृचं गच्छति यज्ञस्योदृचं गच्छानीत्येवैतदाह ॥१२॥ अथ हिरण्यमपोद्धरति । तन्मनुष्येषु हिरण्यं करोति स यत्सहिरण्यं जुहुयात्परागु हैवैतन्मनुष्येभ्यो हिरण्यं प्रवृञ्ज्यात्तन्न मनुष्येषु हिरण्यमभिगम्येत ॥१३॥ सोऽपोद्धरति । शुक्रमसि चन्द्रमस्यमृतमसि वैश्वदेवमसीति कृत्स्नेन पयसा हुत्वा यदेवैतत्तदाह शुक्रमसीति शुक्रं ह्येतच्चन्द्रमसीति चन्द्रं ह्येतदमृतमसीत्यमृतं ह्येतद्वैश्वदेवमसीति वैश्वदेवं ह्येतत्प्रमुच्य तृणं बर्हिष्यपिसृजति सूत्रेण हिरण्यं प्रबध्नीते ॥१४॥ अथापरं चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा। अन्वारभस्व यजमानेत्याहापोर्णुवन्ति शालायै द्वारे दक्षिणतः सोमक्रयण्युपतिष्ठते तत्प्रहितामेवैनामेतत्सतीं प्राहैषीद्वाऽवै सोमक्रयणी निदानेन तामेतयाहुत्याप्रैषीत्प्रीतया सोमं क्रीणानीति ॥१५॥ अथोपनिष्क्रम्याभिमन्त्रयते । चिदसि मनासीति चित्तं वाऽइदं मनो वागनुवदति धीरसि दक्षिणेति धिया-धिया ह्येतया मनुष्या जुज्यूषन्त्यनूक्तेनेव प्रकामोद्येनेव गाथाभिरिव तस्मादाह धीरसीति दक्षिणेति दक्षिणा ह्येषा क्षत्रियासि यज्ञियासीति क्षत्रिया ह्येषा यज्ञिया ह्येषादितिरस्युभयतःशीर्ष्णीति स यदेनया समानं सद्विपर्यासं वदति यदपरं तत्पूर्वं करोति यत्पूर्वं तदपरं तेनोभयतःशीर्ष्णी तस्मादाहादितिरस्युभयतःशीर्ष्णीति ॥१६॥ सा नः सुप्राची सुप्रतीच्येधीति । सुप्राची न एधि सोमं नोऽच्छेहीत्येवैतदाह सुप्रतीची त एधि सोमेन नः सह पुनरेहीत्येवैतदाह तस्मादाह सा नः सुप्राची सुप्र-

कि इसको प्रसन्न करके ही सोम को क्रय करूँगा ॥१०॥

अब वह आहुति देता है इस मन्त्र से–"जूरसि" (यजु० ४।१७)–"तू स्तुति करनेवाला है।" 'जू' वाणी का एक नाम है। अब कहता है–"धृता मनसा" (यजु० ४।१७)–"मन से धारण की गई।" यह वाणी मन से धारण की जाती है क्योंकि पहले मन चलता है, और कहता है 'यह कह, यह मत कह।' यदि मन साथ न हो तो वाणी असंगत हो जाय, इसलिए वह कहता है 'मन से धारण की गई' ॥११॥

अब कहता है–"जुष्टा विष्णवे" (यजु० ४।१७)–"विष्णु के लिए प्रिय।" इसका तात्पर्य है 'सोम के लिए, जिसको हम प्राप्त हो रहे हैं।' अब कहता है—"तस्यास्ते सत्यसवसः प्रसवेः" (यजु० ४।१८)–"तुझ सत्य प्रेरणावाली की प्रेरणा के लिए।" अर्थात् तू सत्य प्रेरणावाली है। सोम के पास जा। अब कहता है—"तन्वो यन्त्रमशीय स्वाहा' (यजु० ४।१८)–"मैं अपने शरीर का बल प्राप्त करूँ।" जो यज्ञ की पूर्णता प्राप्त करता है वह शरीर का बल भी प्राप्त करता है। इसका तात्पर्य है कि यज्ञ की पूर्णता प्राप्त करूँ ॥१२॥

अब वह सोने को (जुहू में से) निकालता है। इससे वह मनुष्यों को सोना देता है। यदि वह घी के साथ सोने की भी आहुति दे डाले तो मानो वह मनुष्यों से सोने को छीन ले अर्थात् मनुष्यों में सोना मिले ही नहीं ॥१३॥

वह इस मन्त्र को पढ़कर सोने को निकालता है—"शुक्रमसि चन्द्रमस्यमृतमसि वैश्वदेवमसि" (यजु० ४।१८)–"तू शुद्ध है, तू चमकदार है, तू सब देवों को प्रिय है।" सम्पूर्ण दूध से आहुति देकर जब कहता है कि 'तू शुक्र है' तो यह शुक्र ही है। 'तू चन्द्र है' कहता है तो यह चन्द्र ही है। 'तू अमृत है।' यह अमृत है ही। 'तू सब देवों को प्रिय है।' यह सब देवों को प्रिय है ही। अब तृण को खोलकर बर्हि के ऊपर डालता है और सूत्र के सोने को बाँधता है ॥१४॥

अब फिर घी के चार भाग करके कहता है—'यजमान, चलो।' वे शाला के (दक्षिण और पूर्व के) द्वार खोलते हैं (और बाहर आ जाते हैं)। द्वार की दाहिनी ओर सोम-क्रय करनेवाली (गाय) खड़ी होती है। उसको सामने करके मानो उसने गाय को सोम-प्राप्ति के लिए भेज दिया, क्योंकि सोम-क्रयणी गाय ही वाणी है। इस आहुति से उसने इसी को प्रसन्न किया है, इस आशा से कि जब यह प्रसन्न हो जायगी तो मैं इससे सोम खरीद सकूंगा ॥१५॥

अब उसके पास जाकर अभिवादन करता है, यह मन्त्र पढ़कर–"चिदसि मनोसि" (यजु० ४।१९)–"तू चित् है, तू मन है।" वाणी चित् और मन की अनुगामिनी है। अब कहता है—"धीरसि दक्षिणासि" (यजु० ४।१९)—"तू बुद्धि है, तू दक्षिणा है।" बुद्धि से ही लोग जीविका कमाते हैं, वेदपाठ से या बातचीत करके या कथा कहकर। इसलिए कहा कि 'तू धी है।' उसको 'दक्षिणा' कहता है क्योंकि वह 'दक्षिणा' है ही। "क्षत्रियासि यज्ञियासि" (यजु० ४।१९)–"तू श्रेष्ठ है, तू पूज्या है।" वस्तुतः वह श्रेष्ठ और पूज्या है। "अदितिरसि उभयतः शीर्ष्णी" (यजु० ४।१९)–"तू दो सिरवाली अदिति है।" क्योंकि वाणी से ही वह ठीक को बेठीक कहता है, पीछे को पहले कहता है। इसीलिए कहा कि 'तू दो सिरवाली अदिति है' ॥१६॥

अब कहता है—"सा नः सुप्राची सुप्रतीच्येधि" (यजु० ४।१९)–"वह हमारे लिए आगे और पीछे शुभ हो।" 'आगे शुभ हो' कहने से तात्पर्य है कि 'तू हमारे लिए सोम लाने के लिए आगे चल। और 'पीछे शुभ हो' से तात्पर्य है कि 'सोम के साथ लौट।' इसीलिए कहा कि 'तू

तीच्येधीति ॥१७॥ मित्रस्त्वा पदि बध्नीतामिति । वरुण्या वाऽएषा यद्रज्जुः सा यद्रज्ज्वाभिहिता स्याद्वरुण्या स्याद्यदनभिहिता स्याद्यतेव स्यादितद्वाऽअवरुण्यं यन्मैत्रꣳ सा यथा रज्ज्वाभिहिता यतैवमस्यै तद्भवति यदाह मित्रस्त्वा पदि बध्नीतामिति ॥१८॥ पूषाध्वनस्पात्विति । इयं वै पृथिवी पूषा यस्य वाऽइयमध्वन्गोप्त्री भवति तस्य न का चन ह्वला भवति तस्मादाह पूषाध्वनस्पात्विति ॥१९॥ इन्द्रायाध्यक्षायेति । स्वध्यक्षासदित्येवैतदाह यदाहेन्द्रायाध्यक्षायेत्यनु त्वा माता मन्यतामनु पितानु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्य इति सा यत्ते जन्म तेन नोऽनुमता सोममच्छेहीत्येवैतदाह सा देवि देवमच्छेहीति देवी ह्येषा देवमच्छेति यद्वाक्सोमं तस्मादाह सा देवि देवमच्छेहीतीन्द्राय सोममितीन्द्रो वै यज्ञस्य देवता तस्मादाहेन्द्राय सोममिति रुद्रस्त्वावर्तयत्वित्यप्रणाशायैतदाह रुद्रꣳ हि नाति पशवः स्वस्ति सोमसखा पुनरेहीति स्वस्ति नः सोमेन सह पुनरेहीत्येवैतदाह ॥२०॥ तां यथैवादो देवाः । प्राहिण्वꣳस्सोममच्छ सैनाꣳस्सह सोमेनागच्छदेवमेवैनामेष एतत्प्रहिणोति सोममच्छ सैनꣳ सह सोमेनागच्छति ॥२१॥ तां यथैवादो देवाः । व्यह्वयन्त गन्धर्वैः सा देवानुपावर्ततैवमेवैनामेतद्यजमानो विह्वयते सा यजमानमुपावर्तते तामुदीचीमत्याकुर्वन्त्युदीची हि मनुष्याणां दिक्सोऽएव यजमानस्य तस्मादुदीचीमत्याकुर्वन्ति ॥२२॥ ब्राह्मणम् ॥३ [२.४]॥ द्वितीयोऽध्यायः [१७.]॥ ॥

सप्त पदान्यनुनिक्रामति । वृङ्क्तेऽएवैनामेतत्तस्मात्सप्त पदान्यनुनिक्रामति यत्र वै वाचः प्रजातानि छन्दाꣳसि सप्तपदा वै तेषां परार्ध्या शक्वरी तामेवैतत्परस्तादर्वाचीं वृङ्क्ते तस्मात्सप्त पदान्यनुनिक्रामति ॥१॥ स वै वाच एव रूपेणानुनिक्रामति । वस्व्यस्यदितिरस्यादित्यासि रुद्रासि चन्द्रासीति वस्वी ह्येषादितिर्ह्येषादित्या ह्येषा रुद्रा ह्येषा चन्द्रा ह्येषा बृहस्पतिष्ट्वा सुम्ने रम्णात्विति ब्रह्म वै

आगे और पीछे शुभ हो' ।।१७।।

अव कहता है–"मित्रस्त्वा यदि बध्नीताम्" (यजु० ४।१९)–"मित्र तुझे पैर में बाँधे।" क्योंकि रस्सी वरुण की होती है। यदि वह रस्सी से बँधेगी तो वरुण की हो जायगी। और यदि बाँधी न जायगी तो वश में न रहेगी। जो मित्र की है वह वरुण की नहीं है। जैसे गाय रस्सी से बँधकर वश में रहती है इसी प्रकार यह है, इसलिए कहा कि 'मित्र तुझे पैर में बाँधे' ।।१८।।

अब कहता है—"पूषाऽध्वनस्पातु" (यजु० ४।१९)–"पूषा तेरे मार्ग की रक्षा करे।" पूषा यह पृथिवी है। पृथिवी जिसकी मार्ग में रक्षा करती है वह विचलित नहीं होता। इसलिए कहा–'पूषा तेरे मार्ग की रक्षा करे' ।।१९।।

अब कहता है—"इन्द्राय अध्यक्षाय" (यजु० ४।१९)–"अध्यक्ष इन्द्र के लिए।" इसका अर्थ यह है कि 'वह सुरक्षित रहे।' अब कहता है–"अनु त्वा माता मन्यताम्, अनु पिता,अनु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्य:" (यजु०४।२०)–"तुझे तेरी माता अनुमति दे, तेरा पिता, तेरा भ्राता, तेरा समूह में रहनेवाला सखा।" अर्थात् तेरे जो अपने सम्बन्धी हैं उनकी अनुमति से सोम को ला। अब कहता है–"सा देवि देवमच्छेहि" (यजु० ४।२०)–"देवि,तू देव के पास जा।" अर्थात् वाणी देवी है और सोम देव है। इसीलिये कहा कि 'देवि, तू देव के पास जा।' "इन्द्राय सोमम्" (यजु० ४।२०)–"इन्द्र के लिए सोम के पास जा।" इन्द्र यज्ञ का देवता है। इसलिए कहा 'इन्द्र के लिए सोम के पास जा।' "रुद्रस्त्वावर्त्तयतु" (यजु० ४।२०)–"रुद्र तुझे सुरक्षित लौटा लावे।" यह उसकी रक्षा के लिए कहा, क्योंकि पशु रुद्र से आगे नहीं जा सकते। "स्वस्ति सोमसखा पुनरेहि" (यजु० ४।२०) —"स्वस्ति हो। हे सोम-सखा, तू लौट आ।" इसका अर्थ है कि 'तू सोम लेकर वापस आ' ।।२०।।

जैसे पहले देवों ने उसको सोम के पास भेजा और वह सोम को लेकर वापस आ गई, इसी प्रकार वह सोम के पास जाती है और सोम लेकर वापस आ जाती है ।।२१।।

जैसे देवों ने गन्धर्वों के साथ उसका मोह न किया और वह देवों के पास आ गई, ऐसे ही यजमान उसको विह्वान करता है और वह यजमान के पास लौट आती है। वे उसको उत्तर की ओर ले जाते हैं। उत्तर मनुष्यों की दिशा है इसलिए यह यजमान की भी दिशा है। इसलिए वे उसे उत्तर की दिशा में ले जाते हैं ।।२२।।

अध्याय ३—ब्राह्मण १

उस (सोम-गौ) के पीछे सात पग चलता है। सात पग चलने का तात्पर्य यह है कि वह उस पर आधिपत्य प्राप्त करता है। जब वाणी से छन्द उत्पन्न हुए तो उनमें से अन्त का सात पदवाला शक्वरी था। वह इस छन्द को ऊपर से अपनी ओर खींचता है, इसलिए सात पग चलता है ।।१।।

वह वाणी के समान पग भरता है यह पढ़कर—"वस्व्यसि, अदितिरसि, आदित्यासि, रुद्रासि, चन्द्रासि" (यजु० ४।२१)–"तू वस्वी है, तू अदिति है, तू आदित्या है, तू रुद्रा है, तू चन्द्रा है।" यह वस्वी है, यह अदिति है, यह आदित्या है, यह रुद्रा है, यह चन्द्रा है। "बृहस्पतिष्ट्वा सुम्ने रम्णातु" (यजु० ४।२१)–"बृहस्पति तुझको आनन्द में रक्खे।" बृहस्पति ब्रह्म है। इस

बृहस्पतिर्बृहस्पतिष्ट्वा साधुनावर्तयत्वित्येवैतदाह रुद्रो वसुभिराचक्रऽ इत्यप्रणाशायैवैतदाह रुद्रꣳ हि नाति पशवः ॥२॥ अथ सप्तमं पदं पर्युपविशन्ति । स हिरण्यं पदे निधाय जुहोति न वाऽअनग्नावाहुतिर्हूयतेऽग्निरेतसं वै हिरण्यं तथो हास्यैषाग्निमत्येवाहुतिर्हुता भवति वज्रो वाऽआज्यं वज्रेणैवैतदाज्येन स्पृणुते ताꣳ स्पृत्वा स्वीकुरुते ॥३॥ स जुहोति । अदित्यास्त्वा मूर्धन्नाजिघर्मीतीयं वै पृथिव्यदितिरस्यै हि मूर्धञ्जुहोति देवयजने पृथिव्याऽइति देवयजने हि पृथिव्यै जुहोतीडायास्पदमसि घृतवत्स्वाहेति गौर्वाऽइडा गोर्हि पदे जुहोति घृतवत्स्वाहेति घृतवद्ध्येतदभिहुतं भवति ॥४॥ अथ स्फ्यमादाय परिलिखति । वज्रो वै स्फ्यो वज्रेणैवैतत्परिलिखति त्रिष्कृत्वः परिलिखति त्रिवृतैवैतद्वज्रेण समन्तं परिगृह्णात्यनतिक्रमाय ॥५॥ स परिलिखति । अस्मे रमस्वेति यजमाने रमस्वेत्येवैतदाहाथ समुल्लिख्य पदꣳ स्थाल्याꣳ संवपत्यस्मे ते बन्धुरिति यजमाने ते बन्धुरित्येवैतदाह ॥६॥ अथाप उपनिनयति । यत्र वाऽअस्यै खनन्तः क्रूरीकुर्वन्त्यपघ्नन्ति शान्तिरापस्तदद्भिः शान्त्या शमयति तदद्भिः संदधाति तस्मादप उपनिनयति ॥७॥ अथ यजमानाय पदं प्रयच्छति । त्वे राय इति पशवो वै रायस्त्वयि पशव इत्येवैतदाह तद्यजमानः प्रतिगृह्णाति मे राय इति पशवो वै रायो मयि पशव इत्येवैतदाह ॥८॥ अथाध्वर्युरात्मानमुपस्पृशति । मा वयꣳ रायस्पोषेण वियौष्मेति तथो हाध्वर्युः पशुभ्य आत्मान नान्तरेति ॥९॥ अथ पत्न्यै पदं प्रतिपराहरन्ति । गृहा वै पत्न्यै प्रतिष्ठा तद्गृहेष्वेवैनामेतत्प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति तस्मात्पत्न्यै पदं प्रतिपराहरन्ति ॥१०॥ तां नेष्टा वाचयति । तोतो राय इत्यथैनाꣳ सोमक्रयण्या संख्यापयति वृषा वै सोमो योषा पत्न्येष वाऽअत्र सोमो भवति यत्सोमक्रयणी मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते तस्मादेनां सोमक्रयण्या संख्यापयति ॥११॥ स संख्यापयति । समख्ये देव्या धिया सं दक्षिणयोरुचक्षसा । मा मऽआयुः प्रमोषीर्मो

कथन का तात्पर्य है कि 'बृहस्पति अच्छे काम के द्वारा तुझे यहाँ तक लौटा लेवे।' "रुद्रो वसुभिराचके" (यजु० ४।२१)–"रुद्र वसुओं के सहित तुझसे प्रसन्न हैं।" इस कथन से यह तात्पर्य निकलता है कि 'वह गाय विना किसी हानि के लौट आवे' क्योंकि पशु रुद्र के आगे नहीं जा सकते ॥२॥

वे सातवें पद में बैठ जाते हैं। और पद-चिह्न पर सोना रखकर वह आहुति देता है। आहुति अग्नि के सिवाय इतर स्थान में तो हो नहीं सकती। स्वर्ण अग्नि के वीर्य से उत्पन्न हुआ है, इसलिए ऐसा करने से मानो वह अग्नि में ही आहुति देता है। घी वज्र है। इस वज्ररूपी घी के द्वारा वह उसकी रक्षा करता है और रक्षा करके उसको स्वीकार करता है ॥३॥

वह इस मन्त्र से आहुति देता है—"अदित्यास्त्वा मूर्धन्नाजिघर्मि" (यजु० ४।२२)—"मैं तुझको अदिति के सिर पर रखता हूँ।" यह पृथिवी अदिति है। उसी के सिर पर आहुति देता है। "देवयजने पृथिव्याः" (यजु० ४।२२)–"पृथिवी के यज्ञ-स्थल पर आहुति देता है।" "इडायास्पदमसि घृतवत् स्वाहा" (यजु० ४।२२)–"तू घृत-युक्त इडा का पद है।" गौ ही 'इडा' है। गौ के पद पर आहुति देता है। 'घृत-युक्त' यों कहा कि जब आहुति देता है तो वह घी से भर जाता है ॥४॥

अब स्फ्या से चारों ओर लकीर देता है। स्फ्या वज्र है, इसलिए वज्र से लकीर करता है। तीन लकीरें करता है, जिससे तिहरे वज्र से घिर जाय और कोई उसको लाँघ न सके ॥५॥

वह लकीर खींचने के समय यह मन्त्र पढ़ता है–"अस्मे रमस्व" (यजु० ४।२२)–"हम में रम" अर्थात् 'यजमान में रम।' अब वह पद के चिह्न को (स्फ्या से खुरचकर) थाली में रख देता है। "अस्मे ते बन्धुः" (यजु० ४।२२)–"हम में तेरा सम्बन्ध है।" अर्थात् 'यजमान में' ॥६॥

अब (उस स्थान पर) पानी छिड़कता है। जहाँ कहीं खोदते या खुरचते हैं वहाँ घाव हो जाता है। जल शान्ति देता है। जल से शान्त करता है। इसलिए जल को छिड़कता है ॥७॥

अब पैर (की रेणु) को यजमान को देता है। "त्वे रायः" (यजु० ४।२२)--"तुझको धन मिले।" पशु ही धन हैं। इससे तात्पर्य है कि तुझे पशु मिलें। यजमान यह कहकर लेता है–"मे रायः" (यजु० ४।२२)–"मेरे लिए धन हो।" पशु ही धन हैं। इससे तात्पर्य है कि मुझे पशु मिलें ॥८॥

अब अध्वर्यु इस मन्त्रांश को पढ़कर अपने (सीने) को छूता है—"मा वयँ रायस्पोषेण वियौष्म" (यजु० ४।२२)—"हम धन से रहित न हों।" इस प्रकार अध्वर्यु अपने को भी पशुओं से अलग नहीं करता ॥९॥

अब वे पद-रेणु को यजमान की पत्नी को दे देते हैं। पत्नी की प्रतिष्ठा घर है। इस प्रकार उसको घर में स्थापित कर देते हैं। इसीलिए पद-धूलि को यजमान की पत्नी को दे देते हैं ॥१०॥

नेष्टा उससे कहता है—"तो तो रायः" (यजु० ४।२२)—"यह धन तेरा है, तेरा है।" इस प्रकार वह सोम-गौ को उसे दिखाता है ॥११॥

इसको दिखाने में यह मन्त्र पढ़ता है—"समख्ये देव्या धिया सं दक्षिणयोरुचक्षसा। मा

ऽअहं तव वीरं विदेय तव देवि संदृशीत्याशिषमेवैतदाशास्ते पुत्रो वै वीरः पुत्रं विदेय तव संदृशीत्येवैतदाह ॥१२॥ सा या बभ्रुः पिङ्गाक्षी । सा सोमक्रयणी यत्र वाऽइन्द्राविष्णू त्रेधा सहस्रं व्यैरयेतां तदेकात्यरिच्यत तां त्रेधा प्राजनयतां तस्माद्योऽप्येतर्हि त्रेधा सहस्रं व्याकुर्यादेकैवातिरिच्येत ॥१३॥ सा या बभ्रुः पिङ्गाक्षी । सा सोमक्रयण्यथ या रोहिणी सा वार्त्रघ्नी यामिदꣳ राजा संग्रामं जित्वोदाकुरुतेऽथ या रोहिणी श्येताक्षी सा पितृदेवत्या यामिदं पितृभ्यो घ्नन्ति ॥१४॥ ॥ शतम् १६०० ॥ ॥ सा या बभ्रुः पिङ्गाक्षी । सा सोमक्रयणी स्याद्यदि बभ्रुं पिङ्गाक्षीं न विन्देदरुणा स्याद्यद्यरुणां न विन्देद्रोहिणी वार्त्रघ्नी स्याद्रोहिण्यु ह त्वेव श्येताक्ष्याऽआशां नेयात् ॥१५॥ सा स्यादप्रवीता । वाग्वाऽएषा निदानेन यत्सोमक्रयण्ययातयाम्नी वाऽइयं वागयातयाम्न्यप्रवीता तस्मादप्रवीता स्यात्सा स्यादवण्डाकूटाकाणाकर्णालक्षितासप्तशफा सा ह्येकरूपैकरूपा हीयं वाक् ॥१६॥ ब्राह्मणम् ॥४ [३.१.] ॥ ॥

पदꣳ समुप्य पाणीऽअवनेनिक्ते । तद्यत्पाणीऽअवनेनिक्ते वज्रो वाऽआज्यꣳ रेतः सोमो नेद्वज्रेणाज्येन रेतः सोमꣳ हिनसानीति तस्मात्पाणीऽअवनेनिक्ते ॥१॥ अथास्याꣳ हिरण्यं बध्नीते । द्वयं वाऽइदं न तृतीयमस्ति सत्यं चैवानृतं च सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्या अग्निरेतसं वै हिरण्यꣳ सत्येनाꣳशूनुपस्पृशानि सत्येन सोमं पराहणानीति तस्माद्वाऽअस्याꣳ हिरण्य बध्नीते ॥२॥ अथ सम्प्रेष्यति । सोमोपनहनमाहर सोमपर्याणहनमाहरोष्णीषमाहरेति स यदेव शोभनꣳ तत्सोमोपनहनꣳ स्याद्वासो ह्यस्यैतद्भवति शोभनꣳ ह्येतस्य वासः स यो हैनꣳ शोभनेनोपचरति शोभते हाथ य आह यदेव किं चेति यद्वेव किं च भवति तस्माद्यदेव शोभनं तत्सोमोपनहनꣳ स्याद्यदेव किं च सोमपर्याणहनम् ॥३॥ यद्युष्णीषं विन्देत् । उष्णीषः स्याद्यद्युष्णीषं न विन्देत्सोमपर्याणहनस्यैव ह्यङ्गुलं

मऽआयु: प्रमोषीर्मोऽअहं तव वीरं विदेय तव देवि संदृशि" (यजु० ४।२३)—"दिव्य बुद्धि से मैंने तुझको देखा। दीर्घ दृष्टिवाली आँख से मैंने तुझको देखा। तू मेरा जीवन न ले और न मैं तेरा जीवन लूँ। हे देवो, तेरे दर्शन करके मैं पुत्र को प्राप्त होऊँ।" इस प्रकार पत्नी आशीर्वाद माँगती है। वीर का अर्थ है पुत्र, अर्थात् वह कहती है कि मैं तेरे दर्शन पाकर पुत्र को प्राप्त होऊँ ।।१२।।

सोम-गौ भूरी होती है और उसकी आँखें पिंगल होती हैं। जब इन्द्र और विष्णु ने एक हजार गायों को तीन भागों में विभक्त किया तो एक रह गई। उससे उन्होंने तीन प्रकार सन्तान जनाई। इसलिए आज भी अगर एक हजार को तीन में बाँटें तो एक बच रहता है ।।१३।।

जो भूरी और पिङ्गल आँखोंवाली है वह सोम-गौ है। जो रोहिणी है वह वृत्र को मारनेवाली है जिसको राजा संग्राम में विजय प्राप्त करके लेता है। जो लाल और सफेद आँखोंवाली है वह पितरों की है और पितरों के लिए मारी जाती है (घ्नन्ति) ।।१४।। [शतम् १६००]

जो भूरी और भूरी आँखवाली हो वही सोम-गौ हो। यदि भूरी और भूरी आँखवाली न मिले तो अरुण हो। यदि अरुण न मिले तो वृत्र को मारनेवाली रोहिणी हो। लेकिन लाल और श्वेत नेत्रवाली कभी न हो ।।१५।।

वह गर्भिणी न हो। क्योंकि जो सोम-गौ है वह वास्तव में वाणी है। यह जो वाणी है वह पूर्ण बलवाली है। पूर्ण बलवाली वही होती है जो गर्भिणी न हो। यह सोम-गौ गर्भिणी न हो। ऐसी हो जो पूँछ-रहित न हो, बिना सींगों की न हो। कानी न हो। न बिना कान की हो, न विशेष चिह्नवाली हो, न सात खुरवाली हो। यह एकरूपा है। वाणी भी एकरूपा है ।।१६।।

अध्याय ३—ब्राह्मण २

पद-धूलि को फेंककर हाथ धोता है। वह हाथ क्यों धोता है? घी वज्र है। सोम वीर्य है। वह हाथ इसलिए धोता है कि वीर्य-सोम को वज्र-घी से कोई हानि न पहुँचे ।।१।।

इस (अनामिका अँगुली) में सोना बाँधता है। संसार में दो ही होते हैं सत्य और अनृत, तीसरा नहीं। देव सत्य हैं, मनुष्य अनृत है। अँगुली में सोना इसलिए बाँधता है कि अग्नि के वीर्य से सोना उत्पन्न हुआ है। मैं सत्य से सोम की डाली को छुऊँ, अर्थात् सत्य के द्वारा मैं सोम को खरीदूँ ।।२।।

अब वह आदेश देता है कि सोम-वस्त्र को लाओ, सोम का अँगोछा लाओ, सोम की पगड़ी लाओ। सोम-वस्त्र शोभन (सुन्दर) हो, क्योंकि यह सोम राजा का वस्त्र है। जो शोभन वस्तु से सोम की पूजा करता है वह स्वयं भी शोभन हो जाता है। और जो कहता है, 'अभी कैसा भी हो', वह कैसा भी हो जाता है। इसलिए सोम वस्त्र सुन्दर होना चाहिए। सोम का अँगोछा कैसा भी क्यों न हो ।।३।।

उष्णीष (पगड़ी) हो तो हो और न हो तो अँगोछे में से दो या तीन अगुल फाड़ ले और

वा त्र्यङ्गुलं वावकृन्तेदुष्णीषभाजनमध्वर्युर्वा यजमानो वा सोमोपनहनमादत्ते य एव कश्च सोमपर्याणहनम् ॥४॥ अथाग्रेण राजानं विचिन्वन्ति । तदुदकुम्भ उपनिहितो भवति तद्ब्राह्मण उपास्ते तदभ्यायन्ति प्राञ्चः ॥५॥ तदायत्सु वाचयति । एष ते गायत्रो भाग इति मे सोमाय ब्रूतादेष ते त्रैष्टुभो भाग इति मे सोमाय ब्रूतादेष ते जागतो भाग इति मे सोमाय ब्रूताच्छन्दोनामानां साम्राज्यं गच्छेति मे सोमाय ब्रूतादित्येके वा एष क्रीयमाणोऽभिक्रीयते छन्दसामेव राज्याय छन्दसां साम्राज्याय घ्नन्ति वा एनमेतद्यदभिषुण्वन्ति तमेतदाह छन्दसामेव त्वा राज्याय क्रीणामि छन्दसां साम्राज्याय न बधायेत्ययैत्य प्राङुपविशति ॥६॥ सोऽभिमृशति । आस्माकोऽसीति स्व इव ह्यस्यैतद्भवति यदागतस्तस्माद्वाहास्माकोऽसीति शुक्रस्ते ग्रह इति शुक्रो ह्यस्माद्ग्रहो ग्रहीष्यन्भवति विचितस्त्वा विचिन्वन्त्विति सर्वत्वायैतदाह ॥७॥ अत्र हैके । तृणं वा काष्ठं वा विच्छायास्यन्ति तदु तथा न कुर्यात्क्षत्रं वै सोमो विडन्या ओषधयोऽन्नं वै क्षत्रियस्य विट् स यथा ग्रसितमनुहायाहृत्य परास्येदेवं तत्तस्मादृश्यैव मृशेद्विचितस्त्वा विचिन्वन्त्विति तद्य एवास्य विचेतारस्त एनं विचिन्वन्ति ॥८॥ अथ वासः । द्विगुणं वा चतुर्गुणं वा प्राग्दशं वोदग्दशं वोपस्तृणाति तद्राजानं मिमीते स यद्राजानं मिमीते तस्मान्मात्रा मनुष्येषु मात्रो यो चाप्यन्या मात्रा ॥९॥ सावित्र्या मिमीते । सविता वै देवानां प्रसविता तथो हास्मा एष सवितृप्रसूत एव क्रयाय भवति ॥१०॥ अतिछन्दसा मिमीते । एषा वै सर्वाणि छन्दांसि यदतिछन्दास्तथा हास्यैष सर्वैरेव छन्दोभिर्मितो भवति तस्मादतिछन्दसा मिमीते ॥११॥ स मिमीते । अभि त्यं देवं सवितारमोण्योः कविक्रतुमर्चामि सत्यसवं रत्नधामभि प्रियं मतिं कविम् । ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत्सवीमनि हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपा स्वरिति ॥१२॥ एतया सर्वाभिः । एतया चतसृभिरेतया तिसृभिरे-

उसकी उष्णीष वना ले। सोम-वस्त्र को अध्वर्यु ले या यजमान। अँगोछा कोई और ले ले ॥४॥

अब सोम राजा को चुनते हैं। उसके निकट जल के घड़े को रखते हैं। और एक ब्राह्मण पास बैठता है। अब वे पूर्व की ओर जाते हैं ॥५॥

जाते हुए यह मन्त्र बोलते हैं—"एष ते गायत्रो भागऽइति मे सोमाय ब्रूताद्, एष ते त्रैष्टुभो भागऽइति मे सोमाय ब्रूताद्, एष ते जागतो भागऽइति मे सोमाय ब्रूताच्छन्दोनामानाँ साम्राज्यं गच्छेति मे सोमाय ब्रूतात्" (यजु० ४।२४)—"मेरे लिए सोम से कहो कि यह तुम्हारा गायत्र भाग है। मेरे लिए सोम से कहो कि यह तुम्हारा त्रैष्टुभ भाग है। मेरे लिए सोम से कहो कि यह तुम्हारा जगती का भाग है। मेरे लिए सोम से कहो कि छन्दों के साम्राज्य को प्राप्त करो।" सोम राजा को क्रय करते हैं तो एक उद्देश्य के लिए— छन्दों के राज्य के लिए, छन्दों के साम्राज्य के लिए। उसको निचोड़ते हैं तो मानो उसको मारते हैं। इसीलिए कहते हैं कि तुझे छन्दों के राज्य के लिए और छन्दों के साम्राज्य के लिए मोल लेते हैं, मारने के लिए नहीं। अब चलकर वह (सोम के) पूर्व में बैठता है ॥६॥

इस मन्त्र को पढ़कर (सोम के पौधे को) छूता है—"अस्माकोऽसि" (यजु० ४।२४)—"तू हमारा है।" जब सोम आ गया तो वह अपना ही हो गया। इसलिए कहते हैं कि तू हमारा है। "शुक्रस्ते ग्रह्य" (यजु० ४।२४)—"तेरा शुक्र (रस) ग्रहण के योग्य है" क्योंकि वह उसको ग्रहण करेगा ही। "विचितस्त्वा विचिन्वन्तु" (यजु० ४।२४)—"चुननेवाले तुझे चुनें।" वह सम्पूर्णता के लिए ऐसा कहता है ॥७॥

कुछ लोग (सोम के साथ) तृण या काष्ठ को देखकर उसे फेंक देते हैं। परन्तु ऐसा नहीं करना चाहिए। सोम राजा है और अन्य वृक्षादि प्रजा। प्रजा राजा का अन्न है, इसलिए (इसको फेंक देना ऐसा ही होगा) जैसा किसी के मुँह में रक्खे हुए अन्न को निकालकर फेंक देना। इसलिए केवल उसको छूकर कहे कि 'चुननेवालो, इसको चुन लो।' चुननेवाले उसको चुन लेंगे ॥८॥

अब वह कपड़े को दुल्लर या चौलर करके बिछाता है इस प्रकार कि झालर पूर्व या उत्तर की ओर रहे। उस पर सोम राजा को तोलता (मापता, मिमीते) है। चूंकि उससे सोम राजा को तोलता है इसलिए उसको मात्रा कहते हैं—चाहे वह मनुष्यों में प्रचलित मात्रा हो या अन्य कुछ ॥९॥

वह सावित्री मन्त्र पढ़कर तोलता है। सविता सब देवों का प्रेरक है। ऐसा करने से मानो सोम-क्रय सविता की प्रेरणा से होता है ॥१०॥

अतिछन्द पढ़कर तोलता है। अतिछन्द में सब छन्द आ जाते हैं। अतिछन्द से इसलिए तोलता है कि वह सब छन्दों से तुला होने के बराबर हो जाता है ॥११॥

वह इस मन्त्र को पढ़कर तोलता है—"अभि त्यं देवँ सवितारमोण्योः कविक्रतुमर्चामि सत्यसवँ रत्नधामभि प्रियं मतिं कविम्। ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भाऽअदिद्युतत् सवीमनि हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपा स्वः" (यजु० ४।२५)—"मैं उस द्यावापृथिवी के प्रेरक, कवि, क्रतु, सत्यसव, रत्नधा, प्रिय, बुद्धिवान्, कवि की पूजा करता हूँ, जिसकी न नापी जानेवाली ज्योति ऊपर चमकती है और जिस प्रकाश-युक्त किरणोंवाले यज्ञ-साधक ने संसार में शक्ति की प्रेरणा की है" ॥१२॥

इसी मन्त्र को पढ़कर वह सोम को लेता है सब अँगुलियों से, फिर चार से, फिर तीन

तया द्वाभ्यामेतयैकयैतयैवैकयैतया द्वाभ्यामेतया तिसृभिरेतया चतसृभिरेतया स-
र्वाभिः समस्याञ्जलिनाध्यावपति ॥१३॥ स वाऽउदाचं न्याचं मिमीते । स यदु-
दाचं न्याचं मिमीतऽइमा एवैतदङ्गुलीर्नानाजानाः करोति तस्मादिमा नाना जा-
यन्तेऽथ यत्सह सर्वाभिर्मिमीते सꣳश्लिष्टा-इव ह्येवेमा जायेरंस्तस्माद्वाऽउदाचं न्या-
चं मिमीते ॥१४॥ यद्वेवोदाचं न्याचं मिमीते । इमा एवैतन्नानावीर्याः करोति
तस्मादिमा नानावीर्यास्तस्माद्वाऽउदाचं न्याचं मिमीते ॥१५॥ यद्वेवोदाचं न्याचं
मिमीते । विराजमेवैतदर्वाचीं च पराचीं च युनक्ति पराच्यह देवेभ्यो यज्ञं वह-
त्यर्वाची मनुष्यानवति तस्माद्वाऽउदाचं न्याचं मिमीते ॥१६॥ अथ यद्दश कृत्वो
मिमीते । दशाक्षरा वै विराड्वैराजः सोमस्तस्माद्दश कृत्वो मिमीते ॥१७॥ अथ
सोमोपनहनस्य समुत्पार्यान्तान् । उष्णीषेण विग्रथ्नाति प्रजाभ्यस्त्वेति प्रजाभ्यो ह्ये-
नं क्रीणाति स यदेवेदꣳ शिरश्चाꣳसौ चान्तरेणेनितमिव तदेवास्यैतत्करोति ॥१८॥
अथ मध्येऽङ्गुल्याकाशं करोति । प्रजास्त्वानुप्राणन्त्विति तमयतीव वाऽएनमेतत्स-
मायच्छन्नप्राणमिव करोति तस्यैतदत एव मध्यतः प्राणमुत्सृजति तं ततः प्राणन्तं
प्रजा अनुप्राणन्ति तस्मादाह प्रजास्त्वानुप्राणन्त्विति तꣳ सोमविक्रयिणे प्रयच्छत्य-
थातः पणनस्यैव ॥१९॥ ब्राह्मणम् ॥५ [३.२.]॥ ॥

स वै राजानं पणते । स यद्राजानं पणते तस्मादिदꣳ सकृत्सर्वं पण्यꣳ स आ-
ह सोमविक्रयिन्क्रय्यस्ते सोमो राजाऽइति क्रय्य इत्याह सोमविक्रयी तं वै ते
क्रीणानीति क्रीणीहीत्याह सोमविक्रयी कलया ते क्रीणानीति भूयो वाऽअतः
सोमो राजार्हतीत्याह सोमविक्रयी भूय एवातः सोमो राजार्हति महांस्त्वेव गोर्म-
हिमेत्यध्वर्युः ॥१॥ गोर्वै प्रतिधुक् । तस्यै शृतं तस्यै शरस्तस्यै दधि तस्यै मस्तु
तस्याऽआतञ्चनं तस्यै नवनीतं तस्यै घृतं तस्याऽआमिक्षा तस्यै वाजिनꣳ ॥२॥
शफेन ते क्रीणानीति । भूयो वाऽअतः सोमो राजार्हतीत्याह सोमविक्रयी भूय

से, फिर दो से, फिर एक से, फिर एक से, फिर दो से, फिर तीन से, फिर चार से, फिर सब से ॥१३॥

वह अँगुलियों को झुकाकर और ऊपर को उठाकर सोम को तोलता है। उठाकर और झुकाकर इसीलिए तोलता है कि अँगुलियों को अलग-अलग मान लेता है। इसीलिए ये अलग-अलग उत्पन्न होती हैं। और सब अँगुलियों से इसलिए तोलता है कि वे संयुक्त उत्पन्न हों। इसीलिए वह अँगुलियों को उठाकर और झुकाकर तोलता है ॥१४॥

अँगुलियों को उठाकर और झुकाकर इसलिए लेता है कि ये भिन्न शक्तिवाली हो जायँ। इसीलिए अँगुलियाँ भिन्न-भिन्न शक्तिवाली हैं ॥१५॥

अँगुलियों को उठाने और झुकाने का प्रयोजन यह है कि विराज (विराज छन्द को जिसमें दश अक्षर के पद होते हैं) को ले जाता और ले आता है। अर्थात् यज्ञ को पहले देवों के लिए ले जाता है, फिर मनुष्यों के लिए वापस लाता है ॥१६॥

इस बार तोलने का तात्पर्य यह है कि विराट् छन्द में दश अक्षर होते हैं। सोम विराट् के समान है। इसलिए दश बार तोलता है ॥१७॥

सोम-वस्त्र के किनारों को पकड़कर अध्वर्यु उसको पगड़ी से बाँधता है यह पढ़कर—"प्रजाभ्यस्त्वा" (यजु० ४।२५)—"सन्तान के लिए तुझे।" सन्तान के लिए ही सोम को मोल लिया जाता है। शिर और कन्धों के बीच में जो शक्ल होती है वैसी ही बना देता है (अर्थात् सोम की गठरी ऐसी बाँधी जाती है कि लड़के की आकृति हो जाय, सिर निकला रहे) ॥१८॥

अब इस मन्त्र को पढ़कर गाँठ में अँगुली जाने के लिए छेद कर देता है—"प्रजास्त्वाऽनुप्राणन्तु" (यजु० ४।२५), अर्थात् सन्तान तेरे समान प्राण (साँस) लें। जब गाँठ बाँधी तो मानो उसका गला घोंट दिया। वह साँस न ले सका। अब वह इस प्रकार प्राणों को छोड़ता है (साँस को लेता है)। इसी के समान सन्तान भी साँस लेगी। इसीलिए कहा 'सन्तान तेरे समान साँस लें।' अब वह उसको सोम बेचनेवाले को दे देता है। अब आगे मोल चुकाने की बात आवेगी ॥१९॥

अध्याय ३—ब्राह्मण ३

सोम राजा के लिए मोल किया जाता है। चूंकि सोम राजा का मोल किया जाता है इसलिए सभी चीजों का मोल करते हैं। पहले सोम बेचनेवाले से पूछता है, 'क्या सोम राजा बिकाऊ है?' वह उत्तर देता है, 'हाँ, बिकाऊ है।' वह पूछता है, 'मैं तुझसे मोल लूंगा।' सोम बेचनेवाला उत्तर देता है, 'ले लो।' अध्वर्यु कहता है कि, 'कला (गौ के सोलहवें भाग) के बदले सोम को लूंगा।' सोम बेचनेवाला कहता है, 'सोम राजा का मोल इससे अधिक है।' अध्वर्यु कहता है कि 'निस्सन्देह सोम राजा का मोल इससे अधिक है, परन्तु गाय की महिमा भी तो अधिक है' ॥१॥

गाय से दूध मिलता है, उसी से शृत, उसी से मलाई, उसी से दही, उसी से मस्तु, आतंचन, नवनीत, घी, आमिक्षा और वाजी। (ये सब दूध से बनी चीजों के नाम हैं) ॥२॥

'मैं गाय के एक शफ (खुर) के बदले इसको मोल लूंगा।' सोम बेचनेवाला कहता है,

एवातः सोमो राजार्हति महांस्त्वेव गोर्महिमेत्यध्वर्युरेतान्येव दश वीर्याण्युदाख्या-
याह यदा तेऽर्धेन ते गवा ते क्रीणामीति क्रीतः सोमो राजेत्याह सोमविक्रयी
वयाꣳसि प्रब्रूहीति ॥३॥ स आह । चन्द्रं ते वस्त्रं ते छागा ते धेनुस्ते मिथुनौ
ते गावौ तिस्रस्तेऽन्या इति स यदर्वाक्पणते परः सम्पादयन्ति तस्मादिदꣳ सकृ-
त्सर्वं पण्यमर्वाक्पणते परः सम्पादयन्त्यथ यदध्वर्युरेव गोर्वीर्याण्युदाचष्टे न सोम-
स्य सोमविक्रयी महितो वै सोमो देवो हि सोमोऽथैतदध्वर्युर्गां महयति तस्यै
पश्यन्वीर्याणि क्रीणादिति तस्मादध्वर्युरेव गोर्वीर्याण्युदाचष्टे न सोमस्य सोम-
विक्रयी ॥४॥ अथ यत्पञ्च कृत्वः पणते । संवत्सरसंमितो वै यज्ञः पञ्च वाऽऋत-
वः संवत्सरस्य तं पञ्चभिराप्नोति तस्मात्पञ्च कृत्वः पणते ॥५॥ अथ हिरण्ये वा-
चयति । शुक्रं त्वा शुक्रेण क्रीणामीति शुक्रꣳ ह्येतच्छुक्रेण क्रीणाति यत्सोमꣳ हि-
रण्येन चन्द्रं चन्द्रेणेति चन्द्रꣳ ह्येतच्चन्द्रेण क्रीणाति यत्सोमꣳ हिरण्येनामृतममृ-
तेनेत्यमृतꣳ ह्येतदमृतेन क्रीणाति यत्सोमꣳ हिरण्येन ॥६॥ अथ सोमविक्रयि-
णमभिप्रकम्पयति । सग्मे ते गोरिति यजमाने ते गौरित्येवैतदाह तद्यजमानम-
भ्यावृत्य न्यस्यत्यस्मे ते चन्द्राणीति स आत्मन्येव वीर्यं धत्ते शरीरमेव सोमवि-
क्रयी हरते तत्ततः सोमविक्रय्यादत्ते ॥७॥ अथाजायां प्रतीचीनमुख्यां वाचयति ।
तपसस्तनूरसीति तपसो ह वाऽएषा प्रजापतेः सम्भूता यदजा तस्मादाह तपस-
स्तनूरसीति प्रजापतेर्वर्णा इति सा यत्त्रिः संवत्सरस्य विजायते तेन प्रजापतेर्वर्णः
परमेण पशुना क्रीयसऽइति सा यत्त्रिः संवत्सरस्य विजायते तेन परमः पशुः स-
हस्रपोषं पुषेयमित्याशिषमेवैतदाशास्ते भूमा वै सहस्रं भूमानं गच्छानीत्येवैतदाह
॥८॥ स वाऽअनेनैवाजां प्रयच्छति । अनेन राजानमादत्तऽआजा ह वै नामैषा
यदजैतया ह्येनमजत आजति तामेतत्परोऽक्षमजेत्याचक्षते ॥९॥ अथ राजानमा-
दत्ते । मित्रो न एहि सुमित्रध इति शिवो नः शान्त एहीत्येवैतदाह तं यजमा-

'सोम राजा इससे कहीं अधिक कीमती है।' अध्वर्यु कहता है, 'सोम राजा अवश्य कीमती है परन्तु गाय की महिमा भी तो अधिक है।' इस प्रकार दश गुण वर्णन करके अध्वर्यु कहता जाता है कि 'एक पद के बदले खरीदूंगा, आधी गाय के बदले, पूरी गाय के बदले।' यहाँ तक कि सोम बेचनेवाला कह उठता है, 'बस सोम राजा खरीदा जा चुका। क्या-क्या दोगे, यह बताओ' (वयांसि प्रब्रूहि) ॥३॥

अध्वर्यु कहता है, 'चन्द्र (सोना ?) तुम्हारा हुआ, वस्त्र तुम्हारा हुआ, बकरी तुम्हारी हुई, गाय तुम्हारी हुई, एक बैल का जोड़ा तुम्हारा हुआ। तीन और गायें तुम्हारी हुई।' पहले वे मोल करते हैं और फिर मोल का निश्चय होता है। इसीलिए हर एक बिक्री की चीज में पहले मोल किया जाता है, फिर निश्चय करते हैं। केवल अध्वर्यु ही गाय के गुण क्यों कहता है ? सोमवाला सोम के गुण क्यों नहीं कहता ? इसका कारण यह है कि सोम देवता है, उसकी महिमा तो प्रख्यात है। इसलिए अध्वर्यु गाय के गुण कहता है, सोमवाला सोम के नहीं। सोमवाला गाय के गुण सुनकर उसको ले लेगा। इसीलिए अध्वर्यु गाय के गुण गाता है, सोमवाला सोम के गुण नहीं कहता ॥४॥

पाँच बार क्यों मोल करता है ? यज्ञ संवत्सर के तुल्य है। संवत्सर में पाँच ऋतु होते हैं। पाँच बार मोल करने से इसको भी पाँच अंगवाला बना देता है ॥५॥

अब वह यजमान से स्वर्ण के लिए कहलवाता है—"शुक्रं त्वा शुक्रेण क्रीणामि" (यजु० ४।२६)— "तुझ शुद्ध को शुद्ध के बदले खरीदता हूँ।" वस्तुतः जब वह स्वर्ण के बदले सोम को लेता है तो शुद्ध के बदले ही शुद्ध को खरीदता है। "चन्द्रं चन्द्रेण" (यजु० ४।२६)–"चन्द्र को चन्द्र के बदले।" सोम को स्वर्ण के बदले लेना मानो चमकीली चीज के बदले लेना है। "अमृतं अमृतेन" (यजु० ४।२६)–"अमृत को अमृत के बदले।" सोम को स्वर्ण के बदले खरीदना मानो अमृत को अमृत के बदले खरीदना ही है ॥६॥

अब सोमवाले को धमकाता है, "सग्मे ते गोः" (यजु० ४।२६)—"गायवाले अर्थात् यजमान के साथ तेरी गाय हो।" अब (स्वर्ण को) यजमान की ओर लाकर फेंक देता है— "अस्मे ते चन्द्राणि" (यजु० ४।२६)—"ये चमकीले सोने के टुकड़े हमारे हों।" इससे यजमान वीर्य (शक्ति) धारण करता है। और सोम-विक्रेता के पास केवल शरीर रह जाता है। इसके पीछे सोम-विक्रेता उस सोने को ले लेता है ॥७॥

पश्चिमाभिमुखी बकरी के प्रति यजमान से कहलवाता है—"तपस्तनूरसि" (यजु० ४।२६)—"तू तप का शरीर है।" यह जो बकरी है वह प्रजापति के तप से उत्पन्न हुई। इसीलिए कहता है कि 'तू तप का शरीर है।' अब कहता है—"प्रजापतेर्वर्णः" (यजु० ४।२६)— "प्रजापति का वर्ण है।" चूंकि वर्ष में तीन बार जनती है, इसलिए प्रजापति के समान हुई। "परमेण पशुना क्रीयसे" (यजु० ४।२६)–"तू परम पशु के बदले खरीदा गया।" बकरी तीन बार वर्ष में जनती है, इसलिए परम पशु है। "सहस्रपोषं पुषेयम्" (यजु० ४।२६)—"मैं सहस्रों वस्तुओं से पुष्ट हो जाऊँ।" यह आशीर्वाद है। सहस्र का अर्थ है भूमा या बहुत। तात्पर्य यह है कि मुझे बहुत-सी चीजें मिल जायें ॥८॥

इस (बायें हाथ) से बकरी को देता है और इस (दाहिने हाथ) से सोम को लेता है। यह जो 'अजा' है वह 'आजा'। इसी बकरी के द्वारा वह अन्त में सोम को ले जाता है (आजाति) इसलिए उसका परोक्ष नाम 'आजा' या 'अजा' हुआ ॥९॥

इस मन्त्र को पढ़कर सोम राजा को लेता है, "मित्रो नऽएहि सुमित्रधः" (यजु० ४।२७)– "तू मित्र बनकर हमारे पास आ, अच्छे मित्रों का देनेवाला।" इसका अर्थ यह हुआ कि तू कल्याणकारी है, हमारे लिए कल्याण कर। उसको यजमान की दाहिनी जाँघ पर रखकर वस्त्र से ढाँपकर

तस्य दक्षिणऽऊरौ प्रत्युद्य वासो निदधातीन्द्रस्योरुमाविश दक्षिणमित्येष वा
ऽअत्रेन्द्रो भवति यद्यजमानस्तस्मादाहेन्द्रस्योरुमाविश दक्षिणमित्युशन्नुशन्तमिति
प्रियः प्रियमित्येवैतदाह स्योनः स्योनमिति शिवः शिवमित्येवैतदाह ॥१०॥ अथ
सोमक्रयणाननुदिशति । स्वान भ्राजाङ्घारे बम्भारे हस्त सुहस्त कृशानवेते वः
सोमक्रयणास्तान्रक्षध्वं मा वो दभन्निति धिष्ण्यानां वाऽएते भाजनैतानि वै धि-
ष्ण्यानां नामानि नाम्येवैभ्य एतदन्ववदिक्षत् ॥११॥ अथात्रापोर्णुते । गर्भो वाऽए-
ष भवति यो दीक्षते प्रावृता वै गर्भा उल्वेनेव जरायुणेव तमत्राजीजनत तस्मा-
दपोर्णुतऽइव वाऽअत्र गर्भो भवति तस्मात्परिवृतो भवति परिवृता-इव हि ग-
र्भा उल्वेनेव जरायुणेव ॥१२॥ अथ वाचयति । परि माग्ने दुश्चरिताद्बाधस्वा मा
सुचरिते भजेत्यागमेतं वाऽएनमेष आगच्छति स आगतऽउत्तिष्ठति तन्मिथ्याकरोति
व्रतं प्रमीणाति तस्यो हैषा प्रायश्चित्तिस्तथो हास्यैतन्न मिथ्याकृतं भवति न व्रतं
प्रमीणाति तस्मादाह परि माग्ने दुश्चरिताद्बाधस्वा मा सुचरिते भजेति ॥१३॥ अथ
राजानमादायोत्तिष्ठति । उदायुषा स्वायुषोदस्थाममृताँ२॥ऽअन्वित्यमृतं वाऽएषो
ऽनूत्तिष्ठति यः सोमं क्रीतं तस्मादाहोदायुषा स्वायुषोदस्थाममृताँ२॥ऽअन्विति
॥१४॥ अथ राजानमादायारोहणमभिप्रैति । प्रति पन्थामपद्महि स्वस्ति गामने-
हसम् । येन विश्वाः परि द्विषो वृणक्ति विन्दते वस्विति ॥१५॥ देवा ह वै य-
ज्ञं तन्वानाः । तेऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद्बिभयां चक्रुस्तऽएतद्यजुः स्वस्त्ययनं दद-
शुस्तऽएतेन यजुषा नाष्ट्रा रक्षांऽस्यपहत्यैतस्य यजुषोऽभयेऽनाष्ट्रे निवाते स्वस्ति
समाश्नुवत तथोऽएवैष एतेन यजुषा नाष्ट्रा रक्षांऽस्यपहत्यैतस्य यजुषोऽभयेऽनाष्ट्रे
निवाते स्वस्ति समश्नुते तस्मादाह प्रति पन्थामपद्महि स्वस्ति गामनेहसम् । ये-
न विश्वाः परि द्विषो वृणक्ति विन्दते वस्विति ॥१६॥ तं वाऽइति हरन्ति ।
अनसा परिवहन्ति महयन्त्येवैनमेतत्तस्माच्छीर्ष्णा वीजाँ हरन्त्यनसोदावहन्ति ॥१७॥

कहता है, "इन्द्रस्योरुमाविश दक्षिणम्" (यजु० ४।२७)—"इन्द्र की दाहिनी जंघा पर बैठ।" यहाँ यजमान इन्द्र है। इसलिए कहता है कि इन्द्र की जाँघ पर बैठ। "उशन्नुशन्तम्" (यजु० ४।२७)—"प्यारा प्यारे के पास।" 'स्योनःस्योनम्' (यजु० ४२७)—"कोमल कोमल के पास।" अर्थात् कल्याणकारक कल्याणकारक के पास ॥१०॥

अब सोम के मोल को सुपुर्द करता है यह कहकर कि—'हे स्वान, हे भ्राज, हे अंघारि, हे बंभारि, हे हस्त, हे सुहस्त, हे कृशानु, ये-ये चीजें तुम्हारे सोम का मोल हैं। इनकी रक्षा करो। ये तुमको प्रतिकूल सिद्ध न हों (यजु० ४।२७)। स्वान—उपदेश देनेवाला। भ्राज—चमकनेवाला। अंघारि—अंघ अर्थात् पाप का शत्रु। बंभारि—विश्व का धारण करनेवाला। हस्त—जिसके द्वारा हँसते या प्रसन्न होते हैं वह। सुहस्त—जिसके द्वारा हाथ की क्रियाएं ठीक होती हैं। कृशानु—जो कृश अर्थात् दुर्बलों को जिलाता है (कृशं अनीति इति) या जो दुष्टों को दुबला करता है (दुष्टान् कृशति इति)। ये सात नाम धिष्ण्या अर्थात् यज्ञ की वेदी के हैं, और इसलिए वेदी के अधिष्ठाताओं के भी ये नाम हैं। अतः इन्हीं के लिए ये अनुदेश हैं ॥११॥

अब वह अपने सिर को खोलता है। जो दीक्षा लेता है वह गर्भ के तुल्य होता है। गर्भ उल्व और जरायु से लिपटा होता है। उसी गर्भ का अब जन्म हुआ। इसलिए वह सिर को खोल लेता है। अब वह सोम गर्भ का रूप धारण करता है, इसलिए ढका हुआ होता है, क्योंकि गर्भ उल्व और जरायु से ढका होता है ॥१२॥

अब वह इस वेदमन्त्र को पढ़वाता है—"परि माग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा मा सुचरिते भज" (यजु० ४।२८)—"हे अग्नि! तू मुझे दुश्चरित से हटा और अच्छे चरित में ले जा।" जब सोम राजा आया था तब वह यजमान बैठा था। उसके आने पर वह यजमान खड़ा हो जाता है। यही मिथ्या आचरण है। इससे व्रत भंग होता है (क्योंकि उसने व्रत किया था कि सोमरस निकालने तक गर्भ की अवस्था में ही बैठा रहूँगा)। यह मन्त्र पढ़ना मानो इस दोष का प्रायश्चित्त है। इस पाठ से मिथ्या आचरण नहीं होता और न व्रत भंग होता है, इसलिए 'परि माग्ने' मन्त्र का पाठ किया जाता है ॥१३॥

अब सोम राजा को लेकर उठता है यह मंत्रांश पढ़कर—"उदायुषा स्वायुषोदस्थाममृताँ२ ऽ अनु' (यजु० ४।२८)—"उत्कृष्ट और अच्छी आयु के द्वारा मैं अमृतों का अनुसरण करके उठूं (उन्नत होऊँ)।" वस्तुतः वह मोल लिये हुए सोम के पीछे उठता है, मानो अमृत के पीछे उठता है। इसलिए इस 'उदायुषा' मन्त्र का पाठ करता है ॥१४॥

अब सोम राजा को लेकर गाड़ी तक आता है इस मन्त्र को पढ़कर—"प्रति पन्थामपद्महि स्वस्तिगामनेहसम्। येन विश्वाः परि द्विषो वृणक्ति विन्दते वसु" (यजु० ४।२९)—"हमने कल्याणकारक और पाप-रहित मार्ग का अवलम्बन किया है जिससे मनुष्य सब बुराइयों (शत्रुओं) को छोड़ता और धन को प्राप्त करता है" ॥१५॥

एक बार देवों ने यज्ञ ताना। वे असुर राक्षसों के आक्रमण से भयभीत हुए। तब उन्होंने इस यजुः (प्रार्थना) को कल्याण-गृह के रूप में देखा और इस यजुः के द्वारा राक्षस दुष्टों को मारकर इस यजुः के अभय और क्लेशरहित घर में शान्ति प्राप्त की। इसी प्रकार इस यजुः की सहायता से दुष्ट राक्षसों को मारकर इस यजुः के अभय और क्लेशरहित घर में शान्ति प्राप्त करता है। इसीलिए 'प्रति पन्थाम्' मंत्र का पाठ करता है ॥१६॥

इस सोम को पहले इस प्रकार (हाथ में सिर पर रखकर) ले जाते हैं और फिर गाड़ी में ले जाते हैं। इससे वे उसकी महत्ता बढ़ाते हैं। इसलिए वे बीज को सिर पर रखकर (खेत में) ले जाते हैं ॥१७॥

अथ यद्पामन्ते क्रीणाति । रसो वाऽआपः सरसमेवैतत्क्रीणात्यथ यद्धिरण्यं भवति सशुक्रमेवैतत्क्रीणात्यथ यद्वासो भवति सत्वचसमेवैतत्क्रीणात्यथ यदजा भवति सतपसमेवैतत्क्रीणात्यथ यद्धेनुर्भवति साशिरमेवैतत्क्रीणात्यथ यन्मिथुनौ भवतः समिथुनमेवैतत्क्रीणाति तं वै दशभिरेव क्रीणीयान्नादशभिर्दशाक्षरा वै विराड्वैराजः सोमस्तस्माद्दशभिरेव क्रीणीयान्नादशभिः ॥१८॥ ब्राह्मणम् ॥ ६ [३.३.] ॥

द्वितीयः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या १२८ ॥ ॥

नीडे कृष्णाजिनमास्तृणाति । अदित्यास्त्वगसीति सोऽसावेव बन्धुरथैनमासादयत्यदित्यै सद आसीदेतीयं वै पृथिव्यदितिः सेयं प्रतिष्ठा तदस्यामेवैनमेतत्प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति तस्मादाहादित्यै सद आसीदेति ॥१॥ अथैवमभिपद्य वाचयति । अस्तभ्नाद्द्यां वृषभोऽअन्तरिक्षमिति देवा ह वै यज्ञं तन्वानास्तेऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद्बिभयां चक्रुस्तऽएनमेतन्न्यायाꣳसमेव बधाच्चक्रुर्यदाहास्तभ्नाद्द्यां वृषभोऽअन्तरिक्षमिति ॥२॥ अमिमीत वरिमाणं पृथिव्या इति । तदेनेनेमांल्लोकानास्पृणोति तस्य हि न हन्तास्ति न बधो येनेमे लोका आस्पृतास्तस्मादाहामिमीत वरिमाणं पृथिव्या इति ॥३॥ आसीदद्विश्वा भुवनानि सम्राडिति । तदेनेनेदꣳ सर्वमास्पृणोति तस्य हि न हन्तास्ति न बधो येनेदꣳ सर्वमास्पृतं तस्मादाहासीदद्विश्वा भुवनानि सम्राडिति ॥४॥ विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानीति । तदस्माऽइदꣳ सर्वमनुवर्त्म करोति यदिदं किं च न कं चन प्रत्युद्यामिनं तस्मादाह विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानीति ॥५॥ अथ सोमपर्याणहनेन पर्याणह्यति । नेदेनं नाष्ट्रा रक्षाꣳसि प्रमृशानिति गर्भो वाऽएष भवति तिर-इव वै गर्भास्तिर-इवैतत्पर्याणद्धं तिर-इव वै देवा मनुष्येभ्यस्तिर-इवैतद्यत्पर्याणद्धं तस्माद्वै पर्याणह्यति ॥६॥ स पर्याणह्यति । वनेषु व्यन्तरिक्षं ततानेति वनेषु ह्ययमन्तरिक्षं विततं वृक्षाग्रेषु वाजमर्वत्सु पय उस्रियास्विति वीर्यं वै वाजाः पुमाꣳसोऽर्वन्तः

सोम को जल के समीप मोल लेता है। जल ही रस है। इस प्रकार वह उसको रस-युक्त करता है। सोने के होने का तात्पर्य यह है कि वह उसको शुक्र-(तेज)-सहित मोल लेता है। वस्त्र के होने का तात्पर्य यह है कि वह उसको चमड़े-सहित मोल लेता है। बकरी के होने का तात्पर्य यह है कि वह उसको तप के साथ मोल लेता है। गाय के होने का तात्पर्य यह है कि वह उसको दूध-सहित मोल लेता है जिससे सोमरस में मिलाया जा सके। गायों के जोड़े का अर्थ यह है कि वह सोम को जोड़े के साथ मोल लेता है। सोम को दश चीजों के बदले मोल ले। दश से कम या ज्यादा नहीं, क्योंकि विराट् छन्द में दश अक्षर होते हैं। सोम विराट् है इसलिए दश के बदले खरीदे, न्यूनाधिक के बदले नहीं ॥१८॥

अध्याय ३—ब्राह्मण ४

गाड़ी के नीड अर्थात् बन्द स्थान में काले हिरन के चर्म को रखता है यह कहकर—"अदित्यास्त्वगसि" (यजु० ४।३०)—"तू अदिति की त्वचा है।" अब वह सोम को रख देता है यह कहकर—"अदित्यैं सदऽआसीद" (यजु० ४।३०)—"तू अदिति के स्थान पर बैठ।" यह पृथिवी ही अदिति है और यही प्रतिष्ठा है। इस प्रकार वह उसको इस प्रतिष्ठा में स्थापित करता है। इसीलिए कहा, 'तू अदिति के स्थान पर बैठ' ॥१॥

अब वह सोम को छूकर पढ़ता है—"अस्तभ्नाद् द्यां वृषभोऽअन्तरिक्षम्" (यजु० ४।३०)—"इस वृषभ ने द्यौ और अन्तरिक्ष को उभारा।" देवों ने यज्ञ ताना और वे असुर राक्षसों के आक्रमण से डरे। उन्होंने इस सोम को वध की अपेक्षा बड़ा कर दिया। इसीलिए कहा, 'अस्तभ्नाद्' इति ॥२॥

"अमिमीत वरिमाणं पृथिव्याः" (यजु० ४।३०)—"उसने पृथिवी के विस्तार को मापा। इस प्रकार इस सोम की सहायता से इन लोकों को प्राप्त करता है। जिसने इन लोकों को प्राप्त कर लिया उसके लिए न कोई वध है, न मारनेवाला। इसीलिए कहता है, 'अमिमीत वरिमाणं पृथिव्याः' ॥३॥

"आसीदद् विश्वा भुवनानि सम्राट्" (यजु० ४।३०)—"सब भुवनों में वह सम्राट् के रूप में बैठा।" इसकी सहायता से वह 'सब' की प्राप्ति करता है। जिसको इस 'सब' की प्राप्ति हो गई उसके लिए कोई घातक या वध करनेवाला नहीं रहता। इसीलिए 'आशीदद्' मन्त्र पढ़ा ॥४॥

"विश्वेत् तानि वरुणस्य व्रतानि" (यजु० ४।३०)—"वस्तुतः ये वरुण के व्रत हैं।" इसके द्वारा वह सबको उसका अनुयायी करता है, अर्थात् जो कुछ यहाँ है अथवा जो कोई प्रतिकूल है उस सबको। इसीलिए 'विश्वेत् तानि' मन्त्र पढ़ा गया ॥५॥

अब सोम पर्याणहन अर्थात् सोम-वस्त्र से सोम को लपेटता है कि दुष्ट राक्षस उसको छू न ले। वस्तुतः यह गर्भ है, गर्भ छिपा रहता है; और यह जो ढका हुआ है वह भी छिपा रहता है। देव मनुष्यों से छिपे रहते हैं। जो ढका हुआ है वह भी छिपा रहता है, अतः सोम को कपड़े में लपेटता है ॥६॥

इस मन्त्र को पढ़कर लपेटता है—"वनेषु व्यन्तरिक्षं ततान" (यजु० ४।३१)—"वनों के ऊपर अन्तरिक्ष ताना गया।" वनों अर्थात् वृक्षों के सिरों पर तो अन्तरिक्ष तना हुआ है ही। "वाजमर्वत्सु पयऽउस्त्रियासु" (यजु० ४।३१)—"मनुष्यों में वीर्य और गायों में दूध।" यहाँ 'वाज' का अर्थ है वीर्य और 'अर्वन्त' का अर्थ है मनुष्य। इस प्रकार मनुष्यों में वीर्य धारण करता है।

पुᳫंस्वेवैतद्वीर्यं दधाति पय उस्रियास्विति पयो हीदमुस्रियासु हितᳫं हृत्सु क्रतुं वरुणो विक्ष्वग्निमिति हृत्सु ह्ययं क्रतुर्मनोजवः प्रविष्टो विक्ष्वग्निमिति विक्षु ह्ययं प्रजास्वग्निर्दिवि सूर्यमदधात्सोममद्राविति दिवि ह्यसौ सूर्यो हितः सोममद्राविति गिरिषु हि सोमस्तस्मादाह दिवि सूर्यमदधात्सोममद्राविति ॥७॥ अथ यदि द्वे कृष्णाजिने भवतः । तयोरन्यतरत्प्रत्यानह्यति प्रतीनाहभाजनं यद्युऽएकं भवति कृष्णाजिनग्रीवा एवावकृत्य प्रत्यानह्यति प्रतीनाहभाजनᳫं सूर्यस्य चक्षुरारोहाग्नेरक्ष्णः कनीनकम् । यत्रैतशेभिरीयसे भ्राजमानो विपश्चितेति सूर्यमेवैतत्पुरस्तात्करोति सूर्यः पुरस्तान्नाष्ट्रा रक्षाᳫंस्यपघ्नन्नित्यथाभयेनानाष्ट्रेण परिवहन्ति ॥८॥ उद्धते प्रऽउग्ये फलके भवतः । तदन्तरेणा तिष्ठन्त्सुब्रह्मण्यः प्राजति श्रेयान्वाऽएषोऽभ्यारोढाद्भवति को ह्येतमर्हत्यभ्यारोढुं तस्मादन्तरेणा तिष्ठन्प्राजति ॥९॥ पलाशशाखया प्राजति । यत्र वै गायत्री सोममच्छापतत्तदस्याऽआहरन्त्याऽअपादस्ताभ्यायत्य पर्णं प्रचिच्छेद गायत्र्यै वा सोमस्य वा राज्ञस्तत्पतित्वा पर्णोऽभवत्तस्मात्पर्णो नाम तद्यदेवात्र सोमस्य न्यक्तं तदिहाप्यसदिति तस्मात्पलाशशाखया प्राजति ॥१०॥ अथानड्वाहावाजन्ति । तौ यदि कृष्णौ स्यातामन्यतरो वा कृष्णस्तत्र विद्याद्वर्षिष्यत्यैषमः पर्जन्यो वृष्टिमान्भविष्यतीत्येतदु विज्ञानम् ॥११॥ अथ युनक्ति । उस्रावेतं धूर्षाहावित्युस्रौ हि भवतो धूर्षाहाविति धूर्वाहौ हि भवतो युञ्जेथामनश्रूऽइति युज्येते ह्यनश्रूऽइत्यनार्ताविति तद्वीरहणावित्यपापकृताविति तद्ब्रह्मचोदनाविति ब्रह्मचोदनौ हि भवतः स्वस्ति यजमानस्य गृहान्गच्छतमिति यथैनावन्तरा नाष्ट्रा रक्षाᳫंसि न हिᳫंस्युरेवमेतदाह ॥१२॥ अथ पश्चात्परिक्रम्य । अपालम्बमभिपद्याह सोमाय क्रीतायानुब्रूहीति सोमाय पर्युह्यमाणायेति वातो यतरथा कामयेत ॥१३॥ अथ वाचयति । भद्रो मेऽसि प्रच्यवस्व भुवस्पतऽइति भद्रो ह्यस्यैष भवति तस्मान्नान्यमाद्रियतेऽप्यस्य राजानः सभागा आ-

गायों में तो दूध होता ही है। [मेरी धारणा है कि पुमान् का अर्थ है 'नर' और 'उस्रियासु' का मादा। नरों में वीर्य होता है और नारियों में दूध']। "हृत्सु क्रतुं वरुणो विक्ष्वग्निम्" (यजु० ४।३१)–"मनों में बुद्धि और घरों में अग्नि वरुण ने (स्थापित की)।" मनों में बुद्धि स्थापित है ही और घरों में या प्रजाओं में अग्नि। "दिवि सूर्यमदधात्सोममद्रौ" (यजु० ४।३१)–"सूर्य को द्यौलोक में स्थापित किया और सोम को पहाड़ पर" [यहाँ सोम का अर्थ 'चन्द्र' ठीक नहीं है। सोमलता ही पहाड़ पर होती है और द्यौलोक का सूर्य उसको प्रभावित करता है?] द्यौलोक में सूर्य है ही और सोम पहाड़ों में होता ही है। इसलिए कहा 'दिवि सूर्य' इत्यादि ॥७॥

यदि दो मृगचर्म हों तो उनमें से एक को ध्वजा बनाकर लटकाता है। यदि एक हो तो गर्दन के ऊपर से काटकर ध्वजा के रूप में लटकाता है यह मन्त्र पढ़कर—'सूर्यस्य चक्षुरारोहाऽग्नेरक्ष्णः कनीनकम्। यत्रैतशेभिरीयसे भ्राजमानो विपश्चिता" (यजु० ४।३२)—"हे मृगचर्म, तू सूर्य की आँख के ऊपर चढ़ और अग्नि की आँख के तारे के ऊपर चढ़। जहाँ सूर्य और अग्नि के साथ चमकता हुआ तू चढ़ता है।" इस प्रकार वह सूर्य को आगे करता है। सूर्य के सामने दुष्ट राक्षस नहीं आने पाते। अब वे सोम को निर्विघ्न गाड़ी में ले जाते हैं ॥८॥

गाड़ी को बल्लियों के आगे के भाग में प्रउग या त्रिभुजाकार दो तख्ते होते हैं। उन दोनों के बीच में सुब्रह्मण्य (उद्गाता का सहायक) खड़ा होकर गाड़ी को चलाता है। सोम राजा उससे बहुत ऊँचा होता है। ऐसा कौन है जो सोम राजा के बराबर बैठ सके? इसलिए वह खड़ा होकर गाड़ी को चलाता है ॥९॥

पलाश की शाखा से हाँकता है। जब गायत्री सोम की ओर उड़ी और उसको लिये जा रही थी तो एक बिना पैर के मनुष्य ने निशाना लगाकर गायत्री का या सोम राजा का एक पर गिरा दिया। वह गिरकर पर्ण हो गया। इसीलिए उसे पर्ण कहते हैं। वह सोचता है कि जो बात उस सोम के साथ हुई वह यहाँ भी हो। इसलिए वह पलाश से हाँकता है ॥१०॥

दो बैल जुतते हैं। यदि दोनों काले हों या एक काला हो तो जानना चाहिए कि वर्षा बहुत अच्छी होगी। यही विज्ञान है ॥११॥

बैलों को जोतता है यह मन्त्र पढ़कर–"उस्रावेतं धूर्षाहौ" (यजु० ४।३३)–"हे धुरे को सहन करनेवाले दो बैलो, तुम आओ।" क्योंकि ये दो बैल हैं और धुरे को सह सकते हैं। "युज्येथामनश्रू" (यजु० ४।३३)–"आँसूरहित तुम जुतो।" 'आँसूरहित' का अर्थ है दुःख-रहित'। "अवीरहणौ" (यजु० ४।३३)–"पापरहित।" "ब्रह्मचोदनौ" (यजु० ४।३३)–"ब्रह्म के प्रेरक।" "स्वस्ति यजमानस्य गृहान्गच्छतम्" (यजु० ४।३३)–"यजमान के घर में कल्याणकारक होकर आओ।" इसके कहने का प्रयोजन यह है कि मार्ग में दुष्ट राक्षस उसको न सतावें ॥१२॥

मुड़कर गाड़ी के पीछे जाता है और अपालम्ब (गाड़ी के पीछे एक लकड़ी का टुकड़ा लगा रहता है जिसे अपालम्ब कहते हैं) को पकड़कर (होता से) कहता है, 'खरीदे हुए सोम के लिए पढ़ो' या 'गाड़ी में लाये हुए सोम के लिए पढ़ो' इन दोनों वाक्यों में से जिस वाक्य को चाहे कहे ॥१३॥

अब वह मन्त्र पढ़वाता है–"भद्रो मेऽसि प्रच्यवस्व भुवस्पते" (यजु० ४।३४)–"हे संसार के पति! तू मेरे लिए कल्याणकारी है, चल।" सोम वस्तुतः उसके लिए कल्याणकारी है। अतः वह सोम के सिवाय और किसी का आदर नहीं करता। जिस प्रकार महाराजा के आधीन राजा

गच्छन्ति पूर्वो राज्ञोऽभिवदति भद्रो हि भवति तस्मादाह भद्रो मेऽसीति प्रच्यवस्व भुवस्पतऽइति भुवनानाꣳ ह्येष पतिर्विश्वान्यभि धामानीत्यङ्गानि वै विश्वानि धामान्यङ्गान्येवैतदभ्याह मा त्वा परिपरिणो विदन्मा त्वा परिपन्थिनो विदन्मा त्वा वृका अघायवो विदन्निति यथैनमन्तरा नाष्ट्रा रक्षाꣳसि न विन्देयुरेवमेतदाह ॥१४॥ श्येनो भूत्वा परापतेति । वय एवैनमेतद्भूतं प्रपातयति यद्वाऽउग्रं तन्नाष्ट्रा रक्षाꣳसि नान्ववयन्त्येतद्धि वयसामोजिष्ठं बलिष्ठं यच्छ्येनस्तमेवैतद्भूतं प्रपातयति यदाह श्येनो भूत्वा परापतेति ॥१५॥ अथ शरीरमेवान्ववच्छन्ति । यजमानस्य गृहान्गच्छ तन्नौ सꣳस्कृतमिति नात्र तिरोहितमिवास्ति ॥१६॥ अथ सुब्रह्मण्यामाह्वयति । यथा येभ्यः पक्ष्यन्त्स्यात्तान्ब्रूयादित्यहे वः पक्तास्मीत्येवमेवैतद्देवेभ्यो यज्ञं निवेदयति सुब्रह्मण्यो३म् सुब्रह्मण्यो३मिति ब्रह्म हि देवान्प्रच्यावयति त्रिष्कृत्व आह त्रिवृद्धि यज्ञः ॥१७॥ इन्द्रागच्छेति । इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता तस्मादाहेन्द्रागच्छेति हरिव आगच्छ मेधातिथेर्मेष वृषणश्वस्य मेने । गौरावस्कन्दिन्नहल्यायै जारेति तान्येवास्य चरणानि तैरेवैनमेतत्प्रमुमोदयिषति ॥१८॥ कौशिक ब्राह्मण गौतम ब्रुवाणेति । शश्वद्धैतदारुणिनाधुनोपज्ञातं यद्गौतम ब्रुवाणेति स यदि कामयेत ब्रूयादेतद्यद्यु कामयेतापि नाद्रियेतेत्यहे सुत्यामिति यावदहे सुत्या भवति ॥१९॥ देवा ब्रह्माण आगच्छतेति । तद्देवांश्च ब्राह्मणांश्चाहैतैर्ह्येत्रोभयैरर्थो भवति यद्देवैश्च ब्राह्मणैश्च ॥२०॥ अथ प्रतिप्रस्थाता । अग्रेण शालामग्नीषोमीयेण पशुना प्रत्युपतिष्ठतेऽग्नीषोमौ वाऽएतमन्तर्जम्भऽआदधाते यो दीक्षतेऽआग्नावैष्णवꣳ ह्यदो दीक्षणीयꣳ हविर्भवति यो वै विष्णुः सोमः स हविर्वाऽएष भवति यो दीक्षते तदेनमन्तर्जम्भऽआदधाते तत्पशुनात्मानं निष्क्रीणीते ॥२१॥ तद्धैके । आहवनीयादुल्मुकमाहरन्त्ययमग्निरयꣳ सोमस्ताभ्याꣳ सह सह्यां निष्क्रेष्यामहऽइति वदन्तस्तदु तथा न कुर्याद्यत्र वाऽएतौ क्व च तत्सहैव ॥२२॥ स

लोग आते हैं और वह पहले उनका अभिवादन करता है और कल्याणकारी होता है, इसीलिए कहा, 'भद्रो मे ऽ असि" इत्यादि । यह भुवनों का पति है । इसलिए कहा है 'चल' । "विश्वान्यभि धामानि" (यजु० ४।३४)–"सब धामों के लिए ।" 'विश्वानि धामानि' से तात्पर्य है अगों से । "मा त्वा परिपरिणो विदन् मा त्वा परिपन्थिनो विदन् मा त्वा वृकाऽअघायवो विदन्" (यजु० ४।३४)–"तुझे लुटेरे न मिलें, तुझे डाकू न मिलें, तुझे खाऊ भेड़िये न मिलें ।" यह इसलिये कहता है कि दुष्ट राक्षस उसको किसी प्रकार से न सतावें ॥१४॥

"श्येनो भूत्वा परापत" (यजु० ४।३४)–"बाज होकर उड़ जा ।" उसको पक्षी बनाकर उड़ाता है । जो बलवान् होता है, दुष्ट राक्षस उसका पीछा नहीं करते । श्येन या बाज सब पक्षियों में बलवान् होता है । उसको बाज बनाकर उड़ाता है । इसलिये कहा, 'श्येनो भूत्वा' आदि ॥१५॥

अब वे उसके शरीर को लाते हैं । "यजमानस्य गृहान् गच्छ तन्नौ संस्कृतम्" (यजु० ४।३४)—"यजमान के घरों को जा, जो हमारे लिए तैयार किया हुआ है ।" यह बहुत स्पष्ट है ॥१६॥

अब सुब्रह्मण्य-सम्बन्धी जाप करता है । जैसे जिन लोगों के लिए खाना पकाना हो उनसे कहे कि मैं आपके लिए अमुक दिन भोजन बनाऊँगा, इसी प्रकार देवताओं के लिए यज्ञ का निवेदन करता है । 'सुब्रह्मण्यमो३म्' ऐसा तीन बार कहता है, क्योंकि ब्रह्म ही देवताओं को प्रेरणा करता है । तीन बार कहने का प्रयोजन यह है कि यज्ञ के तीन भाग हैं ॥१७॥

'इन्द्र, आ ।' इन्द्र यज्ञ का देवता है । इसलिए कहा कि इन्द्र आ । 'आ जा, घोड़ोंवाले मेधातिथि के भेड़े, आ ! वृषणश्व की स्त्री (या बाणी), आ ! भैंस के सवार, आ ! अहल्या के जार या उपपति, आ ! ' इन प्रकार वह उसको उसके व्यवहार में प्रसन्न करता है । (पता नहीं कि इन्द्र के ये नाम क्यों हैं ? या इनका वास्तविक अर्थ क्या है) ॥१८॥

'कौशिक, ब्राह्मण, गौतम कहलानेवाले' (ये भी इन्द्र के ही नाम मालूम होते हैं) । आजकल आरुणि ने यह वाक्य निकाला है अर्थात् 'कौशिक, ब्राह्मण, गौतम कहलानेवाले' । यदि जी चाहे तो इस वाक्य को कहे, जी चाहे न कहे । 'इतने दिनों में सोम-यज्ञ होगा ।' यहाँ जितने दिनों में होनेवाला हो उनके नाम ले दे ॥१९॥

'देव और ब्राह्मण, आओ ! ' यह वह देवों और ब्राह्मणों से कहता है, क्योंकि इन्हीं देवों और ब्राह्मणों की उसको आवश्यकता है ॥२०॥

अब प्रतिप्रस्थाता शाला के आगे अग्नि और सोम के पशु को लाता है । जो दीक्षा लेता है वह अपने-आपको अग्नि और सोम को डाढ़ों में रख देता है । दीक्षा की हवि वस्तुतः अग्नि और विष्णु की होती है । जो विष्णु है वही सोम है । हवि वही है जो दीक्षा लेता है । इस प्रकार उन्होंने उसको डाढ़ों में दबा लिया है और इस पशु के द्वारा ही उसका छुटकारा होता है ॥२१॥

कुछ लोग आहवनीय में से जलती लकड़ी निकाल लाते हैं यह कहते हुए, 'यह अग्नि है, यह सोम है । इन्हीं दोनों के सहारे हमारा उद्धार होगा ।' परन्तु ऐसा नहीं करना चाहिए । जहाँ कहीं वे हों वे साथ ही होते हैं ॥२२॥

वै द्विरूपो भवति । द्विदेवत्यो हि भवति देवतयोस्समदे कृष्णसारंग स्यादित्याहुरेतद्ध्येनयो रूपतममिवेति यदि कृष्णसारंगं न विन्देद्योऽअपि लोहितसारंग स्यात् ॥२३॥ तस्मिन्वाचयति । नमो मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे महो देवाय तदृतꣳ सपर्यत । दूरे दृशे देवजाताय केतवे दिवस्पुत्राय सूर्याय शꣳसतेति नम एवास्माऽएतत्करोति मित्रधेयमेवैनेनैतत्कुरुते ॥२४॥ अथाध्वर्युरारोहणं विमुञ्चति । वरुणस्योत्तम्भनमसीत्युपस्तम्भनेनोपस्तभ्नाति वरुणस्य स्कम्भसर्जनी स्थ इति शम्येऽउद्वृहति स यदाह वरुणस्य स्कम्भसर्जनी स्थ इति वरुण्यो ह्येष एतर्हि भवति यत्सोमः क्रीतः ॥२५॥ अथ चत्वारो राजासन्दीमाददते । द्वौ वाऽअस्मै मानुषाय राज्ञऽआददातेऽथैतां चत्वारो योऽस्य सकृत्सर्वस्येष्टे ॥२६॥ औदुम्बरी भवति । अन्नं वाऽऊर्गुदुम्बर ऊर्जोऽन्नाद्यस्यावरुद्ध्यै तस्मादौदुम्बरी भवति ॥२७॥ नाभिदघ्ना भवति । अत्र वाऽअन्नं प्रतितिष्ठत्यन्नꣳ सोमस्तस्मान्नाभिदघ्ना भवत्यत्रोऽएव रेतस आशयो रेतः सोमस्तस्मादत्रदघ्ना भवति ॥२८॥ तामभिमृशति । वरुणस्यऽऋतसदन्यसीत्यथ कृष्णाजिनमास्तृणाति वरुणस्यऽऋतसदनमसीत्यथैनमासादयति वरुणस्यऽऋतसदनमासीदेति स यदाह वरुणस्यऽऋतसदनमासीदेति वरुण्यो ह्येष एतर्हि भवति ॥२९॥ अथैनꣳ शालां प्रपादयति । स प्रपादयन्वाचयति या ते धामानि हविषा यजन्ति ता ते विश्वा परिभूरस्तु यज्ञम् । गयस्फानः प्रतरणः सुवीरोऽवीरहा प्रचरा सोम दुर्यानिति गृहा वै दुर्या गृहान्नः शिवः शान्तोऽपापकृत्प्रचरेत्येवैतदाह ॥३०॥ अत्र हैके । उदपात्रमुपनिनयन्ति यथा राज्ञऽआगतायोदकमाहरेदेवमेतदिति वदन्तस्तदु तथा न कुर्यान्मानुषꣳ ह ते यज्ञे कुर्वन्ति व्यृद्धं वै तद्यज्ञस्य यन्मानुषं नेद्व्यृद्धं यज्ञे करवाणीति तस्मान्नोपनिनयेत् ॥३१॥ ब्राह्मणम् ॥१ [३.४]॥ तृतीयोऽध्यायः [१८] ॥ ॥

शिरो वै यज्ञस्यातिथ्यं बाहू प्रायणीयोदयनीयौ । अभितो वै शिरो बाहू भ-

पशु दो रूप का होता है, क्योंकि दो देवताओं का होता है। कुछ का कथन है कि इन दोनों का मेल करने के लिए कृष्ण सारंग होना चाहिए, क्योंकि यही उन दोनों देवताओं के समानतम है। यदि कृष्ण-सा रंग न मिले तो लोहित सारंग (लाल धब्बेवाला) होना चाहिए ॥२३॥

अब यह मन्त्र पढ़वाता है—"नमो मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे महो देवाय तदृतँ सपर्यत। दूरेदृशे देवजाताय केतवे दिवस्पुत्राय सूर्याय शँसत" (यजु० ४।३५)—"मित्र और वरुण की आँख के लिए नमस्कार। बड़े देव के लिए इस पूजा को करो। इस दूरदर्शी देवोत्पन्न, केतु, द्यौ के पुत्र, सूर्य के लिए प्रशंसा करो।" इस प्रकार पशु की अर्चना करता है और उसकी मित्रता का चिह्न बनाता है ॥२४॥

अब अध्वर्यु कपड़े को कटाता है। "वरुणस्योत्तम्भनमसि" (यजु० ४।३६)—"वरुण का खम्भा है तू।" इससे गाड़ी में खम्भा लगाता है। "वरुणस्य स्कम्भसर्जनी स्थः" (यजु० ४।३६)—"तुम दोनों वरुण की खूँटी हो।" इससे खूँटियाँ निकालता है। 'वरुण की तुम दोनों खूँटियाँ हो' इसलिए कहता है कि सोम ही अब वरुण है ॥२५॥

अब चार आदमी सोम राजा के तख्त को उठाते हैं। मनुष्य राजा के तख्त को दो आदमी उठाते हैं। सोम राजा के तख्त को चार उठाते हैं क्योंकि यह सबके ऊपर है ॥२६॥

यह तख्त उदुम्बर की लकड़ी का होता है, उदुम्बर रस और अन्न है। रस और अन्न के लिए। इसलिए यह उदुम्बर की लकड़ी का होता है ॥२७॥

यह नाभि के बराबर ऊँचा होता है। क्योंकि नाभि तक ही अन्न पहुँचता है। सोम अन्न है, इसलिए यह नाभि के बराबर ऊँचा होता है। यहीं वीर्य रहता है, सोम वीर्य है। इसलिए नाभि के बराबर होता है ॥२८॥

अब वह तख्त को छूता है यह पढ़कर—'वरुणस्य ऽ ऋतसदन्यसि' (यजु० ४।३६)—"तू वरुण की उचित बैठक है।" अब वह उस पर काला मृग-चर्म बिछाता है यह पढ़कर—"वरुणस्य ऋतसदनमासीद"(४।३६)—"वरुण के उचित स्थान पर बैठ।" सोम अब वरुण जैसा हो गया। इसलिए कहा 'वरुण के उचित स्थान पर बैठ' ॥२९॥

अब सोम को शाला में ले जाता है। और ले जाते हुए यजमान से यह कहलवाता है—"या ते धामानि हविषा यजन्ति ता ते विश्वा परिभूरस्तु यज्ञम्। गयस्फानः प्रतरणः सुवीरोऽवीरहा प्रचरा सोम दुर्यान्" (यजु० ४।३७)—"हवि से ये लोग तेरे जिन धामों की अर्चना करें वे सब धाम यज्ञ को चारों ओर से घेर लें। हे सोम, हमारे घरों में आ जा!" गृहस्थ की सम्पत्ति को देनेवाला, आपत्तियों का भगानेवाला, वीर और वीरों का हनन न करनेवाला, (ये चार विशेषण सोम के हैं) 'दुर्यान्' का अर्थ है घर। इसके कहने का तात्पर्य यह है कि हमारे घर शुभ और शान्त तथा पापरहित होवें ॥३०॥

कुछ लोग जल के पात्र से जल उँडेलते हैं और कहते हैं कि जब राजा आता है तो उसके लिए भी जल-सिंचन किया जाता है; परन्तु ऐसा न करे। यह तो मानुषी क्रिया है, यज्ञ में मानुषी क्रिया करना ठीक नहीं। इसलिये जल-सिंचन न करे, क्योंकि ऐसा करना अनुचित है ॥३१॥

अध्याय ४—ब्राह्मण १

आतिथ्य (मेहमान का सत्कार) यज्ञ का सिर है। प्रायणीय और उदयनीय बाहू हैं।

वतस्तस्मादभित आतिथ्यमेते हविषी भवतः प्रायणीयश्चोदयनीयश्च ॥१॥ अथ यस्मादातिथ्यं नाम । अतिथिर्वाऽएष एतस्यागच्छति यत्सोमः क्रीतस्तस्माऽएतद्यथा राज्ञे वा ब्राह्मणाय वा महोक्षं वा महाजं वा पचेत्तदह मानुषꣳ हविर्देवानामेवमस्माऽएतदातिथ्यं करोति ॥२॥ तदाहुः । पूर्वोऽतीत्य गृह्णीयादिति यत्र वाऽअर्हन्तमागतं नापचायन्ति क्रुध्यति वै स तत्र तथा हापचितो भवति ॥३॥ तद्वाऽअन्यतर एव विमुक्तः स्यात् । अन्यतरोऽविमुक्तोऽथ गृह्णीयात्स यदन्यतरो विमुक्तस्तेनागतो यद्वन्यतरोऽविमुक्तस्तेनापचितः ॥४॥ तत्तु तथा न कुर्यात् । विमुच्यैव प्रपाद्य गृह्णीयाद्यथा वै देवानां चरणं तद्वाऽअनु मनुष्याणां तस्मान्मानुषे यावन्न विमुञ्चते नैवास्मै तावदुदकꣳ हरन्ति नापचितिं कुर्वन्त्यनागतो हि स तावद्भवत्यथ यदैव विमुञ्चतेऽथास्माऽउदकꣳ हरन्त्यथापचितिं कुर्वन्ति तर्हि हि स आगतो भवति तस्माद्विमुच्यैव प्रपाद्य गृह्णीयात् ॥५॥ स वै संवरमाण-इव गृह्णीयात् । तथा हापचितो भवति तत्पत्न्यन्वारभते पर्युह्यमाणं वै यजमानोऽन्वारभतेऽथात्र पत्न्युभयत एवैतन्मिथुनेनान्वारभेते यत्र वाऽअर्हन्नागच्छति सर्वगृह्या-इव वै तत्र चेष्टन्ति तथा हापचितो भवति ॥६॥ स वाऽअन्येनैव ततो यजुषा गृह्णीयात् । येनो चान्यानि हवीꣳष्येकं वाऽएष भागं क्रीयमाणोऽभिक्रीयते छन्दसामेव राज्याय छन्दसाꣳ साम्राज्याय तस्य छन्दाꣳस्यभितः साचयानि यथा राज्ञोऽराजानो राजकृतः सूतग्रामण्य एवमस्य छन्दाꣳस्यभितः साचयानि ॥७॥ न वै तदवकल्पते । यच्छन्दोभ्य इति केवलं गृह्णीयाद्यत्र वाऽअर्हते पचन्ति तदभितः साचयोऽन्वाभक्ता भवन्त्यराजानो राजकृतः सूतग्रामण्यस्तस्माद्यत्रैवैतस्यै गृह्णीयात्तदेव छन्दाꣳस्यन्वाभजेत् ॥८॥ स गृह्णाति । अग्नेस्तनूरसि विष्णवे त्वेत्यग्निर्वै गायत्री तद्गायत्रीमन्वाभजति ॥९॥ सोमस्य तनूरसि विष्णवे त्वेति । क्षत्रं वै सोमः क्षत्रं त्रिष्टुप्तत्त्रिष्टुभमन्वाभजति ॥१०॥ अतिथेरातिथ्यमसि विष्णवे त्वेति ।

सिर के दोनों ओर बाहू होते हैं। इसलिये प्रायणीय और उदयनीय आहुतियाँ आतिथ्य के दोनों ओर होती हैं ॥१॥

यह आतिथ्य नाम यों पड़ा। यह जो खरीदा गया सोम है वह यजमान के पास अतिथि के रूप में आता है। जैसे राजा या ब्राह्मण के सत्कारार्थ [साथ आए] महोक्ष (बड़े बैल) या महाज (बड़े बकरे) को पकाते (पोषित करते) हैं, यह मानुषी सत्कार होता है, इसी प्रकार देवताओं के लिए हवि दी जाती है, इसलिए आतिथ्य-सत्कार किया जाता है। (सम्भव है 'महोक्ष' और 'महाज' किन्हीं भोजनविशेष के नाम हों) ॥२॥

इस पर कहते हैं कि पहले सोम के पास जाये, तब आतिथ्य की सामग्री निकाले। जब कोई अर्हन्त आता है और उसका कोई आदर नहीं करते तो वह क्रुद्ध हो जाता है। इस प्रकार सोम का सत्कार किया जाता है ॥३॥

उन (गाड़ी के बैलों) में से एक को मुक्त कर दे (जुआ खोल दे) और दूसरे को नहीं। एक को विमुक्त करने का अर्थ यह हुआ कि सोम आ गया, और दूसरे को न छोड़ने का अर्थ यह हुआ कि उसका सत्कार किया गया। (युक्ति हमारी समझ में नहीं आई—अनुवादक) ॥४॥

परन्तु ऐसा न करना चाहिए। दोनों बैलों को खोलने और शाला में सोम के आने के पश्चात् सामग्री निकाले। जैसा देवों का चलन होता है वैसा ही मनुष्यों का। मनुष्यों में चलन यह होता है जब आगन्तुक बैल खोल देता है और भीतर आ जाता है तभी पानी लाते हैं और सत्कार करते हैं, क्योंकि तभी वह 'आया हुआ' समझा जाता है। इसी प्रकार बैल खोलकर और सोम को भीतर लाकर ही सामग्री इकट्ठी करे ॥५॥

इसमें शीघ्रता करनी चाहिए। सत्कार की यही रीति है। एक ओर से पत्नी आरम्भ करती है और दूसरी ओर से यजमान। इस प्रकार सोम के दोनों ओर पति और पत्नी लगते हैं। जब कोई अर्हन्त आता है तो सभी मिलकर सत्कार करते हैं। इसी प्रकार चेष्टा करते हैं और इसी प्रकार सत्कार किया जाता है ॥६॥

इस सामग्री को भिन्न यजुः से ग्रहण करे; उसी से नहीं जिससे अन्य हवियाँ ग्रहण की जाती हैं। क्योंकि जब सोम खरीदा जाता है तो विशेष कार्य के लिए खरीदा जाता है अर्थात् छन्दों के राज्य के लिए, छन्दों के साम्राज्य के लिए। छन्द सोम के परिचारक (सेवक) होते हैं। जैसे सूत या ग्रामीण लोग जो राजा नहीं हैं राजा के सेवक होते हैं, इसी प्रकार छन्द भी सोम के परिचारक होते हैं ॥७॥

ऐसा न चाहिए कि केवल छन्दों के लिए ही सामग्री ग्रहण करे। जब किसी अर्हन्त के लिए भोजन बनाते हैं तो जो उसके साथी सूत या ग्रामीण मनुष्य हैं, उनको भी राजा के साथ-साथ खाना देते हैं। इसी प्रकार जब सोम के सत्कार की सामग्री इकट्ठी करे तो छन्दों के लिए भी भाग निकाले ॥८॥

इस मन्त्र से ग्रहण करे—"अग्नेस्तनूरसि विष्णवे त्वा" (यजु० ५।१)—"तू अग्नि का शरीर है। विष्णु के लिए तुझको।" अग्नि गायत्री है। इस प्रकार गायत्री को उसका भाग मिलता है ॥९॥

"सोमस्य तनूरसि विष्णवे त्वा" (यजु० ५।१)–"सोम का तू शरीर है। विष्णु के लिए तुझको।" सोम क्षत्र है। क्षत्र त्रिष्टुभ् है। इसलिये त्रिष्टुभ् का सत्कार किया जाता है ॥१०॥

"अतिथेरातिथ्यमसि विष्णवे त्वा" (यजु० ५।१)–"अतिथि का आतिथ्य है तू। तुझको

सोऽस्योद्धारो यथा श्रेष्ठस्योद्धार एवमस्यैषऽऋते छन्दोभ्यः ॥११॥ श्येनाय त्वा सोमभृते विष्णवे वेति । तद्गायत्रीमन्वाभजति सा यद्गायत्री श्येनो भूत्वा दिवः सोममाहरत्तेन सा श्येनः सोमभृत्तेनैवैनामेतद्वीर्येण द्वितीयमन्वाभजति ॥१२॥ अग्नये त्वा रायस्पोषदे विष्णवे वेति । पशवो वै रायस्पोषः पशवो जगती तज्जगतीमन्वाभजति ॥१३॥ अथ यत्पञ्च कृत्वो गृह्णाति । संवत्सरसंमितो वै यज्ञः पञ्च वाऽऋतवः संवत्सरस्य तं पञ्चभिराप्नोति तस्मात्पञ्च कृत्वो गृह्णात्यथ यद्विष्णवे त्वा विष्णवे वेति गृह्णाति विष्णवे हि गृह्णाति यो यज्ञाय गृह्णाति ॥१४॥ नवकपालः पुरोडाशो भवति । शिरो वै यज्ञस्यातिथ्यं नवाक्षरा वै गायत्र्यष्टौ तानि यान्यन्वाह प्रणवो नवमः पूर्वार्धो वै यज्ञस्य गायत्री पूर्वार्ध एष यज्ञस्य तस्मान्नवकपालः पुरोडाशो भवति ॥१५॥ कार्ष्मर्यमयाः परिधयः । देवा ह वाऽएतं वनस्पतिषु रक्षोघ्नं ददृशुर्यत्कार्ष्मर्यꣳ शिरो वै यज्ञस्यातिथ्यं नेच्छिरो यज्ञस्य नाष्ट्रा रक्षाꣳसि हिनसन्निति तस्मात्कार्ष्मर्यमयाः परिधयो भवन्ति ॥१६॥ आश्ववालः प्रस्तरः । यज्ञो ह देवेभ्योऽपचक्राम सोऽश्वो भूत्वा पराङाववर्त तस्य देवा अनुहाय वालानभिपेदुस्तानालुलुपुस्तानालुप्य सार्धꣳ संन्यासुस्तत एता ओषधयः समभवन्यदश्ववालाः शिरो वै यज्ञस्यातिथ्यं जघनार्धो वाला उभयत एवैतद्यज्ञं परिगृह्णाति यदाश्ववालः प्रस्तरो भवति ॥१७॥ ऐक्षव्यौ विधृती । नेद्बर्हिश्च प्रस्तरश्च संलुभ्यात इत्यथोत्पूयाज्यꣳ सर्वाण्येव चतुर्गृहीतान्याज्यानि गृह्णाति न ह्यत्रानुयाजा भवन्ति ॥१८॥ आसाद्य हवीꣳष्यग्निं मन्थति । शिरो वै यज्ञस्यातिथ्यं जनयन्ति वाऽएनमेतद्यन्मन्थन्ति शीर्षतो वाऽअग्रे जायमानो जायते शीर्षत एवैतदग्रे यज्ञं जनयत्यग्निर्वै सर्वा देवता अग्नौ हि सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुह्वति शिरो वै यज्ञस्यातिथ्यꣳ शीर्षत एवैतद्यज्ञꣳ सर्वाभिर्देवताभिः समर्धयति तस्मादग्निं मन्थति ॥१९॥ सोऽधिमन्थनꣳ शकलमादत्ते । अग्नेर्जनित्रमसीत्यत्र ह्यग्निर्जायते

विष्णु के लिए।" यह उस (सोम) का भाग है। जैसे राजा का भाग अलग होता है, इसी प्रकार छन्दों से अतिरिक्त यह सोम का भाग है ॥११॥

"श्येनाय त्वा सोमभृते विष्णवे त्वा" (यजु० ५।१)—"तुझे सोम लानेवाले श्येन के लिए। तुझे विष्णु के लिए।" इस प्रकार गायत्री का भाग देता है, क्योंकि गायत्री श्येन होकर द्यौलोक से सोम लाई। इसलिए गायत्री को सोम लानेवाला 'श्येन' कहते हैं। इस पराक्रम के लिए उसको दूसरा भाग देता है ॥१२॥

"अग्नये त्वा रायस्पोषदे विष्णवे त्वा" (यजु० ५।१)—"अग्नि के लिए तुझको, धन और पुष्टि के देनेवाले के लिए तुझको, विष्णु के लिए तुझको।" 'रायस्पोष' से यहाँ पशु से तात्पर्य है। पशु जगती हैं। इस प्रकार जगती का भाग देता है ॥१३॥

पंचगुना इसलिये लेता है कि यज्ञ संवत्सर के तुल्य है। संवत्सर में ऋतुएँ पाँच होती हैं। संवत्सर के पाँच भाग हैं। इसलिए वह पंचगुना लेता है। 'विष्णु के लिए तुझको, विष्णु के लिए तुझको' यह कहकर वह सामग्री इसलिए लेता है कि जो चीज यज्ञ के लिए ली जाती है वह विष्णु के लिए ही ली जाती है ॥१४॥

पुरोडाश के नौ कपाल होते हैं। आतिथ्य यज्ञ का शिर है। गायत्री में नौ अक्षर होते हैं। आठ तो वे हैं जो पढ़े जाते हैं और नवाँ प्रणव (ओ३म्) है। गायत्री यज्ञ का पूर्वार्ध है। पुरोडाश भी यज्ञ का पूर्वार्ध है। इसलिए उसमें नौ कपाल होते हैं ॥१५॥

परिधि की समिधाएँ कार्ष्मर्य लकड़ी की होती हैं। देवताओं ने अनुभव किया कि वृक्षों में यह वृक्ष राक्षसों का घातक है। आतिथ्य यज्ञ का सिर है। परिधियाँ कार्ष्मर्य की इसलिये होती हैं कि राक्षस यज्ञ के सिर को हानि न पहुँचा सकें ॥१६॥

प्रस्तर आश्ववाल घास का होता है। एक बार यज्ञ देवताओं के पास से भाग गया। वह घोड़ा बनकर भाग गया। देवों ने उसका पीछा किया और पूंछ के बाल तोड़ डाले, और उनको तोड़कर एक जगह फेंक दिया। उसकी अश्वबाल घास उग खड़ी हुई। आतिथ्य यज्ञ का सिर है और पूंछ के बाल पिछला भाग होते हैं। इस प्रकार अश्वबाल का प्रस्तर होने से वह यज्ञ को दोनों ओर से घेर लेता है ॥१७॥

विधृतियाँ (बर्हि के ऊपर रखने के डंठल) गन्ने की होती हैं जिससे बर्हि और प्रस्तर मिल न जायँ। घी को शुद्ध करके सब-का-सब चार भागों में ले लेवे, क्योंकि इसमें अनुयाज नहीं होते ॥१८॥

हवियों को रखकर अग्नि का मंथन करता है। आतिथ्य यज्ञ का शिर है। अग्नि के मन्थन का अर्थ यह है कि यज्ञ को उत्पन्न किया जाय। जब बच्चा उत्पन्न होता है तो सिर की ओर से उत्पन्न होता है, इस प्रकार वह यज्ञ को सिर की ओर से उत्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त अग्नि 'सब देवता' के अर्थ में आता है; अग्नि में सब देवताओं के लिए आहुति दी जाती है। 'आतिथ्य यज्ञ का सिर है' इस प्रकार सब देवताओं के द्वारा वह यज्ञ को सिर अर्थात् आरम्भ से ही बढ़ाता है। इसलिये अग्नि का मंथन करता है ॥१९॥

अब अधिमंथन शकल को लेता है। (अधिमंथन शकल एक लकड़ी का टुकड़ा होता है जो अधरारणि के ऊपर रक्खा जाता है।) इस मन्त्र से—"अग्नेर्जनित्रमसि" (यजु० ५।२)—"तू अग्नि का जन्म-स्थान है।" क्योंकि यहीं तो अग्नि उत्पन्न की जाती है। इसलिए कहा कि 'तू

तस्मादाहाग्नेर्जनित्रमसीति ॥२०॥ अथ दर्भतरुणके निदधाति । वृषणौ स्थ इति तद्यावेवेमौ स्त्रियै साकंजावेतावेवैतौ ॥२१॥ अथाधरारणिं निदधाति । उर्वश्यसीत्यथोत्तरारण्याज्यविलापनीमुपस्पृशत्यायुरसीति तामभिनिदधाति पुरूरवा असीत्युर्वशी वाऽअप्सराः पुरूरवाः पतिरथ यत्तस्मान्मिथुनादजायत तदायुरेवमेवैष एतस्मान्मिथुनाद्यज्ञं जनयत्यथाहाग्नये मथ्यमानायानुब्रूहीति ॥२२॥ स मन्थति । गायत्रेण त्वा छन्दसा मन्थामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा मन्थामि जागतेन त्वा छन्दसा मन्थामीति तं वै छन्दोभिरेव मन्थति छन्दाᳪसि मथ्यमानायान्वाह छन्दाᳪस्येवैतद्यज्ञमन्वायातयति यथामुमादित्यᳪ रश्मयो जातायानुब्रूहीत्याह यदा जायते प्रह्रियमाणायेत्यनुप्रहरन् ॥२३॥ सोऽनुप्रहरति । भवतं नः समनसौ सचेतसावरेपसौ । मा यज्ञᳪ हिᳪसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य न इति शान्तिमेवाभ्यामेतद्वदति यथा नान्योऽन्यᳪ हिᳪस्याताम् ॥२४॥ अथ स्रुवेणोपहत्याज्यम् । अग्निमभिजुहोत्यग्नावग्निश्चरति प्रविष्ट ऋषीणां पुत्रोऽअभिशस्तिपावा । स नः स्योनः सुयजा यजेह देवेभ्यो हव्यᳪ सदमप्रयुच्छन्त्स्वाहेत्याहुत्यै वाऽएतमजीजनत तमेतयाहुत्याप्रैषीत्तस्मादेवमभिजुहोति ॥२५॥ तदिडान्तं भवति । नानुयाजान्यजन्ति शिरो वै यज्ञस्यातिथ्यं पूर्वार्धो वै शिरः पूर्वार्धमेवैतद्यज्ञस्याभिसᳪस्करोति स यद्धानुयाजान्यजेद्यथा शीर्षतः पर्याहृत्य पादौ प्रतिदध्यादेवं तत्तस्मादिडान्तं भवति नानुयाजान्यजन्ति ॥२६॥ ब्राह्मणम् ॥ २ [४. १] ॥ ॥

आतिथ्येन वै देवा इष्ट्वा । तान्त्समदविन्दत्ते चतुर्धा व्यद्रवन्नन्योऽन्यस्य श्रियाऽअतिष्ठमाना अग्निर्वसुभिः सोमो रुद्रैर्वरुण आदित्यैरिन्द्रो मरुद्भिर्बृहस्पतिर्विश्वैर्देवैरित्यु हैकऽआहुरेते ह त्वेव ते विश्वे देवा ये ते चतुर्धा व्यद्रवंस्तान्विद्रुतानसुररक्षसान्यनुव्यवेयुः ॥१॥ तेऽविदुः । पापीयाᳪसो वै भवामोऽसुररक्षसानि वै नोऽनुव्यवागुर्द्विषद्भ्यो वै रध्यामो हन्त संजानामहाऽएकस्य श्रियै तिष्ठामहा

अग्नि का जन्म-स्थान है' ॥२०॥

अब वह दो दर्भ के डंठल रखता है, यह मन्त्र पढ़कर—"वृषणौ स्थ" (यजु० ५।२)—"तुम नर हो।" यहाँ ये इसी प्रकार हैं जैसे किसी स्त्री के दो बच्चे एक-साथ उत्पन्न हुए हों ॥२१॥

अब वह अधरारणि (नीचे की लकड़ी) को रखता है यह मन्त्र पढ़कर—"उर्वश्यसि" (यजु० ५।२)—"तू उर्वशी है।" अब वह घी की थाली को उत्तरारणि (ऊपर की लकड़ी) से छूता है, यह मन्त्र कहकर—"आयुरसि" (यजु० ५।२)—"तू आयु है।" और उसको (अधरारणि के ऊपर) रख देता है यह कहकर—"पुरूरवाऽअसि" (यजु० ५।२)—"तू पुरूरवा है।" उर्वशी अप्सरा थी और 'पुरूरवा' उसका पति था, और उनके जोड़े से जो लड़का उत्पन्न हुआ वह 'आयु' था। इसी प्रकार वह यज्ञ को जोड़े से उत्पन्न करता है। अब वह (होता से) कहता है कि मथी जानेवाली आग से प्रार्थना कर ॥२२॥

अब वह आग का मंथन करता है यह पढ़कर—"गायत्रेण त्वा छन्दसा मन्थामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा मन्थामि जागतेन त्वा छन्दसा मन्थामि' (यजु० ५।२)—"तुझे गायत्री छन्द से मथता हूँ, त्रिष्टुभ् छन्द से मथता हूँ, जगती छन्द से मथता हूँ।" अग्नि को छन्दों से मथता है, या मथ जाती हुई अग्नि के लिए मन्त्र पढ़ता है। इस प्रकार वह छन्दों को यज्ञ से संयुक्त कर देता है जैसे किरणें उस सूर्य से संयुक्त होती हैं। फिर कहता है 'इस उत्पन्न हुए के लिए मन्त्र पढ़ो।' जब उसको 'आहवनीय' पर डालता है तो कहता है, 'डाले हुए के लिए मन्त्र पढ़ो' ॥२३॥

वह अग्नि को इस मन्त्र से (वेदी में) डालता है—"भवतं नः समनसौ सचेतसावरेपसौ। सा यज्ञँ हिँसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः" यजु० ५।३)—"हमारे लिए तुम एक मनवाली, एक बुद्धिवाली और पापरहित हो जाओ। यज्ञ को हानि न पहुँचाओ। यज्ञपति को हानि न पहुँचाओ। हे दोनों जातवेद अग्नियो! आज हमारे लिए कल्याणकारी हो जाओ।" दोनों की शान्ति के लिए वह ऐसा कहता है जिससे एक-दूसरे को हानि न पहुँचा सकें ॥२४॥

अब स्रुवा से घी लेकर इस मन्त्र से अग्नि में छोड़ता है—"अग्नावग्निश्चरति प्रविष्टऽऋषीणां पुत्रोऽअभिशस्तिपावा। स नः स्योनः सुयजा यजेह देवेभ्यो हव्यँ सदमप्रयुच्छन्त्स्वाहा।" (यजु० ५।४)—"ऋषियों का पुत्र पाप से बचानेवाले अग्नि (आहवनीय अग्नि) में प्रविष्ट होकर चलता है। वह अग्नि हमारे लिए सुखकर होकर अच्छे प्रकार यज्ञ करे, देवताओं के लिए हवि को कभी वंचित न करते हुए।" आहुति के लिए अग्नि को उत्पन्न किया और आहुति से ही उसको प्रसन्न किया। इसलिए उसमें यह आहुति देता है ॥२५॥

अन्त में इसमें इडा आती है। इसके पीछे अनुयाज नहीं होते। आतिथ्य यज्ञ का सिर है। सिर पूर्वार्ध होता है। उसको यज्ञ का पूर्वार्द्ध करके संस्कृत करता है। यदि वह अनुयाज को करता तो सिर की जगह पैर कर देता। इसलिए अन्त में इडा आती है और अनुयाज नहीं होता ॥२६॥

अध्याय ४—ब्राह्मण २

जब देवताओं ने आतिथ्य कर लिया तो उनमें झगड़ा हो गया। वे चार भागों में बँट गये और एक-दूसरे की महत्ता को स्वीकार नहीं करते थे। कहते हैं कि अग्नि वसुओं के साथ हुआ, सोम रुद्रों के, वरुण आदित्यों के, इन्द्र मरुतों के और बृहस्पति विश्वेदेवों के, परन्तु ये जो चार भागों में बँटे वे 'विश्वेदेव' ही थे। जब वे अलग-अलग हो गये तो असुर राक्षस उनके बीच में आ घुसे ॥१॥

उनको मालूम हो गया—'अरे हम पापी हो गये, असुर राक्षस हमारे बीच में आ घुसे हैं, शत्रु अवश्य हमको विध्वंस कर देंगे· आओ, हम अपने में से एक की महत्ता स्वीकारकर लें।' तब

ऽइति तऽइन्द्रस्य श्रियाऽअतिष्ठन्त तस्मादाहुरिन्द्रः सर्वा देवता इन्द्रश्रेष्ठा देवा इति ॥२॥ तस्मादु ह न स्वा अर्तीयेरन् । य एषां परस्तरामिव भवति स एनाननुव्यवैति ते प्रियं द्विषतां कुर्वन्ति द्विषद्भ्यो रध्यन्ति तस्मान्नऽर्तीयेरन्त्स यो हैवं विद्वान्नऽर्तीयतेऽप्रियं द्विषतां करोति न द्विषद्भ्यो रध्यति तस्मान्नऽर्तीयेत ॥३॥ ते होचुः । हन्तेदं तथा करवामहै यथा न इदमाप्रदिवमेवाजर्यमसदिति ॥४॥ ॥ शतम् १७०० ॥ ॥ ते देवाः । जुष्टास्तनूः प्रियाणि धामानि सार्धꣳ समवददिरे ते होचुरेतेन नः स नानासदेतेन विष्वङ्ग्यो न एतदतिक्रामादिति कस्योपद्रष्टुरिति तनूनप्तुरेव शाक्वरस्येति यो वाऽअयं पवतऽएष तनूनपाच्छाक्वरः सोऽयं प्रजानामुपद्रष्टा प्रविष्टस्ताविमौ प्राणोदानौ ॥५॥ तस्मादाहुः । मनो देवा मनुष्यस्याजानन्तीति मनसा संकल्पयति तत्प्राणमपिपद्यते प्राणो वातं वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुषस्य मनः ॥६॥ तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम् । मनसा संकल्पयति तद्वातमपिगच्छति । वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुष ते मन इति ॥७॥ ते देवाः । जुष्टास्तनूः प्रियाणि धामानि सार्धꣳ समवददिरे ते होचुरेतेन नः स नानासदेतेन विष्वङ्ग्यो न एतदतिक्रामादिति तद्देवा अप्येतर्हि नातिक्रामन्ति के हि स्युर्यदतिक्रामेयुरनृतꣳ हि वदेयुरेकꣳ ह वै देवा व्रतं चरन्ति सत्यमेव तस्मादेषां जितमनपजय्यं तस्माद्यश एवꣳ ह वाऽअस्य जितमनपजय्यमेवं यशो भवति य एवं विद्वान्त्सत्यं वदति तदेतत्तानूनप्त्रं निदानेन ॥८॥ ते देवाः । जुष्टास्तनूः प्रियाणि धामानि सार्धꣳ समवददिरेऽथैतऽआज्यान्येव गृह्णाना जुष्टास्तनूः प्रियाणि धामानि सार्धꣳ समवद्यन्ते तस्मादु ह न सर्वेणेव समभ्यवेयान्नेन्मे जुष्टास्तन्वः प्रियाणि धामानि सार्धꣳ समभ्यवायानिति येनो ह समभ्यवेयान्नास्मै द्रुह्येदिदꣳ ह्याहुर्न सतानूनप्त्रिणे द्रोग्धव्यमिति ॥९॥ अथातो गृह्णात्येव । आपतये त्वा परिपतये गृह्णामीति यो वाऽअयं पवतऽएष आ च पतति परि च प-

उन्होंने इन्द्र की श्रेष्ठता मान ली, इसलिए इन्द्र ही सर्व-देवता है। इन्द्र ही को देवों ने श्रेष्ठ माना है ।।२।।

इसलिए आपस में झगड़ना नहीं चाहिए। क्योंकि इनका कोई (शत्रु) दूर भी होता है तो इनमें घुस आता है, और शत्रु को जो प्रिय होता है वे उसी को करने लगते हैं, और शत्रु उनका विध्वंस कर देता है। इसलिए झगड़ा नहीं करना चाहिए। जिसको इसका ज्ञान है वह झगड़ता नहीं और वही करता है जो शत्रु को अप्रिय होता है, और शत्रु उसका नाश नहीं कर सकता; इसलिए झगड़ा नहीं करना चाहिए ।।३।।

तब उन्होंने कहा कि ऐसी बात करनी चाहिए कि यह हमारी मैत्री अजर-अमर हो जाय और कभी नष्ट न हो ।।४।। [शतम् १७००]

उन दोनों ने अपने प्रिय शरीरों और धामों को एकत्र कर लिया अर्थात् अपनी शक्तियों को संयुक्त किया और कहने लगे कि हमारी इस सन्धि का हममें से जो कोई उल्लङ्घन करेगा वही नाश को प्राप्त हो जायेगा। इसका उपद्रष्टा (गवाह) कौन है? 'बलवान् तनूनपात्।' यह जो बहता है अर्थात् वायु, वही बलवान् तनूनपात् है। यही प्रजाओं का उपद्रष्टा (गवाह) है क्योंकि यह प्राण और उदान होकर घुसता है ।।५।।

इसीलिए कहा है—'देव मनुष्यों के मन की बात जानते हैं।' जो संकल्प मन में उठता है वह प्राण तक आता है, प्राण से वायु तक, वायु देवताओं को बता देता है कि मनुष्य के मन में क्या है ।।६।।

यही बात है जो ऋषि ने कही थी—'जो मन में संकल्प होता है वह वायु को पहुँच जाता है, वायु देवताओं से कह देता है कि इस पुरुष के मन में यह है।' (प्रतीत होता है कि यहाँ वायु का अर्थ है वात-संस्थान या Nervous System और देवों का इन्द्रियाँ। मन के संकल्प Nervous System के द्वारा इन्द्रियों तक आते हैं यह एक स्पष्ट बात है) ।।७।।

देवों ने अपने प्यारे शरीरों और धामों को (शक्तियों को) एकत्र कर लिया और उन्होंने कहा कि हममें से जो इस सन्धि का उल्लङ्घन करेगा वह हममें से निकल जायगा और उसका नाश हो जायगा। और अब भी देव इसका उल्लङ्घन नहीं करते। क्योंकि अगर वे उसका उल्लङ्घन करें तो उनकी क्या दशा हो! वे झूठे पड़ जायँ। देव एक ही व्रत पर चलते हैं, वह है सत्य। इसी से उनकी विजय होती है और कोई उनको जीत नहीं सकता। जो इस रहस्य को जानकर सत्य बोलता है उसकी जीत होती है, उसको कोई पराजित नहीं कर सकता। अब तनूनप्त्र यही व्रत है ।।८।।

देवों ने अपने प्यारे शरीर और धामों (शक्तियों) को संयुक्त कर लिया। घी की आहुतियों को ग्रहण करके ही वे अपने शरीरों और धामों को संयुक्त करते हैं। ऐसा न चाहिए कि हर किसी के साथ अपनी शक्तियाँ जोड़ दी जायँ, क्योंकि दूसरे का उन पर साझा हो जाता है। परन्तु जिसके साथ सन्धि करे उसका उल्लङ्घन न करे, क्योंकि कहा है कि 'जिसके साथ तनूनपात् सन्धि हो जाय उसके साथ द्रोह न करना चाहिए' ।।९।।

अब पहले इस मन्त्र से आज्य ग्रहण करता है—"आपतये त्वा परिपतये गृह्णामि" (यजु० ५।५)—"मैं तुझको उसके लिए लेता हूँ जो आगे को बहता है, जो चारों ओर बहता है (अर्थात् वायु)।" यह जो बहनेवाला वायु है वही 'आपतति' और 'परिपतित' अर्थात् आगे को

तत्येतस्माऽउ हि गृह्णाति तस्मादाहृापतये त्वा परिपतये गृह्णामीति ॥१०॥ तनूनप्त्रे शाक्वरायेति । यो वाऽअयं पवतऽएष तनूनप्ता शाक्वर एतस्माऽउ हि गृह्णाति तस्मादाह तनूनप्त्रे शाक्वरायेति ॥११॥ शक्मनऽओजिष्ठायेति । एष वै शक्मौजिष्ठ एतस्माऽउ हि गृह्णाति तस्मादाह शक्मनऽओजिष्ठायेति ॥१२॥ अथातः समवमृशन्त्येव । एतद्ध देवा भूयः समामिरऽइत्यं नः सोऽमुथासद्यो न एतदतिक्रामादिति तथोऽएवैतऽएतत्सममन्तऽइत्यं नः सोऽमुथासद्यो न एतदतिक्रामादिति ॥१३॥ ते समवमृशन्ति । अनाधृष्टमस्यनाधृष्यं देवानामोज इत्यनाधृष्टा हि देवा आसन्ननाधृष्याः सह सन्तः समानं वदन्तः समानं दधाणा देवानामोज इति देवानां वै जुष्टास्तन्वः प्रियाणि धामान्यनभिशस्त्यभिशस्तिपा अनभिशस्तेन्यमिति सर्वाᳪ हि देवा अभिशस्तिं तीर्णा अञ्जसा सत्यमुपगेषमिति सत्यं वदानि मेदमतिक्रमिषमित्येवैतदाह स्विते मा धा इति स्विते हि तद्देवा आत्मानमदधत यत्सत्यमवदन्यत्सत्यमकुर्वंस्तस्मादाह स्विते मा धा इति ॥१४॥ अथ यास्तद्देवाः । जुष्टास्तनूः प्रियाणि धामानि सार्धᳪ समवददिरे तदिन्द्रे संन्यदधतैष वाऽइन्द्रो य एष तपति न ह वाऽएषोऽग्रे तताप यथा हैवेदमन्यत्कृष्णमेवᳪ हैवास तेनैवैतद्वीर्येण तपति तस्माद्यदि बह्वो दीक्षेरन्गृहपतयऽएव व्रतमभ्युत्सिच्य प्रयच्छेयुः स हि तेषामिन्द्रभाजनं भवति यद्यु दक्षिणावता दीक्षेत यजमानायैव व्रतमभ्युत्सिच्य प्रयच्छेयुरिदᳪ ह्याङ्गुरिन्द्रो यजमान इति ॥१५॥ अथ यास्तद्देवाः । जुष्टास्तनूः प्रियाणि धामानि सार्धᳪ समवददिरे तत्सार्धᳪ संन्यध्न तत्सामाभवत्तस्मादाङुः सत्यᳪ साम द्वयᳪ सामेति ॥१६॥ ब्राह्मणम् ॥३ [४.२]॥ ॥

आतिथ्येन वै देवा इष्ट्वा । तान्त्समदविन्दत्ते तानूनप्त्रैः समशाम्यंस्तऽएतस्य प्रायश्चित्तिमैच्छन्यदन्योऽन्यं पापमवदन्नाह पुरावभृथात्पु दीक्षामवाकल्पयंस्तऽएतामवान्तरां दीक्षामपश्यन् ॥१॥ तेऽग्निनैव वचं विपल्याङ्गयन्त । तपो वाऽअ-

चलता है, चारों ओर चलता है। इसीलिए कहा कि 'आपतये त्वा' आदि ॥१०॥

"तनूनप्त्रे शाक्वराय" (यजु० ५।५)—"बलवान् तनूनप्तृ के लिए।" 'तनूनप्तृ शाक्वर' से तात्पर्य है वायु। यह आज्य उसी के लिए ग्रहण करता है, इसलिए कहा 'तनूनप्त्रे' इति॥११॥

"शक्वनऽओजिष्ठाय" (यजु० ५।५)—"शक्तिवाले और ओज के लिए।" वस्तुतः वही (वायु) शक्तिवाला और ओजवाला है। उसी के लिए वह ग्रहण करता है, इसलिए कहता है—'शक्वने' इति ॥१२॥

अब वे इसको छूते हैं। देवतागण इस बात पर एकमत हो गये थे कि जो हममें से इसका उल्लङ्घन करेगा उसकी यह गति होगी। इसी प्रकार यह होता और यजमान भी इस बात पर एकमत हो जाते हैं कि जो कोई हमसे से इसका उल्लङ्घन करेगा उसकी ऐसी गति होगी ॥१३॥

वे इस मन्त्र को बोलकर छूते हैं—"अनाधृष्ट मस्यनाधृष्यं देवानामोजः" (यजु० ५।५)—"तू अजेय है (कोई तुझको जीत नहीं सकता) क्योंकि देवताओं का ओज अजेय होता है।" क्योंकि देवता-गण जब एक मिलकर बोलते और एक-साथ रहते हैं तो अजेय होते हैं, कोई उन-पर आक्रमण नहीं कर सकता। 'देवों के ओज' का अर्थ है उनके प्यारे शरीर और धाम अर्थात् शक्तियाँ। अब कहा—"अनभिशस्त्यभिशस्तिपा ऽ अनभिशस्तेन्यम्" (यजु० ५।५)—"जिन पर शाप नहीं लगा, जो शाप से रक्षा करते हैं औरजिनपर शाप नहीं लग सकता।" क्योंकि सब देव शाप को पार कर जाते हैं। "अञ्जसा सत्यमुपगेषम्" (यजु० ५।५)—"सीधा सच को प्राप्त हो जाऊँ।" इसका तात्पर्य है कि सत्य ही बोलूं और व्रत का उल्लङ्घन न करूँ। अब कहा—"स्विते मा धाः" (यजु० ५।५)—"मुझे कल्याण में स्थापित कर।" क्योंकि निश्चय ही देवों ने अपने को कल्याण में स्थापित किया जब उन्होंने सत्य बोला और जो सत्य था उसी को किया। इसीलिए कहा—'स्विते मा धाः' ॥१४॥

देवों ने जिन प्यारे शरीरों और धामों को इकट्ठा किया था उनको उन्होंने इन्द्र में स्थापित कर दिया। निश्चय करके इन्द्र वही है जो वह तपता है (अर्थात् सूर्य)। यह पहले तपता (चमकता) नहीं था। यह ऐसा ही काला (अन्धकारमय) था जैसे अन्य सब। यह वही (देवों का दिया हुआ) पराक्रम है जिससे वह चमकता है। इसलिए यदि बहुत-से दीक्षित होते हों तो इस (तानूनप्त्र आज्य) को दूध मिलाकर गृहपति को ही देना चाहिए, क्योंकि गृहपति ही इन्द्र के तुल्य है; और यदि दक्षिणा के साथ दीक्षा हो तो इस (आज्य) को दूध मिलाकर गृहपति को ही देना चाहिए क्योंकि कहा भी है कि 'यजमान ही इन्द्र है' ॥१५॥

देवों ने जिन प्यारे शरीरों और धामों (शक्तियों) को इकट्ठा किया वह सब मिलाया गया और वह साम हो गया। इसीलिए कहा है 'साम सत्य है, साम देवज (देवों से उत्पन्न हुआ) है' ॥१६॥

अध्याय ४—ब्राह्मण ३

जब देव आतिथ्य-इष्टि कर चुके तो उनमें झगड़ा हो गया। इसको उन्होंने तानूनप्त्र द्वारा शान्त किया और इच्छा करने लगे कि यह जो हमने एक-दूसरे की बुराई की है, उसका प्रायश्चित्त होना चाहिए। अवभृथ स्नान से पहले उन्होंने कोई और प्रायश्चित्त रक्खा नहीं था। इसलिए उन्होंने अवान्तरा-दीक्षा निकाली ॥१॥

अग्नि के द्वारा उन्होंने त्वचा से शरीर को ढक लिया। अग्नि का अर्थ है 'तप' औरदीक्षा

ग्निस्तपो दीक्षा तदवान्तरां दीक्षामुपायंस्तद्यदवान्तरां दीक्षामुपायंस्तस्मादवान्तरदी-
क्षा संतरामङ्गुलीराञ्चन्त संतरां मेखलां पर्यस्तामिवैनामितत्सतीं पर्यास्यन्त तथो
ऽएवैष एतद्यदतः प्राचीनमत्रत्यं वा करोत्यत्रत्यं वा वदति तस्यैवैतत्प्रायश्चित्तिं
कुरुते ॥२॥ सोऽग्निनैव त्वचं विपल्यङ्गयते । तपो वाऽअग्निस्तपो दीक्षा तदवा-
न्तरां दीक्षामुपैति संतरामङ्गुलीरचते संतरां मेखलां पर्यस्तामिवैनामितत्सतीं पर्य-
स्यते प्रजामु हैव तद्देवा उपायन् ॥३॥ तेऽग्निनैव त्वच विपल्याङ्गयन्त । अग्निर्वै
मिथुनस्य कर्ता प्रजनयिता तत्प्रजामुपायन्त्संतरामङ्गुलीराञ्चन्त संतरां मेखलां तत्प्र-
जामात्मन्नकुर्वत तथोऽएवैष एतत्प्रजामेवोपैति ॥४॥ सोऽग्निनैव त्वचं विपल्य-
ङ्गयते । अग्निर्वै मिथुनस्य कर्ता प्रजनयिता तत्प्रजामुपैति संतरामङ्गुलीरचते संत-
रां मेखलां तत्प्रजामात्मन्कुरुते ॥५॥ देवानामु ह स्म दीक्षितानाम् । यः समि-
हारो वा स्वाध्यायं वा विसृजते तꣳ ह स्मैतरस्यैवेतरꣳ रूपेणेतरस्येतरमसुररक्ष-
सानि जिघाꣳसन्ति ते ह पापं वदन्त उपसमेयुरिति वै मां त्वमचिकीर्षीरिति मा-
जिघाꣳसीरित्यग्निर्हैव तथा नान्यमुवादाग्निं तथा नान्यः ॥६॥ ते होचुः । अपीत्थं
त्वामग्नेऽवादिषूꣳ३रिति नैवाहमन्यं न मामन्य इति ॥७॥ तेऽविदुः । अयं वै नो
विरक्षस्तमोऽस्यैव रूपमसाम तेन रक्षाꣳस्यतिमोक्ष्यामहे तेन स्वर्गं लोकꣳ सम-
श्नुविष्यामहऽइति तेऽग्नेरेव रूपमभवंस्तेन रक्षाꣳस्यत्यमुच्यन्त तेन स्वर्गं लोकꣳ
समाश्नुवत तथोऽएवैष एतदग्नेरेव रूपं भवति तेन रक्षाꣳस्यतिमुच्यते तेन स्वर्गं
लोकꣳ समश्नुते स वै समिधमेवाभ्यादधदवान्तरदीक्षामुपैति ॥८॥ स समिधमभ्या-
दधाति । अग्ने व्रतपास्त्वे व्रतपा इत्यग्निर्हि देवानां व्रतपतिस्तस्मादाहाग्ने व्रतपा-
स्त्वे व्रतपा इति या तव तनूरियꣳ सा मयि यो मम तनूरेषा सा त्वयि । सह
नौ व्रतपते व्रतानीति तदग्निना त्वचं विपल्यङ्गयतेऽनु मे दीक्षां दीक्षापतिर्मन्य-
तामनु तपस्तपस्पतिरिति तदवान्तरां दीक्षामुपैति संतरामङ्गुलीरचते संतरां मे-

'तप' है। इस प्रकार उन्होंने अवान्तरा-दीक्षा को प्राप्त किया; और चूंकि अवान्तरा-दीक्षा को प्राप्त किया इसलिये अवान्तरा-दीक्षा की जाती है। उन्होंने अँगुलियों को कड़ा करके मोड़ लिया (मुट्ठी बाँध ली) और मेखला को कस लिया, जैसा कि पहले था। इसी प्रकार वह भी प्रायश्चित्त करता है, उस सबके लिए जो व्रत के विरुद्ध उसने किया हो या कहा हो ॥२॥

उन्होंने अग्नि के द्वारा त्वचा को शरीर के चारों ओर लपेटा। अग्नि तप है। दीक्षा तप है। इस प्रकार वह अवान्तरा-दीक्षा को प्राप्त करता है। अँगुलियों को भीतर की ओर मोड़ता है और मेखला को कसता है जैसे पहले था। देवों ने इसके द्वारा प्रजा की प्राप्ति की थी ॥३॥

अग्नि के द्वारा उन्होंने शरीर पर त्वचा लपेटी। अग्नि मिथुन (जोड़े) का कर्त्ता या जनक है। इससे उनको सन्तान की प्राप्ति हुई। उन्होंने अपनी मुट्ठी बाँध ली और मेखला कस ली और अपने लिए सन्तान उत्पन्न की। इसी प्रकार यजमान भी सन्तान की प्राप्ति करता है ॥४॥

अग्नि के द्वारा वह त्वचा को शरीर पर लपेटता है। अग्नि मिथुन (स्त्री-पुरुष के प्रसंग) का कर्त्ता और जाननेवाला है। वह मुट्ठी को बाँधता और मेखला को कसता है। इस प्रकार सन्तान को प्राप्त करता है ॥५॥

जब देव दीक्षित हो गये तो उनमें जो कोई समिधा लाता या स्वाध्याय का मन्त्र पढ़ता उसका ही वह-वह रूप धारण करके असुर राक्षस उसको मारते। और देवता-गण आपस में कहते कि तुमने मेरा अहित किया, तुमने मुझे मारा। केवल अग्नि ने किसी से ऐसा नहीं कहा, न किसी ने अग्नि से कहा ॥६॥

उन्होंने पूछा—'हे अग्नि, क्या तुझसे भी उन्होंने ऐसा कहा ?' उसने उत्तर दिया कि 'न मैंने किसी से ऐसा कहा, न किसी ने मुझसे ऐसा कहा' ॥७॥

उन्होंने जान लिया कि यही हमारे बीच में ऐसा है जो राक्षसों को मार सकता है। हमको इसी का रूप धारण करना चाहिए। इससे हम राक्षसों से बच सकेंगे और स्वर्ग को प्राप्त कर सकेंगे। उन्होंने अग्नि का रूप धारण कर लिया और राक्षसों से बच गये और स्वर्ग प्राप्त कर लिया। इसी प्रकार यह भी अग्नि का रूप धारण करता, राक्षसों से बचता और स्वर्ग की प्राप्ति करता है। वह समिधा को (आहवनीय अग्नि पर) रखकर अवान्तरा-दीक्षा को प्राप्त करता है ॥८॥

वह यह मन्त्र पढ़कर समिधा रखता है—"अग्ने व्रतपास्त्वे व्रतपाः" (यजु० ५।६)—"हे अग्नि, व्रत के पालनेवाले, तुझ पर, हे व्रत के पालनेवाले !" अग्नि देवों का व्रतपति है, इसलिए कहा—"अग्ने व्रतपा' इत्यादि। "या तव तनूरियँ सा मयि यो मम तनूरेषा सा त्वयि। सह नौ व्रतपते व्रतानि" (यजु० ५।६)—"जो तेरा शरीर है, वह मेरा हो। जो मेरा शरीर है, वह तेरा हो। हे व्रतपते ! हम दोनों के व्रत एक-से हों।" इस प्रकार वह अग्नि के द्वारा अपने को त्वचा से ढकता है। "अनु मे दीक्षां दीक्षापतिर्मन्यतामनु तपस्तपस्पतिः" (यजु० ५।६)—"दीक्षा-पति मेरी दीक्षा को स्वीकार करे और तप का पति मेरे तप को स्वीकार करे।" इस प्रकार वह अवान्तरा-

खलां पर्यस्तामेवैतत्सतीं पर्यस्यते ॥९॥ अथैनमतो मदन्तीभिरुपचरन्ति । तपो वाऽअग्निस्तपो मदन्त्यस्तस्मादेनं मदन्तीभिरुपचरन्ति ॥१०॥ अथ मदन्तीभिरुपस्पृश्य । राजानमाप्याययन्ति तद्यन्मदन्तीरुपस्पृश्य राजानमाप्याययन्ति वज्रो वाऽआज्यꣳ रेतः सोमो नेद्वज्रेणाज्येन रेतः सोमꣳ हिनसामेति तस्मान्मदन्तीरुपस्पृश्य राजानमाप्याययन्ति ॥११॥ तदाहुः । यस्माऽएतदाप्यायनं क्रियतऽआतिथ्यꣳ सोमाय तमेवाग्रऽआप्याययेयुरथावान्तरदीक्षामथ तानूनप्त्राणीति तद्वै तथा न कुर्याद्यज्ञस्य वाऽएवं कर्मात्र वाऽएनात्समदविन्दन्त सꣳशममेव पूर्वमुपायन्नथावान्तरदीक्षामथाप्यायनम् ॥१२॥ तद्यदाप्याययन्ति । देवो वै सोमो दिवि हि सोमो वृत्रो वै सोम आसीत्तस्यैतच्छरीरं यद्गिरयो यदश्मानस्तदेषोशाना नामौषधिर्जायतऽइति ह स्माह श्वेतकेतुरौद्दालकिस्तामेतदाहृत्याभिषुण्वन्ति तां दीक्षोपसद्भिस्तानूनप्त्रैराप्यायनेन सोमं कुर्वन्तीति तथोऽएवैनामिष एतद्दीक्षोपसद्भिस्तानूनप्त्रैराप्यायनेन सोमं करोति ॥१३॥ मधु सारघमिति वाऽआहुः । यज्ञो ह वै मधु सारघमथैतऽएव सरघो मधुकृतो यदृत्विजस्तद्यथा मधु मधुकृत आप्याययेयुरेवमेवैतद्यज्ञमाप्याययन्ति ॥१४॥ यज्ञेन वै देवाः । इमां जितिं जिग्युर्यैषामियं जितिस्ते होचुः कथं न इदं मनुष्यैरनभ्यारोह्यꣳ स्यादिति ते यज्ञस्य रसं धीत्वा यथा मधु मधुकृतो निर्धयेयुर्विदुह्य यज्ञं यूपेन योपयित्वा तिरोऽभवन्नथ यदेनेनायोपयंस्तस्माद्यूपो नाम ॥१५॥ तद्वाऽऋषीणामनुश्रुतमास । ते यज्ञꣳ समभरन्यथायं यज्ञः सम्भृत एवं वाऽएष यज्ञꣳ सम्भरति यो दीक्षते वाग्वै यज्ञस्तद्यदेवात्र यज्ञस्य निर्धीतं यद्विदुग्धं तदेवैतत्पुनराप्याययति ॥१६॥ ते वै बहुभूत्वाप्याययन्ति । षड्वाऽऋतव ऋतव एवैतद्भूत्वाप्याययन्ति ॥१७॥ तऽआप्याययन्ति । अꣳशुरꣳशुष्टे देव सोमाप्यायतामिति तदस्याꣳशुमꣳशुमेवाप्याययन्तीन्द्रायैकधनविदऽइतीन्द्रो वै यज्ञस्य देवता तस्मादाहेन्द्रायेत्येकधनविदऽइति शतꣳ-शतꣳ ह स्म वाऽएष दे-

दीक्षा को करता है। मुट्ठी को कड़ा बाँधता है और मेखला को कसता है जैसे वह पहले था ॥९॥

अब वे उसका मदन्ती जल (गरम जलों) से सत्कार करते हैं। अग्नि तप है, मदन्ती जल तप हैं। इसलिए मदन्ती जलों से सत्कार करता है ॥१०॥

मदन्ती जलों को छूकर वे सोम राजा को सम्पुष्ट करते हैं। वे मदन्ती जलों को छूकर सोम राजा को क्यों सम्पुष्ट करते हैं? इसलिए कि घी वज्र है और सोम वीर्य। मदन्ती जलों को छूकर वे सोम राजा को इसलिए सम्पुष्ट करते हैं कि कहीं वज्ररूपी घी से वीर्यरूपी सोम को हानि न पहुँचे ॥११॥

कुछ लोग कहते हैं कि पहले सोम को सम्पुष्ट करना चाहिए जिसके लिए आतिथ्य किया जाता है, फिर अवान्तर दीक्षा, फिर तानूनप्त्र। परन्तु ऐसा न करना चाहिए। यज्ञ का कर्म ऐसा ही था। उसमें झगड़ा हो गया। पहले पुरानी शान्ति मिली, फिर अवान्तरा दीक्षा, फिर सम्पुष्टि ॥१२॥

वे उसकी सम्पुष्टि क्यों करते हैं? सोम देव है। सोम द्यौलोक में है। सोम वृत्र था। जो पहाड़ और पत्थर थे, वे उसके शरीर थे, क्योंकि उसपर उशान औषध उगती है। उद्दालक के पुत्र श्वेतकेतु ने कहा—'वे इसको लाते और निचोड़ते हैं और दीक्षा, उपसद, तनूनप्त्र और सम्पुष्टि द्वारा वे इसका सोम बनाते हैं' ॥१३॥

कहते हैं कि यह मक्खियों का शहद है। यज्ञ ही मक्खियों का शहद है; बनानेवाली मक्खियाँ ऋत्विज हैं। जैसे मक्खियाँ मधु की पुष्टि करती हैं उसी प्रकार ऋत्विज यज्ञ की पुष्टि करते हैं ॥१४॥

यज्ञ के द्वारा ही देवों ने वह विजय पाई जो उनको प्राप्त है। उन्होंने सोचा कि यह कैसे हो कि मनुष्य हमारे इस स्थान तक न चढ़ सके? उन्होंने यज्ञ के रस को इस प्रकार चूस लिया जैसे शहद की मक्खियाँ शहद को चूस लेती हैं और यज्ञ को यूप के द्वारा बिखेरकर अन्तर्धान हो गये। यूप को यूप इसलिए कहते हैं कि इसके द्वारा यज्ञ को बिखेरा गया ॥१५॥

ऋषियों ने इसको सुन लिया। उन्होंने यज्ञ को इकट्ठा किया। इसी प्रकार वह भी यज्ञ को इकट्ठा करता है जो दीक्षित होता है। वाणी ही यज्ञ है। इस प्रकार यज्ञ का जो भाग चूस लिया गया था उसकी पूर्ति कर देता है ॥१६॥

वे छः होकर [अर्थात् ब्रह्मा, उद्‌गाता, होता, अध्वर्यु, आग्नीध्र और यजमान] (सोम की) पुष्टि करते हैं। छः ऋतुएँ बनकर वे इसकी पुष्टि करते हैं ॥१७॥

वे इस मन्त्र को पढ़कर पुत्रेष्टि करते हैं—"अँ्शुरँ्शुष्टे देव सोमाप्यायताम्" (यजु० ५।७)—"हे देव सोम, तेरा अंशु-अंशु (प्रत्येक डण्ठल) पुष्ट हो।" ऐसा कहकर वे सोम का प्रत्येक डंठल पुष्ट करते हैं।" 'इन्द्रायैकधनविदे" (यजु० ५।७)—"एक-धन प्राप्त करनेवाले इन्द्र के लिए।" (या तो इसका अर्थ यह है कि सोम-मात्र जो धन है उसको लेनेवाला, या उस घड़े का नाम भी 'एक-धन' है जिसमें सोम मिलाने के लिए जल होता है, उसको प्राप्त करनेवाला)। इन्द्र ही यज्ञ का देवता है, इसलिए कहा 'एक-धन इन्द्र के लिए।' क्योंकि देवों के प्रति एक-एक डंठल सौ-सौ या दस-दस 'एक-धन' घोड़ों को भर देता है। "आ तुभ्यमिन्द्रः प्यायताम् त्वमिन्द्राय

वान्नत्येकैक एवाꣳशुरेकधनानाप्यायते दश-दश वा तुभ्यमिन्द्रः प्यायतामा त्वमि-
न्द्राय प्यायस्वेतीन्द्रो वै यज्ञस्य देवता सा यैव यज्ञस्य देवता तामेवैतदाप्यायय-
त्या त्वमिन्द्राय प्यायस्वेति तदेतस्मिन्नाप्यायनं दधात्याप्याययास्मान्त्सखीन्त्सन्या मे-
धयेति स यत्सनोति तत्तदाह यत्सन्येत्यथ यदनुब्रूते तत्तु तदाह यन्मधयेति स्व-
स्ति ते देव सोम सुत्यामशीयेत्येका वागेतेषामाशीर्भवत्यृत्विजां च यजमानस्य
च यज्ञस्योदृचं गच्छेमेति यज्ञस्योदृचं गच्छानीत्येवैतदाह ॥१८॥ अथ प्रस्तरे निह्नु-
वते । उत्तरत उपचारो वै यज्ञोऽथैतद्दक्षिणेवान्वित्याप्याययन्त्यग्निर्वै यज्ञस्तद्यज्ञं
पृष्ठतः कुर्वन्ति तन्मिथ्याकुर्वन्ति देवेभ्य आवृश्च्यन्ते यज्ञो वै प्रस्तरस्तद्यज्ञं पुनरार-
भन्ते तस्यो हैषा प्रायश्चित्तिस्तथो हैषामेतन्न मिथ्याकृतं भवति न देवेभ्य आवृ-
श्च्यन्ते तस्मात्प्रस्तरे निह्नुवते ॥१९॥ तदाहुः । अक्ते निह्नुवीरा३ननक्ता३ऽइत्यन-
क्ते हैव निह्नुवीरन्ननुप्रहरणꣳ ह्येवाक्तस्य ॥२०॥ ते निह्नुवते । एष्टा रायः प्रेषे
भगायऽऋतमृतवादिभ्य इति सत्यꣳ सत्यवादिभ्य इत्येवैतदाह नमो द्यावापृथि-
वीभ्यामिति तदाभ्यां द्यावापृथिवीभ्यां निह्नुवते ययोरिदꣳ सर्वमधि ॥२१॥ अथा-
ह समुल्लुप्य प्रस्तरम् । अग्नीन्मदन्त्यापा३इति मदन्तीत्यग्नीदाह ताभिरेहीत्युपर्युप-
र्यग्निमतिहरति स यज्ञानुप्रहरत्येतेन ह्यत ऊर्ध्वान्यहानि प्रचरिष्यन्भवत्यथ यदु-
पर्युपर्यग्निमतिहरति तदेवास्यानुप्रहृतभाजनं भवति तमग्नीधे प्रयच्छति तमग्नीन्निद-
धाति ॥२२॥ ब्राह्मणम् ॥४ [४. ३.]॥ ॥

ग्रीवा वै यज्ञस्योपसदः शिरः प्रवर्ग्यः । तस्माद्यदि प्रवर्ग्यवान्भवति प्रवर्ग्येण
प्रचर्यायोपसद्भिः प्रचरन्ति तद्ग्रीवाः प्रतिदधति ॥१॥ तद्याः पूर्वाह्णेऽनुवाक्या भव-
न्ति । ता अपराह्णे याज्या या याज्यास्ता अनुवाक्यास्तद्व्यतिषजति तस्मादिमानि
ग्रीवाणां पर्वाणि व्यतिषक्तानीमान्यस्थीनि ॥२॥ देवाश्च वाऽअसुराश्च । उभये
प्राजापत्याः पस्पृधिरे ततोऽसुरा एषु लोकेषु पुरश्चक्रिरेऽयस्मयीमेवास्मिंल्लोके

प्यायस्व'' (यजु० ५।७)—''इन्द्र तेरे लिए पुष्ट हो और तू इन्द्र के लिए पुष्ट हो।'' इन्द्र यज्ञ का देवता है। इस प्रकार वह इस यज्ञ के देवता की पुष्टि करता है। 'इन्द्र के लिए तू पुष्ट हो' ऐसा कह उसमें पुष्टि का निर्धारण करता है। ''आप्याययास्मान्त्सखीन्त्सन्न्या मेधया'' (यजु० ५।७)— ''हम मित्रों को लाभ और बुद्धि से भरपूर कर।'' जो उसको लाभ मिलता है उसके लिए वह कहता है 'सन्न्या' (लाभ से) और जो वह पाठ करता है उसके लिए कहता है 'मेधया' (बुद्धि से)। ''स्वस्ति ते देव सोम सुत्यामशीय'' (यजु० ५।७)—''हे देव सोम, तेरे लिए स्वस्ति हो और मैं सोम भोग को खाऊँ।'' यजमान और ऋत्विज का एक ही आशीर्वाद होता है अर्थात् यज्ञ के अन्त को पा जावें। इसके कहने का तात्पर्य यह है कि मैं यज्ञ के अन्त को प्राप्त कर लूं ॥१८॥

अब वे प्रस्तर पर प्रायश्चित्त करते हैं। यज्ञ में उत्तर की ओर उपस्थित रहना चाहिए था, परन्तु सोम की पुष्टि करने के लिए दक्षिण की ओर जाना पड़ा। अग्नि ही यज्ञ है, और यज्ञ की ओर पीठ कर लेनी पड़ी। यह मिथ्याचार हो गया और देवों से वियोग हो गया। प्रस्तर भी यज्ञ का ही भाग है। इसलिए प्रस्तर को छूकर फिर यज्ञ की प्राप्ति होती है। यही उस मिथ्याचार का प्रायश्चित्त है। इस प्रकार मिथ्याचार का निवारण हो जाता है और देवों से वियोग नहीं होता। इसलिए प्रस्तर पर प्रायश्चित्त किया जाता है ॥१९॥

इस पर प्रश्न उठता है 'अक्त (घृत-युक्त) प्रस्तर पर या अनक्त (जिस पर घृत न लगा हो) प्रस्तर पर?' उत्तर यह है कि अनक्त पर ही, क्योंकि अक्त को तो अग्नि के समर्पित किया जाता है ॥२०॥

वे इस मन्त्र को पढ़कर प्रायश्चित्त करते हैं—''एष्टा रायः प्रेषे भगायऽऋतमृतवादिभ्यः'' (यजु० ५।७)—''इच्छित धन शक्ति के लिए मिले, ऋतवादियों के लिए ऋत।'' इसका अर्थ यह है कि सत्यवादियों के लिए सत्य। ''नमो द्यावापृथिवीभ्याम्'' (यजु० ५।७)—''द्यौ और पृथिवी के लिए नमस्कार।'' इस प्रकार वे द्यौ और पृथिवी के लिए प्रायश्चित्त करते हैं जिन पर सबकी स्थिति है ॥२१॥

अब प्रस्तर को उठाकर वह कहता है—'अग्नीध्, क्या जल खौल गया?' अग्नीध् कहता है—'हाँ, खौल गया।' 'इसको यहाँ ले आओ।' वह (प्रस्तर को) अग्नि के पास ले आता है। वह प्रस्तर को आग में इसलिए नहीं डालता कि अगले दिनों में उससे काम लेना है; और आग के ऊपर इसलिए ले आता है कि वह अग्नि में डालने के लगभग बराबर हो जाय। वह इस अग्नीध् को दे देता है और अग्नीध् इसको (सुरक्षित) रख देता है ॥२२॥

अध्याय ४—ब्राह्मण ४

उपसद यज्ञ की गर्दन है। प्रवर्ग्य सिर है। इसलिए यदि यज्ञ प्रवर्ग्य के साथ किया जाता है तो प्रवर्ग्य के पीछे उपसद करते हैं। इससे गर्दन अपने स्थान पर आ जाती है ॥१॥

पूर्वाह्न में अनुवाक्य होते हैं और अपराह्न में याज्य। जो याज्य हैं वही अनुवाक्य हैं। इस प्रकार वह जोड़ों को मिला देता है जैसे गर्दन की हड्डियाँ और जोड़ मिले होते हैं ॥२॥

देव और असुर दोनों प्रजापति की सन्तान लड़ पड़े। तब असुरों ने इन तीनों लोकों में अपने लिए किले (पुर) बनाये—लोहे का इस लोक में, चाँदी का अन्तरिक्ष में और सोने का

रजतामन्तरिक्षे हरिणीं दिवि ॥३॥ तद्वै देवा अस्पृण्वत । तऽएताभिरुपसद्भिरु-
पासीदंस्तद्यदुपासीदंस्तस्मादुपसदो नाम ते पुरः प्राभिन्दन्निमांल्लोकान्प्राजयंस्तस्मा-
दाहुरुपसदा पुरं जयन्तीति यदहोपासते तेनेमां मानुषीं पुरं जयन्ति ॥४॥ एता-
भिर्वै देवा उपसद्भिः । पुरः प्राभिन्दन्निमांल्लोकान्प्राजयंस्तथोऽएवैष एतन्नाद्रियेता-
स्माऽअस्मिंल्लोके कश्चन पुरः कुरुतऽइमानेवैतल्लोकानभिनत्तीमांल्लोकान्प्रजयति
तस्मादुपसद्भिर्यजते ॥५॥ ता वाऽआज्यहविषो भवन्ति । वज्रो वाऽआज्यमेतेन
वै देवा वज्रेणाज्येन पुरः प्राभिन्दन्निमांल्लोकान्प्राजयंस्तथोऽएवैष एतेन वज्रेणा-
ज्येनेमांल्लोकानभिनत्तीमांल्लोकान्प्रजयति तस्मादाज्यहविषो भवन्ति ॥६॥ स वा
ऽअष्टौ कृत्वो जुह्वां गृह्णाति । चतुरुपभृत्यथोऽइतरथाहुश्चतुरेव कृत्वो जुह्वां गृ-
ह्णीयादष्टौ कृत्व उपभृतीति ॥७॥ स वाऽअष्टावेव कृत्वो जुह्वां गृह्णाति । चतुरु-
पभृति तद्वज्रमभिभारं करोति तेन वज्रेणाभिभारेणेमांल्लोकानभिनत्तीमांल्लोका-
न्प्रजयति ॥८॥ अग्नीषोमौ वै देवानाꣳ सयुजौ । ताभ्याꣳ सार्धं गृह्णाति विष्णव
ऽएकाकिनेऽन्यतरमेवाघारमाघारयति यꣳ स्रुवेण प्रतिक्रामति वाऽउत्तरमाघार-
माघार्याभिजित्याऽअभिजयानीति तस्मादन्यतरमेवाघारमाघारयति यꣳ स्रुवेण ॥९॥
अथाश्राव्य न होतारं प्रवृणीते । सीद होतरित्येवाहोपविशति होता होतृष-
दनऽउपविश्य प्रसौति प्रसूतोऽध्वर्युः स्रुचावादत्ते ॥१०॥ स आहातिक्रामन्नग्नयेऽनु-
ब्रूहीति । आश्राव्याहाग्निं यजेति वषट्कृते जुहोति ॥११॥ अथाह सोमायानुब्रू-
हीति । आश्राव्याह सोमं यजेति वषट्कृते जुहोति ॥१२॥ अथ यदुपभृत्याज्यं
भवति । तत्समानयमान आह विष्णवेऽनुब्रूहीत्याश्राव्याह विष्णुं यजेति वषट्-
कृते जुहोति ॥१३॥ स यत्समानत्र तिष्ठञ्जुहोति । न यथेदं प्रचरन्त्संचरत्यभि-
जित्याऽअभिजयानीत्यथ यदेता देवता यजति वज्रमेवैतत्सꣳस्करोत्यग्निमनीकꣳ सो-
मꣳ शल्यं विष्णुं कुल्मलꣳ ॥१४॥ संवत्सरो हि वज्रः । अग्निर्वाऽअहः सोमो रा-

द्यौलोक में ॥३॥

अब देवों की जीत हुई। देवों ने इन किलों को उपसदों के द्वारा घेरा (उपासीदन्); उपासीदन् से 'उपसद' नाम पड़ा। उन्होंने किलों को तोड़ डाला और लोकों को जीत लिया। इसलिए कहते हैं कि 'उपसदों के द्वारा किले जीते जाते हैं।' वस्तुतः घेरा डालकर ही मनुष्य के किले जीते जाते हैं ॥४॥

देवों ने इन उपसदों के द्वारा ही किलों को तोड़ा और लोकों को जीत लिया। (यजमान भी) ऐसा ही करता है। यह सच है कि कोई उसके विरुद्ध अपने किले नहीं बनाता। वह इन्हीं लोकों को भेद देता है। वह इनको जीत लेता है। इसीलिए उपसदों के द्वारा यज्ञ करता है ॥५॥

ये आहुतियाँ घृत की होती हैं। घी वज्र है। इस वज्र-घी से देवों ने किलों को तोड़कर इन लोकों पर विजय पाई। इसी प्रकार यह यजमान वज्र-घी द्वारा इन लोकों का भेदन करता है, इन लोकों को जीतता है। इसलिए ये घी की आहुतियाँ दी जाती हैं ॥६॥

वह आठ बार जुहू में भरता है और चार बार उपभृत में। कुछ उलटा भी करते हैं अर्थात् चार बार जुहू में और आठ बार उपभृत में ॥७॥

वह आठ बार जुहू में भरता है और चार बार उपभृत में। इससे वह वज्र के आगे के भाग को भारी कर देता है। वज्र के इस भारी भाग से इन लोकों को तोड़ देता और इन पर विजय प्राप्त कर लेता है ॥८॥

देवताओं में अग्नि और सोम का जोड़ा है। इनके लिए एक-साथ लेता है। विष्णु के लिए अकेली। एक ही आघार देता है जो स्रुवा में भरी जाती है, क्योंकि जब पीछे की आघार दे देता है तो चल देता है यह कहकर कि 'जीतकर विजयी बनूँ।' इसलिए स्रुवा से एक ही आघार देता है ॥९॥

श्रौषट् कहने के पीछे होता का वरण नहीं करता। इतना ही कहता है कि 'हे होता, बैठ।' होता अपने स्थान पर बैठ जाता है। अब वह अध्वर्यु को प्रेरणा करता है और अध्वर्यु दो चमचे भर लेता है ॥१०॥

(वेदी के दक्षिण की ओर) जाते हुए वह (होता से) कहता है 'अग्नि को आवाहन कर।' और श्रौषट् कहकर कहता है 'अग्नि की स्तुति कर।' और वषट्कार के पीछे आहुति दे देता है ॥११॥

अब कहता है—'सोम का आवाहन कर।' फिर श्रौषट् कहकर कहता है—'सोम की स्तुति कर।' फिर वषट्कार के पीछे आहुति दे देता है ॥१२॥

अब उपभृत में जो घी होता है उसको (जुहू के बचे घी में) मिलाकर कहता है—'विष्णु का आवाहन कर।' फिर श्रौषट् कहकर कहता है 'विष्णु की स्तुति कर।' फिर वषट्कार के पीछे आहुति दे देता है ॥१३॥

वह एक ही स्थान पर खड़ा रहता है। और जैसा चलना-फिरना चाहिए, चलता-फिरता नहीं। इसका कारण यह है कि वह सोचता है कि 'जीतकर विजयी बनूँ।' इन देवताओं के लिए आहुति इसलिए देता है कि वज्र बना सकूँ। अग्नि को वज्र का 'अनीक' या सिरा बनाता है, सोम को शल्य और विष्णु को कुल्मल (ये वज्र के भाग हैं) ॥१४॥

संवत्सर ही वज्र है। अग्नि दिन है और सोम रात तथा बीच का भाग विष्णु। इस

त्रिरथ यदन्तरेण तद्विष्णुरेतद्वै परिप्लवमानꣳ संवत्सरं करोति ॥१५॥ संवत्सरो वज्रः । एतेन वै देवाः संवत्सरेण वज्रेण पुरः प्राभिन्दन्निमांल्लोकान्प्राजयंस्तथो ऽएवैष ऽएतेन संवत्सरेण वज्रेणेमांल्लोकान्प्रभिनत्तीमांल्लोकान्प्रजयति तस्मादेता देवता यजति ॥१६॥ स वै तिस्र उपसद उपेयात् । त्रयो वा ऽऋतवः संवत्सरस्य संवत्सरस्यैवैतद्रूपं क्रियते संवत्सरमेवैतत्सꣳस्करोति द्विरेकया प्रचरति द्विरेकया ॥१७॥ ताः षट्सम्पद्यन्ते । षड्वा ऽऋतवः संवत्सरस्य संवत्सरस्यैवैतद्रूपं क्रियते संवत्सरमेवैतत्सꣳस्करोति ॥१८॥ यद्यु द्वादशोपसद उपेयात् । द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य संवत्सरस्यैवैतद्रूपं क्रियते संवत्सरमेवैतत्सꣳस्करोति द्विरेकया प्रचरति द्विरेकया ॥१९॥ ताश्चतुर्विꣳशतिः सम्पद्यन्ते । चतुर्विꣳशतिर्वै संवत्सरस्यार्धमासाः संवत्सरस्यैवैतद्रूपं क्रियते संवत्सरमेवैतत्सꣳस्करोति ॥२०॥ स यत्सायम्प्रातः प्रचरति । तथा ह्येव सम्पत्सम्पद्यते स यत्पूर्वाह्णे प्रचरति तज्जयत्यथ यदपराह्णे प्रचरति सुजितमसदित्यथ यज्जुहोतीदं वै पुरं युध्यन्ति तां जित्वा स्वाꣳ सतीं प्रपद्यन्ते ॥२१॥ स यत्प्रचरति । तद्युध्यत्यथ यत्संतिष्ठते तज्जयत्यथ यज्जुहोति स्वामेवैतत्सतीं प्रपद्यते ॥२२॥ स जुहोति । यया द्विरेकस्याङ्गः प्रचरिष्यन्भवति या तेऽअग्नेऽयःशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा । उग्रं वचोऽअपावधीत्त्वेषं वचोऽअपावधीत्स्वाहेत्येवꣳरूपा हि सासीदयस्मयी हि सासीत् ॥२३॥ अथ जुहोति । यया द्विरेकस्याङ्गः प्रचरिष्यन्भवति या तेऽअग्ने रजःशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा । उग्रं वचोऽअपावधीत्त्वेषं वचोऽअपावधीत्स्वाहेत्येवꣳरूपा हि सासीद्रजता हि सासीत् ॥२४॥ अथ जुहोति । ययाद्विरेकस्याङ्गः प्रचरिष्यन्भवति या तेऽअग्ने हरिशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा । उग्रं वचो अपावधीत्त्वेषं वचोऽअपावधीत्स्वाहेत्येवꣳरूपा हि सासीद्धरिणी हि सासीद्यद्यु द्वादशोपसद उपेयाच्चतुरह्णमेकया प्रचरेच्चतुरह्णमेकया ॥२५॥ अथातो व्रतोपसदामिव । परऽउर्वीर्वाऽअन्या उपसदः परोऽह्णीर-

प्रकार वह वर्ष के चक्र को बनाता है ॥१५॥

संवत्सर वज्र है। इसी संवत्सर वज्र के द्वारा दोनों देवों ने किलों को तोड़ा और इन लोकों को जीता। इसी प्रकार यह भी इसी संवत्सर वज्र की सहायता से इन लोकों को तोड़ता और इन लोकों को जीतता है। इसीलिए वह इन देवतों का यजन करता है ॥१६॥

तीन उपसदों को करे। संवत्सर में तीन ऋतुऐं होती हैं। इस प्रकार संवत्सर का तद्रूप आ जाता है। इस प्रकार वह संवत्सर को बनाता है। वह प्रत्येक क्रिया को दो बार करता है ॥१७॥

यह छः के बराबर हो जाते हैं। वर्ष में छः ऋतुऐं होती हैं। इस प्रकार वर्ष का तद्रूप हो जाता है। वह इस प्रकार वर्ष को बनाता है ॥१८॥

या बारह उपसदों को करे। वर्ष में बारह मास होते हैं। इस प्रकार वर्ष का तद्रूप हो जाता है। वह इस प्रकार वर्ष बनाता है। वह प्रत्येक क्रिया को दो बार करता है ॥१९॥

इस प्रकार चौबीस हो जाते हैं। वर्ष में चौबीस अर्द्धमास होते हैं। यह संवत्सर का रूप हो जाता है। इस प्रकार वह संवत्सर को बनाता है ॥२०॥

वह सायं-प्रातः इसलिए करता है कि इसी से सम्पूर्णता आती है। प्रातःकाल की क्रिया का अर्थ है जय, सायंकाल की क्रिया का 'सुजय' और आहुति का अर्थ है कि जीतकर किले को अपना समझकर भीतर घुस जाना ॥२१॥

उपसदों के करने का अर्थ है युद्ध करना, क्रिया के पूर्ण होने का अर्थ है विजय पाना, और आहुति देने का अर्थ है किले को अपना करके उसमें घुस जाना ॥२२॥

वह दिन में दो बार इस मन्त्र से आहुति देता है—"या ते ऽ अग्नेऽयःशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा। उग्रं वचोऽअपावधीत् त्वेषं वचोऽअपावधीत् स्वाहा" (यजु० ५।८)—"हे अग्नि, यह जो तेरा लोहे का शरीर है, गहरे में बैठा हुआ, इसने (शत्रु की) उग्र वाणी को मार डाला, तीक्ष्ण वाणी को मार डाला।" वह ऐसी ही थी। वह लोहे के समान थी ॥२३॥

अब दिन में दो बार इस मन्त्र से आहुति देता है—"या ते ऽ अग्ने रजःशया तनुर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा। उग्रं वचोऽअपावधीत् त्वेषं वचोऽअपावधीत् स्वाहा" (यजु० ५।८)—"हे अग्नि, यह जो तेरा चाँद का शरीर है, गहरे में पैठा हुआ, इसने उग्र वाणी को मार डाला, तीक्ष्ण वाणी को मार डाला।" इसका ऐसा ही रूप था। चाँदी का रूप था ॥२४॥

अब दिन में दो बार इस मन्त्र से आहुति देता है—"या तेऽग्ने हरिशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा। उग्रं वचो अपावधीत् त्वेषं वचो अपावधीत् स्वाहा" (यजु० ५।८)—"हे अग्नि, यह जो तेरा सोने का शरीर है, गहरे में पैठा हुआ, इसने उग्र वाणी को मार डाला, तीक्ष्ण वाणी को मार डाला।" इसका ऐसा ही रूप था। सोने का रूप था। अगर वह बारह उपसदों को करे तो हर एक को चार दिन करना चाहिए ॥२५॥

अब व्रत-उपसदों को लीजिये। कुछ उपसद चौड़े होते जाते हैं और कुछ तंग, जिनमें

न्याः स यासामेकं प्रथमाहं दोग्ध्यथ द्वावथ त्रींस्ताः परउर्वीरिथ यासां त्रीन्प्रथमाहं दोग्ध्यथ द्वावथैकं ताः परोऽह्वीर्या वै परोऽह्वीस्ताः परउर्वीर्याः परउर्वीस्ताः परोऽह्वीः ॥२६॥ तपसा वै लोकं जयन्ति । तदस्यैतत्परः-पर एव वरीयस्तपो भवति परः-परः श्रेयाꣳसं लोकं जयति वसीयानु हैवास्मिंलोके भवति य एवं विद्वान्परोऽह्वीरुपसद उपैति तस्मादु परोऽह्वीरेवोपसद उपेयाद्यद्यु द्वादशोपसद उपेयात्त्रींश्चतुरहं दोहयेद्द्वौ चतुरहमेकं चतुरहम् ॥२७॥ ब्राह्मणम् ॥५[४.४]॥ तृतीयः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या १२१ ॥ ॥ चतुर्थोऽध्यायः [११] ॥ ॥

तस्य एष पूर्वार्ध्यो वर्षिष्ठ स्थूणाराजो भवति । तस्मात्प्राङ् प्रक्रामति त्रीन्विक्रमांस्तच्छङ्कुं निहन्ति सोऽन्तःपातः ॥१॥ तस्मान्मध्यमाच्छङ्कोः । दक्षिणा पञ्चदश विक्रमान्प्रक्रामति तच्छङ्कुं निहन्ति सा दक्षिणा श्रोणिः ॥२॥ तस्मान्मध्यमाच्छङ्कोः । उदङ् पञ्चदश विक्रमान्प्रक्रामति तच्छङ्कुं निहन्ति सोत्तरा श्रोणिः ॥३॥ तस्मान्मध्यमाच्छङ्कोः । प्राङ् षट्त्रिꣳशतं विक्रमान्प्रक्रामति तच्छङ्कुं निहन्ति स पूर्वार्धः ॥४॥ तस्मान्मध्यमाच्छङ्कोः । दक्षिणा द्वादश विक्रमान्प्रक्रामति तच्छङ्कुं निहन्ति स दक्षिणोऽꣳसः ॥५॥ तस्मान्मध्यमाच्छङ्कोः । उदङ् द्वादश विक्रमान्प्रक्रामति तच्छङ्कुं निहन्ति स उत्तरोऽꣳस एषा मात्रा वेदेः ॥६॥ अथ यत्त्रिꣳशद्विक्रमा पश्चाद्भवति । त्रिꣳशदक्षरा वै विराड्विराजा वै देवा अस्मिंलोके प्रत्यतिष्ठंस्तथोऽएवैष एतद्विराजैवास्मिंलोके प्रतितिष्ठति ॥७॥ अथोऽअपि त्रयस्त्रिꣳशत्स्युः । त्रयस्त्रिꣳशदक्षरा वै विराड्विराजैवास्मिंलोके प्रतितिष्ठति ॥८॥ अथ यत्षट्त्रिꣳशद्विक्रमा प्राची भवति । षट्त्रिꣳशदक्षरा वै बृहती बृहत्या वै देवाः स्वर्गं लोकꣳ समाश्नुवत तथोऽएवैष एतद्बृहत्यैव स्वर्गं लोकꣳ समश्नुते सोऽस्य दिव्याहवनीयो भवति ॥९॥ अथ यच्चतुर्विꣳशतिविक्रमा पुरस्ताद्भवति । चतुर्विꣳशत्यक्षरा वै गायत्री पूर्वार्धो वै यज्ञस्य गायत्री पूर्वार्ध एष यज्ञस्य तस्माच्चतुर्विꣳशतिविक्रमा पुरस्ताद्भव-

पहले दिन एक थन दुहता है, दूसरे दिन दो, तीसरे दिन तीन, वे चौड़े होते जाते हैं। और जिनमें पहले दिन तीन थन दुहता है, दूसरे दिन दो, तीसरे दिन एक, वे तंग हो जाते हैं। जो तंग होते जाते हैं वह ऐसे ही हैं जैसे चौड़े। और जो चौड़े होते जाते हैं ऐसे ही हैं जैसे तंग ॥२६॥

लोकों को तप से जीतते हैं। जो इस रहस्य को समझकर उन उपसदों को लेता है जो तंग होते जाते हैं, उसका तप बढ़ता जाता है और उसका श्रेय बढ़ता है और वह लोक में अच्छा हो जाता है। इसलिए उन उपसदों को लेना चाहिए जो तंग होते जाते हैं। अगर बारह उपसदों को लेवे तो चार दिन तक तीन थन दुहने चाहिएँ, चार दिन तक फिर दो थन, और फिर चार दिन तक एक थन ॥२७॥

अध्याय ५—ब्राह्मण १

शाला के पूर्व की ओर का जो सबसे बड़ा खम्भा होता है उससे पूर्व की ओर तीन पग चलता है। और वहाँ एक कील गाड़ देता है जिसको 'अन्तः-पात' कहते हैं ॥१॥

इस बीच की कील से दक्षिण की ओर पन्द्रह पग चलता है और वहाँ एक कील गाड़ता है। उसको 'दक्षिणा श्रोणि' (दाहिना कूल्हा) कहते हैं ॥२॥

इस बीच की कीली से उत्तर की ओर पन्द्रह पग चलता है और वहाँ एक कील गाड़ता है। उसको 'उत्तरा-श्रोणि' (बायाँ कूल्हा) कहते हैं ॥३॥

इस बीच की कील से पूर्व की ओर छत्तीस पग चलता है और वहाँ एक कील गाड़ता है। उसको 'पूर्वार्ध' कहते हैं ॥४॥

इस बीच की कील से दक्षिण की ओर बारह पग चलता है और वहाँ एक कील गाड़ता है। उसको 'दक्षिणोऽँसः' (दायाँ कंधा) कहते हैं ॥५॥

इस बीच की कील से बारह पग उत्तर की ओर चलता है और वहाँ एक कील गाड़ता है। उसको 'उत्तरोऽँसः' (बायाँ कंधा) कहते हैं। यही वेदी की मात्रा (प्रमाण) है ॥६॥

यह पीछे तीस पग इसलिए होती है कि विराट् छन्द में तीस अक्षर होते हैं। और विराट् छन्द के द्वारा ही देवों ने इस लोक में प्रतिष्ठा पाई। इसी प्रकार यह भी विराट् छन्द द्वारा इस लोक में प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेता है ।७॥

तेंतीस पग भी हो सकते हैं। क्योंकि विराट् में तेंतीस अक्षर भी होते हैं और विराट् के द्वारा ही वह इस लोक में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है ॥८॥

पूर्व में छत्तीस पग क्यों होते हैं? बृहती छन्द छत्तीस अक्षर का होता है। बृहती के द्वारा ही देव लोग स्वर्गलोक को प्राप्त हुए। इसी प्रकार यह भी बृहती छन्द द्वारा स्वर्गलोक को प्राप्त करता है। उसकी आहवनीय अग्नि द्यौलोक में होती है ॥९॥

वेदी आगे की ओर २४ पग की क्यों होती है? गायत्री चौबीस अक्षर की होती है। गायत्री यज्ञ का पूर्वार्ध है। उसलिए वह आगे को चौबीस पग चौड़ी होती है। वेदी की यही मात्रा

त्वेषा मात्रा वेदेः ॥१०॥ अथ यत्पश्चाद्वरीयसी भवति । पश्चाद्वरीयसी पृथुश्रोणि-
रिति वै योषां प्रशंसन्ति यद्वेव पश्चाद्वरीयसी भवति पश्चाद्वैतद्वरीयः प्रजननं क-
रोति तस्मात्पश्चाद्वरीयसः प्रजननादिमाः प्रजाः प्रजायन्ते ॥११॥ नासिका ह वा
ऽएषा यज्ञस्य यदुत्तरवेदिः । अथ यदेनामुत्तरां वेदेरुपकिरति तस्मादुत्तरवेदिर्नाम
॥१२॥ द्वय्यो ह वाऽइदमग्रे प्रजा आसुः । आदित्याश्चैवाङ्गिरसश्च ततोऽङ्गिरसः
पूर्वे यज्ञꣳ समभरंस्ते यज्ञꣳ सम्भृत्योचुरग्निमिमां नः श्वःसुत्यामादित्येभ्यः प्रब्रूह्यनेन
नो यज्ञेन याजयतेति ॥१३॥ ते हादित्या ऊचुः । उपजानीत यथास्मानिवाङ्गिरसो
याजयान्न वयमङ्गिरस इति ॥१४॥ ते होचुः । न वाऽअन्येन यज्ञादपक्रमणमस्त्य-
न्तरामेव सुत्यां श्रियामहाऽइति ते यज्ञꣳ संजह्रुस्ते यज्ञꣳ सम्भृत्योचुः श्वःसुत्यां वै
त्वमस्मभ्यमग्ने प्रावोचोऽथ वयमद्यसुत्यामेव तुभ्यं प्रब्रूमोऽङ्गिरोभ्यश्च तेषां नस्त्वꣳ
होतासीति ॥१५॥ तेऽन्यमेव प्रतिप्रजिघ्युः । अङ्गिरसोऽहꣳ ते हाप्यङ्गिरसोऽग्नये
ऽन्वागत्य चुक्रुधुरिव कथं नु नो दूतश्चरन्न प्रत्याहृथा इति ॥१६॥ स होवाच ।
अनिन्द्या वै मावृषत सोऽनिन्द्यैर्वृतो नाशकमपक्रमितुमिति तस्मादु हानिन्द्य-
स्य वृतो नापक्रामेत्तदेतेन सद्यःक्रियाङ्गिरस आदित्यानयाजयन्त्स सद्यःक्रीः ॥१७॥
तेभ्यो वाचं दक्षिणामानयन् । तां न प्रत्यगृह्णन्हास्यामहे यदि प्रतिग्रहीष्याम
इति तदु तद्यज्ञस्य कर्म न व्यमुच्यत यद्दाक्षिणमासीत् ॥१८॥ अथैभ्यः सूर्यं दक्षि-
णामानयन् । तं प्रत्यगृह्णंस्तस्मादु ह स्माहाङ्गिरसो वयं वाऽआर्त्विजीनाः स्मो
वयं दक्षिणीया अपि वाऽअस्माभिरेष प्रतिगृहीतो य एष तपतीति तस्मात्सद्यः-
क्रियोऽश्वः श्वेतो दक्षिणा ॥१९॥ तस्य रुक्मः पुरस्ताद्भवति । तदेनस्य रूपं क्रि-
यते य एष तपति यद्यश्वं श्वेतं न विन्देदपि गौरेव श्वेतः स्यात्तस्य रुक्मः पुर-
स्ताद्भवति तदेतस्य रूपं क्रियते य एष तपति ॥२०॥ तेभ्यो ह वाक्चुक्रोध । के-
न मदेष श्रेयान्वन्धुना३ केना३ यदेतं प्रत्यग्रहीष्ट न मामिति सा हैभ्योऽपचक्रा-

है ॥१०॥

यह पीछे चौड़ी क्यों होती है ? स्त्रियों की प्रशंसा करते हैं कि इनकी श्रोणी (पिछला भाग) चौड़ी है। पिछले भाग के चौड़े होने से कोख बड़ी हो जाती है। कोख से ही सब प्रजा उत्पन्न होती है ॥११॥

उत्तर वेदी यज्ञ की नाक है। यह ऊपर को उठी होती है इसीलिए इसका नाम 'उत्तर वेदी' है ॥१२॥

पहले दो प्रकार की प्रजा थी—आदित्य और अंगिरा। सबसे पहले अंगिरों ने यज्ञ का आरम्भ किया और अग्नि से बोले, 'आदित्यों से कह दो कि कल हमारे सोम-भाग में शामिल हों' ॥१३॥

आदित्य बोले, 'ऐसी तरकीब करो कि अंगिरा लोग हमारे यज्ञ में आवें, न कि हम उनके में' ॥१४॥

उन्होंने कहा, 'इसकी तरकीब केवल यज्ञ ही हैं। हम दूसरा सोम-यज्ञ करें।' उन्होंने यज्ञ की सामग्री इकट्ठी की, "हे अग्नि, तूने तो हमको कल के सोम-याग का बुलावा दिया है, हम तो तुझको और अंगिरों को आज के ही सोम-याग का न्योता देते हैं। तू हमारे लिए होता बन' ॥१५॥

उन्होंने किसी को अंगिरों के पास भेजा। परन्तु अंगिरों ने आग्न का पीछा किया और इस पर क्रुद्ध होकर बोले कि जब तू हमारा दूत थी तो तूने हमारा आदर क्यों नहीं किया ॥१६॥

उसने कहा कि 'अनिन्द्य' अर्थात् निर्दोष लोगों ने मेरा वरण किया। निर्दोषों से वरी जाकर मैं उनका कहना टाल न सकी।' इसलिए अगर कोई निर्दोष मनुष्य किसी (होता) का वरण कर ले तो उसको इनकार नहीं करना चाहिए। तब अंगिरों ने आदित्यों के सोमयाग को उसी दिन कराया। उसका नाम है 'सद्यः-क्री' ॥१७॥

उन्होंने उनको वाणी की दक्षिणा दी। उन्होंने उस (वाणी) को स्वीकार नहीं किया, क्योंकि यदि इसे स्वीकार करेंगे तो हमको हानि होगी। इसलिए यज्ञ पूर्ण नहीं हुआ क्योंकि उसमें दक्षिणा की कमी रह गई ॥१८॥

इस पर वे दक्षिणा के लिए उनके पास सूर्य को लाये। उन्होंने सूर्य को स्वीकार कर लिया। इसीलिए अंगिरा लोग कहते हैं, 'हम याज्ञिक होने के योग्य हैं; हम दक्षिणा लेने के योग्य हैं। यह जो तपता है अर्थात् सूर्य, उसका हमने ग्रहण किया है।' इसलिए 'सद्यः-क्री' यज्ञ की दक्षिणा सफेद घोड़ा होता है ॥१९॥

इस घोड़े के आगे एक सोने का आभूषण होता है। इस प्रकार वह उसका प्रतिरूप हो जाता है जो ऊपर तपता है (अर्थात् सूर्य) ॥२०॥

अब वाणी उनसे नाराज हो गई—'वह मुझसे किस बात में अच्छा है ? उन्होंने उसको क्यों स्वीकार किया, मुझे क्यों न स्वीकार किया ?' ऐसा कहकर वह वहाँ से चली गई। और

म सोभयानन्तरेण देवासुरान्त्संयत्तान्त्सिꣳही भूत्वाददाना चचार तामुपैव देवा अमन्त्रयन्तोपासुरा अग्निरेव देवानां दूत आस सहरक्षा इत्यसुररक्षसमसुराणाꣳ ॥२१॥ सा देवानुपावर्त्स्यन्त्युवाच । यद्व उपावर्तेय किं मे ततः स्यादिति पूर्वामेव वाग्नेराहुतिः प्राप्स्यतीत्यथ हैषा देवानुवाच यां मया कां चाशिषमाशासिष्यध्वे सा वः सर्वा समर्धिष्यतऽइति सैवं देवानुपाववर्त ॥२२॥ स यद्घार्यमाणेऽग्नौ । उत्तरवेदिं व्याघारयति यदेवैनामदो देवा अब्रुवन्पूर्वा वाग्नेराहुतिः प्राप्स्यतीति तदेवैनामेतत्पूर्वामग्नेराहुतिः प्राप्नोति वाग्घ्येषा निदानेनाथ यदुत्तरवेदिमुपकिरति यज्ञस्यैव सर्वत्वाय वाग्घि यज्ञो वागु ह्येषा ॥२३॥ तां वै युगशम्येन विमिमीते । युगेन यत्र ह्यरन्ति शम्यया यतो ह्यरन्ति युगशम्येन वै योग्यं युञ्जन्ति सा यदेवादः सिꣳही भूत्वाशान्तेवाचरत्तदेवैनामेतद्यज्ञे युनक्ति ॥२४॥ तस्मान्निवृत्तदक्षिणां न प्रतिगृह्णीयात् । सिꣳही हैनं भूत्वा क्षिणोति नो ह्यमाकुर्वीत सिꣳही हैवैनं भूत्वा क्षिणोति नो ह्यन्यस्मै दद्याद्यज्ञं तदन्यत्रात्मनः कुर्वीत तस्माद्योऽस्यापि पाप-इव समानबन्धुः स्यात्तस्माऽएनां दद्यात्स यद्ददाति तदेनꣳ सिꣳही भूत्वा न क्षिणोति यदु समानबन्धवे ददाति तदु नान्यत्रात्मनः कुरुतऽएषो निवृत्तदक्षिणायै प्रतिष्ठा ॥२५॥ अथ शम्यां च स्फ्यं चादत्ते । तस्य एष पूर्वार्ध्यः उत्तरार्ध्यः शङ्कुर्भवति तस्मात्प्रत्यङ् प्रक्रामति त्रीन्विक्रमांस्तच्चात्वालं परिलिखति सा चात्वालस्य मात्रा नात्र मात्रास्ति यत्रैव स्वयं मनसा मन्येताग्रेणोत्करं तच्चात्वालं परिलिखेत् ॥२६॥ स वेद्यन्तात् । उदीचीꣳ शम्यां निदधाति स परिलिखति तप्तायनी मेऽसीतीमामेवैतदाहास्याꣳ हि तप्त एति ॥२७॥ अथ पुरस्तात् । उदीचीꣳ शम्यां निदधाति स परिलिखति वित्तायनी मेऽसीतीमामेवैतदाहास्याꣳ हि विविदान एति ॥२८॥ अथानुवेद्यन्तम् । प्राचीꣳ शम्यां निदधाति स परिलिखत्यवतान्मा नाथितादितीमामेवैतदाह यत्र नाथितन्मावतादिति ॥२९॥ अथोत्तरतः ।

सिंहिनी बनकर उन दोनों देव और असुरों के बीच में जो कुछ मिला उसको खाने लगी। देवों ने उसको बुलाया और असुरों ने भी। देवों का दूत 'अग्नि' था और असुर-राक्षसों का 'सह-रक्षा' ॥२१॥

देवों के पास आने की इच्छा करती हुई वह बोली, 'यदि मैं तुम्हारी ओर आ जाऊँ तो मुझे क्या मिलेगा ?' 'तेरे लिए अग्नि से भी पूर्व आहुति मिलेगी।' तब उसने देवों से कहा, 'तुम मेरे आशीर्वाद द्वारा जो चाहोगे वह तुमको प्राप्त होगा।' अतः वह देवों के पास चली गई ॥२२॥

इसलिए उत्तर वेदी में अग्नि का आधान करके जब वह आहुति देता है तो वह आहुति वाणी को अग्नि से भी पूर्व पहुँच जाती है, क्योंकि देवों ने कहा था कि तुझे अग्नि से पहले ही आहुति पहुँच जाया करेगी, क्योंकि जो उत्तर वेदी है वह वस्तुतः वाणी ही है। यह जो उत्तर वेदी को बनाता है वह यज्ञ की पूर्णता के लिए ही बनाता है। वाणी ही यज्ञ है। वाणी ही यह उत्तर वेदी है ॥२३॥

वह उस वेदी को युग और शम्या से नापता है—युग से उस स्थान को जहाँ मिट्टी लाते हैं, और शम्या से उस स्थान को जहाँ से मिट्टी लाते हैं। (शायद युग का अर्थ है डण्डा या जुआ और शम्या का कील ?) क्योंकि बैलों को जुए और कील से जोता जाता है। चूंकि वह सिंहिनी बनकर अशान्ति से विचरती रही, इसलिए वह उसको यज्ञ में जोतता (बाँधता) है ॥२४॥

इसलिए तिरस्कृत दक्षिणा को न ग्रहण करना चाहिए (अर्थात् यदि एक ऋत्विज दक्षिणा न ले तो उस दक्षिणा को दूसरा ऋत्विज न ले), नहीं तो वह सिंहिनी बनकर हानि पहुँचाती है। न (यजमान) उसे घर वापस ले जाये, क्योंकि सिंहिनी होकर वह उसे हानि पहुंचाती है। वह न किसी दूसरे को दे, नहीं तो अपने यज्ञ को दूसरे का बना देगा। यदि उसका कोई पापी रिश्तेदार हो उसे दे दे। तब वह सिंहिनी होकर हानि न पहुँचायेगी। और चूंकि वह अपने ही रिश्तेदार को देता है इसलिए यज्ञ को अपने से अलग नहीं करता। तिरस्कृत दक्षिणा का यही निर्णय है ॥२५॥

अब वह शम्या और स्फ्या को लेता है। जहाँ पूर्वार्ध की उत्तरी कील (शंकु) होती है वहाँ से तीन पग पीछे की ओर भरता है और वहाँ 'चात्वाल' का चिह्न बना देता है। चात्वाल की मात्रा वही होती है जो उत्तर वेदी की। और कोई मात्रा नहीं है। जहाँ उसका मन चाहे उत्कट अर्थात् कूड़े के चात्वाल बना दे ॥२६॥

वह वेदी के अन्त से उत्तर की ओर शम्या को रखता है और रेखा खींच देता है इस मन्त्र को पढ़कर—"तप्तायनी मेऽसि" (यजु० ५।९)—"मेरे लिए तू वह स्थान है जहाँ पीड़ित लोग सहारा पाते हैं।" इससे तात्पर्य इस भूमि से है जिस पर वह पीड़ित होकर चलता है ॥२७॥

अब वह आगे की ओर उत्तर को शम्या रखता है और रेखा खींचता है, यह पढ़कर—"वित्तायनी मेऽसि" (यजु० ५।९) —"तू मेरा धन का स्थान है।" इससे तात्पर्य इस भूमि से है क्योंकि यहीं वह धन प्राप्त करके चलता है ॥२८॥

अब वह वेदी के किनारे पर पूर्व की ओर शम्या रखता और रेखा खींचता है, यह पढ़कर—"अवतान् मा नाथितात्" (यजु० ५।९)—"मुझे दरिद्रता से बचा।" इससे भूमि से तात्पर्य है अर्थात् जहाँ-जहाँ दरिद्रता हो वहाँ से मुझे बचा ॥२९॥

अब वह उत्तर की ओर पूर्व को शम्या रखता है और रेखा खींचता है यह मन्त्र पढ़कर—

प्राचीꣳ शम्यां निदधाति स परिलिखत्यत्रतान्मा व्यथितादितीमामेवैतदाह यत्र व्यथेतन्मावतादिति ॥३०॥ अथ हरति । यत्र हरति तदग्नीदुपसीदति स वाऽअग्नीनामेव नामानि गृह्णन्हरति यान्वाऽअमून्देवा अग्रेऽग्नीन्होत्राय प्रावृणत ते प्राधन्वंस्तऽइमा एव पृथिवीरुपसर्पन्निमामहैव द्वेऽअस्याः परे तेनैवैतानन्नदानेन हरति ॥३१॥ स प्रहरति । विदेदग्निर्नभो नामाग्नेऽअङ्गिर आयुना नाम्नेहीति स यत्प्राधन्वंस्तदायुर्दधाति तत्समीरयति योऽस्यां पृथिव्यामसीति योऽस्यां पृथिव्यामसीति ह्वा निदधाति यत्तेऽनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वादधऽइति यत्तेऽनाधृष्टꣳ रक्षोभिर्नाम यज्ञियं तेन त्वादधऽइत्येवैतदाहानु त्वा देववीतयऽइति चतुर्थꣳ हरति देवेभ्यस्त्वा जुष्टꣳ हरामीत्येवैतदाह तां वै चतुःस्रक्तिमावालाद्धरति चतस्रो वै दिशः सर्वाभ्य एवैनामेतद्दिग्भ्यो हरति ॥३२॥ अथानुव्यूहति । सिꣳह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः कल्पस्वेति सा यदेवादः सिꣳही भूत्वाशान्तिवाचरत्तदेवैनामेतदाह सिꣳह्यसीति सपत्नसाहीति त्वया वयꣳ सपत्नान्पापीयसः क्रियास्मेत्येवैतदाह देवेभ्यः कल्पस्वेति योषा वाऽउत्तरवेदिस्तामेवैतद्देवेभ्यः कल्पयति ॥३३॥ तां वै युगमात्रीं वा सर्वतः करोति । यजमानस्य वा दश-दश पदानि दशाक्षरा वै विराड्वाग्वै विराड्वाग्यज्ञो मध्ये नाभिकामिव करोति समानत्रासीनो व्याघारयाणीति ॥३४॥ तामद्भिरभ्युक्षति । सा यदेवादः सिꣳही भूत्वाशान्तिवाचरच्छान्तिरापस्तामद्भिः शमयति योषा वाऽउत्तरवेदिस्तामेवैतद्देवेभ्यो हिन्वति तस्मादद्भिरभ्युक्षति ॥३५॥ सोऽभ्युक्षति । सिꣳह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः शुन्धस्वेत्यथ सिकताभिरनुविकिरत्यलंकारो न्वेव सिकता आजन्तऽइव हि सिकता अग्नेर्वाऽएतद्वैश्वानरस्य भस्म यत्सिकता अग्निं वाऽअस्यामाधास्यन्भवति तथो हैनामग्निर्न हिनस्ति तस्मात्सिकताभिरनुविकिरति सोऽनुविकिरति सिꣳह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः शुम्भस्वेत्यथैनां छादयति सा छन्नैताꣳ रात्रिं वसति ॥३६॥ ब्राह्मणम् ॥१ [५.१]॥ ॥

"अवतान् मा व्यथितात्" (यजु० ५।९)—"मुझे व्यथा से बचा।" इससे भी भूमि से तात्पर्य है अर्थात् 'जहाँ कहीं व्यथा हो वहाँ से बचा' ।।३०।।

अब वह स्फ्या को फेंकता है। जहाँ स्फ्या को फेंकता है वहाँ आग्नीध्र बैठता है। जब वह फेंकता है तो अग्नियों के नाम लेता जाता है। देवों ने जिन अग्नियों को पहले होत्र के लिए चुना था वे चली गईं और पृथिवी में घुस गईं—एक इस पृथिवी में और दो उनमें जो इससे परे हैं। वह उस अग्नि के साथ फेंकता है जो इस (पृथिवी) में घुसी थी ।।३१।।

वह इस मन्त्र को पढ़कर फेंकता है—"विदेदग्निर्नभो नामाग्नेऽअङ्गिरऽआयुना नाम्ना एहि" (यजु० ५।९)—"नभ नामवाली अग्नि तुझे जाने, हे अङ्गिरा अग्नि, आयु नाम के साथ जा।" जिस आयु से वे गुजर गये उस आयु को दिलाता है। फिर प्राणों से सम्पन्न करता है। नीचे लिखे मन्त्रांश से मिट्टी उठाता है —"योऽस्यां पृथिव्यामसि" (यजु० ५।९)—और नीचे के मन्त्रांश से उस मिट्टी को उत्तर वेदी में रखता है—"यत्तेऽनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वा दधे" (यजु० ५।९)—"जो तेरा आदर का नाम हो उससे तुझको रखता हूँ।" इससे उसका तात्पर्य यह है कि मैं तुझको उस नाम से रखता हूँ जिसे राक्षसों ने अपमानित नहीं किया। इस मन्त्रांश से चौथी बार लेता है—"अनु त्वा देववीतये" (यजु० ५।९)—"देवों की प्रसन्नता के लिए तुझको।" इससे तात्पर्य है कि तुझसे देव प्रसन्न हैं। इसको वह चौकोर चत्वाल से लेता है। चार दिशाएँ हैं। अर्थात् वह चारों दिशाओं से लेता है ।।३२।।

अब वह मिट्टी को इस मन्त्रांश से अलग करता है—"सिँ ह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः कल्पस्व" (यजु० ५।१०)—"तू सिंहिनी है। शत्रुओं पर विजयिनी। देवों के योग्य बन।" चूँकि वह पहले सिंहिनी बन गई और अशान्त विचरती रही, इसलिए वह उसको कहता है, 'तू सिंहिनी है।' 'शत्रुओं पर विजयिनी' से तात्पर्य है कि 'तेरे द्वारा हम अपने शत्रुओं पर विजय पावें।' 'देवों के योग्य बन' अर्थात् उत्तर वेदी स्त्री है, उसको देवों के योग्य बनाता है ।।३३।।

वे इसको चारों ओर से या तो 'युग' के बराबर बनाता है या यजमान के दस-दस पद के बराबर। विराट् छन्द दश अक्षर का होता है। विराट् वाणी है और वाणी यज्ञ है। बीच में नाभि के समान है कि एक ही स्थान पर बैठा-बैठा आहुति दे सकूं ।।३४।।

वह इसे जल से सींचता है। चूँकि वह सिंहिनी होकर अशान्त विचरती रही, अतः जल शान्ति है, इसलिए वह उसको जल से शान्त करता है। उत्तर वेदी स्त्री है। वह इसको देवों के योग्य बनाता है, इसलिए वह उसको जल से सींचता है ।।३५।।

वह यह मन्त्रांश पढ़कर जल सिंचन करता है—"सिँ ह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः शुन्धस्व" (यजु० ५।१०)—"तू सिंहिनी है, शत्रुओं पर विजयिनी, देवों के लिए पवित्र बन।" अब वह रेत डालता है। रेत अलंकार है क्योंकि रेत चमकता है। रेत अग्नि विश्वानर की भस्म है। अब वह इस पर अग्नि रक्खेगा, इसलिए अग्नि उसको हानि नहीं पहुँचाता। इसलिए वह उस पर रेत डालता है। इस मन्त्रांश को पढ़कर—"सिँ ह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः शुम्भस्व" (यजु० ५।१०) "तू सिंहिनी है, शत्रुओं पर विजयिनी, देवों के लिए सज।" अब वह उसे ढक देता है। वह रात-भर ढकी रहती है ।।३६।।

इध्ममभ्यादधाति । उपयमनीरुपकल्पयन्त्याज्यमधिश्रयति स्रुवं च स्रुचं च संमार्ष्ट्यथोत्पूयाज्यं पञ्चगृहीतं गृह्णीते यदा प्रदीप्त इध्मो भवति ॥१॥ अथोपयच्छन्तीध्मम् । उपयच्छन्त्युपयमनीरथाहाग्नये प्रह्रियमाणायानुब्रूहीत्येकस्फ्ययानूद्देहीत्यनूद्देति प्रतिप्रस्थातैकस्फ्ययैतस्मान्मध्यमाच्छङ्कोरेष वेदेर्जघनार्धे भवति तद्यदेवात्रान्तःपातेन गार्हपत्यस्य वेदेर्व्यवच्छिन्नं भवति तदेवैतदनुसंतनोति ॥२॥ तद्धैके । आोत्तरवेदेरनूद्दायन्ति तदु तथा न कुर्यादेवैतस्मान्मध्यमाच्छङ्कोरनूद्दियात्तऽआयन्त्यागच्छन्त्युत्तरवेदिम् ॥३॥ ॥ शतम् १८०० ॥ ॥ प्रोक्षणीरध्वर्युरादत्ते । स पुरस्तादेवाग्रे प्रोक्षत्युदङ् तिष्ठन्निन्द्रघोषस्त्वा वसुभिः पुरस्तात्पात्वितीन्द्रघोषस्त्वा वसुभिः पुरस्ताद्गोपायत्वित्येवैतदाह ॥४॥ अथ पश्चात्प्रोक्षति । प्रचेतास्त्वा रुद्रैः पश्चात्पात्विति प्रचेतास्त्वा रुद्रैः पश्चाद्गोपायत्वित्येवैतदाह ॥५॥ अथ दक्षिणतः प्रोक्षति । मनोजवास्त्वा पितृभिर्दक्षिणतः पात्विति मनोजवास्त्वा पितृभिर्दक्षिणतो गोपायत्वित्येवैतदाह ॥६॥ अथोत्तरतः प्रोक्षति । विश्वकर्मा त्वादित्यैरुत्तरतः पात्विति विश्वकर्मा त्वादित्यैरुत्तरतो गोपायत्वित्येवैतदाह ॥७॥ अथ याः प्रोक्षण्यः परिशिष्यन्ते । तद्येऽएते पूर्वे स्रक्ती तयोर्या दक्षिणा ता न्यक्तेन बहिर्वेदि निनयतीदमहं तप्तं वार्बहिर्धा यज्ञान्निःसृजामीति सा यदेवाद्भः सिञ्चती भूत्वाशान्तेवाचरत्तामेवास्या एतच्छुचं बहिर्धा यज्ञान्निःसृजति यदि नाभिचरेद्यद्युऽअभिचरेदादिशेदिदमहं तप्तं वारमुमभि निःसृजामीति तमेतया शुचा विध्यति स शोचन्नेवामुं लोकमेति ॥८॥ स यद्धार्यमाणेऽग्नौ । उत्तरवेदिं व्याघारयति यदेवैनामदो देवा अब्रुवन्पूर्वा त्वाग्नेराकृतिः प्राप्स्यतीति तदेवैनामेतत्पूर्वामग्नेराकृतिः प्राप्नोति यद्वेषा देवानब्रवीद्यां मया कां चाशिषमाशासिष्यध्वे सा वः सर्वा समर्धिष्यतऽइति तामेनयात्रऽर्त्विजो यजमानायाशिषमाशासते सास्मै सर्वा समृध्यते ॥९॥ तद्वाऽएतदेकं कुर्वन्द्वयं करोति । यदुत्तरवेदिं व्याघारयत्यथ यैषां मध्ये नाभिकेव भवति तस्यै ये

अध्याय ५—ब्राह्मण २

वे (आहवनीय अग्नि पर) समिधाएँ रखते हैं। और उपयमनी (नीचे की तह जो बालू डालकर बनाई जाती है) बनाते हैं। (अध्वर्यु) [गार्हपत्य अग्नि पर] घी रखता है। स्रुवा और स्रुक् दोनों को माँजता है, और घी को छानकर उसमें से पाँच चम्मच (स्रुक् में) लेता है। जब अग्नि प्रज्वलित हो जाती है तो—॥१॥

जलती समिधा को उठाकर उपयमनी पर रखते हैं। अब वह (होता से) कहता है, 'अग्नि को लिये जाते हैं, इसके लिए स्तुति कर।' और (प्रतिप्रस्थाता से) कहता है कि 'एक स्फ्या को लेकर उसके पीछे-पीछे आ।' प्रतिप्रस्थाता एक स्फ्या को लेकर उसके पीछे-पीछे चलता है, वेदी के निचले भाग की बीच की कील तक। उस बीच की कील ने गार्हपत्य का जितना भाग वेदी से अलग कर दिया उसको जोड़ देता है॥२॥

कुछ लोग उत्तर वेदी तक पीछे-पीछे जाने के पक्ष में हैं, परन्तु ऐसा न करना चाहिए, केवल मध्य की कील तक जाना चाहिए। वे आते हैं और उत्तर वेदी तक पहुँच जाते हैं॥३॥ [शतम् १८००]

अध्वर्यु प्रोक्षणी ले लेता है। वह आगे उत्तर की वेदी को सींचता है, दक्षिण की ओर उत्तराभिमुख खड़ा होकर और यह मन्त्र बोलकर—"इन्द्रघोषस्त्वा वसुभिः पुरस्तात् पातु" (यजु० ५।११)—"इन्द्र का शोर वसुओं के साथ तेरी रक्षा करे।" यही उसका तात्पर्य है॥४॥

अब वह पीछे की ओर जल सींचता है इस मन्त्र को पढ़कर—"प्रचेतास्त्वा रुद्रैः पश्चात्पातु" (यजु० ५।११)—"बुद्धिमान् लोग रुद्रों के साथ पीछे की ओर तेरी रक्षा करें।" इसका तात्पर्य यह है कि बुद्धिमान् लोग रुद्रों के साथ पीछे से तेरी रक्षा करें॥५॥

अब दक्षिण की ओर जल-सिंचन करता है इस मन्त्र को पढ़कर—"मनोजवास्त्वा पितृभिर्दक्षिणतः पातु" (यजु० ५।११)—"तीव्र मनवाले पितरों के साथ दक्षिण की ओर तेरी रक्षा करें।" इसका तात्पर्य यह है कि तीव्र मनवाले पितरों के साथ दक्षिण की ओर तेरी रक्षा करें॥६॥

अब उत्तर की ओर जल-सिंचन करता है इस मन्त्र को पढ़कर—"विश्वकर्मा त्वादित्यैरुत्तरतः पातु" (यजु० ५।११)—"विश्वकर्मा आदित्यों के साथ उत्तर की ओर तेरी रक्षा करें।" इसका तात्पर्य है कि विश्वकर्मा उत्तर की ओर आदित्यों के साथ तेरी रक्षा करें॥७॥

प्रोक्षणी पात्र में जो पानी बच रहता है उसको वह वेदी के बाहर जहाँ उत्तर वेदी के दो पूर्व कोने हैं उनमें से दक्षिणी कोने के पास फेंक देता है यह मन्त्र पढ़कर—"इदमहं तप्तं वार्बहिर्धा यज्ञान्निःसृजामि" (यजु० ५।११)—"इस गर्म जल को मैं यज्ञ के बाहर निकालता हूँ।" चूंकि वह वाणी सिंहिनी बनकर अशान्त फिरती रही, उसके उस शोक को इस प्रकार यज्ञ से निकालता है। यदि किसी के विरुद्ध शाप न देना चाहे तो इतना ही कहे, परन्तु यदि शाप देना चाहे तो इतना कहे कि 'अमुक पुरुष के विरुद्ध इस जल को मैं यज्ञ के बाहर निकालता हूँ।' इस प्रकार वह उस पुरुष को उस शोक से बाँधता है और वह शोक से पीड़ित उस लोक को जाता है॥८॥

वह अग्नि को लेते हुए उत्तर वेदी पर घी क्यों छोड़ता है? इसलिए कि देवों ने पहले ही वाणी से कह दिया था कि अग्नि से पूर्व तुझको आहुति मिलेगी। इसलिए आहुति अग्नि से पूर्व ही उस तक पहुँच जाती है। और वाणी ने देवों से जो यह कहा था कि जो कुछ मेरा आशीर्वाद होगा वह सब तुमको प्राप्त होगा, इसीलिए ऋत्विज यजमान के लिए वह सब आशीर्वाद प्राप्त कराते हैं, और उसके लिए इस सब की पूर्ति होती है॥९॥

यह जो उत्तर वेदी पर घी छोड़ता है वह एक बार छोड़ता हुआ मानो दो बार छोड़ता

पूर्वे स्रक्ती तयोर्या दक्षिणा ॥१०॥ तस्यामाघारयति । सिꣳह्यसि स्वाहेत्यथापर-
योरुत्तरस्याꣳ सिꣳह्यस्यादित्यवनिः स्वाहेत्यथापरयोर्दक्षिणस्याꣳ सिꣳह्यसि ब्रह्म-
वनिः क्षत्रवनिः स्वाहेति बह्वी वै यजुःष्वाशीस्तद्ब्रह्म च क्षत्रं चाशास्तऽउभे वी-
र्ये ॥११॥ अथ पूर्वयोरुत्तरस्याꣳ । सिꣳह्यसि सुप्रजावनी रायस्पोषवनिः स्वाहे-
ति तत्प्रजामाशास्ते यदाह सुप्रजावनिरिति रायस्पोषवनिरिति भूमा वै रायस्पो-
षस्तद्भूमानमाशास्ते ॥१२॥ अथ मध्यऽआघारयति । सिꣳह्यस्यावह देवान्यजमा-
नाय स्वाहेति तद्देवान्यजमानायावाहयत्यथ स्रुचमुद्गृह्णाति भूतेभ्यस्त्वेति प्रजा वै
भूतानि प्रजाभ्यस्त्वेत्येवैतदाह ॥१३॥ अथ परिधीन्परिदधाति । ध्रुवोऽसि पृथिवीं
दृꣳहेति मध्यमं ध्रुवक्षिदस्यन्तरिक्षं दृꣳहेति दक्षिणमच्युतक्षिदसि दिवं दृꣳहेत्युत्त-
रमग्नेः पुरीषमसीति सम्भारानुपनिवपति तद्यत्सम्भारा भवन्त्यग्नेरेव सर्वत्वाय ॥१४॥
शरीरꣳ हैवास्य पीतुदारु । तद्यत्पैतुदारवाः परिधयो भवन्ति शरीरेणैवैनमेतत्स-
मर्धयति कृत्स्नं करोति ॥१५॥ माꣳसꣳ हैवास्य गुल्गुलु । तद्यद्गुल्गुलु भवति
माꣳसेनैवैनमेतत्समर्धयति कृत्स्नं करोति ॥१६॥ गन्धो हैवास्य सुगन्धितेजनम् ।
तद्यत्सुगन्धितेजनं भवति गन्धेनैवैनमेतत्समर्धयति कृत्स्नं करोति ॥१७॥ अथ
यद्वृष्णे स्तुका भवति । वृष्णेर्ह वै विषाणेऽअन्तरेणाग्निरेकाꣳ रात्रिमुवास तद्यद्देवा-
त्राग्नेर्न्यक्तं तदिहाप्यसदिति तस्माद्वृष्णे स्तुका भवति तस्माद्या शीर्ष्णो नेदिष्ठꣳ स्या-
त्तामाहिंस्याद्धरेद्यद्यु तां न विन्देदपि यामेव कां चाहरेत्तद्यत्परिधयो भवन्ति गु-
प्त्याऽएव दूराऽइव ह्येनमुत्तरे परिधय आगच्छन्ति ॥१८॥ ब्राह्मणम् ॥२[५.२]॥ ॥

पुरुषो वै यज्ञः । पुरुषस्तेन यज्ञो यदेनं पुरुषस्तनुतऽएष वै तायमानो या-
वानेव पुरुषस्तावान्विधीयते तस्मात्पुरुषो यज्ञः ॥१॥ शिर एवास्य हविर्धानम् ।
वैष्णवं देवतयाथ यदस्मिन्त्सोमो भवति हविर्वै देवानाꣳ सोमस्तस्माद्धविर्धानं
नाम ॥२॥ मुखमेवास्याहवनीयः । स यदाहवनीये जुहोति यथा मुखऽआसि-

है। अब जो मध्य में नाभि है उसके जो सामने कोने हैं उनमें जो दक्षिणी कोना है—॥१०॥

उस पर घी छोड़ता है यह पढ़कर—"सिँ्ह्यसि स्वाहा" (यजु०५।१२)—"तू सिंहिनी है। स्वाहा।" अब पिछले कोनों में से उत्तरी कोने पर यह पढ़कर—"सिँ्ह्यस्यादित्यवनिः स्वाहा" (यजु० ५।१२)—"तू सिंहिनी है आदित्यों को जीतनेवाली। स्वाहा।" पिछले दो कोनों से दक्षिणी कोने पर यह पढ़कर—"सिँ्ह्यसि ब्रह्मवनिः क्षत्रवनिः स्वाहा" (यजु० ५।१२)—"तू सिंहिनी है ब्रह्म-तेज को जीतनेवाली, क्षत्र-तेज को जीतनेवाली, स्वाहा।" आशीर्वाद-सम्बन्धी यजुर्वेद के मन्त्र बहुत-से हैं। वह इन दो से ब्राह्मण और क्षत्रिय के लिए आशीर्वाद देता है, क्योंकि यही दोनों पराक्रम हैं ॥११॥

अब आगे के कोनों में से जो उत्तर का है उस पर—"सिँ्ह्यसि सुप्रजावनी रायस्पोषवनिः स्वाहा" (यजु० ५।१२)—"तू सिंहिनी है अच्छी प्रजा को प्राप्त करनेवाली और धन को प्राप्त करनेवाली। स्वाहा।" 'सुप्रजावनी' का अर्थ है कि सन्तान अधिक हो, 'रायस्पोष' का अर्थ है कि धन का बाहुल्य हो ॥१२॥

अब वह मध्य में घी डालता है यह पढ़कर—"सिँ्ह्यस्यावह देवान् यजमानाय स्वाहा" (यजु० ५।१२)—"तू सिंहिनी है, देवों को यजमान के लिए ला। स्वाहा।" इससे वह देवों को यजमान के पास बुलाता है। अब वह स्रुच को उठाता है यह पढ़कर—"भूतेभ्यस्त्वा" (यजु० ५।१२)—"भूतों के लिए तुझको।" 'भूत' का अर्थ है प्रजा। 'प्रजा के लिए' यह तात्पर्य है ॥१३॥

अब वह परिधियों को रखता है, बीच की परिधि को यह मन्त्र पढ़कर—"ध्रुवोऽसि पृथिवीं दृँ्ह" (यजु० ५।१३)—"तू दृढ़ है, पृथिवी को दृढ़ कर।" दक्षिण की परिधि को यह मन्त्र पढ़कर—"ध्रुवक्षिदस्यन्तरिक्षं दृँ्ह" (यजु० ५।१३)—"तू दृढ़ है, अन्तरिक्ष को दृढ़ कर।" उत्तर की परिधि को यह मन्त्र पढ़कर—"अच्युतक्षिदसि दिवं दृँ्ह" (यजु० ५।१३)—"तू दृढ़ है, द्यौलोक को दृढ़ कर।" और इस मन्त्र के सब सामान को उत्तर वेदी में फेंक देता है—"अग्नेः पुरीषमसि" (यजु० ५।१३)—"तू अग्नि का भोजन (शरीर को पूरा करनेवाला) है।" वह सामान किसलिए है? अग्नि की पूर्ति के लिए ॥१४॥

यह जो पीतु दारु है वह इसका शरीर है। ये जो पीतु दारु की लकड़ियाँ परिधियाँ होती हैं, इसलिए वह इन परिधियों के द्वारा उसको शरीर देता है, अर्थात् उसकी पूर्ति करता है ॥१५॥

यह जो गुल्गुल (उसका गोंद) है वह उस (अग्नि) का मांस है। यह जो गुल्गुलु है वह मानो उसको मांस देता है अर्थात् उसकी पूर्ति करता है। (शायद पीतु दारु के गोंद को गुल्गुलु कहते हैं) ॥१६॥

सुगन्धि-तेज उसकी गन्ध है। सुगन्धि-तेज से मानो वह उसे सुगन्धि से सम्पन्न करता है। उसकी पूर्ति करता है ॥१७॥

मेंढे की पूंछ के बाल क्यों होते हैं? (?) अग्नि एक बार एक रात को मेंढे के दो सींगों के बीच में रहा था। वह सोचता है कि अग्नि का जो अंश उसमें था वही यहाँ भी हो, इसलिए मेंढे के बाल होते हैं। इसलिए बालों के उस गुच्छे को काटना चाहिए जो सिर के बिल्कुल पास हो और यदि वह न मिले तो जो मिले वही लावे। परिधियाँ क्यों होती हैं? अग्नि की रक्षा के लिए। क्योंकि अभी वह समय दूर है जब अगली परिधियाँ आवेंगी ॥१८॥

अध्याय ५—ब्राह्मण ३

यज्ञ पुरुष है। पुरुष इसलिए है कि इसको पुरुष ही तानता है। तनकर यह उतना ही हो जाता है जितना पुरुष होता है। इसीलिए यज्ञ पुरुष है ॥१॥

हविर्धान अर्थात् सोम ले-जानेवाली गाड़ी का घर सिर है। विष्णु इसका देवता है। और चूंकि इसमें सोम होता है और सोम देवताओं का हवि है, इसलिए इस गाड़ी को हविर्धान कहते हैं ॥२॥

आहवनीय मुख है। इसलिए जब वह आहवनीय में आहुति देता है तो मानो मुख के

श्वेदेवं तत् ॥३॥ स्तुप एवास्य यूपः । बाहू ऽएवास्याग्नीध्रीयश्च मार्जालीयश्च ॥४॥ उदरमेवास्य सदः । तस्मात्सदसि भक्षयन्ति यद्धीदं किं चाश्नन्त्युदर ऽएवेदꣳ सर्वं प्रतितिष्ठत्यथ यदस्मिन्विश्वे देवा असीदंस्तस्मात्सदो नाम त ऽ उ ऽ एवास्मिन्नेते ब्राह्मणा विश्वगोत्राः सीदन्ति ॥५॥ अथ यावेतौ जघनेनाग्नी । पादावेवास्यैतावेष वै तायमानो यावानेव पुरुषस्तावान्विधीयते तस्मात्पुरुषो यज्ञः ॥६॥ उभयतोद्वारꣳ हविर्धानं भवति । उभयतोद्वारꣳ सदस्तस्मादयं पुरुष आत्तꣳ संतृषः प्रणिक्ते हविर्धाने ऽउपतिष्ठते ॥७॥ ते समववर्तयन्ति । दक्षिणेनैव दक्षिणामुत्तरेणोत्तरं यद्वर्षीयस्तद्दक्षिणꣳ स्यात् ॥८॥ तयोः समववृत्तयोः । छदिरधिनिदधाति यदि छदिर्न विन्देयुश्छदिःसंमितां भित्तिं प्रत्यानह्यन्ति रराट्यां परिश्रयन्त्युच्छ्रायीभ्यां छदिः पश्चादधिनिदधाति छदिःसंमितां वा भित्तिम् ॥९॥ अथ पुनः प्रपद्य । चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा सावित्रं प्रसवाय जुहोति सविता वै देवानां प्रसविता सवितृप्रसूताय यज्ञं तनवामहा ऽइति तस्मात्सावित्रं जुहोति ॥१०॥ स जुहोति । युञ्जते मन उत युञ्जते धिय इति मनसा च वै वाचा च यज्ञं तन्वते स यदाह युञ्जते मन इति तन्मनो युनक्त्युत युञ्जते धिय इति तद्वाचं युनक्ति धिया-धिया ह्येतया मनुष्या जुजूषन्त्यनूक्तेनेव प्रकामोद्येनेव गाथाभिरिव ताभ्यां युक्ताभ्यां यज्ञं तन्वते ॥११॥ विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चित इति । ये वै ब्राह्मणाः शुश्रुवाꣳसो ऽनूचानास्ते विप्रास्तानेवैतदभ्याह बृहतो विपश्चित इति यज्ञो वै बृहन्विपश्चिद्यज्ञमेवैतदभ्याह वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इदिति वि हि होत्रा दधते यज्ञं तन्वाना मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः स्वाहेति तत्सावित्रं प्रसवाय जुहोति ॥१२॥ अथापरं चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा । उपनिष्क्रामति दक्षिणाया द्वारा पत्नीं निष्क्रामयन्ति स दक्षिणस्य हविर्धानस्य दक्षिणायां वर्तन्याꣳ हिरण्यं निधाय जुहोतीदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् । समूढमस्य पाꣳसुरे स्वाहेति

भीतर डालता है ।।३।।

यूप उसके सिर की चोटी है । अग्नीध्रीय और मार्जालीय उसके बाहू हैं ।।४।।

सदः (ऋत्विजों का स्थान) उसका उदर है । इसलिए सदः में ही भोजन करते हैं । इस संसार में जो कुछ खाया जाता है वह सब उदर में ही रक्खा जाता है । इसको 'सदस्' इसलिए कहते हैं कि इसमें सब देव बैठे थे (आसीदन्), और सब गोत्रों के ब्राह्मण इसी में बैठते हैं ।।५।।

और पिछली जो दो अग्नियाँ हैं वे पैर हैं । तानने से यज्ञ उतना ही हो जाता है जितना पुरुष है । इसलिए कहा है कि यज्ञ पुरुष है ।।६।।

हविर्धान-गृह के दोनों ओर द्वार होते हैं । सदस् के भी दोनों ओर द्वार होते हैं । इसी प्रकार पुरुष के भी दोनों ओर छिद्र होते हैं । जब हविर्धान धुल जाते हैं तो वह उनमें प्रवेश करता है ।।७।।

वे उनको घुमा देते हैं, दाहिना दक्षिण की ओर और बायाँ उत्तर की ओर । जो बड़ा होता है वह दाहिना होता है ।।८।।

घुमाये हुए उन पर एक चटाई रखते हैं । यदि चटाई न मिले तो बेत को चीरकर चटाई के समान बना लें । आगे के द्वार में टट्टी लगाते हैं । दो सीधी टट्टियाँ खड़ी करके गाड़ियों को उनके बीच में रखते हैं और उनके ऊपर चटाई या वेत का पाल-सा डाल देते हैं ।।९।।

अब वह शाला में जाकर और चार चम्मच घी लेकर सविता की प्रेरणा के लिए आहुति देता है, क्योंकि सविता देवों का प्रेरक है । वह सोचता है कि सविता की प्रेरणा के लिए मैं यज्ञ करूँगा । इसलिए वह सविता के लिए आहुतियाँ देता है ।।१०।।

वह इस मन्त्र से आहुति देता है —"युञ्जते मनऽउत युञ्जते धियः" (यजु० ५।१४) — "मन को लगाते हैं और बुद्धियों को लगाते हैं ।" मन और वाणी से यज्ञ किया जाता है । जब कहता है 'युञ्जते मन' तब मन को लगाता है । जब कहता है 'युञ्जते धियः' तो वाणी को लगाता है, क्योंकि इसी वाणी के द्वारा मनुष्य अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार जीविका कमाते हैं, वेदपाठ द्वारा या बातचीत द्वारा, या गीत गाकर । उन दोनों (मन और बुद्धि) को लगाकर यज्ञ किया जाता है ।।११।।

"विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः" (यजु० ४।१४)—"बड़े ज्ञानी, विप्र के विप्र ।" ये जो वेदपाठी विद्वान् ब्राह्मण हैं उनका नाम विप्र है । उन्हीं के विषय में यह कथन है । 'बृहतो विपश्चितः' यह यज्ञ के विषय में है । "वि होत्रा दधे वयुना विदेकऽइत्" (यजु० ५।१४)—"एक वयुनावित् अर्थात् सर्वज्ञ ने ही होताओं का काम निश्चित किया है" [नोट—'वयुनं वेत्तेः कान्तिर्वा प्रज्ञा वा'—यास्क, निरुक्तं ५।१५]—"मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः स्वाहा"(यजु० ५।१४)—"देव सविता की स्तुति बड़ी है ।" यह कहकर प्रेरक सविता के लिए आहुति देता है ।।१२।।

अब फिर चार चम्मच घी लेकर शाला के बाहर निकलता है । दक्षिण द्वार से पत्नी को निकालते हैं । दायें हविर्धान के दायें पहिये के मार्ग में सोना रखकर आहुति देता है, यह मन्त्र पढ़कर—"इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् । समूढमस्य पाँसुरे स्वाहा" (यजु० ५।१५ तथा ऋ० १।२२।१७)—"विष्णु ने इस संसार को पार किया । उसने तीन बार पग रक्खा । यह

सꣳस्रवं पत्न्यै पाणावानयति साऽन्तस्य संतापमुपानक्ति देवश्रुतौ देवेष्वाघोषतमि-
ति प्रयच्छति प्रतिप्रस्थात्रे स्रुचं चाज्यविलापनीं च पर्यायाणयन्ति पत्नीमुभौ जघनेना-
ग्नी ॥१३॥ चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा । प्रतिप्रस्थातोत्तरस्य हविर्धानस्य दक्षिणायां
वर्तन्याꣳ हिरण्यं निधाय जुहोतीरावती धेनुमती हि भूतꣳ सूयवसिनी मनवे
दशस्या । व्यस्कभ्ना रोदसी विष्णवेते दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखैः स्वाहेति सꣳ-
स्रवं पत्न्यै पाणावानयति साऽन्तस्य संतापमुपानक्ति देवश्रुतौ देवेष्वाघोषतमिति
तद्यदेवं जुहोति ॥१४॥ देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः । तेऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद्बि-
भयां चक्रुर्यज्ञो वाऽआज्य तऽएतेन वज्रेणाज्येन दक्षिणतो नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यवाघ्न-
स्तथैषां नियानं नान्ववायंस्तथोऽएवैष एतेन वज्रेणाज्येन दक्षिणतो नाष्ट्रा र-
क्षाꣳस्यवहन्ति तथास्य नियानं नान्ववयन्ति तद्यद्वैष्णवीभ्यामृग्भ्यां जुहोति वैष्ण-
वꣳ हि हविर्धानम् ॥१५॥ अथ यत्पत्न्यन्तस्य संतापमुपानक्ति । प्रजननमेवैत-
त्क्रियते यदा वै स्त्रियै च पुꣳसश्च संतप्यतेऽथ रेतः सिच्यते तत्ततः प्रजायते परा-
गुपानक्ति पराग्घ्येव रेतः सिच्यतेऽथाह हविर्धानाभ्यां प्रवर्त्यमानाभ्यामनुब्रूहीति
॥१६॥ अथ वाचयति । प्राची प्रेतमध्वरं कल्पयन्तीऽइत्यध्वरो वै यज्ञः प्राची प्रेतं
यज्ञं कल्पयन्तीऽइत्येवैतदाहोर्ध्वं यज्ञं नयतं मा जिह्वरतमित्यूर्ध्वमिमं यज्ञं देवलो-
कं नयतमित्येवैतदाह मा जिह्वरतमिति तदेतस्माऽअह्वलामाशास्ते समुद्गृह्येव
प्रवर्तयेयुर्यथा नोत्सर्जेतामसुर्या वाऽएषा वाग्यान्ते नेदिहासुर्या वाग्वदादिति य-
द्युत्सर्जेताम् ॥१७॥ एतद्वाचयेत् । स्वं गोष्ठमावदतं देवी दुर्ये आयुर्मा निर्वादिष्टं
प्रजां मा निर्वादिष्टमिति तस्यो हैषा प्रायश्चित्तिः ॥१८॥ तदाहुः । उत्तरवेदेः प्र-
त्यङ् प्रक्रामेत्त्रीन्विक्रमांस्तद्धविर्धाने स्थापयेत्सा हविर्धानयोर्मात्रेति नात्र मात्रा-
स्ति यत्रैव स्वयं मनसा मन्येत नाहैव सत्रात्यन्तिके नो दूरे तत्स्थापयेत् ॥१९॥
तेऽअभिमन्त्रयते । अत्र रमेथां वर्ष्मन्पृथिव्याऽइति वर्ष्म ह्येतत्पृथिव्यै भवति दि-

उसकी धूल में लिपटा है। स्वाहा।" जो घी बच रहा उसको पत्नी के हाथ में डाल देता है। पत्नी उसको पहिये के गर्म भाग में मल देती है, यह मन्त्र पढ़कर—"देवश्रुतौ देवेष्वाघोषतम्" (यजु० ५।१७)–"देवों से सुने गये तुम देवों के प्रति घोषणा करो।" अब वह स्रुच और आज्य-पात्र को प्रतिप्रस्थाता को दे देता है। वे पत्नी को दोनों अग्नियों के पीछे होकर ले जाते हैं ॥१३॥

चार चम्मच घी लेकर प्रतिप्रस्थाता उत्तरी हविर्धान के बायें मार्ग में सोना रखकर इस मन्त्र से आहुति देता है—"इरावती धेनुमती हि भूतँ सूयवसिनी मनवे दशस्या। व्यस्कभ्ना रोदसी विष्णवेते दाधर्त्थ पृथिवीमभितो मयूखैः स्वाहा" (यजु० ५।१६, ऋ० ७।६६।३)–"मनुष्य के कल्याण के लिए तुम दोनों अन्नवाले, गायवाले, धान्यवाले हो। हे विष्णु, तूने इन दोनों द्यौ और पृथिवी को अलग-अलग कर और पृथिवी को चारों ओर से किरणों से घेर लिया। स्वाहा।" शेष घी को पत्नी के हाथ में छोड़ता है, और वह उसको गर्म पहिये से मल देती है। यह मन्त्रांश पढ़कर—'देवश्रुतौ देवेष्वाघोषतम्' (यजु० ५।१७) यह आहुति क्यों देता है? (इसका उत्तर आगे आयेगा) ॥१४॥

एक बार देवों ने यज्ञ का आरम्भ किया। और उनको असुर-राक्षसों के आक्रमण का भय हुआ। घी वज्र है। उस वज्र-घी की सहायता से उन्होंने दक्षिण की ओर से असुरों को हटा दिया, और वे उनके मार्ग में उनके पीछे न आये। इसी प्रकार यह भी असुर-राक्षसों को दक्षिण की ओर से घीरूपी वज्र से हटा देता है। वह इन आहुतियों को विष्णु की दो ऋचाओं से (ऋ० १।२२।१७ और ७।६६।३) क्यों देता है? इसलिए कि हविर्धान विष्णु का है ॥१५॥

पत्नी पहिये को घी क्यों लगाती है? इससे सन्तानोपत्ति होती है। जब स्त्री और पुरुष गर्म होते हैं तो वीर्य बहता है। तब उत्पत्ति होती है। वह पहिये को गाड़ी से दूर दूसरी ओर चुपड़ती है। क्योंकि वीर्य दूर ही सींचा जाता है। अब वह होता से कहता है, 'आगे चलते हुए हविर्धानों के लिए मन्त्र बोल' ॥१६॥

अब वह (यजमान से) कहलवाता है–"प्राची प्रेतमध्वरं कल्पयन्ती" (यजु० ५।१७)– "तुम दोनों आगे को चलो, अध्वर को बढ़ाते हुए।" 'अध्वर' नाम है यज्ञ का। इसका तात्पर्य यह है कि यज्ञ को बढ़ाते हुए आगे चलो। "ऊर्ध्वं यज्ञं नयतं मा जिह्वरतम्" (यजु० ५।१७)—"यज्ञ को ऊपर उठाओ। विचलित मत होने दो।" इससे तात्पर्य है कि यज्ञ को ऊपर देवों के लोक तक उठाओ। 'इसको विचलित न होने दो' से तात्पर्य है कि यजमान विचलित न होवें। गाड़ी को ऐसे चलावें कि मानो उठाकर चलाते हैं। पहियों की आवाज न हो, क्योंकि पहियों की आवाज आसुरी होती है। उसका तात्पर्य यह है कि कहीं आसुरी शब्द न हो जाय। और यदि पहियों की आवाज हो तो—॥१७॥

(यजमान से) कहलवावें—"स्व गोष्ठमावदतं देवी दुर्येऽआयुर्मा निर्वादिष्टं प्रजां मा निर्वादिष्टम्" (यजु० ५।१७)—"हे गृह-समान दोनों गाड़ियो, अपने गोष्ठ से बात करो। मेरी आयु को मत नष्ट करो, मेरी प्रजा को मत नष्ट करो।" यही इसका प्रायश्चित्त है ॥१८॥

इसके विषय में कहते हैं कि उत्तर वेदी से पश्चिम की ओर तीन पग चले और वहाँ हविर्धान को ठहरा दे। यही उसकी मात्रा है। परन्तु कोई नियत मात्रा नहीं है। जहाँ समझे कि न तो बहुत दूर है न बहुत निकट, वहीं ठहरा दे ॥१९॥

नीचे के मन्त्र से नमस्कार करे—"अत्र रमेथां वर्ष्मन् पृथिव्याः" (यजु० ५।१७)–"तुम

वि ह्यस्याहवनीयो भवति नभ्यस्थे करोति तद्धि नेमस्य रूपम् ॥२०॥ अथोत्त-
रेण पर्येत्याध्वर्युः । दक्षिणᳪ हविर्धानमुपस्तभ्नाति विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं
यः पार्थिवानि विममे रजाᳪसि । यो ऽअस्कभायदुत्तरᳪ सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधो-
रुगायो विष्णवे त्वेति मेथीमुपनिहन्तीतरतस्ततो यद्व च मानुषे ॥२१॥ अथ प्र-
तिप्रस्थाता । उत्तरᳪ हविर्धानमुपस्तभ्नाति दिवो वा विष्ण ऽउत वा पृथिव्या म-
हो वा विष्ण ऽउरोरन्तरिक्षात् । उभा हि हस्ता वसुना पृणस्वा प्रयच्छ दक्षिणा-
दोत सव्याद्विष्णवे त्वेति मेथीमुपनिहन्तीतरतस्ततो यद्व च मानुषे तस्माद्वैष्णवीर्यजु-
र्भिरुपचरन्ति वैष्णवᳪ हि हविर्धानम् ॥२२॥ अथ मध्यमं छदिरुपस्पृश्य वाचयति ।
प्र तद्विष्णु स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः । यस्योरुषु त्रिषु विक्र-
मणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वेतीदᳪ ह्येवास्यैतच्छीर्षकपालं यदिदमुपरिष्टादधीव
ह्येतत्क्षियन्त्यन्यानि शीर्षकपालानि तस्मादाहाधिक्षियन्तीति ॥२३॥ अथ रराट्या-
मुपस्पृश्य वाचयति । विष्णो रराटमसीति ललाटᳪ ह्येवास्यैतदथोच्छ्राय्या ऽउपस्पृ-
श्य वाचयति विष्णोः श्नप्त्रे स्थ इति स्रक्ती ह्येवास्यैते ऽअथ यदिदं पश्चाच्छदिर्भव-
तीदᳪ ह्येवास्यैतच्छीर्षकपालं यदिदं पश्चात् ॥२४॥ अथ लस्पूजन्या स्यन्द्यया प्रसी-
व्यति । विष्णोः स्यूरसीत्यथ ग्रन्थिं करोति विष्णोर्ध्रुवो ऽसीति नेद्व्यवपद्याता ऽइति
तं प्रकृते कर्मन्विष्यति तथो हाध्वर्युं वा यजमानं वा ग्राहो न विन्दति तन्निष्ठि-
तमभिमृशति वैष्णवमसीति वैष्णवᳪ हि हविर्धानम् ॥२५॥ ब्राह्मणम् ॥ ३ [५.३] ॥ ॥

द्वयं वा ऽअभ्युपरवाः खायन्ते । शिरो वै यज्ञस्य हविर्धानं तस्य ऽइमे शीर्षंश्च-
त्वारः कूपा इमावह द्वाविमौ द्वौ तानेवैतत्करोति तस्मादुपरवान्खनति ॥१॥ दे-
वाश्च वा ऽअसुराश्च । उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे । ततो ऽसुरा एषु लोकेषु कृत्यां
वलगान्निचख्नुरुतैवं चिद्देवानभिभवेमेति ॥२॥ तद्वै देवा अस्पृण्वत । त ऽएतैः
कृत्या वलगानुदखनन्यदा वै कृत्यामुत्खनन्त्यथ सालसा मोघा भवति तथो ऽए-

दोनों यहाँ पृथिवी की ऊँचाई पर ठहरो।" यह (उत्तर वेदी ही) ऊँचाई है। आहवनीय द्यौलोक में है। वह उनके नाभि में खड़ी करता है, शान्ति का यही रूप है ।।२०।।

उत्तर की ओर चलकर अध्वर्यु दक्षिणी हविर्धान को ठहराता है यह मन्त्र पढ़कर—"विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजाँ᳖सि। योऽअस्कभायदुत्तरꣳ सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायो विष्णवे त्वा" (यजु० ५।१८)—"मैं अब विष्णु के पराक्रम कहता हूँ जिसने पृथिवी के देशों को नापा, जिसने उत्तर के (ऊपरी) स्थान को स्थापित किया, तीन बड़े पग चलकर। विष्णु के लिए मैं तुझे स्थापित करता हूँ।" जहाँ खड़ा किया करते हैं वहाँ से हटकर दूसरी जगह खड़ा करता है ।।२१।।

प्रतिप्रस्थाता उत्तरी हविर्धान को खड़ा करता है यह मन्त्र पढ़कर—"दिवो वा विष्णऽउत वा पृथिव्या महो वा विष्णऽउरोरन्तरिक्षात्। उभा हि हस्ता वसुना पृणस्वा प्रयच्छ दक्षिणादोत सव्याद् विष्णवे त्वा" (यजु० ५।१९)—"हे विष्णु, या तो द्यौलोक से या पृथिवी से या बड़े विस्तृत अन्तरिक्ष से दोनों हाथों से धन को भर और दाईं और बाईं दोनों ओर से दे। विष्णु के लिए तुझको।" वहाँ नियत स्थान से अन्य स्थान पर खड़ा करता है। विष्णु-सम्बन्धी यजुओं को इसलिए पढ़ता है कि हविर्धान विष्णु की है ।।२२।।

बीच की चटाई को छूकर (यजमान से) कहलवाता है— "प्र तद् विष्णु स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः। यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा" (यजु० ५।२०)—"उस विष्णु के पराक्रम के लिए स्तुति करो जो भयानक जन्तु के समान भयानक और पहाड़ी जानवरों के समान भयानक है। जिसके तीन पदों पर सब संसार स्थित है।" यह चटाई उस (छप्पर) की मुख्य शीर्ष कपाल है, क्योंकि इसी पर अन्य कपाल ठहरते हैं। इसीलिए कहा, 'अधिक्षियन्ति' ।।२३।।

अब रराट (टट्टी) को छूकर (यजमान से) कहलवाता है—"विष्णोः रराटमसि" (यजु० ५।२१)—"तू विष्णु का ललाट है।" क्योंकि यह उसका ललाट है। अब दो टट्टियों को छूकर कहलवाता है, "विष्णोः श्नप्त्रे स्थः" (यजु० ५।२१)—"तुम विष्णु के मुँह के किनारे हो।" अब जो पीछे की चटाई है वह इसके पीछे का शीर्ष-कपाल है ।।२४।।

अब लकड़ी की कील से सीता है, यह कहकर—"विष्णोः स्यूरसि" (यजु० ५।२१)—"तू विष्णु की सुई है।" अब गाँठ देता है पढ़कर—"विष्णोर्ध्रुवोऽसि" (यजु० ५।२१)—"तू विष्णु का ध्रुव है।" यह गाँठ इसलिए देता है कि छूट न जाय। जब काम समाप्त हो जाता है तो गाँठ खोल देता है। इस प्रकार न अध्वर्यु को रोग लगता है न यजमान को। जब छप्पर बन जाता है तो कहता है 'वैष्णवमसि' (यजु० ५।२१)—"तू विष्णु का है।" क्योंकि हविर्धान विष्णु का है ।।२५।।

अध्याय ५—ब्राह्मण ४

दो कारण हैं कि छिद्र बनाये जाते हैं। हविर्धान यज्ञ का सिर है। सिर में भी तो चार छिद्र होते हैं, दो यह और दो यह (नाक और कान)। उसी प्रकार से वह भी बनाता है, इसीलिए छिद्र (उपरव) खोदता है ।।१।।

प्रजापति की दोनों सन्तान देव और असुर लड़ पड़े। असुरों ने इन लोकों में वलग अर्थात् जादू-टोने को गाड़ दिया कि देवों पर विजय पा जावें ।।२।।

अब देव जीत गये। उन्होंने इन्हीं उपरवों की सहायता से टोनों को खोद डाला। जो टोना खोद लिया जाय उसका प्रभाव नहीं रहता। यहाँ भी अगर किसी शत्रु ने टोना गाड़ दिया

वैष एतद्यस्मा ऽअत्र कश्चिद्द्विषन्भ्रातृव्यः कृत्यां वलगान्निखनति तानेवैतदुत्किरति तस्मादुपरवान्खनति स दक्षिणस्य हविर्धानस्याधोऽधः प्रउगं खनति ॥३॥ सोऽभ्रिमादत्ते । देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामाददे नार्यसीति समान एतस्य यजुषो बन्धुर्योषो वाऽएषा यदभ्रिस्तस्मादाह नार्यसीति ॥४॥ तान्प्रादेशमात्रं विना परिलिखति । इदमहꣳ रक्षसां ग्रीवा अपिकृन्तामीति वज्रो वाऽअभ्रिर्वज्रेणैवैतन्नाष्ट्राणाꣳ रक्षसां ग्रीवा अपिकृन्तति ॥५॥ तद्यावेतौ पूर्वौ । तयोर्दक्षिणमेवाग्रे परिलिखेदथापरयोरुत्तरमथापरयोर्दक्षिणमथ पूर्वयोरुत्तरम् ॥६॥ अथो ऽइतरथाहुः । अपरयोरेवाग्रऽउत्तरं परिलिखेदथ पूर्वयोर्दक्षिणमथापरयोर्दक्षिणमथ पूर्वयोरुत्तरमित्यथोऽअपि समीच एव परिलिखेदेतं वेवोत्तमं परिलिखेद्य एष पूर्वयोरुत्तरो भवति ॥७॥ तान्यथापरिलिखितमेव यथापूर्वं खनति । बृहन्नसि बृहद्रवा इत्युपस्तौत्येवैनानेतन्महयत्येव यदाह बृहन्नसि बृहद्रवा इति बृहतीमिन्द्राय वाचं वदेतीन्द्रो वै यज्ञस्य देवता वैष्णवꣳ हविर्धानं तत्सेन्द्रं करोति तस्मादाह बृहतीमिन्द्राय वाचं वदेति ॥८॥ रक्षोहणं वलगहनमिति । रक्षसाꣳ ह्येते वलगानां बधाय खायन्ते वैष्णवीमिति वैष्णवी हि हविर्धाने वाक् ॥८॥ तान्यथाखानमेवोत्किरति । इदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे निष्ट्यो यममात्यो निचखानेति निष्ट्यो वा वाऽअमात्यो वा कृत्यां वलगान्निखनति तानेवैतदुत्किरति ॥९॥ इदमहं तं वलगमुत्किरामि । यं मे समानो यमसमानो निचखानेति समानो वा वाऽअसमानो वा कृत्यां वलगान्निखनति तानेवैतदुत्किरति ॥१०॥ इदमहं तं वलगमुत्किरामि । यं मे सबन्धुर्यमसबन्धुर्निचखानिनि सबन्धुर्वा वाऽअसबन्धुर्वा कृत्यां वलगान्निखनति तानेवैतदुत्किरति ॥११॥ इदमहं तं वलगमुत्किरामि । यं मे सजातो यमसजातो निचखानेति सजातो वा वाऽअसजातो वा कृत्यां वलगान्निखनति तानेवैतदु-

हो तो वह इन उपरवों के द्वारा उसको खोद डालता है। इसलिए उपरव बनाये जाते हैं। दक्षिणी हविर्धान के आगे के भाग में उपरवों को बनाता है ॥३॥

वह खुरपी (अभ्रिम्) उठाता है, इस मन्त्र को पढ़कर—"देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। आददे नार्यसि" (यजु० ५।२२)—"देव सविता की प्रेरणा से अश्विन की दोनों भुजाओं और पूषा के दोनों हाथों से तुझको लेता हूँ। तू नारी है।" इस यजु० का तात्पर्य भी वैसा ही है। खुरपी स्त्री है, इसलिए कहा 'तू नारी है' ॥४॥

वह एक प्रादेश (बालिश्त) छोड़कर रेखा खींचता है इस मन्त्र को पढ़कर—"इदमहꣳ रक्षसां ग्रीवांऽअपिकृन्तामि" (यजु० ५।२२)—"यह मैं राक्षसों की गर्दन काटता हूँ।" खुरपी वज्र है। वज्र से ही वह राक्षसों की गर्दन काटता है ॥५॥

(इन उपरवों का चिह्न इस प्रकार बनाया जाय) पहले अगलों में से दायाँ, फिर पिछलों में का बायाँ। फिर पिछलों का दायाँ, फिर अगलों का दायाँ ॥६॥

कुछ लोग इससे उलटा बताते हैं अर्थात् पहले पिछलों का बायाँ, फिर अगलों का बायाँ या एक ही दिशा में ले। परन्तु अन्त में उसको लेना चाहिए जो बायाँ है ॥७॥

फिर जिस क्रम से चिह्न बनाया उसी प्रकार खोदना चाहिए, इस मन्त्रांश को पढ़कर—"बृहन्नसि बृहद्रवा" (यजु० ५।२२)—"तू बड़ी है, बड़े शब्दवाली।" उसी की बड़ाई करता है जब कहता है कि 'बृहन्नसि' इत्यादि। "बृहतीमिन्द्राय वाचं वद" यजु० ५।२२)—"इन्द्र के लिए बड़ी वाणी बोल।' इन्द्र यज्ञ का देवता है। हविर्धान विष्णु का है। वह इस मन्त्र (बृहती इत्यादि) को पढ़कर इनका इन्द्र के साथ सम्बन्ध जोड़ता है ॥८॥

"रक्षोहणं बलगहनं" (यजु० ५।२३)—"राक्षसों के मारनेवाले और जादू-टोने के मारनेवाले।" ये राक्षसों और टोनों को नष्ट करने के लिए खोदे जाते हैं। "वैष्णवीम्" (यजु० ५।२३), क्योंकि हविर्धान की जो वाणी है वह विष्णु की है ॥९॥

जैसा-जैसा खोदता है वैसे-वैसे (उसी क्रम से) मिट्टी को फेंकता है यह मन्त्रांश पढ़कर—"इदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे निष्ट्यो यममात्यो निचखान' (यजु० ५।२३)—"मैं उस टोने को उखाड़कर फेंकता हूँ जो मेरे पुत्र या सम्बन्धी ने मेरे लिए गाड़ दिया हो।" पुत्र या सम्बन्धी टोने को घर में गाड़ता है। यह उसी को उखाड़कर फेंक देता है ॥१०॥

"इदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे समानो यमसमानो निचखान" (यजु० ५।२३)—"मैं इस-उस टोने को खोदकर फेंकता हूँ जिसको मेरे बराबरवाले ने गाड़ा हो या बे-बराबरवाले ने।" समान या असमान पुरुष जिस जादू-टोने को गाड़ता है उसी को उखाड़कर फेंकता है ॥११॥

"इदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे सबन्धुर्यमसबन्धुर्निचखान' (यजु० ५।२३)—"मैं इस-उस टोने को खोदकर फेंकता हूँ जिसको मेरे सम्बन्धी (सबन्धु) या (असबन्धु) ने गाड़ा हो।"

त्किरत्युत्कृत्यां किरामीत्यन्तत उद्वपति तत्कृत्यामुत्किरति ॥१२॥ तान्बाहुमात्रान्खनेत् । अन्तो वा ऽ एषो ऽन्तेनैवैतत्कृत्यां मोहयति तानह्णाया संतृन्दन्ति यद्यह्णाया न शक्नुयादपि समीचस्तस्मादिमे प्राणाः परः संतृण्णाः ॥१३॥ तान्यथाखातमेवावमर्शयति । स्वराडसि सपत्नहा सत्रराडस्यभिमातिहा जनराडसि रक्षोहा सर्वराडस्यमित्रहेत्याशीरेवैषैतस्य कर्मण आशिषमेवैतदाशास्ते ॥१४॥ अथाध्वर्युश्च यजमानश्च संमृशेते । पूर्वयोर्दक्षिणेऽध्वर्युर्भवत्यपरयोरुत्तरे यजमानः सोऽध्वर्युः पृच्छति यजमान किमत्रेति भद्रमित्याह तन्नौ सहेत्युपांश्वध्वर्युः ॥१५॥ अथापरयोर्दक्षिणेऽध्वर्युर्भवति । पूर्वयोरुत्तरे यजमानः स यजमानः पृच्छत्यध्वर्यो किमत्रेति भद्रमित्याह तन्म इति यजमानस्तद्यदेवं संमृशेते प्राणानेवैतत्सयुजः कुरुतस्तस्मादिमे प्राणाः परः संविद्रेऽथ यत्पृष्टो भद्रमिति प्रत्याह कल्याणमेवैतन्मानुष्यै वाचो वदति तस्मात्पृष्टो भद्रमिति प्रत्याहाथ प्रोक्षत्येको वै प्रोक्षणस्य बन्धुर्मेध्यानेवैतत्करोति ॥१७॥ स प्रोक्षति । रक्षोहणो वो वलगहन इति रक्षोहणो ह्येते वलगहनो ह्येते प्रोक्षामि वैष्णवानिति वैष्णवा ह्येते ॥१८॥ अथ याः प्रोक्षण्यः परिशिष्यन्ते । ता अवटेष्ववनयति तद्या इमाः प्राणेष्वापस्ता एवैतद्दधाति तस्मादेषु प्राणेष्विमा आपः ॥१९॥ सोऽवनयति । रक्षोहणो वो वलगहनोऽवनयामि वैष्णवानित्यथ बर्हींषि प्राचीनाग्राणि चोदीचीनाग्राणि चावस्तृणाति यान्यानीमानि प्राणेषु लोमानि तान्येवैतद्दधाति तस्मादेषु प्राणेष्विमानि लोमानि ॥२०॥ सोऽवस्तृणाति । रक्षोहणो वो वलगहनोऽवस्तृणामि वैष्णवानित्यथ बर्हींषि तनूनीवोपरिष्टात्प्रच्छादयति केशा हैवास्यैते ॥२१॥ अथाधिषवणे फलके ऽ उपदधाति । रक्षोहणौ वां वलगहना ऽ उपदधामि वैष्णवी ऽ इति हनू हैवास्यैते ऽथ पर्यूहति रक्षोहणौ वां वलगहनौ पर्यूहामि वैष्णवी ऽ इति दृंहत्येवैने ऽ एतदशिथिले करोति ॥२२॥ अथाधिषवणं परिकृत्तं भवति । सर्वरोहितं

टोने को या तो अपने सम्बन्धी ने गाड़ा या किसी गैर ने, उस सबको खोदकर फेंकता है।।१२।।

"इदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे सजातो यमसजातो निचखान' (यजु० ५।२३)—"मैं इस-उस टोने को खोदकर फेंकता हूँ जो मेरे देशवाले या अन्यदेशवाले ने गाड़ा हो।" टोने को या तो अपने देशवाले (सजात) ने या दूसरे देशवाले (असजात) ने गाड़ा होगा, उसी को उखाड़कर फेंकता है। "उत्कृत्यां किरामि" (यजु० ५।२३)—"कृत्या (जादू) को उखाड़कर फेंकता हूँ।" जो सूराखों में मिट्टी बची हो उसको निकालकर फेंक देता है।।१३।।

उन गड्ढों को हाथ-भर गहरा खोदना चाहिए। यहीं तक अन्त हैं (अर्थात् जहाँ तक पहुँचे वहीं तक खोदे)। इस प्रकार वह जादू-टोने (कृत्या) को नष्ट करता है। इन गड्ढों को भीतर-भीतर आड़े मार्गों से मिला दे। यदि आड़े मार्ग न बना सके तो सीधों से ही। इसीलिए (मनुष्य के) प्राण भी एक-दूसरे से भीतरी नालियों द्वारा मिले रहते हैं।।१४।।

जैसे खोदे गये हैं उस क्रम से यजमान को छुआता है, यह मन्त्र पढ़कर—"स्वराडसि सपत्नहा सत्रराडस्यभिमातिहा जनराडसि रक्षोहा सर्वराडस्य मित्रहा" (यजु० ५।२४)—"तू शत्रु का मारनेवाला स्वराट् है। अभिमानियों का मारनेवाला तू सत्रराट् (सततं राजति) अर्थात् सदा चमकनेवाला है। राक्षसों का मारनेवाला तू मनुष्य का राजा है। शत्रु का मारनेवाला तू सर्वराट् है।" यह उस काम का आशीर्वाद है। वह इस प्रकार आशीर्वाद प्राप्त करता है।।१५।।

अध्वर्यु और यजमान (गड्ढों में हाथ डालकर नीचे से) एक-दूसरे को छूते हैं—सामने के दक्षिण गड्ढे में अध्वर्यु और पिछले बायें गड्ढे में यजमान। अब अध्वर्यु पूछता है 'यजमान, यहाँ क्या है?' वह उत्तर देता है, 'भद्र (कल्याण) है।' अध्वर्यु कहता है, 'यह (भद्र) हम दोनों के लिए हो'।।१६।।

अब पिछले दक्षिणी गड्ढे में अध्वर्यु होता है और पिछले उत्तर में यजमान। यजमान पूछता है, 'अध्वर्यु, यह क्या है?' अध्वर्यु कहता है 'भद्र।' यजमान कहता है, 'मेरे लिए भी वही हो।' वे इस प्रकार इसलिए छूते हैं कि प्राणों को जोड़ देते हैं। इसीलिए प्राण बहुत दूर भीतर मिले होते हैं। जब पूछने पर वह 'भद्र' कहता है तो तात्पर्य है कि मनुष्य की भाषा में वह 'कल्याण' कहता है। इसीलिए पूछने पर कहता है 'भद्र।' अब उन गड्ढों को जल से सींचता है। जल-सिंचन का एकमात्र प्रयोजन यही है कि उनको पवित्र करता है।।१७।।

वह इस मन्त्र से जल-सिंचन करता है—"रक्षोहणो वो वलगहनः" (यजु० ५।२५)—"तुम राक्षसों और जादू-टोने के नष्ट करनेवाले हो।" यह राक्षसों को नष्ट करनेवाले और जादू-टोने को नष्ट करनेवाले हैं। "प्रोक्षामि वैष्णवान्" (यजु० ५।२५)—'विष्णु के इनको सींचता हूँ।" यह विष्णु के तो हैं ही।।१८।।

अब जो जल बच रहता है उसे गड्ढों में ही डाल देता है। मानो प्राणों में जो जल है उसको वह डालता है। इसलिए इन प्राणों के इन जलों को—।।१९।।

यह मन्त्र पढ़कर बाहर फेंकता है—"रक्षोहणो वो वलगहनोऽवनयामि वैष्णवान्" (यजु० ५।२५)—"राक्षसों और जादू के नाश करनेवाले तुम वैष्णवों को मैं बाहर फेंकता हूँ।" अब वह कुश बिछाता है। कुछ की नोक पूर्व की ओर, कुछ की उत्तर की ओर हो। प्राणों में जो लोम होते हैं उनको धारण करता है। इसलिए इन प्राणों में लोमों को—।।२०।।

वह फैला देता है यह मन्त्रांश पढ़कर—"रक्षोहणो वो वलगहनोऽवस्तृणामि वैष्णवान्" (यजु० ५।२५)—"राक्षसों और जादू-टोने के नष्ट करनेवाले तुम वैष्णवों को फैलाता हूँ।" अब वह कुश फैलाता है, मानो शरीर को ऊपर से ढकता है। क्योंकि कुश (विष्णु के) बाल हैं।।२१।।

अब सोम निचोड़ने के दो तख्ते रखता है, यह मन्त्रांश पढ़कर—"रक्षोहणौ वां वलगहनाऽउपदधामि वैष्णवी" (यजु० ५।२५)—"राक्षसों और जादू को नष्ट करनेवाले दो को मैं रखता हूँ। तुम विष्णु के हो।" वस्तुतः वे विष्णु के जबड़े हैं। वह उनको मिट्टी से ढकता है यह मन्त्रांश पढ़कर—"रक्षोहणौ वां वलगहनौ पर्यूहामि वैष्णवी" (यजु० ५।२५)—"राक्षसों और जादू-टोने को नष्ट करनेवाले तुमको ढाँपता हूँ। तुम विष्णु के हो।" इस प्रकार वह इनको दृढ़ और न हिलनेवाला बनाता है।।२२।।

अब सोम निचोड़ने का चमड़ा सीधा काटा जाता है और सम्पूर्ण लाल रंग से रंगा जाता

जिह्वा ह्येवास्यैषा तद्यत्सर्वरोहितं भवति लोहिनीव ह्यीयं जिह्वा तन्निदधाति वैष्णवमसीति वैष्णवꣳ ह्येतत् ॥२३॥ अथ ग्राव्णा उपावहरति । दन्ता ह्येवास्य ग्रावाणस्तद्यद्ग्रावभिरभिषुण्वन्ति यथा दद्भिः प्सायादेवं तत्तान्निदधाति वैष्णवा स्थेति वैष्णवा ह्येत ऽएतद्ध यज्ञस्य शिरः सꣳस्कृतम् ॥२४॥ ब्राह्मणम् ॥ ४ [५.४] ॥ ॥ पञ्चमोऽध्यायः [२०] ॥ ॥

उदरमेवास्य सदः । तस्मात्सदसि भक्षयन्ति यद्धीदं किं चाश्नन्त्युदर ऽएवैदꣳ सर्वं प्रतितिष्ठत्यथ यदस्मिन्विश्वे देवा असीदंस्तस्मात्सदो नाम त ऽउ ऽएवास्मिन्नेते ब्राह्मणा विश्वगोत्राः सीदन्त्यैन्द्रं देवतया ॥१॥ तन्मध्य ऽऔदुम्बरीं मिनोति । अन्नं वा ऽऊर्गुदुम्बर उदरमेवास्य सदस्तन्मध्यतोऽन्नाद्यं दधाति तस्मान्मध्य ऽऔदुम्बरीं मिनोति ॥२॥ अथ य एष मध्यमः शङ्कुर्भवति । वेदेर्जघनार्धे तस्मात्प्राङ् प्रक्रामति षट्प्रक्रमान्दक्षिणा सप्तममपक्रामति सम्पदः कामाय तदवटं परिलिखति ॥३॥ सोऽभ्रिमादत्ते । देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामाददे नार्यसीति समान एतस्य यजुषो बन्धुर्योषो वा ऽएषा यदभ्रिस्तस्मादाह नार्यसीति ॥४॥ अथावटं परिलिखति । इदमहꣳ रक्षसां ग्रीवा अपिकृन्तामीति वज्रो वा ऽअभ्रिर्वज्रेणैवैतन्नाष्ट्राणाꣳ रक्षसां ग्रीवा अपिकृन्तति ॥५॥ अथ खनति । प्राञ्चमुत्करमुत्किरति यजमानेन संमायौदुम्बरीं परिवासयति तामग्रेण प्राचीं निदधात्येतावन्मात्राणि बर्हीꣳष्युपरिष्टादधिनिदधाति ॥६॥ अथ यवमत्यः प्रोक्षण्यो भवन्ति । आपो ह वा ऽओषधीनाꣳ रसस्तस्मादोषधयः केवल्यः खादिता न धिन्वन्त्योषधय उ ह्यपाꣳ रसस्तस्मादापः पीताः केवल्यो न धिन्वन्ति यदैवोभय्यः सꣳसृष्टा भवन्त्यथैव धिन्वन्ति तर्हि हि सरसा भवन्ति सरसाभिः प्रोक्षाणीति ॥७॥ देवाश्च वा ऽअसुराश्च । उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे ततो देवेभ्यः सर्वा एवौषधय ईयुर्यवा हैवेभ्यो नेयुः ॥८॥ तद्वै देवा अस्पृण्वत । त ऽएतैः सर्वाः सपत्नानामो-

है, क्योंकि यह विष्णु की जिह्वा है। वह बिल्कुल लाल इसलिए रंगा जाता है कि जीभ का रंग लाल होता है। यह पढ़कर नीचे रख देता है—'वैष्णवमसि' (यजु० ५।२५)। 'तू विष्णु की है।' यह विष्णु का तो है ही ॥२३॥

अब सोम निचोड़ने के पत्थर लाता है (पाँच पत्थर)। ये पत्थर विष्णु के दाँतों के तुल्य हैं। इसलिए जब सोम को पीसते हैं तो मानो दाँतों से पीसते हैं। यह कहकर रख देता है–'वैष्णवा स्थ' (यजु० ५।२५)–"विष्णु के होकर रहो।" क्योंकि विष्णु के तो हैं ही। अब यज्ञ का सिर पूरा हो गया ॥२४॥

अध्याय ६—ब्राह्मण १

सदस् इस यज्ञ का पेट है। इसलिए सदस् में ही खाते हैं। क्योंकि इस संसार में जो कुछ ख या जाता है वह पेट में ही रक्खा जाता है। इसको सदस् इसलिए कहते हैं कि इसमें सब देव बैठे (असीदन्)। इसी प्रकार सब गोत्रों के ब्राह्मण इसी में बैठते हैं। इसका देवता इन्द्र है ॥१॥

इसके मध्य में वह उदुम्बर की लकड़ी रखता है। उदुम्बर अन्न या शक्ति है। सदस् इस यज्ञ का पेट है। इसलिए उस पेट के बीच में वह उदुम्बर की लकड़ी रखता है ॥२॥

वेदी के पिछले आधे भाग के बीच में जो खूंटी होती है उससे पूर्व की ओर छः पग चलता है। इससे हटकर दाहिनी ओर सातवाँ पग भरता है, कामना की पूर्ति के लिए। वहाँ एक गढ्डे का चिह्न बना देता है ॥३॥

इस मन्त्र को पढ़कर खुरपी (अभ्रि) लेता है—"देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णे हस्ताभ्यामाददे नार्यसि" (यजु० ५।२२)–"सविता देव की प्रेरणा पर अश्विनी की भुजाओं और पूषा के हाथों से मैं तुझको लेता हूँ। तू नारी है।" इस यजुः का भी यही तात्पर्य है जो पहले बता दिया गया। खुरपी (अभ्रि) तो स्त्रीलिङ्ग है ही। इसलिए वह उसको कहता है कि 'तू नारी है' ॥४॥

अब वह इस मन्त्रांश से गड्ढे का चिह्न बनाता है—"इदमहँ रक्षसां ग्रीवाऽअपिकृन्तामि" (यजु० ५।२२)–"मैं इससे राक्षसों की गर्दन काटता हूँ।" यह खुरपी वज्र है। वज्र से ही दुष्ट राक्षसों की गर्दन काटता है ॥५॥

अब खोदता है। मिट्टी पूर्व को डालता है। यजमान के कद के बराबर नापकर उदुम्बर की लकड़ी को चारों ओर से चिकनाता है और गड्ढे के आगे इस प्रकार रखता है कि उसका अग्रभाग पूर्व की ओर रहे। उतने ही बड़े कुशों को उसके ऊपर रखता है ॥६॥

अब प्रोक्षणी के जलों में जौ (यव) होते हैं। ओषधियों का रस जल है। इसलिए यदि ओषधियाँ ही खाई जायँ तो तृप्ति नहीं करतीं। जलों का रस ओषधियाँ हैं, इसलिए केवल जल ही पिया जाय तो तृप्ति नहीं होती। जब दोनों मिल जाते हैं तो तृप्ति करते हैं, क्योंकि तब वे रसवाले हो जाते हैं। वह सोचता है कि सरस जल का सिंचन करूँ ॥७॥

प्रजापति की सन्तान देव और असुरों में झगड़ा हुआ। देवों से सब ओषधियाँ चली गईं। केवल जौ (यव) नहीं गये ॥८॥

अब देव जीत गये। जौ ने शत्रुओं की सब ओषधियों को खींच लिया (अयुवत्)।

षधीरयुवत यदयुवत तस्माद्यवा नाम ॥९॥ ते होचुः । हन्त यः सर्वासामोष-
धीनाꣳ रसस्तं यवेषु दधामेति स यः सर्वासामोषधीनाꣳ रस आसीत्तं यवेष्वदधुस्त-
स्माद्यत्रान्या ओषधयो म्लायन्ति तदेते मोदमाना वर्धन्तऽएवꣳ ह्येषु रसमदधुस्त-
थोऽएवैष एतैः सर्वाः सपत्नानामोषधीर्युते तस्माद्यवमय्यः प्रोक्षण्यो भवन्ति ॥१०॥
स यवानावपति । यवोऽसि यवयास्मद्द्वेषो यवयारातीरिति नात्र तिरोहितमि-
वास्त्यथ प्रोक्षत्येको वै प्रोक्षणस्य बन्धुर्मेध्यामेवैतत्करोति ॥११॥ स प्रोक्षति ।
दिवे त्वान्तरिक्षाय त्वा पृथिव्यै त्वेतीमानेवैतल्लोकानूर्जा रसेन भाजयत्येषु लोके-
षूर्जꣳ रसं दधाति ॥१२॥ अथ याः प्रोक्षण्यः परिशिष्यन्ते । ता अवटेऽवनयति
शुन्धन्तां लोकाः पितृषदना इति पितृदेवत्यो वै कूपः खातस्तमेवैतन्मेध्यं करो-
ति ॥१३॥ अथ बर्हिꣳषि । प्राचीनाग्राणि चोदीचीनाग्राणि चावस्तृणाति पितृ-
षदनमसीति पितृदेवत्य वाऽअस्याऽएतद्भवति यन्निखातꣳ सा यथानिखातौषधिषु
मिता स्यादेवमेतास्वोषधिषु मिता भवति ॥१४॥ तामुच्छ्रयति । उद्दिवꣳ स्तभाना-
न्तरिक्षं पृण दृꣳहस्व पृथिव्यामितीमानेवैतल्लोकानूर्जा रसेन भाजयत्येषु लोकेषू-
र्जꣳ रसं दधाति ॥१५॥ अथ मिनोति । द्युतानस्त्वा मारुतो मिनोत्विति यो वा
ऽअयं पवतऽएष द्युतानो मारुतस्तदेनमेतेन मिनोति मित्रावरुणौ ध्रुवेण धर्म-
णेति प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ तदेनं प्राणोदानाभ्यां मिनोति ॥१६॥ अथ
पर्यूहति । ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि रायस्पोषवनि पर्यूहामीति बह्वी वै यजुःष्वा-
शीस्तद्ब्रह्म च क्षत्रं चाशास्तऽउभे वीर्ये रायस्पोषवनीति भूमा वै रायस्पोषस्तद्भू-
मानमाशास्ते ॥१७॥ अथ पर्यृषति । ब्रह्म दृꣳह क्षत्रं दृꣳहायुर्दृꣳह प्रजां दृꣳहे-
त्याशीरेवैषैतस्य कर्मण आशिषमेवैतदाशास्ते समम्भूमि पर्यर्षणं करोति गर्तस्य
वाऽउपरिभूम्यथैवं देवत्रा तथा ह्यगर्तमिद्भवति ॥१८॥ अथाप उपनिनयति । यत्र
वाऽअस्यै खनन्तः क्रूरीकुर्वन्त्यपघ्नन्ति शान्तिरापस्तदद्भिः शान्त्या शमयति तदद्भिः

इसीलिए उनका 'यव' (जौ) नाम पड़ा ॥६॥

उन्होंने कहा कि सब ओषधियों में जो रस है उस सब को हम जौ में रख दें। इसलिए जो रस सब ओषधियों में था उसको उन्होंने जौ में रख दिया। इसलिए जब ओषधियाँ सूख जाती हैं तो जौ हरे-भरे रहते हैं क्योंकि देवों ने इनमें इस प्रकार रस भर दिया है। इसी प्रकार यजमान भी इन्हीं जौ के द्वारा शत्रु के सब अन्नों को खींच लेता है। इसीलिए प्रोक्षणी पात्र के जलों में जौ रहते हैं ॥१०॥

वह इस (गड्ढे) में जौ को डाल देता है इस मंत्रांश को पढ़कर—"यवोऽसि यवयास्मद्-द्वेषो यवयारातीः" (यजु० ५।२६)—"तू जौ है तो हमसे शत्रु को हटा दे (यवय) और बुरी बातों को हटा दे (यवय)।" यह सब स्पष्ट है। अब जल-सिंचन करता है। जल-सिंचन का एक ही प्रयोजन है अर्थात् यज्ञ की पवित्रता ॥११॥

वह इस मन्त्र से जल-सिंचन करता है —"दिवे त्वान्तरिक्षाय त्वा पृथिव्यै त्वा" (यजु० ५।२६)—"तुझको द्यौलोक के लिए, अन्तरिक्ष के लिए और पृथिवी के लिए।" इस प्रकार वह इन लोकों को शक्ति और रस से पूर्ण करता है। शक्ति और रस को इन लोकों में स्थापित करता है ॥१२॥

अब जो जल प्रोक्षणी में बच रहता है उसको सूराख में डाल देता है यह कहकर, "शुन्धन्तां-ल्लोकाः पितृषदनाः" (यजु० ५।२६)—"जहाँ पितृ रहते हैं वे लोक शुद्ध हों।" यह जो गड्ढा खोदा जाता है वह पितरों का है। इसको वह यज्ञ के लिए शुद्ध करता है ॥१३॥

अब वह उनमें कुश बिछा देता है। इस प्रकार कि उनके अग्रभाग पूर्व की ओर रहें और उत्तर की ओर, यह कहकर—"पितृषदनमसि" (यजु०५।२६)—"तू पितरों की बैठक है।" क्योंकि इसका जितना भाग खोदा जाता है वह पितरों का होता है। मानो वह खोदा नहीं गया, वृक्षों के साथ मिल गया। इस प्रकार वह वृक्षों के समान हो जाता है ॥१४॥

अब वह इसको इस मन्त्र से उठाता है—"उद्दिवँ स्तभानान्तरिक्षं पृण दृँहस्व पृथिव्याम्" (यजु० ५।२७)—"द्यौलोक को उठा, अन्तरिक्ष को भर और पृथिवी को दृढ़ कर।" इस प्रकार वह इन लोकों को शक्ति और रस से युक्त करता है और इन लोकों में शक्ति और रस स्थापित करता है ॥१५॥

अब वह उसको (गड्ढे में) गाड़ देता है, यह मन्त्र पढ़कर—"द्युतानस्त्वा मारुतो मिनोतु" (यजु० ५।२७)—"मरुत् का पुत्र द्युतान तुझको गाड़े।" यह जो हवा चलती है उसी को 'मारुत द्युतान' कहते हैं। उसी से वह गाड़ता है—"मित्रावरुणौ ध्रुवेण धर्मणा" (यजु० ५।२७)—"मित्र और वरुण के दृढ़ धर्म के द्वारा।" प्राण और उदान का नाम मित्र-वरुण है। प्राण और उदान से इसको गाड़ता है ॥१६॥

अब वह चारों ओर मिट्टी इकट्ठी करता है इस मन्त्रांश से—"ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि रायस्पोषवनि पर्यूहामि" (यजु० ५।२७)—"मैं तुझको घेरता हूँ, हे ब्रह्मत्व के प्राप्त करनेवाले, क्षत्रियत्व के प्राप्त करनेवाले, धन के प्राप्त करनेवाले!" यजुओं में आशीर्वाद बहुत है। इससे वह ब्रह्मत्व और क्षत्रियत्व के लिए आशीर्वाद देता है। 'रायस्पोषवनि' से पुष्कलता से प्रयोजन है। उसी पुष्कलता के लिए आशीर्वाद देता है ॥१७॥

अब वह इस मन्त्रांश को पढ़कर मिट्टी को दबा-दबाकर मजबूत करता है—"ब्रह्म दृँह क्षत्रं दृँहायुर्दृँह प्रजां दृँह" (यजु० ५।२७)—"ब्रह्मत्व को दृढ़ कर, क्षत्रियत्व को दृढ़ कर आयु को दृढ़ कर, प्रजा को दृढ़ कर।" यही इस कर्म का आशीर्वाद है। वह इससे यही आशीर्वाद देता है। वह इतना दबाता है कि मिट्टी भूमि के बराबर हो जाती है। या गड्ढे की भूमि कुछ ऊँची होती है। यह ऊँचाई देवतापन हो जाती है; इसका तात्पर्य यह है कि यह गड्ढा असाधारण हो जाता है ॥१८॥

अब वह उस पर पानी छिड़कता है। जहाँ कहीं भूमि में गड्ढा खोदते हैं तो उसमें धान उत्पन्न कर देते हैं। जल शान्तिदायक है। जल से शान्ति देता है। इसलिए जल से सींचता

संदधाति तस्मादप उपनिनयति ॥ १९ ॥ अथैवमभिपद्य वाचयति । ध्रुवासि ध्रुवो ऽयं यजमानोऽस्मिन्नायतने प्रजया भूयादिति पशुभिरिति वैवं यं कामं कामयते सोऽस्मै कामः समृध्यते ॥ २० ॥ अथ स्रुवेणोपहत्याज्यम् । विष्टपमभि जुहोति घृतेन द्यावापृथिवी पूर्येथामिति तदिमे द्यावापृथिवीऽऊर्जा रसेन भाजयत्यनयोरूर्जꣳ रसं दधाति ते रसवत्याऽउपजीवनीये इमाः प्रजा उपजीवन्ति ॥ २१ ॥ अथ छदिरधिनिदधाति । इन्द्रस्य छदिरसीत्यैन्द्रꣳ हि सदो विश्वजनस्य छायेति विश्वगोत्रा ह्यस्मिन्ब्राह्मणा आसते तदुभयतश्छदिषीऽउपदधात्युत्तरतस्त्रीणि परस्त्रीणि तानि नव भवन्ति त्रिवृद्वै यज्ञो नव वै त्रिवृत्तस्मान्नव भवन्ति ॥ २२ ॥ तदुदीचीनवꣳशꣳ सदो भवति । प्राचीनवꣳशꣳ हविर्धानमेतद्वै देवानां निष्केवल्यं यद्धविर्धानं तस्मात्तत्र नाश्नन्ति न भक्षयन्ति निष्केवल्यꣳ ह्येतद्देवानाꣳ स यो ह तत्राश्नीयाद्वा भक्षयेद्वा मूर्धा हास्य विपतेदथैते मिश्रे यदाग्नीध्रं च सदश्च तस्मात्तयोरश्नन्ति तस्माद्भक्षयन्ति मिश्रे ह्येतेऽउदीची वै मनुष्याणां दिक्तस्मादुदीचीनवꣳशꣳ सदो भवति ॥ २३ ॥ तत्परिश्रयन्ति । परि त्वा गिर्वणो गिर इमा भवन्तु विश्वतः । वृद्धायुमनु वृद्धयो जुष्टा भवन्तु जुष्टयऽइतीन्द्रो वै गिर्वा विशो गिरो विशैवैतत्क्षत्रं परिबृꣳहति तदिदं क्षत्रमुभयतो विशा परिबृढम् ॥ २४ ॥ अथ लस्पूजन्या स्यन्द्यया प्रसीव्यति । इन्द्रस्य स्यूरसीत्यथ ग्रन्थिं करोतीन्द्रस्य ध्रुवोऽसीति नेद्व्यवपद्याताऽइति प्रकृते कर्मन्विष्यति तथो हाध्वर्युं वा यजमानं वा ग्राहो न विन्दति तन्निहितमभिमृशत्यैन्द्रमसीत्यैन्द्रꣳ हि सदः ॥ २५ ॥ अथ हविर्धानयोः । जघनार्धꣳ समन्वीक्ष्योत्तरेणाग्नीध्रं मिनोति तस्यार्धमन्तर्वेदि स्यादर्धं बहिर्वेद्यथोऽअपि भूयोऽर्धादन्तर्वेदि स्यात्कनीयो बहिर्वेद्यथोऽअपि सर्वमेवान्तर्वेदि स्यात्तन्निहितमभिमृशति वैश्वदेवमसीति ह्येनैतद्वैश्वदेवं यदस्मिन्पूर्वेद्युर्विश्वे देवा वसतीवरीमुपवसन्ति तेन वैश्वदेवम् ॥ २६ ॥ देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः । तेऽसुररक्षसे-

है ॥१६॥

इसको छुआकर (यजमान से) कहलवाता है—"ध्रुवासि ध्रुवोऽयं यजमानोऽस्मिन्नायतने प्रजया भूयात्' (यजु० ५।२८)—"तू दृढ़ है। यह यजमान इस घर में प्रजा के साथ दृढ़ हो।" "पशुभिः" (यजु० ५।२८)—"पशुओं के साथ।" अर्थात् जैसी-जैसी कामना हो उसी की पूर्ति होती है ॥२०॥

अब स्रुवा में घी लेकर विष्ट (अर्थात् त्रिशूल के समान सिरे) पर डालता है, इस मन्त्रांश से—"घृतेन द्यावापृथिवी पूर्येथाम्" (यजु० ५।२८)—"द्यौ और पृथिवी घी से भर जायें।" इस प्रकार द्यौ और पृथिवी को ऊर्ज और रस से भर देता है। उनमें ऊर्ज और रस स्थापित कर देता है। यह सब प्रजा ऊर्ज और रसयुक्त द्यावा-पृथिवी पर ही निवास करती हैं ॥२१॥

अब चटाई (छदि) बिछाता है, यह पढ़कर—"इन्द्रस्य छदिरसि" (यजु० ५।२८)—"तू इन्द्र की चटाई है।" क्योंकि सदस् इन्द्र का है। "विश्वजनस्य छाया" (यजु० ५।२८)—"सब मनुष्यों के लिए आश्रय है।" क्योंकि इसमें सब गोत्रों के ब्राह्मण बैठते हैं। इसमें दो चटाइयाँ और जोड़ता है। फिर उनके उत्तर में तीन चटाइयाँ और उनके उत्तर में तीन और चटाइयाँ। इस प्रकार नौ हो जाती हैं। यह त्रिवृत् (तीन भागों वाला) होता है। नौ भी त्रिवृत् होता है। इसलिए नौ चटाइयाँ होती हैं ॥२२॥

सदस् का बाँस (दक्षिण से) उत्तर को होता है, हविर्धान का पूर्व से पश्चिम को। हविर्धान पूरा-पूरा देवताओं का होता है, इसलिए वहाँ न खाते हैं न पीते हैं। अगर कोई उसमें खाय या पिये तो उसका सिर गिर जायगा। आग्नीध्र और सदस् दोनों में मिश्रित हैं (अर्थात् देव और मनुष्य दोनों में उनकी गिनती है)। इसलिए इनके साथ खाना-पीना होता है, क्योंकि इन दोनों की दोनों में गिनती है। मनुष्यों की दिशा उत्तर है, इसलिए सदस् का बाँस उत्तर की ओर होता है ॥२३॥

इस मन्त्र को पढ़कर उसको घेरते हैं—"परि त्वा गिर्वणो गिरऽइमा भवन्तु विश्वतः। वृद्धायुमनु वृद्धयो जुष्टा भवन्तु जुष्टयः" (यजु० ५।२९, ऋ० १।१०।१२)—"हे स्तुतियों को पसन्द करनेवाले! स्तुतियाँ चारों ओर से तुझको घेर लें। वृद्धियाँ (उन्नतियाँ) बहुत आयुवाली हों। शक्तियाँ शक्तिवाली हों।" 'गिर्वा' का अर्थ है इन्द्र और 'गिरः' का जनसाधारण (विश)। इस प्रकार वह क्षत्रिय को जन-साधारण (विश) से घेरता है। इसलिए जन-साधारण से दोनों ओर क्षत्रिय घिरा रहता है ॥२४॥

अब वह सुई-डोरे से सीता है, यह मन्त्रांश पढ़कर—"इन्द्रस्य स्यूरसि" (यजु० ५।३०)—"तू इन्द्र की सुई है।" फिर गाँठ देता है इस मन्त्रांश को पढ़कर—"इन्द्रस्य ध्रुवोऽसि" (यजु० ५।३०)—"तू इन्द्र का ध्रुव है।" कहीं खुल न जाय। कार्य समाप्त होने पर खोल देता है। इस प्रकार अध्वर्यु या यजमान रोग-ग्रसित नहीं होते। कार्य की समाप्ति पर वह सदस् को छूता है, इस मन्त्रांश को पढ़कर—"ऐन्द्रमसि" (यजु० ५।३०)—"तू इन्द्र का है।" क्योंकि सदस् इन्द्र का ही होता है ॥२५॥

हविर्धानों में से पिछले को देखकर उत्तर की ओर आग्नीध्र शाला बनाता है। इसका आधा वेदी के भीतर होना चाहिए और आधा बाहर, या आधे से अधिक भीतर हो और आधे से कम बाहर, या सब भीतर ही हो। जब पूरा हो जाय तो इस मन्त्रांश से उसको छुए—"वैश्वदेवमसि" (यजु० ५।३०)—"तू सब देवों का है।" यह सब देवों का है ही, क्योंकि इससे पूर्व के दिन 'विश्वेदेवा' 'वसतीवरी' जलों के पास इसी में बैठते हैं (उप+वास करते हैं) ॥२६॥

एक बार यज्ञ करते हुए देवों को भय हुआ कि असुर राक्षस आक्रमण न करें। असुर

भ्य आसङ्गाद्बिभयां चक्रुस्तान्दक्षिणतोऽसुररक्षसान्यासेदुस्तान्त्सदसो निग्युस्तेषामे-
तान्धिष्ण्यानुद्वापयां चक्रुर्य एतेऽन्तःसदसꣳ ॥२७॥ सर्वे ह स्म वाऽएते पुरा ज्वल-
न्ति । यथायमाहवनीयो यथा गार्हपत्यो यथाग्नीध्रीयस्तद्यत एनानुद्वापयंस्तत
एवैतन्न ज्वलन्ति नानाग्नीध्रमभि सꣳरुरुधुस्तानप्यर्धमाग्नीध्रस्य निग्युस्ततो विश्वे दे-
वा अमृतत्वमपाजयंस्तस्माद्वैश्वदेवम् ॥२८॥ तान्देवाः प्रतिसमैन्धत । यथा प्रत्यव-
स्येत्तस्मादेनान्त्सवने-सवनऽएव प्रतिसमिन्धते तस्माद्यः समृद्धः स आग्नीध्रं कुर्या-
द्यो वै ज्ञातोऽनूचानः स समृद्धस्तस्मादग्नीधे प्रथमाय दक्षिणां नयन्त्यतो हि वि-
श्वे देवा अमृतत्वमपाजयंस्तस्माद्यं दीक्षितानामबल्यं विन्देदाग्नीध्रमेनं नयतेति ब्रू-
यात्तदनार्तं तन्नारिष्यतीति तद्यदतो विश्वे देवा अमृतत्वमपाजयंस्तस्माद्वैश्वदेवम्
॥२९॥ ब्राह्मणम् ॥५[६.१]॥ चतुर्थः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या १३२ ॥ ॥

विजामानो हैवास्य धिष्ण्याः । इमे समङ्क्ता ये वै समङ्क्तास्ते विजामान एतऽउ
हैवास्यैतऽआत्मनः ॥१॥ दिवि वै सोम आसीत् । अथेह देवास्ते देवा अकाम-
यन्ता नः सोमो गच्छेत्तेनागतेन यजेमहीति तऽएते मायेऽअसृजन्त सुपर्णीं च कद्रूं
च वागेव सुपर्णीयं कद्रूस्ताभ्याꣳ समदं चक्रुः ॥२॥ ते हऽर्तीयमानेऽऊचतुः ।
यतरा नौ दवीयः परापश्यादात्मानं नौ सा जयादिति तथेति सा ह कद्रूरुवाच
परेक्षस्वेति ॥३॥ सा ह सुपर्ण्युवाच । अस्य सलिलस्य पारेऽश्वः श्वेत स्थाणौ
सेवते तमहं पश्यामीति तमेव त्वं पश्यसीति तꣳ हीत्यथ ह कद्रूरुवाच तस्य
वालो न्यषञ्जि तममुं वातो धूनोति तमहं पश्यामीति ॥४॥ सा यत्सुपर्ण्युवाच ।
अस्य सलिलस्य पारऽइति वेदिर्वै सलिलं वेदिमेव सा तदुवाचाश्वः श्वेत स्थाणौ
सेवतऽइत्यग्निर्वाऽअश्वः श्वेतो यूप स्थाणुरथ यत्कद्रूरुवाच तस्य वालो न्यषञ्जि
तममुं वातो धूनोति तमहं पश्यामीति रशना हैव सा ॥५॥ सा ह सुपर्ण्युवा-
च । एहीदं पताव वेदितुं यतरा नौ जयतीति सा ह कद्रूरुवाच त्वमेव पत त्वं

राक्षसों ने दक्षिण से आक्रमण किया और सदस् से निकाल दिया, और सदस् के भीतर जो 'धिष्ण्यः' (कुण्ड) थे उनको उलट दिया ।।२७।।

पहले ये सब कुण्ड ऐसे ही जलते थे जैसे यह आहवनीय या गार्हपत्य या आग्नीध्रीय। जब से उन्होंने इनको उलट दिया तब से ये नहीं जलते। उन (राक्षसों) ने (देवों को) आग्नीध्रीय अग्नि तक रोक दिया। उनसे आग्नीध्रीय अग्नि का आधा भाग जीत भी लिया। वहीं से देवों ने अमरपन को प्राप्त किया। इसलिए 'आग्नीध्रीय अग्नि' सब देवों की हो गई ।।२८।।

देवों ने उनको फिर जला लिया, क्योंकि उनका वहाँ रहना था। इसलिए प्रत्येक सोमयाग में इनको जलाया जाता है। इसलिए जो समृद्ध (पूर्ण योग्य) हो वही आग्नीध्र का काम करे। समृद्ध वह होता है जो ज्ञानी और वेदपाठी हो। पहले आग्नीध्र के पास दक्षिणा ले जाते हैं। सब देवों ने यहीं अमरत्व की प्राप्ति की थी। अगर दीक्षित लोगों में किसी प्रकार की निर्बलता (अबल्य) आ जाय तो अध्वर्यु कहे—'इसको आग्नीध्र के पास ले जाओ।' चूंकि वह अनार्त या दुःखरहित है इसलिए उसको भी वहाँ दुःख न होगा। चूंकि यहाँ सब देवों को अमरत्व प्राप्त हुआ इसलिए यह 'सब देवों का' है ।।२९।।

अध्याय ६—ब्राह्मण २

धिष्णियाँ (कुण्ड) यजमान के विजामान होते हैं, क्योंकि ये समङ्क होते हैं। जो समङ्क हों उनको विजामान कहते हैं। (समङ्क या विजामान वे वस्तुएं होती हैं जिनके अङ्ग एक-दूसरे के अनुकूल होते हैं, जैसे यदि मनुष्य के सिर है तो धिष्णी का भी सिर है। यदि मनुष्य के आँख है तो धिष्णी की भी आँख है। अर्थात् एक-एक अङ्ग के स्थान में दूसरा अङ्ग होना)। उसके धड़ के अङ्ग ये हैं—।।१।।

सोम द्यौलोक में था और देव इस लोक में। देवों ने कामना की कि सोम हमारे पास आ जावे और उस आये हुए सोम के साथ हम यज्ञ करें। उन्होंने दो माया बनाईं—सुपर्णी और कद्रू। सुपर्णी वाणी थी और कद्रू यह भूमि। उन्होंने उनके बीच में झगड़ा करा दिया ।।२।।

तब वे झगड़ने लगीं, 'जो हममें से सबसे दूर की चीज देख लेगी वही दूसरी पर विजय पायेगी।' कद्रू ने कहा, 'अच्छा, देख' ।।३।।

सुपर्णी ने कहा—'इस सलिल के उस पार एक श्वेत घोड़ा एक खम्भे के पास खड़ा है। मैं उसे देख रही हूँ। क्या तू भी उसको देखती है?' कद्रू ने कहा—'मैं देखती हूँ। उसकी पूंछ अभी लटक रही थी। मैं देखती हूँ कि वायु इस समय उसको हिला रही है' ।।४।।

अब जब सुपर्णी ने कहा—'उस सलिल के उस पार' तो सलिल का अर्थ था वेदी। उससे उसका तात्पर्य वेदी से था। 'खम्भे के पास एक सफेद घोड़ा खड़ा है।' श्वेत घोड़े से तात्पर्य यज्ञ का है और खम्भे से यज्ञ-यूप का। कद्रू ने जो कहा था कि 'इसकी पूंछ अभी लटक रही थी, अब उसको वायु हिला रहा है। मैं उसे देख रही हूँ' यह केवल रस्सी थी ।।५।।

तब सुपर्णी ने कहा—'चलो वहाँ तक उड़ चलें और देखें कि हममें से किसकी जीत हुई।'

वै न आख्यास्यसि यतरा नौ जयतीति ॥६॥ सा ह सुपर्णी पपात । तद्ध तथै-
वास यथा कद्रूरुवाच तामागतामभ्युवाद त्वमजैषीऽ३रहाऽ३मिति त्वमिति होवाचै-
तद्व्याख्यानं सौपर्णीकाद्रवमिति ॥७॥ ॥ शतम् ११०० ॥ ॥ सा ह कद्रूरुवाच ।
आत्मानं वै त्वाजैषं दिव्यसौ सोमस्तं देवेभ्य आहर तेन देवेभ्य आत्मानं नि-
ष्क्रीणीष्वेति तथेति सा छन्दांसि ससृजे सा गायत्री दिवः सोममाहरत् ॥८॥
हिरण्मय्योर्ह कुश्योरन्तरवहित आस । ते ह स्म क्षुरपव्यौ निमेषं-निमेषमभिसं-
धत्तो दीक्षातपसौ हैव तेऽआसतुस्तमेते गन्धर्वाः सोमरक्षा जुगुपुरिमे धिष्ण्या इ-
मा होत्राः ॥९॥ तयोरन्यतरां कुशीमाचिच्छेद । तां देवेभ्यः प्रददौ सा दीक्षा त-
या देवा अदीक्षन्त ॥१०॥ अथ द्वितीयां कुशीमाचिच्छेद । तां देवेभ्यः प्रददौ तत्त-
पस्तया देवास्तप उपायन्नुपसदस्तपो ह्युपसदः ॥११॥ खदिरेण ह सोममाचखा-
द । तस्मात्खदिरो यदेनेनाखिदत्तस्मात्खादिरो यूपो भवति खादिरः स्फ्योऽच्छावा-
कस्य हैनं गोपनायां जहार सोऽच्छावाकोऽहीयत ॥१२॥ तमिन्द्राग्नीऽअनुसमत-
नुताम् । प्रजानां प्रजात्यै तस्मादैन्द्राग्नोऽच्छावाकः ॥१३॥ तस्माद्दीक्षिता राजानं
गोपायन्ति । नेन्नोऽपहरानिति तस्मात्तत्र सुगुप्तं चिकीर्षेद्यस्य ह गोपनायामप-
हरन्ति हीयते ह ॥१४॥ तस्माद्ब्रह्मचारिण आचार्यं गोपायन्ति । गृहान्पशून्नेन्नो
ऽपहरानिति तस्मात्तत्र सुगुप्तं चिकीर्षेद्यस्य ह गोपनायामपहरन्ति हीयते ह
तेनैतेन सुपर्णी देवेभ्य आत्मानं निरक्रीणीत तस्मादाहुः पुण्यलोक ईजान इ-
ति ॥१५॥ ऋणं ह वै पुरुषो जायमान एव । मृत्योरात्मना जायते स यद्यजते
यथैव तत्सुपर्णी देवेभ्य आत्मानं निरक्रीणातैवमेवैष एतन्मृत्योरात्मानं निष्क्री-
णीते ॥१६॥ तेन देवा अयजन्त । तमेते गन्धर्वाः सोमरक्षा अन्वाजग्मुस्तेऽन्वा-
गत्याब्रुवन्ननु नो यज्ञऽआभजत मा नो यज्ञादन्तर्गातास्त्वेव नोऽपि यज्ञे भाग इति
॥१७॥ ते होचुः । किं नस्ततः स्यादिति यथैवास्यामुत्र गोप्तारोऽभूमैवमेवास्या-

कद्रू ने कहा—'तुम्हीं जाओ और बता देना कि हममें से किसकी विजय हुई' ॥६॥

सुपर्णी वहाँ तक उड़ी और कद्रू ने जो कहा था वही ठीक निकला। जब वह वापस आई तो कद्रू ने उससे पूछा— 'तुम जीतीं या मैं ?' उसने कहा 'तुम।' इसको 'सौपर्णी-काद्रव' व्याख्यान कहते हैं ॥७॥ [शतम् १६००]

तब कद्रू ने कहा — 'सचमुच मैंने तुमको जीत लिया। द्यौलोक में सोम है, उसको देवों के लिए ले आओ। और देवों के ऋण से मुक्त हो।' यथास्तु। वह छन्दों को लाई। वह गायत्री द्यौलोक से सोम को ले आई ॥८॥

वह (सोम) दो सोने के प्यालों के बीच में था। आँख मारते में ही वे प्याले तेज किनारों द्वारा बन्द हो जाते थे। ये थे दीक्षा और तप। उन पर सोमरक्ष गन्दर्भ देखभाल रखते थे। यही धिष्णियाँ हैं, यही होता ॥६॥

उसने इनमें से एक प्याले को खोला और देवों को दे दिया। यह दीक्षा थी। इसी से देवों ने अपने को दीक्षित किया ॥१०॥

अब उसने दूसरे प्याले को खोला और देवों को दिया। यही 'तप' था। इससे देवों ने तप किया अर्थात् उपसद, क्योंकि उपसद ही तप है ॥११॥

उसने खदिर की लकड़ी से सोम को लिया (आचखाद), इसलिए उनका खदिर नाम पड़ा। और चूंकि उसी के द्वारा उसने सोम को लिया, इसलिए यूप और स्फ्या खदिर की लकड़ी के होते हैं। जब वह अछावाक के सुपुर्द था तब वह उसे ले गई। इसीलिए 'अछावाक' को सोम-पान का अधिकार नहीं ॥१२॥

इन्द्र और अग्नि ने प्रजाओं की उत्पत्ति के लिए उसको स्थित रक्खा, इसलिए अछावाक् इन्द्र और अग्नि का होता है ॥१३॥

इसीलिए दीक्षित पुरुष ही सोम राजा की रक्षा करते हैं कि गन्धर्व कहीं इसको ले न जायँ। इसलिए उचित है कि उसकी भलीभाँति रक्षा की जाय। क्योंकि जिस किसी की सुपुर्दगी में से वे सोम को ले-जायँगे, वही (सोमपान से) बहिष्कृत कर दिया जायगा ॥१४॥

इसीलिए ब्रह्मचारी लोग अपने आचार्य, उसके घर तथा पशुओं की रक्षा करते हैं कि कहीं वे उसको ले न जायँ। इसलिए उस (सोम) की बड़ी रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि जिस किसी की सुपुर्दगी में से वे ले जायंगे उसी को (सोमपान से) बहिष्क्रत कर दिया जायगा। इसी के द्वारा सुपर्णी ने देवोंके ऋण से छुटकारा पाया, इसलिए कहते हैं कि यज्ञ करनेवाले पुण्य-लोक को प्राप्त होते हैं ॥१५॥

पुरुष जब पैदा होता है तभी मृत्यु का ऋणी होता है। और जब वह यज्ञ करता है तो मृत्यु के ऋण से छूटता है, जैसे सुपर्णी देवताओं के ऋण से छूट गई ॥१६॥

देवों ने (सोम के साथ) यज्ञ किया। सोमरक्ष गन्धर्वों ने उसका अनुसरण किया और आकर कहने लगे—'हमको यज्ञ में भाग दो। हमको यज्ञ से बाहर मत करो। यज्ञ में हमारा भी भाग होना चाहिए' ॥१७॥

उन्होंने कहा—'हमको इससे क्या लाभ होगा ?' उन्होंने उत्तर दिया कि 'जैसे उस लोक

पीह गोप्तारो भविष्याम इति ॥१८॥ तथेति देवा अब्रुवन् । सोमक्रयणा व इ-
ति तानेभ्य एतत्सोमक्रयणाननुदिशत्यथैनानब्रुवंस्तृतीयसवने वो घृताहुतिः प्रा-
प्स्यति न सौम्यापहृता हि युष्मत्सोमपीथस्तेन सोमाहुतिं नार्हथेति सैनानेषा
तृतीयसवनऽएव घृताहुतिः प्राप्नोति न सौम्या यच्छालाकैर्धिष्ण्यान्व्याघारयति
॥१९॥ अथ यदग्नौ होष्यन्ति । तद्वोऽविष्यतीति स यदग्नौ जुह्वति तदेनानवत्यथ
यद्वः सोमं बिभ्रत उपर्युपरि चरिष्यन्ति तद्वोऽविष्यतीति स यदेनान्त्सोमं बिभ्रत
उपर्युपरि चरन्ति तदेनानवति तस्मादध्वर्युः समया धिष्ण्यान्नातीयादध्वर्युर्हि सोमं
बिभर्ति नेदेतेन व्यात्तेन प्रत्यासते स एतेषां व्यात्तमापद्येत तमग्निर्वाभिदहेद्वा-
यं देवः पशूनामीष्टे स वा हैनमभिमन्येत तस्मादु ह्यध्वर्योः शालायामर्थः स्यादु-
त्तरेणैवाग्नीध्रीयꣳ संचरेत् ॥२०॥ ते वाऽएते । सोमस्यैव गत्यै न्युप्यन्तऽआहव-
नीयः पुरस्तान्मार्जालीयो दक्षिणत आग्नीध्रीय उत्तरतोऽथ ये सदसि ते पश्चात्
॥२१॥ तेषां वाऽअर्धाननुपकिरन्ति । अर्धाननुदिशन्त्येतद्ध स्मैवैतद्धिष्ण्याऽअर्धान्न उप
किरन्त्वर्धाननुदिशन्तु तथा यस्माल्लोकादागताः स्मो दिवस्तथा तं लोकं प्रतिप्र
ज्ञास्यामस्तथा न जिह्मा एष्याम इति ॥२२॥ स याननुपकिरति । तेनास्मिंल्लोके
प्रत्यक्षं भवन्त्यथ याननुदिशति तेनामुष्मिंल्लोके प्रत्यक्षं भवन्ति ॥२३॥ ते वै द्वि-
नामानो भवन्ति । एतद्ध स्मैवैतद्धिष्ण्या न वाऽएभिर्नामभिरराथ्स्म येषां नः सो-
ममपाहार्षुर्हन्त द्वितीयानि नामानि करवामहाऽइति ते द्वितीयानि नामान्यकु-
र्वत तैरराध्नुवन्यानपहृतसोमपीथान्त्सतोऽथ यज्ञऽआभजंस्तस्माद्द्विनामानस्तस्माद्ब्रा-
ह्मणोऽनृध्यमाने द्वितीयं नाम कुर्वीत राध्नोति हैव य एवं विद्वान्द्वितीयं नाम
कुरुते ॥२४॥ स यदग्नौ जुहोति । तद्देवेषु जुहोति तस्माद्देवाः सन्त्यथ यत्सदसि
भक्षयन्ति तन्मनुष्येषु जुहोति तस्मान्मनुष्याः सन्त्यथ यद्धविर्धानयोर्नाराशꣳसाः
सीदन्ति तत्पितृषु जुहोति तस्मात्पितरः सन्ति ॥२५॥ या वै प्रजा यज्ञेऽनन्वाभ-

में हम उसके रक्षक रहे उसी प्रकार इस भूमि पर भी रक्षक रहेंगे' ।।१८।।

देवों ने कहा—'अच्छा।' जब वह कहता है—'यह है सोम की मजदूरी।' तो इससे सोम के मोल से तात्पर्य है। फिर उन्होंने कहा—'तीसरे सवन में जो घी की आहुति दी जायगी वह तुम्हारी होगी। सोम का पान तुमसे छीन लिया गया है। इसलिए तुम सोम की आहुति के अधिकारी नहीं रहे। इसलिए सायंकाल के तीसरे सवन में कुण्ड में लकड़ियों पर जो घी की आहुति दी जाती है वही इनकी होती है, सोम की आहुति नहीं ।।१९।।

'और जो आहुति घी में दी जायगी वह तुमको तृप्त कर देगी।' इसलिए जो घी में आहुति दी जाती है वह उनको तृप्त कर देती है। 'और वह जो सोम को चमचों के लिए ऊपर-ऊपर फिरायेंगे उनसे इसकी तृप्ति होगी।' इसलिए यह जो सोम को चमचे में भरकर ऊपर-ऊपर फिराते हैं उनसे इसकी तृप्ति होती है। इसलिए अध्वर्यु को चाहिए कि कुण्डों के बीच से न गुजरे क्योंकि वह सोम के लिए होता है और वे (कुण्ड) सोम के लिए मुँह खोले बैठे होते हैं, और वह उनके मुँह में घुस जायेगा। इसलिये या तो उसको अग्नि जला देगा या जो देव पशुओं का अधिष्ठाता है (पशुपति, रुद्र) वह उसको पकड़ लेगा। इसलिये जब कभी अध्वर्यु का शाला में कुछ काम हो तो वह आग्नीध्रीय अग्नि के उत्तर की ओर होकर जावे ।।२०।।

ये कुण्ड सोम की रक्षा के लिए बनाये जाते हैं—आगे आहवनीय, दाईं ओर मार्जालीय, बाईं ओर आग्नीध्रीय और पीछे की ओर सदस् ।।२१।।

इनमें से आधे को मिट्टी डालकर ऊँचा करते हैं और आधे की ओर केवल संकेत करते हैं। उन्हीं का यह आग्रह था कि हममें से आधों को ऊँचा करो, आधों की ओर संकेत करो। (यहाँ 'अनुदिशन्तु' का अर्थ समझ में नहीं आया) इस प्रकार हम उस द्यौलोक को जान लेंगे जहाँ से हम आये हैं, और हम बहक न सकेंगे ।।२२।।

जो ऊँचे किये गये वे इस लोक में प्रत्यक्ष होते हैं, और जिनकी ओर संकेत करते हैं वे उस लोक में प्रत्यक्ष होते हैं ।।२३।।

उनके दो नाम होते हैं। वस्तुतः यह उन्हीं का आग्रह था कि 'हम इन नामों से फलीभूत नहीं हुए क्योंकि हमसे सोम ले लिया गया। अब हम दूसरे नाम रख लें।' उन्होंने दूसरा नाम रख लिया। इससे वे सफल हो गये, क्योंकि जो सोम से वंचित हो चुके थे उनको यज्ञ में भाग मिल गया। इसलिये दो नाम होते हैं। इसलिए यदि कोई ब्राह्मण सफल न होता हो तो दूसरा नाम रख ले। जो इस रहस्य को समझकर दूसरा नाम रख लेता है वह फलीभूत हो जाता है ।।२४।।

वह अग्नि में जो आहुतियाँ देता है वह देवों के प्रति देता है। इसी से देव स्थित रहते हैं। और जो सदस् में खाते हैं वे मनुष्यों के प्रति देते हैं। उससे मनुष्यों की स्थिति है। हविर्धानों में जो नाराशंस बैंठते हैं वे पितरों के प्रति होते हैं। उनसे पितरों की स्थिति है ।।२५।।

अब जो ऐसी प्रजा बच रही जिसका यज्ञ में कोई भाग ही नहीं है, वह तो कहीं की नहीं

क्षाः । पराभूता वै ता एवमेवैतद्या इमाः प्रजा अपराभूतास्ता यज्ञऽआभजति मनुष्याननु पशवो देवाननु वयाꣳस्योषधयो वनस्पतयो यदिदं किं चैवमु तत्सर्वं यज्ञऽआभक्तं ते ह स्मैतऽउभये देवमनुष्याः पितरः सम्पिबन्ते सैषा सम्पा ते ह स्म दृश्यमाना एव पुरा सम्पिबन्तऽउतैतर्ह्यदृश्यमानाः ॥२६॥ ब्राह्मणम् ॥१[६.२.]॥ ॥

सर्वं वाऽएषोऽभि दीक्षते । यो दीक्षते यज्ञꣳ ह्यभि दीक्षते यज्ञꣳ ह्येवेदꣳ सर्वमनु तं यज्ञꣳ सम्भृत्य यमिममभि दीक्षते सर्वमिदं विसृजते ॥१॥ यद्वैसर्जिनानि जुहोति । स यदिदꣳ सर्वं विसृजते तस्माद्वैसर्जिनानि नाम तस्माद्योऽपिव्रतः स्यात्सोऽन्वारभेत यद्युऽअन्यत्र चरेन्नाद्रियेत यद्वै जुहोति तदेवेदꣳ सर्वं विसृजते ॥२॥ यद्वेव वैसर्जिनानि जुहोति । यज्ञो वै विष्णुः स देवेभ्य इमां विक्रान्तिं विचक्रमे यैषामियं विक्रान्तिरिदमेव प्रथमेन पदेन पस्पारायेदमन्तरिक्षं द्वितीयेन दिवमुत्तमेनैतामवेवैष एतस्मै विष्णुर्यज्ञो विक्रान्तिं विक्रमते यज्जुहोति तस्माद्वैसर्जिनानि जुहोति ॥३॥ सोऽपराह्णे वेदिꣳ स्तीर्त्वा । अर्धव्रतं प्रदाय सम्प्रपद्यन्तऽइध्ममभ्याधत्युपयमनीरुपकल्पयन्त्याज्यमधिश्रयति स्रुचः संमार्ष्ट्युपस्थे राजानं यजमानः कुरुतेऽथ सोमक्रयण्यै पदं जघनेन गार्हपत्यं परिकिरति पदा वै प्रतितिष्ठति प्रतिष्ठित्याऽएव ॥४॥ तद्धैके । चतुर्धा कुर्वन्ति यत्राह्वनीयमुद्धरन्ति तासूपयमनीषु चतुर्भागमद्धं चतुर्भागेणोपाञ्जन्त्येतासूपयमनीषु चतुर्भागं जघनेन गार्हपत्यं चतुर्भागं परिकिरति ॥५॥ तदु तथा न कुर्यात् । सार्धमेव परिकिरेज्जघनेन गार्हपत्यमथोत्पूयाज्यं चतुर्गृहीते जुह्वां चोपभृति च गृह्णाति पञ्चगृहीतं पृषदाज्यं ज्योतिरसि विश्वरूपं विश्वेषां देवानाꣳ समिदिति वैश्वदेवꣳ हि पृषदाज्यं धारयन्ति स्रुचो यदा प्रदीप्त इध्मो भवति ॥६॥ अथ जुहोति । त्वꣳ सोम तनूकृद्भ्यो द्वेषोभ्योऽन्यकृतेभ्य उरु यन्तासि वरूथꣳ स्वाहेति तदेतेनैवास्यां पृथिव्यां प्र-

रही। इसलिए वह इनको यहाँ यज्ञ में भाग देता है जिससे वे फलीभूत हो जायें। पशु मनुष्यों के पीछे हैं; चिड़ियाँ, ओषधियाँ और वनस्पतियाँ देवों के पीछे हैं। इस प्रकार यहाँ जो कुछ है, सभी को यज्ञ में भाग मिलता है। देव और मनुष्य दोनों पितरों के साथ पीते हैं। पहले यह प्रत्यक्ष रूप से पीते थे, अब परोक्ष रूप से पीते हैं ॥२६॥

अध्याय ६—ब्राह्मण ३

जो दीक्षा लेता है वह सबको दीक्षित करता है। क्योंकि वह यज्ञ को दीक्षित करता है। यह यज्ञ ही सब-कुछ है। जिस यज्ञ के लिए उसने दीक्षा ली थी उसको समाप्त करके मानो वह सबको युक्त कर देता है ॥१॥

वैसर्जिन आहुति इसलिये दी जाती है। चूंकि वह इस सब का विसर्जन करता है इसलिये इसका नाम वैसर्जिन है। इसलिये जिस किसी ने व्रत लिया हो वह पीछे से (यजमान को) छुए। यदि कहीं जाना हो तो न सही। जब वह आहुति देता है तो सबका विसर्जन करता है ॥२॥

वैसर्जिन आहुतियां क्यों दी जाती हैं? यज्ञ विष्णु है। उस (विष्णु) ने देवों के लिए इस विक्रान्ति (शक्ति) को विचक्रमे अर्थात् प्राप्त किया, जो इस समय उनको प्राप्त है—पहले पद से इस (भूलोक) को, दूसरे से अन्तरिक्ष को, अन्तिम से द्यौलोक को। इसी विक्रान्ति को यज्ञ यजमान के लिए प्राप्त कराता है जब यजमान यज्ञ करता है। इसीलिये वैसर्जिन आहुतियाँ दी जाती हैं ॥३॥

तीसरे पहर वेदी में कुश रखकर, व्रत के दूध का आधा भाग यजमान और उसकी स्त्री को देकर शाला में आते हैं, समिधा को रखते हैं और उपयमनी को बनाते हैं। (अध्वर्यु) घी को (गार्हपत्य की) अग्नि पर रखता है। स्रुच् को माँजता है। यजमान सोम राजा को अपनी गोद में लेता है। अध्वर्यु सोम-गौ के पद की रेणु को गार्हपत्य के पीछे फेंकता है जिससे उसकी प्रतिष्ठा हो, क्योंकि पैरों से ही तो प्रतिष्ठा होती है (आदमी पैरों के बल ही खड़ा होता है) ॥४॥

कुछ लोग (इस रेणु के) चार भाग करते हैं। चौथाई भाग को उस उपयमनी में रखते हैं जहां से आहवनीय लेते हैं। चौथाई भाग अक्ष में लगाते हैं। चौथाई भाग को (अग्नीध्रीय अग्नि की) उपयमनी पर रखते हैं और एक-चौथाई को गार्हपत्य के पीछे फेंकते हैं ॥५॥

परन्तु ऐसा नहीं करना चाहिए। उसको बिल्कुल गार्हपत्य के पीछे ही फेंकना चाहिए। घी को साफ करके जुहू और उपभृत में चार चमचे लेता है—पृषदाज्य (जमे हुए घी) के पाँच चमचे इस मन्त्र से—"ज्योतिरसि विश्वरूपं विश्वेषां देवानाँ समित्" (यजु० ५।३५)—"तू विश्वरूप ज्योति है, सब देवताओं की समिधा या ज्वाला।" क्योंकि पृषदाज्य सब देवों का है। जब इंधन प्रदीप्त हो जाता है तो स्रुचों को रखते हैं ॥६॥

अब वह आहुति देता है—"त्वँ सोम तनूकृद्भ्यो द्वेषेभ्योऽन्यकृतेभ्यऽउरु यन्तासि वरूथँ स्वाहा" (यजु० ५।३५)—"हे सोम, तू शरीरों को कष्ट देनेवाले, दूसरों द्वारा किये हुए द्वेषों से बचानेवाला है। बहुत प्रकार से नियन्ता है। तू हमारे यज्ञरूपी घर की रक्षा कर।" इस प्रकार

तिष्ठायां प्रतितिष्ठत्येतेनेमं लोकꣳ स्पृणुते ॥७॥ अथाप्तवे द्वितीयामाहुतिं जुहो-
ति । जुषाणोऽअप्तुराज्यस्य वेतु स्वाहेत्येष उ हैवैतदुवाच रक्षोभ्यो वै बिभेमि
यथा मान्तरा नाष्ट्रा रक्षाꣳसि न हिनसन्नेवं मा कनीयाꣳसमेव बधात्कृत्वातिनय-
त स्तोकमेव स्तोको ह्यप्तुरिति तमेतत्कनीयाꣳसमेव बधात्कृत्वात्यनयन्त्स्तोकमेव
स्तोको ह्यप्तू रक्षोभ्यो भीषा तस्मादप्तवे द्वितीयामाहुतिं जुहोति ॥८॥ उपयच्छ-
न्तीध्मम् । उपयच्छन्त्युपयमनीरथाहाग्नये प्रह्रियमाणायानुब्रूहि सोमाय प्रणीयमा-
नायेति वाग्नये प्रह्रियमाणायानुब्रूहीति त्वेव ब्रूयात् ॥९॥ आददते ग्राव्णः । द्रो-
णकलशं वायव्यानीध्मं कार्ष्मर्यमयान्परिधीनाश्ववालं प्रस्तरमैक्षव्यौ विधृती त-
द्बर्हिरुपसंनद्धं भवति वपाश्रपण्यौ रशनेऽअरणीऽअधिमन्थनः शकलो वृषणौ
तत्समादाय प्राञ्च आयन्ति स एष ऊर्ध्वो यज्ञ एति ॥१०॥ तदायत्सु वाचयति ।
अग्ने नय सुपथा रायेऽअस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् । युयोध्यस्मज्जुहुरा-
णमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेमेत्यग्निमेवैतत्पुरस्तात्करोत्यग्निः पुरस्तान्नाष्ट्रा
रक्षाꣳस्यपघ्नन्नेत्यथाभयेनानाष्ट्रेण हरन्ति तऽआयन्त्यागच्छन्त्याग्नीध्रं तमाग्नीध्रे निद-
धाति ॥११॥ स निहिते जुहोति । अयं नोऽअग्निर्वरिवस्कृणोत्वयं मृधः पुर एतु
प्रभिन्दन् । अयं वाजाञ्जयतु वाजसातावयꣳ शत्रूञ्जयतु जर्हृषाणः स्वाहेति तदे-
तेनैवैतस्मिन्नन्तरिक्षे प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठत्येतेनैतं लोकꣳ स्पृणुते ॥१२॥ तदेव नि-
दधति ग्राव्णः । द्रोणकलशं वायव्यान्यथेतरमादायायन्ति तदुत्तरेणाहवनीयमुप-
सादयन्ति ॥१३॥ प्रोक्षणीरध्वर्युरादत्ते । स इध्ममेवाग्रे प्रोक्षत्यथ वेदिमथास्मै ब-
र्हिः प्रयच्छन्ति तत्पुरस्ताद्ग्रन्थ्यासादयति तत्प्रोक्ष्योपनिनीय विस्रꣳस्य ग्रन्थिमाश्व-
वालः प्रस्तर उपसंनद्धो भवति तं गृह्णाति गृहीत्वा प्रस्तरमेकवृद्बर्हि स्तृणाति
स्तीर्त्वा बर्हिः कार्ष्मर्यमयान्परिधीन्परिदधाति परिधाय परिधीन्त्समिधावभ्यादधा-
त्यभ्याधाय समिधौ ॥१४॥ अथ जुहोति । उरु विष्णो विक्रमस्वोरु क्षयाय न-

वह इस पृथिवी पर प्रतिष्ठा लाभ करता है और इस लोक को प्राप्त करता है ॥७॥

अब वह अप्तु (अर्थात् तीव्रगामी सोम) के लिए दूसरी आहुति देता है—"जुषाणोऽअप्तु-राज्यस्य वेतु स्वाहा" (यजु० ५।३५)—"तेज सोम हमारे घी को स्वीकार करे।" उस (सोम) ने ही तो कहा था कि 'मुझे राक्षसों से भय लगता है कि दुष्ट राक्षस मुझे मार्ग में हानि न पहुँचावें। इसलिए मुझे छोटा करके ले चलो कि मैं उनके वध के लिए अति सूक्ष्म हो जाऊँ। मुझे बूंद के रूप में ले चलो।' क्योंकि बूंद अप्तु अर्थात् तेज होती हैं, इसलिए वध के लिए अतिसूक्ष्म करके वह राक्षसों के डर से उसको बूंद के रूप में लेते हैं क्योंकि बूंद तेज होती है। इसीलिए वह तेज सोम के लिए दूसरी आहुति देता है ॥८॥

वे जलती हुई समिधा को उठाते हैं और उपयमनी पर रखते हैं। तब वह होता से कहता है—'लिये जाती हुई अग्नि के लिए मन्त्र बोल।' या 'लिये जाते हुए सोम के लिए।' परन्तु ऐसा कहना चाहिए कि 'लिये जाती हुई अग्नि के लिए' ॥९॥

अब वह (सोम कुचलने के) पत्थरों को, द्रोण कलश को, वायव्यों को (लकड़ी की कूँडियों को 'वायव्य' कहते हैं), (बीस) समिधाओं को, कार्ष्मण्य लकड़ी की परिधियों को, अश्वबाल घास के प्रस्तरों को, ईख की विधृतियों को लेता है। कुश को उससे बाँधते हैं। दो वपाश्रपणी (कार्ष्मण्य लकड़ी की शलाकायें जिन पर भूनते हैं), दो रस्सियाँ, दो अरणी, अधि-मन्थन लकड़ी, दो वृषण इन सबको लेकर वे आगे (अग्नीध्र तक) जाते हैं। इस प्रकार यज्ञ ऊँचा उठता है ॥१०॥

जब वे आगे चलते हैं तो वह (यजमान से) यह बँचवाता है—"अग्ने नय सुपथा रायेऽ-अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमऽउक्तिं विधेम" (यजु० ५।३६, ऋ० १।१८९।१)—"हे अग्नि देव, जो तू सब कर्मों को जानता है, हमको धन के लिए ठीक मार्ग पर चला। हमको बहकानेवाले पाप से बचा। हम तेरी बहुत प्रार्थना करते हैं।" इस प्रकार वह अग्नि को आगे करता है। अग्नि ही दुष्ट राक्षसों को मारती चलती है। वे उसको भय-रहित और हानि-रहित मार्ग से ले जाते हैं। वे चलते हैं और आग्नीध्र तक पहुँचते हैं, और अध्वर्यु आग्नीध्र कुण्ड में अग्नि रख देता है ॥११॥

अब वह रखकर आहुति देता है इस मन्त्र से—"अयं नोऽअग्निर्वरिवस्कृणोत्वयं मृधः पुरऽएतुप्रभिन्दन्। अयं वाजान् जयतु वाजसातावयँ शत्रून् जयतु जर्हृषाणः स्वाहा" (यजुर्वेद ५।३७)—"यह अग्नि हमारे लिए चौड़ा मार्ग बनावे। संग्रामों को भेदता हुआ आगे चले। अन्न-सेवन में यह अन्नों को जीते, वेग से आगे बढ़कर वह शत्रुओं को जीते।" इसके द्वारा वह अन्तरिक्ष में प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है और उस लोक को प्राप्त करता है ॥१२॥

वे सोम कुचलने के पत्थरों, द्रोण कलश और वायव्यों को उसी स्थान पर रख देते हैं; और चीजों को लेकर वे आगे चलते हैं और आहवनीय के उत्तर में रख देते हैं ॥१३॥

अध्वर्यु प्रोक्षणी को लेता है। पहले समिधा पर जल छिड़कता है, फिर वेदी पर। तब वे उसको कुश दे देते हैं। वह (इस कुश) को इस प्रकार रखता है कि गाँठ पूर्व की ओर रहे। तब उस पर जल छिड़कता है। जो जल बचा उसे कुशों की जड़ पर छिड़ककर और गाँठ को खोल-कर अश्वबाल घास के प्रस्तर को कुश से बांधकर वह उसको लेता है और प्रस्तर को लेकर कुशा की एक तह बिछा देता है। कुश को बिछाने के पश्चात् कार्ष्मय की परिधियों को आग पर रखता है। परिधियों को रखकर दो समिधाओं को रखता है और दो समिधाओं को रखकर—॥१४॥

इस मन्त्र से आहुति देता है—"उरु विष्णो विक्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि। घृतं घृतयोने

स्कृधि । घृतं घृतयोने पिब प्र-प्र यज्ञपतिं तिर स्वाहेति तदेतेनैवैतस्यां दिवि प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठत्येतेनैतं लोकꣳ स्पृणुत यदेतया जुहोति ॥१५॥ यद्वेव वैष्णव्यर्चा जुहोति । कनीयाꣳस वाऽएनमेतद्धयात्कृत्वात्यनैषु स्तोकमेव स्तोको ह्ययुस्तमेतदभय प्राप्य य एवैष तं करोति यज्ञमेव यज्ञो हि विष्णुस्तस्माद्वैष्णव्यर्चा जुहोति ॥१६॥ अथासाद्य स्रुचः । अप उपस्पृश्य राजान प्रपादयति तद्यदासाद्य स्रुचोऽप उपस्पृश्य राजानं प्रपादयति वज्रो वाऽआज्यꣳ रेतः सोमो नेद्वज्रेणाज्येन रेतः सोमꣳ हिनसानीति तस्मादासाद्य स्रुचोऽप उपस्पृश्य राजान प्रपादयति ॥१७॥ स दक्षिणस्य हविर्धानस्य नीडे कृष्णाजिनमास्तृणाति । तदेनमासादयति देव सवितरेष ते सोमस्तꣳ रक्षस्व मा त्वा दभन्निति तदेनं देवायैव सवित्रे परिददाति गुप्त्यै ॥१८॥ अथानुसृज्योपतिष्ठते । एतत्त्वं देव सोम देवो देवाꣳ॥ऽउपागा इदमहं मनुष्यान्त्सह रायस्पोषेणेत्यग्नीषोमौ वाऽएतमन्तर्जम्भऽआदधाते यो दीक्षतेऽग्नाविष्णवꣳ ह्यदो दीक्षणीयꣳ हविर्भवति यो वै विष्णुः सोमः स हविर्वाऽएष देवानां भवति यो दीक्षते तदेनमन्तर्जम्भऽआदधाते तत्प्रत्यक्षꣳ सोमान्निर्मुच्यते यदाहैतत्त्वं देव सोम देवो देवाꣳ॥ऽउपागा इदमहं मनुष्यान्त्सह रायस्पोषेणेति भूमा वै रायस्पोषः सह भूम्नेत्येवैतदाह ॥१९॥ अथोपनिष्क्रामति । स्वाहा निर्वरुणस्य पाशान्मुच्यऽइति वरुणपाशे वाऽएषोऽन्तर्भवति योऽन्यस्यासंस्तत्प्रत्यक्षं वरुणपाशान्निर्मुच्यते यदाह स्वाहा निर्वरुणस्य पाशान्मच्यऽइति ॥२०॥ अथैत्याहवनीये समिधमभ्यादधाति । अग्ने व्रतपास्त्वे व्रतपा इत्यग्निर्हि देवानां व्रतपतिस्तस्मादाहाग्ने व्रतपास्त्वे व्रतपा इति या तव तनूर्मय्यभूदेषा सा त्वयि यो मम तनूस्त्वय्यभूदियꣳ सा मयि । यथायथं नौ व्रतपते व्रतान्यनु मे दीक्षां दीक्षापतिरमꣳस्तानु तपस्तपस्पतिरिति तत्प्रत्यक्षमग्नेर्निर्मुच्यते स स्वेन सतात्मना यजते तस्मादस्यात्राश्नन्ति मानुषो हि भवति तस्मादस्यात्र नाम गृह्णन्ति

पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर स्वाहा" (यजु० ५।३८)—"हे विष्णु, फैल-फूटकर कदम भर। हमारे घर के लिए फैल-फूटकर स्थान दे। तू घृत की योनि है, घृत पी और यज्ञपति को आगे बढ़ा।" इस प्रकार वह द्यौलोक में प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेता है और इस आहुति को देकर द्यौलोक की प्राप्ति कर लेता है ॥१५॥

विष्णु-सम्बन्धी मन्त्र से आहुति देने का अर्थ यह है कि इस प्रकार उन्होंने (सोम को) इतना सूक्ष्म कर लिया कि आक्रमणों से बच सके और बूंद के रूप में ले गये, क्योंकि बूंद अप्तु अर्थात् तीव्रगामी होता है। रक्षा करने के बाद उसको यज्ञ-सम्बन्धी बनाता है क्योंकि विष्णु ही यज्ञ है। इसलिए वह विष्णु के मन्त्र से आहुति देता है ॥१६॥

स्रुचों को रखकर और जल को स्पर्श करके सोम राजा का (हविर्धान में) प्रवेश कराते हैं। स्रुचों को रखकर और जल को स्पर्श करके सोम राजा को हविर्धान में क्यों ले जाते हैं? इसलिए कि घी वज्र है और सोम रेत या वीर्य है। वह स्रुचों को रखकर और जल को स्पर्श करके सोम राजा को इसलिए ले जाते हैं कि कहीं सोम-वीर्य और घी-वज्र को हानि न पहुँच जाय ॥१७॥

दक्षिणी हविर्धान के नीड में मृगचर्म बिछाता है और उसपर सोम को बिठाल देता है, इस मन्त्र से—"देव सवितरेष ते सोमस्त॑ रक्षस्व मा त्वा दभन्" (यजु० ५।३१)—"हे सविता देव, यह तेरा सोम है। तू इसकी रक्षा कर। कोई तुझको हानि न पहुँचावे।" इस प्रकार वह रक्षा के हेतु सोम को सविता के हवाले कर देता है ॥१८॥

उसको हाथ से छोड़कर उसकी उपासना करता है—"एतत् त्वं देव सोम देवो देवाँ२ ऽउपागाऽइदमहं मनुष्यान्त्सह रायस्पोषेण" (यजु० ५।३१)—"हे देव सोम, तू देव होकर दूसरे देवों से मिला और मैं धन की वृद्धि के लिए मनुष्यों से मिला।" जो दीक्षा लेता है उसको अग्नि-सोम अपने जबड़ों के बीच में लेते हैं। वह दीक्षा की आहुति अग्नि और विष्णु की होती है। जो विष्णु है वह सोम ही है। जो दीक्षा लेता है वह देवताओं की हवि होता है। इस प्रकार उन्होंने उसको अपने जबड़ों के बीच दाब लिया। यह जो 'एतत् त्वं देव सोम' आदि मन्त्र पढ़ा, मानो वह इससे सोम से मुक्त होगा। 'रायस्पोषः' का अर्थ है चीजों का बाहुल्य। 'रायस्पोषेण' का तात्पर्य है 'बाहुल्य के साथ' ॥१९॥

अब वह यह मन्त्रांश पढ़कर हविर्धान से निकल आता है—"स्वाहा निर्वरुणस्य पाशान् मुच्ये" (यजु० ५।३९)—"मैं वरुण के फंदों से छूटता हूँ।" जो दूसरे के मुँह में है वह मानो वरुण के फंदे में है। इसलिए जब वह कहता है 'स्वाहा निर्वरुणस्य' इति, तब मानो वह वरुण के फंदे से छूटता है ॥२०॥

अब इस प्रकार आहवनीय में समिधा को रखता है—"अग्ने व्रतपास्त्वे व्रतपाः" (यजु० ५।४०)—"हे व्रत के पालनेवाले अग्नि, तुझ पर, हे व्रत के पालनेवाले।" अग्नि देवों का व्रत-पति है। इसलिए कहा 'अग्ने व्रतपाः' आदि। अब कहता है—"या तव तनूर्मय्यभूदेषा सा त्वयि यो मम तनूस्त्वय्यभूदिय॑ सा मयि। यथायथं नौ व्रतपते व्रतान्यनु मे दीक्षां दीक्षापतिरम॑स्तानु तपस्तपस्पतिः" (यजु० ५।४०)—"जो तेरी सत्ता मुझमें थी वह तुझमें हो। जो मेरी सत्ता तुझमें थी वह मुझमें हो। हे व्रतपते, हम दोनों के व्रत ठीक-ठीक हो गये। दीक्षा के पति ने मेरी दीक्षा स्वीकार कर ली। तप के पति ने मेरा तप स्वीकार कर लिया।" इस प्रकार वह अग्नि से मुक्त हो जाता है और अपनी ही सत्ता से यज्ञ करता है। अब वे उसका अन्न खाते हैं क्योंकि अब वह मनुष्य है। अब वे उसका नाम लेते हैं क्योंकि अब वह मनुष्य है। पहले वे इसका अन्न

मानुषो हि भवत्यथ यत्पुरा नाश्नन्ति यथा हविषोऽहुतस्य नाश्नीयादेवं तत्तस्माद्दीक्षितस्य नाश्नीयादथात्राङ्गुलीर्विसृजते ॥२१॥ ब्राह्मणम् ॥२[६.३]॥ ॥

यूपं वक्ष्यन्वैष्णव्यर्चा जुहोति । वैष्णवो हि यूपस्तस्माद्वैष्णव्यर्चा जुहोति ॥१॥ यद्वेव वैष्णव्या जुहोति । यज्ञो वै विष्णुर्यज्ञेनैवैतद्यूपमच्छैति तस्माद्वैष्णव्यर्चा जुहोति ॥२॥ स यदि स्रुचा जुहोति । चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा जुहोति यद्यु स्रुवेण स्रुवेणैवोपहत्य जुहोत्युरु विष्णो विक्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि । घृतं घृतयोने पिब प्र प्र यज्ञपतिं तिर स्वाहेति ॥३॥ यदाज्यं परिशिष्टं भवति । तदादत्ते यत्तक्ष्णः शस्त्रं भवति तत्तदादत्ते तऽआयन्ति स यं यूपं जोषयन्ते ॥४॥ तमेवमभिमृश्य जपति । पश्चाद्वेव प्राङ् तिष्ठन्नभिमन्त्रयतेऽत्यन्याँ२॥ऽअगां नान्याँ२॥ऽउपागामित्यति ह्यन्यानेति नान्यानुपैति तस्मादाहात्यन्याँ२॥ऽअगां नान्याँ२॥ऽउपागामिति ॥५॥ अर्वाक्त्वा परेभ्योऽविदं परोऽवरेभ्य इति । अर्वाग्घ्येनं परेभ्यो वृश्चति यऽएतस्मात्पराञ्चो भवन्ति परोऽवरेभ्य इति परो ह्येनमवरेभ्यो वृश्चति यऽएतस्मादर्वाञ्चो भवन्ति तस्मादाहार्वाक्त्वा परेभ्योऽविदं परोऽवरेभ्य इति ॥६॥ तं त्वा जुषामहे देव वनस्पते देवयज्यायाऽइति । तद्यथा बहूनां मध्यात्साधवे कर्मणे जुषेत स रातमनास्तस्मै कर्मणे स्यादेवमेवैनमेतद्बहूनां मध्यात्साधवे कर्मणे जुषते स रातमना व्रश्चनाय भवति ॥७॥ देवास्त्वा देवयज्यायै जुषन्तामिति । तद्धि समृद्धं यं देवाः साधवे कर्मणे जुषन्ते तस्मादाह देवास्त्वा देवयज्यायै जुषन्तामिति ॥८॥ अथ स्रुवेणोपस्पृशति । विष्णवे त्वेति वैष्णवो हि यूपो यज्ञो वै विष्णुर्यज्ञाय ह्येनं वृश्चति तस्मादाह विष्णवे त्वेति ॥९॥ अथ दर्भतरुणकमन्तर्दधाति । ओषधे त्रायस्वेति वज्रो वै परशुस्तथो हैनमेष वज्रः परशुर्न हिनस्त्यथ परशुना प्रहरति स्वधिते मैनꣳ हिꣳसीरिति वज्रो वै परशुस्तथो हैनमेष वज्रः परशुर्न हिनस्ति ॥१०॥ स यं प्रथमꣳ शकलमपच्छिनत्ति । तमादत्ते

नहीं खाते क्योंकि जब तक आहुति न पड़ जाय, हवि का भाग न खाना चाहिए। इसलिए दीक्षित का अन्न नहीं खाना खाहिए। अब वह अँगुलियों को ढीला कर लेता है ॥२१॥

अध्याय ६—ब्राह्मण ४

यूप को काटते हुए विष्णु-सम्बन्धी ऋचा से आहुति देता है। यूप विष्णु का है। इसलिए विष्णु की ऋचा से आहुति देता है ॥१॥

वह विष्णु की ऋचा से क्यों आहुति देता है ? यज्ञ ही विष्णु है। इस प्रकार यज्ञ के द्वारा ही यूप तक पहुँचता है। इसलिए विष्णु की ऋचा से आहुति देता है ॥२॥

यदि स्रुच् से आहुति देता है तो चार चमचे की लेकर आहुति देता है। और यदि स्रुवा से आहुति देता है तो स्रुवा से ही घी में से थोड़ा भाग लेकर आहुति देता है, इस मन्त्र से—"ऊरु विष्णो विक्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि। घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर स्वाहा" (यजु० ५।४१)—"हे यज्ञ ! तुम फूलो-फलो। तुम हमारे लिए विस्तृत घर बनाओ। हे घृत के घर, घृत पियो और यजमान को तारो" ॥३॥

जो घी बच रहता है उसे ले लेता है। जो औजार बढ़ई का है उसे बढ़ई ले लेता है। अब वे चलते हैं। और जो लकड़ी यूप के लिए निश्चित की जाती है—॥४॥

उसको इस मन्त्र का जाप करते हुए छूते हैं। ये पीछे खड़े होकर और पूर्व की ओर मुँह करके उसको नमस्कार करते हैं—"अत्यन्याँ२ऽ अगां नान्याँ२ऽ उपागाम् (यजु० ५।४२)—"मैं दूसरों को छोड़ आया। मैं दूसरों के पास तक नहीं गया।" वस्तुतः वह दूसरों को छोड़ जाता है और उनके पास तक नहीं जाता। इसलिए वह कहता है कि 'अन्यन्यां' इत्यादि ॥५॥

"अर्वाक् त्वा परेभ्योऽविदं परोऽवरेभ्यः" (यजु० ५।४२)—"तुझको मैंने दूर चीजों से निकट और निकटों से दूर पाया।" वस्तुतः जब वह इसको काटकर गिराता है तो जो दूर हैं उनकी अपेक्षा निकट गिराता है और जो निकट हैं उनकी अपेक्षा दूर गिराता है। इसलिए कहता है 'अर्वाक् त्वा' इत्यादि ॥६॥

"तं त्वा जुषामहे देव वनस्पते देवयज्यायै" (यजु० ५।४२)—"हे वनस्पते, देवों के यज्ञ के लिए हम तुझको पसन्द करते हैं।" जैसे किन्हीं अच्छे कार्यों के लिए कई पदार्थों में से एक को छाँट लेते हैं और वह छँटा हुआ पदार्थ उत्तमता से उस कार्य को सम्पादित करता है, इसी प्रकार इस वृक्ष को कई वृक्षों में से शुभ-कर्म के लिए छाँटते हैं, और यह वृक्ष काटने के लिए उपयुक्त होता है ॥७॥

"देवास्त्वा देवयज्यायै जुषन्ताम्" (यजु० ५।४२)—"तुझको देव देवताओं के यज्ञ के लिए पसन्द करें।" जिसको देवतागण किसी साधु कर्म के लिए पसन्द कर लेते हैं वह अवश्य ही सफल होता है, इसलिए कहा 'देवास्त्वा' इत्यादि ॥८॥

अब वह स्रुवा से उसको छूता है—"विष्णवे त्वा" (यजु० ५।४२)—"विष्णु के लिए तुझको।" विष्णु का यूप है। विष्णु यज्ञ है। यज्ञ के लिए ही उसको काटता है, इसलिए कहता है 'विष्णवे' ॥९॥

अब वह बीच में एक दर्भ रख देता है—"ओषधे त्रायस्व" (यजु० ५।४२)—"हे ओषधे, तू बचा।" परशु वज्र है। इस प्रकार वह वज्र परशु उसको हानि नहीं पहुँचाता। अब परशु से मारता है "स्वधिते मैनँ् हिँ् सीः" (यजु० ५।४२)—"हे परशु, इसको न मार।" परशु वज्र है। परन्तु वह परशु वज्र इस प्रकार उसे हानि नहीं पहुँचाता ॥१०॥

पहली चीपुटी जो काटता है उसे अलग रख देता है। उसको इस प्रकार काटना चाहिए

तं वाऽअनक्षस्तम्भं वृश्चेदुत ह्येनमनसा वहन्ति तथानो न प्रतिबाधते ॥११॥ तं प्राञ्चं पातयेत् । प्राची हि देवानां दिगथोऽउदञ्चमुदीची हि मनुष्याणां दिगथो प्रत्यञ्चं दक्षिणायै त्वेवैनं दिशः परिबिबाधिषेतैषा वै दिक् पितॄणां तस्मादेनं दक्षिणायै दिशः परिबिबाधिषेत ॥१२॥ तं प्रच्यवमानमनुमन्त्रयते । द्यां मा लेखीरन्तरिक्षं मा हिंसीः पृथिव्या सम्भवेति वज्रो वाऽएष भवति यं यूपाय वृश्चन्ति तस्माद्वज्रात्प्रच्यवमानादिमे लोकाः संरेजन्ते तदेभ्य एवैनमेतल्लोकेभ्यः शमयति तथेमांल्लोकाञ्छान्तो न हिनस्ति ॥१३॥ स यदाह । द्यां मा लेखीरिति दिवं मा हिंसीरित्येवैतदाहान्तरिक्षं मा हिंसीरिति नात्र तिरोहितमिवास्ति पृथिव्या सम्भवेति पृथिव्या संजानीष्वेत्येवैतदाहायं हि त्वा स्वधितिस्तेतिजानः प्रणिनाय महते सौभगायेत्येष ह्येनं स्वधितिस्तेतिजानः प्रणयति ॥१४॥ अथाव्रश्चनमभिजुहोति । नेदतो नाष्ट्रा रक्षांस्यनूत्तिष्ठानिति वज्रो वाऽआज्यं तद्वज्रेणैवैतन्नाष्ट्रा रक्षांस्यवबाधते तथातो नाष्ट्रा रक्षांसि नानूत्तिष्ठन्त्यथो रेतो वाऽआज्यं तद्वनस्पतिष्वेवैतद्रेतो दधाति तस्माद्रेतस आव्रश्चनाद्वनस्पतयोऽनु प्रजायन्ते ॥१५॥ स जुहोति । अतस्त्वं देव वनस्पते शतवल्शो विरोह सहस्रवल्शा वि वयं रुहेमेति नात्र तिरोहितमिवास्ति ॥१६॥ तं परिवासयति । स यावन्तमेवाग्रे परिवासयेत्तावान्त्स्यात् ॥१७॥ पञ्चारत्निं परिवासयेत् । पाङ्क्तो यज्ञः पाङ्क्तः पशुः पञ्चऽर्तवः संवत्सरस्य तस्मात्पञ्चारत्निं परिवासयेत् ॥१८॥ षडरत्निं परिवासयेत् । षड्वाऽऋतवः संवत्सरस्य संवत्सरो वज्रो वज्रो यूपस्तस्मात्षडरत्निं परिवासयेत् ॥१९॥ अष्टारत्निं परिवासयेत् । अष्टाक्षरा वै गायत्री पूर्वार्धो वै यज्ञस्य गायत्री पूर्वार्ध एष यज्ञस्य तस्मादष्टारत्निं परिवासयेत् ॥२०॥ नवारत्निं परिवासयेत् । त्रिवृद्वै यज्ञो नव वै त्रिवृत्तस्मान्नवारत्निं परिवासयेत् ॥२१॥ एकादशारत्निं परिवासयेत् । एकादशाक्षरा वै त्रिष्टुब्वज्रस्त्रिष्टुब्वज्रो यूपस्तस्मादेकाद-

कि धुरे को हानि न पहुँचे। चूँकि वे गाड़ी में ले जाते हैं, इसलिए ऐसा करने से गाड़ी में कोई रुकावट नहीं होती। (अर्थात् वृक्ष को काटते समय नीचे से काटना चाहिए जिससे गाड़ी उस ठूँठ के ऊपर से निकल सके और गाड़ी का धुरा अटक न जाय) ॥११॥

उसको पूर्व की ओर गिरावे क्योंकि पूर्व देवों की दिशा है, या उत्तर की ओर क्योंकि उत्तर मनुष्यों की दिशा है, या पश्चिम की ओर। परन्तु दक्षिण की ओर गिरने से बचाना चाहिए क्योंकि दक्षिण पितरों की दिशा है। इसलिए दक्षिण सी ओर गिराना नहीं चाहिए॥१२॥

उस गिरते हुए वृक्ष को सम्बोधन करके मह मन्त्र पढ़े—"द्यां मा लेखीरन्तरिक्षं मा हिँसीः पृथिव्या सम्भव" (यजु० ५।४३)—"द्योलोक को मत छील, जन्तरिक्ष को हानि मत पहुँचा। पृथिवी से मिल।" जो वृक्ष यूप के लिए काटा जाता है वह वज्र हो जाता है। इस वज्र से ये लोक काँप जाते हैं। हसलिए वह इस प्रकार इन लोकों के लिए उसको शान्त करता है। इस प्रकार शान्त हुआ वह इनको हानि नहीं पहुँचाता॥१३॥

'द्यां मा लेखीः' का तात्पर्य है कि द्यौलोक को हानि न पहुँचा। 'अन्तरिक्षं मां हिँसीः' तो स्पष्ट है। 'पृथिव्या सम्भव' से मतलब है कि तू पृथिवी के अनुकूल हो जा। "अयँ हि त्वा स्वाधितिस्तेतिजानः प्रणिनाय महते सौभगाय" (यजु० ५।४३)—"इस तेज परशु ने तुझको बड़े सौभाग्य के लिए आगे बढ़ाया है।" क्योंकि वह तेज कुल्हाड़ी ही तो इसको आगे को बढ़ाती है॥१४॥

अब ठूँठ पर आहुति देता है कि कहीं वहाँ से दुष्ट राक्षस न निकल पड़ें। घी वज्र है। इस वज्ररूपी घी से दुष्ट राक्षसों को रोकता है। इस प्रकार दुष्ट राक्षस उसमें से उत्पन्न नहीं होते। या घी वीर्य है। वह इस प्रकार वृक्ष को वीर्य-युक्त करता है, और उस ठूँठ के वीर्य में से वृक्ष उत्पन्न होते हैं॥१५॥

इस मन्त्र से आहुति देता है—"अतस्त्वं देव वनस्पते शतवल्शो विरोह सहस्रवल्शा वि वयँ रुहेम' (यजु० ५।४३) —"हे वनस्पते, तू इसमें से सौ कुल्होंवाला होकर उग, और हम हजार कुल्हेवाले होकर उगें।" यह स्पष्ट है॥१६॥

अब वह उसे काटता है। जितना पहले काटा जाय उतना ही रहने देना चाहिए॥१७॥

पाँच हाथ (अरलि) भरके काटना चाहिए। यज्ञ पाँच अंगोंवाला है। पशु भी पाँच अंगोंवाला है। साल में ऋतुएँ भी पाँच होती हैं। इसलिए पाँच हाथ का काटना चाहिए॥१८॥

या छः हाथ-भर काटे। वर्ष में छः ऋतुएँ होती हैं। वर्ष वज्र है। यूप वज्र है। इसलिए छः हाथ का काटना चाहिए॥१९॥

या आठ हाथ-भर काटे। आठ अक्षर की गायत्री होती है। गायत्री यज्ञ का पूर्वार्ध है। इसलिए आठ हाथ-भर काटे॥२०॥

या नौ हाथ का काटे। यज्ञ तीन अंगवाला होता है, और नौ तीन अंगोंवाला है। इसलिए नौ हाथ का काटे॥२१॥

या ग्यारह हाथ का काटे। त्रिष्टुप् में ११ अक्षर होते हैं। त्रिष्टुप् वज्र है। यूप भी

शारत्निं परिवासयेत् ॥२२॥ द्वादशारत्निं परिवासयेत् । द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य संवत्सरो वज्रो वज्रो यूपस्तस्माद्द्वादशारत्निं परिवासयेत् ॥२३॥ त्रयोदशारत्निं परिवासयेत् । त्रयोदश वै मासाः संवत्सरस्य संवत्सरो वज्रो वज्रो यूपस्तस्मात्त्रयोदशारत्निं परिवासयेत् ॥२४॥ पञ्चदशारत्निं परिवासयेत् । पञ्चदशो वै वज्रो वज्रो यूपस्तस्मात्पञ्चदशारत्निं परिवासयेत् ॥२५॥ सप्तदशारत्निर्वाजपेययूपः । अपरिमित एव स्यादपरिमितेन वाऽएतेन वज्रेण देवा अपरिमितमजयंस्तथोऽएवैष एतेन वज्रेणापरिमितेनैवापरिमितं जयति तस्मादपरिमित एव स्यात् ॥२६॥ स वाऽअष्टाश्रिर्भवति । अष्टाक्षरा वै गायत्री पूर्वार्धो वै यज्ञस्य गायत्री पूर्वार्ध एष यज्ञस्य तस्मादष्टाश्रिर्भवति ॥२७॥ ब्राह्मणम् ॥३ [६.४]॥ षष्ठोऽध्यायः [२१.] ॥ ॥

अभ्रिमादत्ते । देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामाददे नार्यसीति समान एतस्य यजुषो बन्धुर्योषो वाऽएषा यदभ्रिस्तस्मादाह नार्यसीति ॥१॥ अथावटं परिलिखति । इदमहꣳ रक्षसां ग्रीवा अपिकृन्तामीति वज्रो वाऽअभ्रिर्वज्रेणैवैतन्नाष्ट्राणाꣳ रक्षसां ग्रीवा अपिकृन्तति ॥२॥ अथ खनति । प्राञ्चमुत्करमुत्किरत्युपरेण संमायावटं खनति तदग्रेण प्राञ्चं यूपं निदधात्येतावन्मात्राणि बर्हीꣳष्युपरिष्टादधिनिदधाति तदेवोपरिष्टाद्यूपशकलमधिनिदधाति पुरस्तात्स्याग्नतश्चषालमुपनिदधात्यथ यवमत्यः प्रोक्षणयो भवन्ति सोऽसावेव बन्धुः ॥३॥ स यवानावपति । यवोऽसि यवयास्मद्द्वेषो यवयारातीरिति नात्र तिरोहितमिवास्त्यथ प्रोक्षत्येको वै प्रोक्षणस्य बन्धुर्मेध्यमेवैतत्करोति ॥४॥ स प्रोक्षति । दिवे त्वान्तरिक्षाय त्वा पृथिव्यै त्वेति वज्रो वै यूप एषां लोकानामभिगुप्त्याऽएषां त्वा लोकानामभिगुप्त्यै प्रोक्षामीत्येवैतदाह ॥५॥ अथ याः प्रोक्षण्यः परिशिष्यन्ते । ता अवटेऽवनयति शुन्धन्तां लोकाः पितृषदना इति पितृदेवत्यो वै कूपः खा-

वज्र है। इसलिए ११ हाथ का काटे ।।२२।।

या बारह हाथ-भर काटे। साल में बारह मास होते हैं। वर्ष वज्र है। यूप भी वज्र है। इसलिए बारह हाथ का काटे ।।२३।।

या तेरह हाथ का काटे। वर्ष में तेरह मास होते हैं। वर्ष वज्र है। यह यूप वज्र है। इसलिए तेरह हाथ-भर का काटे ।।२४।।

या पन्द्रह हाथ का काटे। पन्द्रह वज्र है। यूप भी वज्र है। इसलिए पन्द्रह हाथ का काटे ।।२५।।

वाजपेय यज्ञ का यूप १७ हाथ का होता है। या यह अपरिमित या बे-नपा हो। बे-नपे वज्र से ही देवों ने बे-नपे (अपरिमित) को जीता। इसी प्रकार अपरिमित वज्र के द्वारा वह अपरिमित को जीतता है। इसलिए यह अपरिमित भी हो सकता है ।।२६।।

वह आठ कोण का होता है। गायत्री में आठ अक्षर होते हैं। गायत्री यज्ञ का पूर्वार्ध है। यह यूप यज्ञ का पूर्वार्ध है। इसलिए इसको आठ कोण का होना चाहिए ।।२७।।

अध्याय ७—ब्राह्मण १

इस मन्त्रांश को पढ़कर खुरपी (अभ्रि) लेता है—"देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामाददे नार्यसि" (यजु० ६।१)—"देव सविता की प्रेरणा से अश्विनों को बाहुओं से, पूषा के दोनों हाथों से तुझको लेता हूँ। तू नारी है।" इस यजुः का वही तात्पर्य है जो पहले का। 'अभ्रि' स्त्रीलिङ्ग है। इसलिए कहता है कि तू नारी है ।।१।।

इस प्रकार (यूप के गाड़ने के लिए) सूराख खोदता है, इस मन्त्रांश से—"इदमहँ रक्षसां ग्रीवाऽअपिकृन्तामि" (यजु० ६।१)—"इससे मैं राक्षसों की गर्दनें काटता हूँ।" अभ्रि या खुरपी वज्र है। इसी खुरपी रूपी वज्र से राक्षसों की गर्दनें काटता है ।।२।।

अब खोदता है और मिट्टी को पूर्व की ओर फेंक देता है। अब इतना सूराख खोदता है जिसमें यूप का नीचे का भाग समा सके। आगे की ओर वह यूप को इस प्रकार रखता है कि पूर्व की ओर सिरा रहे। उतने ही बड़े कुशों को उसके ऊपर रखता है। उसके ऊपर यूप के शकल को रखता है। आगे बगल को चषाल रखता है (चषाल यूप के ऊपर सिर के समान रक्खा जाता है)। प्रोक्षणी में जौ होते हैं। इसका भी वही तात्पर्य है ।।३।।

अब वह जौ को बोता है इस मन्त्रांश को पढ़कर—'यवोऽसि यवयास्मद् द्वेषो यवयारातीः" (यजु० ६।१)—"तू यव है। हमसे द्वेष और शत्रुओं को दूर कर (यवय)।" यह स्पष्ट है। अब वह जल छिड़कता है। जल छिड़कने का एक ही तात्पर्य है, अर्थात् वह उसको यज्ञ के लिए पवित्र करता है ।।४।।

वह इस मन्त्र से जल-सिचन करता है—"दिवे त्वान्तरिक्षाय त्वा पृथिव्यै त्वा" (यजु० ६।१)—"द्यौलोक के लिए तुझको, अन्तरिक्ष के लिए तुझको, पृथिवी के लिए तुझको।" यूप वज्र है। इस काम को वह इन लोकों की रक्षा के लिए करता है। इससे इसका तात्पर्य यह है कि मैं इन लोकों की रक्षा के लिए तुझको जल से सींचता हूँ ।।५।।

प्रोक्षणी पात्र में जो जल बचा रहता है उसको सूराख में डाल देता है, इस मन्त्रांश को पढ़कर—"शुन्धन्ताँल्लोकाः पितृषदनाः" (यजु ६।१)—"पितरों के रहने के लोक शुद्ध हों।"

तस्तमेवैतन्मेध्यं करोति ॥६॥ अथ बर्हीᳪषि । प्राचीनाग्राणि चोदीचीनाग्राणि चावस्तृणाति पितृषदनमसीति पितृदेवत्यं वाऽअस्यैतद्भवति यन्निखातᳪ स यथा-निखात ओषधिषु मितः स्यादेवमेतास्वोषधिषु मितो भवति ॥७॥ अथ यूपश-कलं प्रास्यति । तेजो ह वाऽएतद्वनस्पतीनां यद्बाह्याशकलस्तस्माद्यदा बाह्या-शकलमपतक्षणुवन्त्यथ शुष्यन्ति तेजो ह्येषामेतत्तद्यद्यूपशकलं प्रास्यति सतेजसं मिनवानीति तद्यदेष एव भवति नान्य एष हि यजुष्कृतो मेध्यस्तस्माद्यूपशकलं प्रास्यति ॥८॥ स प्रास्यति । अग्रेणीरसि स्वावेश उन्नेतृणामिति पुरस्ताद्वाऽअ-स्मादेषोऽपक्षिप्यते तस्मादाहाग्रेणीरसि स्वावेश उन्नेतृणामित्येतस्य वित्तादधि वा स्थास्यतीत्यधि ह्येनं तिष्ठति तस्मादाहैतस्य वित्तादधि वा स्थास्यतीति ॥९॥ अ-थ स्रुवेणोपहत्याज्यम् । अवटमभिजुहोति नेदधस्तान्नाष्ट्रा रक्षाᳪस्युपोत्तिष्ठानिति वज्रो वाऽआज्यं तद्वज्रेणैवैतन्नाष्ट्रा रक्षाᳪस्यवबाधते तथाधस्तान्नाष्ट्रा रक्षाᳪसि नो-पोत्तिष्ठन्त्यथ पुरस्तात्परीत्योदङ्ङासीनो यूपमनक्ति स आह यूपायाज्यमानायानुब्रू-हीति ॥१०॥ सोऽनक्ति । देवस्त्वा सविता मध्वानक्त्विति सविता वै देवानां प्र-सविता यजमानो वाऽएष निदानेन यद्यूपः सर्वं वाऽइदं मधु यदिदं किं च तदे-नमनेन सर्वेण सᳪस्पर्शयति तदस्मै सविता प्रसविता प्रसौति तस्मादाह देवस्त्वा सविता मध्वानक्त्विति ॥११॥ अथ चषालमुभयतः प्रत्यज्य प्रतिमुञ्चति । सुपिप्प-लाभ्यस्त्वौषधीभ्य इति पिप्पलᳪ हैवास्यैतद्यन्मध्ये संगृहीतमिव भवति तिर्यग्वा ऽइदं वृक्षे पिप्पलमाहृतᳪ स यदेवेदᳪ संबन्धनं चान्तरापिनितमिव तदेवैतत्करो-ति तस्मान्मध्ये संगृहीतमिव भवति ॥१२॥ आन्तमग्निष्ठामनक्ति । यजमानो वा ऽअग्निष्ठा रस आज्यᳪ रसेनैवैतद्यजमानमनक्ति तस्मादान्तमग्निष्ठामनक्त्यथ परिव्य-याणं प्रतिसमन्तं परिमृशत्यथाहोच्छ्रीयमाणायानुब्रूहीति ॥१३॥ स उच्छ्रयति । द्या-मग्रेणास्पृक्ष आन्तरिक्षं मध्येनाप्राः पृथिवीमुपरेणादृᳪहीरिति वज्रो वै यूप एषां

यह जो गड्ढा खोदा गया वह पितरों के लिए था। इसलिए वह उसे पवित्र करता है ॥६॥

अब वह पूर्व की ओर, उत्तर की ओर सिरा करके कुश रखता है, इस मन्त्रांश को पढ़कर—"पितृषदनमसि" (यजु० ६।१)—"तू पितरों के रहने का स्थान है।" यह जो गड्ढा खोदा गया वह पितरों का था। मानो वह वृक्षों की भाँति गाड़ दिया गया; खोदा नहीं गया। इस प्रकार वह वृक्षों के समान स्थापित हो जाता है। (तात्पर्य यह है कि यूप जब गाड़ दिया गया तो वृक्षों के समान हो गया) ॥७॥

अब वह यूप-शकल को भीतर डालता है। यह जो बाहरी छाल होती है वह वृक्ष का तेज होता है। इसलिए यह जो बाहर की छाल को छील देते हैं, मानो उसके तेज को सुखा देते हैं, क्योंकि यह उनका तेज है। यूप-शकल को भीतर डालने का तात्पर्य यह है कि यूप को तेज के साथ गाड़ सकूँ। इसी को क्यों डालता है, अन्य को क्यों नहीं? इसका कारण यह है कि इसको यजुः-मन्त्र पढ़कर शुद्ध किया गया है। इसलिए वह यूप-शकल को डालता है ॥८॥

वह इस मन्त्रांश को पढ़कर डालता है—"अग्रेणीरसि स्वावेशऽउन्नेतॄणाम्" (यजु० ६।२)—"तू अगुआ है। उन्नेताओं के लिए सुगमता से मिलने योग्य।" यह यूप-शकल आगे के भाग से छीला गया है, इसलिए वह कहता है, 'अग्रेणीरसि' इत्यादि। अब कहता है—"एतस्य वित्तादधि त्वा स्थास्यति" (यजु० ६।२)—"सावधान हो। यह तुझ पर खड़ा होगा।" वस्तुतः यह उसी पर खड़ा होगा। इसलिए वह कहता है, 'एतस्य' इत्यादि ॥९॥

अब स्रुवा से घी लेकर गड्ढे में आहुति देते हैं कि कहीं दुष्ट राक्षस उसको न सतावें। घी वज्र होता है। इस प्रकार वह वज्र से दुष्ट राक्षसों को भगाता है। इस प्रकार दुष्ट राक्षस नीचे से नहीं उठते। अब वह परिक्रमा करके आगे की ओर उत्तराभिमुख बैठता है और यूप पर घी लगाता है। अब वह होता से कहता है, 'घी-युक्त यूप के लिए मन्त्र पढ़' ॥१०॥

वह इस मन्त्रांश से घी लगाता है—"देवस्त्वा सविता मध्वानक्तु" (यजु० ६।२)—"सविता देव तुझको मधु से युक्त करे।" सविता देवों का प्रेरक है, और यह यूप यजमान ही है। और यहाँ की ये सब चीजें मधु हैं। इस सबके साथ इस प्रकार से इसको सम्बन्धित करता है, और प्रेरक सविता प्रेरणा करता है। इसलिए कहता है, 'देवस्त्वा सविता' इत्यादि ॥११॥

अब वह चषाल को दोनों ओर से घी लाकर यूप के ऊपर रखता है यह पढ़कर—"सुपिप्पलाभ्यस्त्वौषधीभ्यः" (यजु० ६।२)—"अच्छे फलों-युक्त ओषधियों के लिए।" क्योंकि यह (चषाल) उसका फल ही है यह जो बीच में सिकुड़ा होता है। इसका कारण यह है कि वृक्ष पर फल दोनों ओर से जुड़ा होता है और डंठल और फल के बीच का भाग सिकुड़ा होता है। इसलिए बीच में सुकड़ा होता है ॥१२॥

जो आग के सामने का भाग है उसमें ऊपर से नीचे तक घी लगाता है। क्योंकि आग के सामने का भाग यजमान होता है और घी रस है। रस से वह यजमान को युक्त करता है। इसलिए वह आग के सामने के भाग पर ऊपर से नीचे तक घी लगाता है। अब वह यूप की पिंडी को उठाता है, यह कहकर, 'यूप के गाड़ने के लिए मन्त्र पढ़' ॥१३॥

वह इस मन्त्र को पढ़कर उठाता है—"द्यामग्रेणास्पृक्षऽआन्तरिक्षं मध्येनाप्राः पृथिवीमुपरेणादृꣳहीः।" (यजु० ६।२)—"तूने अग्र भाग से द्यौलोक को छुआ, बीच के से अन्तरिक्ष को, पैरों से तूने पृथिवी को सुदृढ़ कर दिया" ॥१४॥

लोकानामभिजित्यै तेन वज्रेणेमांल्लोकान्त्स्पृणुत एभ्यो लोकेभ्यः सपत्नान्निर्भजति ॥१४॥ अथ मिनोति । या ते धामान्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः । अत्राह तदुरुगायस्य विष्णोः परमं पदमवभारि भूरीत्येतया त्रिष्टुभा मिनोति वज्रस्त्रिष्टुब्वज्रो यूपस्तस्मात्त्रिष्टुभा मिनोति ॥१५॥ सम्प्रत्यग्निमग्निष्ठां मिनोति । यजमानो वाऽअग्निष्ठाग्निरु वै यज्ञः स यदग्नेरग्निष्ठाँ ह्वलयेद्ध्वलेद्ध यज्ञाद्यजमानस्तस्मात्सम्प्रत्यग्निमग्निष्ठां मिनोत्यथ पर्यूहत्यथ पर्युषत्यथाप उपनिनयति ॥१६॥ अथैवमभिपद्य वाचयति । विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे । इन्द्रस्य युज्यः सखेति वज्रं वाऽएष प्राहार्षीद्यो यूपमुदशिश्रियद्विष्णोर्विजितिं पश्यतेत्येवैतदाह यदाह विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे । इन्द्रस्य युज्यः सखेत्यैन्द्रो वै यज्ञस्य देवता वैष्णवो यूपस्तँ सेन्द्रं करोति तस्मादाहेन्द्रस्य युज्यः सखेति ॥१७॥ अथ चषालमुदीक्षते । तद्विष्णोः परमं पदँ सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुराततमिति वज्रं वाऽएष प्राहार्षीद्यो यूपमुदशिश्रियत्ता विष्णोर्विजितिं पश्यतेत्येवैतदाह यदाह तद्विष्णोः परमं पदँ सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुराततमिति ॥१८॥ अथ परिव्ययति । अनग्नतायै न्वेव परिव्ययति तस्मादत्रेव परिव्ययत्यत्रेव ह्रीदं वासो भवत्यन्नाद्यमेवास्मिन्नेतद्दधात्यत्रेव ह्रीदमन्नं प्रतितिष्ठति तस्मादत्रेव परिव्ययति ॥१९॥ त्रिवृता परिव्ययति । त्रिवृद्ध्यन्नं पशवो ह्यन्नं पिता माता यज्जायते तत्तृतीयं तस्मात्त्रिवृता परिव्ययति ॥२०॥ स परिव्ययति । परिवीरसि परि वा दैवीर्विशो व्ययन्तां परीमं यजमानँ रायो मनुष्याणामिति तद्यजमानायाशिषमाशास्ते यदाह परीमं यजमानँ रायो मनुष्याणामिति ॥२१॥ अथ यूपशकलमवगूहति । दिवः सूनुरसीति प्रजा ह्येवास्यैषा तस्माद्यदि यूपैकादशिनी स्यात्स्वँ-स्वमेवावगूहेदविपर्यासं तस्य हैषामुग्धानुव्रता प्रजा जायतेऽथ यो विपर्यासमवगूहति न स्वँ-स्वं तस्य हैषा मुग्धाननुव्रता प्रजा

अब वह गाड़ता है इस मन्त्रांश को पढ़कर—"या ते धामान्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिश्रृङ्गाऽअयासः। अत्राह तदुरुगायस्य विष्णोः परमं पदमवभारि भूरि" (यजु० ६।३)—"हम तेरे उन धामों में जाना चाहते हैं जिनमें तेज और बहुत-से सींगोंवाली गायें (सूर्य की किरणें) रहती हैं। वहाँ वस्तुतः विशाल विष्णु के परम पद की ज्योति अनेक प्रकार से चमकती है।" (यहाँ 'गावो' का अर्थ गाय नहीं किन्तु सूर्य की किरणें और ईश्वर की भक्ति है, अर्थात् एक से भौतिक प्रकाश और दूसरे से आत्मिक प्रकाश का तात्पर्य है।) इस त्रिष्टुप् छन्द के द्वारा वह गाड़ता है। त्रिष्टुप् वज्र है और यूप वज्र है, इसलिए त्रिष्टुप् से गाड़ता है ॥१५॥

जो सिरा अग्नि के सामने था उसको अग्नि की ओर कर देता है। क्योंकि यजमान अग्नि के सम्मुख होता है और यज्ञ अग्नि है। यदि उस सिरे का मुँह फेर दिया जाय तो यजमान का मुँह यज्ञ से फिर जाय, इसलिए उसका मुँह अग्नि की ओर कर देता है। अब वह उसके चारों ओर मिट्टी डालता है और चारों ओर दबाकर पानी को उस पर डाल देता है ॥१६॥

अब इसको छूकर यजमान से कहलवाता है—"विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्यः सखा" (यजु० ६।४, ऋ० १।२२।१९)—"विष्णु के कर्मों को देखो जिससे व्रत बँधे हुए हैं। जो इन्द्र का उचित सखा है।" इन्द्र यज्ञ का देवता है। यूप विष्णु का है। उसको इन्द्र से युक्त करता है, इसलिए कहा 'इन्द्रस्य' इत्यादि ॥१७॥

अब इस मन्त्र को पढ़कर चषाल को देखता है—"तद् विष्णोः परम पदँ् सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुराततम्" (यजु० ६।५, ऋ० १।२२।२०)—"विष्णु के उस परम पद को बुद्धिमान् लोग सदा देखते हैं जैसे विकसित आँख सूर्य को।" क्योंकि जिसने यूप लगाया उसने वज्र छोड़ दिया। जब यह कहता है 'तद् विष्णोः' इत्यादि, तब मानो वह कहता है कि विष्णु की विजय की ओर देखो ॥१८॥

अब वह कुश की रस्सी को (यूप के चारों ओर) बाँधता है। नंगापन दबाने के लिए ऐसा करता है। इसलिए धोती को कमर में बाँधते हैं। इससे वह उसमें अन्न रखता है, क्योंकि अन्न भी तो वहीं (पेट में) रहता है। इसलिए वह (यूप की कमर में) रस्सी बाँधता है ॥१९॥

वह तीन लपेट लगाता है। अन्न तीन भागोंवाला है। पशु अन्न है। (पहला) माता, (दूसरा) पिता और (बच्चा) जो पैदा होता है तीसरा है। इसलिए वह तीन लपेट लगाता है ॥२०॥

वह इस मन्त्र को पढ़कर तीन लपेट लगाता है—"परिवीरसि परि त्वा दैवीर्विशो व्ययन्तां परीमं यजमानँ् रायो मनुष्याणाम्" (यजु० ६।६)—"तू लिपटा हुआ है। दिव्य लोक के लोग तुझे लिपटें। मनुष्यों में यजमान धन से लिपटा होवे।" जब वह कहता है, 'परीमं यजमानं' आदि, तो मानो वह यजमान को आशीर्वाद देता है ॥२१॥

अब वह यूप-शकल को प्रवेश कराता है, इस मन्त्र से—"दिवः सूनुरसि" (यजु० ६।६)—"तू द्यौलोक का पुत्र है।" वस्तुतः वह उसीकी सन्तान है। इसलिए यदि ग्यारह यूप हों तो हर एक में उसी का यूप-शकल (चीपुटी) लगाना चाहिए। ऐसा करने से उसकी सन्तान मूर्ख (मुग्धा) या अननुव्रता (न व्रत पालनेवाली) न होगी। जो यूपों में यूप-शकल लगाने के समय उसी-उसी यूप की चीपुटी नहीं लगाता और गड़बड़ कर देता है, उस-उसकी सन्तान मूर्ख और

जायते तस्मादु स्वꣳ-स्वमेवावगूहेद्विपर्यासꣳ ॥२२॥ स्वर्गस्यो हैष लोकस्य समारोहणः क्रियते । यद्यूपशकल इयꣳ रशना रशनायै यूपशकलो यूपशकलाच्चषालं चषालात्स्वर्गं लोकꣳ समश्नुते ॥२३॥ अथ यस्मात्स्वरुर्नाम । एतस्माद्वाऽएषोऽपछिद्यते तस्यैतत्स्वमेवारुर्भवति तस्मात्स्वरुर्नाम ॥२४॥ तस्य यन्निखातम् । तेन पितृलोकं जयत्यथ यदूर्ध्वं निखातादा रशनायै तेन मनुष्यलोकं जयत्यथ यदूर्ध्वꣳ रशनाया आ चषालात्तेन देवलोकं जयत्यथ यदूर्ध्वं चषालाद्व्यङ्गुलं वा त्र्यङ्गुलं वा साध्या इति देवास्तेन तेषां लोकं जयति सलोको वै साध्यैर्देवैर्भवति य एवमेतद्वेद ॥२५॥ तं वै पूर्वार्धे मिनोति । वज्रो वै यूपो वज्रो दण्डः पूर्वार्धं वै दण्डस्याभिपद्य प्रहरति पूर्वार्ध एष यज्ञस्य तस्मात्पूर्वार्धे मिनोति ॥२६॥ यज्ञेन वै देवाः । इमां जितिं जिग्युर्यैषामियं जितिस्ते होचुः कथं न इदं मनुष्यैरनभ्यारोह्यꣳ स्यादिति ते यज्ञस्य रसं धीत्वा यथा मधु मधुकृतो निर्धयेयुर्विदुह्य यज्ञं यूपेन योपयित्वा तिरोऽभवन्नथ यदेनेनायोपयंस्तस्माद्यूपो नाम पुरस्ताद्वै प्रज्ञा पुरस्तान्मनोजवस्तस्मात्पूर्वार्धे मिनोति ॥२७॥ स वाऽअष्टाश्रिर्भवति । अष्टाक्षरा वै गायत्री पूर्वार्धो वै यज्ञस्य गायत्री पूर्वार्ध एष यज्ञस्य तस्मादष्टाश्रिर्भवति ॥२८॥ तꣳ ह स्मैतं देवा अनुप्रहरन्ति । यथेदमप्येतर्ह्येकेऽनुप्रहरन्तीति देवा अकुर्वन्निति ततो रक्षाꣳसि यज्ञमनूदपिबन्त ॥२९॥ ते देवा अध्वर्युमब्रुवन् । यूपशकलमेव जुहुधि तद्धैष स्वगाकृतो भविष्यति तथो रक्षाꣳसि यज्ञं नानूत्पास्यन्तेऽयं वै वज्र उद्यत इति ॥३०॥ सोऽध्वर्युः । यूपशकलमेवानुहोत्तद्धैष स्वगाकृत आसीत्तथो रक्षाꣳसि यज्ञं नानूदपिबन्तायं वै वज्र उद्यत इति ॥३१॥ तथोऽएवैष एतत् । यूपशकलमेव जुहोति तद्धैष स्वगाकृतो भवति तथो रक्षाꣳसि यज्ञं नानूत्पिबन्तेऽयं वै वज्र उद्यत इति स जुहोति दिवं ते धूमो गच्छतु स्वर्ज्योतिः पृथिवीं भस्मनापृण स्वाहेति ॥३२॥ ब्राह्मणम् ॥४ [७.१.]॥

अननुव्रत होती है। इसलिए उस-उस यूप में उसी-उसी की चिपुटी लगानी चाहिए ।।२२।।

जो यूप-शकल है वह स्वर्ग की सीढ़ी है। वह इस प्रकार कि पहले तो रस्सी हुई, फिर यूप-शकल, फिर चषाल। फिर चषाल से चढ़कर स्वर्गलोक को प्राप्त हो जाता है ।।२३।।

इसका 'स्वरु' नाम इसलिए है कि वह उसी में से काटी जाती है। 'स्व' का अर्थ है 'अपना' और 'अरु' का अर्थ है 'घाव'। इससे मिलकर 'स्वरु' हुआ ।।२४।।

जो नीचे गड़ा हुआ भाग है उससे स्वर्गलोक की प्राप्ति करता है और जो ऊपर का भाग है उससे रस्सी-सहित मनुष्य-लोक की प्राप्ति करता है। और जो रस्सी से ऊपर चषाल है उससे देवलोक को प्राप्त करता है। और चषाल से ऊपर जो दो-तीन अँगुल लकड़ी होती है उससे जो 'साध्य देव' हैं उनके लोक को प्राप्त करता है। जो इस रहस्य को समझता है वह साध्य देवों का सलोक बन जाता है ।।२५।।

वह यूप को वेदी के पूर्वार्ध में लगाता है। यूप वज्र है। दण्ड वज्र है। जब कोई वज्र को मारता है तो अग्रभाग को पकड़कर मारता है। यह यज्ञ का पूर्वार्ध है। इसीलिए पूर्वार्ध में यूप को लगाता है ।।२६।।

यज्ञ के द्वारा देवों ने विजय प्राप्त की जो इनको प्राप्त है। उन्होंने कहा कि इस अपने लोक को किस प्रकार ऐसा बनायें कि मनुष्य न आ सकें? उन्होंने यज्ञ का रस चूस लिया जैसे मधु-मक्खियाँ मधु को चूसती हैं। और यज्ञ को यूप के चारों ओर बिखेरकर (योपयित्वा) छिप गये। चूँकि उन्होंने इसको यूप द्वारा (उपापयन) बिखेरा, इसलिए इसका नाम यूप पड़ा। बुद्धि अग्रभाग में होती है। मन का वेग भी अग्रभाग में होता है। इसलिए वह उसको 'अग्रभाग' में लगाता है ।।२७।।

वह अष्ट कोणवाला होता है। गायत्री छन्द के आठ अक्षर होते हैं और गायत्री यज्ञ का पूर्वार्ध होती है। यह भी चूँकि यज्ञ का पूर्वार्ध है, इसलिए वह उसको अष्ट कोणवाला बनाता है ।।२८।।

एक बार देवों ने इसको (प्रस्तर को आग में) पीछे से फेंका था, इसका अनुसरण करके ये भी पीछे फेंक देते हैं, क्योंकि देवों ने ऐसा किया था। इसलिए राक्षसों ने यज्ञ को देवों के पीछे पिया ।।२९।।

देवों ने अध्वर्यु से कहा, 'केवल यूप-शकल की आहुति दे।' इससे यज्ञ सफल हो जायगा और राक्षस उसमें न आवेंगे—यह सोचकर कि यह यूपरूपी वज्र खड़ा हो गया है ।।३०।।

तब अध्वर्यु ने यूप-शकल की आहुति दी, और यजमान सफल हो गया। इसके पीछे राक्षस यज्ञ को न पी सके। यह सोचकर कि यह एक वज्र खड़ा हो गया है ।।३१।।

इसी प्रकार वह यूप-शकल की आहुति ही देता है। यजमान इससे सफल हो जाता है। राक्षस यज्ञ को नहीं पीने पाते, यह सोचकर कि यह तो वज्र खड़ा हो गया है। वह इस मन्त्र से आहुति देता है–"दिवं ते धूमो गच्छतु स्वर्ज्योतिः पृथिवी भस्मनापृण स्वाहा" (यजु० ६।२१)– "द्यौलोक तक तेरा धुआँ जाय, स्वर्लोक तक ज्योति और पृथिवी तेरी भस्म से भर जाय" ।।३२।।

यावती वै वेदिस्तावती पृथिवी । वज्रा वै यूपास्तदिमामेवैतत्पृथिवीमेतैर्वज्रै स्तृणुतेऽस्यै सपत्नान्निर्भजति तस्माद्यूपैकादशिनी भवति द्वादश उपशयो भवति वितष्टस्तं दक्षिणत उपनिदधाति तद्यद्द्वादश उपशयो भवति ॥१॥ ॥ शतम् २००० ॥ ॥ देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः । तेऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद्बिभयां चक्रुस्तद्य ऽएतऽउच्छ्रिता यथेषुरस्ता तथा वै स्तृणुते वा न वा स्तृणुते यथा दण्डः प्रहृतस्तेन वै स्तृणुते वा न वा स्तृणुतेऽथ य एष द्वादश उपशयो भवति यथेषुरायतानस्ता यथोद्यतमप्रहृतमेवमेष वज्र उद्यतो दक्षिणतो नाष्ट्राणाꣳ रक्षसामपहत्यै तस्माद्द्वादश उपशयो भवति ॥२॥ तं निदधाति । एष ते पृथिव्यां लोक आरण्यस्ते पशुरिति पशुश्च वै यूपश्च तदस्माऽआरण्यमेव पशूनामनुदिशति तेनो ऽएष पशुमान्भवति तद्वयं यूपैकादशिन्यै संमयनमाहुः श्वःसुत्यायै ह न्वेवैके संमिन्वन्ति प्रकुब्रतायै चैव श्वःसुत्यायै यूपं मिन्वन्तीत्यु च ॥३॥ तदु तथा न कुर्यात् । अग्निष्ठमेवोच्छ्रयेदिदं वै यूपमुच्छ्रित्याध्वर्युरा परिव्ययणान्नान्ववर्जत्यपरिवीता वाऽएतऽएताꣳ रात्रिं वसन्ति सा न्वेव परिचक्षा पशवे वै यूपमुच्छ्रयन्ति प्रातर्वै पशूनालभन्ते तस्मादु प्रातरेवोच्छ्रयेत् ॥४॥ स य उत्तरोऽग्निष्ठात्स्यात् । तमेवाग्र ऽउच्छ्रयेदथ दक्षिणमथोत्तरं दक्षिणार्ध्यमुत्तमं तथोदीची भवति ॥५॥ अथोऽइतरुथाहुः । दक्षिणमेवाग्रेऽग्निष्ठादुच्छ्रयेदथोत्तरमथ दक्षिणमुत्तरार्ध्यमुत्तमं तथो ह्यस्योदगेव कर्मानुसंतिष्ठतऽइति ॥६॥ स यो वर्षिष्ठः स दक्षिणार्ध्यः स्यात् । अथ ह्रसीयानथ ह्रसीयानुत्तरार्ध्यो ह्रसिष्ठस्तथोदीची भवति ॥७॥ अथ पत्नीभ्यः पत्नीयूपमुच्छ्रयन्ति । सर्वत्वाय न्वेव पत्नीयूप उच्छ्रायते तत्त्वाष्ट्रं पशुमालभते त्वष्टा वै सिक्तꣳ रेतो विकरोति तदेष एवैतत्सिक्तꣳ रेतो विकरोति मुष्करो भवत्येष वै प्रजननायता यन्मुष्करस्तस्मान्मुष्करो भवति तं न सꣳस्थापयेत्पर्यग्निकृतमेवोत्सृ-

अध्याय ७—ब्राह्मण २

जितनी बड़ी वेदी होती है उतनी बड़ी पृथिवी। यूप वज्र होते हैं। इन्हीं वज्रों के द्वारा वह पृथिवी पर स्वत्व कर लेता है और शत्रुओं को जीत-लेता है। इसलिए ११ यूप होते हैं और बारहवाँ छिला-छिलाया अलग पड़ा रहता है। वह उसको वेदी के दक्षिण को डालता है। यह बारहवाँ अलग क्यों रहता है, इसका कारण आगे दिया है—॥१॥ [शतम् २०००]

यज्ञ करनेवाले देवताओं को असुर राक्षसों के आक्रमण का भय हुआ। यह जो ग्यारह यूप खड़े कर दिये गये वे उन तीरों के समान थे जो छोड़ दिये गये हों, चाहे किसी (शत्रु) के लगे हों या न लगे हों; या वे उस लाठी के समान थे जो मार दी गई, चाहे वह लगी या न लगी। और जो यह बारहवाँ यूप पड़ा हुआ है वह उस तीर के समान है जो खींचा तो गया है परन्तु अभी छोड़ा नहीं गया। यह उस शस्त्र के समान है जो उठा तो लिया गया लेकिन अभी छोड़ा नहीं गया। यह यूप वह वज्र था जो दक्षिण की ओर शत्रु राक्षसों को मारने के लिए रक्खा गया था। इसलिए बारहवाँ यूप पड़ा रहता है ॥२॥

वह इस यूप को इस मन्त्र से रखता है—"एष ते पृथिव्यां लोकऽआरण्यस्ते पशुः" (यजु० ६।६)—"पृथिवी में तेरा यह स्थान है। जंगली पशु तेरे हैं।" पशु भी हैं और यूप भी। इसलिए जंगलों के पशुओं का इसकी ओर निर्देश करता है। इसलिए यह भी पशुवाला कहा जाता है। ये ग्यारह यूप दो तरह के होते हैं। कुछ लोग तो सब यूपों को एक-साथ लगाते हैं, दूसरे दिन के सोम-याग के लिए। कुछ दूसरे दिन के सोमयोग के लिए एक ही यूप लगाते हैं (अर्थात् कुछ तो एक-साथ लगाते हैं और कुछ एक-एक करके) ॥३॥

परन्तु ऐसा न करना चाहिए। केवल अग्नि के सम्मुख एक लगाना चाहिए, क्योंकि इसको लगाकर अध्वर्यु इसको नहीं छोड़ता जब तक कि वह इसको घेरता नहीं (परिव्ययण); और दूसरे यूप रात-भर अपरिवीत रहते हैं। यह दोष होगा क्योंकि यूप पशु के लिए हैं। पशु (पशुता) की बलि दूसरे दिन प्रातःकाल के समय होगी।[1] इसलिए और यूपों को दूसरे दिन प्रातःकाल ही लगाना चाहिए ॥४॥

अब उसको वह यूप लगाना चाहिए जो अग्नि के सामनेवाले यूप के ठीक उत्तर में है, फिर दक्षिण को, फिर उत्तर को, अन्तिम दक्षिण की ओर। इस प्रकार यूपों की षंक्ति उत्तर की ओर होती है ॥५॥

कुछ इसके विरुद्ध भी कहते हैं। अर्थात् पहले अग्नि के सामनेवाले यूप के दक्षिण की ओर लगाये, फिर उत्तर की ओर, फिर दक्षिण की ओर, अन्तिम उत्तर की ओर। इस प्रकार उसका उत्तर का काम समाप्त हो जाता है ॥६॥

दक्षिण की ओर सबसे बड़ा होना चाहिए। फिर उससे छोटा, फिर उससे छोटा, जो सबसे उत्तर में हो वह सबसे छोटा। इस प्रकार पंक्ति उत्तर की ओर हो जाती है ॥७॥

तत्पश्चात् पत्नियों के लिए पत्नी-यूप गाड़ते हैं। पत्नी-यूप सम्पूर्णता के लिए गाड़ा जाता है। यहाँ त्वष्टा के पशु को पकड़ते हैं, क्योंकि त्वष्टा वीर्य का पोषक है। इस प्रकार वह सींचे हुए वीर्य को बनाता है। यदि यह पशु अण्डकोषों वाला है तो उत्पादक है। इसकी बलि न दे। इसको अग्नि के चारों ओर फिराकर छोड़ दे। यदि बलि देगा तो प्रजा का अन्त हो जायगा। परन्तु इस

---

१. वेदों में पशु-प्रेम के मन्त्र तो जहाँ-तहाँ मिलेंगे, पशु-बलि के कहीं नहीं; अतः 'शतपथ ब्राह्मण' में 'पशु-बलि' के सन्दर्भ प्रक्षिप्त हैं। —स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती

जेत्स यत्सꣳस्थापयेत्प्रजायै हान्तमियात्तत्प्रजामुत्सृजति तस्मान्न सꣳस्थापयेत्पर्यग्निकृतमेवोत्सृजेत् ॥८॥ ब्राह्मणम् ॥५ [७.२]॥ ॥

पशुश्च वै यूपश्च । न वाऽऋते यूपात्पशुमालभन्ते कदा चन तद्यत्तथा न ह वाऽएतस्माऽअग्रे पशवश्चक्रमिरे यदन्नमभविष्यन्यथेदमन्नं भूता यथा हैवायं द्विपात्पुरुष उच्छ्रित एवꣳ हैव द्विपाद उच्छ्रिताश्चेरुः ॥१॥ ततो देवा एतं वज्रं ददृशुः । यद्यूपं तमुच्छिश्रियुस्तस्माद्भीषा प्राव्लीयन्त ततश्चतुष्पादा अभवंस्ततोऽन्नमभवन्यथेदमन्नं भूता एतस्मै हि वाऽएतेऽतिष्ठन्त तस्माद्यूपऽएव पशुमालभन्ते नऽर्ते यूपात्कदा चन ॥२॥ अथोपाकृत्य पशुम् । अग्निं मथित्वा नियुनक्ति तद्यत्तथा न ह वाऽएतस्माऽअग्रे पशवश्चक्रमिरे यद्धविरभविष्यन्यथैनानिदꣳ हविर्भूतानग्नौ जुह्वति तान्देवा उपनिरुरुधुस्तऽउपनिरुद्धा नोपावेयुः ॥३॥ ते होचुः । न वाऽइमेऽस्य यामं विदुर्यदग्नौ हविर्जुह्वति नेतां प्रतिष्ठामुपरुध्येव पशूनग्निं मथित्वाग्नावग्निं जुह्वाम ते वेदिष्यन्त्येष वै किल हविषो याम एषा प्रतिष्ठाग्नौ वै किल हविर्जुह्वतीति ततोऽभ्यवैष्यन्ति ततो शातमनस आलम्भाय भविष्यन्तीति ॥४॥ तऽउपरुध्येव पशून् । अग्निं मथित्वाग्नावग्निमजुहवुस्तेऽविदुरेष वै किल हविषो याम एषा प्रतिष्ठाग्नौ वै किल हविर्जुह्वतीति ततोऽभ्यवायंस्ततो शातमनस आलम्भायाभवन् ॥५॥ तथोऽएवैष एतत् । उपरुध्येव पशुमग्निं मथित्वाग्नावग्निं जुहोति स वेदैष वै किल हविषो याम एषा प्रतिष्ठाग्नौ वै किल हविर्जुह्वतीति ततोऽभ्यवैति ततो शातमना आलम्भाय भवति तस्मादुपाकृत्य पशुमग्निं मथित्वा नियुनक्ति ॥६॥ तदाहुः । नोपाकुर्यान्नाग्निं मन्थेदशनामेवादायाञ्जसोपपरेत्याभिधाय नियुञ्ज्यादिति तद्व तथा न कुर्याद्यथाधर्मं तिरश्चया चिकीर्षेदेवं तत्तस्मादेतदेवानुपरीयात् ॥७॥ अथ तृणमादायोपाकरोति । द्वितीयवान्निरुपाधाऽइति द्वितीयवान्हि वीर्यवान् ॥८॥ स तृणमादत्ते । उपावीरसीत्युप हि द्वितीयोऽवति

प्रकार वह सन्तान को स्वतन्त्र कर देता है। इसलिए इसकी बलि न दे। इसको अग्नि के चारों ओर फिराकर ही छोड़ दे ।।८।।

अध्याय ७—ब्राह्मण ३

पशु भी और यूप भी। बिना यूप के पशु कभी नहीं मारा जाता। ऐसा इसलिए होता है कि पहले पशुओं ने अन्न अर्थात् खाद्य-पदार्थ बनना स्वीकार नहीं किया, जैसा अब कर लिया; क्योंकि जैसा आजकल मनुष्य दो पैरों पर और खड़ा चलता है उसी प्रकार पशु भी दो पैरों पर और खड़े-खड़े चलते थे ।।१।।

तब देवों ने उस वज्र को देखा जिसका नाम यूप है। उन्होंने उस यूप को स्थापित किया। उसके डर से पशु सिकुड़ गये और अन्न बन गये, जैसा कि अब हो गये हैं क्योंकि उन्होंने मान लिया है। इसीलिए पशु को यूप पर ही मारते हैं; बिना यूप के कभी नहीं मारते ।।२।।

पशु को लाकर, अग्नि को मथकर पशु को यूप से बाँधते हैं। ऐसा क्यों करते हैं ? पहले पशुओं ने यह बात स्वीकार नहीं की कि वे हवि बन जावें, जैसे वे अब हवि बन गये हैं और अग्नि में बलि दिये जाते हैं। उनको देवों ने वश में किया। इस प्रकार वश में होकर भी वे न माने ।।३।।

उन्होंने कहा, 'यह पशु इस नियम (याम) को नहीं जानते कि अग्नि में आहुति दी जाती हैं न इस (अग्निरूपी) प्रतिष्ठा को मानते हैं। पशुओं को लाकर और आग को मथकर अग्नि में अग्नि की आहुति दें। तब वे जान लेंगे कि हवि का नियम यह है और अग्नि की यह प्रतिष्ठा है। अग्नि में ही आहुति दी जाती है। तब वे मान जायँगे और मारे जाने के लिए तैयार हो जायँगे ।।४।।

तब पशुओं को लाकर, आग में मथकर उन्होंने अग्नि में अग्नि की आहुति दी। तब पशुओं ने जाना कि हवि का यह नियम है, अग्नि की यह प्रतिष्ठा है और अग्नि में ही हवि की आहुति दी जाती है। तब वे पशु मान गये और बलि के लिए तैयार हो गये। ।।५।।

इसी प्रकार यह भी पशुओं को लाकर, अग्नि को मथकर, अग्नि में अग्नि की आहुति देता है। वह (पशु) जान लेता है कि हवि का नियम क्या है, अग्नि की प्रतिष्ठा क्या है। अग्नि में ही हवि की आहुति दी जाती है। इसलिए वह मान जाता है और बलि के लिए तैयार हो जाता है। इसीलिए पशु को लाकर और अग्नि को मथकर वह पशु को (यूप से) बाँधता है ।।६।।

इसके विषय में कहते हैं कि न तो पशु को लाये और न अग्नि को मथे। केवल रस्सी को लेकर और सीधा जाकर रस्सी को डालकर पशु को बाँध ले। परन्तु ऐसा न करना चाहिए। यह बात ऐसी ही होगी जैसे कोई चुपके-चुपके नियम का उल्लंघन करे। इसलिए उसको वहाँ जाना ही चाहिए ।।७।।

वह तृण को लेकर पशु को लाता है। यह सोचकर कि दूसरे को साथ लेकर मैं पशु को ले आऊँगा, क्योंकि जिसका कोई साथी होता है वह शक्तिवाला होता है ।।८।।

इस मन्त्रांश को पढ़कर तृण लेता है—"उपावीरसि" (यजु० ६।७)—"तू समीप रक्षा

तस्मादाहोपावीरसीत्युप देवान्दैवीर्विशः प्रागुरिति दैव्यो वाऽएता विशो यत्पशवोऽस्थिषत देवेभ्य इत्येवैतदाह यदाहोप देवान्दैवीर्विशः प्रागुरिति ॥ ९॥ उशिजो वह्नितमानिति । विद्वाᳬसो हि देवास्तस्मादाहोशिजो वह्नितमानिति ॥१०॥ देव त्वष्टर्वसु रमेति । त्वष्टा वै पशूनामीष्टे पशवो वसु तानेतद्देवा अतिष्ठमानांस्त्वष्टारमब्रुवन्नुपनिमदेति यदाह देव त्वष्टर्वसु रमेति ॥११॥ हव्या ते स्वदन्तामिति । यदा वाऽएतऽएतस्माऽअधियन्त यद्धविरभविष्यंस्तस्मादाह हव्या ते स्वदन्तामिति ॥१२॥ रेवती रमधमिति । रेवन्तो हि पशवस्तस्मादाह रेवती रमधमिति बृहस्पते धारया वसूनीति ब्रह्म वै बृहस्पतिः पशवो वसु तानेतद्देवा अतिष्ठमानान्ब्रह्मणैव परस्तात्पर्यदधुस्तन्नात्यायंस्तथोऽएवैनानेष एतद्ब्रह्मणैव परस्तात्परिदधाति तन्नातियन्ति तस्मादाह बृहस्पते धारया वसूनीति पाशं कृत्वा प्रतिमुञ्चत्यथातो नियोजनस्यैव ॥१३॥ ब्राह्मणम् ॥ ६[७.३]॥ ॥ पञ्चमः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या १२७ ॥ ॥

पाशं कृत्वा प्रतिमुञ्चति । ऋतस्य त्वा देवहविः पाशेन प्रतिमुञ्चामीति वरुण्या वाऽएषा यद्रज्जुस्तदेनमेतदृतस्यैव पाशे प्रतिमुञ्चति तथो हैनमेषा वरुण्या रज्जुर्न हिनस्ति ॥१॥ धर्षा मानुष इति । न वाऽएतमग्रे मनुष्योऽधृष्णोत्स यदेवर्तस्य पाशेनैतद्देवहविः प्रतिमुञ्चत्यथैनं मनुष्यो धृष्णोति तस्मादाह धर्षा मानुष इति ॥२॥ अथ नियुनक्ति । देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नीषोमाभ्यां जुष्टं नियुनज्मीति तद्यथैवादो देवतायै हविर्गृह्णन्नादिशत्येवमेवैतद्देवताभ्यामादिशत्यथ प्रोक्षत्येको वै प्रोक्षणस्य बन्धुर्मेध्यमेवैतत्करोति ॥३॥ स प्रोक्षति । अद्भ्यस्त्वौषधीभ्य इति तद्यत एव सम्भवति तत एवैतन्मेध्यं करोतीदᳬ हि यदा वर्षत्यथौषधयो जायन्तऽओषधीर्जग्ध्वापः पीत्वा तत एष रसः सम्भवति रसाद्रेतो रेतसः पशवस्तद्यत एव सम्भवति यतश्च जायते तत एवैत-

करनेवाला है।" साथी रक्षा करता है इसलिए कहता है 'उपावीरसि।' "उपदेवान् दैवीर्विशः-प्रागुः" (यजु० ६।७) [महीधर-भाष्य में 'विशेपागुः' पाठ है]—"दैवी लोग देवों के पास आये हैं।" ये जो पशु हैं वे दैवी लोग हैं। जब वह 'उपदेवान्' आदि कहता है तो इसका तात्पर्य यह है कि वह देवों के वश में आ गया हैं ॥९॥

"उशिजो वह्नितमान्" (यजु० ६।७)—उशिज=मेधावी, 'वह्नितम'=सबसे अच्छा वाहक ॥१०॥

"देव त्वष्टर्वसु रम" (यजु० ६।७)—"हे देव त्वष्टा, धन में रम।" त्वष्टा ही पशुओं का ईश है। पशु ही वसु हैं। जो पशु माने नहीं उन्हीं के लिए देवों ने त्वष्टा से कहा, 'देव त्वष्टर्वसु रम' ॥११॥

"हव्या ते स्वदन्ताम्" (यजु० ६।७)—"हवि तुझको स्वादिष्ट लगें।" चूंकि वे स्वयं ही मान गये कि हम हवि हो जायँ, इसलिए कहा, 'हव्या ते स्वदन्ताम्' ॥१२॥

"रेवती रमध्वम्" (यजु० ६।८)—"हे सुखी, सुख उठाओ।" पशु 'सुखी' हैं इसलिए कहा "रेवती रमध्वम्। बृहस्पते धारया वसूनि" (यजु० ६।८)—"हे बृहस्पति, धनों को धारो।" ब्रह्म बृहस्पति है। पशु वसु हैं। जो पशु माने नहीं थे वे ब्रह्म के साथ सुरक्षित थे। इसी प्रकार यह भी उनको ब्रह्म के साथ सुरक्षित रख देता है जो मानते नहीं हैं, इसलिए कहता है 'बृहस्पते धारया वसूनि।' पाश या फन्दा बनाकर वह उसके पशु के गले में डालता है। बाँधने के विषय में अगले ब्राह्मण में है ॥१३॥

अध्याय ७—ब्राह्मण ४

फन्दा बनाकर (पशु के गले में) डालता है, इस मन्त्रांश से—"ऋतस्य त्वा देवहविः पाशेन प्रति मुञ्चामि" (यजु० ६।८)—"हे देव-हवि, तुझको ऋत के फन्दे से बाँधता हूँ।" क्योंकि जो रस्सी है वह वरुण की है। इसलिए ऋत के फन्दे से उसको बाँधता है (अर्थात् वरुण की रस्सी में ऋत का फन्दा लगाता है)। इसलिए वह वरुण की रस्सी उसको नहीं सताती ॥१॥

"धर्षा मानुषः" (यजु० ६।८)—"मनुष्य धृष्ट है।" क्योंकि पहले मनुष्य (पशु के) पास तक नहीं जा सकता था। लेकिन जब उसने उसको ऋत के पाश से देव-हवि के रूप में बाँध लिया तब मनुष्य उसके पास जा सकता है, इसलिए कहा 'धर्षा मानुषः' ॥२॥

अब वह उस (पशु) को यूप में बाँधता है, इस मन्त्रांश से—"देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नीषोमाभ्यां जुष्टं नियुनज्मि" (यजु० ६।९)—"देव सविता की प्रेरणा से दोनों अश्विनों के बाहुओं और पूषा के हाथों से तुझको अग्नि और सोम का प्रिय बनाता हूँ।" जिस प्रकार एक देवता को निर्दिष्ट करके हवि की आहुति दी जाती है, उसी प्रकार दो देवताओं को निर्दिष्ट करके आहुति दी जाती है। अब वह जल-सिंचन करता है। जल-सिंचन का वही एक तात्पर्य है अर्थात् यज्ञ के लिए पवित्र करना ॥३॥

वह इस मन्त्र से जल-सिंचन करता है—"अद्भ्यस्त्वौषधीभ्यः" (यजु० ६।९)—"तुझको जलों और ओषधियों के लिए।" जिससे उस (पशु) की स्थिति है उसी से उसको पवित्र करता है। क्योंकि जब जल बरसता है तब पृथिवी पर ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं। ओषधियों को खाकर

न्मेध्यं करोति ॥४॥ अनु त्वा माता मन्यतामनु पितेति । स हि मातुश्चाधि पितुश्च जायते तद्यत एव जायते तत एवैतन्मेध्यं करोत्यनु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्य इति स यत्ते जन्म तेन त्वानुमतमारभऽइत्येवैतदाहाग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामीति तद्याभ्यां देवताभ्यामारभते ताभ्यां मेध्यं करोति ॥५॥ अथोपगृह्णाति । अपां पेरुरसीति तदेनमन्तरतो मेध्यं करोत्यथाधस्तादुपोक्षत्यापो देवीः स्वदन्तु स्वात्तं चित्सद्देवहविरिति तदेनꣳ सर्वतो मेध्यं करोति ॥६॥ अथाहाग्नये समिध्यमानायानुब्रूहीति । स उत्तरमाघारमाघार्यासꣳस्पर्शयन्स्रुचौ पर्येत्य जुह्वा पशुꣳ समनक्ति शिरो वै यज्ञस्योत्तर आघार एष वाऽअत्र यज्ञो भवति यत्पशुस्तस्मिन्न ऽएवैतच्छिरः प्रतिदधाति तस्माज्जुह्वा पशुꣳ समनक्ति ॥७॥ स ललाटे समनक्ति । सं ते प्राणो वातेन गच्छतामिति समङ्गानि यजत्रैरित्यꣳसयोः सं यज्ञपतिराशिषेति श्रोण्योः स यस्मै कामाय पशुमालभन्ते तत्प्राप्नुहीत्येवैतदाह ॥८॥ इदं वै पशोः संज्ञप्यमानस्य । प्राणो वातमपिपद्यते तत्प्राप्नुहि यत्ते प्राणो वातमपिपद्याता ऽइत्येवैतदाह समङ्गानि यजत्रैरित्यङ्गैर्वाऽअस्य यजन्ते तत्प्राप्नुहि यत्तेऽङ्गैर्यजान्ता ऽइत्येवैतदाह स यज्ञपतिराशिषेति यजमानाय वाऽएतेनाशिषमाशास्ते 'तत्प्राप्नुहि यत्त्वया यजमानायाशिषमाशासान्ताऽइत्येवैतदाह सादयति स्रुचावथ प्रवरायाश्रावयति सोऽसावेव बन्धुः ॥९॥ अथ द्वितीयमाश्रावयति । द्वौ ह्यत्र होतारौ भवतः स मैत्रावरुणायाहैवाश्रावयति यजमानं त्वेव प्रवृणीतेऽग्निर्ह दैवीनां विशां पुरएतेत्यग्निर्हि देवतानां मुखं तस्मादाहाग्निर्ह दैवीनां विशां पुरएतेत्ययं यजमानो मनुष्याणामिति तꣳ हि सोऽन्वर्धी भवति यस्मिन्नर्धे यजते तस्मादाहायं यजमानो मनुष्याणामिति तयोरस्थूरि गार्हपत्यं दीदयच्छतꣳ हिमा द्वा यूऽइति तयोरनार्तानि गार्हपत्यानि शतं वर्षाणि सन्त्वित्येवैतदाह ॥१०॥ राधाꣳसीत्सम्पृञ्चानावसम्पृञ्चानौ तन्व इति । राधाꣳस्येव सम्पृञ्चाथां मापि तनूरित्येवैतदाह तौ

और पानी को पीकर रस बनता है, रस से वीर्य, वीर्य से पशु। इसलिए जिससे उत्पन्न होता या जन्मता है उसीसे उसको पवित्र करता है।।४।।

"अनु त्वा माता मन्यतामनु पिता" (यजु० ६।९)—"तेरी माता तुझे अनुमति दे और तेरा पिता।" क्योंकि माता और पिता से उसकी उत्पत्ति है। इसलिए जिससे उसका जन्म हुआ है उसी से उसकी यज्ञ के लिए पवित्रता करता है। "अनु भ्रातासगर्म्योऽनु सखा सयूथ्यः" (यजु० ६।९)—"तेरा ही सगा भाई, तेरे ही दलवाला सखा।" इसका तात्पर्य यह है कि जो तेरे रिश्तेदार हैं उनकी अनुमति लेता हूँ। "अग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि" (यजु० ६।९)—"अग्नि और सोम की प्रसन्नता के लिए तुझ पर जल छिड़कता हूँ।" अर्थात् जिन दो देवतों के लिए मारता है उन्हीं के लिए पवित्र करता है। (आ + रभ का अर्थ 'मारना' लिया है। यह विचारणीय है) ।।५।।

इस मन्त्रांश से (जल को पिलाने के लिए) लेता है—"अपां पेरुरसि" (यजु० ६।१०)—"तू जलों का पीनेवाला है।" इससे वह उसकी आन्तरिक शुद्धि करता है। अब (शरीर के निचले भाग को) धोता है, इस मन्त्र से—"आपो देवीः स्वदन्तु स्वात्तं चित् सद् देवहविः" (यजु० ६।१०)—"दिव्य जल तुझको सच्ची देवहवि के लिए स्वादिष्ट बनावे।" इस प्रकार वह इसको हर प्रकार से यज्ञ के लिए पवित्र कर देता है ।।६।।

अब वह (होता से) कहता है—'प्रज्वलित अग्नि के लिए मन्त्र बोल।' पिछली आघार-आहुति देकर स्रुचों को बिना छुए हुए जब वह अपने स्थान पर लौटकर आता है तो जुहू में बचे हुए घी से पशु को चुपड़ता है। पिछली आघार-आहुति यज्ञ का शिर है। और यह जो पशु है वह यज्ञ है। यह पशु का घी से चुपड़ना ऐसा है जैसा यज्ञ के सिर लगा देना ।।७।।

वह ललाट में घी लगाता है, इस मन्त्रांश से—"सं ते प्राणो वातेन गच्छताम्" (यजु० ६।१०)—"तेरे प्राण वायु से मिल जावें।" इस मन्त्रांश से कन्धों पर="समङ्गानि यजत्रैः" (यजु० ६।१०)—"तेरे अङ्ग यज्ञ करनेवालों से मिलें।" इस मन्त्रांश से पिछाड़ी पर—"सं यज्ञपतिराशिषा" (यजु० ६।१०)—"यज्ञपति आशीर्वाद से मिले।" इसका तात्पर्य यह है कि जिस किसी कार्य के लिए पशु का बलि दी गई हो उसी की प्राप्ति हो ।।८।।

बलि दिये हुए पशु के प्राण वायु में मिल जाते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि ऐसा कर कि तेरे प्राण वायु में मिल जायँ, अर्थात् तेरे प्राण वायु में मिल जायँ, 'यज्ञ करनेवालों से तेरे अंग मिल जायँ'; इसलिए कहता है कि अंगों से ही तो यज्ञ किया जाता है अर्थात् ऐसा कर कि अंगों से यज्ञ हो जाय। 'यज्ञपति आशीर्वाद से' ये शब्द इसलिए कहे जाते हैं कि यह आशीर्वाद है अर्थात् 'हे यजमान, तुझे यह आशीर्वाद दिया जाता है।' अब वह दोनों स्रुचों को रखकर होता के प्रवर (निर्वाचन) के लिए प्रौषट् कहता है। उसका वैसा ही तात्पर्य है ।।९।।

अब वह द्वितीय श्रौषट् कहता है। यहाँ दो होता होते हैं। वह मित्र-वरुण के लिए श्रौषट् कहता है। यजमान का वरण करता है जब कहता है कि 'अग्नि ही दैवी मनुष्यों के आगे चलता है।' अग्नि देवों का मुख है इसलिए कहा 'अग्नि ही दैवी मनुष्यों के आगे चलता है।' 'मनुष्यों का यजमान' इसलिए कि जिन लोकों में वह यज्ञ करता है वे उससे नीच हैं। इसलिए वह कहता है कि 'यजमान मनुष्यों का (सिर) है।' अब कहता है, "इन दोनों के घर चमकें, न एक बैल से, सौ वर्ष तक दो से।' अर्थात् उनके घर सौ वर्ष तक आपत्तियों से मुक्त रहें ।।१०।।

अब वह कहता है—'वैभव मिल जाय, न कि शरीर' इसका तात्पर्य यह है कि 'तुम

ह यत्तनूरपि सम्पृक्तीयातां प्राग्निर्यजमानं दहेत्स यदग्नौ जुहोति तदेषोऽग्नये प्रयच्छत्यथ यामेवात्रऽर्त्विजो यजमानायाशिषमाशासते तामस्मै सर्वामग्निः समर्धयति तद्वाधाऽस्यैव सम्पृच्यते नापि तनूस्तस्मादाह राधाऽसीत्सम्पृचानावसम्पृचानौ तन्व इति ॥११॥ ब्राह्मणम् ॥१ [७.४.]॥ सप्तमोऽध्यायः [२२.] ॥ ॥

तद्यत्रैतत्प्रवृतो होता होतृषदनऽउपविशति । तदुपविश्य प्रसौति प्रसूतोऽध्वर्युः स्रुचावादत्ते ॥१॥ अथाप्रीभिश्चरन्ति । तद्यदाप्रीभिश्चरन्ति सर्वेणेव वाऽएष मनसा सर्वेणेवात्मना यज्ञꣳ सम्भरति सं च जिहीर्षति यो दीक्षते तस्य रिरिचान-इवात्मा भवति तमेताभिराप्रीभिराप्याययन्ति तद्यदाप्याययन्ति तस्मादाप्रियो नाम तस्मादाप्रीभिश्चरन्ति ॥२॥ ते वाऽएतऽएकादश प्रयाजा भवन्ति । दश वाऽइमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशो यस्मिन्नेते प्राणाः प्रतिष्ठिता एतावान्वै पुरुषस्तदस्य सर्वमात्मानमाप्याययन्ति तस्मादेकादश प्रयाजा भवन्ति ॥३॥ स आश्राव्याह । समिधः प्रेष्येति प्रेष्य-प्रेष्येति चतुर्थे-चतुर्थे प्रयाजे समानयमानो दशभिः प्रयाजैश्चरति दश प्रयाजानिष्ट्वाह शासमाहरेत्यसिं वै शास इत्याचक्षते ॥४॥ अथ यूपशकलमादत्ते । तावग्रे जुह्वा अङ्क्ता पशोर्ललाटमुपस्पृशति घृतेनाक्तौ पशूंस्त्रायेथामिति वज्रो वै यूपशकलो वज्रः शासो वज्र आज्यं तमेवैतत्कृत्स्नं वज्रꣳ सम्भृत्य तमस्याभिगोप्तारं करोति नेदेनं नाष्ट्रा रक्षाꣳसि हिनसन्निति पुनर्यूपशकलमवगूहत्येषा ते प्रज्ञाताश्रिरस्त्वित्याह शासं प्रयच्छन्त्सादयति स्रुचौ ॥५॥ अथाह पर्यग्नयेऽनुब्रूहीति । उल्मुकमादायाग्नीत्पर्यग्निं करोति तद्यत्पर्यग्निं करोत्यच्छिद्रमेवैनमेतदग्निना परिगृह्णाति नेदेनं नाष्ट्रा रक्षाꣳसि प्रमृशानित्यग्निर्हि रक्षसामपहन्ता तस्मात्पर्यग्निं करोति तद्यत्रैनꣳ अपयन्ति तदभिपरिहरति ॥६॥ तदाहुः । पुनरेतदुल्मुकꣳ हरेदथात्रान्यमेवाग्निं निर्मथ्य तस्मिन्नेनꣳ श्रपयेयुराहवनीयो वाऽएष न वाऽएष तस्मै यदस्मिन्नशृतꣳ श्रपयेयुस्तस्मै वाऽएष यदस्मिञ्छृतं

अपने वैभव को ही मिलाओ, शरीरों को नहीं।' क्योंकि अगर वह मिला दें तो अग्नि उस यजमान को जला देगी। जब कोई अग्नि में आहुति देता है तो मानो अग्नि के अर्पण करता है। और ऋत्विज लोग जो आशीर्वाद यजमान को देते हैं अग्नि उन सबका सम्पादन करता है। इस प्रकार ये अपने वैभव को ही जोड़ते हैं, न कि शरीरों को। इसीलिए कहता है कि 'अपने वैभव को मिलाओ, न कि शरीरों को' ॥११॥

अध्याय ८—ब्राह्मण १

इस प्रकार चुना जाकर होता, होता के स्थान में बैठता है, बैठकर प्रेरणा करता है और अध्वर्यु प्रेरित होकर दो स्रुचों को लेता है ॥१॥

अब वे आप्रि मन्त्रों से कार्य करते हैं। आप्रि मन्त्रों से क्यों करते हैं? इसलिए कि जो दीक्षा लेता है वह अपने सब मन से और सम्पूर्ण आत्मा से यज्ञ की तैयारी करता है। उसका आत्मा खाली-सा हो जाता है। इन आप्रि मन्त्रों से वे उसको भर-सा देते हैं। और चूंकि वे इनसे भरते हैं इसलिए इनका नाम आप्रि है ॥२॥

ये ग्यारह प्रयाज होते हैं। इस पुरुष में दस प्राण हैं और ग्यारहवाँ आत्मा है, जिसमें ये दसों प्राण स्थापित हैं। इतना सम्पूर्ण पुरुष है। इस प्रकार ये उसको पूर्ण कर देते है। इसलिए ग्यारह प्रयाज होते हैं ॥३॥

(अध्वर्यु) आग्नीध्र में श्रौषट् कहकर (मैत्रावरुण से) कहता है—'समिधाओं के लिए प्रेरणा कर।' इस प्रकार 'प्रेष्य'-'प्रेष्य' कहकर हर चौथी आहुति में घी को साथ-साथ छोड़ता हुआ दस प्रयाजों का कार्य करता है। दस प्रयाजों को कहकर कहता है, 'शास (घातक) को लाओ।' शास नाम है 'असि' या तलवार का ॥४॥

अब वह यूप के टुकड़े को लेता है। और इन दोनों (अर्थात् शास और यूप-शकल) को जूहू में से घी लगाकर उनसे पशु के ललाट को छूता है—"घृतेनाक्तौ पशूंस्त्रायेथाम्" (यजु० ६।११)—"घृत से युक्त तुम दोनों पशुओं की रक्षा करो।" यूप-शकल वज्र है। शास वज्र है। आज्य (घृत) वज्र है। इन सबको मिलाकर वज्र बनाकर उसको उस पशु का रक्षक नियत करता है जिससे दुष्ट राक्षस उसकी हिंसा न कर सकें। अब यूप के टुकड़े को छिपा देता है और (घातक के हाथ में) शास को देकर कहता है कि यह प्रज्ञात (स्वीकृत) धार है। और दोनों स्रुचों को रख देता है ॥५॥

अब (होता से) कहता है कि परि-अग्नि के लिए अनुवाक कह। (इस पर होता ऋग्वेद ४।१५।१-३ को पढ़ता है)। आग्नीध्र आग की लकड़ी को लेकर (पशु के) चारों ओर फिराता है। वह अग्नि को चारों ओर इसलिए फिराता है कि चारों ओर से छिद्र-रहित परिखा बन जाय और दुष्ट राक्षस उसको सता न सकें। अग्नि ही राक्षसों का घातक है, इसलिए अग्नि को चारों ओर फिराता है। जहाँ उसे पकाते हैं वहाँ वह अग्नि को फिराता है ॥६॥

कुछ लोगों का कहना है कि उस लकड़ी को फिर वापस (आहवनीय तक) ले जाना चाहिए और अन्य अग्नि का मन्थन करके उससे पकाना चाहिए, क्योंकि यह आहवनीय है और इसमें कच्चे को पकाना ठीक नहीं। यह तो इसलिए है कि पके-पकाये की आहुति दी जाय ॥७॥

नुकुर्युरिति ॥७॥ तदु तथा न कुर्यात् । यथा वै ग्रसितमेवमस्यैतद्भवति यदेनेन पर्यग्निं करोति स यथा ग्रसितमनुव्याहायाच्छिद्य तदन्यस्मै प्रयच्छेदेवं तत्तस्मादेतस्यैवोल्मुकस्याङ्गारान्निमृद्य तस्मिन्नेनं श्रपयेयुः ॥८॥ अथोल्मुकमादायाग्नीत्पुरस्तात्प्रतिपद्यते । अग्निमेवैतत्पुरस्तात्करोत्यग्निः पुरस्तान्नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यपघ्नन्नेत्यथाभयेनानाष्ट्रेण पशुं नयन्ति तं वपाश्रपणीभ्यां प्रतिप्रस्थातान्वारभते प्रतिप्रस्थातारमध्वर्युरध्वर्युं यजमानः ॥९॥ तदाहुः । नैष यजमानेनान्वारभ्यो मृत्यवे ह्येतं नयन्ति तस्मान्नान्वारभेतेति तदन्वेवारभेत न वाऽएतं मृत्यवे नयन्ति यं यज्ञाय नयन्ति तस्मादन्वेवारभेत यज्ञाद्ध हैवात्मानमन्तरियाद्यन्नान्वारभेत तस्मादन्वेवारभेत तत्परोऽक्षमन्वारब्धं भवति वपाश्रपणीभ्यां प्रतिप्रस्थाता प्रतिप्रस्थातारमध्वर्युरध्वर्युं यजमान एतदु परोऽक्षमन्वारब्धं भवति ॥१०॥ अथ स्तीर्णायै वेदेः । द्वे तृणेऽअध्वर्युरादत्ते स आश्राव्याहोपप्रेष्य होतर्हव्या देवेभ्य इत्येतदु वैश्वदेवं पशौ ॥११॥ अथ वाचयति । रेवति यजमानऽइति वाग्वै रेवती सा यद्वाग्बहु वदति तेन वाग्रेवती प्रियं धा आविशेत्यनार्तिमाविशेत्येवैतदाहोरोरन्तरिक्षात्सजूर्देवेन वातेनेत्यन्तरिक्षं वाऽअनु रक्षश्चरत्यमूलमुभयतः परिच्छिन्नं यथायं पुरुषोऽमूल उभयतः परिच्छिन्नोऽन्तरिक्षमनुचरति तद्वातेनैनꣳ संविदानान्तरिक्षाद्गोपायेत्येवैतदाह यदाहोरोरन्तरिक्षात्सजूर्देवेन वातेनेति ॥१२॥ अस्य हविषस्त्मना यजेति । वाचमेवैतदाहानार्तस्यास्य हविष आत्मना यजेति समस्य तन्वा भवेति वाचमेवैतदाहानार्तस्यास्य हविषस्तन्वा सम्भवेति ॥१३॥ तद्यत्रैनं विशसन्ति । तत्पुरस्तात्तृणमुपास्यति वर्षो वर्षीयसि यज्ञे यज्ञपतिं धा इति बर्हिरेवास्माऽएतत्स्तृणात्यस्कन्नꣳ हविरसदिति तद्यदेवास्यात्र विशस्यमानस्य किंचित्स्कन्दति तदेतस्मिन्प्रतितिष्ठति तथा नामुया भवति ॥१४॥ अथ पुनरेत्याहवनीयमभ्यावृत्यासते । नेदस्य संज्ञप्यमानस्याध्यक्षा असामेति तस्य न कूटेन प्रघ्नन्ति मानुषꣳ

परन्तु ऐसा न करना चाहिए। अग्नि जिसके चारों ओर फिरा ली गई वह तो अग्नि से ग्रसित हो गया। इसका अर्थ यह होगा कि जो ग्रसित हो चुका उसको छीनकर दूसरे को दे दिया गया। इसलिए इस लकड़ी से ही अंगारों को लेकर उसमें पका लेना चाहिए ॥८॥

अब आग्नीध्र एक और जलती लकड़ी लेकर आगे आता है। इस प्रकार वह अग्नि को आगे रखता है कि वह दुष्ट राक्षसों को दूर भगा देगी। और भयरहित मार्ग से पशु को ले जाता है। दोनों वपाश्रपणियों से प्रतिप्रस्थाता उस (आग्नीध्र) को देता है। प्रतिप्रस्थाता को अध्वर्यु देता है और अध्वर्यु को यजमान ॥९॥

इस पर कुछ लोग कहते हैं कि यजमान न पकड़े। क्योंकि उसको मृत्यु के लिए ले जाते हैं, इसलिए उसको नहीं थामना चाहिए। परन्तु उसको थामना चाहिए ही, क्योंकि जिसको यज्ञ के लिए ले जाते हैं उसे मृत्यु के लिए नहीं ले जाते। दूसरे यह कि यदि वह न थामेगा तो अपने को यज्ञ से हटा लेगा, इसलिए उसे थामना अवश्य चाहिए। यह एक प्रकार का परोक्ष थामना है अर्थात् वपाश्रपणियों द्वारा प्रतिप्रस्थाता थामता है। प्रतिप्रस्थाता को अध्वर्यु देता है और अध्वर्यु को यजमान। इस प्रकार यह थामना परोक्ष प्रकार का है ॥१०॥

अब छायी हुई वेदी में से अध्वर्यु दो तृण निकालता है, और श्रौषट् कहकर कहता है—'होता, देवों के लिए हव्य ला।' पशु-याग[1] में यह विश्वेदेवों का भाग है ॥११॥

अब वह यजमान से कहलवाता है—"रेवति यजमाने" (यजु० ६।११)—"हे भाग्यवती, तू यजमान में।" वाणी रेवती है क्योंकि वह बहुत बोलती है, इसलिए वाणी रेवती हुई। "प्रियं धाऽआविश" (यजु० ६।११)—"प्रिय को धारण कर। तू आ।" अर्थात् तू बिना आपत्ति के आ। "उरोरन्तरिक्षात् सजूर्देवेन वातेन" (यजु० ६।११)—"विस्तृत अन्तरिक्ष से दैवी वायु के द्वारा।" जिस प्रकार मनुष्य बिना किसी जड़ के स्वच्छन्दता से अन्तरिक्ष में विचरता है, इसी प्रकार राक्षस भी अन्तरिक्ष में बिना किसी मूल के विचरता है। (नोट–पेड़ की मूल होती है, वह स्थावर है। राक्षस और मनुष्य दोनों जंगम हैं)। यह जो कहा कि 'विस्तृत अन्तरिक्ष से दैवी वायु के द्वारा' इसका तात्पर्य है कि वायु से मिलकर इसकी अन्तरिक्ष से रक्षा कर ॥१२॥

"हविषस्त्मना यज" (यजु० ६।११)—"हवि की आत्मा से यज्ञ कर।" अर्थात् वाणी से कहता है कि हवि की आत्मा से यज्ञ कर। "समस्य तन्वा भव" (यजु० ६।११)—अर्थात् वाणी से कहता है कि इस हवि की आत्मा के साथ सयुक्त हो ॥१३॥

जहाँ उसको मारते हैं उसके सामने तृण को फेंकते हैं। "वर्षो वर्षीयसि यज्ञे यज्ञपतिं धाः" (यजु० ६।११)—"हे महान्, इस महान् यज्ञ में यज्ञपति को ले जा।" इस प्रकार कुशों को नीचे बिछा देता है कि हवि का कोई भाग भी नष्ट न हो सके। इस प्रकार काटने में जो कुछ नीचे गिरता है वह इन्हीं कुशों में गिरता है। इस प्रकार नष्ट नहीं होता ॥१४॥

अब आहवनीय की ओर जाकर उधर को मुँह करके बैठते हैं कि इस कटते हुए को देख न लें। वे इसको 'कूट' अर्थात् सामने की हड्डी से नहीं काटते; यह मानुषी विधि है। न कान के

---

१. 'पशु-याग' वेद-विरुद्ध एवं प्रक्षिप्त है। मन्त्रांश (यजु० ६-११) स्पष्ट कहता है—'पशूँस्त्रायेथाम्' अर्थात् 'पशुओं की रक्षा करो'। —स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती

हि तन्नोऽएव पश्चात्कर्णं पितृदेवत्यꣳ हि तदपिगृह्य वैव मुखं तमयन्ति वेष्कं वा कुर्वन्ति तन्नाह जहि मारयेति मानुषꣳ हि तत्संज्ञपयान्वगन्निति तद्धि देवत्रा स यदाहान्वगन्नित्येतर्हि ह्येष देवाननुगच्छति तस्मादाहान्वगन्निति ॥१५॥ तद्यत्रैनं निविध्यन्ति । तत्पुरा संज्ञपनाज्जुहोति स्वाहा देवेभ्य इत्यथ यदा प्राह संज्ञप्तः पशुरित्यथ जुहोति देवेभ्यः स्वाहेति पुरस्तात्स्वाहाकृतयो वाऽअन्ये देवा उपरिष्टात्स्वाहाकृतयोऽन्ये तानेवैतत्प्रीणाति तऽएनमुभये देवाः प्रीताः स्वर्गं लोकमभिवहन्ति ते वाऽएते परिपशव्येऽइत्याहुती स यदि कामयेत जुहुयादेते यद्यु कामयेतापि नादृियेत ॥१६॥ ब्राह्मणम् ॥२[८.१.]॥ ॥

यदा प्राह संज्ञप्तः पशुरिति । अथाध्वर्युराह नेष्टः पत्नीमुदानयेत्युदानयति नेष्टा पत्नीं पान्नेजनं बिभ्रतीम् ॥१॥ तां वाचयति । नमस्तऽआतानेति यज्ञो वाऽआतानो यज्ञꣳ हि तन्वते तेन यज्ञ आतानो जघनार्धो वाऽएष यज्ञस्य यत्पत्नी तामेतत्प्राचीं यज्ञं प्रसादयिष्यन्भवति तस्माऽएवैतन्निह्नुते तथो हैनामेष यज्ञो न हिनस्ति तस्मादाह नमस्तऽआतानेति ॥२॥ अनर्वा प्रेहीति । असपत्नेन प्रेहीत्येवैतदाह घृतस्य कुल्या उपऽऋतस्य पथ्या अन्विति साधूपेत्येवैतदाह देवीरापः शुद्धा वोढ्वꣳ सुपरिविष्टा देवेषु सुपरिविष्टा वयं परिवेष्टारो भूयास्मेत्यप एवैतत्पावयति ॥३॥ अथ पशोः प्राणानद्भिः पत्न्युपस्पृशति । तद्यदद्भिः प्राणानुपस्पृशति । जीवं वै देवानाꣳ हविरमृतममृतानामथैतत्पशुं घ्नन्ति यत्संज्ञपयन्ति यद्विशासत्यापो वै प्राणास्तदस्मिन्नेतान्प्राणान्दधाति तथैतज्जीवमेव देवानाꣳ हविर्भवत्यमृतममृतानाम् ॥४॥ अथ यत्पत्न्युपस्पृशति । योषा वै पत्नी योषायै वाऽइमाः प्रजाः प्रजायन्ते तदेनमेतस्यै योषायै प्रजनयति तस्मात्पत्न्युपस्पृशति ॥५॥ सोपस्पृशति । वाचं ते शुन्धामीति मुखं प्राणं ते शुन्धामीति नासिके चक्षुस्ते शुन्धामीत्यक्ष्यौ श्रोत्रं ते शुन्धामीति कर्णौ नाभिं ते शुन्धामीति योऽयम-

पीछे से; यह पितरों की विधि है। या तो उसका मुँह बन्द करके घोंट देते हैं या फन्दा डाल देते हैं। इसलिए ऐसा नहीं कहते 'इसको मार।' यह तो मनुष्यों की भाषा है। किन्तु कहते हैं 'संज्ञपय, अन्वगन्' (इसको शान्त कर दे। यह चला गया)। यह देवों की भाषा है। जब कहते हैं कि 'अन्वगन्' (चला गया) तो यजमान देवों के पास चला जाता है। इसलिए कहते हैं 'अन्वगन्' (चला गया) ॥१५॥

जब ये इसको पकड़कर नीचे गिरा लेते हैं तो संज्ञपन (गला घोंटने) से पहले आहुति देते हैं "स्वाहा देवेभ्यः" (यजु० ६।११)। जब मारनेवाला कहता है 'संज्ञप्तः पशुः' (अर्थात् पशु शान्त हो गया) तो एक आहुति देते हैं—"देवेभ्यः स्वाहा" (यजु० ६।११)। इस प्रकार कुछ देवों के पहले 'स्वाहा' कहा जाता है और कुछ के पीछे। इस प्रकार इन सबको प्रसन्न करता है। इस प्रकार दोनों प्रकार के देव प्रसन्न होकर उसको स्वर्गलोक को ले जाते हैं। ये 'परिपशव्य' आहुतियाँ हैं। चाहे तो इनकी आहुति दे, चाहे न दे। यदि इच्छा हो तो इनका आदर न करे ॥१६॥

अध्याय ८—ब्राह्मण २

जब घातक ने कहा कि पशु शान्त हो गया तो अध्वर्यु कहता है 'नेष्टा पत्नी को ला।' तब नेष्टा पत्नी को लाता है। उसके हाथ में पैर धोने के लिए पात्र में जल होता है ॥१॥

अब वह उस पत्नी से कहलवाता है—"नमस्तऽआतान" (यजु० ६।१२)—"हे फैले हुए, तुझे नमस्कार हो।" 'फैला हुआ' यज्ञ है क्योंकि यज्ञ फैलाया जाता है, इसलिए यज्ञ का नाम 'आतान' है। यह जो पत्नी है, वह यज्ञ का पिछला अर्द्धभाग है। उसको यज्ञ को प्रसन्न करने के हेतु आगे की ओर बुलाता है। इस प्रकार वह यज्ञ की त्रुटि को पूरा करती है, और यज्ञ उसकी हानि नहीं करता। इसलिए कहा 'यज्ञ, तुझे नमस्कार हो' ॥२॥

"अनर्वा प्रेहि" (यजु० ६।१२)—अर्थात् "स्वच्छ चल।"—"घृतस्य कुल्याऽउपऽऋतस्य पथ्याऽअनु" (यजु० ६।१२)—"घी की नदियों में या सत्यता की गलियों में।" अर्थात् कल्याण-मार्गों में जा। "देवीरापः शुद्धा वोढ्वँ सुपरिविष्टा देवेषु सुपरिविष्टा वयं परिवेष्टारो भूयास्म" (यजु० ६।१३)—"हे दैवी जलो! भलीभाँति तैयार होकर तुम देवों को प्राप्त होओ। हम भलीभाँति तैयार हो जावें।" इस प्रकार वह जल को पवित्र करती है ॥३॥

अब पत्नी पशु के प्राणों को जलों से स्पर्श करती है। वह प्राणों को जलों से इसलिए स्पर्श करती है कि देवों की हवि जीव है—अमृतों की अमृत। संज्ञपन में पशु को मारते हैं। जल प्राण है, इस प्रकार इसमें प्राणों को धारण कराती है। इस प्रकार 'देवों' का हवि जीव हो जाता है—अमृतों का अमृत ॥४॥

पत्नी क्यों स्पर्श करती है? पत्नी स्त्री है। स्त्री से ही प्रजा उत्पन्न होती है। इसको इस प्रजा को स्त्री से उत्पन्न कराता है, इसलिए पत्नी ही इसका स्पर्श करती है ॥५॥

वह इस प्रकार स्पर्श करती है—"वाचं ते शुन्धामि" से मुख को (यजु० ६।१४)। "प्राणं ते शुन्धामि" से नासिका को। "चक्षुस्ते शुन्धामि" से आँखों को। "श्रोत्रं ते शुन्धामि" से कानों को। "नाभिं ते शुन्धामि" से अस्पष्ट प्राण को। "मेढ्रं ते शुन्धामि" या "पायुं ते शुन्धामि" से

निरुक्तः प्राणो मेढ्रं ते शुन्धामीति वा पायुं ते शुन्धामीति योऽयं पश्चात्प्राणस्त-त्प्राणान्दधाति तत्समीरयत्यथ सꣳहृत्य पदश्चरित्रांस्ते शुन्धामीति पद्भिर्वै प्रतितिष्ठति प्रतिष्ठित्याऽएव तदेनं प्रतिष्ठापयति ॥६॥ अथ या आपः परिशिष्यन्ते । अर्धा वा यावत्यो वा ताभिरेनं यजमानश्च शीर्षतोऽग्रेऽनुषिञ्चतस्तत्प्राणांश्चैवा-स्मिंस्तत्तौ धत्तस्तथैनमतः समीरयतः ॥७॥ तद्यत्क्रूरीकुर्वन्ति । यदास्थापयन्ति शान्तिरापस्तदद्भिः शान्त्या शमयतस्तदद्भिः संधत्तः ॥८॥ तावनुषिञ्चतः । मनस्तऽआप्यायतां वाक्तऽआप्यायतां प्राणस्तऽआप्यायतां चक्षुस्तऽआप्यायताꣳ श्रोत्रं तऽआप्यायतामिति तत्प्राणान्धत्तस्तत्समीरयतो यत्ते क्रूरं यदास्थितं तत्तऽआप्यायतां निष्ट्यायतामिति ॥९॥ तद्यत्क्रूरीकुर्वन्ति । यदास्थापयन्ति शान्तिरापस्तदद्भिः शान्त्या शमयतस्तदद्भिः संधत्तस्तत्ते शुध्यत्विति तन्मेध्यं कुरुतः शमहोभ्य इति जघनेन पशुं निनयतः ॥१०॥ तद्यत्क्रूरीकुर्वन्ति । यदास्थापयन्ति नेदेतदन्वशान्तान्यहोरात्राण्यसन्निति तस्मादहमहोभ्य इति जघनेन पशुं निनयतः ॥११॥ अथोत्तानं पशुं पर्यस्यन्ति । स तृणमन्तर्दधात्योषधे त्रायस्वेति वज्रो वाऽअसिस्तथो हैनमेष वज्रोऽसिर्न हिनस्त्यथासिनाभिनिदधाति स्वधिते मैनꣳ हिꣳसीरिति वज्रो वाऽअसिस्तथो हैनमेष वज्रोऽसिर्न हिनस्ति ॥१२॥ सा या प्रज्ञाताग्रिः । तयाभिनिदधाति सा हि यजुष्कृता मेध्या तद्यदग्र तृणस्य तत्सव्ये पाणौ कुरुतेऽथ यद्बुध्नं तद्दक्षिणेनादत्ते ॥१३॥ स यत्राच्छ्यति । यत एतल्लोहितमुत्पतति तदुभयतोऽनक्ति रक्षसां भागोऽसीति रक्षसाꣳ ह्येष भागो यदसृक् ॥१४॥ तदुपास्याभितिष्ठति । इदमहꣳ रक्षोऽभितिष्ठामीदमहꣳ रक्षोऽवबाधऽइदमहꣳ रक्षोऽधमं तमो नयामीति नयन्नेवैतन्नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यवबाधते तद्यदमूलमुभयतः परिछिन्नं भवत्यमूलं वाऽइदमुभयतः परिछिन्नꣳ रक्षोऽन्तरिक्षमनुचरति यथायं पुरुषोऽमूल उभयतः परिछिन्नोऽन्तरिक्षमनुचरति तस्मादमूलमुभयतः परिछिन्नं भवति ॥१५॥ अथ वपामु-

पीछे के प्राण को। इस प्रकार वह प्राणों को धारण कराती है अर्थात् उसको फिर जीवन देती है। "चरित्राँस्ते शुन्धामि" से पैरों को। पैरों पर खड़ा होता है अतः पैरों पर उसको खड़ा करती है, प्रतिष्ठा के लिए ॥६॥

अब जो जल बच रहे उससे या उसके आधे से अध्वर्यु और यजमान उसको स्पर्श करते हैं। सिर से लेकर। इस प्रकार वे उसमें प्राण धारण कराते हैं और उसको पुनर्जीवित करते हैं ॥७॥

इस प्रकार जहाँ कहीं वे उसको घाव लगाते हैं, वहाँ जलों से शान्ति दिलाते हैं। शान्ति-दायक जलों से शान्ति दिलाते हैं। वे उसको जलों से चंगा करते हैं ॥८॥

इन मन्त्रों से स्पर्श करते हैं— "मनस्तऽआप्यायतां वाक्तऽआप्यायतां प्राणस्तऽआप्यायतां चक्षुस्तऽआप्यायता ँ श्रोत्रं तऽआप्यायताम्" (यजु० ६।१५)—"तेरा मन चंगा हो, तेरी वाणी चंगी हो, तेरे प्राण चंगे हों, तेरी आँखें चंगी हों, तेरे कान चंगे हों।" इस प्रकार वे इसमें प्राण धारण कराते हैं—"यत्ते क्रूरं यदास्थितं तत्तऽआप्यायतां निष्ट्यायतां" (यजु० ६।१५)—"जो कुछ तेरा घाव हो, जो तुझे क्षति हो, वह सब पूरी हो जाय और तू मजबूत हो जा" ॥९॥

इस प्रकार जो कुछ घाव लगाते हैं, जहाँ कहीं चोट लगाते हैं, वहाँ शान्तिदायक जलों के द्वारा उसको चंगा कर देते हैं। उसको वे ठीक कर देते हैं। "तत्ते शुध्यतु" (यजु० ६।१५)— "इस प्रकार वे उसे शुद्ध करते हैं।" "शमहोभ्यः" (यजु० ६।१५)—"तेरे दिन कल्याणकर हों।" इससे जो जल बचता है उसको पशु के पिछले भाग में डाल देते हैं ॥१०॥

इस प्रकार जहाँ घाव करते हैं या जहाँ चोट पहुँचाते हैं वहाँ 'शमहोभ्यः' से जल को पशु के पिछले भाग में डाल देते हैं कि कहीं रात-दिन अहितकर न हो जायें ॥११॥

अब वे पशु को उलटा लिटा देते हैं। अब अध्वर्यु उसके ऊपर कुश रखता है, "ओषधे त्रायस्व" (यजु० ६।१५) से। असि वज्र है। इस प्रकार वह वज्र उस पशु को नहीं सताता। और असि को उसमें लगाता है, "स्वधिते मैनँ हिँसीः" (यजु० ६।१५)—"हे क्षुरा, तू इसको न सता। असि वज्र है।" इस प्रकार यह वज्र (असि) उसको हानि नहीं पहुँचाता ॥१२॥

जो प्रज्ञातधार है उसका प्रयोग करता है क्योंकि यजुः पढ़कर वह पवित्र की जा चुकी है। कुशा का जो अग्रभाग है उसे बायें हाथ में रखता है और जो नीचे का भाग है उसे दाहिने हाथ में ॥१३॥

जहाँ चमड़ा उचेला जाय या रक्त निकले वहाँ दोनों ओर से इसके नीचे के भाग में रुधिर लगा देता है, इस मन्त्र से—"रक्षसां भागोऽसि" (यजु० ६।१६)—"तू राक्षसों का भाग है।" यह जो रुधिर (असृक्) है वह राक्षसों का ही भाग है ॥१४॥

उसको फेंककर उस पर चढ़ता है—"इदमहँ रक्षोऽभितिष्ठामीदमहँ रक्षोऽवबाधऽइद-महँ रक्षोऽधमं तमो नयामि" (यजु० ६।१६)—"यह मैं राक्षसों को कुचलता हूँ। यह मैं राक्षसों को निकालता हूँ। यह मैं राक्षसों को सबसे निकृष्ट अँधेरे को प्राप्त कराता हूँ।" यज्ञ के द्वारा ही वह राक्षसों को निकाल भगाता है। यह कुश मूलरहित और दोनों ओर से कटा इसलिए रहता है कि राक्षस भी तो मूलरहित, दोनों ओर से परिच्छिन्न, अन्तरिक्ष में विचरा करता है, जैसे इस लोक में मनुष्य मूलरहित और दोनों ओर से परिच्छिन्न विचरता है; इसीलिए यह कुश मूलरहित होता है और दोनों ओर से परिच्छिन्न होता है ॥१५॥

त्विदन्ति । तया वपाश्रपण्यौ प्रोर्णौति घृतेन द्यावापृथिवी प्रोर्णुवाथामिति तदिमे द्यावापृथिवीऽऊर्जा रसेन भाजयत्यनयोरूर्जꣳ रसं दधाति ते रसवत्याऽउपजीवनीयेऽइमाः प्रजा उपजीवन्ति ॥१६॥ कार्ष्मर्यमय्यौ वपाश्रपण्यौ भवतः । यत्र वै देवा अग्रे पशुमालेभिरे तदुदीचः कृष्यमाणस्यावाङ्मेधः पपात स एष वनस्पतिरजायत तद्यत्कृष्यमाणस्यावाङपतत्तस्मात्कार्ष्मर्यस्तेनैवैनमेतन्मेधेन समर्धयति कृत्स्नं करोति तस्मात्कार्ष्मर्यमय्यौ वपाश्रपण्यौ भवतः ॥१७॥ तां परिवासयति । तां पशुश्रपणे प्रतपति तथो हास्यात्रापि शृता भवति पुनरुल्मुकमग्नीदादत्ते ते जघनेन चात्वालं यन्ति तऽआयन्त्यागहत्याहवनीयꣳ स एतत्तृणमध्वर्युराहवनीये प्रास्यति वायो वे स्तोकानामिति स्तोकानाꣳ हैषा समित् ॥१८॥ अथोत्तरतस्तिष्ठन्वपां प्रतपति । अत्येष्यन्वाऽएषोऽग्निं भवति दक्षिणतः परीत्य श्रपयिष्यंस्तस्माऽएवैतन्निह्नुते तथो हैनमेषोऽतियन्तमग्निर्न हिनस्ति तस्मादुत्तरतस्तिष्ठन्वपां प्रतपति ॥१९॥ तामन्तरेण यूपं चाग्निं च हरन्ति । तद्यत्समया न हरन्ति येनान्यानि हवीꣳषि हरन्ति नेदशृतया समया यज्ञं प्रसजामेति यद्व बाह्येन न हरन्त्यग्रेण यूपं बहिर्धा यज्ञात्कुर्युस्तस्मादन्तरेण यूपं चाग्निं च हरन्ति दक्षिणतः परीत्य प्रतिप्रस्थाता श्रपयति ॥२०॥ अथ स्रुवेणोपहत्याज्यम् । अध्वर्युर्वपामभिजुहोत्यग्निराज्यस्य वेतु स्वाहेति तथो हास्यैते स्तोकाः शृताः स्वाहाकृता आहुतयो भूत्वाग्निं प्राप्नुवन्ति ॥२१॥ अथाह स्तोकेभ्योऽनुब्रूहीति । स आग्नेयी स्तोकेभ्योऽन्वाह तद्यदाग्नेयी स्तोकेभ्योऽन्वाहेतःप्रदाना वै वृष्टिरितो ह्यग्निर्वृष्टिं वनुते स एतैः स्तोकैरेतांस्तोकान्वनुते तऽएते स्तोका वर्षन्ति तस्मादाग्नेयी स्तोकेभ्योऽन्वाह यदा शृता भवति ॥२२॥ अथाह प्रतिप्रस्थाता शृता प्रचरेति । स्रुचावादायाध्वर्युरतिक्रम्याश्राव्याह स्वाहाकृतिभ्यः प्रेष्येति वषट्कृते जुहोति ॥२३॥ हुत्वा वपामेवाग्रेऽभिघारयति । अथ पृषदाज्यं तद्ध ह चरकाध्वर्यवः पृषदाज्यमे-

अब वह वपा को निकालकर दोनों वपाश्रपणियों को ढक देता है इस मन्त्र से—"घृतेन द्यावापृथिवी प्रोर्णुवाथां" (यजु० ११।१६)—"द्यौ और पृथिवी को घी से ढको।" अर्थात् इस द्यौ और पृथिवी को शक्ति और रस से युक्त करता है। इनमें शक्ति और रस की स्थापना करता है। यह प्रजा इस ऊर्ज और रस के सहारे ही जीवित है ॥१६॥

ये दोनों वपा-पात्र कार्ष्मर्य लकड़ी के होते हैं। जब देव लोगों ने पहले पशु को पकड़ा (मारा) तो उसको ऊपर को खींचा, तब उसका मेध नीचे को गिर पड़ा। उससे वनस्पति उत्पन्न हुआ। और चूंकि यह खिचा और मेध नीचे को गिरा, इससे कार्ष्मर्य वृक्ष हुआ। इसी मेध से वह इसको पूरा करता है। इसीलिए वपा-पात्र कार्ष्मर्य लकड़ी के होते हैं ॥१७॥

उस वपा को चारों ओर से काटता है और उसको पशुश्रपण में पकाता है। इस प्रकार यह पक जाता है। अब आग्नीध्र एक जलती लकड़ी लेता है। वे चात्वाल के पीछे जाते और आहवनीय की ओर चलते हैं। अध्वर्यु आहवनीय में उस तृण को डाल देता है—"वायो वे स्तोकानम्" (यजु० ६।१६)—"हे वायो, इन बूंदों को लो," क्योंकि यह उन बूंदों को जलाने-वाला है ॥१८॥

अब उत्तर को खड़ा होकर वपा को तपाता है। उसे अग्नि के पास होकर गुजरना है और दक्षिण की ओर चलकर पकाना है। इससे वह उसको प्रसन्न करता है और इस प्रकार प्रसन्न होकर अग्नि उसको हानि नहीं पहुँचाता। इसलिए उत्तर की ओर वपा को पकाता है ॥१९॥

उसको यूप और अग्नि के बीच में ले जाते हैं। इसको वेदी के बीच में होकर क्यों नहीं ले जाते जहाँ अन्य हवियों को ले जाते हैं? इसलिए कि कहीं बे-पकी वपा के साथ इसका संसर्ग न हो जाय। यूप के आगे बाहर की ओर क्यों नहीं ले जाते? यदि ऐसा करें तो यज्ञ से बहिष्कृत हो जाय। इसलिए यूप और अग्नि के बीच से ले जाते हैं। दक्षिण की ओर जाकर प्रतिप्रस्थाता उसको पकाता है ॥२०॥

अध्वर्यु स्रुवा में घी लेकर छोड़ता है—"अग्निराज्यस्य वेतु स्वाहा" (यजु० ६।१६)—"अग्नि घी को स्वीकार करे।" इस प्रकार स्वाहा-युक्त पकी हुई आहुतिएँ अग्नि को पहुँचती हैं ॥२१॥

अब वह (मैत्रावरुण से) कहता है—स्तोकों (बूंदों) के लिए अनुवाक कहो। अब वह आग्नेय मन्त्रों को स्तोकों के लिए पढ़ता है। स्तोकों के लिए आग्नेय मन्त्रों के अनुवाक क्यों पढ़ता है? इसलिए कि इसी (पृथिवी) के दान से वृष्टि होती है। अग्नि यहीं से वृष्टि को लेती है। यही बूंदें बरसती हैं जो यहाँ ली जाती हैं। इसलिए अग्नि के मन्त्रों से. अनुवाक से बूंदों की प्रशंसा में बोले जाते हैं। जब पक जाय तब—॥२२॥

प्रतिप्रस्थाता कहता है 'पक गया, आगे चलो।' अध्वर्यु दो स्रुचों को लेकर, आगे चलकर 'श्रौषट्' कहता है; 'स्वाहा-कृति को करो।' ऐसा कहकर वषट्कार करके घी की आहुति देता है ॥२३॥

आहुति देकर पहले वपा को और फिर पृषद् घी को अभिघार करता है। चरकाध्वर्यु

वाग्रेऽभिघारयन्ति प्राणः पृषदाज्यमिति वदन्तस्तदु ह याज्ञवल्क्यं चरकाध्वर्युरनु-
व्याजहारैवं कुर्वन्तं प्राणं वाऽअयमन्तरगादध्वर्युः प्राण एनᳪं हास्यतीति ॥२४॥
स ह स्म बाहूऽअन्ववेक्ष्याह । इमौ पलितौ बाहू क्व स्विद्ब्राह्मणस्य वचो ब-
भूवेति न तदाद्रियेतोत्तमो वाऽएष प्रयाजो भवतीदं वै हविर्यज्ञ उत्तमे प्रयाजे
ध्रुवामेवाग्रेऽभिघारयति तस्यै हि प्रथमावाज्यभागौ होष्यन्भवति वपां वाऽअत्र
प्रथमाᳪं होष्यन्भवति तस्माद्वपामेवाग्रेऽभिघारयेदथ पृषदाज्यमथ यत्पशुं नाभि-
घारयति नेदसृतमभिघारयाणीत्येतद्वास्य सर्वः पशुरभिघारितो भवति यद्वपाम-
भिघारयति तस्माद्वपामेवाग्रेऽभिघारयेदथ पृषदाज्यम् ॥२५॥ अथाज्यमुपस्तृणीते ।
अथ हिरण्यशकलमवदधात्यथ वपामवद्यन्नाहाग्नीषोमाभ्यां छागस्य वपायै मेदसो
ऽनुब्रूहीत्यथ हिरण्यशकलमवदधात्यथोपरिष्टाद्द्विराज्यस्याभिघारयति ॥२६॥ तद्य-
द्धिरण्यशकलावभितो भवतः । घ्नन्ति वाऽएतत्पशुं यदग्नौ जुह्वत्यमृतमायुर्हिरण्यं
तदमृतऽआयुषि प्रतितिष्ठति तथात उदेति तथा संजीवति तस्माद्धिरण्यशकलाव-
भितो भवत आश्राव्याहाग्नीषोमाभ्यां छागस्य वपां मेदः प्रेष्येति न प्रस्थितमि-
त्याह प्रसुते प्रस्थितमिति वषट्कृते जुहोति ॥२७॥ हुत्वा वपाᳪं समीच्यौ । व-
पाश्रपण्यौ कृत्वानुप्रास्यति स्वाहाकृतेऽऊर्ध्वनभसं मारुतं गच्छतमिति नेदिमेऽअमु-
या सतो याभ्यां वपामशिश्रपामेति ॥२८॥ तद्यद्वपया चरन्ति । यस्यै वै देवतायै
पशुमालभन्ते तामेवैतद्देवतामेतेन मेधेन प्रीणाति सैषा देवतैतेन मेधेन प्रीता
शान्तोत्तराणि हवीᳪंषि अप्यमाणान्युपरमति तस्माद्वपया चरन्ति ॥२९॥ अथ चा-
त्वाले मार्जयन्ते । क्रूरं वाऽएतत्कुर्वन्ति यत्संज्ञपयन्ति यद्विशासति शान्तिरापस्त-
दद्भिः शान्त्या शमयन्ते तदद्भिः संदधते तस्माच्चात्वाले मार्जयन्ते ॥३०॥ ब्राह्मणम्
॥३ [८.२.]॥ ॥

यद्देवत्यः पशुर्भवति । तद्देवत्यं पुरोडाशमनुनिर्वपति तद्यत्पुरोडाशमनुनिर्व-

पृषदाज्य को पहले अभिघार करते हैं, क्योंकि प्राण पृषदाज्य है। एक चरकाध्वर्यु ने याज्ञवल्क्य को ऐसा करने के लिए धिक्कारा कि इस अध्वर्यु ने प्राण को निकाल दिया। प्राण इसको छोड़ देगा ॥२४॥

परन्तु उसने अपने बाहुओं की ओर देखकर कहा, 'ये भुजाएँ पल गईं (मैं बुड्ढा हो गया)। इस ब्राह्मण की वाणी को क्या हुआ ?' परन्तु इसकी परवाह न करे। यह उत्तम प्रयाज है। यह हविर्यज्ञ है। अन्तिम प्रयाज में पहले ध्रुवा में घी डालता है, दो आज्य-भागों की आहुति के लिए। इस समय पहले वह वपा की आहुति देगा। इसलिए पहले वपा का अभिघार करेगा, फिर पृषदाज्य का। यदि वह सम्पूर्ण पशु का अभिघार नहीं करता कि कहीं बिन-पके का अभिघार न हो जाय, तो भी वपा का अभिघार करने से सम्पूर्ण पशु का अभिघार हो ही जाता है। इसलिए पहले वपा का अभिघार करना चाहिए, फिर पृषदाज्य का ॥२५॥

अब (जुहू में) पहले आज्य की एक तह लगाता है। फिर उसमें सोने का एक टुकड़ा डालता है। फिर वपा को काटकर होता से कहता है, 'अग्नि और सोम के अनुवाक कहो। बकरे के वपा और मेद के लिए।' अब वह सोने के टुकड़े को वपा पर रखता है और घी से दो बार अभिघार करता है ॥२६॥

दोनों ओर सोने के टुकड़े इसलिए रक्खे जाते हैं कि जब अग्नि में पशु की आहुति देते हैं तो उसको मारते हैं। यह जो सोना है वह अमर जीवन है। इस प्रकार उसको अमर जीवन में स्थापित करता है। इस प्रकार वह वहाँ से उठता है। इस प्रकार जीवित होता है। इसलिए सोने के टुकड़ों को दोनों ओर रखते हैं। अब वह श्रौषट् कहकर (मैत्रावरुण से) कहता है, 'अग्नि और सोम के लिए बकरे के वपा और मेद को दे।' इस स्थान पर वह 'प्रस्थितन्' (उपस्थित है) नहीं कहता। ऐसा तो सोम के निचोड़ने पर कहा जाता है। वषट्कार करके आहुति देता है ॥२७॥

वपा की आहुति देकर दोनों वपाश्रपणियों को फेंक देता है इस मन्त्र से— "स्वाहा-कृतेऽऊर्ध्वनभसं मारुतं गच्छतम्" (यजु० ६।१६)—"स्वाहा से युक्त होकर मरुत्-सम्बन्धी ऊर्ध्वनभस् को जाओ।" वह ऐसा इसलिए करता है कि दोनों जिन पर वपा पकाई गई हैं व्यर्थ न जायँ ॥२८॥

वपा से क्यों काम लेते हैं? इसलिए कि जिस देवता के लिए पशु का आलभन किया जाता है उसी देवता को उसी पशु के मेध से प्रसन्न करता है। वही देवता उस पशु के मेध से प्रसन्न होकर अन्य हवियों के पकने की प्रतीक्षा करता है। इसलिए वपा से काम लिया जाता है ॥२९॥

अब चात्वाल पर मार्जन करते हैं। जब उसे काटते हैं तो वह घायल हो जाता है। जल शान्ति है। इसलिए जल से शान्त करते हैं या जल से चंगा करते हैं। इसलिए वह चात्वाल पर मार्जन करते हैं ॥३०॥

अध्याय ८—ब्राह्मण ३

जिस देवता के लिए पशु होता है उसी देवता के लिए पीछे से पुरोडाश बनाया जाता है।

पति सर्वेषां वाऽएष पशूनां मेधो यद्व्रीहियवौ तेनैवैनमेतन्मेधेन समर्धयति कृ-
त्स्नं करोति तस्मात्पुरोडाशमनुनिर्वपति ॥१॥ अथ यद्वपया प्रचर्य । एतेन पुरो-
डाशेन प्रचरति मध्यतो वाऽइमां वपामुत्खिदन्ति मध्यत एवैनमेतेन मेधेन स-
मर्धयति कृत्स्नं करोति तस्माद्वपया प्रचर्यैतेन पुरोडाशेन प्रचरन्त्येष न्वेवैतस्य
बन्धुर्यत्र क्व चैष पशुं पुरोडाशोऽनुनिरुप्यते ॥२॥ अथ पशुं विशास्ति । त्रिः प्र-
च्यावयतात्त्रिःप्रच्युतस्य हृदयमुत्तमं कुरुतादिति त्रिवृद्धि यज्ञः ॥३॥ अथ शमिता-
रꣳ सꣳशास्ति । यद्वा पृच्छाच्छृतꣳ हविः शमिता३रिति शृतमित्येव ब्रूतान्न शृतं
भगवो न शृतꣳ हीति ॥४॥ अथ जुह्वा पृषदाज्यस्योपहत्य । अध्वर्युरुपनिष्क्रम्य
पृच्छति शृतꣳ हविः शमिता३रिति शृतमित्याह तद्देवानामित्युपाꣳश्वध्वर्युः ॥५॥
तद्यत्पृच्छति । शृतं वै देवानाꣳ हविर्नाशृतꣳ शमिता वै तद्वेद यदि शृतं वा भ-
वत्यशृतं वा ॥६॥ तद्यत्पृच्छति । शृतेन प्रचराणीति तद्यच्छृतं भवति शृतमेव
देवानाꣳ हविर्भवति शृतं यजमानस्यानेना अध्वर्युर्भवति शमितरि तदेनो भवति
त्रिष्कृत्वः पृच्छति त्रिवृद्धि यज्ञोऽथ यदाह तद्देवानामिति तद्धि देवानां यच्छृतं त-
स्मादाह तद्देवानामिति ॥७॥ स हृदयमेवाग्रेऽभिघारयति । आत्मा वै मनो हृ-
दयं प्राणः पृषदाज्यमात्मन्येवैतन्मनसि प्राणं दधाति तथैतज्जीवमेव देवानाꣳ ह-
विर्भवत्यमृतममृतानाꣳ ॥८॥ सोऽभिघारयति । सं ते मनो मनसा सं प्राणः प्रा-
णेन गच्छतामिति न स्वाहाकरोति न ह्येषाहुतिरुद्वासयन्ति पशुम् ॥९॥ तं जघ-
नेन चात्वालमन्तरेण यूपं चाग्निं च हरन्ति । तद्यत्समया न हरन्ति येनान्यानि
हवीꣳषि हरन्ति शृतꣳ सन्तं नेदङ्गशो विकृत्तेन क्रूरीकृतेन समया यज्ञं प्रसजामे-
ति यदु बाह्येन न हरन्त्यग्रेण यूपं बहिर्धा ह यज्ञात्कुर्युस्तस्मादन्तरेण यूपं चा-
ग्निं च हरन्ति दक्षिणतो निधाय प्रतिप्रस्थातावद्यति प्लक्षशाखा उत्तरबर्हिर्भवन्ति
ता अध्यवद्यति तद्यत्प्लक्षशाखा उत्तरबर्हिर्भवन्ति ॥१०॥ यत्र वै देवाः । अग्रे प-

पीछे से पुरोडाश इसलिए बनाते हैं कि जो धान और जौ हैं वे वस्तुतः सब पशुओं का मेध है। इसी मेध से वह इस पशु को चंगा करता है या पूरा करता है। इसीलिए वह पीछे से पुरोडाश बनाता है ।।१।।

वपा को काम में लाकर पुरोडाश क्यों बनाते हैं? इसलिए कि पशु के बीच से ही तो वपा को निकालते हैं। मध्य में ही इसको मेध द्वारा चंगा करते हैं या पूरा करते हैं। इसीलिए वपा को काम में लाकर तब पुरोडाश को काम में लाते हैं। इनका सम्बन्ध हर जगह एक-सा ही है। जहाँ कहीं पशु होता है वहीं पुरोडाश भी होता है ।।२।।

अब पशु (पशुता) को काटता हैं। और कहता है, 'तीन बार घूमो और तीन बार घूमे हुए के हृदय को ऊपर उठाओ।' क्योंकि यज्ञ त्रिवृत् (तीन वाला) होता है ।।३।।

अब शमिता (काटनेवाला—कसाई) को आदेश देता है 'यदि कोई पूछे कि हे शमिता, हवि पक गया?' तो कहना 'पक गया'; यह न कहना कि 'श्रीमान् जी पक गया' या 'पक तो गया' ।।४।।

अब जुहू से पृषदाज्य को लेकर अध्वर्यु आगे बढ़कर पूछता है, 'हे शमिता, हवि पका?' वह कहता है 'पका।' अध्वर्यु चुपके से कहता है, 'यह देवताओं का है' ।।५।।

यह इसलिए पूछता है कि देवताओं का हवि पका हुआ होता है, बे-पका नहीं। शमिता इसको जानता है कि पका है या नहीं पका है ।।६।।

वह पूछता इसलिए है कि वह समझता है कि मैं पके हुए को काम में लाऊँ। और यदि बे-पका हो तो देवों का हवि पका होता है और यजमान की अपेक्षा से पका ही होता है। अध्वर्यु निर्दोष हो जाता है। दोष शमिता का रहता है। वह तीन बार पूछता है क्योंकि यज्ञ तिहरा होता है। 'यह देवों का है' ऐसा इसलिए कहता है कि जो पका है वह देवों का है। इसलिए वह कहता है कि यह देवों का है ।।७।।

पहले वह हृदय का अभिघार करता है, क्योंकि 'हृदय' मन और आत्मा है, पृषदाज्य प्राण है। इस प्रकार वह आत्मा और मन में प्राण धारण कराता है। इस प्रकार देवों का हवि जीव होता है, अमृतों का अमृत ।।८।।

वह इस मन्त्र से अभिघार करता है—"सं ते मनो मनसा सं प्राणः प्राणेन गच्छताम्" (यजु० ६।१८)—"तेरा मन मन से मिले, प्राण प्राण से।" वह 'स्वाहा' नहीं कहता क्योंकि हवि तो हैं नहीं। वह पशु को हटा देता है ।।९।।

वे इसको चात्वाल के पीछे से यूप और अग्नि के बीच से ले जाते हैं। जब यह पका हुआ है तो फिर उसे मध्य से क्यों नहीं ले जाते जैसा कि अन्य हवियों को ले जाते हैं? इसका कारण यह है कि कहीं मध्य में इसका संसर्ग अङ्गों से विकृत (कटा-कटाया) और घायल से न हो जाय। बाहर से इसलिए नहीं ले जाते कि कहीं यज्ञ से बहिष्कृत न हो जाय। इसलिए वे यूप और अग्नि के बीच से ले जाते हैं। दक्षिण की ओर रखकर प्रतिप्रस्थाता टुकड़े-टुकड़े करता है। पलाश की शाखाएँ ऊपरी बर्हि का काम देती हैं। उन्हीं पर काटता है। पलाश शाखा में ऊपरी बर्हि का काम क्यों देती हैं? (इसका उत्तर आगे पढ़िये) ।।१०।।

शुमालेभिरे तं त्वष्टा शीर्षतोऽग्रेऽभ्युवामोतीवं चिन्नालभेरन्निति त्वष्टुर्हि पशवः स एष शीर्षन्मस्तिष्कोऽनूक्यश्च मज्जा तस्मात्स वान्त-इव त्वष्टा ह्येतमभ्यवमत्तस्मात्तं नाश्नीयात्त्वष्टुर्ह्येतदभिवान्तम् ॥११॥ तस्यावाङ् मेधः पपात । स एष वनस्पतिरजायत तं देवाः प्रापश्यंस्तस्मात्प्रक्ष्यः प्रक्ष्यो ह वै नामैतद्यत्प्लक्ष इति तेनैवैनमेतन्मेधेन समर्धयति कृत्स्नं करोति तस्मात्प्लक्षशाखा उत्तरबर्हिर्भवति ॥१२॥ अथाऽयमुपस्तृणीते । जुह्वां चोपभृति च वसाहोमहवन्यां समवत्तधान्यामथ हिरण्यशकलाववदधाति जुह्वां चोपभृति च ॥१३॥ अथ मनोतायै हविषोऽनुवाच आह । तद्यन्मनोतायै हविषोऽनुवाच आह सर्वा ह वै देवताः पशुमालभ्यमानमुपसंगच्छन्ते मम नाम ग्रहीष्यति मम नाम ग्रहीष्यतीति सर्वासां हि देवतानां हविः पशुस्तासां सर्वासां देवतानां पशौ मनांस्योतानि भवन्ति तान्येवैतत्प्रीणाति तथो हामोघाय देवतानां मनांस्युपसंगतानि भवन्ति तस्मान्मनोतायै हविषोऽनुवाच आह ॥१४॥ स हृदयस्यैवाग्रेऽवद्यति । तद्यन्मध्यतः सतो हृदयस्याग्रेऽवद्यति प्राणो वै हृदयमतो ह्ययमूर्ध्वः प्राणः संचरति प्राणो वै पशुर्यावद्ध्येव प्राणेन प्राणिति तावत्पशुरथ यदास्मात्प्राणोऽपक्रामति दार्विव तर्हि भूतोऽनर्थ्यः शेते ॥१५॥ हृदयमु वै पशुः । तदस्यात्मन एवाग्रेऽवद्यति तस्माद्यदि किंचिदवदानं हीयेत न तदाद्रियेत सर्वस्य हैवास्य तत्पशोरवत्तं भवति यद्धृदयस्याग्रेऽवद्यति तस्मान्मध्यतः सतो हृदयस्यैवाग्रेऽवद्यत्यथ यथापूर्वम् ॥१६॥ अथ जिह्वायै । सा हीयं पूर्वार्धात्प्रतिष्ठत्यथ वक्षसस्तद्धि ततोऽथैकचरस्य दोष्णोऽथ पार्श्वयोरथ तनिम्नोऽथ वृक्कयोः ॥१७॥ गुदं त्रेधा करोति । स्थविमोपयड्भ्यो मध्यं जुह्वां द्वेधा कृत्वावद्यत्यणिम त्र्यङ्गेभ्य एकचरायै श्रोणेरेतावन्नु जुह्वामवद्यति ॥१८॥ अथोपभृति । त्र्यङ्ग्यस्य दोष्णो गुदं द्वेधा कृत्वावद्यति त्र्यङ्ग्यायै श्रोणेरथ हिरण्यशकलाववदधात्यथोपरिष्टादाज्यस्याभिघारयति ॥१९॥ अथ वसाहोमं गृ-

जब देवों ने पहले पशु का आलभन किया तो त्वष्टा ने उसके सिर पर थूक दिया यह सोचकर कि 'वे उसको छुएँगे नहीं।' क्योंकि पशु तो त्वष्टा के ही हैं। यह सिर में मस्तिष्क और गर्दन में मज्जा बन गया। इसलिए वह थूक है, क्योंकि त्वष्टा ने उस पर वमन कर दिया। इसलिए उसको न खाना चाहिए क्योंकि यह त्वष्टा का वमन किया हुआ है ॥११॥

इसका मेध नीचे गिर पड़ा; उससे एक वृक्ष उगा। उसको देवों ने देखा। इसलिए प्रख्य हुआ। प्रख्य ही प्लक्ष है। उसी मेध से वह उसको चंगा करता है और पूर्ण करता है। इसलिए प्लक्ष शाखाएँ ऊपर के बर्हि का काम देती हैं ॥१२॥

अब जुहू और उपभृति दोनों में घी एक तह लगाता है, वसा-होम-हवनी और समवत्त-धानी में भी। जुहू और उपभृति दोनों में सोने के टुकड़े भी रखता है ॥१३॥

अब वह (होता से) कहता है कि मनोता के लिए हवि पर अनुवाक कह। हवि पर मनोता के लिए अनुवाक कहलवाने का तात्पर्य यह है—जब पशु का आलभन करते हैं तो सब देवता घिर आते हैं कि मेरा नाम लेगा, मेरा नाम लेगा। क्योंकि पशु तो सभी देवताओं की हवि हैं।[1] सभी देवताओं के मन उस पशु में लगे रहते हैं। उनके उन मनों को वह प्रसन्न करता है जिसमें से देवों के मन वहाँ व्यर्थ न आवें। इसलिए वह मनोता के लिए हवि पर अनुवाक कहलवाता है ॥१४॥

पहले वह हृदय के टुकड़े करता है। हृदय तो बीच में है। फिर वह पहले इसके टुकड़े क्यों करता है? इसलिए कि हृदय प्राण है, यहीं से प्राण ऊपर को जाता है। पशु भी प्राण है क्योंकि जब तक साँस लेता है तभी तक पशु है, और जब प्राण निकल जाता है तो लकड़ी के समान निरर्थक पड़ा रहता है ॥१५॥

हृदय ही पशु है। इसलिए वह पहले इसके आत्मा (धड़) को ही काटता है। इसलिए यदि कोई टुकड़ा रह भी जाय तो परवाह न करनी चाहिए। क्योंकि पहले हृदय को काटने से पशु का सम्पूर्ण ही कट जाता है। इसलिए हृदय के बीच में रहते हुए भी पहले उसी को काटते हैं, फिर यथापूर्व ॥१६॥

फिर जिह्वा को, क्योंकि वह अगले भाग में सबसे आगे है। फिर छाती क्योंकि वह भी वैसी ही है। फिर साथ चलनेवाला अर्थात् बायाँ अगला पैर। फिर बगल, फिर यकृत, फिर वृक्क ॥१७॥

गुदा के तीन टुकड़े करता है। स्थूल भाग पिछली आहुतियों के लिए (रख छोड़ता है)। बीच के भाग को जुहू में काटकर दो भाग करता है। और सबसे सूक्ष्म भाग को त्र्यंग्य के लिए। फिर एक घर श्रोणि को। इतने को जुहू में काटकर रखता है ॥१८॥

अब त्र्यंग्य के अगले भाग को उपभृति में रखता है, गुदा के दो टुकड़े काटकर, और त्र्यंग्य की श्रोणि के। उन पर दो सोने के टुकड़े रखता है। उन पर घी छोड़ता है ॥१९॥

१. देवत्व और पशुत्व का मेल असम्भव है। वस्तुतः हृदय की दुर्भावना, जिह्वा की कटुता एवं अंग-प्रत्यंग की अपवित्रता को भस्म करना ही देवत्व है। प्रस्तुत बीभत्स व्याख्या सर्वथा प्रक्षिप्त है। —स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती

ह्णाति । रेडसीति लेलयेव हि यूस्तस्मादाह रेडसीत्यग्निष्ट्वा श्रीणात्वित्यग्निर्ह्येत-
च्छ्रपयति तस्मादाहाग्निष्ट्वा श्रीणात्वित्यापस्त्वा समरिणन्नित्यापो ह्येतमङ्गेभ्यो रसं
सम्भरन्ति तस्मादाहापस्त्वा समरिणन्निति ॥२०॥ वातस्य त्वा ध्राज्याऽइति । अन्त-
रिक्षं वाऽअयमनुपवते योऽयं पवतेऽन्तरिक्षाय वै गृह्णाति तस्मादाह वातस्य त्वा
ध्राज्याऽइति ॥२१॥ पूष्णा रंह्याऽइति । एष वै पूष्णो रंहिरेतस्माऽउ हि गृ-
ह्णाति तस्मादाह पूष्णो रंह्याऽइति ॥२२॥ ऊष्मणो व्यथिषदिति । एष वाऽऊ-
ष्मैतस्माऽउ हि गृह्णाति तस्मादाहोष्मणो व्यथिषदित्यथोपरिष्टादाज्यस्याभिघा-
रयति ॥२३॥ ॥ शतम् २१०० ॥ ॥ अथ पार्श्वेन वासिना वा प्रयौति । प्रयुत द्वे-
ष इति तन्नाष्ट्रा एवैतद्रक्षांस्यतोऽपहन्ति ॥२४॥ अथ यद्यूष्परिशिष्यते । तत्स-
मवत्तधान्यामानयति तद्धृदयं प्रास्यति जिह्वां वक्षस्तनिम मतस्ने वनिष्टुमथोपरि-
ष्टादाज्यस्याभिघारयति ॥२५॥ तद्यद्धिरण्यशकलावभितो भवतः । घ्नन्ति वाऽए-
तत्पशुं यदग्नौ जुह्वत्यमृतमायुर्हिरण्यं तदमृतऽआयुषि प्रतितिष्ठति तथात उदेति
तथा संजीवति तस्माद्धिरण्यशकलावभितो भवतः ॥२६॥ अथ यद्दक्षिणायावद्यति ।
सव्यस्य च दोष्णो दक्षिणायाश्च श्रोणेर्दक्षिणस्य च दोष्णः सव्यायाश्च श्रोणेस्तस्मा-
दयं पशुरक्षणया पदो हरत्यथ यत्सम्यगवद्येत्समीचो हैवायं पशुः पदो हरेत्तस्मा-
दक्षणयावद्यत्यथ यन्न शीर्ष्णोऽवद्यति नांसयोर्नानूकस्य नापरसक्थयोः ॥२७॥
असुरा ह वाऽअग्रे पशुमालेभिरे । तद्देवा भीषा नोपावेयुस्तान्हेयं पृथिव्युवाच
मैतदादृढ्वमहं व एतस्याध्यक्षा भविष्यामि यथा-यथैतऽएतेन चरिष्यन्तीति ॥२८॥
सा होवाच । अन्यतरामेवाहुतिमहौषुरन्यतरां पर्यशिषन्निति स यां पर्यशिंषं-
स्तानीमान्यवदानानि ततो देवाः स्विष्टकृते त्र्यङ्गाण्यपाभजंस्तस्मात्त्र्यङ्गाण्ययथासुरा
अवाद्यञ्छीर्ष्णोंऽसयोरनूकस्यापरसक्थयोस्तस्मात्तेषां नावद्येद्यन्न्वेव त्वष्टानूकमभ्य-
वमत्तस्मादनूकस्य नावद्येदथाहाग्नीषोमाभ्यां छागस्य हविषोऽनुब्रूहीत्याश्राव्या-

अब वसाहोम को लेता है, इस मन्त्र से–"रेडसि" (यजु० ६।१८)–"तू काँपता है।" वह वसा काँपती-सी है इसलिए कहा 'रेडसि'। "अग्निष्ट्वा श्रीणातु" (यजु० ६।१८)—"अग्नि तुझको पकावे।" अग्नि ही उसको पकाता है इसलिए कहा कि 'अग्नि तुझे पकावे।' "आपस्त्वा समरिणन्" (यजु० ६।१८)—"जल तुझको मिलावे।" जल ही इन अंगों से रस को इकट्ठा करके मिलाते हैं। इसलिए कहा कि 'जल तुझे मिलावे' ॥२०॥

"वातस्य त्वा ध्राज्ये" (यजु० ६।१८)—"हवा तुझे हिलावे।" यह जो वायु है वह अन्तरिक्ष में बहता है। वायु के लिए ही इसको लेता है, इसलिए कहता है 'तू हवा के लिए है" ॥२१॥

"पूष्णो रँह्या" (यजु० ६।१८)— "पूषा के वेग के लिए।" वह वायु पूषा का वेग है। उसी के लिए यह ग्रहण करता है, इसलिए कहता है कि 'पूषा के वेग के लिए' ॥२२॥

"ऊष्मणो व्यथिषत्" (यजु० ६।१८)–"ऊष्ण से तपाया जाता है।" यह वायु उष्ण है। उसी के लिए ग्रहण करता है। इसलिए कहता है कि 'उष्ण से तपाया गया।' इस पर दो बार घी लगाता है ॥२३॥ [शतम् २१००]

पार्श्व या वासि (छुरियों के नाम हैं) से मिलाता है, इस मन्त्र से—"प्रयुतं द्वेषः" (यजु० ६।१८)–"द्वेष हट गया।" इससे वह यहाँ दुष्ट राक्षसों को हटाता है ॥२४॥

अब जो हवि (यूप) बचता है उसे समवत्तधानी में लाता है। उसमें हृदय, जीभ, छाती, तनिम, मतस्न (गुर्दे), वनिष्ठ को डाल देता है। फिर उस पर दो बार घी लगाता है ॥२५॥

दोनों ओर सोने के टुकड़ों को इसलिए रखता है कि जब पशु की आग में आहुति देते हैं तो उसको मारते हैं। सोना अमृत-जीवन है। इस प्रकार उसको अमृत-जीवन में स्थापित करता है। इसी से वह उत्पन्न होता है, इसी से जीता है। इसलिए दोनों ओर सोने का टुकड़ा होता है ॥२६॥

और चूंकि तिरछा काटता है। दाहिनी टाँग और बायाँ चूतड़, तथा बाईं टाँग और दाहिना चूतड़, इसलिए यह पशु तिरछे पैर बढ़ता है। यदि सीधा काटता तो दोनों पैर साथ-साथ उठते हैं, इसलिए तिरछा काटता है। अब प्रश्न है कि सिर को क्यों नहीं काटता, न कन्धों को, न गर्दन को, न पिछली जाँघों को ? ॥२७॥

असुरों ने पहले पशु का आलभन किया था। देव डर के मारे उसके पास नहीं गये। पृथिवी ने उनसे कहा—'इसकी परवाह न करो। मैं जिस-जिस प्रकार ये इसको करेंगे, मैं इसकी साथी होऊँगी' ॥२८॥

उसने कहा—'एक आहुति इन्होंने दी। एक छोड़ दी। जिसको उन्होंने छोड़ दिया यह यही भाग हैं।' इस पर देवों ने तीन अंगों के अग्निस्विष्टकृत् के लिए अर्पण किया, इसलिए त्र्यङ्ग-आहुति हुई। तब असुरों ने सिर, कन्धों, गर्दन और पिछली जाँघों के टुकड़े किये। इसलिए इनको नहीं काटना चाहिए। चूंकि त्वष्टा ने गर्दन पर थूका था, इसलिए गर्दन के टुकड़े न करे। अब वह होता कहता है कि बकरे के हवि पर अग्नि-सोम के लिए अनुवाक कह। और श्रौषट् कहकर

ह्यग्नीषोमाभ्यां छागस्य हविः प्रेष्येति न प्रस्थितमित्याह प्रसुते प्रस्थितमिति ॥२९॥ अन्तरेणार्धर्चौ याज्यायै वसाहोमं जुहोति । इतो वाऽअयमूर्ध्वो मेध उत्थितो यमस्या इमाः प्रजा उपजीवन्त्यर्वाचीनं दिवो रसो वै वसाहोमो रसो मेधो रसेनैवैतद्रसं तीव्रीकरोति तस्मादयꣳ रसोऽद्यमानो न क्षीयते ॥३०॥ तद्यदन्तरेण । अर्धर्चौ याज्यायै वसाहोमं जुहोतीयं वाऽअर्धर्चोऽसौ द्यौरर्धर्चोऽन्तरा वै द्यावापृथिवीऽअन्तरिक्षमन्तरिक्षाय वै जुहोति तस्मादन्तरेणार्धर्चौ याज्यायै वसाहोमं जुहोति ॥३१॥ स जुहोति । घृतं घृतपावानः पिबत वसां वसापावानः पिबतान्तरिक्षस्य हविरसि स्वाहेत्येतेन वैश्वदेवेन यजुषा जुहोति वैश्वदेवं वाऽअन्तरिक्षं तद्यदेनेनेमाः प्रजाः प्राणत्यश्चोदानत्यश्चान्तरिक्षमनुचरन्ति तेन वैश्वदेवं वषट्कृते जुहोति,यानि जुह्वामवदानानि भवन्ति ॥३२॥ अथ जुह्वा पृषदाज्यस्योपघ्नन्नाह । वनस्पतयेऽनुब्रूहीत्याश्राव्याह वनस्पतये प्रेष्येति वषट्कृते जुहोति तद्यद्वनस्पतये जुहोत्येतमेवैतद्भागं यूपं भागिनं करोति सोमो वै वनस्पतिः पशुमेवैतत्सोमं करोति तद्यदन्तरेणोभेऽआहुती जुहोति तयोभयं व्याप्नोति तस्मादन्तरेणोभेऽआहुती जुहोति ॥३३॥ अथ यान्युपभृत्यवदानानि भवन्ति । तानि समानयमान आहाग्नये स्विष्टकृतेऽनुब्रूहीत्याश्राव्याहाग्नये स्विष्टकृते प्रेष्येति वषट्कृते जुहोति ॥३४॥ अथ यद्वसाहोमस्य परिशिष्यते । तेन दिशो व्याघारयति दिशः प्रदिश आदिशो विदिश उद्दिशो दिग्भ्यः स्वाहेति रसो वै वसाहोमः सर्वास्वेवैतद्दिक्षु रसं दधाति तस्मादयं दिशि दिशि रसोऽभिगम्यते ॥३५॥ अथ पशुं संमृशति । एतर्हि संमर्शनस्य कालोऽथ यत्पुरा समृशति यदि इमऽउपतिष्ठन्ते ते विमथिष्यन्तऽइति शङ्कमानो यद्यु विमाथान्न शङ्केतात्रैव संमृशेत् ॥३६॥ ऐन्द्रः प्राणः । अङ्गेऽअङ्गे निदीध्यदैन्द्र उदानोऽअङ्गेऽअङ्गे निधीत इति यदङ्गशो विकृत्तो भवति तत्प्राणोदानाभ्याꣳ संदधाति देव त्वष्टर्भूरि ते सꣳ-

वह (मैत्रावरुण से) कहता है कि 'अग्नि-सोम के लिए बकरे के हवि की प्रेरणा कर।' 'प्रस्थित' है ऐसा नहीं कहता। ऐसा तो सोम निचोड़ने पर कहा जाता है ॥२९॥

याज्य की दो आधी ऋचाओं के बीच में वसाहोम देता है। यहीं से मेघ ऊपर को उठा था,—पृथिवी का वह रस जिससे प्रजाएँ द्यौलोक के इस ओर जीती हैं। वसाहोम रस है, मेघ रस है। रस से रस को तीव्र करता है। इससे रस खाया जाकर क्षीण नहीं होता ॥३०॥

याज्य की दो अर्द्ध ऋचाओं के बीच में वसाहोम की आहुति क्यों दी जाती है? आधी ऋचा यह पृथिवी है। आधी ऋचा वह द्यौलोक है। द्यौ और पृथिवी के बीच में अन्तरिक्ष है। अन्तरिक्ष के लिए यह आहुति है। इसलिए याज्य की दो अर्द्ध ऋचाओं के बीच में वसाहोम की आहुति देता है ॥३१॥

इस मन्त्र से आहुति देता है —"घृतं घृतपावानः पिबत वसां वसापावानः पिबतान्तरिक्षस्य हविरसि स्वाहा" (यजु० ६।१९)—"घी के पीनेवालो, घी पियो। वसा के पीनेवालो, वसा पियो। तू अन्तरिक्ष की हवि है, स्वाहा।" इस यजुः से विश्वेदेवों को आहुति देता है। अन्तरिक्ष विश्वेदेवों का है। इस अन्तरिक्ष में प्रजा प्राण और उदान लेती हैं। इसलिए यह अन्तरिक्ष विश्वेदेवों का है। जुहू में जो कुछ टुकड़े रहते हैं उनसे वषट्कृत आहुति दी जाती है ॥३२॥

अब जुहू में पृषदाज्य लेकर (होता से) कहता है कि 'वनस्पति के लिए अनुवाक कह।' श्रौषट् कहकर वह (मैत्रावरुण से) कहता है कि 'वनस्पति के लिए प्रेरणा कर।' वषट्कार करने पर वह आहुति दे देता है। वह वनस्पति के लिए इसलिए आहुति देता है कि इस यूप वज्र को वह भागी बनाता है। सोम वनस्पति है। इस प्रकार वह पशु को सोम कर लेता है। दो आहुतियों के बीच में आहुति क्यों देता है? इस प्रकार वह दोनों को व्याप्त कर लेता है। इसलिए वह दो आहुतियों के बीच में आहुति देता है ॥३३॥

अब जो उपभृत के लिए टुकड़े होते हैं उनको साथ-साथ डालकर कहता है 'अग्नि-स्विष्टकृत् के लिए अनुवाक कहे।' श्रौषट् कहकर 'अग्नि स्विष्टकृत् के लिए प्रेरणा कर' ऐसा कहता है और वषट्कार के बाद आहुति दे देता है ॥३४॥

वसाहोम से जो बचता है उसे दिशाओं में फेंकता है, इस मन्त्र से—"दिशः प्रदिशऽआदिशो विदिशऽउद्दिशो दिग्भ्यः स्वाहा" (यजु ६।१९)—"वसाहोम रस है। सब दिशाओं में रस को पहुँचाता है। इसलिए पृथिवी पर सब दिशाओं में रस मिलता है" ॥३५॥

अब पशु का स्पर्श करता है। यही स्पर्श का समय है। चाहे पहले इस डर से ही छुआ हो कि राक्षस उपस्थित हैं, वे इसने नष्ट कर डाले, या इस प्रकार शंका न भी की हो तो भी इस समय छूना अवश्य चाहिए ॥३६॥

"ऐन्द्रः प्राणोऽअङ्गेऽअङ्गे निदीध्यदैन्द्रऽउदानोऽअङ्गेऽअङ्गे निधीतः" (यजु० ६।२०)—"प्राण इन्द्र-सम्बन्धी है। यह अंग-अंग में स्थापित है। उदान इन्द्र-सम्बन्धी है। यह अंग-अंग में स्थापित है।" जहाँ-जहाँ अङ्ग से काटा गया है वहाँ-वहाँ प्राण और उदान से संयुक्त करता है।

समेतु सलक्ष्मा यद्विषुरूपं भवातीति कृत्स्नवृतमेवैतत्करोति देवत्रा यत्तमवसे स-
खायोऽनु त्वा मातापितरो मदन्त्विति तद्यत्रैनमह्वौषीत्तदेनं कृत्स्नं कृत्वानुसमस्य-
ति सोऽस्य कृत्स्नोऽमुष्मिंल्लोकऽआत्मा भवति ॥३७॥ ब्राह्मणम् ॥४[८.३]॥ ॥

त्रीणि ह वै पशोरेकादशानि । एकादश प्रयाजा एकादशानुयाजा एकादशो-
पयजा दश पाण्या अङ्गुलयो दश पाद्या दश प्राणाः प्राण उदानो व्यान इत्ये-
तावान्वै पुरुषो यः परार्ध्यः पशूनां यꣳ सर्वेऽनु पशवः ॥१॥ तदाहुः । किं त-
द्यज्ञे क्रियते येन प्राणाः सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यः शिव इति ॥२॥ यदेव गुदं त्रेधा करो-
ति । प्राणो वै गुदः सोऽयं प्राङाततस्तमयं प्राणोऽनुसंचरति ॥३॥ स यदेव गु-
दं त्रेधा करोति । तृतीयमुपयड्भ्यस्तृतीयं जुह्वां तृतीयमुपभृति तेन प्राणाः सर्वे-
भ्योऽङ्गेभ्यः शिवः ॥४॥ स ह त्वेव पशुमालभेत । य एनं मेधमुपनयेद्यदि कृशः
स्याद्यद्गुदर्यस्य मेदसः परिशिष्येत तद्गुदे न्यृषेत्प्राणो वै गुदः सोऽयं प्राङाततस्त-
मयं प्राणोऽनुसंचरति प्राणो वै पशुर्यावद्ध्येव प्राणेन प्राणिति तावत्पशुरथ य-
दास्मात्प्राणोऽपक्रामति दार्वेव तर्हि भूतोऽनर्थ्यः शेते ॥५॥ गुदो वै पशुः । मे-
दो वै मेधस्तदेनं मेधमुपनयति यद्युऽअꣳसलो भवति स्वयमुपेत एव तर्हि मेधं
भवति ॥६॥ अथ पृषदाज्यं गृह्णाति । द्वयं वाऽइदꣳ सर्पिश्चैव दधि च द्वन्द्वं वै
मिथुनं प्रजननं मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते ॥७॥ तेनानुयाजेषु चरति । पशवो
वाऽअनुयाजाः पयः पृषदाज्यं तत्पशुष्वेवैतत्पयो दधाति तदिदं पशुषु पयो हितं
प्राणो हि पृषदाज्यमन्नꣳ हि पृषदाज्यमन्नꣳ हि प्राणः ॥८॥ तेन पुरस्तादनुयाजे-
षु चरति । स योऽयं पुरस्तात्प्राणस्तमेवैतद्दधाति तेन पश्चादुपयजति स योऽयं
पश्चात्प्राणस्तमेवैतद्दधाति ताविमाऽउभयतः प्राणौ हितौ यश्चायमुपरिष्टाद्यश्चाध-
स्तात् ॥९॥ तद्वाऽएतदेको द्वाभ्यां वषट्करोति । अध्वर्यवे च यश्चैष उपयजत्यथ
यद्यजत्तमुपयजति तस्मादुपयजो नामाथ यदुपयजति प्रैवैतज्जनयति पश्चाद्ध्युपयज-

"देव त्वष्टर्भूरि ते सँ्समेतु सलक्ष्मा यद् विषुरूपं भवाति" (यजु० ६।२०)—"हे त्वष्टा देव, तेरी शक्ति संयुक्त हो जिससे जो अलग-अलग रूप की चीज है वह एकरूप हो जाय।" इस प्रकार वह इसको पूरा चारों ओर से घेर देता है। "देवत्रा यन्तमवसे सखायोऽनु त्वा माता पितरो मदन्तु" (यजु० ६।२०)—"तेरे सखा, माता-पिता, देवलोक में जाते हुए तुझसे प्रसन्न हों।" जहाँ-जहाँ इसके अंगों की आहुति दी है वहाँ-वहाँ इसको पूरा करके समन्वय करता है जिससे परलोक में उसको पूरा शरीर मिले ।।३७।।

अध्याय ८—ब्राह्मण ४

पशुयाग में ग्यारह-ग्यारह के तीन होते हैं— ग्यारह प्रयाज, ग्यारह अनुयाज और ग्यारह उपयाज। दस हाथ की अँगुलियाँ, दस पैर की, दस प्राण, प्राण, व्यान और उदान। इतने मिलकर पुरुष होता है जो पशुओं में सबसे श्रेष्ठ है और पशु जिसके पीछे हैं ।।१।।

इस पर कहते हैं कि यज्ञ में क्या किया जाता है जिससे प्राण सब अंगों के लिए कल्याणकारी हो ।।२।।

गुदा के तीन भाग करता है। गुदा प्राण है (प्राण निकलने का स्थान है)। वहाँ से यह (पशु) फैलाता है और यह प्राण उसका संचार करता है ।।३।।

वह गुदा के तीन भाग करता है—एक-तिहाई उपयाज, एक-तिहाई जुहू में और एक-तिहाई उपभृत में। इस प्रकार प्राण सब अंगों के लिए कल्याणकारी होता है ।।४।।

केवल वही पशु का आलभन करे जो उसे मेधयुक्त कर सकता हो। यदि दुबला हो तो जो कुछ चर्बी वची वह गुदा में भर दे। गुदा प्राण है। वहाँ से यह (पशु) फैलता है और यह प्राण उसका संचार करता है। प्राण ही पशु है। जब तक प्राण रहता है तब तक वह पशु है। जब उससे प्राण निकल जाता है तो लकड़ी के समान वह व्यर्थ पड़ा रहता है ।।५।।

गुदा पशु है। चर्बी मेध है। इसमें मेध देता है। यदि यह पतली हो तो स्वयं ही मेध हो जाता है ।।६।।

अब पृषदाज्य को लेता है। यह दो प्रकार का है, घी भी और दही भी। द्वन्द्व का नाम है जोड़ा। प्रजनन का नाम भी जोड़ा है। इस प्रकार प्रजनन करता है ।।७।।

उससे अनुयाज में काम लेता है। पशु अनुयाज हैं। पृषदाज्य दूध है। इस प्रकार वह पशुओं में दूध धारण कराता है और इस प्रकार पशुओं में दूध रक्खा जाता है। प्राण पृषदाज्य है। अन्न पृषदाज्य है। अन्न प्राण है ।।८।।

इनको अनुयाज, में आहवनीय के सम्मुख काम में लाता है। इस प्रकार यह जो आगे प्राण है उसको (पशु में) रखता है। (प्रतिप्रस्थाता) इसी से पीछे की ओर उपयाज करता है। इसके द्वारा यह जो पीछे प्राण है उसको (पशु में) धारण कराता है। इस प्रकार दो प्राणों की प्रतिष्ठा होती है, एक ऊपर, दूसरी नीचे ।।९।।

यह एक (होता) दो के लिए वषट्कार करता है—एक तो अध्वर्यु के लिए और दूसरे उसके लिए जो उपयाज करता है (अर्थात् प्रतिप्रस्थाता के लिए)। और चूँकि यजन के बाद दी जाती है इसलिए इसका नाम उपयाज है। उपयाज करने में पीछे से उत्पत्ति होती है। स्त्रियों के

ति पश्चाद्धि योषायै प्रजाः प्रजायन्ते ॥१०॥ स उपयजति । समुद्रं गच्छ स्वाहेत्यापो वै समुद्र आपो रेतो रेत एवैतत्सिञ्चति ॥११॥ अन्तरिक्षं गच्छ स्वाहेति । अन्तरिक्षं वाऽअनु प्रजाः प्रजायन्तेऽन्तरिक्षमेवैतदनु प्रजनयति ॥१२॥ देवꣳ सवितारं गच्छ स्वाहेति सविता वै देवानां प्रसविता सवितृप्रसूत एवैतत्प्रजनयति ॥१३॥ मित्रावरुणौ गच्छ स्वाहेति । प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ प्राणोदानावेवैतत्प्रजासु दधाति ॥१४॥ अहोरात्रे गच्छ स्वाहेति । अहोरात्रे वाऽअनु प्रजाः प्रजायन्तेऽहोरात्रेऽएवैतदनु प्रजनयति ॥१५॥ छन्दाꣳसि गच्छ स्वाहेति । सप्त वै छन्दाꣳसि सप्त ग्राम्याः पशवः सप्तारण्यास्तानेवैतदुभयान्प्रजनयति ॥१६॥ द्यावापृथिवी गच्छ स्वाहेति । प्रजापतिर्वै प्रजाः सृष्ट्वा ता द्यावापृथिवीभ्यां पर्यगृह्णात्ता इमा द्यावापृथिवीभ्यां परिगृहीतास्तथोऽएवैष एतत्प्रजाः सृष्ट्वा ता द्यावापृथिवीभ्यां परिगृह्णाति ॥१७॥ अथात्युपयजति । स यन्नात्युपयजेद्यावत्यो हैवाग्रे प्रजाः सृष्टास्तावत्यो हैव स्युर्न प्रजायेरन्नथ यदत्युपयजति प्रैवैतज्जनयति तस्मादिमाः प्रजाः पुनरभ्यावर्तं प्रजायन्ते ॥१८॥ ब्राह्मणम् ॥५[८.४]॥ ॥ षष्ठः प्रपाठकः ॥
कण्डिकासंख्या ११२ ॥ ॥

सोऽत्युपयजति । यज्ञं गच्छ स्वाहेत्यापो वै यज्ञ आपो रेतो रेत एवैतत्सिञ्चति ॥१॥ सोमं गच्छ स्वाहेति । रेतो वै सोमो रेत एवैतत्सिञ्चति ॥२॥ दिव्यं नभो गच्छ स्वाहेति । आपो वै दिव्यं नभ आपो रेतो रेत एवैतत्सिञ्चति ॥३॥ अग्निं वैश्वानरं गच्छ स्वाहेति । इयं वै पृथिव्यग्निर्वैश्वानरः सेयं प्रतिष्ठेमामेवैतत्प्रतिष्ठामभिप्रजनयति ॥४॥ अथ मुखं विमृष्टे । मनो मे हार्दि यच्छेति तथो होपयष्टात्मानं नानुप्रवृणक्ति ॥५॥ अथ जाघन्या पत्नीः संयाजयन्ति । जघनार्धो वै जाघनी जघनार्धाद्धि योषायै प्रजाः प्रजायन्ते तत्प्रैवैतज्जनयति यज्जाघन्या पत्नीः संयाजयन्ति ॥६॥ अन्तरतो देवानां पत्नीभ्योऽवद्यति । अन्तरतो वै योषायै प्रजाः

भी सन्तान पीछे से ही उत्पन्न होती है ॥१०॥

वह उपयाज को इस मन्त्र से देता है—"समुद्रं गच्छ स्वाहा।" (यजु० ६।२२) जल समुद्र है। जल वीर्य है। यह वीर्य ही है जिसको सींचते हैं ॥११॥

"अन्तरिक्षं गच्छ स्वाहा।" (यजु० ६।२१) अन्तरिक्ष में ही सन्तान उत्पन्न होती है। अन्तरिक्ष में ही वह उत्पत्ति करता है ॥१२॥

"देवं सवितारं गच्छ स्वाहा।" (यजु० ६।२१) देवों का प्रेरक सविता है। सविता से प्रेरित होकर जीवों को प्रेरित कर रहा है ॥१३॥

"मित्रावरुणौ गच्छ स्वाहा।" (यजु० ६।२१) प्राण और उदान मित्र और वरुण हैं। इस प्रकार प्रजाओं में प्राण और उदान धारण कराता है ॥१४॥

"अहोरात्रे गच्छ स्वाहा" (यजु० ६।२१) दिन-रात में ही सन्तान उत्पन्न होती है। दिन-रात में ही वह जीवों को उत्पन्न कराता है ॥१५॥

"छन्दाꣳसि गच्छ स्वाहा।" (यजु० ६।२१)। सात छन्द हैं—सात घर के (ग्राम्य) और सात वन के (आरण्य) पशु हैं। इन दोनों को वह उत्पन्न कराता है ॥१६॥

"द्यावापृथिवी गच्छ स्वाहा।" (यजु० ६।२१) प्रजापति ने प्रजा को रचकर द्यौ और पृथिवी के बीच में भर दिया, इसलिए वह द्यौ और पृथिवी के बीच में है। इसी प्रकार यह आहुति देनेवाला भी प्राणियों को उत्पन्न करके उनको द्यौ और पृथिवी के बीच में रख देता है ॥१७॥

अब वह अन्य उपयाज करता है। यदि इन अन्य उपयाजों को न करे तो उतने ही पशु रहें जितने आरम्भ में उत्पन्न हुए थे। और न उत्पन्न हों। परन्तु अधिक उपयाजों को करके वह सन्तान को बढ़ाता है, जिससे इस पृथिवी पर फिर-फिर उत्पन्न हो ॥१८॥

अध्याय ८—ब्राह्मण ५

वह उपयाज करता है—"यज्ञं गच्छ स्वाहा।" (यजु० ६।२१) जल यज्ञ है, जल वीर्य है। इसके द्वारा वीर्य को सींचता है ॥१॥

"सोमं गच्छ स्वाहा।" (यजु० ६।२१) वीर्य सोम है। वीर्य को इससे सींचता है ॥२॥

"दिव्यं नभो गच्छ स्वाहा।" (यजु० ६।२१) जल 'दिव्य नभ' है। जल वीर्य है। वीर्य को इससे सींचता है ॥३॥

"अग्निं वैश्वानरं गच्छ स्वाहा।" (यजु० ६।२१) यह पृथिवी अग्नि वैश्वानर है। यही प्रतिष्ठा है। इस प्रकार इस प्रतिष्ठा को उत्पन्न करता है ॥४॥

अब इस मन्त्र से मुख का स्पर्श करता है—"मनो मे हार्दि यच्छ" (यजु० ६।२१)—"मुझे मन और हृदय दे।" इस प्रकार उपयाज करनेवाला अपने को नहीं आहुति देता ॥५॥

अब (पशु की) पूंछ से 'पत्नी:-संयाज' करते हैं। पूंछ पिछला भाग है। स्त्रियों के पिछले भाग से ही सन्तान की उत्पत्ति होती है। इसलिए पूंछ से 'पत्नी-संयाज' करके सन्तान की उत्पत्ति करता है ॥६॥

देवों की पत्नियों के लिए भीतर से भाग काटता है; स्त्रियों के अन्दर से ही सन्तान

प्रजायन्तऽउपरिष्टादग्नये गृहपतयऽउपरिष्टाद्धि वृषा योषामधिद्रवति ॥७॥ अथ हृदयशूलेनावभृथं यन्ति । पशोर्ह वाऽआलभ्यमानस्य हृदयꣳ शुक्समभ्यवैति हृदयाद्धृदयशूलमथ यच्छृतस्य परितृन्दन्ति तदलंतुषं तस्मात्तु परितृद्येव शूलाकुर्यात्त्रिःप्रच्युते पशौ हृदयं प्रवृह्योत्तमं प्रत्यवदधाति ॥८॥ अथ हृदयशूलं प्रयच्छति । तन्न पृथिव्यां परास्येन्नाप्सु स यत्पृथिव्यां परास्येदोषधीश्च वनस्पतींश्चैषा शुक्प्रविशेद्यदप्सु परास्येदप एषा शुक्प्रविशेत्तस्मान्न पृथिव्यां नाप्सु ॥९॥ अप एवाभ्यवेत्य । यत्र शुष्कस्य चार्द्रस्य च संधिः स्यात्तदुपगूहेद्यद्युऽअभ्यवायनाय ग्लायेदग्रेण यूपमुदपात्रं निनीय यत्र शुष्कस्य चार्द्रस्य च संधिर्भवति तदुपगूहति मापो मौषधीर्हिꣳसीरिति तथा नापो नौषधीर्हिनस्ति धाम्नो-धाम्नो राजंस्ततो वरुण नो मुञ्च । यदाहुरघ्न्या इति वरुणेति शपामहे ततो वरुण नो मुञ्चेति तदेनꣳ सर्वस्माद्वरुणपाशात्सर्वस्माद्वरुण्यात्प्रमुञ्चति ॥१०॥ अथाभिमन्त्रयते । सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्म इति यत्र वाऽएतेन प्रचरन्त्यापश्च ह वाऽअस्मात्तावदोषधयश्चापक्रम्येव तिष्ठन्ति तदु ताभिर्मित्रधेयं कुरुते तथो हैनं ताः पुनः प्रविशन्त्येषो तत्र प्रायश्चित्तिः क्रियते स वै नाग्नीषोमीयस्य पशोः करोति नाग्नेयस्य वशायाऽएवानूबन्ध्यायै ताꣳ हि सर्वोऽनु यज्ञः संतिष्ठतऽएतदु ह्यस्याग्नीषोमीयस्य च पशोराग्नेयस्य च हृदयशूलेन चरितं भवति यद्वशायाश्चरन्ति ॥११॥ ब्राह्मणम् ॥१ [८.५.]॥ अष्टमोऽध्यायः [२३.] ॥ ॥

प्रजापतिर्वै प्रजाः ससृजानो रिरिचान-इवामन्यत । तस्मात्पराच्यः प्रजा आसुर्नास्य प्रजाः श्रियेऽन्नाद्याय तस्थिरे ॥१॥ स ऐक्षतारिच्यहम् । अस्माऽउ कामायासृक्षि न मे स कामः समार्धि पराच्यो मत्प्रजा अभूवन्न म प्रजाः श्रियेऽन्नाद्यायास्थिषतेति ॥२॥ स ऐक्षत प्रजापतिः । कथं नु पुनरात्मानमाप्याययेयोप मा

उत्पन्न होती है। ऊपर से गृहपति अग्नि के लिए, क्योंकि ऊपर से ही नर स्त्री में वीर्य धारण कराता है ।।७।।

इस पर वे हृदय-शूल के साथ 'अवभृथ' स्नान को जाते हैं। जब पशु को मारते हैं तो उसका शोक हृदय में ही इकट्ठा होता है, हृदय से हृदयशूल में। पकाये हुए मांस का जो भाग छिदा होता है वह स्वादिष्ट होता है।[1] इसलिए उसे छेदकर काँटे पर पकाना चाहिए। पशु के तीन बार हिलाये हुए भाग पर काँटे से निकालकर हृदय को रखता है ।।८।।

अब (शमिता अध्वर्यु को) हृदय-शूल देता है। उसे पृथिवी पर न फेंके, न जल में। यदि पृथिवी पर फेंकेगा तो शोक ओषधि और वनस्पतियों में घुस जायगा। यदि जल में फेंकेगा तो शोक जल में घुस जायगा। इसलिए न पृथिवी पर फेंके, न जल में ।।९।।

किन्तु जल में जाकर ऐसे स्थान पर गाड़ दे जहाँ नमी और खुश्की का मेल हो। परन्तु जल में जाने की इच्छा न हो तो यूप के सामने जल का पात्र लाकर जहाँ नमी और खुश्की का मेल हो वहाँ गाड़ दे, इस मन्त्र से—"मापो मौषधीर्हिं सीः" (यजु० ६।२२)—"जल और ओषधि न सतावें।" इस पर जल और ओषधि हानि नहीं पहुँचाते। "धाम्नो धाम्नो राजँस्ततो वरुण नो मुञ्च। यदाहुरघ्न्या इति वरुणेति शपामहे ततो वरुण नो मुञ्च" (यजु० ६।२२)—"हे राजा वरुण, हर (धान) जाल से हमको छुड़ा। हे वरुण, हमको छुड़ा जिससे वे कहें कि न हने जानेवाली और वरुण की हम शपथ खाते हैं।" इस प्रकार वह वरुण के सब जालों से या सम्बन्धी पापों से उसको छुड़ा देता हैं ।।१०।।

अब वह जलों को कहता है—"सुमित्रिया नऽआपऽओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः" (यजु० ६।२२)—"जल और ओषधियाँ हमको लाभ पहुँचावें और हानि उनको जो हमको द्वेष करते हैं या जिनसे हम द्वेष करते हैं।" क्योंकि जब वे शूल के साथ जाते हैं तो जल और ओषधियाँ मानो उनसे पीछे हटते हैं। परन्तु इस प्रकार वह उनसे मित्रता करता है। इस प्रकार वे फिर उसके पास आते हैं। अब वह वहाँ प्रायश्चित्त करता है। वह यह (अवभृथ) अग्नि-सोम के पशु-याग में नहीं करता, न अग्नि के; किन्तु अनुबन्धी-गौ के सम्बन्ध में करता है। इस प्रकार सब यज्ञ पूर्ण हो जाता है। यह जो वशा-गौ के साथ अवभृथ किया जाता है उससे अग्नि-सोम या अग्नि के भी पशु-याग की पूर्ति हो जाती है ।।११।।

अध्याय ९—ब्राह्मण १

प्रजापति प्रजा को उत्पन्न करके थक-सा गया। प्रजा उसके पास से हट गई। उसकी श्री और भोजन के लिए वह उसके पास न ठहरी ।।१।।

उसने सोचा—'मैं थक गया और जिस कामना के लिए मैंने सृष्टि की रचना की वह भी पूरी न हुई। मेरी प्रजा मेरे पास से चली गई। मेरी श्री और भोजन के लिए मेरे पास ठहरी नहीं' ।।२।।

प्रजापति ने सोचा कि—'मैं फिर अपने को कैसे पुष्ट करूँ? कैसे मेरी प्रजा लौटे और

---

१. पशु-हिंसा सर्वथा अवैदिक है और ऐसे स्थल पूर्णतः प्रक्षिप्त हैं।

—स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती

प्रजाः समावर्तेरंस्तिष्ठेरन्मे प्रजाः श्रियेऽन्नाद्यायेति ॥३॥ सोऽर्चञ्छ्राम्यंश्चचार प्र-
जाकामः । स एतामेकादशिनीमपश्यत्स एकादशिन्येष्ट्वा प्रजापतिः पुनरात्मानमा-
प्याययतोपैनं प्रजाः समावर्तन्तातिष्ठन्तास्य प्रजाः श्रियेऽन्नाद्याय स वसीयानेवेष्ट्वा-
भवत् ॥४॥ तस्मै कमेकादशिन्या यजेत । एवꣳ ह्येव प्रजया पशुभिराप्यायतऽउ-
पैनं प्रजाः समावर्तन्ते तिष्ठन्तेऽस्य प्रजाः श्रियेऽन्नाद्याय स वसीयानेवेष्ट्वा भवत्ये-
तस्मै कमेकादशिन्या यजते ॥५॥ स आग्नेयं प्रथमं पशुमालभते । अग्निर्वै देवता-
नां मुखं प्रजनयिता स प्रजापतिः स उऽएव यजमानस्तस्मादाग्नेयो भवति ॥६॥
अथ सारस्वतम् । वाग्वै सरस्वती वाचैव तत्प्रजापतिः पुनरात्मानमाप्याययत
वागेनमुपसमावर्तत वाचमनुकामात्मनोऽकुरुत वाचोऽएवैष एतदाप्यायते वागे-
नमुपसमावर्तते वाचमनुकामात्मनः कुरुते ॥७॥ अथ सौम्यम् । अन्नं वै सोमो
ऽन्नेनैव तत्प्रजापतिः पुनरात्मानमाप्याययतान्नमेनमुपसमावर्ततान्नमनुकमात्मनो
ऽकुरुतान्नेनोऽएवैष एतदाप्यायतऽन्नमेनमुपसमावर्ततेऽन्नमनुकमात्मनः कुरुते ॥८॥
तद्यत्सारस्वतमनु भवति । वाग्वै सरस्वत्यन्नꣳ सोमस्तस्माद्यो वाचा प्रसाम्यन्ना-
दो ह्येव भवति ॥९॥ अथ पौ म् । पशवो वै पूषा पशुभिरेव तत्प्रजापतिः पु-
नरात्मानमाप्याययत पशव एनमुपसमावर्तन्त पशूननुकानात्मनोऽकुरुत पशुभि-
र्वेवैष एतदाप्यायते पशव एनमुपसमावर्तन्ते पशूननुकानात्मनः कुरुते ॥१०॥
अथ बार्हस्पत्यम् । ब्रह्म वै बृहस्पतिर्ब्रह्मणैवैतत्प्रजापतिः पुनरात्मानमाप्याययत
ब्रह्मैनमुपसमावर्तत ब्रह्मानुकमात्मनोऽकुरुत ब्रह्मणोऽएवैष एतदाप्यायते ब्रह्मै-
नमुपसमावर्तते ब्रह्मानुकमात्मनः कुरुते ॥११॥ तद्यत्पौष्णमनु भवति । पशवो
वै पूषा ब्रह्म बृहस्पतिस्तस्माद्ब्राह्मणाः पशूनभिधृष्णुतमः पुराहिता ह्यस्य भवन्ति
मुखऽआहितास्तस्मादु तत्सर्वं दूवाजिनवासी चरन्ति ॥१२॥ अथ वैश्वदेवꣳ । सर्वं
वै विश्वे देवाः सर्वेणैव तत्प्रजापतिः पुनरात्मानमाप्याययत सर्वमेनमुपसमावर्त-

मेरी श्री और भोजन के लिए ठहरे' ॥३॥

वह सन्तान की इच्छा से पूजा और श्रम करता रहा। उसने तब इस एकादशिनी (ग्यारह का समूह) को देखा। उस एकादशिनी की इष्टि करके उसने अपने को पुष्ट किया। प्रजा उसके पास लौट आई और उसकी श्री और भोजन के लिए उसके पास ठहरी। इस इष्टि से वह वस्तुतः अच्छा हो गया ॥४॥

इसलिए ग्यारह इष्टि करनी चाहिएँ। इस प्रकार प्रजा और पशुओं के द्वारा पुष्टि हो जाती है। प्रजा उसके पास लौट आती है। उसकी प्रजा श्री और भोजन के लिए ठहरती है। वह इष्टि करके अच्छा हो जाता है। इसलिए ग्यारह की इष्टि करनी चाहिए ॥५॥

पहले वह अग्नि देवता सम्बन्धी पशु का आलभन करता है। अग्नि देवताओं का मुख और उत्पन्न करनेवाला है। वह प्रजापति है। इस प्रकार यजमान अग्नि का हो जाता है ॥६॥

फिर सरस्वती के लिए। वाणी सरस्वती है। वाणी से ही प्रजापति ने फिर अपने को पुष्ट किया। वाणी फिर उसके पास वापस आई। वाणी को उसने अपने अनुकूल किया। वाणी से यह भी अपने को पुष्ट करता है। वाणी उसके पास लौट आती है और वह वाणी को अपने अनुकूल बनाता है ॥७॥

फिर सोम के लिए। सोम अन्न है। अन्न से ही तब प्रजापति ने अपने को पुष्ट किया। अन्न उसके पास लौटकर आया। अन्न को ही उसने अपने अनुकूल बनाया।'अन्न से यह भी अपने को पुष्ट करता है। अन्न उसके पास लौटकर आता है और अन्न को वह अपने अनुकूल बनाता है ॥८॥

सरस्वती के पीछे सोम क्यों आता है? सरस्वती वाणी है, सोम अन्न है, इसलिए जो वाणी के द्वारा अधूरा रहता है अन्न का खानेवाला होता है ॥९॥

अब पूषा के लिए। पशु पूषा हैं। पशुओं से ही तब प्रजापति ने अपने को पुष्ट किया। पशु उसके पास लौट आये। पशुओं को उसने अपने अनुकूल बनाया। इसी प्रकार यह भी पशुओं के द्वारा अपने को पुष्ट करता है। पशु उसके पास लौट आते हैं और वह पशुओं को अपने अनुकूल बनाता है ॥१०॥

अब बृहस्पति के लिए। ब्रह्म बृहस्पति है। ब्रह्म के द्वारा ही प्रजापति ने अपने को पूर्ण किया। ब्रह्म उसके पास लौट आया। ब्रह्म को वह अपने अनुकूल करता है। यह भी ब्रह्म के द्वारा अपने को पुष्ट करता है। ब्रह्म उसके पास लौट आता है। ब्रह्म को वह अपने अनुकूल करता है ॥११॥

बृहस्पति पूषा के पीछे क्यों होता है? पशु ही पूषा हैं। ब्रह्म बृहस्पति है। इसलिए पशु ब्रह्म के हैं। उसी ने उनको आगे रक्खा है, मुख के स्थान में रक्खा है। इसलिए इन सबको देकर वह भेड़ के चमड़े को पहनकर चलता है ॥१२॥

अब विश्वेदेवों के लिए। विश्वेदेव 'सर्व या सब' हैं। सबके द्वारा ही प्रजापति ने अपने को पूर्ण किया। 'सब' उसके पास लौट आये। 'सबको' उसने अपने अनुकूल बनाया। यह भी

त सर्वमनुकमात्मनोऽकुरुत सर्वेणोऽएवैष एतदाप्यायते सर्वमेनमुपसमावर्तते सर्वमनुकमात्मनः कुरुते ॥१३॥ तद्यद्बार्हस्पत्यमनु भवति । ब्रह्म वै बृहस्पतिः सर्वमिदं विश्वे देवा अस्यैवैतत्सर्वस्य ब्रह्म मुखं करोति तस्मादस्य सर्वस्य ब्राह्मणो मुखम् ॥१४॥ अथैन्द्रम् । इन्द्रियं वै वीर्यमिन्द्र इन्द्रियेणैव तद्वीर्येण प्रजापतिः पुनरात्मानमाप्याययतेन्द्रियमेनं वीर्यमुपसमावर्ततेन्द्रियं वीर्यमनुकमात्मनोऽकुरुतेन्द्रियेणोऽएवैष एतद्वीर्येणाप्यायतऽइन्द्रियमेनं वीर्यमुपसमावर्ततऽइन्द्रियं वीर्यमनुकमात्मनः कुरुते ॥१५॥ तद्यद्वैश्वदेवमनु भवति । क्षत्रं वाऽइन्द्रो विशो विश्वे देवा अन्नाद्यमेवास्माऽएतत्पुरस्तात्करोति ॥१६॥ अथ मारुतम् । विशो वै मरुतो भूमो वै विड्भूम्नैव तत्प्रजापतिः पुनरात्मानमाप्याययत भूमैनमुपसमावर्तत भूमानमनुकमात्मनोऽकुरुत भूम्नोऽएवैष एतदाप्यायते भूमैनमुपसमावर्तते भूमानमनुकमात्मनः कुरुते ॥१७॥ तद्यदैन्द्रमनु भवति । क्षत्रं वाऽइन्द्रो विशो विश्वे देवा विशो वै मरुतो विशैवैतत्क्षत्रं परिबृꣳहति तदिदं क्षत्रमुभयतो विशा परिबृढम् ॥१८॥ अथैन्द्राग्नम् । तेजो वाऽअग्निरिन्द्रियं वीर्यमिन्द्र उभाभ्यामेव तद्वीर्याभ्यां प्रजापतिः पुनरात्मानमाप्याययतोभेऽएनं वीर्येऽउपसमावर्तेतामुभे वीर्येऽअनुकेऽआत्मनोऽकुरुतोभाभ्यामुवैष एतद्वीर्याभ्यामाप्यायतऽउभेऽएनं वीर्येऽउपसमावर्तेतेऽउभे वीर्येऽअनुकेऽआत्मनः कुरुते ॥१९॥ अथ सावित्रꣳ । सविता वै देवानां प्रसविता तथो ह्यास्माऽएते सवितृप्रसूता एव सर्वे कामाः समृध्यन्ते ॥२०॥ अथ वारुणमन्तत आलभते । तदेनꣳ सर्वस्माद्वरुणपाशात्सर्वस्माद्वरुण्यात्प्रमुञ्चति ॥२१॥ तस्माद्यदि यूपैकादशिनी स्यात् । आग्नेयमेवाग्निष्ठे नियुञ्ज्यादथेतरान्व्युपनयेयुर्यथापूर्वम् ॥२२॥ यद्यु पश्वेकादशिनी स्यात् । आग्नेयमेव यूपऽआलभेरन्नथेतरान्यथापूर्वम् ॥२३॥ तान्यत्रोदीचो नयन्ति । आग्नेयमेव प्रथमं नयन्त्यथेतरान्यथापूर्वम् ॥२४॥ तान्यत्र निविध्यन्ति । आग्नेयमेव प्रथमं दक्षिणार्ध्ये

'सब' के द्वारा अपने को पूर्ण करता है। सब उसके पास लौट आते हैं और सबको वह अपने अनुकूल कर लेता है ॥१३॥

यह बृहस्पति के पीछे क्यों होता है ? बृहस्पति ब्रह्म है। यह सब विश्वेदेव है। वह ब्रह्म को इन सबका मुख बनाता है। इसी से ब्राह्मण सबका मुख है ॥१४॥

अब इन्द्र के लिए। इन्द्र का अर्थ है शक्ति, वीर्य। इसी शक्ति तथा वीर्य के द्वारा प्रजापति ने अपने को पूर्ण किया। यही शक्ति या वीर्य उसके पास लौट आया। इसी शक्ति या वीर्य को उसने अपने अनुकूल बनाया। यह भी शक्ति या वीर्य के द्वारा अपने को पूर्ण करता है। यह शक्ति या वीर्य उसके पास लौट आता है और वह उसको अपने अनुकूल बना लेता है ॥१५॥

यह विश्वेदेवों के पीछे क्यों होता है ? इन्द्र क्षत्रिय है। विश्वेदेव वैश्य हैं। इस प्रकार वह अन्न को सामने रखता है ॥१६॥

अब मरुत् के लिए। मरुत् वैश्य है। वैश्य का अर्थ है भूमः या बहुतायत। बहुतायत (भूमः) से ही प्रजापति ने तब अपने-आपको पूर्ण किया। बहुतायत उसके पास लौट आई। बहुतायत को उसने अपने अनुकूल बना लिया। इसी प्रकार वह भी बहुतायत से अपने को पूर्ण करता है। बहुतायत उसके पास लौट आती है। बहुतायत को अपने अनुकूल बना लेता है ॥१७॥

वह इन्द्र के पीछे क्यों होता है ? इन्द्र क्षत्रिय है, विश्वेदेव वैश्य हैं, मरुत् वैश्य हैं। इस प्रकार वैश्यों से क्षत्रिय की रक्षा होती है। यह क्षत्रिय दोनों ओर से वैश्यों के द्वारा सुरक्षित है ॥१८॥

अब इन्द्राग्नी के लिए। अग्नि तेज है। इन्द्र वीर्य है। इन दोनों शक्तियों के द्वारा प्रजापति ने अपने को पूर्ण किया। दोनों शक्तियाँ उसके पास आईं। उन दोनों शक्तियों को उसने अपने अनुकूल बनाया। यह भी इन दोनों शक्तियों द्वारा अपने को पूर्ण करता है। ये दोनों शक्तियाँ उसके पास लौट आती हैं और वह दोनों को अपने अनुकूल कर लेता है ॥१९॥

अब सविता के लिए। सविता देवों का प्रेरक है। इस प्रकार सविता से प्रसवित होकर उसकी सब कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं ॥२०॥

अन्त में वह वरुण के लिए (पशु का) आलभन करता है। वह इसको वरुण के सब पाशों से और सब पापों से मुक्त कर देता है ॥२१॥

इसलिए यदि ग्यारह यूप हों तो अग्निवाले पशु को अग्नि के सामनेवाले यूप से बाँधे। अन्य सब को इसी प्रकार क्रमशः ॥२२॥

यदि ग्यारह पशु हों तो अग्निवाले पशु को यूप में आलभन करे। अन्यों को इसी प्रकार क्रमशः ॥२३॥

जब उनको उत्तर की ओर ले जाते हैं तो अग्निवाले को पहले ले जाते हैं, फिर औरों को इसी क्रम से ॥२४॥

जब उनको पहले गिराते हैं, तो अग्निवाले को पहले दक्षिण की ओर गिराते हैं। औरों

निविध्यन्त्यथेतराननुदीचोऽतिनीय यथापूर्वम् ॥२५॥ तेषां यत्र वपाभिः प्रचरन्ति । आग्नेयस्यैव प्रथमस्य वपया प्रचरन्त्यथेतरेषां यथापूर्वम् ॥२६॥ तैर्यत्र प्रचरन्ति । आग्नेयेनैव प्रथमेन प्रचरन्त्यथेतरैर्यथापूर्वम् ॥२७॥ ब्राह्मणम् ॥२[१.१.]॥ ॥

यत्र वै यज्ञस्य शिरोऽच्छिद्यत । तस्य रसो द्रुत्वापः प्रविवेश तेनैवैतद्रसेनापः स्यन्दन्ते तमेवैतद्रसꣳ स्यन्दमानं मन्यन्ते ॥१॥ स यद्वसतीवरीर्हरति । तमेवैतद्रसꣳ समाहृत्य यज्ञे दधाति रसवन्तं यज्ञं करोति तस्माद्वसतीवरीर्हरति ॥२॥ ता वै सर्वेषु सवनेषु विभजति । सर्वेष्वेवैतत्सवनेषु रसं दधाति सर्वाणि सवनानि रसवन्ति करोति तस्मात्सर्वेषु सवनेषु विभजति ॥३॥ ता वै स्यन्दमानानां गृह्णीयात् । ऐद्धि स यज्ञस्य रसस्तस्मात्स्यन्दमानानां गृह्णीयात् ॥४॥ गोपीथाय वा ऽएता गृह्यन्ते । सर्वं वाऽइदमन्यदिलयति यदिदं किं चापि योऽयं पवतेऽथैता एव नेलयन्ति तस्मात्स्यन्दमानानां गृह्णीयात् ॥५॥ दिवा गृह्णीयात् । पश्यन्यज्ञस्य रसं गृह्णानीति तस्माद्दिवा गृह्णीयादेतस्मै वै गृह्णाति य एष तपति विश्वेभ्यो ह्येना देवेभ्यो गृह्णाति रश्मयो ह्यस्य विश्वे देवास्तस्माद्दिवा गृह्णीयाद्दिवेव वा ऽएष तस्माद्वेव दिवा गृह्णीयात् ॥६॥ एतद्ध वै विश्वे देवाः । यजमानस्य गृहानागच्छन्ति स यः पुरादित्यस्यास्तमयाद्वसतीवरीर्गृह्णाति यथा श्रेयस्यागमिष्यत्यावसथेनोपक्लृप्तेनोपासीतैवं तत्त ऽएतद्धविः प्रविशन्ति त ऽएतासु वसतीवरीषूपवसन्ति स उपवसथः ॥७॥ स यस्यागृहीता अभ्यस्तमियात् । तत्र प्रायश्चित्तिः क्रियते यदि पुरेजानः स्यान्निनाह्याद्गृह्णीयाद्दिवा हि तस्य ताः पुरा गृहीता भवन्ति यद्युऽअनीजानः स्याद्य एनमीजान उपावसितो वा पर्यवसितो वा स्यात्तस्य निनाह्याद्गृह्णीयाद्दिवा हि तस्य ताः पुरा गृहीता भवन्ति ॥८॥ यद्युऽएतदुभयं न विन्देत् । उल्कुषीमिवादायोपपरेयात्तामुपर्युपरि धारयन्गृह्णीयाद्धिरण्यं वोपर्युपरि धारयन्गृह्णीयात्तदेतस्य रूपं क्रियते य एष तपति ॥९॥ अथातो गृह्णात्येव । हृ-

को उत्तर की ओर ले जाते हुए उसी क्रम से ॥२५॥

अब उनकी वपा की आहुति देते हैं तो पहले अग्नि की, फिर औरों की उसी क्रम से ॥२६॥

जब उनसे अन्य आहुतियाँ देते हैं तो पहले अग्निवाले से। फिर औरों से उसी क्रम से ॥२७॥

अध्याय ६—ब्राह्मण २

जब यज्ञ का शिर काट दिया गया तो उसका रस बहकर जलों में मिल गया। इसी रस के कारण वे जल बहते हैं। यह माना जाता है कि वही रस बहता है ॥१॥

जब वह वसतीवरी जल के पास जाता है तो इसी रस को लाकर यज्ञ में रखता है और यज्ञ को रसयुक्त करता है। इसलिए वह वसतीवरी जल के पास जाता है ॥२॥

उनको वह सब सवनों में बाँट देता है। इससे वह सब सवनों में रस को धारण करता है। सब सवनों को रसयुक्त करता है। इसलिए सब सवनों में उसे बाँटता है ॥३॥

उसको वह बहते हुए में से लेवे। चूँकि यज्ञ का रस बह रहा था, इसलिए उसे बहते हुए जलों में से लेना चाहिए ॥४॥

इनको रक्षा के लिए लेते हैं। इस संसार में जो कुछ है वे सब आराम लेते हैं, यहाँ तक कि यह वायु भी जो चलता है। परन्तु जल आराम नहीं लेते, इसलिए इन बहते हुए जलों में से ही लेवे ॥५॥

इन (जलों) को दिन में लेना चाहिए, यह सोचकर कि यज्ञ के रस को देखकर ग्रहण करूँ। इसलिए इनको दिन में लेना चाहिए। यह जो तपता है (अर्थात् सूर्य) उसी के लिए इनका ग्रहण करता है, क्योंकि विश्वेदेवों के लिए ग्रहण करता है। उसकी किरणें ही विश्वेदेव हैं। इसलिए दिन में ग्रहण करना चाहिए। वह (सूर्य) केवल दिन में ही (उदय होता है) इसलिए दिन में ही ग्रहण करना चाहिए ॥६॥

विश्वेदेव यजमान के घर आते हैं। यदि वसतीवरी जलों को सूर्यास्त से पहले ग्रहण करता है तो यह सर्वथा ऐसा ही है कि जैसे कोई बड़ा (मान्य) आवे तो वह उसे अपने घर को शुद्ध करके स्वागत करे। ऐसा ही यह है। ये देव हवि के पास आते हैं और उन वसतीवरी जलों में प्रविष्ट हो जाते हैं। यही उपवसथ कहलाता है ॥७॥

यदि कोई इन जलों को लेने में सूर्यास्त कर दे तो प्रायश्चित्त किया जाता है। यदि उस पुरुष ने पहले (सोम) यज्ञ किया हो तो उसी के घड़े (निनाह्य) से ले लेना चाहिए। क्योंकि उसके जल सूर्यास्त से पहले ही के लिए होते हैं। यदि उसने पहले सोमयज्ञ न किया हो तो यदि उसके पास या पड़ोस में कोई और पुरुष हो जिसने यज्ञ किया हो तो उसी के घड़े से लेवे, क्योंकि उसके जल भी सूर्यास्त से पहले ही ग्रहण किये हुए होते हैं ॥८॥

अगर ये दोनों न मिलें तो एक जलती लकड़ी लेकर उन जलों के ऊपर दिखाकर ग्रहण करे। वह स्वर्ण को ऊपर दिखाकर ग्रहण करे। इससे उसी का रूप हो जाता है जो ऊपर तपता है। (अर्थात् जलती लकड़ी या सोने का टुकड़ा सूर्य के बराबर हो जाता है) ॥६॥

इन जलों को इस मन्त्र से लेता है—

विष्मतीरिमा आप इति यज्ञस्य ह्यासु रसः प्राविशत्तस्मादाह हविष्मतीरिमा आप इति हविष्मां२॥ऽआविवासतीति हविष्मान्ह्येना यजमान आविवासति तस्मादाह हविष्मां२॥ऽआविवासतीति ॥१०॥ हविष्मान्देवोऽअध्वर इति । अध्वरो वै यज्ञस्तमस्मै यज्ञाय गृह्णाति तꣳ हविष्मन्तं करोति तस्मादाह हविष्मान्देवोऽअध्वर इति ॥११॥ हविष्मा२॥ऽअस्तु सूर्य इति । एतस्मै वै गृह्णाति य एष तपति विश्वेभ्यो ह्येना देवेभ्यो गृह्णाति रश्मयो ह्यस्य विश्वे देवास्तस्मादाह हविष्मां२॥ऽअस्तु सूर्य इति ॥१२॥ ता आहृत्य जघनेन गार्हपत्यꣳ सादयति । अग्नेर्वोऽपन्नगृहस्य सदसि सादयामीत्यग्नेर्वोऽनार्तगृहस्य सदसि सादयामीत्येवैतदाहाथ यदाग्नीषोमीयः पशुः संतिष्ठतेऽथ परिहरति व्युत्क्रामतेत्याहाग्रेण हविर्धानि यजमान आस्ते ता आदत्ते ॥१३॥ स दक्षिणेन निष्क्रामति । ता दक्षिणायꣳ श्रोणौ सादयतीन्द्राग्न्योर्भागधेयी स्थेति विश्वेभ्यो ह्येना देवेभ्यो गृह्णातीन्द्राग्नी हि विश्वे देवास्ताः पुनराहृत्याग्रेण पत्नीꣳ सादयति स जघनेन पत्नीं पर्येत्य ता आदत्ते ॥१४॥ स उत्तरेण निष्क्रामति । ता उत्तरायाꣳ श्रोणौ सादयति मित्रावरुणयोर्भागधेयी स्थेति नैवꣳ सादयेदतिरिक्तमेतन्नैवꣳ सम्पत्सम्पद्यतऽइन्द्राग्न्योर्भागधेयी स्थेत्येव ब्रूयात्तद्देवानतिरिक्तं तथा सम्पत्सम्पद्यते ॥१५॥ गुप्त्यै वाऽएताः परिह्रियन्ते । अग्निः पुरस्तादथैताः समन्तं पल्यङ्ग्यन्ते नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यपघ्नत्यस्ता आग्नीध्रे सादयति विश्वेषां देवानां भागधेयी स्थेति तदासु विश्वान्देवान्त्संवेशयन्त्येते वै वसतां वरं तस्माद्वसतीवर्यो नाम वसताꣳ ह वै वरं भवति य एवमेतद्वेद ॥१६॥ तानि वाऽएतानि सप्त यजूꣳषि भवन्ति । चतुर्भिर्गृह्णात्येकेन जघनेन गार्हपत्यꣳ सादयत्येकेन परिहरत्येकेनाग्नीध्रे तानि सप्त यत्र वै वाचः प्रजातानि छन्दाꣳसि सप्तपदा वै तेषां परार्ध्या शक्वर्येतामभिसम्पदं तस्मात्सप्त यजूꣳषि भवन्ति ॥१७॥ ब्राह्मणम् ॥३ [१.२.]॥ ॥

"हविष्मतीरिमा आपः" (यजु० ६।२३)—"ये जल हवि-युक्त हैं।" यज्ञ का रस इनमें मिला है। इसलिए कहा 'हविष्मती'। "हविष्माँ२ऽआविवासति" (यजु० ६।२३)—"हवि-युक्त पुरुष इनको काम में लावे।" हवियुक्त यजमान इनको काम में लाता है। इसलिए कहा 'हविष्मान् आविवासति' ॥१०॥

"हविष्मान्देवोऽअध्वरः" (यजु० ६।२३)—"देव अध्वर हवियुक्त है।" अध्वर कहते हैं यज्ञ को। इस प्रकार जिस यज्ञ के लिए वह इन जलों को लेता है उसको वह हवियुक्त कर देता है। इसलिये कहा कि 'हविष्मान्देवोऽअध्वरः' ॥११॥

"हविष्माँ२ऽअस्तु सूर्यः" (यजु० ६।२३)—"सूर्य हवि-युक्त हो।" यह जो सूर्य तपता है उसी के लिए इनको ग्रहण करता है। यह विश्वे-देवों के लिए ग्रहण करता है। विश्वे-देव दस किरणें हैं। इसलिये कहा कि 'सूर्य हवि-युक्त हो' ॥१२॥

इनको लाकर वह गार्हपत्य के पीछे देता है—"अग्नेर्वोऽपन्नगृहस्य सदसि सादयामि" (यजु० ६।२४) अर्थात् "सुरक्षित गृहवाले अग्नि के घर में तुमको रखता हूँ।" जब अग्निसोम-वाला पशु निकट आवे तो वह (वसतीवरी जलों को) उसके पास ले जाता है और कहता है 'उत्क्राम' (चले जाओ)।' यजमान हविर्धान के सामने बैठता है और (अध्वर्यु जलों को) वहीं लेकर खड़ा होता है ॥१३॥

वह दक्षिण द्वार से निकलता है और दक्षिणी श्रोणि में रख देता है। "इन्द्राग्न्योर्भागधेयी स्थ" (यजु० ६।२४)—"तुम इन्द्र-अग्नि के भाग हो।" क्योंकि यह विश्वे-देवों के लिए ग्रहण करता है। इन्द्र-अग्नि विश्वे-देव है। वह इन जलों को लेकर पत्नी के आगे रख देता है और पत्नी के पीछे से घूमकर उनको उठा लेता है ॥१४॥

वह उत्तर द्वार से निकलता है। उन जलों को उत्तरी श्रोणि में रख देता है। "मित्रा वरुणयोर्भागध्येयी स्थ" (यजु० ६।२४)—"तुम मित्र-वरुण के भाग हो।" उसी प्रकार न रक्खे। यह व्यर्थ है। इससे काम भी सिद्ध नहीं होता। ऐसा कहे कि तू इन्द्र-अग्नि के भागधेय हो। इसमें कोई अनर्थकता नहीं है और काम भी सिद्ध हो जाता है ॥१५॥

इन जलों को रक्षा के लिए लाते हैं। अग्नि आगे है। और जल चारों ओर घूमकर दुष्ट राक्षसों को हटाते हैं। इनको वह आग्नीध्र (के स्थान) में रख देता है। "विश्वेषां देवानां भागधेयी स्थ" (यजु० ६।२४)—"तुम विश्वे-देवों के भाग हो।" इस प्रकार वह विश्वे-देवों को इनमें प्रवेश कराता है। यह 'वसतां' अर्थात् रहनेवालों के लिए 'वरं' शुभ होते हैं। इसलिए इनका नाम 'वसतीवरी' है। जो इस रहस्य को समझता है वह निवासियों के लिए श्रेष्ठ हो जाता है ॥१६॥

ये सात यजुः हैं। चार यजुओं से ग्रहण करता है। एक से गार्हपत्य के पीछे ले जाता है। एक से चारों ओर फिराता है। एक से आग्नीध्र के स्थान में रखता है। ये सात हुए। जब वाणी से सात छन्द उत्पन्न हुए तो उनमें से अन्तिम शक्वरी था। इससे सम्पूर्ति हुई। इसलिए सात यजुः होते हैं ॥१७॥

तान्त्सम्प्रबोधयन्ति । तेऽप उपस्पृश्याग्नीध्रमुपसमायन्ति तऽआज्यानि गृह्णते गृहीत्वाज्यान्यायन्त्यासाद्याज्यानि ॥१॥ अथ राजानमुपावहरति । इयं वै प्रतिष्ठा जनूरासां प्रजानामिमामेवैतत्प्रतिष्ठामभ्युपावहरति तमस्यै तनुते तमस्यै जनयति ॥२॥ अन्तरेणोषेऽउपावहरति । यज्ञो वाऽअनस्तन्न्वेव यज्ञान्न बहिर्धा करोति ग्रावसु संमुखेष्वधिनिदधाति क्षत्रं वै सोमो विशो ग्रावाणः क्षत्रमेवैतद्विश्यध्यूहति तद्यत्संमुखा भवन्ति विशमेवैतत्संमुखां क्षत्रियमभ्यविवादिनीं करोति तस्मात्संमुखा भवन्ति ॥३॥ स उपावहरति । हृदे त्वा मनसे त्वेति यजमानस्यैतत्कामायाह हृदयेन हि मनसा यजमानस्तं कामं कामयते यत्काम्या यजते तस्मादाह हृदे त्वा मनसे त्वेति ॥४॥ दिवे त्वा सूर्याय त्वेति । देवलोकाय त्वेत्येवैतदाह यदाह दिवे त्वेति सूर्याय त्वेति देवेभ्यस्त्वेत्येवैतदाहोर्ध्वमिममध्वरं दिवि देवेषु होत्रा यच्छेत्यध्वरो वै यज्ञ ऊर्ध्वमिमं यज्ञं दिवि देवेषु धेहीत्येवैतदाह ॥५॥ सोम राजन्विश्वास्त्वं प्रजा उपावरोहेति । तदेनमासां प्रजानामाधिपत्याय राज्यायोपावहरति ॥६॥ अथानुसृज्योपतिष्ठते । विश्वास्त्वां प्रजा उपावरोहन्त्वित्ययथायथमिव वाऽएतत्करोति यदाह विश्वास्त्वं प्रजा उपावरोहेति क्षत्रं वै सोमस्तत्पापवस्यसं करोति तद्धेदमनु पापवस्यसं क्रियतेऽथात्र यथायथं करोति यथापूर्वं यदाह विश्वास्त्वां प्रजा उपावरोहन्त्विति तदेनमाभिः प्रजाभिः प्रत्यवरोहयति तस्मादु क्षत्रियमायन्तमिमाः प्रजा विशः प्रत्यवरोहन्ति तमधस्तादुपासतऽउपसन्नो होता प्रातरनुवाकमनुवक्ष्यन्भवति ॥७॥ अथ समिधमभ्यादधदाह । देवेभ्यः प्रातर्यावभ्योऽनुब्रूहीति छन्दाꣳसि वै देवाः प्रातर्यावाणश्छन्दाꣳस्यनुयाजा देवेभ्यः प्रेष्य देवान्यजेति वाऽअनुयाजेश्वरन्ति ॥८॥ तदु हैकऽआहुः । देवेभ्योऽनुब्रूहीति तदु तथा न ब्रूयाच्छन्दाꣳसि वै देवाः प्रातर्यावाणश्छन्दाꣳस्यनुयाजा देवेभ्यः प्रेष्य देवान्यजेति वाऽअनुयाजेश्वरन्ति तस्मादु ब्रूयाद्देवेभ्यः प्रातर्यावभ्योऽनुब्रूहीत्येव ॥९॥

अध्याय ९—ब्राह्मण ३

उन (ऋत्विजों) को जगाते हैं। वे जलों को छूकर आग्नीध्र में जाते हैं और आज्यों को ग्रहण करते हैं। आज्यों को लेकर वे (वेदि पर) जाते हैं। आज्यों को रखकर—॥१॥

सोम राजा को उतारता है। यह पृथिवी इन प्रजाओं की प्रतिष्ठा और जन्म-स्थान है। वह राजा (सोम) को इसी प्रतिष्ठा में उतारता है। उसी पर फैलाता है। उसी मे उत्पन्न करता है ॥२॥

वह गाड़ी के जुओं के बीच में उसको उतारता है। गाड़ी यज्ञ (का साधन) है। इस प्रकार वह उसको यज्ञ से बाहर नहीं करता। वह उस (सोम) को उन पत्थरों पर रखता है जो एक-दूसरे के सम्मुख होते हैं। सोम क्षत्रिय है, पत्थर वैश्य है। इस प्रकार वह क्षत्रिय को वैश्य के ऊपर रखता है। पत्थर एक-दूसरे के सम्मुख क्यों होते हैं ? इसलिए कि वह वैश्यों को एक-मुख होकर क्षत्रियों के सामने विवाद-रहित करता है। इसलिए पत्थर एक-दूसरे के सम्मुख होते हैं ॥३॥

वह (सोम को) इस मन्त्र से उतारता है—"हृदे त्वा मनसे त्वा" (यजु० ६।२५)—"हृदय के लिए तुझको, मन के लिए तुझको।" अर्थात् यजमान की कामना के लिए। यजमान हृदय और मन से कामना करता है। कामना करके ही यज्ञ करता है इसलिए कि 'हृदय के लिए तुझको, मन के लिए तुझको' ॥४॥

"दिवे त्वा सूर्याय त्वा" (यजु० ६।२५)—"अर्थात् तुझको देवलोक के लिए, तुझको सूर्यलोक के लिए।" जब वह कहता है 'दिवे त्वा सूर्याय त्वा' तो आशय होता है 'देवों के लिए'। "ऊर्ध्वमिममध्वरं दिवि देवेषु होत्रा यच्छ" (यजु० ६।२५)—'अध्वर' कहते हैं यज्ञ को। इसका तात्पर्य यह है कि "तू इस यज्ञ को और हवन को द्यौलोक में ऊपर देवों के लिए ले जा" ॥५॥

"सोम राजन् विश्वास्त्वं प्रजाऽउपावरोह" (यजु० ६।२६)—"हे सोम राजा, तू इस सब प्रजा पर उतर।" वह इस राजा को प्रजाओं के आधिपत्य और राज्य के लिए नीचे उतारता है ॥६॥

उसको रखकर उसके पास बैठ जाता है—"विश्वास्त्वा प्रजाऽउपावरोहन्तु" (यजु० ६।२६)—"सब प्रजाएँ तुझ तक उतरें।" यह जो उसने कहा कि 'तू सब प्रजा तक उतर' यह अनुचित था, क्योंकि सोम क्षत्रिय है। इस प्रकार बुरे-भले मिल गये। इसीलिए तो आज भी बुरे-भले मिल जाते हैं। यह जो कहा कि 'प्रजाएँ तुझ तक उतरें' यह ठीक है, क्योंकि वैश्य लोग क्षत्रिय के सामने आकर झुकते हैं, अर्थात् सिर झुकाते हैं। पास बैठकर होता प्रातःकालीन अनुवाक पढ़ना आरम्भ करता है ॥७॥

अब समिधा को चढ़ाकर वह कहता है—'प्रातःकाल आनेवाले देवों के लिए अनुवाक कह।' प्रातः आनेवाले देव छन्द हैं, जैसे कि अनुयाज भी छन्द हैं। अनुयाज यह कहकर किये जाते हैं—'देवों के लिए भेजो, देवों के लिए यजन करो' ॥८॥

कुछ लोग कहते हैं 'देवों के लिए अनुवाक कहो।' ऐसा न कहना चाहिए। प्रातः आनेवाले देव छन्द हैं, और अनुयाज किये जाते हैं यह कहकर कि 'देवों के लिए भेजो, देवों के लिए यजन करो।' इसलिए कहना चाहिए कि 'प्रातःकाल आनेवाले देवों के लिए अनुवाक कह' ॥९॥

अथ यत्समिधमभ्यादधाति । छन्दाꣳस्येवैतत्समिन्द्धेऽथ यद्धोता प्रातरनुवाकमन्वाह छन्दाꣳस्येवैतत्पुनराप्याययत्ययातयामानि करोति यातयामानि वै देवैश्छन्दाꣳसि छन्दोभिर्हि देवाः स्वर्गं लोकꣳ समाश्नुवत न वाऽअत्र स्तुवते न शꣳसन्ति तच्छन्दाꣳस्येवैतत्पुनराप्याययत्ययातयामानि करोति तैरयातयामैर्यज्ञं तन्वते तस्माद्धोता प्रातरनुवाकमन्वाह ॥१०॥ तदाहुः । कः प्रातरनुवाकस्य प्रतिगर इति जाग्रद्धैवाध्वर्युरुपासीत स यन्निमिषति स हैवास्य प्रतिगरस्तदु तथा न कुर्याद्यदि निद्रायादपि कामꣳ स्वप्यात्स यत्र होता प्रातरनुवाकं परिदधाति तत्प्रचरणीति स्रुग्भवति तस्यां चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा जुहोति ॥११॥ यत्र वै यज्ञस्य शिरोऽच्छिद्यत । तस्य रसो द्रुत्वापः प्रविवेश तमदः पूर्वेद्युर्वसतीवरीभिराहरत्यथ योऽत्र यज्ञस्य रसः परिशिष्टस्तमेवैतदह्वेति ॥१२॥ यद्वेवैतामाहुतिं जुहोति । एतमेवैतद्यज्ञस्य रसमभिप्रस्तृणीते तमारुन्द्धे याभ्य उ चैवैतां देवताभ्य आहुतिं जुहोति ता एवैतत्प्रीणाति ता अस्मै तृप्ताः प्रीता एतं यज्ञस्य रसꣳ संनमन्ति ॥१३॥ ॥ शतम् २२०० ॥ ॥ स जुहोति । शृणोत्वग्निः समिधा हवं मऽइति शृणोतु मऽइदमग्निरनु मे जानात्वित्येवैतदाह शृण्वन्त्वापो धिषणाश्च देवीरिति शृण्वन्तु मऽइदमापोऽनु मे जानन्त्वित्येवैतदाह श्रोता ग्रावाणो विदुषो न यज्ञमिति शृण्वन्तु मऽइदं ग्रावाणोऽनु मे जानन्त्वित्येवैतदाह विदुषो न यज्ञमिति विद्वाꣳसो हि ग्रावाणः शृणोतु देवः सविता हवं मे स्वाहेति शृणोतु मऽइदं देवः सवितानु मे जानात्वित्येवैतदाह सविता वै देवानां प्रसविता तत्सवितृप्रसूत एवैतद्यज्ञस्य रसमह्वेति ॥१४॥ अथापरं चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा । उदङ् प्रपन्नाहाप इष्य होतरित्यप इष होतरित्येवैतदाह तद्यदतो होतान्वाहैतमेवैतद्यज्ञस्य रसमभिप्रस्तृणीते तमारुन्द्धऽएतानु चैवैतदनुतिष्ठते नेदेनानन्तरा नाष्ट्रा रक्षाꣳसि हिनसन्निति ॥१५॥ अथ सम्प्रेष्यति । मैत्रावरुणस्य चमसाध्वर्यवेहि ने-

जब वह समिधा रखता है तो इससे छन्दों को उत्तेजित करता है। और जब होता प्रातः-अनुवाक को कहता है उससे भी वह छन्दों को ही पुष्ट और पूर्ण करता है। देव छन्दों के द्वारा ही स्वर्गलोक को गये, इसलिए छन्द अपूर्ण हो गये, क्योंकि अब न तो स्तुति होती है न प्रशंसा। इसलिए अब वह छन्दों को पूर्ण करता है। और इन्हीं पूर्ण छन्दों से यज्ञ को करता है और होता अनुवाक पढ़ता है ॥१०॥

इस पर कुछ लोगों का कहना है कि 'प्रातरनुवाक का प्रतिगर या फल क्या है?' अध्वर्यु को जागते हुए उपासना करनी चाहिए और जब वह निमेष ले, वही उसका प्रतिगर है। परन्तु ऐसा न करना चाहिए। यदि नींद आ जाय तो सो जाय। जब होता प्रातः-अनुवाक को समाप्त करता है तब प्रचरणी आहुति दी जाती है। स्रुक् में चार बार आज्य लेकर आहुति देता है ॥११॥

जब यज्ञ का सिर काटा गया तो रस जलों में मिल गया। उसको गत दिवस वसतीवरी जलों के द्वारा लाये थे। अब जो कुछ रस बच गया उसको इसके द्वारा लाते हैं ॥१२॥

जब वह उस आहुति को देता है तो इसको यज्ञ के रस के लिए देता है। उस रस को अपनी ओर खींचता है। जिन देवताओं के लिए आहुति देता है उन्हीं को प्रसन्न करता है। इस प्रकार तृप्त होकर ये देवते यज्ञ के रस को इसके लिए दिलाते हैं ॥१३॥

वह इस मन्त्र से आहुति देता है—"श्रृणोत्वग्निः समिधा हवं मे" (यजु० ६।२६) इसका अर्थ है कि "अग्नि समिधा द्वारा मेरी स्तुति सुने या स्वीकार करे।" "श्रृण्वन्त्वापो धिषणाश्च देवीः" अर्थात् "दिव्य गुणयुक्त जल और धिष्ण हमारी स्तुति सुनें।" "श्रोता ग्रावाणो विदुषो न यज्ञम्" (यजु० ६।२६) अर्थात् "यज्ञ को जाननेवाले ग्रावा (पत्थर के तुल्य दृढ़ गुरुजन) इस मेरी स्तुति को सुनें या स्वीकार करें।" 'विदुषः' इसलिए कहा कि यह ग्रावा विद्वान् है। "श्रृणोतु देवः सविता हवं मे स्वाहा" (यजु० ६।२५) अर्थात् "सविता देव मेरी इस स्तुति को स्वीकार करे।" सविता देवों का प्रेरक है। सविता की ही प्रेरणा से वह यज्ञ के रस की इच्छा करता है ॥१४॥

फिर चार चमसों में घी को लेकर उत्तर की ओर जाकर कहता है, 'हे होता, जलों को बुलाओ।' या 'जलों की इच्छा करो।' होता ऐसा क्यों कहता है? इसका कारण यह है कि इसी आहुति के द्वारा अध्वर्यु घी को यज्ञ के रस में डालता है और अपनी ओर खींचता है। और होता (एकधन) ग्रहों के पास खड़ा रहता है कि दुष्ट राक्षस उसको सता न सकें ॥१५॥

अब अध्वर्यु आदेश देता है—'हे मित्रावरुण के चमसा रखनेवाले, आओ। नेष्टा, पत्नियों

ष्टः पत्नीरुदानयेत्यथानेन एताग्नीध्रपाले वसतीवरीभिः प्रत्युपतिष्ठासै होतृचमसेन चेति सम्प्रैष एवैषः ॥१६॥ तऽउदञ्चो निष्क्रामन्ति । जघनेन चात्वालमग्रेणाग्नीध्रꣳ स यस्यां ततो दिश्यापो भवन्ति तद्यन्ति ते वै सह पत्नीभिर्यन्ति तद्यत्सह पत्नीभिर्यन्ति ॥१७॥ यत्र वै यज्ञस्य शिरोऽच्छिद्यत । तस्य रसो द्रुत्वापः प्रविवेश तमेते गन्धर्वाः सोमरक्षा जुगुपुः ॥१८॥ ते ह देवा ऊचुः । इयमु न्वेवेह नाष्ट्रा यदिमे गन्धर्वाः कथं न्विममभयेऽनाष्ट्रे यज्ञस्य रसमाहरेमेति ॥१९॥ ते होचुः । योषित्कामा वै गन्धर्वाः सह पत्नीभिरयाम ते पत्नीष्वेव गन्धर्वा गर्धिष्यन्त्यथैतमभयेऽनाष्ट्रे यज्ञस्य रसमाहरिष्याम इति ॥२०॥ ते सह पत्नीभिरीयुः । ते पत्नीष्वेव गन्धर्वा जगृधुरथैतमभयेऽनाष्ट्रे यज्ञस्य रसमाजह्रुः ॥२१॥ तथोऽएवैष एतत् । सहैव पत्नीभिरेति ते पत्नीष्वेव गन्धर्वा गृध्यन्त्यथैतमभयेऽनाष्ट्रे यज्ञस्य रसमाहरति ॥२२॥ सोऽपोऽभिजुहोति । एताꣳ ह वाऽआहुतिꣳ हुतामेष यज्ञस्य रस उपसमेति तां प्रत्युत्तिष्ठति तमेवैतदाविष्कृत्य गृह्णाति ॥२३॥ यद्वेवेतामाहुतिं जुहोति । एतमेवैतद्यज्ञस्य रसमभिप्रस्तृणीते तमारुन्द्धे तमपो याचति याभ्य उ चैवैनां देवताभ्य आहुतिं जुहोति ता एवैतत्प्रीणाति ता अस्मै तृप्ताः प्रीता एतं यज्ञस्य रसꣳ संनमन्ति ॥२४॥ स जुहोति । देवीरापोऽअपांनपादिति देव्यो ह्यापस्तस्मादाह देवीरापोऽअपांनपादिति यो व ऊर्मिर्हविष्य इति यो व ऊर्मिर्यज्ञिय इत्येवैतदाहेन्द्रियावान्मदिन्तम इति वीर्यवानित्येवैतदाह यदाहेन्द्रियावानिति मदिन्तम इति स्वादिष्ठ इत्येवैतदाह तं देवेभ्यो देवत्रा दत्तेत्येतदेना अयाचिष्ट यदाह तं देवेभ्यो देवत्रा दत्तेति शुक्रपेभ्य इति सत्यं वै शुक्रꣳ सत्यपेभ्य इत्येवैतदाह येषां भाग स्थ स्वाहेति तेषामु ह्येष भागः ॥२५॥ अथ मैत्रावरुणचमसेनैतामाहुतिमपप्लावयति । कार्षिरसीति यथा वाऽअङ्गारोऽग्निना प्सातः स्यादेवमेषाहुतिरेतया देवतया प्साता भवति राजानं वाऽएताभिरद्भिरुप-

को लाओ। एकधनवाले, आओ। आग्नीध्र वसतीवरी और होता के चमसों के साथ चत्वाल पर खड़े हो।' यह मिश्रित सन्देश है ॥१६॥

वे चत्वाल के पीछे और आग्नीध्र के आगे उत्तर की ओर बढ़ते हैं। अब जिधर को जल होते हैं उधर को चलते हैं। वे वहाँ पत्नियोंसहित जाते हैं। पत्नियों के साथ वहाँ क्यों जाते हैं, इसका कारण यह है—॥१७॥

जब यज्ञ का सिर काटा गया तो उसका रस बहकर जलों में मिल गया। उसकी गन्धर्व सोमरक्षकों ने रक्षा की ॥१८॥

तब देवता बोले—'ये जो गन्धर्व हैं वे हमारे लिए भयङ्कर हैं। हम इस यज्ञ के रस को कहाँ ले जावें कि भय से मुक्त हो जायँ' ॥१९॥

उन्होंने कहा—'ये गन्धर्व स्त्रियों के अभिलाषी हैं। पत्नियों के साथ चलना चाहिए। गन्धर्व अवश्य ही स्त्रियों के पीछे फिरेंगे और हम यज्ञ के रस को ऐसे स्थान में ले जायँगे जो भय से मुक्त हो' ॥२०॥

वे पत्नियों के साथ चले। गन्धर्व उनकी स्त्रियों के पीछे चले। और वे यज्ञ के रस को ऐसे स्थान में ले गये जहाँ भय न था ॥२१॥

उसी प्रकार यह अध्वर्यु भी पत्नियों के साथ जाता है। गन्धर्व स्त्रियों के पीछे दौड़ते हैं और यह यज्ञ के रस को सुरक्षित स्थान में ले जाता है ॥२२॥

वह जलों पर आहुति देता है। जब यह आहुति दी जाती है तो यज्ञ का रस उसको खींच लेता है। वह उस तक उठता है और उसको पाकर पकड़ लेता है ॥२३॥

वह इस आहुति को क्यों देता है? वह यज्ञ के रस पर घी की आहुति देता है और अपनी ओर उसको खींचता है। उसकी जलों से याचना करता है। जिन देवताओं के लिए वह आहुति देता है उन्हीं को वह प्रसन्न करता है। इस प्रकार तृप्त होकर वे यज्ञ के रस को प्राप्त करते हैं ॥२४॥

वह इस मन्त्र से आहुति देता है—"देवीरापोऽअपां न पात्" (यजु० ६।२७)—"हे दिव्य जलो, जलों की सन्तान।" जल दिव्य, है अतः कहा 'देवीरापोऽअपां न पात्।' "यो व ऽऊर्मिर्हविष्यः" (यजु० ६।२७) अर्थात् "आपकी तरंग हवि या यज्ञ के लिए उपयुक्त है।" "इन्द्रियावान् मदिन्तमः" (यजु० ६।२७) अर्थात् "बलवान्, और स्वादिष्ट।" "तं देवेभ्यो देवत्रा दत्त" (यजु० ६।२७)—"उसको देवों के देव को दो।" अर्थात् वह उसको उनसे माँगता है। "शुक्रपेभ्यः" (यजु० ६।२७)—शुक्र नाम है सत्य का, अर्थात् "सत्य के पालन करनेवाले के लिए।" "येषां भाग स्थ स्वाहा" (यजु० ६।२७)—"जिनके तुम भाग हो।" क्योंकि वस्तुतः यह उनका ही भाग है ॥२५॥

अब मैत्रावरुण चमस् के द्वारा उस आहुति को तैराता है। "कार्षिरसि" (यजु०६।२८)—"तू कार्षि अर्थात् कृषि-सम्बन्धी है।" जैसे आग कोयले को खा जाती है, ऐसे ही इस आहुति को देवता खा जाता है। चूंकि सोम राजा का उस जल से अभिषेक होना है जो मैत्रावरुण ग्रह में

स्तद्यन्भवति या एता मैत्रावरुणचमसे वज्रो वाऽआज्य७ रेतः सोमो नेद्वज्रेणा-
ज्येन रेतः सोम७ हिनसानीति तस्माद्वाऽअपप्लावयति ॥२६॥ अथ गृह्णाति । स-
मुद्रस्य त्वाक्षित्याऽउन्नयामीत्यापो वै समुद्रोऽप्स्वेवैतदक्षितिं दधाति तस्मादाप ए-
तावति भोगे भुज्यमाने न क्षीयन्ते तदन्वेकधनानुन्नयन्ति तदनु पान्नेजनान् ॥२७॥
तद्यन्मैत्रावरुणचमसेन गृह्णाति । यत्र वै देवेभ्यो यज्ञोऽपाक्रामत्तमेतद्देवाः प्रैषै-
रेव प्रैषमैच्छन्पुरोरुग्भिः प्रारोचयन्निविद्भिर्न्यवेदयंस्तस्मान्मैत्रावरुणचमसेन गृह्णाति
॥२८॥ तऽआयन्ति । प्रत्युपतिष्ठतेऽग्नीध्रश्चात्वाले वसतीवरीभिश्च होतृचमसेन च
स उपर्युपरि चात्वाल७ स७स्पर्शयति वसतीवरीश्च मैत्रावरुणचमसं च समापो
ऽअद्भिरग्मत समोषधीभिरोषधीरिति यश्चासौ पूर्वेद्युराहृतो यज्ञस्य रसो यश्चाद्या-
हृतस्तमेवैतदुभय७ स७सृजति ॥२९॥ तद्वैके । ऐव मैत्रावरुणचमसे वसतीवरी-
र्नयन्त्या मैत्रावरुणचमसाद्वसतीवरीषु यश्चासौ पूर्वेद्युराहृतो यज्ञस्य रसो यश्चाद्या-
हृतस्तमेवैतदुभय७ स७सृजाम इति वदन्तस्तदु तथा न कुर्याद्यद्वाऽआधवनीये स-
मवनयति तदेवैष उभयो यज्ञस्य रसः स७सृज्यतेऽथ होतृचमसे वसतीवरीर्गृह्णा-
ति निग्राभ्याभ्यस्तद्यदुपर्युपरि चात्वाल७ स७स्पर्शयत्यतो वै देवा दिवमुपोदक्रामं-
स्तद्यजमानमेवैतत्स्वर्ग्यं पन्थानमनुसंख्यापयति ॥३०॥ तऽआयन्ति । त७ होता
पृच्छत्यध्वर्योऽवेरपा३ऽइत्यविदोऽपा३ऽइत्येवैतदाह तं प्रत्याहोतेव नंनमुरित्यवि-
दमथो मेऽन७सतेत्येवैतदाह ॥३१॥ स यद्यग्निष्टोमः स्यात् । यदि प्रचरण्या७ स७-
स्रवः परिशिष्टोऽल७ होमाय स्यात्तं जुहुयाद्यद्यु नाल७ होमाय स्यादपरं चतुर्गृ-
हीतमाज्यं गृहीत्वा जुहोति यमग्ने पृत्सु मर्त्यमवा वाजेषु यं जुनाः । स यन्ता श-
श्वतीरिषः स्वाहेत्याग्नेय्या जुहोत्यग्निर्वाऽअग्निष्टोमस्तदग्नावग्निष्टोमं प्रतिष्ठापयति
मर्तवत्या पुरुषसंमितो वाऽअग्निष्टोम एवं जुहुयाद्यद्यग्निष्टोमः स्यात् ॥३२॥ य-
द्युक्थ्यः स्यात् । मध्यमं परिधिमुपस्पृशेत्त्रयः परिधयस्त्रीण्युक्थान्येतैरु हि तर्हि य-

है और घी वज्र है तथा सोम वीर्य है; ऐसा न हो कि वज्र-रूपी घृत से सोमरूपी वीर्य नष्ट हो जाय इसलिए उसको उस पर तैराता है ॥२६॥

अब वह इस मन्त्र से ग्रहण करता है—"समुद्रस्य त्वा क्षित्याऽउन्नयामि ।"—"तुझको समुद्र के अक्षय होने के लिए उठाता हूँ ।" जल समुद्र हैं। जलों में ही वह अक्षयपन को रखता है। इसीलिए जल इतना खाना खाये जाने पर भी क्षीण नहीं होते। इसके पीछे वे एकधन ग्रहों को लेते हैं, इसके पीछे पैर धोने के जल को ॥२७॥

मैत्रावरुण चमसे से वह क्यों लेता है? इसलिए कि जब यज्ञ देवों से भाग गया तब उसको देवों ने 'प्रैष' (यज्ञ-सम्बन्धी निमन्त्रणों) द्वारा बुलाया। 'पुरोरुक्' मन्त्रों से उसको प्रसन्न किया। निविद मन्त्रों से निवेदन किया। इसलिए मैत्रावरुण चमस् से ग्रहण करता है ॥२८॥

अब वे लौट आते हैं। अग्नीध वसतीवरी जलों और मैत्रावरुण चमस् के साथ चात्वाल में खड़ा होता है। चात्वाल के ऊपर वह वसतीवरी जलों और मैत्रावरुण चमसे को स्पर्श कराता है। "समापोऽअद्भिरग्मत समोषधीभिरोषधीः" (यजु० ६।२८)—"जल जल से मिले और ओषधि ओषधि से।" इस प्रकार वह उन जलों को, जो कल लाये गये थे और उनको जो आज लाये गये हैं, मिला देता है ॥२९॥

कुछ लोग ऐसा करते हैं कि मैत्रावरुण चमसे में कुछ वसतीवरी जल को और कुछ मैत्रावरुण चमसे के जल को वसतीवरी में डालते हैं। इस प्रकार यज्ञ का जो रस कल लाया गया और जो आज लाया गया उन दोनों को मिला देते हैं। परन्तु ऐसा न करना चाहिए। क्योंकि जब आधवनीय में जल छोड़ता है तब भी तो दोनों रस मिल जाते हैं। अब होता के चमसे में वसतीवरी को निग्राभ्य के लिए छोड़ता है। चात्वाल के ऊपर क्यों स्पर्श कराता है? इसलिए कि वहीं से तो देव द्यौलोक को गये थे। इस प्रकार वह यजमान को स्वर्ग का मार्ग दिखा देता है ॥३०॥

अब वे (हविर्धान में) लौट आते हैं। होता उससे पूछता है, 'हे अध्वर्यु, तुमको जल मिल गया?' वह उत्तर देता है कि 'हाँ' या 'जलों ने अपने को मेरे हवाले कर दिया' अर्थात् जल मिल गया ॥३१॥

और यदि अग्निष्टोम होवे, और प्रचारणी में कुछ (घी का) शेष होम के लिए पर्याप्त रह जाय तो उससे आहुति दे दे। और यदि होम के लिए पर्याप्त न हो तो चारों चमसों में आज्य को लेकर आहुति दे, इस मन्त्र से—"यमग्ने पृत्सु मर्त्यमवा वाजेषु य जुनाः। स यन्ता शश्वतीरिषः स्वाहा" (यजु० ६।२९)—"हे अग्नि, जिस मनुष्य को तुम युद्ध में या दौड़ में सहायता देते हो वह निश्चयात्मक जीत को प्राप्त हो जाता है।" वह अग्नि-सम्बन्धी मन्त्र से आहुति देता है क्योंकि अग्निष्टोम का अर्थ है अग्नि। इस प्रकार अग्नि में अग्निष्टोम की स्थापना करता है। यदि अग्निष्टोम हो तो इस प्रकार आहुति दे ॥३२॥

और यदि उक्थ्य हो तो बीच की समिधा को छुए। तीन परिधियाँ हैं और तीन उक्थ्य।

ज्ञः प्रतितिष्ठति यद्युऽअतिरात्रो वा षोडशी वा स्यान्निव जुहुयान्न मध्यमं परिधि मुपस्पृशेत्समुद्येव तूष्णीमेत्य प्रपद्येत तद्यथायथं यज्ञक्रतून्व्यावर्तयति ॥३३॥ अयुङ्गा-अयुङ्गा एकधना भवन्ति । त्रयो वा पञ्च वा पञ्च वा सप्त वा सप्त वा नव वा नव वैकादश वैकादश वा त्रयोदश वा त्रयोदश वा पञ्चदश वा द्वन्द्वमह मिथुनं प्रजननमथ य एष एकोऽतिरिच्यते स यजमानस्य श्रियमभ्यतिरिच्यते स वाऽएषाᳬ सधनं यो यजमानस्य श्रियमभ्यतिरिच्यते तद्यदेषाᳬ सधनं तस्मादेकधना नाम ॥३४॥ ब्राह्मणम् ॥४[१.३]॥ ॥

अथाधिषवणे पर्युपविशन्ति । अथास्याᳬ हिरण्यं बध्नीते द्वयं वाऽइदं न तृतीयमस्ति सत्यं चैवानृतं च सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्या अग्निरेतसं वै हिरण्यᳬ सत्येनाᳬशून्नुपस्पृशानि सत्येन सोमं पराह्णानीति तस्माद्वाऽअस्याᳬ हिरण्यं बध्नीते ॥१॥ अथ ग्रावाणमादत्ते । ते वाऽएतेऽश्ममया ग्रावाणो भवन्ति देवो वै सोमो दिवि हि सोमो वृत्रो वै सोम आसीत्तस्यैतच्छरीरं यद्गिरयो यदश्मानस्तच्छरीरेणैवैनमेतत्समर्धयति कृत्स्नं करोति तस्मादश्ममया भवन्ति घ्नन्ति वाऽएनमेतद्यदभिषुण्वन्ति तमेतेन घ्नन्ति तथात उदेति तथा संजीवति तस्मादश्ममया ग्रावाणो भवन्ति ॥२॥ तमादत्ते । देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामाददे रावासीति सविता वै देवानां प्रसविता तत्सवितृप्रसूत एवैनमेतदादत्तेऽश्विनोर्बाहुभ्यामित्यश्विनावध्वर्यू तत्तयोरेव बाहुभ्यामादत्ते न स्वाभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामिति पूषा भागदुघस्तत्तस्यैव हस्ताभ्यामादत्ते न स्वाभ्यां वज्रो वाऽएष तस्य न मनुष्यो भर्ता तमेताभिर्देवताभिरादत्ते ॥३॥ आददे रावासीति । यदा वाऽएनमेतेनाभिषुण्वन्त्यथाहुतिर्भवति यदाहुतिं जुहोत्यथ दक्षिणा ददात्येतद्ध्येष द्वयᳬ रासतऽआहुतीश्च दक्षिणाश्च तस्मादाह रावासीति ॥४॥ गभीरमिममध्वरं कृधीति । अध्वरो वै यज्ञो महान्तमिमं यज्ञं कृधीत्येवैतदाहेन्द्राय सुषूतम-

इन्हीं के द्वारा यज्ञ की स्थापना होती है। यदि अतिरात्र या षोडशी हो तो न आहुति दे और न बीच की परिधि को छुए। चुपके से वहाँ जावे। इस प्रकार वह यज्ञ के ऋतुओं में भेद कर सकता है ॥३३॥

एकधन विषम संख्या में (अयुङ्ग)होते हैं, तीन या पाँच, पाँच या सात, सात या नौ, नौ या ग्यारह, ग्यारह या तेरह, तेरह या पन्द्रह। जोड़े से सन्तति होती है। यह जो एक बच रहता है वह यजमान की श्री के लिए होता है। और जो यह यजमान की श्री के लिए बच रहा है वह सबका धन अर्थात् सधन होता है और चूंकि सबका धन होता है इसलिए उसका नाम 'एकधन' है ॥३४॥

अध्याय ६—ब्राह्मण ४

अब वे अधिषवण के पास बैठते हैं। अब वह इस (अनामिका अँगुली) में सुवर्ण का टुकड़ा बाँधता है। दो ही होते हैं, तीसरा नहीं, अर्थात् सत्य और अनृत। देव सत्य है और मनुष्य अनृत। सुवर्ण अग्नि के बीज से उत्पन्न है। 'सत्य से अंशों को छुऊँ, सत्य से सोम को लूं'—वह ऐसा विचारता है इसलिए अनामिका अँगुली में सुवर्ण को बाँधता है ॥१॥

अब वह ग्रावा (पत्थर) को लेता है। ये जो ग्रावा हैं वे अश्ममय अर्थात् पत्थर के हैं। सोम देव है। सोम द्यौलोक में था। सोम वृत्र था। ये जो पहाड़ हैं वे इसके शरीर हैं। उसके ही शरीर से उसको पुष्ट करता है, पूर्ण करता है। इसीलिए ग्रावा (पट्टे) पत्थर के होते हैं। ये जो सोम को निचोड़ते हैं तो मानो उसका हनन करते हैं। उसको उसी से मारते हैं। वहीं से वह उठता है और जीवित है, इसलिए भी पट्टे पत्थर के होते हैं ॥२॥

वह पट्टे को इस मन्त्र से लेता है—"देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। आददे रावासि।"—"तुझको सविता देव की प्रेरणा से, अश्विन के बाहुओं से, पूषा के हाथों से लेता हूँ। तू दानी है।" सविता देवों का प्रेरक है। इस प्रकार सविता से प्रेरित करके उसे लेता है। 'अश्विनों के बाहुओं से' इसलिए कि अश्विन देवों के अध्वर्यु हैं। वह अपने बाहुओं से नहीं किन्तु उनके बाहुओं से लेता है। 'पूषा के हाथों से' इसलिए कि पूषा भागों का बाँटनेवाला है। इसलिए पूषा के हाथों से लेता है, अपने हाथों से नहीं। इसके अतिरिक्त वह (पत्थर का पट्टा) वज्र है, कोई उसे उठा नहीं सकता। उन्हीं देवताओं की सहायता से वह उसे उठाता है ॥३॥

वह कहता है 'मैं तुझे लेता हूँ, तू दाता है।' जब वे उसको इस पत्थर से कुचलते हैं, तब आहुति होती है। जब आहुति देता है तो दक्षिणा देता है। इस प्रकार वह पट्टा दो चीजें देता है, आहुति भी और दक्षिणा भी। इसलिए कहा 'तू दाता है' ॥४॥

"गभीरमिममध्वरं कृधि" (यजु० ६।३०)—'अध्वर' नाम है यज्ञ का अर्थात् "इस गम्भीर यज्ञ को कर।" "इन्द्राय सुषूतमम्" (यजु० ६।३०)—अर्थात् "इन्द्र के लिए उत्तम

मितीन्द्रो वै यज्ञस्य देवता तस्मादाहेन्द्रायेति सुषूतममिति सुसुतममित्येवैतदा-
होत्तमेन पविनेत्येष वाऽउत्तमः पविर्यत्सोमस्तस्मादाहोत्तमेन पविनेत्यूर्जस्वन्तं
मधुमन्तं पयस्वन्तमिति रसवन्तमित्येवैतदाह यदाहोर्जस्वन्तं मधुमन्तं पयस्वन्तमिति
॥५॥ अथ वाच यच्छति । देवा ह वै यज्ञं तन्वानास्तेऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद्बिभ-
यां चक्रुस्ते होचुरुपांशु यजाम वाचं यच्छामेति तऽउपांश्वयजन्वाचमयच्छन् ॥६॥
अथ निग्राभ्या आहरति । तास्वेनं वाचयति निग्राभ्या स्थ देवश्रुतस्तर्पयत मा
मनो मे तर्पयत वाचं मे तर्पयत प्राणं मे तर्पयत चक्षुर्मे तर्पयत श्रोत्रं मे तर्पय-
तात्मानं मे तर्पयत प्रजां मे तर्पयत पशून्मे तर्पयत गणान्मे तर्पयत गणा मे मा
वितृषन्निति रसो वाऽआपस्तास्वेवैतामाशिषमाशास्ते सर्वं च मऽआत्मानं तर्प-
यत प्रजां मे तर्पयत पशून्मे तर्पयत गणान्मे तर्पयत गणा मे मा वितृषन्निति स
य एष उपांशुसवनः स विवस्वानादित्यो निदानेन सोऽस्यैष व्यानः ॥७॥ त-
मभिमिमीते । घ्नन्ति वाऽएनमेतद्यदभिषुण्वन्ति तमेतेन घ्नन्ति तथात उदेति तथा
संजीवति यद्वेव मिमीते तस्मान्मात्रा मनुष्येषु मात्रा यो चाप्यन्या मात्रा ॥८॥
स मिमीते । इन्द्राय त्वा वसुमते रुद्रवतऽइतीन्द्रो वै यज्ञस्य देवता तस्मादाहे-
न्द्राय त्वेति वसुमते रुद्रवतऽइति तदिन्द्रमेवानु वसूंश्च रुद्रांश्चाभजतीन्द्राय त्वादि-
त्यवतऽइति तदिन्द्रमेवान्वादित्यानाभजतीन्द्राय त्वाभिमातिघ्नऽइति सपत्नो वा
ऽअभिमातिरिन्द्राय त्वा सपत्नघ्नऽइत्येवैतदाह सोऽस्योद्धारो यथा श्रेष्ठस्योद्धार ए-
वमस्यैषऽअन्ते देवेभ्यः ॥९॥ श्येनाय त्वा सोमभृतऽइति । तद्गायत्र्यै मिमीतेऽग्नये
त्वा रायस्पोषदऽइत्यग्निर्वै गायत्री तद्गायत्र्यै मिमीते स यद्गायत्री श्येनो भूत्वा दि-
वः सोममाहरत्तेन सा श्येनः सोमभृत्तेनैवास्या एतद्वीर्येण द्वितीयं मिमीते ॥१०॥
अथ यत्पञ्च कृत्वो मिमीते । संवत्सरसंमितो वै यज्ञः पञ्च वाऽऋतवः संवत्सर-
स्य तं पञ्चभिराप्नोति तस्मात्पञ्च कृत्वो मिमीते ॥११॥ तमभिमृशति । यत्ते सोम

रीति से बनाया गया।" यज्ञ का देवता इन्द्र है इसलिए कहा 'इन्द्र के लिए'। "उत्तमेन पविना" (यजु० ६।३०)—सोम सबसे अच्छा वज्र (पवि) है, इसलिए कहा 'उत्तम वज्र से'। "ऊर्जस्वन्तं मधुमन्तं पयस्वन्तम्" (यजु० ६।३०)—इसके कहने का तात्पर्य कि "रस वाला" ॥५॥

अब वाणी को रोक लेता है (चुप हो जाता है)। यज्ञ को करते हुए देव लोग राक्षसों के आक्रमण से भयभीत हो गये। उन्होंने कहा, 'चुपके-चुपके यज्ञ करें। वाणी को रोक लें।' उन्होंने चुपके-चुपके आहुति दी और वाणी को रोक लिया। ६॥

अब निग्राभ्य जलों को लेता और उन पर यह जपता है—"निग्राभ्या स्थ देवश्रुतस्तर्पयत मा। (यजु० ६।३०) मनो मे तर्पयत, वाचं मे तर्पयत, प्राणं मे तर्पयत, चक्षुर्मे तर्पयत, श्रोत्रं मे तर्पयतात्मानं मे तर्पयत, प्रजां मे तर्पयत, पशून्मे तर्पयत, गणान्मे तर्पयत, गण मे मा वितृषन्' (यजु० ६।३१)—"हे जलो! तुम देवश्रुत निग्राभ्य हो। मुझे तृप्त करो, मेरे मन को तृप्त करो, मेरी वाणी को तृप्त करो, मेरे प्राण को तृप्त करो, मेरी आँख को तृप्त करो, मेरे कान को तृप्त करो, मेरे आत्मा को तृप्त करो, मेरी प्रजा को तृप्त करो, मेरे पशुओं को तृप्त करो, मेरे गणों को तृप्त करो, मेरे गण प्यास से न मरें।" जल रस हैं। उन पर आशीर्वाद कहता है कि मुझ सम्पूर्ण को तृप्त करो—प्रजा को, पशु को, गणों को; मेरे गण प्यासे न मरें। यह उपांशुसवन ही आदित्य विवस्वान् है। यह वस्तुतः इस यज्ञ का व्यान है ॥७॥

अब वह उसको नापता है। ये जो उसको कुचलते हैं तो मानो उसका हनन करते हैं। वहीं से यह उठता है, जीता है। चूंकि उससे नापते हैं इसलिए नाप होती है—जो मनुष्यों में प्रचलित है वह भी और अन्य नाप (मात्रा) भी ॥८॥

वह इस मन्त्र से नापता है—"इन्द्राय त्वा वसुमते रुद्रवते" (यजु० ६।३२)—"यह वसुवाले और रुद्रवाले इन्द्र के लिए।" यज्ञ का देवता इन्द्र है, इसलिए कहा 'इन्द्र के लिए।' 'वसुवाले और रुद्रवाले' कहकर वह इन्द्र के साथ वसु और रुद्रों का भी भाग स्थापित कर देता है। "इन्द्राय त्वादित्यवते" (यजु० ६।३२)—इससे इन्द्र के साथ आदित्यों का भाग भी स्थापित कर देता है। "इन्द्राय त्वाभिमातिघ्ने" (यजु० ६।३२)—'अभिमाति' का अर्थ है शत्रु, अर्थात् "शत्रु के मारनेवाले इन्द्र के लिए।" यह उस (इन्द्र) का विशेष भाग है जैसे किसी श्रेष्ठ (नेता) का होता है,—अन्य देवों से अलग ॥९॥

"श्येनाय त्वा सोमभृते" (यजु० ६।३२)—"तुम सोम रखनेवाले श्येन के लिए।" यह गायत्री के लिए नापता है। "अग्ने त्वा रायस्पोषदे" (यजु० ६।३२)—"तुझ धन देनेवाले अग्नि के लिए।" अग्नि गायत्री है। इसको गायत्री के लिए नापता है। यह जो गायत्री श्येन होकर सोम को द्यौलोक में ले गई, इसलिए उसको 'सोमभृत श्येन' कहा। इसके उस पराक्रम के लिए वह दूसरा भाग बाँटता है (नापता है) ॥१०॥

पाँच बार क्यों नापता है? यज्ञ की वही नाप है जो वर्ष में पाँच ऋतुएँ होती हैं। वह इसको पाँच भागों में लेता है। इसलिए पाँच बार नापता है ॥११॥

दिवि ज्योतिर्यत्पृथिव्यां यद्वुरावन्तरिक्षे । तेनास्मै यजमानायोरू राये कृध्यधि दात्रे वोच इति यत्र वाऽएषोऽग्रे देवानाᳮ हविर्बभूव तद्धैतां चक्रे मैव सर्वेणेवात्मना देवानाᳮ हविर्भूवमिति स एतास्तिस्त्रस्तनूरेषु लोकेषु विन्यधत्त ॥१२॥ तद्वै देवा अस्पृण्वत । तेऽस्यैतेनैवैतास्तनूराप्नुवन्त्स कृत्स्न एव देवानाᳮ हविरभवत्तथोऽएवास्यैष एतेनैवैतास्तनूराप्नोति स कृत्स्न एव देवानाᳮ हविर्भवति तस्मादेवमभिमृशति ॥१३॥ अथ निग्राभ्याभिरुपसृजति । आपो ह वै वृत्रं जघ्नुस्तेनैवैतद्वीर्येणापः स्यन्दन्ते तस्मादेनाः स्यन्दमाना न किं चन प्रतिधारयति ता ह स्वमेव वशं चेरुः कस्मै नु वयं तिष्ठेमहि याभिरस्माभिर्वृत्रो हत इति सर्वं वाऽइदमिन्द्राय तस्थानमास यदिदं किं चापि योऽयं पवते ॥१४॥ स इन्द्रोऽब्रवीत् । सर्वं वै मऽइदं तस्थानं यदिदं किं च तिष्ठधमेव मऽइति ता होचुः किं नस्ततः स्यादिति प्रथमभक्ष एव वः सोमस्य राज्ञ इति तथेति ता अस्माऽअतिष्ठन्त तास्तस्थाना उरसि न्यगृह्णीत तद्यदेना उरसि न्यगृह्णीत तस्मान्निग्राभ्या नाम तथैवैता एतद्यजमान उरसि निगृह्णीते स आसामेष प्रथमभक्षः सोमस्य राज्ञो यन्निग्राभ्याभिरुपसृजति ॥१५॥ स उपसृजति । श्वात्रा स्थ वृत्रतुर इति शिवा ह्यापस्तस्मादाह श्वात्रा स्थेति वृत्रतुर इति वृत्रᳮ ह्येता अघ्नन्राधोगूर्ता अमृतस्य पत्नीरित्यमृता ह्यापस्ता देवीर्देवत्रेमं यज्ञं नयतेति नात्र तिरोहितमिवास्त्युपहूताः सोमस्य पिबतेति तदुपहूता एव प्रथमभक्षᳮ सोमस्य राज्ञो भक्षयन्ति ॥१६॥ अथ प्रहरिष्यन् । यं द्विष्यात्तं मनसा ध्यायेदमुष्माऽअहं प्रहरामि न तुभ्यमिति यो न्वेवेमं मानुषं ब्राह्मणᳮ हन्ति तं न्वेव परिचक्षतेऽथ किं य एतं देवो हि सोमो घ्नन्ति वाऽएनमेतद्यदभिषुण्वन्ति तमेतेन घ्नन्ति तथात उदेति तया संजीवति तथानेनस्यं भवति यद्यु न द्विष्यादपि तृणमेव मनसा ध्यायेत्तथोऽअनेनस्यं भवति ॥ १७॥ स प्रहरति । मा भेर्मा संविक्था इति मा त्वं भैषीर्मा संविक्था अमुष्मा

वह इस मन्त्र से छूता है—"यत् ते सोम दिवि ज्योतिर्यत् पृथिव्यां यदुरावन्तरिक्षे । तेनास्मै यजमानायोरु राये कृध्यधि दात्रे वोचः" (यजु० ६।३३)—"हे सोम, जो तेरा प्रकाश द्यौलोक में है, जो पृथिवी में, जो अन्तरिक्ष में, उससे इस यजमान के लिए और उसके धन के लिए स्थान कर। दाता के लिए आज्ञा दे।" जब यह (सोम) देवों की हवि बना तो उसने चाहा कि मैं अपनी पूर्ण सत्ता (आत्मा) के साथ देवों का हवि न बनूं। इसलिए उसने अपने तीन शरीरों को संसार में छोड़ दिया ।।१२।।

तब देव विजयी हो गये। उन्होंने इसी मन्त्र द्वारा उसके इन तीनों शरीरों को प्राप्त कर लिया, और वह सम्पूर्ण देवों का हवि हो गया। इसी प्रकार यह भी इसके शरीरों को प्राप्त करता है और यह सोम सम्पूर्णतया देवों का हवि हो जाता है। इसी कारण से वह इस प्रकार उसको छूता है ।।१३।।

अब निग्राभ्य जल को उस पर छिड़कता है। जलों ने ही वृत्र को मारा। उसी पराक्रम से ये बहते हैं। इसीलिए जब जल बहते हैं तो कोई उनको रोक नहीं सकता। वे अपनी ही इच्छा से चले थे। उन्होंने सोचा कि जब हम वृत्र को मार चुके तो किसके लिए रुकें ? सृष्टि में यह जो कुछ है वह सब इन्द्र के लिए रुक गया, यहाँ तक कि पवन भी ।।१४।।

इन्द्र बोला कि 'सृष्टि में जो कुछ है सब मेरे लिए रुक गया। तुम भी रुको।' उन्होंने कहा कि 'तो हमारा क्या होगा ?' उसने कहा कि 'सोम राजा का पहला घूंट तुमको मिलेगा।' उन्होंने कहा, 'अच्छा।' वे उसके लिए रुक गये। जब वे उसके लिए रुक गये तो उसने उनको छाती से लगा लिया (न्यगृहणीत), इसलिए इनका नाम 'निग्राभ्य' है। इसी प्रकार यह यजमान भी इनको छाती से लगाता है। यह उनका सोम राजा का पहला घूंट है कि वह इन जलों को (सोम पर) छोड़ता है ।।१५।।

वह इस मन्त्र से छोड़ता है—'श्वात्रा स्थ वृत्रतुरः' (यजु० ६।३४) जल कल्याणकारक होते हैं इसलिए कहा—"वृत्र को मारनेवाले कल्याणकारी" क्योंकि इन्होंने वृत्र को मारा। "राधोगूर्ताऽअमृतस्य पत्नीः" (यजु० ६।३४)—"ऐश्वर्य की देनेवाली अमृत की पत्नियाँ।" जल अमृत हैं। "ता देवीर्देवत्रेमं यज्ञं नय" (यजु० ६।३४)—"हे देवियो, देवों के लिए इस यज्ञ को ले जाओ।" यह सब स्पष्ट है। "उपहूताः सोमस्य पिबत" (यजु० ६।३४)—"आप निमन्त्रित होकर सोम को पियो।" ये जल निमन्त्रित हैं और सोम राजा के पहले घूंट को पीते हैं ।।१६।।

जब सोम को कुचले तो मन में अपने शत्रु का विचार करे—'मैं अमुक शत्रु को कुचलता हूँ। तुझको नहीं।' जो कोई ब्राह्मण मनुष्य को मारते हैं वे पाप करते हैं, फिर उनका क्या कहना जो सोम राजा का हनन करते हैं क्योंकि सोम तो देव है ! ये जो उसको पत्थर से कुचलते हैं तो इसका हनन करते हैं। वहीं से वह उठता है, जीता है, इस प्रकार पाप नहीं होता। यदि कोई उसका शत्रु न हो तो तृण का ही चिन्तन कर ले। इससे भी पाप न लगेगा ।।१७।।

वह इस मन्त्र से कुचलता है—"मा भेर्मा संविक्था" (यजु० ६।३५)—अर्थात् "डरे

ऽग्रहं प्रहरामि न तुभ्यमित्येवैनदाहोर्जं धत्स्वेति रसं धत्स्वेत्येवैनदाह धिषणे
वीड्वी सती वीडयेथामूर्जं दधाथामितीमे ऽ एवैतत्फलके ऽ आहुरित्यु हैक ऽ आहुः किं
नु तत्र यो ऽप्येते फलके भिन्द्यादिमे ह वै द्यावापृथिवी ऽ एतस्माद्घ्नाद्बिभ्यतात्सꣳ-
रेजेते तदाभ्यामेवैनमेतद्द्यावापृथिवीभ्याꣳ शमयति तथेमे शान्तो न हिनस्त्यूर्जं
दधाथामिति रसं दधाथामित्येवैनदाह पाप्मा हतो न सोम इति तदस्य सर्वं पा-
प्मानꣳ हन्ति ॥१८॥ स वै त्रिरभिषुणोति । त्रिः सम्भरति चतुर्निग्राभमुपैति त-
द्दश दशाक्षरा वै विराड्वैराजः सोमस्तस्माद्दश कृत्वः सम्पादयति ॥१९॥ अथ य-
न्निग्राभमुपैति । यत्र वा ऽ एषो ऽग्रे देवानाꣳ हविर्बभूव तद्धेमा दिशो ऽभिदध्यावा-
भिर्दिग्भिर्मिथुनेन प्रियेण धाम्ना सꣳस्पृशेयेति तमेतद्देवा आभिर्दिग्भिर्मिथुनेन
प्रियेण धाम्ना समस्पर्शयन्यन्निग्राभमुपायंस्तथो ऽ एवैनमेष एतदाभिर्दिग्भिर्मिथुनेन
प्रियेण धाम्ना सꣳस्पर्शयति यन्निग्राभमुपैति ॥२०॥ स उपैति । प्रागपागुदगधरा-
क्सर्वतस्त्वा दिश आधावन्त्विति तदेनमाभिर्दिग्भिर्मिथुनेन प्रियेण धाम्ना सꣳस्प-
र्शयत्यम्ब निष्पर समरीर्विदामिति योषा वा ऽ अम्बा योषा दिशस्तस्मादाहाम्ब
निष्परेति समरीर्विदामिति प्रजा वा ऽ अरीः सं प्रजा जानतामित्येवैतदाह तस्मा-
द्या अपि विदूरमिव प्रजा भवन्ति समेव ता जानते तस्मादाह समरीर्विदामिति
॥२१॥ अथ यस्मात्सोमो नाम । यत्र वा ऽ एषो ऽग्रे देवानाꣳ हविर्बभूव तद्धेक्षां
चक्रे मेव सर्वेणैवात्मना देवानाꣳ हविर्भूवमिति तस्य या जुष्टतमा तनूरास ता-
मपनिदधे तद्ध देवा अस्पृण्वत ते होचुरुपैवैतां प्रवृहस्व सहैव न एतया हवि-
रेधीति तां दूर ऽ इवोपप्रावृहत स्वा वै म ऽ एषेति तस्मात्सोमो नाम ॥२२॥ अ-
थ यस्माद्यज्ञो नाम । घ्नन्ति वा ऽ एनमेतद्यदभिषुण्वन्ति तद्यदेनं तन्वते तदेनं ज-
नयन्ति स तायमानो जायते स यञ्जायते तस्माद्यञ्जो यज्ञो ह वै नामैतद्यद्यज्ञ
इति ॥२३॥ तत्रैतामपि वाचमुवाद । त्वमङ्ग प्रशꣳसिषो देवः शविष्ठ मर्त्यम् ।

मत, काँपे मत।" क्योंकि मैं अमुक को कुचलता हूँ, तुझको नहीं। "ऊर्जं धत्स्व" (यजु० ६।३५)–अर्थात् "रस को धारण कर।" "धिषणे वीड्वी सती वीडयेथामूर्जं दधाथाम्" (यजु० ६।३५)–"हे निश्चल धिषण, तुम निश्चल रहो और रस को धारण करो।" कुछ लोग कहते हैं कि इससे उन दो पट्टों से तात्पर्य है। यदि इनको कोई तोड़ दे तो क्या हो? ये वस्तुतः द्यौ और पृथिवी हैं जो इस उद्यत वज्र से काँपते हैं। इसलिए इसको शान्त करता है और यह शान्त होकर हानि नहीं पहुँचाता। 'ऊर्जं दधाथाम्' का अर्थ है 'रस को धारण कर।' "पाप्मा हतो न सोमः" (यजु० ६।३५)–"पापी मर गया, न कि सोम।" इस प्रकार इसके सब पापों का नाश करता है ॥१८॥

वह तीन बार कुचलता है, तीन बार बटोरता है। चार बार निग्राभ-क्रिया करता है। इस प्रकार दस हुए। दस अक्षर का विराट् छन्द होता है। सोम विराट्वाला है। इस प्रकार दस बार में सम्पादन करता है ॥१९॥

वह निग्राभ-क्रिया क्यों करता है? जब यह सोम पहले देवताओं की हवि बना तो इसने इन चार दिशाओं का ध्यान किया कि मैं इन चार दिशाओं के द्वारा अपने प्रिय तेज का स्पर्श करूँ। निग्राभ के द्वारा देवों ने इन दिशाओं से प्रिय प्रकाश के साथ स्पर्श कराया। यह यजमान भी निग्राभ करके इन दिशाओं के द्वारा प्रिय प्रकाश से इसका स्पर्श कराता है ॥२०॥

वह (निग्राभ क्रिया) इस मन्त्र से करता है—"प्रागपागुदगधराक् सर्वतस्त्वा दिशऽआधावन्तु" (यजु० ६।३६)—"पूर्व से, पश्चिम से, उत्तर से, दक्षिण से, चारों ओर से दिशाएँ तुझे धारण करें।" इस प्रकार वह दिशाओं से उसका जोड़ा मिला देता है, उसके प्रिय प्रकाश से। "अम्ब निष्पर समरीर्विदाम्" (यजु० ६।३६)—"हे मा, इसको सन्तुष्ट कर। उच्च लोग मिलें।" 'अम्बा' स्त्री हैं। 'दिशाएँ' स्त्री हैं। इसलिए कहा, 'अम्ब निष्पर।' 'अरीः' प्रजा हैं। इसका तात्पर्य है कि प्रजाएँ परस्पर मेल से रहें। जो दूर-दूर रहते हैं वे भी मेल से रहते हैं। इसलिए कहा कि प्रजाएँ मेल से रहें ॥२१॥

अब सोम नाम क्यों पड़ा? जब यह पहले देवताओं का हवि बना तो इसने चाहा कि मैं अपनी पूर्ण सत्ता से देवों का हवि न बनूं। उसका जो सबसे प्यारा शरीर (अंश) था उसको उसने अलग कर लिया। अब देव विजयी हो गये। उन्होंने कहा, 'तू इसको अपने में धारण कर। तब तू हमारा हवि होगा।' उसने उस अपने अंश को दूर से खींच लिया। यह मेरा ही है। (स्वा वै म) इससे सोम हो गया ॥२२॥

इसको यज्ञ क्यों कहते हैं? जब उसको कुचलते हैं तो उसको मारते हैं। जब उसको फैलाते हैं तो उसको उत्पन्न करते हैं। वह फैलाया जाकर उत्पन्न होता है। उत्पन्न होता है, इसलिए 'यन् जायते', 'यञ्ज', 'यज्ञ' हुआ ॥२३॥

उसने उस समय यह कहा—"त्वमङ्ग प्रशंसिषो देवः शविष्ठ मर्त्यम्। न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः" (यजु० ६।३७, ऋ० १।८४।१९)—"हे श्रेष्ठ देव, तू

न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वच इति मर्त्यो हैवैतद्देवमनुवाच त्वमेवेतो जनयितासि नान्यस्त्वदिति ॥२४॥ अथ निग्राभ्याभ्यो ग्रहान्विगृह्णाते । आपो ह वै वृत्रं जघ्नुस्तेनैवैतद्वीर्येणापः स्यन्दन्ते स्यन्दमानानां वै वसतीवरीर्गृह्णाति वसतीवरीभ्यो निग्राभ्या निग्राभ्याभ्यो ग्रहान्विगृह्णाते तेनैवैतद्वीर्येण ग्रहान्विगृह्णाते होतृचमसाद्योषा वाऽऋग्घोता योषायै वाऽइमाः प्रजाः प्रजायन्ते तदेनमेतस्यै योषायाऽऋचो होतुः प्रजनयति तस्माद्धोतृचमसात् ॥२५॥ ब्राह्मणम् ॥५[१.४]॥ सप्तमः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या ११४ ॥ नवमोऽध्यायः [२४.] ॥ ॥

अस्मिन्काण्डे कण्डिकासंख्या ८५१ ॥ ॥

इति माध्यन्दिनीये शतपथब्राह्मणे अध्वरनाम तृतीयं काण्डं समाप्तम् ॥३॥ ॥

मर्त्य को प्रशंसित करेगा। तुझसे अन्य कोई सुख का दाता नहीं है। हे ऐश्वर्यवान्, मैं तुझसे यह वचन कहता हूँ।'' यह मर्त्य ही था जो इसने यह कहा, अर्थात् तू ही इसको उत्पन्न करनेवाला है, तुझसे अन्य कोई दूसरा नहीं ॥२४॥

अब निग्राभ्य जलों से कई ग्रहों (प्यालों) को भरते हैं। जलों ने ही वृत्र को मारा था। उसी पराक्रम से जल बहते हैं। बहते हुओं से ही वसतीवरी को ग्रहण करता है, वसतीवरी से निग्राभ्य को, निग्राभ्य से ग्रहों को। उसी पराक्रम के द्वारा होता के चमसे से वह ग्रहों को लेता है। यह जो होता है, वह ऋक् है, ऋक् स्त्री है, स्त्री से ही यह प्रजा उत्पन्न होती है। इसलिए वह (इस सोम) को स्त्री, ऋक् होता से उत्पन्न कराता है। इसलिए वह होतृ के चमसे से ग्रहों को लेता है ॥२५॥

माध्यन्दिनीय शतपथब्राह्मण की श्रीमत् पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय कृत 'रत्नकुमारी-दीपिका' भाषा व्याख्या का अध्वरनाम तृतीय काण्ड समाप्त हुआ।

तृतीय काण्ड

प्रपाठक	कण्डिका-संख्या
प्रथम [३. २. १]	१२४
द्वितीय [३. ३. ३]	१२८
तृतीय [३. ४. ४]	१२२
चतुर्थ [३. ६. १]	१३२
पञ्चम [३. ७. ३]	१२७
षष्ठ [३. ८. ४]	११२
सप्तम [३.९. ४]	११४
योग	८५९
पूर्व के काण्डों का योग	१३८७
पूर्णयोग	२२४६

तृतीय काण्ड के विशेष शीर्षक

अवान्तर दीक्षा [३।४।३]; उपसदिष्टिः [३।४।४]; महावेदिनामम् [३।५।१]; अग्निप्रणयनादि [३।५।२]; सदो हविर्धाननिर्माणादि [३।५।३]; उपरवनिर्माणम् [३।५।४]; सदस्यौदुम्बरी निखननम् [३।६।१]; धिष्ण्य निवापादि [३।६।२]; वैसर्जनहोमः [३।६।३]; अग्निषोमीय पशुप्रयोगः, तत्र यूपच्छेदनम् [३।६।४]; यूपोच्छ्रयणादि [३।७।१]; यूपैकादशिनी [३।७।२]; पशूपकरणादि [३।७।३]; पशुनियोजन प्रोक्षणादि [३।७।४]; पशु संज्ञपनम्; तत्रोपवेशनादि विधिः [३।८।१]; अग्निषोमीय वपायागः [३।८।२]; पशुपुरोडाशयागः [३।८।३]; उपयड्ढोमः [३।८।४]; पश्वेकादशिनी [३।९।१]; वसतीवर ग्रहणविधिः [३।९।२]; सवनीयपशुप्रयोगः [३।९।३]; सोमाभिषवः [३।९।४]।

ओम् । प्राणो ह वाऽअस्योपाꣳशुः । व्यान उपाꣳशुसवन उदान एवान्तर्यामः ॥१॥ अथ यस्मादुपाꣳशुर्नाम । अꣳशुर्वै नाम ग्रहः स प्रजापतिस्तस्यैष प्राणस्तद्यदस्यैष प्राणस्तस्मादुपाꣳशुर्नाम ॥२॥ तं बर्हिष्यविज्ञाद्गृह्णाति । पराङ्ङेवास्मिन्नेतत्प्राणं दधाति सोऽस्यायं पराङिव प्राणो निरर्दति तमꣳशुभिः पावयति पूतोऽसदिति षड्भिः पावयति षड्वाऽऋतव ऋतुभिरेवैनमेतत्पावयति ॥३॥ तदाहुः । यदꣳशुभिरुपाꣳशुं पुनाति सर्वे सोमाः पवित्रपूता अथ केनास्याꣳशवः पूता भवन्तीति ॥४॥ तानुपनिवपति । यत्ते सोमादाभ्यं नाम जागृवि तस्मै ते सोम सोमाय स्वाहेति तदस्य स्वाहाकारेणैवाꣳशवः पूता भवन्ति सर्वं वाऽएष ग्रहः सर्वेषाꣳ हि सवनानाꣳ रूपम् ॥५॥ देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः । तेऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद्बिभयां चक्रुस्ते होचुः सꣳस्थापयाम यज्ञं यदि नोऽसुररक्षसान्यासजेयुः सꣳस्थित एव नो यज्ञः स्यादिति ॥६॥ ते प्रातःसवनऽएव । सर्वं यज्ञꣳ समस्थापयन्नेतस्मिन्नेव ग्रहे यजुष्टः प्रथमे स्तोत्रे सामतः प्रथमे शस्त्रऽऋक्तस्तेन सꣳस्थितेनैवात ऊर्ध्वं यज्ञेनाचरन्त्स एषोऽप्येतर्हि तथैव यज्ञः संतिष्ठतऽएतस्मिन्नेव ग्रहे यजुष्टः प्रथमे स्तोत्रे सामतः प्रथमे शस्त्रऽऋक्तस्तेन सꣳस्थितेनैवात ऊर्ध्वं यज्ञेन चरति ॥७॥ स वाऽअष्टौ कृत्वोऽभिषुणोति । अष्टाक्षरा वै गायत्री गायत्रं प्रातःसवनं प्रातःसवनमेवैतत्क्रियते ॥८॥ स गृह्णाति । वाचस्पतये पवस्वेति प्राणो वै वाचस्पतिः प्राण एष ग्रहस्तस्मादाह वाचस्पतये पवस्वेति वृष्णोऽअꣳशुभ्यां गभस्तिपूत इति सोमाꣳशुभ्याꣳ ह्येनं पावयति तस्मादाह वृष्णोऽअꣳशुभ्यामिति

चतुर्थ काण्ड

अथ ग्रह नामकं चतुर्थ काण्डम्

उपांशुग्रहः क्षुल्लकाभिषवश्च

अध्याय १—ब्राह्मण १

उपांशु यज्ञ का प्राण है। उपांशु सवन व्यान है और अन्तर्याम ग्रह उदान है ॥१॥

इसको उपांशु क्यों कहते हैं? अंशु नामी ग्रह प्रजापति है। यह ग्रह उसका प्राण है। चूंकि वह इसका प्राण है इसलिए उपांशु हुआ ॥२॥

इसको पवित्रे के विना लेता है। उससे परांच प्राण (दूर जाते हुए प्राण) को धारण करता है। उसका यह बाहर की ओर जाता हुआ निकलता है। उसको सोम के अंशु या डालियों से पवित्र करता है, क्योंकि ये पवित्र होती हैं। छः डालियों से पवित्र करता है। छः ऋतुएँ हैं। इस प्रकार ऋतुओं से पवित्र करता है ॥३॥

इस पर कुछ लोग कहते हैं कि उपांशु ग्रह को तो सोम की डालियों से पवित्र करते हैं और अन्य सोम पवित्रे से पवित्र किये जाते हैं, तो ये डालियाँ किससे पवित्र होती हैं? ॥४॥

उन (डालियों) को इस मन्त्र को पढ़कर (सोम पर) डाल देता है या उपवपन करता है—"यत् ते सोमादाभ्यं नाम जागृवि तस्मै ते सोमसोमाय स्वाहा" (यजु० ७।२)—"हे सोम, तेरा जो दमन करने योग्य जगानेवाला नाम है उस तुझ सोम के लिए स्वाहा।" इस स्वाहाकार से ही ये डालियाँ पवित्र हो जाती हैं। यह ग्रह सब-कुछ है, क्योंकि यह सब सवनों का रूप है ॥५॥

जब देवों ने यज्ञ ताना तो वे राक्षसों के आक्रमण से भयभीत हो गए। उन्होंने कहा कि पहले हम यज्ञ की स्थापना कर लें, फिर यदि राक्षस आक्रमण भी करेंगे तो हमारा यज्ञ तो स्थापित रहेगा ही ॥६॥

उन्होंने प्रातः-सवन में ही सम्पूर्ण यज्ञ स्थापित कर दिया—इसी (उपांशु) ग्रह में यजुः से, पहले स्तोत्र में साम से, पहले शस्त्र में ऋक् से। इसी पूर्णतया स्थापित यज्ञ के द्वारा उन्होंने अर्चन किया। यह भी इसी प्रकार यज्ञ को स्थापित करता है,—पहले इसी ग्रह में यजुः से, पहले स्तोत्र में सोम से, प्रथम शस्त्र में ऋक् से। उसी स्थापित यज्ञ से वह अर्चन करता है ॥७॥

यह सोम आठ बार कुचला जाता है। आठ अक्षर की गायत्री होती है। प्रातः-सवन गायत्री-सम्बन्धी है। इस प्रकार यह प्रातः-सवन होता है ॥८॥

वह इस मन्त्र से लेता है--"वाचस्पतये पवस्व" (यजु० ७।१)—"वाचस्पति के लिए पवित्र हो।" वाचस्पति प्राण है। यह ग्रह भी प्राण है। इसलिए कहा कि वाचस्पति के लिए पवित्र हो। "वृष्णोऽअँशुभ्यां गभस्तिपूतः" (यजु० ७।१) सोम की दो डालियों से इसे पवित्र करता है, इसलिए कहा कि "शक्तिशाली के दो अंशुओं से।" 'गभस्ति' का अर्थ है हाथ। हाथ से

गभस्तिपूत इति पाणी वै गभस्ती पाणिभ्याᳯ ह्येनं पावयति ॥ ९॥ अथैकादश कृत्वोऽभिषुणाति । एकादशाक्षरा वै त्रिष्टुप्त्रैष्टुभं माध्यन्दिनᳯ सवनं माध्यन्दिनमेवैतत्सवनं क्रियते ॥ १०॥ स गृह्णाति । देवो देवेभ्यः पवस्वेति देवो ह्येष देवेभ्यः पवते येषां भागोऽसीति तेषामु ह्येष भागः ॥ ११॥ अथ द्वादश कृत्वोऽभिषुणोति । द्वादशाक्षरा वै जगती जागतं तृतीयसवनं तृतीयसवनमेवैतत्क्रियते ॥१२॥ स गृह्णाति । मधुमतीर्न इषस्कृधीति रसमेवास्मिन्नेतद्दधाति स्वदयत्येवैनमेतद्देवेभ्यस्तस्मादेष हुतो न पूयत्यथ यज्जुहोति सᳯस्थापयत्येवैनमेतत् ॥ १३॥ अष्टावष्टौ कृत्वः । ब्रह्मवर्चसकामस्याभिषुणुयादित्याहुरष्टाक्षरा वै गायत्री ब्रह्म गायत्री ब्रह्मवर्चसी हैव भवति ॥ १४॥ तच्चतुर्विᳯशतिं कृत्वोऽभिषुतं भवति । चतुर्विᳯशतिर्वै संवत्सरस्यार्धमासाः संवत्सरः प्रजापतिः प्रजापतिर्यज्ञः स यावानेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावन्तमेवैतत्सᳯस्थापयति ॥ १५॥ पञ्च-पञ्च कृत्वः । पशुकामस्याभिषुणुयादित्याहुः पाङ्क्ताः पशवः पशूनेवावरुन्द्धे पञ्च वाऽऋतवः संवत्सरस्य संवत्सरः प्रजापतिः प्रजापतिर्यज्ञः स यावानेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावन्तमेवैतत्सᳯस्थापयति सोऽएषा मीमाᳯसैवेतरं त्वेव क्रियते ॥ १६॥ तं गृहीत्वा परिमार्ष्टि । नेद्व्यवश्चोतदिति तं न सादयति प्राणो ह्यस्यैष तस्मादयमसन्नः प्राणः संचरति यदीद्वभिचरेदथैनᳯ सादयेदमुष्य त्वा प्राणᳯ सादयामीति तथाह तस्मिन्न पुनरस्ति यन्नानुसृजति तेनोऽअध्वर्युश्च यजमानश्च ज्योग्जीवतः ॥ १७॥ अथोऽअप्येवैनं दध्यात् । अमुष्य त्वा प्राणमपिदधामीति तथाह तस्मिन्न पुनरस्ति यन्न सादयति तेनो प्राणान्न लोभयति ॥ १८॥ स वाऽअन्तरेव सन्त्स्वाहेति करोति । देवा ह वै बिभयां चक्रुर्यद्वै नः पुरैवास्य ग्रहस्य होमादसुररक्षसानीमं ग्रहं न हन्युरिति तमन्तरेव सन्तः स्वाहाकारेणाजुहवुस्तᳯ हुतमेव सन्तमग्नावजुहवुस्तथोऽएवैनमेष एतदन्तरेव सन्त्स्वाहाकारेणा जुहोति तᳯ हुतमेव सन्तमग्नौ जुहो-

उसको पवित्र करता है, इसलिए कहा 'गभस्तिपूतः' ॥६॥

अब वह ग्यारह बार कुचलता है। त्रिष्टुप् में ग्यारह अक्षर होते हैं। त्रिष्टुप् दोपहर का सवन है। इस प्रकार यह दोपहर का सवन हो जाता है ॥१०॥

वह इस मन्त्र से ग्रहण करता है—"देवो देवेभ्यः पवस्व" (यजु० ७।१)—"देव देवों के लिए पवित्र हो।" यह (सोम) देव है और देवों के लिए पवित्र होता है। "येषां भागोऽसि" (यजु० ७।१)—वस्तुतः यह उनका भाग है ॥११॥

अब बारह बार कुचलता है। जगती बारह अक्षर की होती है। तीसरा सवन जगती का है। इस प्रकार यह तीसरा सवन हो जाता है ॥१२॥

वह इस मन्त्र के द्वारा ग्रहण करता है—"मधुमतीर्नऽइषस्कृधि" (यजु० ७।२)—"हमारे अन्नों को मीठा कर।" इस प्रकार इसमें रस डालता है और देवों के चखने योग्य बनाता है। इस प्रकार मारा जाकर वह सड़ता नहीं। और जब वह इस ग्रह की आहुति देता है तो उसकी वहाँ स्थापना करता है ॥१३॥

ब्रह्मवर्चस् की इच्छावाला आठ बार कुचले। गायत्री में आठ अक्षर होते हैं। गायत्री ब्रह्मवर्चसी है ॥१४॥

इस प्रकार चौबीस चोटों से कुचलना हो जाता है। वर्ष के अर्ध मास चौबीस होते हैं। संवत्सर प्रजापति हैं, प्रजापति यज्ञ है। वह यज्ञ जितना है और जितनी उसकी मात्रा है उतनी ही उसकी संस्थापना हो जाती है ॥१५॥

पशु की कामनावाला पाँच बार कुचले। कहते हैं कि पशु पाँचवाले हैं। इस प्रकार पशु की प्राप्ति करता है। संवत्सर में पाँच ऋतुएँ होती हैं। संवत्सर ही प्रजापति है। प्रजापति यज्ञ है। जितना यह यज्ञ है, जितनी इसकी मात्रा है उतनी ही इसकी संस्थापना है। यह केवल मीमांसा (कल्पना) है। दूसरी क्रिया इस प्रकार है—॥१६॥

ग्रह को लेकर पोंछता है कि कुछ टपके न। वह इसको रखता नहीं है। यह उसका प्राण है। इस प्रकार उसका प्राण निरन्तर चलता है। यदि इसको रोकना चाहे तो इसको रख दे और कहे 'मैं अमुक के तुम प्राण को रोकता हूँ।' चूंकि अध्वर्यु उसको छोड़ता नहीं, अतः वह (प्राण) उस (शत्रु) में नहीं रहता। इस प्रकार अध्वर्य और यजमान दीर्घ जीवन को प्राप्त होते हैं ॥१७॥

या उसको हाथ से दबाकर कहे कि 'मैं अमुक के तुझ प्राण को दबाता हूँ।' चूंकि वह उसको रखता नहीं, अतः वह (प्राण) शत्रु में नहीं रहता। इस प्रकार वह प्राणों को नष्ट नहीं करता ॥१८॥

जब वह हविर्धान के भीतर ही होता है तभी 'स्वाहा' कहता है। देवों को डर था कि होम से पहले जो कुछ इस ग्रह का अंश है उसको असुर राक्षस नष्ट न कर दें। इसलिए जब वे हविर्धान के भीतर थे तभी उन्होंने स्वाहा कह दिया, और जो कुछ आहुति दी उससे अग्नि में फिर आहुति दे दी। इस प्रकार यह भी जब हविर्धान के भीतर है तभी स्वाहा करके आहुति देता है, और जो कुछ आहुति दी जाती है उसी को फिर आग में छोड़ देता है ॥१६॥

ति ॥१९॥ अथोपनिष्क्रामति । उर्वन्तरिक्षमन्वेमीत्यन्तरिक्षं वाऽअनु रक्षश्चरत्य-मूलमुभयतः परिच्छिन्नं यथायं पुरुषोऽमूल उभयतः परिच्छिन्नोऽन्तरिक्षमनुचरत्येतद्वै यजुर्ब्रह्म रक्षोहा स एतेन ब्रह्मणान्तरिक्षमभयमनाष्ट्रं कुरुते ॥२०॥ अथ वरं वृणीते । बलवद्ध वै देवा एतस्य ग्रहस्य क्षेमं प्रेप्सन्ति तेऽस्माऽएतं वरᳬ समर्धयन्ति क्षिप्रे न इमं ग्रहं जुहवदिति तस्माद्वरं वृणीते ॥२१॥ स जुहोति । स्वांकृतोऽसीति प्राणो वाऽअस्यैष ग्रहः स स्वयमेव कृतः स्वयं जातस्तस्मादाह स्वांकृतोऽसीति विश्वेभ्य इन्द्रियेभ्यो दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्य इति सर्वाभ्यो ह्येष प्रजाभ्यः स्वयं जातो मनस्त्वाष्टिति प्रजापतिर्वै मनः प्रजापतिष्ट्वाश्नुतामित्येवैतदाह स्वाहा त्वा सुभव सूर्यायेति तदवरᳬ स्वाहाकारᳬ करोति परां देवताम् ॥२२॥ अमुष्मिन्वाऽएतमह्नौषीत् । य एष तपति सर्वं वाऽएष तदेनᳬ सर्वस्यैव परार्ध्यं करोत्यथ यदवरां देवतां कुर्यात्परᳬ स्वाहाकारᳬ स्यादु ह्वैवामुष्मादादित्यात्परं तस्मादवरᳬ स्वाहाकारं करोति परां देवताम् ॥२३॥ अथ जुह्वोर्ध्व ग्रहमुन्मार्ष्टि । पराञ्चमेवास्मिन्नेतत्प्राणं दधात्यथोत्तानेन पाणिना मध्यमे परिधौ प्रागुपमार्ष्टि पराञ्चमेवास्मिन्नेतत्प्राणं दधाति देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्य इति ॥२४॥ अमुष्मिन्वाऽएतं मण्डलेऽह्नौषीत् । य एष तपति तस्य ये रश्मयस्ते देवा मरीचिपास्तानेवैतत्प्रीणाति तऽएनं देवाः प्रीताः स्वर्गं लोकमभिवहन्ति ॥२५॥ तस्य वाऽएतस्य ग्रहस्य । नानुवाक्यास्ति न याज्या तं मन्त्रेण जुहोत्येतेनो हास्यैषोऽनुवाक्यवान्भवत्येतेन याज्यवानथ यद्यभिचरेद्योऽस्याᳬशुराश्लिष्टः स्याद्वाह्वोर्वीरणि वा वाससि वा तं जुहुयाद्देवाᳬशो यस्मै त्वेडे तत्सत्यमुपरिप्रुता भङ्गेन हतोऽसौ फडिति यथा ह वै हन्यमानानामपधावेदेवमेषोऽभिषूयमाणानाᳬ स्कन्दति तथा ह तस्य नैव धावन्नापधावत्परिशिष्यते यस्माऽएवं करोति तᳬ सादयति प्राणाय त्वेति प्राणो ह्यस्यैषः ॥२६॥ दक्षिणार्धे हैके सादयन्ति । एताᳬ ह्येष दिशमनु

अब वह 'हविर्धान' से बाहर आता है यह कहता हुआ कि मैं अन्तरिक्ष में होकर आता हूँ। अन्तरिक्ष में राक्षस दोनों ओर से स्वच्छन्द मूलरहित फिरता है। इसी प्रकार यह पुरुष भी दोनों ओर से स्वच्छन्द मूलरहित अन्तरिक्ष में फिरता है। यह यजुः है, राक्षस को मारनेवाली स्तुति। इसी स्तुति के द्वारा वह अन्तरिक्ष को निर्भय और राक्षस से मुक्त कर देता है ॥२०॥

अब वर मांगता है—देव इस ग्रह के होम को अत्यन्त चाहते हैं। और वे इसके लिए उसको वर देते हैं कि शीघ्र ही यह होम हमारे लिए दे देवे। इसलिए वर को माँगता है ॥२१॥

वह इस मन्त्र से आहुति देता है—"स्वां कृतोऽसि" (यजु० ७।३)—"यह ग्रह इसका प्राण है।" वह उसी का किया हुआ स्वयं उत्पन्न हुआ है, इसलिए कहा कि 'स्वांकृतः' अर्थात् अपने-आप बना हुआ है। "विश्वेभ्य ऽ इन्द्रियेभ्यो दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्यः" (यजु० ७।३)—"सब प्रजाओं के लिए यह स्वयं ही बना है।" "मनस्त्वाष्टु" (यजु० ७।३)—"तुझको मन प्राप्त करे।" मन प्रजापति है, इसलिए इसका अर्थ हुआ कि प्रजापति तुझको पावे। "स्वाहा त्वा सुभव सूर्याय" (यजु० ७।३)—"हे भलीभाँति उत्पन्न तुझ सूर्य के लिए स्वाहा।" इस प्रकार वह दूसरे देवता के लिए स्वाहाकार करता है ॥२२॥

यह जो तपता है अर्थात् सूर्य, उसी में उसने आहुति दी है। यही सब-कुछ है। इसलिए वह उस (सूर्य) को सर्वोपरि बनाता है। यदि वह दूसरे स्वाहाकार को पहले देवता के लिए करता तो वह सूर्य से भी बड़ा हो जाता। इसलिए दूसरे स्वाहाकार को उसी देवता के लिए करता है ॥२३॥

अब आहुति देकर ग्रह को पोंछता है। इसमें वह जाते हुए प्राण को फिर रखता है। अब हथेली से मध्यपरिधि में वह पोंछा हुआ सोम लगाता है। इस प्रकार उसमें जाते हुए प्राण को धारण कराता है इस मन्त्र से —"देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्यः" (यजु० ७।३)—"किरणों को पीनेवाले देवों के लिए तुझको" ॥२४॥

उसी (सूर्यमंडल) में उसने आहुति दी है, जो कि तपता है। उसी की किरणें 'मरीचिपा' (प्रकाश का पान करनेवाली) हैं। उन्हीं को वह प्रसन्न करता है। उसी से प्रसन्न होकर देव उसे स्वर्गलोक को ले जाते हैं ॥२५॥

इस ग्रह के लिए न कोई अनुवाक्य है न याज्य। वह एक मन्त्र से आहुति देता है, इसी से वह अनुवाक्य और याज्य दोनों से युक्त हो जाता है। यदि वह कोई अभिचार करना चाहे तो सोम की डाली को चिपका ले, बाहों से, छाती से या कपड़े से, और इस मन्त्र से आहुति देवे—'देवाᳫंशो यस्मै त्वेडे तत् सत्यमुपरिप्रुता भङ्गेन हतोऽसौ फट्"—"हे दिव्य सोम! जिस काम के लिए मैं तेरी स्तुति करता हूँ, वह पूरा होवे। और अमुक पुरुष (मेरा शत्रु) नष्ट हो जाय।" जिस प्रकार मारे जानेवाले शत्रुओं में से कोई भाग जाता है, इसी प्रकार सोम की कुचली जानेवाली शाखाओं में से यह एक बच सकती है। जो इस प्रकार करता है उसका कोई शत्रु भागकर बचने नहीं पाता। इस मन्त्र से वह ग्रह को रख देता है—"प्राणाय त्वा" (यजु० ७।३) क्योंकि यह ग्रह इस यज्ञ का प्राण है ॥२६॥

कुछ लोग इसको दक्षिण की ओर रखते हैं। वे कहते हैं कि इसी दिशा में सूर्य चलता

संचरतीति तद्व तथा न कुर्यादुत्तरार्धऽएवैनꣳ सादयेन्नो ह्येतस्या आहुतेः काचन परास्ति तꣳ सादयति प्राणाय त्वेति प्राणो ह्यस्यैषः ॥२७॥ अथोपाꣳशुसवनमादत्ते । तं न दशाभिर्न पवित्रेणोपस्पृशति यथा ह्यद्भिः प्रणिक्तमेवं तद्यद्यꣳशुराश्लिष्टः स्यात्पाणिनेव प्रध्वꣳस्योदञ्चमुपनिपादयेद्व्यानाय त्वेति व्यानो ह्यस्यैषः ॥२८॥ ब्राह्मणम् ॥१॥ ॥

प्राणो ह वाऽअस्योपाꣳशुः । व्यान उपाꣳशुसवन उदान एवान्तर्यामः ॥१॥ अथ यस्मादन्तर्यामो नाम । यो वै प्राणः स उदानः स व्यानस्तमेवास्मिन्नेतत्पराञ्चं प्राणं दधाति यदुपाꣳशुं गृह्णाति तमेवास्मिन्नेतत्प्रत्यञ्चमुदानं दधाति यदन्तर्यामं गृह्णाति सोऽस्यायमुदानोऽन्तरात्मन्यतस्तद्यदस्यैषोऽन्तरात्मन्यतो यद्धेनेनेमाः प्रजा यतास्तस्मादन्तर्यामो नाम ॥२॥ तमन्तःपवित्राद्गृह्णाति । प्रत्यञ्चमेवास्मिन्नेतदुदानं दधाति सोऽस्यायमुदानोऽन्तरात्मन्हित एतेनो हास्याप्युपाꣳशुरन्तःपवित्राद्गृहीतो भवति समानꣳ ह्येतद्यदुपाꣳश्वन्तर्यामौ प्राणोदानौ ह्येतेनो हैवास्यैषोऽपीतरेषु ग्रहेष्वनाद्धितद्भवति ॥३॥ अथ यस्मात्सोमं पवित्रेण पावयति । यत्र वै सोमः स्वं पुरोहितं बृहस्पतिं जिज्यौ तस्मै पुनर्ददौ तेन समशशाम तस्मिन्पुनर्ददुष्यासैवातिशिष्टमेनो यदीन्नूनं ब्रह्म ज्यानायाभिदध्यौ ॥४॥ तं देवाः पवित्रेणापावयन् । स मेध्यः पूतो देवानाꣳ हविरभवत्तथोऽएवैनमेष एतत्पवित्रेण पावयति स मेध्यः पूतो देवानाꣳ हविर्भवति ॥५॥ तद्यदुपयामेन ग्रहा गृह्यन्ते । इयं वाऽअदितिस्तस्या अदः प्रायणीयꣳ हविरसावादित्यश्चरुस्तद्धि तत्पुरेव सुत्यायै सा हेयं देवेषु सुत्यायामपित्वमीषेऽस्त्वेव मेऽपि प्रसुते भाग इति ॥६॥ त ह देवा ऊचुः । व्यादिष्टोऽयं देवताभ्यो यज्ञस्त्वय्येव ग्रहा गृह्यन्तां देवताभ्यो हूयन्तामिति तथेति सोऽस्या एष प्रसुते भागः ॥७॥ तद्यदुपयामेन ग्रहा गृह्यन्ते । इयं वाऽउपयाम इयं वाऽइदमन्नाद्यमुपयच्छति पशुभ्यो मनुष्येभ्यो वनस्पतिभ्य इतो वाऽऊ-

है। परन्तु ऐसा न करना चाहिए। उसको उत्तर की ओर रक्खे। क्योंकि इससे उत्तर (उत्कृष्ट) कोई ग्रह है ही नहीं। इसको "प्राणाय त्वा" (यजु० ७।३) कहकर रखता है क्योंकि यह उसका प्राण है ॥२७॥

अब वह उपांशु सवन को लेता है। वह इसको न झालर से छूता है न पवित्रे से। ऐसा करने से तो पानी से धोने के तुल्य होगा। यदि कोई अंशु या सोमलता का टुकड़ा लगा हो तो उसे हाथ से छुटा दे और उस (उपांशु सवन) को (उपांशु-ग्रह के) पास रख दे उत्तर की ओर मुंह करके, इस मन्त्र से—"व्यानाय त्वा" (यजु० ७।३) क्योंकि यह यज्ञ का व्यान है ॥२८॥

अन्तर्यामग्रहः

अध्याय १—ब्राह्मण २

इस (यज्ञ) का प्राण उपांशु ग्रह है, व्यान उपांशु सवन है और अन्तर्याम ग्रह उदान है ॥१॥

अन्तर्याम नाम यों पड़ा—जो प्राण है सो उदान, वही व्यान है, इसी में उस जाते हुए प्राण को धारण करता है; जो उपांशु ग्रह को लेता है, और जो अन्तर्याम ग्रह को लेता है उसमें लौटते हुए उदान को लेता है, यह उदान उसके अन्तरात्मा में ही है; यह जो उदान अन्तरात्मा में है और चूंकि इसमें यह प्रजा 'यताः' अर्थात् व्याप्त है, इसलिए इस ग्रह का नाम 'अन्तर्याम' पड़ गया ॥२॥

उसको पवित्रे के भीतर से निकालता है। इस प्रकार लौटके निकलते हुए उदान को उसमें धारण करता है। यह उदान उसी में स्थित होता है। इसीसे उसकी उपांशु-आहुति पवित्रे के भीतर से निकली हुई हो जाती है, क्योंकि उपांशु और अन्तर्याम एक ही हैं, क्योंकि वे प्राण और उदान हैं। इसके अतिरिक्त इसके द्वारा उसका प्राण अन्य ग्रहों में भी निरन्तर स्थित हो जाता है ॥३॥

सोम को पवित्रे से शुद्ध करने का कारण यह है–जब सोम ने अपने ही पुरोहित बृहस्पति को सताया था तो पीछे से उसने उसका माल वापस कर दिया था और वह शान्त हो गया था। माल लौटा देने पर भी कुछ दोष तो शेष रह ही गया क्योंकि उसने ब्राह्मण को सताने का विचार कर लिया था ॥४॥

उसको देवों ने पवित्रे से शुद्ध किया। वह पवित्र होकर देवों की हवि बन गया। इसी प्रकार यह भी इसे पवित्रे से शुद्ध करता है। यह पवित्र होकर देवों की हवि बन जाता है ॥५॥

उपयाम के साथ ग्रह इसलिए लिये जाते हैं कि यह पृथिवी आहुति है। आदित्य चरु इसका प्रायणीय हवि है। वह सोम के बनाने से पूर्व की बात है। उसने चाहा कि देवों के साथ मेरा भी भाग मिल जाय, और कहा कि निचोड़े हुए सोम में से मुझे भी भाग मिले ॥६॥

उन देवों ने कहा, 'यज्ञ तो देवताओं में बँट चुका। तेरे द्वारा ही ग्रह लिये जावेंगे, और तेरे ही द्वारा देवताओं की आहुतियाँ दी जावेंगी।' उसने कहा 'अच्छा।' वस्तुतः यह उस अर्पित सोम का उस (अदिति) का भाग है ॥७॥

उपयाम के साथ ग्रह इसलिए भी लिये जाते हैं कि यह पृथिवी उपयाम है क्योंकि यह अन्न आदि को रखती है (उपयच्छति)—पशुओं के लिए, मनुष्यों के लिए और वनस्पतियों के लिए।

र्धा देवा दिवि हि देवाः ॥ ८॥ तद्यदुपयामेन ग्रहा गृह्यन्ते । अनयैव तद्गृह्यन्ते
ऽथ यद्योनौ सादयतीयं वाऽअस्य सर्वस्य योनिरस्यै वाऽइमाः प्रजाः प्रजाताः
॥ ९॥ तं वाऽएतꣳ । रेतो भूतꣳ सोममृत्विजो बिभ्रति यद्वाऽअयोनौ रेतः सिच्य-
ते प्र वै तन्मीयतेऽथ यद्योनौ सादयत्यस्यामेव तत्सादयति ॥ १०॥ प्राणोदानौ
ह वाऽअस्यैतौ ग्रहौ । तयोरुदितेऽन्यतरं जुहोत्यनुदितेऽन्यतरं प्राणोदानयो-
र्व्याकृत्यै प्राणोदानावेवैतद्व्याकरोति तस्मादेतौ समानावेव सन्तौ नानेवाचक्षते
प्राण इति चोदान इति च ॥ ११॥ अहोरात्रे ह वाऽअस्यैतौ ग्रहौ । तयोरुदिते
ऽन्यतरं जुहोत्यनुदितेऽन्यतरमहोरात्रयोर्व्याकृत्याऽअहोरात्रेऽएवैतद्व्याकरोति ॥१२॥
अहः सन्तमुपाꣳशुम् । तꣳ रात्रौ जुहोत्यहरेवैतद्रात्रौ दधाति तस्मादपि सुतमि-
स्रायामुपेव किंचित्ख्यायते ॥ १३॥ रात्रिꣳ सन्तमन्तर्यामम् । तमुदिते जुहोति रात्रि-
मेवैतदहन्दधाति तेनो हासावादित्य उद्यन्नेवेमाः प्रजा न प्रदहति तेनेमाः प्रजा-
स्त्राताः ॥ १४॥ अथातो गृह्णात्येव । उपयामगृहीतोऽसीत्युक्त उपयामस्य बन्धुर-
न्तर्यच्छ मघवन्पाहि सोममितीन्द्रो वै मघवानिन्द्रो यज्ञस्य नेता तस्मादाह मघ-
वन्निति पाहि सोममिति गोपाय सोममित्येवैतदाहोरुष्य राय एषो यजस्वेति
पशवो वै रायो गोपाय पशूनित्येवैतदाहेषो यजस्वेति प्रजा वाऽइषस्ता एवैत-
द्यायजूकाः करोति ता इमाः प्रजा यजमाना अर्चन्त्यः श्राम्यन्त्यश्चरन्ति ॥ १५॥ अ-
न्तस्ते द्यावापृथिवी दधामि । अन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षम् सजूर्देवेभिरवरैः परैश्चेति त-
देनं वैश्वदेवं करोति तद्यदेनेनेमाः प्रजाः प्राणत्यश्चोदनत्यश्चान्तरिक्षमनुचरन्ति ते-
न वैश्वदेवोऽन्तर्यामे मघवन्मादयस्वेतीन्द्रो वै मघवानिन्द्रो यज्ञस्य नेता तस्मा-
दाह मघवन्नित्यथ यदन्तरन्तरिति गृह्णात्यन्तस्त्वात्मन्दधऽइत्येवैतदाह ॥ १६॥ तं गृ-
हीत्वा परिमार्ष्टि । नेद्व्यवश्चोतदिति तं न सादयत्युदानो ह्यस्यैष तस्मादयमसन्न
उदानः संचरति यदीत्वभिचरेदथैनꣳ सादयेदमुष्य त्वोदानꣳ सादयामीति ॥ १७॥ स

देव इससे ऊपर हैं क्योंकि वे द्यौलोक में हैं ॥८॥

उपयाम के साथ ग्रह इसलिए लिये जाते हैं कि इसी पृथिवी के साथ लिये जाते हैं। इसी योनि में वे रक्खे जाते हैं क्योंकि पृथिवी योनि है, इसी से प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं ॥९॥

ऋत्विज लोग रेत (वीर्य) के रूप में सोम को रखते हैं। जो रेत योनि के बाहर जाता है वह खराब हो जाता है और जो योनि में रहता है वह ठीक रक्खा जाता है ॥१०॥

ये दोनों ग्रह उसके प्राण और उदान हैं। एक की आहुति सूर्योदय के पीछे देता है और दूसरे की पहले, जिससे प्राण और उदान अलग-अलग रहें। इस प्रकार बह प्राण और उदान को अलग-अलग रखता है। इसलिए ये दोनों अर्थात् प्राण और उदान एक होते हुए भी अलग-अलग कहे जाते हैं ॥११॥

ये दोनों ग्रह उसके लिए रात और दिन हैं। एक की आहुति सूर्योदय के पीछे दी जाती है और दूसरे की पहले—रात और दिन को अलग-अलग करने के लिए। इस प्रकार वह रात और दिन को अलग-अलग करता है ॥१२॥

उपांशु दिन है, उसकी आहुति रात में देता है। इस प्रकार दिन को रात्रि में रखता है। इसलिए अन्धकार-से-अन्धकार में भी कुछ तो दिखाई देता ही है ॥१३॥

अन्तर्याम रात है। उसकी आहुति दिन में देता है। इस प्रकार रात को दिन में रखता है। इसलिए यह सूर्य उदय होकर इन प्रजाओं को नहीं जलाता। इसी से यह प्रजा सुरक्षित रहती हैं ॥१४॥

वह उसमें से अन्तर्याम ग्रह को इस मन्त्र से लेता है—"उपयामगृहीतोऽसि" (यजु० ७।४)—"तू उपयाम अर्थात् 'सहारे (आश्रय)' के साथ लिया हुआ है।" यह 'उपयाम' का योग कहा। "अन्तर्यच्छ मघवन् पाहि सोमम्" (यजु० ७।४)—'मघवा' है इन्द्र या यज्ञ का नेता, इसलिए कहा कि "हे इन्द्र, सोम की रक्षा कर।" "उरुष्य रायऽ एषो यजस्व" (यजु० ७।४)—"पशु राय हैं अर्थात् पशुओं की रक्षा कर।" प्रजा इष हैं, इस प्रकार प्रजा को यज्ञ के इच्छुक बनाता है जिससे ये प्रजा यज्ञ करते हुए, अर्चन करते हुए और श्रम करते हुए रहें ॥१५॥

"अन्तस्ते द्यावापृथिवी दधामि। अन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षम्। सजूर्देवेभिरवरैः परैश्च" (यजु० ७।५)—"तेरे भीतर द्यौ और पृथिवी को रखता हूँ। तेरे भीतर विस्तृत अन्तरिक्ष को। देवों से युक्त निचले और ऊँचे।" इस प्रकार इस ग्रह को सब देवों से सम्बन्धित करता है। यह सब देवों का इसलिए है कि इसी से यह प्रजा प्राण और उदान लेती है और अन्तरिक्ष में चलती हैं। "अन्तर्यामे मघवन् मादयस्व" (यजु० ७।५)—"हे मघवन्! अन्तर्याम में आनन्द करो।" मघवा इन्द्र है। इन्द्र यज्ञ का नेता है इसलिए कहा 'मघवा'। यह जो "अन्तः-अन्तः" कहकर उसे लेता है इसका अर्थ यह है कि 'मैं तुझे आत्मा के भीतर रखता हूँ' ॥१६॥

उस ग्रह को लेकर पोंछता है कि इसमें से कुछ सोम टपक न जाय। वह इसको रखता नहीं। यह उदान है। इसीलिए उदान निरन्तर चलता रहता है। यदि उसको कुछ पुरश्चरण करना हो तो कहे, 'अमुक पुरुष के उदान! मैं तुझको रखता हूँ' ॥१७॥

यद्युपाꣳशुꣳ सादयेत् । श्रथैनꣳ सादयेद्यद्युपाꣳशुं न सादयेन्नैनꣳ सादयेद्यद्युपाꣳशु-मपिदध्याद्प्येनं दध्याद्यद्युपाꣳशुं नापिदध्यान्नैनमपिदध्याद्यथोपाꣳशोः कर्म तथैतस्य समानꣳ ह्येतद्यदुपाꣳश्वन्तर्यामौ प्राणोदानौ हि ॥१८॥ ताऽउ ह चरकाः । नानैव मन्त्राभ्यां जुह्वति प्राणोदानौ वाऽश्रस्यैतौ नानावीर्यौ प्राणोदानौ कुर्म इति वदन्तस्तदु तथा न कुर्यान्मोहयन्ति ह ते यजमानस्य प्राणोदानावपीद्वाऽएनं तूष्णीं जुहुयात् ॥१९॥ स यद्वाऽउपाꣳशुं मन्त्रेण जुहोति । तदेवास्यैषोऽपि मन्त्रेण हुतो भवति किमु तत्तूष्णीं जुहुयात्समानꣳ ह्येतद्यदुपाꣳश्वन्तर्यामौ प्राणोदानौ हि ॥२०॥ स येनैवोपाꣳशुं मन्त्रेण जुहोति । तेनैवैतं मन्त्रेण जुहोति स्वांकृतोऽसि विश्वेभ्य इन्द्रियेभ्यो दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्यो मनस्त्वाष्टु स्वाहा सुभव सूर्यायेत्युक्तो यजुषो बन्धुः ॥२१॥ श्रथ स्रुवावास्वं ग्रहमवमार्ष्टि । इदं वाऽउपाꣳशुꣳ स्रुवोर्ध्वमुन्मार्ष्ट्यथात्रावाश्चमवमार्ष्टि प्रत्यञ्चमेवास्मिन्नेतदुदानं दधाति ॥२२॥ श्रथ नीचा पाणिना । मध्यमे परिधौ प्रत्यगुपमार्ष्टीदं वा उपाꣳशुꣳ स्रुवोत्तानेन पाणिना मध्यमे परिधौ प्रागुपमार्ष्ट्यथात्र नीचा पाणिना मध्यमे परिधौ प्रत्यगुपमार्ष्टि प्रत्यञ्चमेवास्मिन्नेतदुदानं दधाति देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्य इति सोऽसावेव बन्धुः ॥२३॥ तं प्रत्याक्रम्य सादयति । उदानाय त्वेत्युदानो ह्यस्यैष तानि वै सꣳस्पृष्टानि सादयति प्राणोदानावेवैतत्सꣳस्पर्शयति प्राणोदानान्त्संदधाति ॥२४॥ तानि वाऽश्रनिरुह्यमानानि शेरे । श्रा तृतीयसवनात्तस्मादिमे मनुष्याः स्वपन्ति तानि पुनस्तृतीयसवने प्रयुज्यन्ते तस्मादिमे मनुष्याः सुप्ता प्रबुध्यन्ते तेऽनिशिताश्चराचरा यज्ञस्यैवैतद्विधामनु वय-इव ह वै यज्ञो विधीयते तस्योपाꣳश्वन्तर्यामाविव पक्षावात्मोपाꣳशुसवनः ॥२५॥ तानि वाऽश्रनिरुह्यमानानि शेरे । श्रा तृतीयसवनात्तायते यज्ञ एति वै तद्यत्तायते तस्मादिमानि वयाꣳसि विगृह्य पक्षावनायुवानानि पतन्ति तानि पुनस्तृतीयसवने प्रयुज्यन्ते तस्मादिमानि वयाꣳसि समासं पक्षावा-

अगर वह उपांशु को रक्खे तो इस अर्थात् अन्तर्याम को भी रक्खे। यदि उपांशु को न रक्खे तो इसको भी न रक्खे। यदि उपांशु को (हाथ से) ढके तो इस अन्तर्याम को भी ढके। वह उपांशु को न ढके तो इस अन्तर्याम को भी न ढके। जैसा उपांशु के लिए, वैसा इसके लिए, क्योंकि उपांशु और अन्तर्याम दोनों एक ही हैं। वे प्राण और उदान हैं ॥१८॥

चरक लोग इन आहुतियों को दो और मन्त्रों से देते हैं। उनका कहना है कि दोनों यज्ञ के प्राण और उदान हैं। हम इन दोनों को भिन्न-भिन्न पराक्रमवाले बनाते हैं। परन्तु ऐसा न करना चाहिए। इससे यजमान के प्राण और उदान बिगड़ जाते हैं। इस आहुति को चुपचाप भी दिया जा सकता है ॥१६॥

जिस मन्त्र से उपांशु की आहुति दी जाती है उसी से इसकी भी दी हुई समझ ली जाती है। फिर इसको चुपचाप कैसे दिया जाय ? क्योंकि उपांशु और अन्तर्याम दोनों एक ही हैं। ये उसके प्राण और उदान हैं ॥२०॥

वह जिस मन्त्र से उपांशु की आहुति देता है उसी से इस (अन्तर्याम) की भी देता है— "स्वाङ्कृतोऽसि विश्वेभ्य ऽ इन्द्रियेभ्यो दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्यो मनस्त्वाष्टु स्वाहा सुभव सूर्य्याय" (यजु० ७।६)—"तू स्वयं-बना हुआ है, सब पार्थिव और दिव्य शक्तियों के लिए। मन तेरा हो। हे स्वयं होनेवाले ! सूर्य के लिए।" इस मन्त्र का महत्त्व कहा जा चुका ॥२१॥

आहुति देकर ग्रह को नीचे से पोंछ डालता है। उपांशु की आहुति देकर उसने ग्रह को ऊपर से पोंछा था। इसको नीचे से पोंछता है। इस प्रकार उदान को उसमें निर्धारित करता है ॥२२॥

अब हथेली को नीचे को करके बीच की परिधि (समिधा) में सोम मलता है। उपांशु की आहुति देकर उसने हथेली को ऊपर को करके पश्चिम से पूर्व की ओर मध्य समिधा को मला था। परन्तु अब की बार पूर्व से पश्चिम की ओर हथेली को नीचा करके मलता है, इस मन्त्र से, "देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्यः" (यजु० ७।६)—इसका महत्त्व वही है जो पहले का ॥२३॥

(हविर्धान की ओर) चलकर वह ग्रह को इस मन्त्र से रख देता है, "उदानाय त्वा" (यजु० ७।६)—यह उसका उदान है। वह इस प्रकार रखता है कि वे एक-दूसरे को छूते हैं। इस प्रकार वह प्राण और उदान को छुआता है। उन दोनों में संसर्ग उत्पन्न करता है ॥२४॥

ये (उपांशु और सवन) सायंकाल के सवन तक वैसे ही रक्खे रहते हैं जैसे मनुष्य भूमि पर सोते हैं। इनका सायंकाल के सवन में प्रयोग होता है। जैसे ये मनुष्य सोकर उठते हैं, और कारबार में लगते हैं। यह यज्ञ के अनुसार है। यज्ञ एक पक्षी है। उपांशु और अन्तर्याम इसके पक्ष हैं। उपांशु-सवन इसका आत्मा (शरीर) है ॥२५॥

सायंकाल के सवन तक वे वैसे ही रहते हैं। यज्ञ ताना जाता है। जो ताना जाता है उसमें गति होती है। जैसे पक्षी पंख खोलकर उड़ते हैं, सिकोड़कर नहीं उड़ते। सायंकाल के सवन में इनका फिर प्रयोग होता है। ये पक्षी अपने पंखों को सिकोड़कर उड़ते हैं जब उड़ान को बन्द

युवानानि पतन्ति यज्ञस्यैवैतद्विधामनु ॥२६॥ ॥ शतम् २३०० ॥ ॥ इयꣳ ह वाऽउपाꣳशुः । प्राणो ह्युपाꣳशुरिमाꣳ ह्येव प्राणन्नभिप्राणित्यसाविवान्तर्याम उदानो ह्यन्तर्यामोऽमुꣳ ह्येव लोकमुदनन्नभ्युदनित्यन्तरिक्षमेवोपाꣳशुसवनो व्यानो ह्युपाꣳशुसवनोऽन्तरिक्षꣳ ह्येव व्यनन्नभिव्यनिति ॥२७॥ ब्राह्मणम् ॥२॥ ॥

वाग्घ वाऽअस्यैन्द्रवायवः । एतन्न्वध्यात्ममिन्द्रो ह यत्र वृत्राय वज्रं प्रजहार सोऽबलीयान्मन्यमानो नास्तृषीतीव बिभ्यन्निलयां चक्रे तदेवापि देवा अपन्यलयन्त ॥१॥ ते ह देवा ऊचुः । न वै हतं वृत्रं विद्म न जीवꣳ हन्त न एको वेत्तु यदि हतो वा वृत्रो जीवति वेति ॥२॥ ते वायुमब्रुवन् । अयं वै वायुर्योऽयं पवते वायो त्वमिदं विद्धि यदि हतो वा वृत्रो जीवति वा त्वं वै न आशिष्ठोऽसि यदि जीविष्यति त्वमेव क्षिप्रं पुनरागमिष्यसीति ॥३॥ स होवाच । किं मे ततः स्यादिति प्रथमवषट्कार एव ते सोमस्य राज्ञ इति तथेत्येयाय वायुरैक्षतं वृत्रꣳ स होवाच हतो वृत्रो यद्धते कुर्यात तत्कुरुतेति ॥४॥ ते देवा अभ्यसृज्यन्त । यथा वित्तिं वेत्स्यमाना एवꣳ स यमेकोऽलभत स एकदेवत्योऽभवद्यं द्वौ स द्विदेवत्यो यं बहवः स बहुदेवत्यस्तद्यदेनं पात्रैर्व्यगृह्णत तस्माद्ग्रहो नाम ॥५॥ स एषामापूयत् । स एनांछुक्तः पूतिरभिववौ स नालमाहुत्याऽआस नालं भक्षाय ॥६॥ ते देवा वायुमब्रुवन् । वायविमं नो विवाहीमं नः स्वदयेति स होवाच किं मे ततः स्यादिति त्वय्येवैतानि पात्राण्याचक्षीरन्निति तथेति होवाच यूयं तु मे सच्युपवातेति ॥७॥ तस्य देवाः । यावन्मात्रमिव गन्धस्यापजघ्नुस्तं पशुष्वदधुः स एष पशुषु कुणपगन्धस्तस्मात्कुणपगन्धान्नापिगृह्णीत सोमस्य हैष राज्ञो गन्धः ॥८॥ नोऽएव निष्ठीवेत् । तस्माद्यद्यप्यासक्त-इव मन्येताभिवातं परीयाच्छ्रीर्वै सोमः पाप्मा यक्ष्मः स यथा श्रेयस्यायति पापीयान्प्रत्यवरोहेदेवꣳ हास्माद्यक्ष्मः प्रत्यवरोहति ॥९॥ अथैतरं वायुर्व्यवात् । तदस्वदयत्ततोऽलमाहुत्या

करना चाहते हैं ।।२६।।

यह पृथिवी उपांशु है। उपांशु प्राण है। प्राण के द्वारा ही तो प्राणी पृथिवी पर साँस लेता है। अन्तर्याम द्यौ है, क्योंकि अन्तर्याम उदान है। उदान से ही प्राणी द्यौ में साँस लेता है। उपांशु-सवन व्यान है। उपांशु-सवन अन्तरिक्ष है, क्योंकि अन्तरिक्ष में ही प्राणी व्यान-वायु को छोड़ता है ।।२७।।

ऐन्द्रवायवग्रहः

अध्याय १—ब्राह्मण ३

ऐन्द्र-वायव ग्रह उसकी वाणी है और वह उसका आत्मा है। इन्द्र ने जब वृत्र के लिए वज्र मारा तब उसने समझा कि 'मैं निर्बल हूँ, मैं उसे मार नहीं पाया।' इसलिए वह छिप गया। अन्य देवता भी वहीं छिप गये ।।१।।

उन देवों ने कहा, 'हम नहीं जानते कि वृत्र मारा गया या नहीं। हममें से एक को देखना चाहिए कि वह मारा गया या नहीं' ।।२।।

उन्होंने वायु से कहा, इसी वायु से जो बहता है—'हे वायु, पता तो लगा कि वृत्र जीता है या नहीं ? हम लोगों में तू सबसे अधिक तेज है। यदि वह जीता होगा तो जल्दी से भाग आ सकता है' ।।३।।

वायु ने कहा, 'इससे मुझे क्या लाभ ?' उन्होंने उत्तर दिया कि 'सोम राजा का प्रथम वषट्कार तुझे मिलेगा।' उसने कहा 'अच्छा' और वह गया। वृत्र तो मर चुका था। उसने कहा, 'वृत्र मर चुका है। जो मरे हुए के लिए किया जाता है उसे कीजिए' ।।४।।

देवता वहाँ दौड़े गये जैसे धन की इच्छा में लोग दौड़ते हैं। उसमें से जिसको एक देवता ने पकड़ा वह एक-देवत्य हुआ, जिसे दो ने पकड़ा वह द्विदेवत्य, जिसको बहुतों ने पकड़ा वह बहुदेवत्य। चूंकि उसको पात्रों के द्वारा ग्रहण किया इसलिए इनका नाम ग्रह पड़ा ।।५।।

उसमें से उनको दुर्गन्ध आई। वह खट्टा और सड़ा प्रतीत हुआ। वह न आहुति के योग्य था, न भक्षण के ।।६।।

देवों ने वायु से कहा, 'हे वायो ! इसमें होकर बह। इसको हमारे लिए स्वादिष्ट कर दे।' उसने कहा, 'मुझे क्या लाभ ?' उन्होंने कहा कि, 'इन ग्रहों का नाम तेरे ही नाम पर पड़ेगा।' उसने कहा, 'अच्छा ! परन्तु मेरे साथ तुम भी फूंको' ।।७।।

देवों ने उसकी जितनी दुर्गन्ध निकाल दी उतनी पशुओं में रख दी। यह वही बदबू है जो मुर्दा पशुओं में पाई जाती है। इस दुर्गन्ध पर नाक नहीं सिकोड़ना चाहिए, क्योंकि यह सोम राजा की गन्ध है ।।८।।

उस पर थूकना भी नहीं चाहिए। चाहे उस पर कितना ही असर क्यों न हुआ हो, उसको वायु की ओर मुड़ जाना चाहिए। सोम का अर्थ है बड़ाई और रोग का अर्थ है बुराई। जिस प्रकार बड़े के आने पर छोटा दब जाता है, इसी प्रकार सोम के आने पर रोग दब जाता है ।।९।।

अब वायु ने फिर फूंका। वह स्वादिष्ट हो गया—आहुति के भी योग्य और भक्षण के

ऽआसात्तं भक्षाय तस्मादेतानि नानादेवत्यानि सन्ति वायव्यानीत्याचक्षते सो ऽस्यैष प्रथमवषट्कारश्च सोमस्य राज्ञ एतान्युऽएनेन पात्राण्याचक्षते ॥१०॥ इन्द्रो ह वाऽईक्षां चक्रे । वायुर्वै नोऽस्य यज्ञस्य भूयिष्ठभाग्यस्य प्रथमवषट्कारश्च सोमस्य राज्ञ एतान्युऽएनेन पात्राण्याचक्षते हन्तास्मिन्नपित्वमिच्छाऽइति ॥११॥ स होवाच । वायवा मास्मिन्ग्रहे भजेति किं ततः स्यादिति निरुक्तमेव वाग्वदेदिति निरुक्तं चेद्वाग्वदेदा वा भजामीति तत एष ऐन्द्रवायवो ग्रहोऽभवद्वायव्यो हैव ततः पुरा ॥१२॥ स इन्द्रोऽब्रवीत् । अर्धं मेऽस्य ग्रहस्येति तुरीयमेव तऽइति वायुरर्धमेव मऽइतीन्द्रस्तुरीयमेव तऽइति वायुः ॥१३॥ तौ प्रजापतिं प्रतिप्रश्नमेयतुः । स प्रजापतिर्ग्रहं द्वेधा चकार स होवाचेदं वायोरित्यथ पुनरर्धं द्वेधा चकार स होवाचेदं वायोरितीदं तवेतीन्द्रं तुरीयमेव भाजयां चकार यद्वै चतुर्थं तत्तुरीयं तत एष ऐन्द्रतुरीयो ग्रहोऽभवत् ॥१४॥ तस्य वाऽएतस्य ग्रहस्य । द्वे पुरोरुचौ वायव्यैव पूर्वैन्द्रवायव्युत्तरा द्वेऽअनुवाक्ये वायव्यैव पूर्वैन्द्रवायव्युत्तरा द्वौ प्रैषौ वायव्य एव पूर्व ऐन्द्रवायव उत्तरो द्वे याज्ये वायव्यैव पूर्वैन्द्रवायव्युत्तरैवमेनं तुरीयं-तुरीयमेव भाजयां चकार ॥१५॥ स होवाच । तुरीयं-तुरीयं चेन्मामबीभजुस्तुरीयमेव तर्हि वाङ्निरुक्तं वदिष्यतीति तदेतत्तुरीयं वाचो निरुक्तं यन्मनुष्या वदन्त्यथैतत्तुरीयं वाचोऽनिरुक्तं यत्पशवो वदन्त्यथैतत्तुरीयं वाचोऽनिरुक्तं यद्वयाꣳसि वदन्त्यथैतत्तुरीयं वाचोऽनिरुक्तं यदिदं क्षुद्रꣳ सरीसृपं वदति ॥१६॥ तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम् । चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः । गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्तीति ॥१७॥ अथातो गृह्णात्येव । आ वायो भूष शुचिपा उप नः सहस्रं ते नियुतो विश्ववार । उपो तेऽअन्धो मद्यमयामि यस्य देव दधिषे पूर्वपेयं वायवे त्वेति ॥१८॥ अथापगृह्य पुनरानयति । इन्द्रवायूऽइमे सुता उप प्रयोभिरागतम् । इन्दवो वामु-

भी योग्य। इसलिए यह ग्रह भिन्न-भिन्न देवताओं के होते हुए भी वायु के ही कहे जाते हैं। सोम राजा का पहला वषट्कार भी वायु का है और ये ग्रह भी वायु के ही कहे जाते हैं ॥१०॥

इन्द्र ने सोचा—हमारे इस यज्ञ का सबसे बड़ा भाग तो वायु का हो गया, क्योंकि सोम राजा का पहला वषट्कार उसका है। इसके अतिरिक्त ये ग्रह भी उसी के नाम से पुकारे जाते हैं। इनमें से मैं भी भाग लूंगा ॥११॥

उसने कहा, 'वायु ! इस ग्रह में मुझे भी भाग दे।' 'मुझे क्या लाभ ?' 'वाणी व्यक्त हो जायगी।' 'यदि वाणी व्यक्त हो जायगी तो मैं तुझे भाग दे दूंगा।' इसलिए इस ग्रह का नाम ऐन्द्रवायव पड़ा। पहले केवल इन्द्र का ही था ॥१२॥

इन्द्र ने कहा, 'इस ग्रह का आधा मेरा।' वायु ने कहा, 'इस ग्रह का चौथाई तेरा।' इन्द्र ने कहा, 'आधा मेरा।' वायु ने कहा, 'चौथाई तेरा' ॥१३॥

वे दोनों फैसले के लिए प्रजापति के पास गये। उस प्रजापति ने ग्रह के दो भाग कर दिये। उसने कहा, 'यह वायु का।' फिर आधे के दो भाग किये, और कहा, 'यह वायु का ओर यह तेरा।' तब उसने अपने भाग का चौथाई इन्द्र को दिया। चतुर्थ और तुरीय का एक अर्थ है। इसलिए इसका नाम ऐन्द्र-तुरीय ग्रह हो गया ॥१४॥

इस ग्रह के दो पुरोरुच मन्त्र होते हैं—पहला वायु-सम्बन्धी, दूसरा इन्द्र-वायु-सम्बन्धी; दो प्रैष—पहला वायु-सम्बन्धी, दूसरा इन्द्र-वायु सम्बन्धी; दो याज्य—पहला वायु-सम्बन्धी, दूसरा इन्द्र-वायु-सम्बन्धी। इस प्रकार वह सदा इन्द्र के लिए चौथाई भाग रखता है ॥१५॥

उसने कहा कि अगर मुझे चौथाई भाग दिया है तो वाणी भी चौथाई भाग ही स्पष्ट बोलेगी। इससे केवल यही चौथाई वाणी समझ में आती है जो मनुष्य बोलता है, और जिस चौथाई को पशु बोलते हैं वह समझ में नहीं आती। वह चौथी वाणी समझ में नहीं आती जिसे पक्षी बोलते हैं और वह चौथाई वाणी भी समझ में नहीं आती जिसको क्षुद्र कीड़े बोलते हैं ॥१६

इसीलिए ऋषि ने कहा, "चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति" (ऋ० १।१६४।४५)—"वाणी से परिमित चार पद होते हैं। बुद्धिमान्, ब्राह्मण उनको जानते हैं। तीन गुहा में रक्खे हुए स्पष्ट नहीं होते हैं। चौथाई वाणी को मनुष्य बोलते हैं" ॥१७॥

अब उस (सोम) में से ग्रह को मारता है, इस मन्त्र से—"आ वायो भूष शुचिपा ऽ उप नः सहस्रं ते नियुतो विश्ववार। उपो ते ऽ अन्धो मद्यमयामि यस्य देव दधिषे पूर्वपेयं वायवे त्वा" (यजु० ७।७, ऋ० ७।९२।१)—"हे शुद्ध व्यान करनेवाले वायु, आ। तेरे हजारों अश्व हैं। तू सब वरों का दाता है। हे देव, जिसका तू पहला घूंट पीता है वह आनन्द-युक्त रस तुझको अर्पण किया गया" ॥१८॥

इस ग्रह को लेकर फिर भरता है, इस मन्त्र से—"इन्द्र वायू ऽ इमे सुता ऽ उप प्रयो-

शन्ति हि । उपयामगृहीतोऽसि वायवऽइन्द्रवायुभ्यां त्वैष ते योनिः सजोषोभ्यां त्वेति सादयति स यदाह सजोषोभ्यां त्वेति यो वै वायुः स इन्द्रो य इन्द्रः स वायुस्तस्मादाहैष ते योनिः सजोषोभ्यां त्वेति ॥११॥ ब्राह्मणम् ॥३॥ ॥

क्रतूदक्षौ ह वाऽग्रस्य मित्रावरुणौ । एतन्न्वध्यात्म७ स यदेव मनसा कामयतऽइदं मे स्यादिदं कुर्वीयेति स एव क्रतुरथ यदस्मै तत्समृध्यते स दक्षो मित्र एव क्रतुर्वरुणो दक्षो ब्रह्मैव मित्रः क्षत्रं वरुणोऽभिगन्तैव ब्रह्म कर्ता क्षत्रियः ॥१॥ ते हैतेऽग्रे नानेवासतुः । ब्रह्म च क्षत्रं च ततः शशाकैव ब्रह्म मित्र ऋते क्षत्राद्वरुणात्स्थातुम् ॥२॥ न क्षत्रं वरुणः । ऋते ब्रह्मणो मित्राद्यद्ध किं च वरुणः कर्म चक्रेऽप्रसूतं ब्रह्मणा मित्रेण न हैवास्मै तत्समानृधे ॥३॥ स क्षत्रं वरुणः । ब्रह्म मित्रमुपमन्त्रयां चक्रऽउप मावर्त्तस्व स७सृजावहै पुरस्त्वा करवै त्वत्प्रसूतः कर्म करवाऽइति तथेति तौ समसृजेतां तत एष मैत्रावरुणो ग्रहोऽभवत् ॥४॥ सोऽएव पुरोधा । तस्मान्न ब्राह्मणः सर्वस्येव क्षत्रियस्य पुरोधां कामयेत स७ ह्येतौ सृजेते सुकृतं च दुष्कृतं च नोऽएव क्षत्रियः सर्वमिव ब्राह्मणं पुरोदधीत स७ ह्येवैतौ सृजेते सुकृतं च दुष्कृतं च स यत्ततो वरुणः कर्म चक्रे प्रसूतं ब्रह्मणा मित्रेण स७ हैवास्मै तदानृधे ॥५॥ तत्तदवक्लृप्तमेव । यद्ब्राह्मणोऽराजन्यः स्याद्यद्यु राजानं लभेत समृद्धं तदेतद्ध त्वेवानवक्लृप्तं यत्क्षत्रियोऽब्राह्मणो भवति यद्ध किं च कर्म कुरुतेऽप्रसूतं ब्रह्मणा मित्रेण न हैवास्मै तत्समृध्यते तस्मादु क्षत्रियेण कर्म करिष्यमाणेनोपसर्त्तव्य एव ब्राह्मणः स७ हैवास्मै तद्ब्रह्मप्रसूतं कर्मऽर्ध्यते ॥६॥ अथातो गृह्णात्येव । अयं वां मित्रावरुणा सुतः सोम ऋतावृधा । ममेदिह श्रुत७ हवम् । उपयामगृहीतोऽसि मित्रावरुणाभ्यां त्वेति ॥७॥ तं पयसा श्रीणाति । तद्यत्पयसा श्रीणाति वृत्रो वै सोम आसीत्तं यत्र देवा अघ्नंस्तं मित्रमब्रुवंस्त्वमपि हृ७सीति स न चकमे सर्वस्य वाऽअहं मि-

भिरागतम् । इन्दवो वामुशन्ति हि । उपयामगृहीतोऽसि वायव ऽ इन्द्र वायुभ्यां'' (यजु० ७।८, ऋ० १।२।४)—''हे इन्द्र-वायु, यह सोम है । आप दोनों इसके पान के लिए आइये । बूंदें आपको चाहती हैं । तू उपयाम के साथ लिया गया है । इन्द्र और वायु के लिए तू है ।'' अब वह यह कहकर रखता है कि 'यह तेरी योनि है । तुझको ही मिले हुओं के साथ लेता हूँ ।' जो वायु है वह इन्द्र है; जो इन्द्र है सो वायु है, इसलिए कहा, 'यह तेरी योनि है। दोनों मिले हुओं के साथ तुझको लेता हूँ' ।।१९।।

मैत्रावरुणग्रहः

अध्याय १—ब्राह्मण ४

मित्र और वरुण इसके ऋतु और दक्ष हैं । यह इनका अध्यात्म है, अर्थात् ऋतु और दक्ष आत्मिक वृत्तियाँ हैं । जब वह मन में सोचता है कि 'मेरा ऐसा हो जाय, मैं यह करूँ' यही ऋतु अर्थात् मित्र है । और जब उसकी इच्छा पूरी हो जाती है तो यह दक्ष हुआ । मित्र ऋतु है और वरुण दक्ष । ब्रह्म मित्र हैं, क्षात्र वरुण । ब्राह्मण सोचता है और क्षत्रिय करता है ।।१।।

आरम्भ में ये ब्राह्मण और क्षत्रिय अलग-अलग थे । तब मित्र अर्थात् ब्राह्मण वरुण अर्थात् क्षत्रिय बिना रह सकता था ।।२।।

लेकिन वरुण या क्षत्रिय मित्र अर्थात् ब्राह्मण के बिना नहीं रह सकता था । वरुण जो कुछ कर्म मित्र या ब्राह्मण की प्रेरणा के बिना करता उसी में असफलता हो जाती ।।३।।

वह क्षत्रिय वरुण ब्राह्मण मित्र के पास आया और कहा, 'तू मेरी ओर आ कि हम दोनों मिल जायँ । तुझी को आगे रक्खूं । तेरी प्रेरणा से काम करूं ।' उसने कहा, 'अच्छा ।' वे दोनों मिल गये । इसीलिए यह मित्र और वरुण का ग्रह हुआ ।।४।।

यही पुरोहित है । इसलिए ब्राह्मण को चाहिए कि (बिना पता लगाये) हर किसी क्षत्रिय का पुरोहित न बने जिससे पुण्य और पाप मिल न जावें, और क्षत्रिय को चाहिए कि (बिना पता लगाये) हर ब्राह्मण को अपना पुरोहित न बना ले कि पाप और पुण्य मिल न जायँ । वरुण ने मित्र ब्राह्मण की प्रेरणा से जो कर्म किये उनमें उसकी सफलता हुई ।।५।।

यदि ब्राह्मण राजा के बिना रहे तो कोई दोष नहीं है । यदि राजा हो तो इसमें दोनों का भला है । परन्तु क्षत्रिय को बिना ब्राह्मण के नहीं रहना चाहिए । क्षत्रिय जो कुछ कर्म बिना मित्र ब्राह्मण की प्रेरणा के करता है उसमें उसकी सफलता नहीं होती । इसलिए क्षत्रिय जो कुछ करना चाहे उसमें वह ब्राह्मण के पास जाय, क्योंकि जो कुछ वह ब्राह्मण की प्रेरणा से करेगा उसमें उसे सफलता होगी ।।६।।

अब वह इसको इस मन्त्र से लेता है—''अयं वां मित्रावरुणा सुतः सोम ऽ ऋतावृधा । ममेदिह श्रुतँ हवम् । उपयामगृहीतोऽसि मित्रावरुणाभ्यां त्वा'' (यजु० ७।९, ऋ० २।४१।४)—''हे पवित्र मित्र और वरुण, यह सोम तुम दोनों के लिए निचोड़ा गया । मेरे निमन्त्रण को सुनो । तुमको उठाया गया है मित्र वरुण के लिए'' ।।७।।

उसमें दूध मिलाता है । दूध इसलिए मिलाता है । सोम ही वृत्र था । जब देवों ने उसे मारा तो उन्होंने मित्र से कहा, 'तू भी मार ।' उसने न माना—'मैं सबका मित्र हूँ । मित्र होकर

त्रमस्मि न मित्रꣳ सन्नमित्रो भविष्यामीति तं वै त्वा यज्ञादन्तरेष्याम इत्यहमपि हन्मीति होवाच तस्मात्पशवोऽपाक्रामन्मित्रꣳ सन्नमित्रोऽभूदिति स पशुभिर्व्यार्ध्यत तमेतद्देवाः पशुभिः समार्धयन्यत्पयसाश्रीणांस्तथोऽएवैनमेष एतत्पशुभिः समर्धयति यत्पयसा श्रीणाति ॥८॥ तदाहुः । शश्वद्ध नैव चकमे हन्तुमिति तद्देवात्र पयस्तन्मित्रस्य सोम एव वरुणस्य तस्मात्पयसा श्रीणाति ॥९॥ स श्रीणाति । राया वयꣳ ससवाꣳसो मदेम हव्येन देवा यवसेन गावः । तां धेनुं मित्रावरुणा युवं नो विश्वाहा धत्तमनपस्फुरन्तीमेष ते योनिर्ऋतायुभ्यां त्वेति सादयति स यदाहर्तायुभ्यां त्वेति ब्रह्म वाऽऋतं ब्रह्म हि मित्रो ब्रह्मो ह्यृतं वरुण एवायुः संवत्सरो हि वरुणः संवत्सर आयुस्तस्मादाहैष ते योनिर्ऋतायुभ्यां त्वेति ॥१०॥ ब्राह्मणम् ॥४॥ ॥

श्रोत्रꣳ ह वाऽअस्याश्विनः । तस्मात्सर्वतः परिहारं भक्षयति सर्वतो ह्यनेन श्रोत्रेण शृणोति यत्र वै भृगवो वाङ्गिरसो वा स्वर्गं लोकꣳ समाश्नुवत तच्च्यवनो वा भार्गवश्च्यवनो वाङ्गिरसस्तदेव जीर्णिः कृत्यारूपो जहे ॥१॥ शर्यातो ह वाऽइदं मानवो ग्रामेण चचार । स तदेव प्रतिवेशो निविविशे तस्य कुमाराः क्रीडन्त इमं जीर्णिं कृत्यारूपमनर्थ्यं मन्यमाना लोष्टैर्विपिपिषुः ॥२॥ स शार्यातेभ्यश्चुक्रोध । तेभ्योऽसंज्ञां चकार पितैव पुत्रेण युयुधे भ्राता भ्रात्रा ॥३॥ शर्यातो ह वाऽईक्षां चक्रे । यत्किमकरं तस्मादिदमापदीति स गोपालांश्चाविपालांश्च सꣳह्वयितवाऽउवाच ॥४॥ स होवाच । को वोऽद्येह किंचिदद्राक्षीदिति ते होचुः पुरुष एवायं जीर्णिः कृत्यारूपः शेते तमनर्थ्यं मन्यमानाः कुमारा लोष्टैर्व्यपिक्षन्निति स विदां चकार स वै च्यवन इति ॥५॥ स रथं युक्त्वा । सुकन्याꣳ शार्यातीमुपाधाय प्रसिष्यन्द स आजगाम यत्रऽर्षिरास तत् ॥६॥ स होवाच । ऋषे नमस्ते यन्नावेदिषं तेनाहिꣳसिषमियꣳ सुकन्या तया तेऽपह्नुवे संजानीतां मे

अमित्र नहीं होना चाहता।' 'तो हम तुझे यज्ञ से निकाल देंगे।' तब उसने कहा 'अच्छा, मैं भी मारूँगा।' तब पशु उसके पास से चले गये कि यह मित्र था, अमित्र हो गया। तब वह पशुओं से वंचित रह गया। सोम में दूध मिलाने से देवों ने उसको पशुओं से युक्त कर दिया। इसी प्रकार यह भी सोम में दूध मिलाकर इस यजमान या मित्र को पशुओं से युक्त कर देता है ॥८॥

इस पर कुछ लोग कहते हैं कि उसने तो मारना नहीं चाहा था। इसलिए इसमें जितना दूध है वह मित्र का है और जितना सोम है वह वरुण का। इसलिए सोम में दूध मिलाता है ॥९॥

वह इस मन्त्र से मिलाता है—"राया वयँ् ससवाँ्सो मदेम हव्येन देवा यवसेन गावः। तां धेनुं मित्रावरुणा युवं नो विश्वाहा धत्तमनपस्फुरन्तीमेष ते योनिर्ऋतायुभ्यां त्वा" (यजु० ७।१०, ऋक् ४।४२।१०)—"जो सम्पत्ति हमको मिली है उससे हम आनन्दित हों। देव हव्य से और गायें घास से। हे मित्र-वरुण, तुम हमको यह सदा दूध देनेवाली गाय दो।" यह कहकर वह उस ग्रह को रख देता है—"यह तेरी योनि है। ऋत और आयु के लिए तुझको।" 'ऋत और आयु के लिए' क्यों कहा? ब्रह्म ऋत है। ब्रह्म मित्र है। वरुण आयु है। संवत्सर वरुण है, संवत्सर आयु है। इसलिए कहा कि 'यह तेरी योनि है, ऋत और आयु के लिए तुझको' ॥१०॥

आश्विनग्रहः

अध्याय १—ब्राह्मण ५

आश्विन ग्रह इसका श्रोत्र हैं। इसलिए चारों ओर घुमाकर पीता है। इस श्रोत्र से चारों ओर की बात सुनता है। जब अङ्गिरा-वंशी भृगु लोग स्वर्ग को गये, च्यवन भार्गव या च्यवन आंगिरस जीर्ण और आकृति-मात्र पीछे छूट गया ॥१॥

उसी समय मनुवंशी शर्यात अपने स्वजनों के साथ उधर आया और वहीं बस गया। उसके कुमारों ने खेलते हुए इस जीर्ण भयानक पुरुष को देखा और उसको अनर्थ्य या नाचीज समझकर उस पर ढेले मारने लगे ॥२॥

उसने शर्यात वालों पर क्रोध किया और उनमें उसने विद्रोह उत्पन्न कर दिया। बाप बेटे से और भाई भाई से लड़ने लगा ॥३॥

शर्यात ने सोचा कि मैंने कुछ किया है जिससे ऐसी आपत्ति आई है। उसने ग्वालों और गडरियों को बुलाकर कहा—॥४॥

उसने कहा, 'अरे तुमने आज कोई नई बात देखी है?' उन्होंने उत्तर दिया कि 'एक जीर्ण और दीन पुरुष लेटा हुआ है, उसको नाचीज समझकर कुमारों ने उस पर ढेले फेंके थे।' वह समझ गया कि यह च्यवन है ॥५॥

उसने रथ जोतकर उसमें अपनी सुकन्या नामक लड़की को बिठाया और वहाँ आया जहाँ वह ऋषि था ॥६॥

और कहा, 'ऋषि, नमस्ते! मैंने जाना नहीं इसलिए आपको दुःख दिया। यह सुकन्या है

ग्राम इति तस्य ह तत एव ग्रामः संजज्ञे स ह तत एव शर्यातो मानव उत्सु-
युजे नेदपरꣳ हिनसानीति ॥७॥ अश्विनौ ह वाऽइदं भिषज्यन्तौ चेरतुः । तौ सु-
कन्यामुपेयतुस्तस्यां मिथुनमीषाते तन्न जज्ञौ ॥८॥ तौ होचतुः । सुकन्ये कमिमं
जीर्णिं कृत्यारूपमुपशेषेऽआवामनुप्रेहीति सा होवाच यस्मै मां पितादान्नैवाहं
तं जीवन्तꣳ हास्यामीति तद्धायमृषिराजज्ञौ ॥९॥ स होवाच । सुकन्ये किं त्वैत-
दवोचतामिति तस्माऽएतद्व्याचचक्षे स ह व्याख्यात उवाच यदि त्वैतत्पुनर्ब्रुवतः
सा त्वं ब्रूतान्न वै सुसर्वाविव स्थो न सुसमृद्धाविवाथ मे पतिं निन्दथ इति तौ
यदि त्वा ब्रवतः केनावमसर्वौ स्वः केनासमृद्धाविति सा त्वं ब्रूतात्पतिं नु मे पु-
नर्युवाणं कुरुतमथ वां वक्ष्यामीति तां पुनरुपेयतुस्ताꣳ हैतदेवोचतुः ॥१०॥ सा
होवाच । न वै सुसर्वाविव स्थो न सुसमृद्धाविवाथ मे पतिं निन्दथ इति तौ
होचतुः केनावमसर्वौ स्वः केनासमृद्धाविति सा होवाच पतिं नु मे पुनर्युवाणं
कुरुतमथ वां वक्ष्यामीति ॥११॥ तौ होचतुः । एतꣳ ह्रदमभ्यवहर स येन व-
यसा कमिष्यते तेनोदैष्यतीति तꣳ ह्रदमभ्यवजहार स येन वयसा चकमे तेनो-
देयाय ॥१२॥ तौ होचतुः । सुकन्ये केनावमसर्वौ स्वः केनासमृद्धाविति तौ हऽ
र्षिरेव प्रत्युवाच कुरुक्षेत्रेऽमी देवा यज्ञं तन्वते ते वां यज्ञादन्तर्यन्ति तेनासर्वौ
स्थस्तेनासमृद्धाविति तौ ह तत एवाश्विनौ प्रेयतुस्तावाजग्मतुर्देवान्यज्ञं तन्वाना
न्स्तुते बहिष्पवमाने ॥१३॥ तौ होचतुः । उप नौ ह्वयध्वमिति ते ह देवा ऊ-
चुर्न वामुपह्वयिष्यामहे बहु मनुष्येषु सꣳसृष्टमचारिष्ट भिषज्यन्ताविति ॥१४॥
तौ हाचतुः । विशीर्ष्णा वै यज्ञेन यजध्वऽइति कथं विशीर्ष्णेत्युप नु नौ ह्वयध्वमथ
वो वक्ष्याव इति तथेति ताऽउपाह्वयन्त ताभ्यामेतमाश्विनं ग्रहमगृह्णंस्तावध्वर्यू य-
ज्ञस्याभवतां तावेतद्यज्ञस्य शिरः प्रत्यधत्तां तददस्तद्दिवाकीर्त्यानां ब्राह्मणे व्या-
ख्यायते यथा तद्यज्ञस्य शिरः प्रतिदधतुस्तस्मादेष स्तुते बहिष्पवमाने ग्रहो गृ-

इससे मैं उसका प्रतीकार करता हूँ। अब मेरे लोग ठीक रहें।' तब से वे लोग ठीक रहे। लेकिन मनुवंशी शर्यात वहाँ से चलता बना कि कहीं मैं इसे फिर अप्रसन्न न कर दूँ ॥७॥

उसी समय चिकित्सा करते-करते अश्विन आ निकले। उन्होंने सुकन्या को ग्रहण करना चाहा परन्तु वह राजी न हुई ॥८॥

वे दोनों बोले, 'सुकन्या, तू किस जीर्ण नाचीज पुरुष के पास रहती है? हमारे पास आ।' वह बोली, 'मेरे पिता ने मुझे जिसके साथ ब्याहा है उसी के पास रहूँगी, जब तक यह जीवित है।' ऋषि को यह बात मालूम हो गई ॥९॥

वह बोला, 'सुकन्या, इन दोनों ने तुझसे क्या कहा?' उसने उससे सब-कुछ कह दिया। यह सुनकर उसने कहा, 'अगर तुझसे ये फिर कहें तो उनसे कहना कि तुम दोनों पूर्ण तो हो नहीं फिर मेरे पति की क्यों निन्दा करते हो? यदि वे पूछें कि किस बात में हम कम हैं या निर्बल हैं तो कहना कि पहले मेरे पति को युवा कर दो तब कहूँगी।' वे फिर उसके पास आये और उससे वही बात कही ॥१०॥

वह बोली, 'तुम न तो पूर्ण हो, न समृद्धवान्। फिर मेरे पति की क्यों निन्दा करते हो?' वे दोनों बोले, 'हम किस बात में कम हैं? किस बात में निर्बल हैं?' वह बोली, 'मेरे पति को युवा कर दो तब मैं बताऊँ' ॥११॥

वे बोले, 'उस तालाब में इसको ले जा, यह जिस अवस्था की कामना करेगा उसी अवस्था का होकर निकलेगा।' वह उसको तालाब पर ले गई। उसने जिस आयु की कामना की, उसी आयु का होकर निकला ॥१२॥

वे बोले, 'सुकन्या, हम किस बात में अधूरे हैं, किसमें कम हैं?' तब ऋषि ने स्वयं उत्तर दिया, 'कुरुक्षेत्र में देव यज्ञ करते हैं और तुमको बाहर निकाल दिया है। यही तुममें अधूरापन है, यही कमी है।' यह सुनकर ये दोनों अश्विन लौट गये। वे वहाँ पहुँचे जहाँ देवों ने बहिष्पवमान स्तुति करने के पश्चात् यज्ञ रच रक्खा था ॥१३॥

वे बोले, 'हमको भी यज्ञ में बुलाओ।' देव बोले, 'हम नहीं बुलाते। तुम तो चिकित्सा करते-करते सब प्रकार मनुष्यों में फिरते रहे हो' ॥१४॥

वे बोले, 'अरे तुम तो बे-सिर के यज्ञ को करते हो?' 'बे-सिर का कैसे?' 'हमको बुलाओ तब हम बतायेंगे।' 'अच्छा।' उन्होंने उन अश्विनों का आवाहन कर लिया और उनके लिए इस आश्विन-ग्रह को लिया। ये दोनों यज्ञ के अध्वर्यु हो गये। उन्होंने यज्ञ को सिर-वाला बना दिया। 'दिवाकीर्त्यों' के ब्राह्मण में लिखा है कि उन्होंने यज्ञ के सिर को किस प्रकार सम्पादित किया। इसलिए बहिष्पवमान की स्तुति के पश्चात् यह ग्रह लिया जाता है, क्योंकि बहिष्पवमान

ह्यते स्तुते हि वहिष्पवमानऽआगछताम् ॥१५॥ तौ होचतुः । मुख्यौ वाऽआवां यज्ञस्य स्वो यावध्वर्यूऽइह नाविमं पुरस्ताद्ग्रहं पर्याहरताभि द्विदेवत्यानिति ताभ्यामेतं पुरस्ताद्ग्रहं पर्याजह्रुरभि द्विदेवत्यांस्तस्मादेष दशमो ग्रहो गृह्यते तृतीय एव वषट्क्रियतेऽथ यदश्विनावितीमे ह वै द्यावापृथिवी प्रत्यक्षमश्विनाविमे हीद७ँ सर्वमाश्नुवातां पुष्करस्रजावित्यग्निरेवास्यै पुष्करमादित्योऽमुष्यै ॥१६॥ अथातो गृह्णात्येव । या वां कशा मधुमत्यश्विना सूनृतावती । तया यज्ञं मिमिक्षतम् । उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वैष ते योनिर्माध्वीभ्यां त्वेति सादयति तं वै मधुमत्यऽर्चा गृह्णाति माध्वीभ्यां त्वेति सादयति तद्यन्मधुमत्यऽर्चा गृह्णाति माध्वीभ्यां त्वेति सादयति ॥१७॥ दध्यङ् ह वाऽआभ्यामाथर्वणः । मधु नाम ब्राह्मणमुवाच तदेनयोः प्रियं धाम तदेवैनयोरेतेनोपगच्छति तस्मान्मधुमत्यऽर्चा गृह्णाति माध्वीभ्यां त्वेति सादयति ॥१८॥ तानि वाऽएतानि । श्लक्ष्णानि पात्राणि भवन्ति रास्नावमैन्द्रवायवपात्रं तत्तस्य द्वितीय७ँ रूपं तेन तद्द्विदेवत्यमजकावं मैत्रावरुणपात्रं तत्तस्य द्वितीय७ँ रूपं तेन तद्द्विदेवत्यमौष्ठमाश्विनपात्रं तत्तस्य द्वितीयं रूपं तेन तद्द्विदेवत्यमथ यदश्विनाविति मुख्यौ वाऽअश्विनावौष्ठमिव वाऽइदं मुखं तस्मादौष्ठमाश्विनपात्रं भवति ॥१९॥ ब्राह्मणम् ॥५॥ प्रथमोऽध्यायः [२५.] ॥ ॥

चक्षुषी ह वाऽअस्य शुक्रामन्थिनौ । तद्वाऽएष एव शुक्रो य एष तपति तद्यदेष एतत्तपति तेनैष शुक्रश्चन्द्रमा एव मन्थी ॥१॥ त७ँ सक्तुभिः श्रीणाति । तदेनं मन्थं करोति तेनोऽएष मन्थ्येतौ ह वाऽआसां प्रजानां चक्षुषी स यद्धैतौ नोदियातां न हैवेह स्वौ चन पाणी निर्जानीयुः ॥२॥ तयोरत्तैवान्यतरः । आद्योऽन्यतरोऽत्तैव शुक्र आद्यो मन्थी ॥३॥ तयोरत्तैवान्यतरमनु । आद्योऽन्यतरमन्वत्तैव शुक्रमन्वाद्यो मन्थिनमनु तौ वाऽअन्यस्मै गृह्येतेऽअन्यस्मै हूयेते शण्डामर्कावित्यसुररक्षसे ताभ्यां गृह्येते देवताभ्यो हूयेते तद्यत्तथा ॥४॥ यत्र वै

की स्तुति के पश्चात् ही वे आये थे ॥१५॥

वे बोले, 'हम अध्वर्यु हैं, हमीं यज्ञ में मुख्य हैं। हमारे इस पहले ग्रह को द्विदेवत्यों के लिए दे दो।' उन्होंने उस पहले ग्रह को द्विदेवत्यों को दे दिया। इसलिए यह दसवाँ ग्रह है और तीसरा वषट्कार होता है। ये अश्विन कौन हैं ? द्यौ और पृथिवी। यही दो तो हैं जो सबको अश्नुवातां या प्राप्त करते हैं। यह पुष्कर स्रज अर्थात् पुष्कर की माला वाले हैं, क्योंकि पृथिवी का पुष्कर अग्नि है और द्यौ का सूर्य ॥१६॥

वह अश्विन ग्रह को इस मन्त्र से लेता है—"या वां कशा मधुमत्यश्विना सूनृतावती। तया यज्ञं मिमिक्षतम्" (यजु० ७।११, ऋ० १।२२।३)—"हे अश्विन, यह जो तुम्हारी मीठी और प्रसन्न करनेवाली कशा या वाणी है उससे यज्ञ को मिलाओ।" "उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वा" (यजु० ७।११)—"तुझे आश्रय के लिए ग्रहण किया है। दोनों अश्विनों के लिए तुझको।" इस मन्त्रांश से उसको रख देता है—"एष ते योनिर्माध्वीभ्यां त्वा" (यजु० ७।११)—"यह तेरी योनि है, मधु-प्रियों के लिए तुझे।" 'मधु' शब्द वाली ऋचा के साथ क्यों उठाता है और 'मधु-प्रियों के लिए तुझे' ऐसा कहकर क्यों रख देता है ? ॥१७॥

दध्यङ् अथर्वा ने 'मधु-ब्राह्मण' को अश्विनों को बताया था। यह इनका प्रिय धाम है। उनके इसी प्रिय से वह उनके पास जाता है। इसलिए मधु शब्द वाली ऋचा से उठाता है और 'मधुप्रियों के लिए तुझको' यह कहकर रखता है ॥१८॥

ये पात्र चिकने होते हैं। इन्द्र और वायु के पात्र के बीच में मेखला होती है। यह इसका दूसरा रूप है। इसलिए यह दो देवों का होता है। मित्र-वरुण का पात्र बकरी की आकृति का होता है। यह इसका दूसरा रूप है। इसलिए यह दो देवताओं का है। आश्विनों का ग्रह होंठ की आकृति का होता है। यह उसका दूसरा रूप है, इसलिए यह दो देवताओं का है। यह पात्र अश्विनों का इसलिए होता है कि अश्विन यज्ञ का मुख (मुख्य) हैं और मुख में होंठ होते हैं। इसलिए आश्विन-ग्रह होंठ की आकृति का होता है ॥१९॥

शुक्रामन्थि ग्रहौ

अध्याय २—ब्राह्मण १

शुक्र और मन्थिन् ग्रह उसकी आँख हैं। यह जो तपता है अर्थात् सूर्य, वह शुक्र है। चूंकि तपता है इसलिए इसका नाम सूर्य है। चन्द्रमा मन्थी है ॥१॥

उसमें सत्तू मिलाता है। यह जो मथता है इसलिए इसका नाम मन्थी है। ये दोनों सूर्य और चाँद इन प्रजाओं की आँख हैं, क्योंकि यदि दोनों उदय न हों तो लोगों को अपने दोनों हाथ भी न दीखें ॥२॥

इनमें एक खानेवाला है और एक खाद्य। शुक्र खानेवाला है और मन्थी खाद्य ॥३॥

एक इनमें से खानेवाले के अनुकूल है, दूसरा खाद्य के—शुक्र खानेवाले के, मन्थिन् खाद्य के। ये ग्रह एक के लिए जाते हैं और दूसरे के लिए इनकी आहुति दी जाती है। शण्ड और मर्क दो असुर राक्षस हैं। इनके लिए ग्रह लिये जाते हैं और देवों के लिए इनकी आहुति दी जाती है। यह इस प्रकार से—॥४॥

देवाः । असुररक्षसान्यपजघ्निरे तदेतावेव न शेकुरपहन्तुं यद्ध स्म देवाः किं च
कर्म कुर्वते तद्ध स्म मोहयित्वा क्षिप्रऽएव पुनरपद्रवतः ॥५॥ ते ह देवा ऊचुः ।
उपजानीत यथेमावपहनामहाऽइति ते होचुर्ग्रहावेवाभ्यां गृह्णाम तावभ्यवैष्यत-
स्तौ स्वीकृत्यापहनिष्यामहऽइति ताभ्यां ग्रहौ जगृहुस्तावभ्यवैतां तौ स्वीकृत्या-
पाघ्नत तस्माच्छण्डामर्काभ्यामिति गृह्येते देवताभ्यो ह्येते ॥६॥ अपि होवाच
याज्ञवल्क्यः । नो स्विद्देवताभ्य एव गृह्णीयामा३ विजितरूपमिव हीदमिति तद्वै
स तन्मीमाꣳसामिव चक्रे नेत्तु चकार ॥७॥ इमामु हैके शुक्रस्य पुरोरुचं कुर्व-
न्ति । अयं वेनश्चोदयत्पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमानऽइति तदेतस्य रूपं
कुर्मो य एष तपतीति यदाह ज्योतिर्जरायुरिति ॥८॥ इमां त्वेव शुक्रस्य पुरोरुचं
कुर्यात् । तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा ज्येष्ठतातिं बर्हिषदꣳ स्वर्विदमित्यत्ता ह्ये-
तमन्वत्ता हि ज्येष्ठस्तस्मादाह ज्येष्ठतातिं बर्हिषदꣳ स्वर्विदम् प्रतीचीनं वृजनं
दोहसे धुनिमाशुं जयन्तमनु यासु वर्धसे । उपयामगृहीतोऽसि शण्डाय त्वैष ते
योनिर्वीरतां पाहीति सादयत्यत्ता ह्येतमन्वत्ता हि वीरस्तस्मादाहैष ते योनि-
र्वीरतां पाहीति दक्षिणार्धे सादयत्येताꣳ ह्येष दिशमनु संचरति ॥९॥ अथ म-
न्थिनं गृह्णाति । अयं वेनश्चोदयत्पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने । इमम-
पाꣳ संगमे सूर्यस्य शिशुं न विप्रा मतिभी रिहन्ति । उपयामगृहीतोऽसि मर्काय
त्वेति ॥१०॥ तꣳ सक्तुभिः श्रीणाति । तद्यत्सक्तुभिः श्रीणाति वरुणो ह वै सो-
मस्य राज्ञोऽभीवाक्षि प्रतिपिपेष तदश्वयत्ततोऽश्वः समभवत्तद्यच्छ्वयथात्समभवत्त-
स्मादश्वो नाम तस्याश्रु प्रास्कन्दत्ततो यवः समभवत्तस्मादाहुर्वरुण्यो यव इति
तद्यदेवास्यात्र चक्षुषोऽमीयत तेनैवैनमेतत्समर्धयति कृत्स्नं करोति तस्मात्सक्तु-
भिः श्रीणाति ॥११॥ स श्रीणाति । मनो न येषु हवनेषु तिग्मं विपः शच्या
वनुथो द्रवन्ता । आ यः शर्याभिस्तुविनृम्णोऽअस्याश्रीणीतादिशं गभस्तावेष ते

जब देवों ने असुर दाक्षसों को मार भगा दिया तो वे इन दोनों को न भगा सके। देवता जो कुछ करते, ये दोनों उनमें विघ्न डालते और फिर झट से भाग जाते ॥५॥

तब देवों ने कहा—'क्या तुम कोई उपाय कर सकते हो कि इन दोनों को भगा सकें?' वे कहने लगे—'इन दोनों के लिए दो ग्रह लें। वे इन दोनों को लेने के लिए आवेंगे। हम इनको पकड़कर मार भगायेंगे।' उन दोनों के लिए ग्रह लिये और जब वे आये तो उनको पकड़कर मार भगाया। इसलिए शण्ड और मर्क के लिए ये दो ग्रह लिये जाते हैं और देवताओं के लिए इनकी आहुति दी जाती है ॥६॥

याज्ञवल्क्य ने यह भी कहा है कि हम इनको देवताओं के लिए ही क्यों न न लें। यह तो जीत का चिह्न है। परन्तु उन्होंने इतनी मीमांसा मात्र की है। व्यवहार में इसको कभी नहीं लाये ॥७॥

कुछ लोग इस ऋचा को शुक्रकी पुरोरुक् या स्तुति में लाते हैं, "अयं वेनश्चोदयत् पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने" (यजु० ७।१६)—यहाँ 'ज्योतिर्जरायुः' (प्रकाश है जरायु जिसका) कहा, इससे तात्पर्य यह है कि वह इसको तपनेवाले सूर्य के समान करता है ॥८॥

परन्तु शुक्र की पुरोरुक् या स्तुति इस मन्त्र से होनी चाहिए, "तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा ज्येष्ठतातिं बर्हिषदँ स्वर्विदम्" (यजु० ७।१२, ऋ० ५।४४।१)—"पुरानी रीति से, पहली रीति से, सब रीति से, आजकल की रीति से बड़े, यज्ञधारी, स्वर्ग विद्या के जाननेवाले यजमान को।" यह शुक्र खानेवाला है, और खानेवाला ही बड़ा है। इसलिए कहा कि 'बड़े, यज्ञधारी, स्वर्ग विद्या के जाननेवाले को'। "प्रतीचीनं वृजनं दोहसे धुनिमाशुं जयन्तमनु यासु वर्धसे। उपयामगृहीतोऽसि शण्डाय त्वैष ते योनिर्वीरतां पाहि" (यजु० ७।१२)—"जो उपस्थित है, बलवान् है, शत्रुओं को जीतनेवाला और शीघ्रगामी है, ऐसे यजमान को तू दुहता है उन यज्ञक्रियाओं में जिनमें तू बढ़ता है। तुझे रक्षा के लिए ग्रहण किया गया है। शण्ड के लिए तुझे। यह तेरी योनि है। तू वीरता की रक्षा कर।" यह पढ़कर वह रख देता है। यह खानेवाला है। खानेवाला वीर होता है। इसलिए कहा कि 'यह तेरी योनि है, तू वीरता की रक्षा कर।' दक्षिण के कोने में इसको रखता है, क्योंकि इसी दिशा में सूर्य चलता है ॥९॥

अब इस मन्त्र से मन्थी को लेता है, "अयं वेनश्चोदयत् पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने। इममपाँ संगमे सूर्यस्य, शिशुं न विप्रा मतिभी रिहन्ति। उपयामगृहीतोऽसि मर्काय त्वा" (यजु० ७।१६)—"यह वेनः (चन्द्र) पृश्निगर्भा (द्यौलोक या सूर्य के सहारे स्थित) ज्योतिर्जरायु (ज्योति से लिपटा हुआ), (विमाने) अन्तरिक्ष में (रजसः) जलों को (चोदयत्) प्रेरणा करता है। विद्वान् लोग शिशु के समान इसकी सूर्य के जलों के साथ संगम के समय में बुद्धियुक्त वाणियों से स्तुति करते हैं। रक्षार्थ लिया गया है। मर्क के लिए तुझको" ॥१०॥

उसमें सत्तू मिलाता है। सत्तू इसलिए मिलाता है कि वरुण ने सोम राजा की आँख में मारा और वह सूज गई (अश्वयत्)। उसमें से अश्व (घोड़ा) निकला। चूँकि यह सूजन में से निकला इसलिए इसका 'अश्व' नाम पड़ा। उसका एक आँसू गिरा। उसमें से जौ उत्पन्न हुए। इसलिए जौ (वरुण) वरुण का समझा जाता है। इस प्रकार आँख का जितना भाग उस समय दुख गया था उसी की पूर्ति करता है। उसे चंगा करता है। इसलिए सत्तुओं को मिलाता है ॥११॥

वह इस मन्त्र से मिलाता है, "मनो न येषु हवनेषु तिग्मं विपः शच्या वनुथो द्रवन्ता। आ यः शर्याभिस्तु विनृम्णो ऽ अस्याश्रीणीतादिशं गभस्तौ" (यजु० ७।१७, ऋ० १।६१।३) "जिन

योनिः प्रजाः पाहीति सादयत्याग्रो ह्येतमन्वाग्रा हीमाः प्रजा विशस्तस्मादाहैष ते योनिः प्रजाः पाहीति ॥१२॥ द्वौ प्रोक्षितौ यूपशकलौ भवतः । द्वावप्रोक्षितौ प्रोक्षितं चैवाध्वर्युरादत्तेऽप्रोक्षितं चैवमेव प्रतिप्रस्थाता प्रोक्षितं चैवादत्तेऽप्रोक्षितं च शुक्रमेवाध्वर्युरादत्ते मन्थिनं प्रतिप्रस्थाता ॥१३॥ सोऽध्वर्युः । अप्रोक्षितेन यूपशकलेनापमार्ष्ट्यपमृष्टः शण्ड इत्येवमेव प्रतिप्रस्थातापमृष्टो मर्क इति तदादद्यानाविवासुररक्षसेऽअपहतौ देवास्त्वा शुक्रपाः प्रणयन्त्वित्येवाध्वर्युर्निष्क्रामति देवास्त्वा मन्थिपाः प्रणयन्त्विति प्रतिप्रस्थाता तदेतौ देवताभ्य एव प्रणयतः ॥१४॥ तौ जघनेनाहवनीयमरत्नी संधत्तः । ताऽउत्तरवेदौ सादयतो दक्षिणायामेव श्रोणावध्वर्युः सादयत्युत्तरायां प्रतिप्रस्थातानानुसृजन्तावेवानाधृष्टासीति तद्रक्षोभिरेवैतदुत्तरवेदिमनाधृष्टां कुरुतो विपर्येष्यन्तौ वाऽएतावग्निं भवतोऽत्येष्यन्तौ तस्माऽएवैतन्निह्नुवाते तथो हैनौ विपरियन्तावग्निर्न हिनस्ति ॥१५॥ सोऽध्वर्युः पर्येति । सुवीरो वीरान्प्रजनयन्परीहीत्यत्ता ह्येतमन्वत्ता हि वीरस्तस्मादाह सुवीरो वीरान्प्रजनयन्परीहीत्यभि रायस्पोषेण यजमानमिति तद्यजमानायाशिषमाशास्ते यदाहाभि रायस्पोषेण यजमानमिति ॥१६॥ अथ प्रतिप्रस्थाता पर्येति । सुप्रजाः प्रजाः प्रजनयन्परीहीत्याग्रो ह्येनमन्वाग्रा हीमाः प्रजा विशस्तस्मादाह सुप्रजाः प्रजाः प्रजनयन्परीहीत्यभि रायस्पोषेण यजमानमिति तद्यजमानायाशिषमाशास्ते यदाहाभि रायस्पोषेण यजमानमिति ॥१७॥ तावपिधाय निष्क्रामतः । तिर एवैनावितत्कुरुतस्तस्मादिमौ सूर्याचन्द्रमसौ प्राञ्चौ यन्तौ न कश्चन पश्यति तौ पुरस्तात्परीत्यापोर्णुतः पुरस्तात्तिष्ठन्तौ जुहुत आविरेवैनावितत्कुरुतस्तस्मादिमौ सूर्याचन्द्रमसौ प्रत्यञ्चौ यन्तौ सर्व एव पश्यति तस्मात्पराग्रेतः सिच्यमानं न कश्चन पश्यति तदु पश्चात्प्रजायमानं सर्व एव पश्यति ॥१८॥ तौ जघनेन यूपमरत्नी संधत्तः । यद्यग्निर्नोद्बाधित यद्युऽअग्निरुद्बाधेताप्यग्रेणैव यूपमरत्नी संदध्यातां संज-

हवनों में विचार के समान तेज तुम दोनों अध्वर्यु कर्म के द्वारा जाते हो। जिस बहुत धनवाले अध्वर्यु ने अँगुलियों से हाथ में लिये हुए (मन्थि में) सत्तू मिलाये हैं।" इस मन्त्र से रख देता है, "एष ते योनिः प्रजाः पाहि" (यजु० ७।१७)—"यह तेरी योनि है। प्रजा को पाल।" यह ग्रह खाद्य है। यह प्रजा भी खाद्य है। इसलिए कहा कि यह योनि है, तू प्रजा को पाल ॥१२॥

यूप के दो टुकड़े प्रोक्षित (जल छिड़के) होते हैं और दो अप्रोक्षित (बिना जल के छिड़के)। अध्वर्यु एक प्रोक्षित और एक अप्रोक्षित लेता है। इसी प्रकार प्रतिप्रस्थाता भी एक प्रोक्षित और अप्रोक्षित लेता है। अध्वर्यु शुक्र को लेता है और प्रतिप्रस्थाता मन्थि को ॥१३॥

अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों राक्षसों को इस प्रकार निकालते हैं कि अध्वर्यु अप्रोक्षित यूप-शकल से उस ग्रह को माँजता है और कहता है 'अपमृष्टः शंडः' (शंड भगा दिया गया) और इसी प्रकार प्रतिप्रस्थाता कहता है 'अर्क भगा दिया गया'। अध्वर्यु यह कहकर बाहर जाता है, "देवास्त्वा शुक्रपाः प्रणयन्तु"–"शुक्र पीनेवाले देव तुझे ले जावें।" प्रतिप्रस्थाता यह कहकर बाहर जाता है, "देवास्त्वा मन्थिपाः प्रणयन्तु"—"मन्थि पीनेवाले देव तुझे ले जावें।" इस प्रकार ये दोनों देवताओं के निमित्त हवियों को ले जाते हैं ॥१४॥

वे दोनों आहवनीय के पीछे उत्तर वेदी पर (दाहिनी हाथ की) कुहनी मिलाकर उन ग्रहों को रखते हैं। दक्षिण श्रोणी में अध्वर्यु रखता है और उत्तर में प्रतिप्रस्थाता बिना छोड़े हुए, यह कहकर, "अनाधृष्टाऽसि" (यजु० ७।१७)—"तू आक्रमण से सुरक्षित है।" इस प्रकार ये दोनों वेदी को राक्षसों से सुरक्षित करते हैं। ये अग्नि की परिक्रमा करनेवाले हैं। इसलिये इनको प्रसन्न करता है। इस प्रकार जब वे परिक्रमा करते हैं तो अग्नि इनको नहीं सताती ॥१५॥

अध्वर्यु इस मंत्र से परिक्रमा करता है, "सुवीरो वीरान् प्रजनयन्" (यजु० ७।१३)—"वीर वीरों को उत्पन्न करता हुआ।" यह हवि खानेवाले की स्थानी है और खाने वाला वीर है। इसलिए कहा कि वीरों को उत्पन्न करता हुआ। "परीह्यभि रायस्पोषेण यजमानम्" (यजु० ७।१३)—"यजमान को धन से युक्त कर।" यह जो कहा कि यजमान को धन से युक्त कर, इससे यजमान को आशीर्वाद देता है ॥१६॥

प्रतिप्रस्थाता इस मन्त्र से परिक्रमा करता है, "सुप्रजाः प्रजाः प्रजनयन्" (यजु० ७।१८)–"अच्छी प्रजावाले, प्रजाओं को उत्पन्न करते हुए।" यह हवि खाद्य का स्थानी है, और ये प्रजा के लोग खाद्य हैं। इसलिए कहा कि प्रजा को उत्पन्न करते हुए। "परीह्यभि रायस्पोषेण यजमानम्" (यजु० ७।१८)—"यजमान को धन से युक्त कर।" यह जो कहा कि यजमान को धन से युक्त कर, इससे यजमान को आशीर्वाद देता है ॥१७॥

वे दोनों ग्रहों को (हाथ से) ढककर ले जाते हैं। वह इनको छिपा लेता है। इसीलिए जब सूर्य और चन्द्र आगे की ओर चले जाते हैं तो छिप जाते हैं। (यूप के) सामने जाकर वे (ग्रहों को) खोल देते हैं और सम्मुख खड़े होकर आहुति देते हैं। इससे वे उनको 'दृष्ट' बनाते हैं। इसीलिए जब सूर्य और चन्द्र पीछे लौटते हैं तो उसको सब कोई देखता है। इसीलिए जब वीर्य सींचा जाता है तो कोई नहीं देखता, परन्तु जब उत्पत्ति होती है तो सब देखते हैं ॥१८॥

वे यूप के पीछे अपनी कुहनियाँ रखते हैं कि कहीं आग भड़क न उठे। लेकिन अगर आग भड़क उठे तो यूप के सामने कुहनी कर लें—अध्वर्यु इस मन्त्र से, "संजग्मानो दिवा पृथिव्या

ग्मानो दिवा पृथिव्या शुक्रः शुक्रशोचिषेत्येवाध्वर्युः संजग्मानो दिवा पृथिव्या मन्थी मन्थिशोचिषेति प्रतिप्रस्थाता चक्षुषोरेवैतेऽआरमणे कुरुतश्चक्षुषीऽएवैतत्संधत्तस्तस्मादिमेऽअभितोऽस्थिनी चक्षुषी सᳬंहिते ॥१९॥ सोऽध्वर्युः । अप्रोक्षितं यूपशकलं निरस्यति निरस्तः शण्ड इत्येवमेव प्रतिप्रस्थाता निरस्तो मर्क इति तत्पुराहुतिभ्योऽसुररक्षसेऽअपहतः ॥२०॥ अथाध्वर्युः । प्रोक्षितं यूपशकलमाहवनीये प्रास्यति शुक्रस्याधिष्ठानमसीत्येवमेव प्रतिप्रस्थाता मन्थिनोऽधिष्ठानमसीति चक्षुषोरेवैते समिधौ चक्षुषीऽएवैतत्समिन्द्धे तस्मादिमे समिद्धे चक्षुषी ॥२१॥ तत्र जपति । अच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्यस्य रायस्पोषस्य ददितारः स्यामेत्याशीरेवैषैतस्य कर्मण आशिषमेवैतदाशास्ते ॥२२॥ अथाश्राव्याह । प्रातः-प्रातः सवस्य शुक्रवतो मधुश्चुत इन्द्राय सोमान्प्रस्थितान्प्रेष्येति वषट्कृतेऽध्वर्युर्जुहोति तदनु प्रतिप्रस्थाता तदनु चमसाध्वर्यवः ॥२३॥ तौ वै पुरस्तात्तिष्ठन्तौ जुहुतः । चक्षुषी वाऽएतौ तत्पुरस्तादेवैतच्चक्षुषी धत्तस्तस्मादिमे पुरस्ताच्चक्षुषी ॥२४॥ अभितो यूपं तिष्ठन्तौ जुहुतः । यथा वै नासिकैवं यूपस्तस्मादिमेऽअभितो नासिकां चक्षुषी ॥२५॥ तौ वै वषट्कृतौ सन्तौ मन्त्रेण हूयेते । एतेनो हैतौ तदुदश्नुवाते यदेनौ सर्वᳬं सवनमनुहूयते यद्धेवैतौ सर्वᳬं सवनमनुहूयतऽएतौ वै प्रजापतेः प्रत्यक्षतमां चक्षुषी स्तोतौ सत्यं वै चक्षुः सत्यᳬं हि प्रजापतिस्तस्मादेनौ सर्वᳬं सवनमनुहूयते ॥२६॥ स जुहोति । सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमो वरुणो मित्रोऽअग्निः । स प्रथमो बृहस्पतिश्चिकित्वांस्तस्माऽइन्द्राय सुतमाजुहोत स्वाहेति ॥२७॥ स यज्जुहोति । सा प्रथमा स प्रथम इति शश्वद्ध वै रेतसः सिक्तस्य चक्षुषीऽएव प्रथमे सम्भवतस्तस्माज्जुहोति सा प्रथमा स प्रथम इति ॥२८॥ अथ सम्प्रेष्यति । प्रैतु होतुश्चमसः प्र ब्रह्मणः प्रोद्गातृणां प्र यजमानस्य प्रयन्तु सदस्यानाᳬं होत्राणां चमसाध्वर्यव उपावर्तध्वᳬं शुक्रस्याभ्युन्नयध्वमिति सम्प्रैष एवैष

शुक्रः शुक्रशोचिषा'' (यजु० ७।१३)—''शुक्र प्रकाशस्वरूप द्यौ और पृथिवी के साथ संयुक्त होकर।'' और प्रतिप्रस्थाता इस मन्त्र से, ''संजग्मानो दिवा पृथिव्या मन्थी मन्थिशोचिषा'' (यजु० ७।१८)—''मन्थी मन्थी के समान दीप्तिवाले द्यौ और पृथिवी के साथ संयुक्त होकर।'' इस प्रकार ये इन ग्रहों को आँखों के ठहरने का स्थान बनाते हैं। इनको आँखों के समान पास-पास जोड़कर रखते हैं। इसीलिए आँखें पास-पास हड्डियों द्वारा मिली होती हैं ।।१६।।

अध्वर्यु अप्रोक्षित यूप-शकल को यह कहकर फेंक देता है, ''निरस्तः शण्डः'' (यजु० ७।१३)—''शण्ड भगा दिया गया।'' प्रतिप्रस्थाता यह कहकर फेंकता है, ''निरस्तो मर्कः'' (यजु० ७।१८)—''मर्क भगा दिया गया।'' इस प्रकार आहुतियों के पहले इन दोनों राक्षसों को भगा देते हैं ।।२०।।

अध्वर्यु प्रोक्षित यूप-शकल को यह कहकर आहवनीय अग्नि में छोड़ता है, ''शुक्रस्याधिष्ठानमसि'' (यजु० ७।१३)—''तू शुक्र का अधिष्ठान है।'' इसी प्रकार प्रतिप्रस्थाता यह कहकर ''मन्थिनोऽधिष्ठानमसि'' (यजु० ७।१८)—''मन्थि का अधिष्ठान है तू।'' ये दोनों को प्रकाश देनेवाले हैं। इससे वह आँखों को प्रकाश देता है। इसीलिए आँखों में प्रकाश है।।२१।।

अब जाप करता है, ''अच्छिन्नस्थ ते देव सोम सुवीर्यस्य रायस्पोषस्य ददितारः स्याम'' (यजु० ७।१४)—''हे सोम देव, तेरे न नष्ट होनेवाले, वीर्यवान् धन के हम दाता होवें।'' इस कर्म का यह आशीर्वाद है। इस आशीर्वाद को देता है ।।२२।।

श्रौषट् कहकर कहता है--'प्रातःसवन के चमकीले, मीठे सोमों को इन्द्र के लिए प्रेरित करो।' वषट्कार होने पर अध्वर्यु आहुति देता है। उसके पीछे चमसाध्वर्यु ।।२३।।

ये आगे खड़े होकर आहुति देते हैं। ये दोनों आहुतियाँ यज्ञ की आँखें हैं। इस प्रकार आँखों को आगे रखता है। इसीलिए तो आँखें आगे होती हैं ।।२४।।

ये यूप के दोनों ओर खड़े होकर आहुति देते हैं। यूप नासिका के समान है। नासिका के दोनों ओर आँखें होती हैं ।।२५।।

वषट्कार कहकर ये दोनों आहुतियाँ मन्त्र पढ़कर दी जाती हैं। इनमें यह विशेषता है कि इनके पश्चात् पूरे सवन की आहुतियाँ दी जाती हैं। इनके पीछे पूरे सवन की आहुतियाँ इसलिए दी जाती हैं कि ये आहुतियाँ प्रजापति की प्रत्यक्षतम आँखें हैं। सत्य चक्षु है, सत्य प्रजापति है। इसलिए इनके पीछे पूरे सवन की आहुतियाँ दी जाती हैं ।।२६।।

वह इस मन्त्र से आहुति देता है, ''सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमो वरुणो मित्रो ऽग्निः।। स प्रथमो बृहस्पतिश्चिकित्वाँस्तस्मा ऽ इन्द्राय सुतमाजुहोत स्वाहा'' (यजु० ७।१४, १५)—''सबके ग्रहण करने योग्य यह पहली संस्कृति है। वह पहला वरुण, मित्र और अग्नि है। वह पहला चेतनावा बृहस्पति है। उस इन्द्र के लिए निचोड़े हुए सोम की आहुति दो'' ।।२७।।

'सा प्रथमा, स प्रथमः' यह कहकर वह जो आहुति देता है वह सदा सींचे हुए वीर्य के समान है। आँखें पहले होती हैं इसलिए वह 'सा प्रथमा, स प्रथमः' ऐसा कहकर आहुति देता है ।।२८।।

अब वह आदेश देता है, 'होता का चमसा आवे, ब्राह्मण का, उद्गाता का, यजमान का, सदस्यों के, होताओं के, अध्वर्युओं के। इन चमसों को शुद्ध सोमरस से भरो।' यह सब

पर्येत्य प्रतिप्रस्थाताध्वर्योः पात्रे सꣳस्रवमवनयत्यत्त्रऽएवैतदाद्यं बलिꣳ हारयति तमध्वर्युर्होतृचमसेऽवनयति भक्षाय वषट्कर्तुर्हि भक्षः प्राणो वै वषट्कारः सोऽस्मादेतद्वषट्कुर्वतः पराङिवाभूत्प्राणो वै भक्षस्तत्प्राणं पुनरात्मन्धत्ते ॥२९॥ अथ यदेते प्रतीची पात्रे न हरन्ति । हरन्त्यन्यान्ग्रहांश्चक्षुषी ह्येते सꣳस्रवमेव होतृचमसेऽवनयति ॥३०॥ अथ होत्राणां चमसानभ्युन्नयन्ति । हुतोच्छिष्टा वाऽएते सꣳस्रवा भवन्ति नालमाहुत्यै तानेवैतत्पुनराप्याययन्ति तथालमाहुत्यै भवन्ति तस्माद्धोत्राणां चमसानभ्युन्नयन्ति ॥३१॥ अथ होत्राः संयाजयन्ति । होत्रा ह वै युक्ता देवेभ्यो यज्ञं वहन्ति ता एवैतत्संतर्पयन्ति तृप्ताः प्रीता देवेभ्यो यज्ञं वहानिति तस्माद्धोत्राः संयाजयन्ति ॥३२॥ स प्रथमायां वा होत्रायाम् । इष्टायामुत्तमायां वानुमन्त्रयते तृम्पन्तु होत्रा मध्वो याः स्विष्टा याः सुप्रीताः सुहुता यत्स्वाहेति होत्राणामेवैषा तृप्तिरथेत्य प्रत्यङ्ङुपविशत्ययाडग्नीदित्यग्नीध्रत्र यजतामुत्तमः संयजति तस्मादाहायाडग्नीदिति ॥३३॥ ब्राह्मणम् ॥ ६ [२.१.]॥ प्रथमः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या १३६ ॥ ॥

आत्मा ह वाऽअस्याग्रयणः । सोऽस्यैष सर्वमेव सर्वꣳ ह्ययमात्मा तस्मादनया गृह्णात्यस्यै हि स्थाली भवति स्थाल्या ह्येनं गृह्णाति सर्वं वाऽइयꣳ सर्वमेष ग्रहस्तस्मादनया गृह्णाति ॥१॥ पूर्णं गृह्णाति । सर्वं वै पूर्णꣳ सर्वमेष ग्रहस्तस्मात्पूर्णं गृह्णाति ॥२॥ विश्वेभ्यो देवेभ्यो गृह्णाति । सर्वं वै विश्वे देवाः सर्वमेष ग्रहस्तस्माद्विश्वेभ्यो देवेभ्यो गृह्णाति ॥३॥ सर्वेषु सवनेषु गृह्णाति । सर्वं वै सवनानि सर्वमेष ग्रहस्तस्मात्सर्वेषु सवनेषु गृह्णाति ॥४॥ स यदि राजोपदस्येत् । तमत एव तन्वीरन्नतः प्रभावयेयुरात्मा वाऽआग्रयण आत्मना वाऽइमानि सर्वाण्यङ्गानि प्रभवन्त्येतस्मादन्ततो हारियोजनं ग्रहं गृह्णाति तदात्मन्येवास्यां प्रतिष्ठायामन्ततो यज्ञः प्रतितिष्ठति ॥५॥ अथ यस्मादाग्रयणो नाम । यां वाऽअमूं ग्रा-

मिला-जुला आदेश है। प्रतिप्रस्थाता घूमकर अध्वर्युओं के पात्र में बचा-खुचा सोम डाल देता है। मानो खानेवाले के लिए खाद्यपदार्थ में से बलि दिलवाता है। अध्वर्यु उसको होता के चमसे में डाल देता है पीने के लिए। वषट्कार पढ़नेवाले का यह भक्ष्य है। वषट्कार-प्राण है। यह प्राण वषट् करने के समय निकल-सा गया। प्राण भक्ष है, अर्थात् प्राण को फिर उसमें धारण करता है ॥२९॥

इन पात्रों को वे पीछे क्यों नहीं ले जाते और दूसरे ग्रहों को क्यों पीछे ले जाते हैं? इसलिए कि ये दोनों आँखें हैं। वह बचे-खुचे को होता के चमसे में डाल देता है ॥३०॥

अब होताओं के चमसों को भरते हैं। ये बचे-खुचे भाग जो आहुतियों के अवशिष्ट हैं आहुतियों के लिए काफी नहीं हैं। इनको भर देता है तो ये आहुतियों के लिए काफी हो जाते हैं, इसलिए वह होताओं के चमसों को भर देता है ॥३१॥

अब होता लोग मिलकर ही देवों के लिए यज्ञ को ले जाते हैं। इन सबको वह एक साथ सन्तुष्ट करता है कि तृप्त होकर वे देवों के लिए यज्ञ को ले जावें। इसलिए होता लोग एक-साथ आहुति देते हैं ॥३२॥

पहले या पिछले होता की आहुति हो चुकने पर उनसे वह कहता है, "तृम्पन्तु होत्रा मध्वो याः स्विष्टा याः सुप्रीताः सुहुता यत्स्वाहा" (यजु० ७।१५)—"मीठे सोम को पीनेवाले, भलीभाँति प्रसन्न होनेवाले होता लोग सन्तुष्ट होवें।" यह होताओं की सन्तुष्टि है। अब वह आता है और पश्चिमाभिमुख बैठ जाता है। "याडग्नीत" (यजु० ७।१५)—"अग्नीध्र ने आहुति दी।" अग्नीध्र सबसे पीछे आहुति देता है। इसलिए कहा, 'याड् अग्नीत्' अर्थात् अग्नीध्र ने आहुति दी ॥३३॥

आग्रयणग्रहः

अध्याय २—ब्राह्मण २

आग्रयण ग्रह इसका आत्मा है। इस प्रकार यह उसका सर्वस्व है। आत्मा सर्वस्व होता है। इसलिए वह इस (पृथिवी) के द्वारा लेता है। स्थाली इसी (मिट्टी) की होती है। स्थाली में ही इस आहुति को निकालता है। यह पृथिवी सब-कुछ है, इसलिए यह ग्रह सब-कुछ है। इसलिए वह इसको इस पृथिवी के द्वारा लेता है ॥१॥

वह इसको पूरा भरकर लेता है। पूर्ण का अर्थ है सब। यह ग्रह 'सब' है। इसलिए पूरा भरता है ॥२॥

विश्वेदेवों के लिए लेता है। 'विश्वेदेवा' सब हैं। यह ग्रह भी सब है। इसलिए सब देवों के लिए ग्रहण करता है ॥३॥

सब सवनों में लेता है। सवन 'सब' हैं। यह ग्रह भी 'सब' है। इसलिए सब सवनों में लेता है ॥४॥

यदि सोम राजा चुक जावे, तो उसे इसी ग्रह में से भर देते हैं। इसी में से निकालते हैं। यह आग्रायण ग्रह आत्मा (शरीर) है। आत्मा (शरीर) से ही वे सब अंग निकलते हैं। इसलिए अन्त में हारियोजन ग्रह को लेते हैं। इस प्रकार अन्त में यज्ञ इसी प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित हो जाता है ॥५॥

इसका आग्रयण नाम यों पड़ा। यह जो पत्थर (सोम निचोड़ने का) को लेते समय मौन

वाणमाददानो वाचं यच्छत्यत्र वै साग्रेऽवदत्तद्यत्सात्राग्रेऽवदत्तस्मादाग्रयणो नाम ॥६॥ रक्षोभ्यो वै तां भीषा वाचमयच्छन् । षड्वाऽअतः प्राचो ग्रहान्गृह्णात्यथैष सप्तमः षड्वाऽऋतवः संवत्सरस्य सर्वं वै संवत्सरः ॥७॥ तां देवाः । सर्वास्मिन्विजितेऽभयेऽनाष्ट्रेऽत्राग्रे वाचमवदंस्तथोऽएवैष एतत्ꣳ सर्वस्मिन्विजितेऽभयेऽनाष्ट्रेऽत्राग्रे वाचं वदति ॥८॥ अथातो गृह्णात्येव । ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश स्थ । अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम् । उपयामगृहीतोऽस्याग्रयणोऽसि स्वाग्रयण इति वाचमेवैतदयातयाम्नीं करोति तस्मादनया समानꣳ सद्विपर्यासं वदत्यजामिताया जामि ह कुर्याद्यदाग्रयणोऽस्याग्रयणोऽसीति गृह्णीयात्तस्मादाहाग्रयणोऽसि स्वाग्रयण इति ॥९॥ पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिमिति । वाचमेवैतदुत्सृष्टामाह गोपाय यज्ञमिति पाहि यज्ञपतिमिति वाचमेवैतदुत्सृष्टामाह गोपाय यजमानमिति यजमानो हि यज्ञपतिर्विष्णुस्त्वामिन्द्रियेण पातु विष्णुं त्वं पाहीति वाचमेवैतदुत्सृष्टामाह यज्ञो वै विष्णुर्यज्ञस्त्वां वीर्येण गोपायत्विति विष्णुं त्वं पाहीति वाचमेवैतदुत्सृष्टामाह यज्ञं त्वं गोपायेत्यभि सवनानि पाहीति तदेतं ग्रहमाह सर्वाणि ह्येष सवनानि प्रति ॥१०॥ अथ दशापवित्रमुपगृह्य हिङ्करोति । सा हैषा वागनुद्यमाना ततास तस्यां देवा वाचि तान्तायाꣳ हिङ्कारेणैव प्राणमदधुः प्राणो वै हिङ्कारः प्राणो हि वै हिङ्कारस्तस्मादपिगृह्य नासिके न हिङ्कर्तुꣳ शक्नोति सैतेन प्राणेन समजिहीत यदा वै तान्तः प्राणं लभतेऽथ स संजिहीते तथोऽएवैष एतद्वाचि तान्तायाꣳ हिङ्कारेणैव प्राणं दधाति सैतेन प्राणेन संजिहीते त्रिष्कृत्वो हिङ्करोति त्रिवृद्धि यज्ञः ॥११॥ अथाह सोमः पवतऽइति । स यामेवामूं भीषासुररक्षसेभ्यो न निरब्रुवंस्तामेवैतत्सर्वस्मिन्विजितेऽभयेऽनाष्ट्रेऽत्र निराह तामाविष्करोति तस्मादाह सोमः पवतऽइति ॥१२॥ अस्मै ब्रह्मणेऽस्मै क्षत्रायेति । तद्ब्रह्मणे च क्षत्राय चाहास्मै सुन्वते

धारण किया था, इसके बाद अभी मुँह खोला गया। और चूंकि सबसे आगे वचन बोला, इसलिए आग्रयण नाम हुआ ।।६।।

राक्षसों के डर से मौन साधन किया था। इसके पहले वह छः ग्रह लेता है। यह सातवाँ है। वर्ष में छः ऋतुएं होती हैं। वर्ष सब है ।।७।।

सबके जीतने और भयरहित तथा हानिरहित होने पर पहले देवों ने वाणी बोली थी। यह भी सबके जीतने पर और भयरहित तथा हानिरहित होने पर वाणी को बोलता है ।।८।।

इसको वह इस मन्त्र से ग्रहण करता है, "ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश-स्थ। अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम् ।। उपयामगृहीतोऽस्याग्रयणोऽसि स्वाग्रयण:" (यजु० ७।१९,२०, ऋ० १।१३९।११) –– "जो आप देव लोग, द्यौलोक में ११ हैं, पृथिवी में ११ और जलों में (अन्तरिक्ष में) प्रकाशयुक्त ११ हैं। ये तैंतीसों देव मेरे यज्ञ को ग्रहण करें। तू रक्षा के लिए लिया गया है तो आग्रयण है। अच्छा आग्रयण है।" इस प्रकार वाणी जोरदार कर देता है कि एकार्थ होते हुए भी कुछ भेद कर देता है। यदि 'आग्रयणोऽसि, आग्र-यणोऽसि' दो बार कहेगा तो एक ही बात को दुहराने का दोष आ जायगा, इसलिए पहले 'आग्र-यणोऽसि' कहता है फिर 'स्वाग्रयणोऽसि' ।।९।।

"पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिम्" (यजु० ७।२०)—अर्थात् "यज्ञ की रक्षा कर, यज्ञपति की रक्षा कर।" यज्ञपति से यजमान का तात्पर्य है, क्योंकि यजमान ही यज्ञपति है। "विष्णुस्त्वा-मिन्द्रियेण पातु विष्णुं त्वं पाहि" (यजु० ७।२०)—विष्णु नाम है यज्ञ का, अर्थात् "यज्ञ अपनी शक्ति द्वारा तेरी रक्षा करे। तू यज्ञ की रक्षा कर।" "अभि सवनानि पाहि" (यजु० ७।२०)— इससे तात्पर्य ग्रह का है क्योंकि यह (आग्रयण ग्रह) सभी सवनों में आता है ।।१०।।

(ग्रह को) छन्ने में लपेटकर हिंकार बोलता है। यह वाणी विना आश्रय के थक गई थी। देवों ने उस थकी हुई वाणी में हिंकार के द्वारा प्राण स्थापित किये। प्राण हिंकार है। प्राण ही हिंकार है। इसीलिए तो नाक बन्द करके हिंकार नहीं बोल सके। वह इस प्राण के द्वारा फिर ताजा हो गई। जब थका आदमी प्राण को पाता है तो प्राण के कारण ताजा हो जाता है। इसी प्रकार यह उस वाणी में हिंकार से प्राण को धारण कराता है। वह उस प्राण के द्वारा ताजा होती है। हिंकार तीन बार करता है क्योंकि यज्ञ त्रिवृत् (तीन लड़ी वाला) है ।।११।।

अब कहता है, "सोमः पवते" (यजु० २१)—"सोम पवित्र करता है।" असुर राक्षसों से डरकर उन्होंने अब तक यह वाणी न बोली थी। जब सबको जीत लिया और भय-रहित तथा हानि-रहित हो गये तब इस वाणी को स्पष्ट किया और कहा। इसलिए कहता है कि 'सोम पवित्र करता है' ।।१२।।

"अस्मै ब्रह्मणेऽस्मै क्षत्राय" (यजु० ७।२१)—"इस ब्राह्मण के लिए, इस क्षत्रिय के लिए।" क्योंकि ब्राह्मण और क्षत्रिय के लिए यह यज्ञ किया गया। "यजमानाय पवते" (यजु०

यजमानाय पवतऽइति तद्यजमानायाह ॥ १३ ॥ तदाहुः । एतावद्वोक्का सादयेदे-तावद्वाऽइद७ सर्वं यावद्ब्रह्म क्षत्रं विडिन्द्राग्नी वाऽइद७ सर्वं तस्मादेतावद्वो-क्का सादयेदिति ॥ १४ ॥ तदु ब्रूयादेव भूयः । इषऽऊर्जे पवतऽइति वृष्ट्यै तदाह यदाहेषऽइत्यूर्जऽइति यो वृष्टादूर्ग्रसो जायते तस्मै तदाहाद्भ्य ओषधीभ्यः पवत ऽइति तदद्भ्यश्चौषधिभ्यश्चाह द्यावापृथिवीभ्यां पवतऽइति तदाभ्यां द्यावापृथि-वीभ्यामाह ययोरिद७ सर्वमधि सुभूताय पवतऽइति साधवे पवतऽइत्येवैतदाह ॥ १५ ॥ तदु हैकऽआहुः । ब्रह्मवर्चसाय पवतऽइति तदु तथा न ब्रूयाद्यद्वाऽआ-हास्मै ब्रह्मणऽइति तदेव ब्रह्मवर्चसायाह विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य एष ते योनिर्वि-श्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य इति सादयति विश्वेभ्यो ह्येनं देवेभ्यो गृह्णाति तं वै मध्ये साद-यत्यात्मा ह्यस्यैष मध्यऽइव ह्ययमात्मा दक्षिणोक्थ्यस्थाली भवत्युत्तरादित्यस्था-ली ॥ १६ ॥ ब्राह्मणम् ॥ १ [२.२.] ॥ ॥

अथ७ ह वाऽअस्यैषोऽनिरुक्त आत्मा यदुक्थ्यः । सोऽस्यैष आत्मैवात्मा ह्य-यमनिरुक्तः प्राणः सोऽस्यैष आयुरेव तस्मादनया गृह्णात्यस्यै हि स्थाली भवति स्थाल्या ह्येनं गृह्णात्यजरा ह्यीयममृताजर७ ह्यमृतमायुस्तस्मादनया गृह्णाति ॥ १ ॥ तं वै पूर्णं गृह्णाति । सर्वं वै तद्यत्पूर्ण७ सर्वं तद्यदायुस्तस्मात्पूर्णं गृह्णाति ॥ २ ॥ ॥ शतम् २४०० ॥ ॥ तस्यासावेव ध्रुव आयुः । आत्मैवास्यैतेन स७हितः पर्वाणि संततानि तद्वाऽअगृहीत एवैतस्मादच्छावाकायोत्तमो ग्रहो भवति ॥ ३ ॥ अथ रा-जानमुपावहरति । तृतीयं वसतीवरीणामवनयति तत्पर्व समेति प्रथममहोत्त-रस्य सवनस्य करोत्युत्तमं पूर्वस्य स यदुत्तरस्य सवनस्य तत्पूर्वं करोति यत्पूर्वस्य तदुत्तमं तद्व्यतिषजति तस्मादिमानि पर्वाणि व्यतिषक्तानीदमित्थमतिहानमिदमि-त्थम् ॥ ४ ॥ एवमेव माध्यन्दिने सवने । अगृहीत एवैतस्मादच्छावाकायोत्तमो ग्र-हो भवत्यथ तृतीयं वसतीवरीणामवनयति तत्पर्व समेति प्रथममहोत्तरस्य

७।२१)—"यजमान के लिए पवित्र करता है।" यह यजमान के लिए कहा ॥१३॥

इस पर कुछ लोग कहते हैं कि इतना ही कहकर ग्रह को रख दे, जितना ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य है। वह सब इतना ही तो है। इन्द्र और अग्नि यह सब है। इसलिए इतना ही कहकर रख दे ॥१४॥

परन्तु इतना और कहना चाहिए "इष ऽ ऊर्जे पवते।" 'इषे' कहा वृष्टि के लिए। 'ऊर्जे' कहा रस के लिए, क्योंकि वृष्टि से रस उत्पन्न होता है। "अद्भ्य ऽ ओषधीभ्यः पवते" (यजु० ७।२१)—यह जलों और ओषधियों के लिए कहा। "द्यावापृथिवीभ्यां पवते" (यजु०७।२१)—यह द्यौ और पृथिवी के लिए कहा जिसके आश्रित सभी हैं। "सुभूताय पवते" (यजु० ७।२१)—अर्थात् 'साधु या भलाई के लिए' ॥१५॥

कुछ कहते हैं कि 'ब्रह्मवर्चसाय पवते', परन्तु ऐसा न कहना चाहिए। क्योंकि ऊपर 'अस्मै ब्रह्मणे' कहा जा चुका है। इसका अर्थ 'ब्रह्मवर्चस्' है। "विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य ऽ एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः" (यजु० ७।२१)—"तुझको विश्वेदेवों के लिए। यह तेरी योनि है। तुझको विश्वेदेवों के लिए।" उस ग्रह को रख देता है कि इसको विश्वेदेवों के लिए भरा था। उसको मध्य में रखता है, क्योंकि यह इसका आत्मा है। आत्मा मध्य में है। दाहिनी ओर उक्थ्य थाली को रखते हैं, बाईं ओर आदित्य थाली को ॥१६॥

उक्थ्यग्रहः

अध्याय २—ब्राह्मण ३

यह जो उक्थ्य ग्रह है वह इसका अनिरुक्त (अस्पष्ट) आत्मा है। यह उसका आत्मा है। यह इसका जो अनिरुक्त प्राण है वह इसका आत्मा है। यह इसकी आयु है। इसलिए वह इसको इस (पृथिवी) के द्वारा ग्रहण करता है। इसी की थाली होती है (अर्थात् थाली मिट्टी की ही तो बनती है) और थाली में ही इसको निकालता है। यह पृथिवी अजर-अमर है। अजर-अमर ही आयु है। इसलिए इस पृथिवी के द्वारा इसको ग्रहण करता है ॥१॥

उसको पूरा-पूरा भरता है। यह जो आयु है वह 'सब' है। इसलिए पूरा-पूरा भरता है ॥२॥

ध्रुव ग्रह उसकी आयु है। इसी से उसका आत्मा सुगठित रहता है। पर्व अर्थात् जोड़ इसी के द्वारा संगठित रहते हैं। अभी अच्छावाक (ऋत्विज विशेष) के लिए पिछला ग्रह भरा नहीं जा चुका ॥३॥

तभी सोम राजा को (गाड़ी से) उतारता है और वसतीवरीयों का तीसरा भाग (आधवनीय स्थाली में) छोड़ता है, इस प्रकार पर्व जुड़ता है अर्थात् इस उक्थ्य ग्रह को पिछले सवन का पहला और पहले सवन का पिछला ग्रह बना देता है (इस प्रकार दोनों सवन जुड़ गये), जो पिछले सवन का है उसे पहले करता है, जो पहले का है उसे पीछे। इस प्रकार वह एक का दूसरे में जोड़ मिला देता है, इसीलिए तो शरीर के जोड़ एक-दूसरे में मिले हुए हैं (व्यतिषक्तानि—interlocked), यह इस प्रकार, यह इस प्रकार (हाथ के इशारे से बताकर) ॥४॥

इसी प्रकार दोपहर के सवन में, चूंकि अभी इसमें से अच्छावाक के लिए पिछला ग्रह भरा नहीं जाता। इसलिए वसतीवरीयों का तीसरा भाग (आधवनीय में) छोड़ता है। इस प्रकार जोड मिल जाता है। पहले को वह पिछले सवन का बनाता है और पिछले को पहले सवन

सवनस्य करोत्युत्तमं पूर्वस्य स यदुत्तरस्य सवनस्य तत्पूर्वं करोति यत्पूर्वस्य तदुत्तमं तद्व्यतिषजति तस्मादिमानि पर्वाणि व्यतिषक्तानीदमित्थमतिष्ठानमिदमित्थं तद्यदस्यैतेनात्मा सꣳहितस्तेनास्यैष आयुः ॥ ५ ॥ सैषा कामदुघैवेन्द्रस्योद्धारः। त्रिभ्य एवैनं प्रातःसवनऽउक्थेभ्यो विगृह्णाति त्रिभ्यो माध्यन्दिने सवने तत्षट् कृत्वः षड्वाऽऋतव ऋतवो वाऽइमान्त्सर्वान्कामान्पचन्त्येतेनो हैषा कामदुघैवेन्द्रस्योद्धारः ॥ ६ ॥ तं वाऽअपुरोरुक्कं गृह्णाति । उक्थꣳ हि पुरोरुगृग्घि पुरोरुगृग्घ्युक्थꣳ साम यज्ञोऽय यदन्यज्जपति तद्यजुस्ता हैता अभ्यर्ध एवाग्रऽऋग्भ्य आसुरभ्यर्धो यजुर्भ्योऽभ्यर्धः सामभ्यः ॥ ७ ॥ ते देवा अब्रुवन् । हन्तेमा यजुःषु दधाम तथेयं बहुलतरेव विद्या भविष्यतीति ता यजुःषु दधुस्तत एषा बहुलतरेव विद्याभवत् ॥ ८ ॥ तं यदपुरोरुक्कं गृह्णाति । उक्थꣳ हि पुरोरुगृग्घि पुरोरुगृग्घ्युक्थꣳ स यदेवैनमुक्थेभ्यो विगृह्णाति तेनो हास्यैष पुरोरुक्मान्भवति तस्मादपुरोरुक्कं गृह्णाति ॥ ९ ॥ अथातो गृह्णात्येव । उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा बृहद्वते वयस्वतऽइतीन्द्रो वै यज्ञस्य देवता तस्मादाहेन्द्राय त्वेति बृहद्वते वयस्वतऽइति वीर्यवतऽइत्येवैतदाह यदाह बृहद्वते वयस्वतऽइत्युक्थाव्यं गृह्णामीत्युक्थेभ्यो ह्येनं गृह्णाति यत्तऽइन्द्र बृहद्वय इति यत्तऽइन्द्र वीर्यमित्येवैतदाह तस्मै त्वा विष्णवे त्वेति यज्ञस्य ह्येनमायुषे गृह्णाति तस्मादाह तस्मै त्वा विष्णवे त्वेत्येष ते योनिरुक्थेभ्यस्त्वेति सादयत्युक्थेभ्यो ह्येनं गृह्णाति ॥ १० ॥ तं विगृह्णाति । देवेभ्यस्त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामीति प्रशासनꣳ स कुर्याद्य एवं कुर्याद्यथादेवतं त्वेव विगृह्णीयात् ॥ ११ ॥ मित्रावरुणाभ्यां त्वा । देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामीत्येव मैत्रावरुणाय मैत्रावरुणीषु हि तस्मै स्तुवते मैत्रावरुणीरनुशꣳसति मैत्रावरुण्या यजति ॥ १२ ॥ इन्द्राय त्वा । देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामीत्येव ब्राह्मणाच्छꣳसिनऽऐन्द्रीषु हि तस्मै स्तुवतऽऐन्द्रीरनुशꣳसत्यैन्द्र्या यजति ॥ १३ ॥ इन्द्राग्निभ्यां त्वा ।

का। जो पिछले सवन का है उसे पहले करता है, जो पहले का है उसे पीछे। इस प्रकार दोनों को मिला देता है। इसीलिए ये शरीर के जोड़ भी मिले हुए हैं। यह इस प्रकार और यह इस प्रकार (हाथ के इशारे से बताकर) चूंकि इस ग्रह से उसका आतमा सुघटित है, इसलिए यह इसकी आयु है ।।५।।

यह (उक्थ्य ग्रह) इन्द्र का विशेष भाग या कामधेनु है। प्रातःसवन में तीन उक्थ्यों के लिए (विशेष मन्त्रों के लिए) इसके तीन भाग करता है; दोपहर के सवन में तीन को; ये छः हुए। छः ही ऋतुएं हैं। ये ऋतुएँ ही पृथिवी पर सब कामनाओं को पकाती हैं। इसलिए यह कामधेनु या इन्द्र का विशेष भाग है ।।६।।

इसको पुरोरुक् के बिना ही लेता है। उक्थ्य पुरोरुक् है। पुरोरुक् ऋक् है। उक्थ्य ऋक् है। साम ग्रह है। यह जो जपा जाता है वह यजुः है। ये पुरोरुक् ऋचाएँ पहले ऋक् से अलग थीं, यजुः से अलग थीं, साम से अलग थीं ।।७।।

वे देव बोले, 'इनको यजुओं में मिला दें, इस प्रकार यह बहुत बड़ी विद्या हो जायगी।' तब उन्होंने इनको यजुओं में मिला दिया और यह बहुत बड़ी विद्या हो गई ।।८।।

इसको बिना पुरोरुक् के क्यों लेता है ? उक्थ्य पुरोरुक् है। ऋक् पुरोरुक् है, ऋक् उक्थ्य है। चूंकि इसको उक्थ्यों में से लेता है, इसलिए यह पुरोरुक्वाला हो जाता है। इसलिए इसको बिना पुरोरुक् के लेता है ।।९।।

इसको इस मन्त्र से लेता है, "उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा बृहद्वते वयस्वते" (यजु० ७।२२)—"तुझको आश्रय के लिए लिया गया है, बड़े और आयुवाले इन्द्र के लिए।" इन्द्र यज्ञ का देवता है, इसलिए कहा कि बड़े और आयुवाले इन्द्र के लिए। 'बड़े और आयुवाले' का अर्थं है वीर्यवाले, पराक्रमवाले। "उक्थाव्यं गृह्णामि" (यजु० ७।२२)—"उक्थ्यों से इसे लेता हूँ।" "यत्त ऽ इन्द्र बृहद्वयः" (यजु० ७।२२) अर्थात् "हे इन्द्र, जो तेरा पराक्रम है।" "तस्मै त्वा विष्णवे त्वा" (यजु० ७।२२)—यज्ञ की आयु के लिए इसको ग्रहण करता है, इसलिए कहा, "उसके लिए तुझको, विष्णु के लिए तुझको।" "एष ते योनिरुक्थेभ्यस्त्वा" (यजु० ७।२२)—"यह तेरी योनि है, उक्थों के लिए तुझे।" ऐसा कहकर उसको रख देता है, उक्थों के लिए उसे लेता है ।।१०।।

इस मन्त्रांश से बाँटता है, "देवेभ्यस्त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामि" (यजु० ७।२२) —"तुझे देवों के लिए तथा यज्ञ की आयु के लिए लेता हूँ।" जो इस प्रकार करेगा वह शासन करनेवाला होगा। अब उसे प्रत्येक देवता के लिए बाँट देना चाहिए ।।११।।

"मित्रावरुणाभ्यां त्वा देवाव्यां यज्ञस्यायुषे गृह्णामि" (यजु० ७।२३)—यह मित्रावरुण के लिए, क्योंकि मित्रावरुणी मन्त्रों में (उद्गाता लोग) उसी की स्तुति करते हैं और मैत्रावरुणी शस्त्र को होता पढ़ता है, और मैत्रावरुण के लिए ही आहुति दी जाती है ।।१२।।

"इन्द्राय त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामि" (यजु० ७।२३)—"देव के अर्पण तुझको इन्द्र के लिए, यज्ञ की आयु के लिए लेता हूँ।" यह भाग ब्राह्मणाच्छंसी के लिए होता है। इन्द्र-सम्बन्धी मन्त्रों के साथ इसके लिए स्तुति की जाती है। शस्त्रा भी ऐसे ही मन्त्रों से पढ़ा जाता है जिनमें इन्द्र शब्द आया हो और इन्द्रवाले मन्त्र से ही आहुति दी जाती है ।।१३।।

देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामीत्येवाह्वावाकायैन्द्राग्नीषु हि तस्मै स्तुवतऽऐन्द्राग्नीरनुशᳪसत्यैन्द्राग्न्या यजतीन्द्राय त्वेत्येव माध्यन्दिने सवनऽऐन्द्रᳪ हि माध्यन्दिनᳪ सवनम् ॥१४॥ तदु ह चरकाध्वर्यवो विगृह्णन्ति । उपयामगृहीतोऽसि देवेभ्यस्त्वा देवाव्यमुक्थेभ्य उक्थाव्यं मित्रावरुणाभ्यां जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिर्मित्रावरुणाभ्यां त्वेति सादयति पुनर्हविरसीति स्थालीमभिमृशति ॥ १५ ॥ उपयामगृहीतोऽसि । देवेभ्यस्त्वा देवाव्यमुक्थेभ्य उक्थाव्यमिन्द्राय जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वेति सादयति पुनर्हविरसीति स्थालीमभिमृशति ॥ १६ ॥ उपयामगृहीतोऽसि । देवेभ्यस्त्वा देवाव्यमुक्थेभ्य उक्थाव्यमिन्द्राग्निभ्यां जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राग्निभ्यां त्वेति सादयति नात्र पुनर्हविरसीति स्थालीमभिमृशतीन्द्राय त्वेन्द्राय त्वेत्येव माध्यन्दिने सवनऽऐन्द्रᳪ हि माध्यन्दिनᳪ सवनं द्विर्हि पुनर्हविरसीति स्थालीमभिमृशति तूष्णीं तृतीयं निदधाति ॥ १७ ॥ तं वै नोपयामेन गृह्णीयात् । न योनौ सादयेदग्रे ह्येवैष उपयामेन गृहीतो भवत्यग्रे योनौ सन्नोऽजामितायै जामि ह कुर्याद्यदेनमत्राप्युपयामेन गृह्णीयाद्यद्योनौ सादयेदथ यत्पुनर्हविरसीति स्थालीमभिमृशति पुनर्ह्यस्यै ग्रहं ग्रहीष्यन्भवति न तदाद्रियेत तूष्णीमेव निदध्यात् ॥१८॥

ब्राह्मणम् ॥ २ [२. ३.] ॥ ॥

अयᳪ ह वाऽअस्यैष प्राणः । योऽयं पुरस्तात्स वै वैश्वानर एवाथ योऽयं पश्चात्स ध्रुवस्तौ ह स्मैतौ द्वावेवाग्रे ग्रहौ गृह्णन्ति ध्रुववैश्वानराविति तयोरयमप्येतर्ह्यन्यतर एव गृह्यते ध्रुव एव स यदि तं चरकेभ्यो वा यतो वानुब्रुवीत यजमानस्य तं चमसेऽवनयेदथैतमेव होतृचमसे ॥ १ ॥ यद्वाऽअस्यावाचीनं नाभेः । तदस्यैष आत्मनः सोऽस्यैष आयुरेव तस्मादनया गृह्णात्यस्यै हि स्थाली भवति स्थाल्या ह्येनं गृह्णात्यजरा ह्ययममृताजरᳪ ह्यमृतमायुस्तस्मादनया गृह्णाति ॥२॥ तं वै पूर्णं गृह्णाति । सर्वं वै तद्यत्पूर्णᳪ सर्वं तद्यदायुस्तस्मात्पूर्णं गृह्णाति ॥३॥

"इन्द्राग्निभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामि" (यजु० ७।२३)—"यह भाग आच्छावाक का है। इसकी स्तुति के मन्त्रों में इन्द्र-अग्नि आता है, इन्द्र-अग्निवाले मन्त्र ही शस्त्र में पढ़े जाते हैं और इन्द्र-अग्नि के मन्त्रों से ही आहुति दी जाती है। 'इन्द्राय त्वा' से दोपहर के सवन को करता है, क्योंकि दोपहर का सवन इन्द्र का होता है ॥१४॥

चरकाध्वर्यु इसको इस प्रकार बाँटते हैं, "उपयामगृहीतोऽसि देवेभ्यस्त्वा देवाव्यमुक्थ्येभ्य उक्थाव्यं मित्रावरुणाभ्यां जुष्टं गृह्णामि"—"तू आश्रय के लिए है। तुझ देव के अर्पण को देवों के लिए जिनको स्तुति प्रिय है, मित्र-वरुण के लिए लेता हूँ।" अब वह इस मन्त्र से ग्रह को रखता है, "एष ते योनिर्मित्रावरुणाभ्यां त्वा।" यह कहकर थाली को छूता है, 'हविरसि'—'तू हवि है' ॥१५॥

इस मन्त्र से रखता है, "उपयामगृहीतोऽसि देवेभ्यस्त्वा देवाव्यमुक्थेभ्य उक्थाव्यमिन्द्राग्निभ्यां जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा।" यह कहकर थाली को छूता है। "पुनर्हविरसि।"—"तू फिर हवि है" ॥१६॥

उपयामगृहीतोऽसि। देवेभ्यस्त्वा देवाव्यमुक्थेभ्य उक्थाव्यमिन्द्राग्निभ्यां जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राग्निभ्यां त्वा।' इससे रखता है। परन्तु 'पुनर्हविरसि' कहकर इस बार थाली को नहीं छूता। 'इन्द्राय' 'इन्द्राय त्वा' कहकर दोपहर के सवन को करता है क्योंकि दोपहर का सवन 'इन्द्र' का है। 'तू हवि है' ऐसा कहकर थाली को दो बार छूता है, तीसरी बार चुपके से रख देता है ॥१७॥

इसको 'उपयाम······इति' कहकर न ले और न 'योनि' में रक्खे। यह तो पहले ही 'उपयाम···' से ली जा चुकी है और पहले ही 'योनि' में रक्खी जा चुकी है। यदि अब भी 'उपयाम······' से लेगा और 'योनि' में रक्खेगा तो एक ही चीज को दुहराने का दोषी होगा। 'पुनर्हविरसि' कहकर थाली को छूने से इस ग्रह को दुबारा ग्रहण करना पड़ेगा। इसलिए इसको न करे। चुपके से रख दे ॥१८॥

ध्रुवग्रहः

अध्याय २—ब्राह्मण ४

यह जो आगे का प्राण है वह वैश्वानर ग्रह है, और यह जो पीछे का प्राण है वह ध्रुव है। पहले ये दोनों ग्रह लिये जाया करते थे—ध्रुव भी और वैश्वानर भी। इनमें से एक अब भी निकाला जाता है अर्थात् ध्रुव। उस अर्थात् वैश्वानर ग्रह को यदि चरकों की रीति के अनुसार लिया जाय तो उसको यजमान के चमसे में डालना चाहिए, 'ध्रुव' को होता के चमसे में ॥१॥

यह जो नाभि से नीचे का स्थान है उसी का आत्मा, उसी की आयु यह ध्रुव ग्रह है। इसलिए उसको इसे भूमि द्वारा ही लेता है क्योंकि थाली इसी की मिट्टी की होती है। थाली में ही इसे लेना है। यह अजर-अमर है। आयु भी अजर-अमर है। इसलिए इसके द्वारा लेता है ॥२॥

उसको पूरा-पूरा भरता है। 'सब' पूर्ण है। यह जो आयु है वह पूर्ण है। इसलिए पूरा-पूरा भरता है ॥३॥

वैश्वानराय गृह्णाति । संवत्सरो वै वैश्वानरः संवत्सर आयुस्तस्माद्वैश्वानराय गृ-
ह्णाति ॥४॥ स प्रातःसवने गृहीतः । ऐतस्मात्कालादुपशेते तदेनꣳ सर्वाणि स-
वनान्यतिनयति ॥५॥ तं न स्तूयमानेऽवनयेत् । न ह संवत्सरं यजमानोऽति-
जीवेद्यत्स्तूयमानेऽवनयेत् ॥६॥ तꣳ शस्यमानेऽवनयति । तदेनं द्वादशꣳ स्तोत्रं
मतिनयति तथा परम्परमायुः समश्नुते तथो ह यजमानो ज्योग्जीवति तस्माद्ब्रा-
ह्मणोऽग्निष्टोमसत्स्यादितस्य होमान्न सर्पेन्न प्रस्रावयेत तथा सर्वमायुः समश्नुत
ऽआयुर्वाऽअस्यैष तथा सर्वमायुरेति ॥७॥ यद्वाऽअस्यावाचीनं नाभेः । तदस्यैष
आत्मनः स यत्पुरैतस्य होमात्सर्पेद्वा प्र वा स्रावयेत ध्रुवꣳ हावमेहेन्नेद्ध्रुवमव-
मेहानीति तस्माद्वाऽअग्निष्टोमसद्भवति तद्वै तद्यजमान एव यजमानस्य ह्येष त-
दात्मनः ॥८॥ स वाऽअग्निष्टोमसद्भवति । यशो वै सोमस्तस्माद्यश्च सोमं लभते
यश्च नोभाविवागच्छतो यश एवैतद्द्रष्टुमागच्छन्ति तद्वाऽएतद्यशो ब्राह्मणाः सम्प्रसृ-
प्यात्मन्दधते यद्भक्षयन्ति स ह यश इव भवति य एवं विद्वान्भक्षयति ॥९॥ ते
वाऽएते । सर्पन्त एवाग्निष्टोमसद्ये तद्यशः संनिधाय सर्पन्ति ते पराञ्चो यशसो भ-
वन्ति तदेष परिगृह्यैव पुनरात्मन्यशो धत्ते तेषाꣳ ह्येष एव यशस्वितमो भूत्वा
प्रैति य एवं विद्वानग्निष्टोमसद्भवति ॥१०॥ देवाश्च वाऽअसुराश्च । उभये प्राजा-
पत्याः पस्पृधिरेऽएतस्मिन्यज्ञे प्रजापतौ पितरि संवत्सरेऽस्माकमयं भविष्यत्यस्मा-
कमयं भविष्यतीति ॥११॥ ततो देवाः । अर्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुस्तऽएतदग्निष्टोमसद्यं
ददृशुस्तऽएतेनाग्निष्टोमसद्येन सर्वं यज्ञꣳ समवृञ्जतान्तरायन्नसुरान्यज्ञात्तथोऽएवैष
एतेनाग्निष्टोमसद्येन सर्वं यज्ञꣳ संवृङ्क्तेऽन्तरेति सपत्नान्यज्ञात्तस्माद्वाऽअग्निष्टोमसद्भ-
वति ॥१२॥ तं गृहीत्वोत्तरे हविर्धाने सादयति प्राणा वै ग्रहा नेत्प्राणान्मोह-
यानीत्युपकीर्णो वाऽइतरान्ग्रहान्सादयत्यथैतं व्युह्य न तृणं चनान्तर्धाय ॥१३॥
यद्वाऽअस्योर्ध्वं नाभेः । तदस्यैतऽआत्मन उपरीव वै तद्यदूर्ध्वं नाभेरुपरीवैतद्यदुप-

वैश्वानर के लिए लेता है। संवत्सर वैश्वानर है। संवत्सर आयु है, इसलिए वैश्वानर के लिए लेता है ।।४।।

इसको प्रातःसवन के लिए लिया गया था। इसके बाद यह वैसे ही रखा रहा। इस प्रकार वह इसको सब सवनों में होकर ले जाता है ।।५।।

स्तुति के समय इसको (होता के चमसे में) न डाले, क्योंकि यदि स्तुति के बीच में डाल देगा तो यजमान साल-भर न जियेगा ।।६।।

जिस समय शस्त्र पढ़ा जाता है उस समय इसको लेता है। इस प्रकार वह इसको बारह स्तोत्रों से ऊपर कर देता है। इस प्रकार उसका जीवन परस्पर (बिना सिलसिला टूटे) रहता है। यजमान दीर्घायु होता है। इसलिए ब्राह्मण अग्निष्टोम में बराबर बैठा रहे। होम से हट न जाय। न पेशाब करे। इस प्रकार पूर्ण आयु को प्राप्त करे। यह जो आहुति है वह इसकी आयु है। इस प्रकार सब आयु को प्राप्त करता है ।।७।।

यह जो इसकी नाभि के नीचे है उसके आत्मा का उतना भाग यह (ध्रुव ग्रह) है। इसलिए यदि हटकर जायगा या पेशाब करेगा तो जो चीज ध्रुव (दृढ़) है उसको विचल कर देगा। वह ध्रुव को विचल नहीं करता, इसलिए अग्निष्टोम में बराबर बैठा रहता है। यह आदेश यजमान के लिए है क्योंकि यह यजमान का ही आत्मा है ।।८।।

वह अग्निष्टोम सद् इसलिए भी होता है कि सोम यश है; इसलिए जो इसका लाभ करता है और जो इसका लाभ नहीं करता, दोनों ही इस यश को देखने आते हैं। ब्राह्मण लोग जब (इस सोम को) पीते हैं तो वे अपने आतमा में इस यश को धारण करते हैं। जो इस रहस्य को समझकर इसका पान करता है वह अवश्य ही यशस्वी हो जाता है ।।९।।

ये (ब्राह्मण लोग) अग्निष्टोम से हटते हुए इस यश को उस (यजमान) में रखकर हटते हैं और इस प्रकार यश से विमुख हो जाते हैं। और यह यजमान चारों ओर से घेरकर ही यश को अपने में धारण करता है, इसलिए वह मनुष्य उन सबमें यशस्वी होकर मरता है जो इस रहस्य को जानकर अग्निष्टोम में बराबर बैठा रहता है ।।१०।।

देव और असुर दोनों प्रजापति की सन्तान इस पिता प्रजापति संवत्सररूपी यज्ञ में इस बात पर लड़ पड़े कि 'यह हमारा होगा'-'यह हमारा होगा' ।।११।।

इस पर देव तो अर्चना और श्रम करते रहे। उन्होंने इस अग्निष्टोम को देखा (निकाला)। इस अग्निष्टोम के द्वारा उन्होंने पूरे यज्ञ पर स्वत्व कर लिया और असुरों को यज्ञ से बाहर कर दिया। इस प्रकार यह यजमान भी अग्निष्टोम के द्वारा इस सम्पूर्ण यज्ञ पर स्वत्व कर लेता है, यज्ञ से अपने शत्रुओं को बाहर कर देता है। इसलिए वह अग्निष्टोम में बराबर बैठा रहता है ।।१२।।

इस ग्रह को लेकर वह उत्तरी हविर्धान में रख देता है। ग्रह प्राण है। ऐसा न हो कि प्राण विचलित हो जायँ। अन्य ग्रहों को उपकीर्ण (ऊँचे उठे हुए भाग में) रखता है। लेकिन इसको धूल हटाकर इस प्रकार रखता है कि एक तिनका भी बीच में न रहने पावे ।।१३।।

यह जो नाभि से ऊपर का भाग है वही शरीर का ऊपरी भाग कहलाता है। ये जो अन्य

कीर्णं तस्मादुपकीर्णे सादयत्यथैतं व्युह्य न तृणं चनान्तर्धाय ॥१४॥ यद्वाऽग्रस्या-
वाचीनं नाभेः । तदस्यैष ग्रात्मनोऽध-इव वै तद्यदवाचीनं नाभेरध-इवैतद्य
द्युह्य न तृणं चनान्तर्धाय तस्मादेतं व्युह्य न तृणं चनान्तर्धाय सादयति ॥१५॥
एष वै प्रजापतिः । य एष यज्ञस्तायते यस्मादिमाः प्रजाः प्रजाता एतम्वेवाप्ये-
तर्ह्यनु प्रजायन्ते स यानुपकीर्णे सादयति तस्माद्यास्तानन्नु प्रजाः प्रजायन्ते ता ग्र-
न्येनात्मनोऽस्यां प्रतितिष्ठन्ति या वै शफैः प्रतितिष्ठन्ति ता ग्रन्येनात्मनोऽस्यां
प्रतितिष्ठन्त्यथ यदेतं व्युह्य न तृणं चनान्तर्धाय सादयति तस्माद्या एतमनु प्रजाः
प्रजायन्ते ता ग्रात्मनैवास्यां प्रतितिष्ठन्ति मनुष्याश्च श्वापदाश्च ॥१६॥ तद्वाऽएतत्
। ग्रस्या एवान्यदुत्तरं करोति यदुपकिरति स यानुपकीर्णे सादयति तस्माद्यास्ता-
ननु प्रजाः प्रजायन्ते ता ग्रन्येनैवात्मनोऽस्यां प्रतितिष्ठन्ति शफैः ॥१७॥ तद्वाऽए-
तत् । ग्राहवनीये जुह्वति पुरोडाशं धानाः करम्भं दध्यामिक्षामिति तद्यया मुख
ऽग्रासिञ्चेदेवं तदथैष एकरूप उपशेतऽग्राप इवैव तस्माद्यदनेन मुखेन नानारू-
पमशनमश्नात्यथैतेन प्राणेनैकरूपमेव प्रस्रावयतेऽप इवैवाथ यस्माद्ध्रुवो नाम
॥१८॥ देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः । तेऽसुररक्षसेभ्य ग्रासङ्गाद्बिभयां चक्रुस्तान्द-
क्षिणतोऽसुररक्षसान्यासेदुस्तेषामेतान्दक्षिणान्यह्वानुज्जघ्नुरप्येतद्दक्षिणाध हविर्धान-
मुज्जघ्नुरथैतमेव न शेकुरुद्धन्तुं तदुत्तरमेव हविर्धानं दक्षिणाध हविर्धानमदध्हन्त-
यदेतं न शेकुरुद्धन्तुं तस्माद्ध्रुवो नाम ॥१९॥ तं वै गोपायन्ति । शिरो वाऽएष
एतस्यै गायत्र्यै यज्ञो वै गायत्री द्वादश स्तोत्राणि द्वादश शस्त्राणि तच्चतुर्विंश-
तिश्चतुर्विंशत्यक्षरा वै गायत्री तस्याऽएष शिरः श्रीर्वै शिरः श्रीर्हि वै शिरस्त-
स्माद्योऽर्धस्य श्रेष्ठो भवत्यसावमुष्यार्धस्य शिर इत्याहुः श्रेष्ठो ह व्ययेत यदेष
व्ययेत यजमानो वै श्रेष्ठो नेद्यजमानो व्ययाताऽइति तस्माद्धि गोपायन्ति ॥२०॥
वत्सो वाऽएष । एतस्यै गायत्र्यै यज्ञो वै गायत्री द्वादश स्तोत्राणि द्वादश शस्त्रा-

ग्रह हैं वे ऊपरी भाग के तुल्य हैं, और जो उपकीर्ण या उठा हुआ भाग है वह भी ऊपरी भाग कहलाता है। इसलिए वह और ग्रहों को उपकीर्ण में रखता है और इसको धूल हटाकर ऐसी जगह जहाँ तिनका भी न छूट गया हो ॥१४॥

यह जो नाभि से नीचे है वह इस शरीर का निचला भाग है, और यह ग्रह भी यज्ञ का निचला भाग है, और जहाँ से धूल हटाकर तिनका तक नहीं छोड़ा वह जगह भी निचला भाग है, इसलिए वह इस ध्रुव ग्रह को इस स्थान में रखता है ॥१५॥

यह जो यज्ञ किया जा रहा है वह प्रजापति है, उसी से प्रजाएँ उत्पन्न हुई हैं और अब भी इसी से उत्पन्न होती हैं। जिन ग्रहों को उपकीर्ण पर रक्खा था उनकी आहुति के बाद जो प्रजा उत्पन्न होती है वह इस पृथिवी पर अपने स्वरूप से भिन्न रीति से खड़ी होती है। जो शफ या खुरवाले प्राणी हैं वे अपने स्वरूप से भिन्न रूप से खड़े होते हैं। जब वह इस ध्रुव ग्रह को धूल हटाकर ऐसी जगह रखता है जहाँ तिनका तक न रहा हो तो इस आहुति देने के पश्चात् जो प्राणी उत्पन्न होते हैं अर्थात् मनुष्य, जंगली जानवर (श्वापद), वे अपने स्वरूप के अनुकूल खड़े होते हैं ॥१६॥

एक बात यह भी है, पृथिवी पर जो ऊँचा स्थान (उपकीर्ण) बनाया जाता है वह मानो पृथिवी के स्वरूप के भिन्न होता है। इसलिए जिन ग्रहों को उपकीर्ण पर रखता है उनकी आहुति देने के बाद जो प्राणी पैदा होते हैं वे अपने स्वरूप से विरुद्ध खड़े होते हैं अर्थात् खुरों पर ॥१७॥

दूसरी बात यह है कि आहवनीय में जो डाला जाता है अर्थात् पुरोडाश, धान, करम्भ, दही, आमिक्षा, यह सब एक प्रकार से मुख में रखने के तुल्य है। यह ग्रह जल के समान अलग रक्खा रहता है। जैसे मुख में भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुएँ खाते हैं तो प्राण के रूप में एक ही होकर निकलता है। अब इसका ध्रुव नाम क्यों पड़ा ? ॥१८॥

जब देव यज्ञ करने लगे तो उनको असुर राक्षसों से भय लगा। असुर राक्षसों ने दक्षिण दिशा से आक्रमण किया और दक्षिण ओर के ग्रहों को गिरा दिया। दक्षिण के हविर्धान को उलट दिया। यह जो उत्तरी हविर्धान था उसको न गिरा सके। ऐसे समय में उत्तरी हविर्धान ने दक्षिणी हविर्धान को ठीक रक्खा। और चूंकि वे उसको न हिला सके इसलिए इसका नाम ध्रुव हुआ ॥१६॥

इसकी रक्षा करते हैं। यह इस गायत्री का शिर है। यज्ञ गायत्री है। बारह स्तोत्र और बारह शस्त्र ये सब मिलकर चौबीस होते हैं। चौबीस अक्षर की गायत्री होती है। यह ग्रह उसका सिर है। श्री सिर है। श्री ही सिर है। इसीलिए जो पुरुष सबसे श्रेष्ठ होता है उसको कहते हैं कि यह यहाँ का सिर (मुखिया) है। यदि इस ग्रह को हानि पहुँचे तो मानो सिर को हानि पहुँची। यजमान श्रेष्ठ है। इसलिए कहीं श्रेष्ठ को हानि न पहुंच जाय इसलिए इसकी रक्षा करते हैं ॥२०॥

यह ग्रह गायत्री का बछड़ा भी है। गायत्री यज्ञ है। बारह स्तोत्र और बारह शस्त्र

णि च चतुर्विꣳशानि चतुर्विꣳशत्यक्षरा वै गायत्री तस्या एष वत्सस्तं यद्गोपायन्ति गोपायन्ति वा ऽ इमान्वत्सान्दोहाय यदिदं पयो दुह्र ऽ एवमियं गायत्री यजमानाय सर्वान्कामान्दोहाता ऽ इति तस्माद्वै गोपायन्ति ॥ २१ ॥ अथ यदध्वर्युश्च प्रतिप्रस्थाता च । निश्च क्रामतः प्र च पद्येते यथा वडवत्सोपाचरेदेवमेतं ग्रहमुपाचरतस्तमवनयति गायत्रीमेवैतत्प्रस्नावयति प्रत्तेयं गायत्री यजमानाय सर्वान्कामान्दोहाता ऽ इति तस्माद्वा ऽ अवनयति ॥ २२ ॥ सो ऽवनयति । ध्रुवं ध्रुवेण मनसा वाचा सोममवनयामीति गृह्णामीति वाथा न इन्द्र इद्विशो ऽसपत्नाः समनसस्करदिति यथा न इन्द्र इमाः प्रजा विशः श्रियै यशसे ऽन्नाद्यायासपत्नाः संमनसः करवदित्येवैतदाह ॥ २३ ॥ अथातो गृह्णात्येव । मूर्धानं दिवो ऽअरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत ऽआ जातमग्निम् । कविꣳ सम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः । उपयामगृहीतो ऽसि ध्रुवो ऽसि ध्रुवक्षितिर्ध्रुवाणां ध्रुवतमो ऽच्युतानामच्युतक्षित्तम एष ते योनिर्वैश्वानराय त्वेति सादयति व्युह्य न तृणं चनान्तर्धाय वैश्वानराय ह्येनं गृह्णाति ॥ २४ ॥ ब्राह्मणम् ॥ ३ [२.४.] ॥ ॥

ग्रहान्गृहीत्वा । उपनिष्क्रम्य विप्रुषाꣳ होमं जुहोति तद्यद्विप्रुषाꣳ होमं जुहोति या एवास्यात्र विप्रुष स्कन्दन्ति ता एवैतदाहवनीये स्वगाकरोत्याहवनीयो ह्याहुतीनां प्रतिष्ठा तस्माद्विप्रुषाꣳ होमं जुहोति ॥ १ ॥ स जुहोति । यस्ते द्रप्स स्कन्दति यस्ते ऽअꣳशुरिति यो वै स्तोक स्कन्दति स द्रप्सस्तत्तमाह यस्ते ऽअꣳशुरिति तदꣳशुमाह ग्रावच्युतो धिषणयोरुपस्थादिति ग्राव्णा हि च्युतो ऽधिषवणाभ्याꣳ स्कन्दत्यध्वर्योर्वा परि वा यः पवित्रादित्यध्वर्योर्वा हि पाणिभ्याꣳ स्कन्दति पवित्राद्वा तं ते जुहोमि मनसा वषट्कृतꣳ स्वाहेति तद्यथा वषट्कृतꣳ हुतमेवमस्यैतद्भवति ॥ २ ॥ अथ स्तीर्णायै वेदेः । द्वे तृणे ऽअध्वर्युरादत्ते तावध्वर्यू प्रथमौ प्रतिपद्येते प्राणोदानौ यज्ञस्याथ प्रस्तोता वागेव यज्ञस्याथोद्गातात्मैव प्रजा-

मिलकर चौबीस होते हैं। चौबीस अक्षरों की गायत्री होती है। यह उसका बछड़ा है। यह जो बछड़ों की रक्षा किया करते हैं वे दूध दुहने के लिए। इसकी रक्षा वे इसलिए करते हैं कि जैसे ये बछड़े दूध से सम्पन्न करते हैं इसी प्रकार यह गायत्री भी यजमान की सब कामनाओं को पूरा करे ॥२१॥

और अब अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता (हविर्धान के बाहर) जाते हैं और फिर लौटते हैं तो मानो गाय अपने बछड़े के साथ लौट आई, इस प्रकार ये उस ग्रह के पास लौटते हैं। अध्वर्यु ग्रह को उँडेलता है। इस प्रकार वह गायत्री को छोड़ देता है। यह इस ग्रह को इसलिए उँडेलता है कि यह गायत्री यजमान के हवाले होकर उसकी सब कामनाओं की पूर्ति करे ॥२२॥

वह इस मन्त्र से उँडेलता है, "ध्रुवं ध्रुवेण मनसा वाचा सोममवनयामि" (यजु० ७।२५) —अर्थात् "ध्रुव ग्रह को दृढ़ मन और वाणी से सोम को उँडेलता हूँ" अर्थात् ग्रहण करता हूँ। "अथा न ऽ इन्द्र ऽ इद् विशोऽसपत्नाः समनसस्करत्" (यजु० ७।२५)–"अब इन्द्र हमारे स्वजनों को शत्रु-रहित और एक मनवाला करे" ॥२३॥

अब इस (सोम में) से वह लेता है इस मन्त्र से, "मूर्धानं दिवो ऽ अरतिं पृथिव्या वैश्वानर-मृत ऽ आ जातमग्निम्। कविँ सम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः" (यजुर्वेद ७।२४) "उपयामगृहीतोऽसि ध्रुवोऽसि ध्रुवक्षितिर्ध्रुवाणां ध्रुवतमोऽच्युतानामच्युत क्षित्तम ऽएष ते योनिर्वैश्वानराय त्वा" (यजु० ७।२५)—"द्यौलोक के मूर्धा, पृथिवी के पोषक, वैश्वानर अग्नि को जो कवि, सम्राट्, लोगों का अतिथि है और जो ऋत अर्थात् यज्ञ में पैदा हुआ है, मुंह के पात्र के समान देवों ने उत्पन्न किया। तू आश्रय के लिए लिया गया है। तू दृढ़ है, दृढ़ घरवाला है, सबसे दृढ़ है। ठोसों में ठोस है। यह तेरी योनि है। वैश्वानर के लिए तुझको।" धूल को अलग करके और इस प्रकार कि तिनका भी न रहे वह इसको रख देता है, क्योंकि वह इसको वैश्वानर अग्नि के लिए लेता है ॥२४॥

विप्रुड्ढोमः

अध्याय २—ब्राह्मण ५

ग्रहों को लेकर और (हविर्धान से) बाहर निकलकर (वेदी में पहुँचकर) विप्रुषों अर्थात् बूंदों का होम करता है। यह विप्रुषों का होम इसलिए करता है कि इस सोम की जो बूंदें गिर पड़ती हैं उनको वह आहवनीय में पहुँचा देता है। क्योंकि आहवनीय ही आहुतियों की प्रतिष्ठा है, इसलिए बूंदों की आहुति करता है ॥१॥

वह इस मन्त्र से आहुति देता है, "यस्ते द्रप्स स्कन्दति यस्ते ऽ अँशुः" (यजु० ७।२६, ऋ० १०।१७।२)—"यह जो तेरा रस गिर पड़ता है, और यह जो तेरा खण्ड है।" यह जो थोड़ा खिड जाता है उसको द्रप्स कहा, और खण्ड कहा उसके डण्ठल आदि टुकड़ों को। "ग्रावच्युतो धिषणयोरुपस्थात्" (यजु० ७।२६)–"पत्थर से कुचला हुआ और प्यालों में से निकला हुआ।" जब पत्थर पर पीसा जाता है तो वह प्यालों में से निकल भागता है अर्थात् खिड जाता है। "अध्वर्योर्वा परि वा यः पवित्रात्" (यजु० ७।२१)—"या तो अध्वर्यु के हाथ से या पवित्रे अर्थात् छन्ने से।" क्योंकि या तो अध्वर्यु के हाथ से या छन्ने से गिर पड़ता है। "तं ते जुहोमि मनसा वषट्कृतँ स्वाहा" (यजु० ७।२६)—"उसकी मैं मन से वषट्कार के साथ आहुति देता हूँ।" इस प्रकार यह उसकी वषट्कार-युक्त आहुति हो जाती है ॥२॥

अब अध्वर्यु छयी हुई वेदी से दो तिनके निकाल लेता है। दोनों अध्वर्यु यज्ञ के प्राण और उदान के स्वरूप में पहले जाते हैं। फिर प्रस्तोता यज्ञ की वाणी के रूप में, फिर उद्गाता यज्ञ के

पतिर्यज्ञस्याथ प्रतिहर्त्ता भिषग्वा व्यानो वा ॥ ३ ॥ तान्वाऽएतान् । पञ्चऽर्त्विजो यजमानोऽन्वारभतऽएतावान्वै सर्वो यज्ञो यावन्त एते पञ्चऽर्त्विजो भवन्ति पाङ्क्तो वै यज्ञस्तद्यज्ञमेवैतद्यजमानोऽन्वारभते ॥४॥ अथान्यतरत्तृणम् । चात्वालमभिप्रास्यति देवानामुत्क्रमणमसीति यत्र वै देवा यज्ञेन स्वर्गं लोकꣳ समाश्नुवत तऽएतस्माच्चात्वालादूर्ध्वाः स्वर्गं लोकमुपोदक्रामंस्तद्यजमानमेवैतत्स्वर्ग्यं पन्थानमनुसंख्यापयति ॥५॥ अथान्यतरत्तृणम् । पुरस्तादुद्गातॄणामुपास्यति तूष्णीमेव स्तोमो वाऽएष प्रजापतिर्यदुद्गातारः स इदꣳ सर्वं युतऽइदꣳ सर्वꣳ सम्भवति तस्माऽएवैतत्तृणमपिदधाति तथो हाध्वर्युं न युते नैनꣳ सम्भवत्यथ यदा जपन्ति जपन्ति ह्यत्रोद्गातारः ॥ ६ ॥ अथ स्तोत्रमुपाकरोति । सोमः पवतऽइति स वै पराङिव स्तोत्रमुपाकरोति पराञ्चः स्तुवते देवान्वाऽएतानि स्तोत्राण्यभ्युपावृत्तानि यत्पवमानाः पराञ्चो ह्येतैर्देवाः स्वर्गं लोकꣳ समाश्नुवत तस्मात्पराङिव स्तोत्रमुपाकरोति पराञ्चः स्तुवते ॥७॥ उपावर्तध्वमिति वाऽअन्यानि स्तोत्राणि । अभ्यावर्तं धुर्यैः स्तुवतऽइमा वै प्रजा एतानि स्तोत्राण्यभ्युपावृत्तास्तस्मादिमाः प्रजाः पुनरभ्यावर्तं प्रजायन्ते ॥ ८ ॥ अथ यदत्र बहिष्पवमानेन स्तुवते । अत्र ह वाऽअसावग्रऽआदित्य आस तमृतवः परिगृह्यैवात ऊर्ध्वाः स्वर्गं लोकमुपोदक्रामन्त्स एष ऋतुषु प्रतिष्ठितस्तपति तथो एवैतदृत्विजो यजमानं परिगृह्यैवात ऊर्ध्वाः स्वर्गं लोकमुपोत्क्रामन्ति तस्मादत्र बहिष्पवमानेन स्तुवते ॥ ९ ॥ नौर्ह वाऽएषा स्वर्ग्या । यद्बहिष्पवमानं तस्या ऋत्विज एव स्फ्याश्चारित्राश्च स्वर्गस्य लोकस्य सम्पारणास्तस्या एक एव मज्जयिता य एव निन्द्यः स यथा पूर्णामभ्यारुह्य मज्जयेदेवꣳ हैनाꣳ स मज्जयति तद्वै सर्व एव यज्ञो नौः स्वर्ग्या तस्मादु सर्वस्मादेव यज्ञान्निन्द्यं परिबिबाधिषेत ॥१०॥ अथ स्तुतऽएतां वाचं वदति । अग्नीदग्नीन्विहर बर्हि स्तृणीहि पुरोडाशाँ२ऽअलंकुरु पशुनेहीति विहरत्यग्नीदग्नीन्त्समिन्द्ध

आत्मा या प्रजापति के रूप में, फिर प्रतिहर्ता चिकित्सक या व्यान के रूप में ॥३॥

इन पाँचों को यजमान पीछे से साधता है। इतना ही तो सब यज्ञ है जितने ये पाँच ऋत्विज हैं। यज्ञ पाँच भाग वाला है। इसलिए यजमान इस प्रकार इस यज्ञ को साधता है ॥४॥

अब अध्वर्यु एक तिनके को चात्वाल पर फेंक देता है, यह कहकर—"देवानामुत्क्रमणमसि" (यजु० ७।२६)—"तू देवताओं की सीढ़ी है" (स्वर्ग जाने के लिए)। जब देव यज्ञ से स्वर्गलोक को गये तो इस चात्वाल से ऊपर उठकर स्वर्गलोक को गये। इस प्रकार वह यजमान को भी स्वर्ग का रास्ता बताता है ॥५॥

दूसरे तिनके को वह उद्गाताओं के आगे चुपके से फेंक देता है। यह जो उद्गाता है, वे स्तोम प्रजापति हैं। यह (प्रजापति) इस सबको अपने में खींच लेता है, इस सबको अपना कर लेता है। इसी को यह तिनका दिया जाता है। इस प्रकार वह अध्वर्यु को नहीं खींचता और न उसको अपना बनाता है। और जब वे जाप करते हैं—क्योंकि उद्गाता लोग अब जाप करते हैं—॥६॥

तो वह स्तोत्र पढ़ता है यह कहकर कि 'सोमः पवते' या सोम शुद्ध हो रहा है। वह स्तोत्र को सीधा (पराग एव—बिना अन्य किसी कृत्य के) पढ़ता है। वे सब भी सीधा ही पढ़ते हैं। यह स्तोत्र जिनको 'पवमान' कहते हैं सीधे देवों को पहुँचाये जाते हैं। देव इन्हीं के द्वारा तो स्वर्गलोक को पहुँचे थे। इसीलिए वह सीधा इस स्तोत्र को पढ़ता है और वे भी सीधे इस स्तोत्र को पढ़ते हैं ॥७॥

'पीछे लौटिये' यह कहकर वह और स्तोत्रों (धुर्यों को) पढ़ता है और पीछे लौटकर वे धुर्यों को पढ़ते हैं, क्योंकि ये स्तोत्र इन प्रजाओं के लिए पढ़े जाते हैं। इनसे ही यह प्रजा बार-बार उत्पन्न होती हैं ॥८॥

यहाँ (चात्वाल के पास) बहिष्पवमान स्तोत्रों को क्यों पढ़ते हैं ? आरम्भ में यह सूर्य यहीं था। ऋतु उसको लेकर स्वर्ग को गये। वहाँ वह ऋतुओं में स्थापित होकर तपता है। इसी प्रकार ऋत्विज लोग यजमान को लेकर स्वर्ग को ले जाते हैं। इसलिए यहाँ बहिष्पवमान स्तोत्र पढ़े जाते हैं ॥९॥

बहिष्पवमान स्वर्ग की नौका है। ऋत्विज लोग इस नौका के स्फ्या और चारित्र अर्थात् डाँड आदि हैं। ये स्वर्ग पहुँचाने के सम्पारण (साधक) हैं। (नौका में) यदि एक भी बुरा आदमी होता है तो वह नौका को डुबो देता है। उसी प्रकार जैसे ऊपर तक भारी नौका में यदि एक भी आ जाय तो वह डूब जाती है। हर एक यज्ञ स्वर्ग की नौका है, इसलिए सब यज्ञों से बुरे आदमियों को अलग रखना चाहिए ॥१०॥

स्तोत्र पढ़े जाने के बाद यह बात बोलता है 'अग्नीध् अग्नियों को फैला, कुशों को फैला, पुरोडाश बना, पशु को ला।' अग्नीध् अग्नियों को फैलाता अर्थात् प्रज्वलित करता है। कुशों को

ऽएवैनानेतस्तृणाति बर्हि स्तीर्णे बर्हिषि समिद्धे देवेभ्यो जुहवानीति पुरोडाशाँ२॥ऽअलंकुर्वीति पुरोडाशैर्हि प्रचरिष्यन्भवति पशुनेह्वीति पशुᳫं ह्युपाकरिष्यन्भवति ॥११॥ अथ पुनः प्रपद्य । आश्विनं ग्रहं गृह्णात्याश्विनं ग्रहं गृहीत्वोपनिष्क्रम्य यूपं परिव्ययति परिवीय यूपं पशुमुपाकरोति रसमेवास्मिन्नेतद्दधाति ॥१२॥ स प्रातःसवनऽआलब्धः । आ तृतीयसवनाच्छ्र्यमाण उपशेते सर्वस्मिन्नेवैतद्यज्ञे रसं दधाति सर्वं यज्ञᳫं रसेन प्रसजति ॥१३॥ तस्मादाग्नेयमग्निष्टोमऽआलभेत । तद्धि सलोम यदाग्नेयमग्निष्टोमऽआलभेत यद्युक्थ्यः स्यादैन्द्राग्नं द्वितीयमालभेतैन्द्राग्नानि ह्युक्थानि यदि षोडशी स्यादैन्द्रं तृतीयमालभेतैन्द्रो हि षोडशी यद्यतिरात्रः स्यात्सारस्वतं चतुर्थमालभेत वाग्वै सरस्वती योषा वै वाग्योषा रात्रिस्तद्यथायथं यज्ञक्रतून्व्यावर्तयति ॥१४॥ अथ सवनीयैः पुरोडाशैः प्रचरति । देवो वै सोमो दिवि हि सोमो वृत्रो वै सोम आसीत्तस्यैतच्छरीरं यद्गिरयो यदश्मानस्तदेषोशाना नामौषधिर्जायतऽइति ह स्माह श्वेतकेतुरौद्दालकिस्तामेतदाहृत्याभिषुण्वन्तीति ॥१५॥ स यत्पशुमालभते । रसमेवास्मिन्नेतद्दधात्यथ यत्सवनीयैः पुरोडाशैः प्रचरति मेधमेवास्मिन्नेतद्दधाति तथो हास्यैष सोम एव भवति ॥१६॥ सर्वऽऐन्द्रा भवन्ति । इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता तस्मात्सर्वऽऐन्द्रा भवन्ति ॥१७॥ अथ यत्पुरोडाशः धानाः करम्भो दध्यामिक्षेति भवति या यज्ञस्य देवतास्ताः सुप्रीता असन्निति ॥ १८ ॥ इदं वाऽअपूपमशिवा कामयते । धानाः खादेयं करम्भमश्नीयां दध्यश्नीयामामिक्षामश्नीयामिति ते सर्वे कामा या यज्ञस्य देवतास्ताः सुप्रीता असन्नित्यथ यदेषा प्रातःसवनऽएव मैत्रावरुणी पयस्यावक्लृप्ता भवति नेतरयोः सवनयोः ॥१९॥ गायत्री वै प्रातःसवनं वहति । त्रिष्टुम्माध्यन्दिनᳫं सवनं जगती तृतीयसवनं तद्वाऽअनेकाकिन्येव त्रिष्टुम्माध्यन्दिनᳫं सवनं वहति गायत्र्या च बृहत्या चानेकाकिनी जगती तृतीयसवनं गायत्र्योष्णिहक-

फैलाता है यह सोचकर कि कुशों को फैलाकर प्रज्वलित अग्नि में देवों के लिए आहुति दूंगा। 'पुरोडाश बना' यह इसलिए कहता है कि पुरोडाशों का प्रयोग करनेवाला है; 'पशु कों ला' क्योंकि पशु को तैयार करनेवाला होता है ॥११॥

(हविर्धान में) फिर आकर आश्विन ग्रह को निकालता है। आश्विन ग्रह को निकालकर बाहर आकर यूप के चारों ओर रस्सी बाँधता है और यूप में रस्सी बाँधकर पशु को तैयार करता है। इस प्रकार वह उस (सोम) में रस धारण कराता है ॥१२॥

यह (पशु) प्रातःसवन में मारा जाकर तीसरे सवन तक पकता रहता है।[1] इस सम्पूर्ण यज्ञ में रस धारण करता है। सब यज्ञ को रस से युक्त करता है ॥१३॥

इसलिए अग्निष्टोम में आग्नेय पशु का आलभन करे। अग्निष्टोम में आग्नेय पशु का आलभन सलोम अर्थात् उपयुक्त है। यदि उक्थ्य यज्ञ हो तो दूसरे स्थान पर इन्द्र-अग्नि-सम्बन्धी पशु का आलभन करे, क्योंकि उक्थ इन्द्र-अग्नि के हैं। यदि षोडशी हो तो तीसरे स्थान में इन्द्र-सम्बन्धी पशु का आलभन करे, क्योंकि षोडशी इन्द्र का है। यदि अतिरात्र हो तो सरस्वती-सम्बन्धी पशु का चौथे स्थान में आलभन करे। वाणी सरस्वती है। वाणी स्त्री है, रात्रि। स्त्री है, इस प्रकार वह क्रमशः यज्ञों को अलग-अलग कर देता है ॥१४॥

अब सवन-सम्बन्धी पुरोडाशों की आहुति देता है। सोम देव है। सोम द्यौलोक में था। सोम वृत्र था। जो पहाड़ और पत्थर हैं वे इसके शरीर हैं। श्वेतकेतु औद्दालकि ने कहा कि वहीं 'उशाना' नाम की ओषधि उत्पन्न होती है जिसको लाकर निचोड़ते हैं ॥१५॥

जब पशु का आलभन करता है तो उसमें रस डालता है। सवनीय पुरोडाश की आहुति देता है तो उसमें मेध डालता है। इस प्रकार यह सोम ही हो जाता है ॥१६॥

यह सब इन्द्र के होते हैं। इन्द्र यज्ञ का देवता है। इसलिए यह सब इन्द्र का होता है ॥१७॥

पुरोडाश, धान, करम्भ, दही, आमिक्षा इसलिए होते हैं कि यज्ञ के देवता इनसे प्रसन्न हो जायँ ॥१८॥

रोटी खाकर मनुष्य की इच्छा होती है कि मैं धान खाऊँ, करम्भ खाऊँ, दही खाऊँ, आमिक्षा खाऊँ। ये सब कामनाएँ हैं कि जो यज्ञ के देवता हों वे सब प्रसन्न हों। मैत्रावरुणी पयस्या प्रातःसवन में ही क्यों की जाती है, अन्य सवनों में क्यों नहीं? ॥१९॥

इसलिए कि गायत्री प्रातःसवन को (देवों तक) ले जाती है, त्रिष्टुप् दोपहर के सवन को और जगती तीसरे सवन को। दोपहर के सवन को त्रिष्टुप् अकेली नहीं ले जाती किन्तु गायत्री और बृहती की सहायता से। जगती भी तृतीय सवन को अकेली नहीं ले जाती, किन्तु गायत्री,

---

१. 'पशु-बलि' प्रचलित होने के बाद ऐसे स्थल 'प्रक्षिप्त' हैं।

—स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती

कुब्ध्यामनुष्टुभा ॥२०॥ गायत्र्येवैकाकिनी प्रातःसवनं वहति । सैताभ्यां पङ्क्तिभ्याᳫं स्तोत्रपङ्क्त्या च हविष्पङ्क्त्या च चत्वार्याज्यानि बहिष्पवमानं पञ्चमं पञ्चपदा पङ्क्तिः सैतया स्तोत्रपङ्क्त्यानेकाकिनी गायत्री प्रातःसवनं वहति ॥२१॥ इन्द्रस्य पुरोडाशः । हर्योर्धानाः पूष्णः करम्भः सरस्वत्यै दधि मित्रावरुणयोः पयस्या पञ्चपदा पङ्क्तिः सैतया हविष्पङ्क्त्यानेकाकिनी गायत्री प्रातःसवनं वहत्येतस्या एव पङ्क्तेः सम्पदः कामाय प्रातःसवनᳫं हविषा मैत्रावरुणी पयस्यावक्लृप्ता भवति नेतरयोः सवनयोः ॥२२॥ ब्राह्मणम् ॥४ [२.५.] ॥ द्वितीयोऽध्यायः [२६] ॥॥

भक्षयित्वा ममुपहूताः स्म इत्युक्त्वोत्तिष्ठति । पुरोडाशबृगलमादाय तद्यत्रैतदुपसन्नोऽच्छावाकोऽन्वाह तदस्मै पुरोडाशबृगलं पाणावादधदाहाच्छावाक वदस्व यत्ते वाद्यमित्यह्वीयत वाऽअच्छावाकः ॥१॥ तमिन्द्राग्नीऽअनुसमतनुताम् । प्रज्ञानां प्रज्ञात्यै तस्मादैन्द्राग्नोऽच्छावाकः स एतेन च हविषा यदस्माऽएतत्पुरोडाशबृगलं पाणावादधात्येतेन चार्षेयेण यदेतदन्वाह तेनानुसमश्नुते ॥२॥ स वै सन्नेऽच्छावाके । ऋतुग्रहैश्चरति तद्यत्सन्नेऽच्छावाकऽऋतुग्रहैश्चरति मिथुनं वा अच्छावाक ऐन्द्राग्नो ह्यच्छावाको द्वौ हीन्द्राग्नी द्वन्द्वᳫं हि मिथुनं प्रजननᳫं स एतस्मान्मिथुनात्प्रजननादृतून्त्संवत्सरं प्रजनयति ॥३॥ यद्वेव सन्नेऽच्छावाके । ऋतुग्रहैश्चरति सर्वं वाऽऋतवः संवत्सरः सर्वमेवैतत्प्रजनयति तस्मात्सन्नेऽच्छावाकऽऋतुग्रहैश्चरति ॥४॥ तान्वै द्वादश गृह्णीयात् । द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य तस्माद्द्वादश गृह्णीयादथोऽअपि त्रयोदश गृह्णीयादस्ति त्रयोदशो मास इति द्वादश त्वेव गृह्णीयादेषैव सम्पत् ॥५॥ द्रोणकलशाद्गृह्णाति । प्रजापतिर्वै द्रोणकलशः स एतस्मात्प्रजापतेर्ऋतून्त्संवत्सरं प्रजनयति ॥६॥ उभयतोमुखाभ्यां पात्राभ्यां गृह्णाति । कुतस्तयोरन्तो यऽउभयतोमुखे तस्मादयमनन्तः संवत्सरः परिप्लवते तं गृहीत्वा न सादयति तस्मादयमसन्नः संवत्सरः ॥७॥ नानुवाक्यामन्वाह । ह्वयति वा

उष्णिक्, ककुभ् और अनुष्टुभ् के साथ ॥२०॥

गायत्री ही अकेली प्रातःसवन को ले जाती है—दो पंक्तियों के साथ अर्थात् स्तोत्र-पंक्ति और हविष्पंक्ति के साथ। आज्यस्तोत्र चार होते हैं और हविष्पवमान पाँचवाँ है। पंक्ति छन्द में पाँच पाद होते हैं। इस पंक्ति के साथ, न कि अकेली गायत्री प्रातःसवन को ले जाती है ॥२१॥

पुरोडाश इन्द्र का होता है। धान दो घोड़ों का, करम्भ पूषा का, दही सरस्वती का, पयस्या मित्र-वरुण की। पंक्ति में पाँच पद होते हैं। हवियों की इस पंक्ति के साथ, न कि अकेली, गायत्री प्रातःसवन को ले जाती है। इस पंक्ति को पूरा करने के लिए ही मैत्रावरुणी पयस्या प्रातःसवन में ही की जाती है, अन्य सवनों में नहीं ॥२२॥

ऋतुग्रहैन्द्राग्नवैश्वदेव ग्रहाः

अध्याय ३—ब्राह्मण १

(सोम) पान करके और यह कहकर कि 'हम सबको साथ निमन्त्रण दिया गया था', अध्वर्यु उठ खड़ा होता है। जहाँ अच्छावाक अनुवाक पढ़ने को है वहाँ पुरोडाश के टुकड़े को ले जाकर और उसके हाथ में देकर कहता है, 'अच्छावाक, कह जो तुझको कहना है।' अच्छावाक का सोम से बहिष्कार हो चुका था ॥१॥

इन्द्र और अग्नि ने उसको प्रजा की उत्पत्ति के लिए बनाये रक्खा। इसलिए अच्छावाक इन्द्र-अग्नि का होता है। इस हवि के द्वारा, इस पुरोडाश के टुकड़े के द्वारा जिसको उसने हाथ में रक्खा है और उस ऋषि-वाणी के द्वारा (वेदमन्त्रों द्वारा) जिसको वह जपता है यह इन्द्र और अग्नि उसको बचाते हैं ॥२॥

अच्छावाक के बैठ जाने पर ऋतु-ग्रहों की आहुति देता है। अच्छावाक के बैठ जाने पर ऋतु-ग्रहों की आहुति इसलिए देता है कि अच्छावाक जोड़ा है, अच्छावाक इन्द्र और अग्नि का है। इन्द्र और अग्नि दो हैं। जोड़े का अर्थ है उत्पत्ति। वह इस उत्पत्ति करनेवाले जोड़े से ऋतुओं और संवत्सर को उत्पन्न करता है ॥३॥

अच्छावाक के बैठ चुकने पर ऋतु-ग्रहों की आहुति इसलिए भी देता है कि ऋतुयें 'सब' हैं, संवत्सर 'सब' है। इस प्रकार वह सबकी उत्पत्ति करता है। इसलिए वह अच्छावाक के बैठ चुकने पर ऋतु-ग्रहों की आहुति देता है ॥४॥

उसको बारह (ग्रह) लेने चाहिएँ। संवत्सर के १२ महीने होते हैं। इसलिए बारह ग्रह लेने चाहिएँ। तेरह भी ले सकता है, क्योंकि तेरहवाँ महीना भी होता है। परन्तु बारह ही लेने चाहिएँ। यही पूर्ण है ॥५॥

ये ग्रह द्रोण कलश से लिये जाते हैं। द्रोण कलश प्रजापति है। वह इसी प्रजापति से ऋतुओं और संवत्सर को उत्पन्न करता है ॥६॥

दो मुखवाले पात्रों से लेता है। दो मुखवाले पात्रों का अन्त कहाँ ? इसलिए यह अनन्त संवत्सर घूमा करता है। इसको लेकर रखता नहीं। इसलिए यह संवत्सर निरन्तर है ॥७॥

न अनुवाक कहता है। अनुवाक से तो निमन्त्रण दिया जाता है। यह ऋतु तो पहले से

ऽअनुवाक्ययागतो ह्येवायमृतुर्यदि दिवा यदि नक्तं नानुवषट्करोति नेदृतूनपवृणजाऽइति सहैव प्रथमौ ग्रहौ गृह्णीतः सहोत्तमाविदमेवैतत्सर्वꣳ संवत्सरेण परिगृह्णीतस्तदिदꣳ सर्वꣳ संवत्सरेण परिगृहीतम् ॥८॥ निरेवान्यतरः क्रामति । प्रान्यतरः पद्यते तस्मादिमेऽन्वञ्चौ मासा यन्त्यथ यदुभौ वा सह निष्क्रामेतामुभौ वा सह प्रपद्येयातां पृथगु हैवेमे मासा ईयुस्तस्मान्निरेवान्यतरः क्रामति प्रान्यतरः पद्यते ॥९॥ तौ वाऽऋतुनेति षट् प्रचरतः । तद्वा अहरसृजन्तऽर्तुभिरिति चतुस्तद्रात्रिमसृजन्त स यद्धैतावदेवाभविष्यद्रात्रिर्हैवाभविष्यन्न व्यववत्स्यत् ॥१०॥ तौ वाऽऋतुनेत्युपरिष्टाद्द्विश्चरतः । तद्देवाः परस्तादहरदधुस्तस्मादिदमग्याहरथ रात्रिरथ श्वोऽहर्भविता ॥११॥ ऋतुनेति वै देवाः । मनुष्यानसृजन्तऽर्तुभिरिति पशूंत्स यत्तन्मध्ये येन पशूनसृजन्त तस्मादिमे पशव उभयतः परिगृहीता वशमुपेता मनुष्याणाम् ॥१२॥ तौ वाऽऋतुनेति षट् प्रचर्य । इतरथा पात्रे विपर्यस्येतेऽऋतुभिरिति चतुश्चरित्वेतरथा पात्रे विपर्यस्येतेऽअन्यतरत एव तद्वा अहरसृजन्तान्यतरतो रात्रिमन्यतरत एव तद्वा मनुष्यानसृजन्तान्यतरतः पशून् ॥१३॥ अथातो गृह्णात्येव । उपयामगृहीतोऽसि मधवे त्वेत्येवाध्वर्युर्गृह्णात्युपयामगृहीतोऽसि माधवाय त्वेति प्रतिप्रस्थातैतावेव वासन्तिकौ स यद्वसन्तऽओषधयो जायन्ते वनस्पतयः पच्यन्ते तेनो हैतौ मधुश्च माधवश्च ॥१४॥ उपयामगृहीतोऽसि । शुक्राय त्वेत्येवाध्वर्युर्गृह्णात्युपयामगृहीतोऽसि शुचये त्वेति प्रतिप्रस्थातैतावेव ग्रैष्मौ स यदेतयोर्बलिष्ठं तपति तेनो हैतौ शुक्रश्च शुचिश्च ॥१५॥ उपयामगृहीतोऽसि नभसे त्वेत्येवाध्वर्युर्गृह्णात्युपयानगृहीतोऽसि नभस्याय त्वेति प्रतिप्रस्थातैतावेव वार्षिकावमुतो वै दिवो वर्षति तेनो हैतौ नभश्च नभस्यश्च ॥१६॥ उपयामगृहीतोऽसि । इषे त्वेत्येवाध्वर्युर्गृह्णात्युपयामगृहीतोऽस्यूर्जे त्वेति प्रतिप्रस्थातैतावेव शारदौ स यच्छरद्यूर्ग्रस ओषधयः पच्यन्ते तेनो हैताविषश्चोर्जश्च ॥१७॥

ही आई हुई है, दिन हो या रात हो। दुबारा वषट्कार भी नहीं कहता कि कहीं ऋतुओं को वापस न कर दे। (अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता) पहले ग्रहों को साथ-साथ लेते हैं, और पिछलों को भी साथ-साथ। यह 'सब' संवत्सर द्वारा ग्रहण हो जाता है। यह 'सब' संवत्सर में शामिल है ॥८॥

एक (हविर्धान के) बाहर जाता है, दूसरा भीतर आता है। इसलिए एक मास के बाद दूसरा आता है (एक जाता, दूसरा आता है)। यदि दोनों साथ निकलें और साथ घुसें तो ये महीने अलग-अलग गुजरा करें। इसलिए एक बाहर जाता है और दूसरा भीतर आता हैं ॥९॥

वे दोनों 'ऋतु के लिए' छः बार आहुति देते हैं। इसी से देवों ने दिन बनाया। 'ऋतुओं के लिए' इससे चार बार। इससे उन्होंने रात बनाई। यदि इतना ही होता तो रात ही होती, यह कभी समाप्त न होती ॥१०॥

'ऋतुना' इससे दो बार आहुति देता है। इससे देवों ने फिर दिन दिया। इसलिए अब दिन है, फिर रात होगी। फिर कल ॥११॥

'ऋतुना' (ऋतु से) देवों ने मनुष्यों को उत्पन्न किया, 'ऋतुभिः' (ऋतु से) पशुओं को। पशुओं को मनुष्यों के बीच में बनाया, इसलिए पशु दोनों ओर से घिरकर मनुष्यों के वश में हो गये ॥१२॥

'ऋतुना' इससे छः बार आहुति देकर पात्रों को दूसरी ओर लौट देते हैं। 'ऋतुभिः' इससे चार बार आहुति देकर पात्रों को दूसरी ओर लौट देते हैं। एक ओर से देवों ने दिन बनाया, दूसरी से रात। एक ओर से देवों ने मनुष्य बनाया, दूसरी ओर से पशु ॥१३॥

वह इन (ऋतु-ग्रहों को द्रोण कलश से) लेता है। "उपयामगृहीतोऽसि मधवे त्वा" (यजु० ७।३०)–इससे अध्वर्यु लेता है। "उपयामगृहीतोऽसि माधवाय त्वा" (यजु० ७।३०)––इससे प्रतिप्रस्थाता। 'मधु और माधव' ये दो वसन्त के महीने हैं। क्योंकि वसन्त में ही ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं और वनस्पति पकती हैं, इसलिए यह मधु और माधव हैं ॥१४॥

"उपयामगृहीतोऽसि शुक्राय त्वा" (यजु० ७।३०)—इससे अध्वर्यु लेता है। "उपयामगृहीतोऽसि शुचये त्वा" (यजु० ७।३०)—इससे प्रतिप्रस्थाता। ये दोनों ग्रीष्म के महीने हैं, इनमें धूप कड़ी होती है, इसलिए यह शुक्र और शुचि दो महीने हुए ॥१५॥

"उपयामगृहीतोऽसि नभसे त्वा" (यजु० ७।३०)—इससे अध्वर्यु लेता है। "उपयामगृहीतोऽसि नभस्याय त्वा" (यजु० ७।३०)—इससे प्रतिप्रस्थाता। ये दोनों वर्षा के महीने हैं। इनमें वर्षा बहुत होती है। 'नभ' और 'नभस्य' ये दो वर्षा ऋतु के महीने हुए ॥१६॥

"उपयामगृहीतोऽसि इषे त्वा" (यजु० ७।३०)—इससे अध्वर्यु लेता है। "उपयामगृहीतोऽस्यूर्जे त्वा" (यजु० ७।३०) – इससे प्रतिप्रस्थाता। ये दोनों शरद् ऋतु के महीने हैं क्योंकि शरद् ऋतुओं में अन्न और रस पकता है, इसलिए शरद् के इन महीनों का नाम इष और ऊर्ज है ॥१७॥

उपयामगृहीतोऽसि सहसे त्वेत्येवाध्वर्युर्गृह्णात्युपयामगृहीतोऽसि सहस्याय त्वेति प्रतिप्रस्थातैतावेव हैमन्तिकौ स यद्धेमन्त इमाः प्रजाः सहसेव स्वं वशमुपनयते तेनो हैतौ सहश्च सहस्यश्च ॥१८॥ उपयामगृहीतोऽसि तपसे त्वेत्येवाध्वर्युर्गृह्णात्युपयामगृहीतोऽसि तपस्याय त्वेति प्रतिप्रस्थातैतावेव शैशिरौ स यदेतयोर्बलिष्ठं श्यायति तेनो हैतौ तपश्च तपस्यश्च ॥१९॥ उपयामगृहीतोऽसि । अꣳहसस्पतये त्वेति त्रयोदशं ग्रहं गृह्णाति यदि त्रयोदशं गृह्णीयादथ प्रतिप्रस्थाताध्वर्योः पात्रे सꣳस्रवमवनयत्यध्वर्युर्वा प्रतिप्रस्थातुः पात्रे सꣳस्रवमवनयत्याहरति भक्षम् ॥२०॥ अथ प्रतिप्रस्थाताभक्षितेन पात्रेण । ऐन्द्राग्नं ग्रहं गृह्णाति तद्यदभक्षितेन पात्रेणैन्द्राग्नं ग्रहं गृह्णाति न वाऽऋतुग्रहाणामनुवषट्कुर्वन्त्येतेभ्यो वाऽऐन्द्राग्नं ग्रहं ग्रहीष्यन्भवति तदस्यैन्द्राग्नेनैवानुवषट्कृता भवन्ति ॥२१॥ यद्वेवैन्द्राग्नं ग्रहं गृह्णाति । सर्वं वाऽइदं प्राजीजनच्च ऋतुग्रहानग्रहीत्स इदꣳ सर्वं प्रजनय्येदमेवैतत्सर्वं प्राणोदानयोः प्रतिष्ठापयति तदिदꣳ सर्वं प्राणोदानयोः प्रतिष्ठितमिन्द्राग्नी हि प्राणोदानाविमे हि द्यावापृथिवी प्राणोदानावनयोर्हीदꣳ सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥२२॥ यद्वेवैन्द्राग्नं ग्रहं गृह्णाति । सर्वं वाऽइदं प्राजीजनच्च ऋतुग्रहानग्रहीत्स इदꣳ सर्वं प्रजनय्यास्मिन्नेवैतत्सर्वस्मिन्प्राणोदानौ दधाति ताविमावस्मिन्त्सर्वस्मिन्प्राणोदानौ हितौ ॥२३॥ अथातो गृह्णात्येव । इन्द्राग्नीऽआगतꣳ सुतं गीर्भिर्नभो वरेण्यम् । अस्य पातं धियेषिता । उपयामगृहीतोऽसीन्द्राग्निभ्यां त्वैष ते योनिरिन्द्राग्निभ्यां त्वेति सादयतीन्द्राग्निभ्याꣳ ह्येनं गृह्णाति ॥२४॥ अथ वैश्वदेवं ग्रहं गृह्णाति । सर्वं वाऽइदं प्राजीजनच्च ऋतुग्रहानग्रहीत्स यद्धैतावदेवाभविष्यद्यावत्या हैवाग्रे प्रजाः सृष्टास्तावत्यो हैवाभविष्यन्न प्राजनिष्यन्त ॥२५॥ अथ यद्वैश्वदेवं ग्रहं गृह्णाति । इदमेवैतत्सर्वमिमाः प्रजा यथायथं व्यवसृजति तस्मादिमाः प्रजाः पुनरभ्यावर्तं प्रजायन्ते शुक्रपात्रेण गृह्णात्येष वै शुक्रो य एष तपति तस्य

"उपयामगृहीतोऽसि सहसे त्वा" (यजु० ७।३०)—इससे अध्वर्यु लेता है। "उपयामगृहीतोऽसि सहस्याय त्वा" (यजु० ७।३०)—इससे प्रतिप्रस्थाता। ये दोनों हेमन्त के महीने हैं। क्योंकि हेमन्त इन प्रजाओं को साहस के साथ वश में लाता है, इसलिए सहस और साहस ये दो हेमन्त के महीने हुए ॥१८॥

"उपयामगृहीतोऽसि तपसे त्वा" (यजु० ७।३०)—इससे अध्वर्यु लेता है। "उपयामगृहीतोऽसि तपस्याय त्वा" (यजु० ७।३०)—इससे प्रतिप्रस्थाता। ये दोनों शिशिर ऋतु के महीने हैं। क्योंकि इनमें पाला बहुत पड़ता है, इसलिए तप और तपस्या ये शिशिर के महीने हैं ॥१९॥

"उपयामगृहीतोऽसि अꣳहसस्पतये त्वा" (यजु० ७।३०)—"इससे तेरहवाँ ग्रह (अध्वर्यु) लेता है। यदि तेरहवाँ लेना हो तो प्रतिप्रस्थाता अध्वर्यु के पात्र में बचा-खुचा छोड़ देता है, या अध्वर्यु प्रतिप्रस्थाता के पात्र में बचा-खुचा छोड़ देता है। (अध्वर्यु) अब पान करने के लिए (सदस् में) ले जाता है ॥२०॥

अब प्रतिप्रस्थाता उस पात्र से जिसमें से पिया नहीं गया इन्द्र-अग्नि के ग्रह को लेता है। ऐसे पात्र से इन्द्र-अग्नि के ग्रह को क्यों लेता है, जिसमें पिया न गया हो? इसलिए कि ऋतु-ग्रहों पर तो दुबारा वषट्कार हुआ नहीं। और उन्हीं के लिए इन्द्र-अग्नि ग्रह लेता है। इस प्रकार इन्द्र-अग्नि के द्वारा इनका वषट्कार हो जाता है ॥२१॥

इन्द्र-अग्नि ग्रह को इसलिए भी लेता है कि ऋतु-ग्रहों को लेकर ही इसने इन 'सब' को उत्पन्न किया। वह इन 'सब' को उत्पन्न करके प्राण और उदान में इनकी प्रतिष्ठा करता है। इसीलिए ये 'सब' प्राण और उदान में प्रतिष्ठित हैं। इन्द्र-अग्नि प्राण और उदान हैं। इन्हीं में ये सब प्रतिष्ठित हैं ॥२२॥

इन्द्र-अग्नि ग्रह को लेने का यह भी प्रयोजन है कि ऋतु-ग्रहों से उसने इस 'सब' को उत्पन्न किया और इस 'सब' को उत्पन्न करके 'प्राणऔर उदान' की इस 'सब' में प्रतिष्ठा करता है, इसलिए प्राण और उदान इस सबमें प्रतिष्ठित हैं ॥२३॥

वह इसको (द्रोण कलश से) इस मन्त्र से लेता है—"इन्द्राग्नी ऽआगतꣳ सुतं गीर्भिर्नभो वरेण्यम्। अस्य पातं धियेषिता। उपयामगृहीतोऽसीन्द्राग्निभ्यां त्वा" (यजु० ७।३१, ऋ० ३।१२।१)—"हे इन्द्र-अग्नि, हमारी वाणियों द्वारा तुम दोनों आओ इस निचोड़े हुए और आदित्य के समान वरने योग्य सोम के पास। बुद्धि के द्वारा प्रेरित हुए तुम दोनों इसको पियो। आश्रय के लिए लिया गया है तू इन्द्र और अग्नि के लिए तुझको।" "एष ते योनिरिन्द्राग्निभ्यां त्वा" (यजु० ७।३१)—"यह तेरी योनि है। इन्द्र और अग्नि के लिए तुझको।" यह कहकर वह रख देता है, क्योंकि इन्द्र और अग्नि के लिए उसने लिया था ॥२४॥

अब 'वैश्वदेव' ग्रह को लेता है। ऋतु-ग्रहों को लेकर ही उसने इस 'सब' को उत्पन्न किया। यदि इतना ही होता तो जितनी प्रजा पहले उत्पन्न हो गई उतनी ही रह जाती, आगे उत्पन्न न होती ॥२५॥

वैश्वदेव ग्रह को इसलिए भी लेता है कि वह इन सब प्रजाओं को क्रमशः कर देता है। इससे यह प्रजा बार-बार उत्पन्न होती रहती है। इसको शुक्र-पात्र से लेता है। यह जो सूर्य

ये रश्मयस्ते विश्वे देवास्तस्माच्छुक्रपात्रेण गृह्णाति ॥ २६ ॥ अथातो गृह्णात्येव । ओमासश्चर्षणीधृतो विश्वे देवास आगत । दाश्वाᳫंसो दाशुषः सुतम् । उपयामगृहीतोऽसि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य इति सादयति विश्वेभ्यो ह्येनं देवेभ्यो गृह्णाति ॥ २७ ॥ ब्राह्मणम् ॥ ५ [३.१.] ॥ ॥

गृणाति ह वाऽएतद्धोता यच्छᳫंसति । तस्माऽएतद्गृणते प्रत्येवाध्वर्युरागृणाति तस्मात्प्रतिगरो नाम ॥ १ ॥ तं वै प्राञ्चमासीनमाह्वयते । सर्वे वाऽअन्यऽउद्गातुः प्राञ्च आर्त्विज्यं कुर्वन्ति तथो हास्यैतत्प्रागेवार्त्विज्यं कृतं भवति ॥ २ ॥ प्रजापतिर्वाऽउद्गाता । योषऽऋग्घोता स एतत्प्रजापतिरुद्गाता योषायामृचि होतरि रेतः सिञ्चति यत्स्तुते तद्धोता शस्त्रेण प्रजनयति तच्छ्यति यथायं पुरुषः शितस्तच्छेदनच्छ्यति तस्माच्छस्त्रं नाम ॥ ३ ॥ तदुपपल्यय्य प्रतिगृणाति । इदमेवैतद्रेतः सिक्तमुपनिमदत्यथ यत्पराङ् तिष्ठन्प्रतिगृणीयात्परागु हैवैतद्रेतः सिक्तं प्रणश्येत्तन्न प्रजायेत सम्यञ्चाऽउ चैवैतद्भूत्वैतद्रेतः सिक्तं प्रजनयतः ॥ ४ ॥ यातयामानि वै देवैश्छन्दाᳫंसि । छन्दोभिर्हि देवाः स्वर्गं लोकᳫं समाश्नुवत मदो वै प्रतिगरो यो वाऽऋचि मदो यः सामन्रसो वै स तच्छन्दःस्वेवैतद्रसं दधात्ययातयामानि करोति तैरयातयामैर्यज्ञं तन्वते ॥ ५ ॥ तस्माच्चर्धर्चशः शᳫंसेत् । अर्धर्चेऽर्धर्चे प्रतिगृणीयाद्यदि पच्छः शᳫंसेत्पदे-पदे प्रतिगृणीयाद्यत्र वै शᳫंसन्नवानिति तदसुररक्षसानि यज्ञमन्ववचरन्ति तत्प्रतिगरेण संदधाति नाष्ट्राणाᳫं रक्षसामनन्ववचाराय यजमानस्यो चैवैतद्भ्रातृव्यलोकं छिनत्ति ॥ ६ ॥ चतुरक्षराणि ह वाऽअग्रे छन्दाᳫंस्यासुः । ततो जगती सोममच्छापतत्सा त्रीण्यक्षराणि हित्वाजगाम ततस्त्रिष्टुप्सोममच्छापतत्सैकमक्षरᳫं हित्वाजगाम ततो गायत्री सोममच्छापतत्सैतानि चाक्षराणि हरन्त्यागच्छत्सोमं च ततोऽष्टाक्षरा गायत्र्यभवत्तस्मादाहुरष्टाक्षरा गायत्रीति ॥ ७ ॥ तया प्रातःसवनमतन्वत । तस्माद्गायत्रं प्रातःसवनं तयैव माध्यन्दिनᳫं सवनम-

तपता है, शुक्र (तेजों से) तपता है जिसकी ये सब किरणें हैं। यही विश्वेदेव हैं। इसलिए शुक्र-ग्रह से लेता है ।।२६।।

वह (द्रोण कलश से सोम) इस मन्त्र से निकलता है—"ओमासश्चर्षणीधृतो विश्वे देवास ऽ आगत । दाश्वाँसो दाशुषः सुतम् । उपयामगृहीतोऽसि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः" (यजु० ७।३३, ऋ० १।३।७)—"हे रक्षक और मनुष्यों के पोषक विश्वेदेव, आओ। आप कामनाओं के देनेवाले हैं। देनेवाले के निचोड़े हुए सोम को (पीने के लिए)। तुझको आश्रय के लिए लिया गया है। विश्वेदेवों के लिए तुझको।" "एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः" (यजु० ७।३३)—"यह तेरी योनि है। विश्वेदेवों के लिए तुझको।" ऐसा कहकर वह उसको रख देता है, क्योंकि विश्वेदेवों के लिए इसको लेता है ।।२७।।

शस्त्रप्रतिगरः

अध्याय ३—ब्राह्मण २

जब होता शस्त्र पढ़ता है तो गाता है। और जब वह गाता है तो अध्वर्यु उसके प्रत्युत्तर में गाता है। इसलिए उसको 'प्रतिगर' (प्रति + आ + गृणाति) कहते हैं ।।१।।

होता पूर्वाभिमुख बैठे हुए अध्वर्यु का आह्वान करता है। उद्‌गाता को छोड़कर और सब पूर्वाभिमुख होकर ऋत्विज का कार्य करते हैं। इसलिए इसका ऋत्विका का कार्य भी पूर्वा-भिमुख हो जाता है ।।२।।

उद्‌गाता प्रजापति है। ऋचा होतारूपी स्त्री है। यह प्रजापतिरूप उद्‌गाता पुरुष ऋचारूपी होता स्त्री में वीर्य का सिंचन करता है जबकि वह स्तुति करता है। होता शस्त्र के रूप में जनता है (जैसे माँ बच्चे को जनती है)। वह पैना करता है जैसे यह पुरुष पैना किया जाता है (चाकू पैना करने के लिए सान पर रखते हैं। इस प्रकार 'शो' का अर्थ है पैना करना, बनाना) चूंकि पैना करते हैं इसलिए 'शो' से 'शस्त्र' शब्द बना। ('शो तनूकरणे' धातु के रूप 'श्यति' आदि होते हैं) ।।३।।

(अध्वर्यु) घूमकर (होता की ओर मुँह करके) प्रत्युत्तर में गाता है। इस प्रकार यह सींचे हुए वीर्य को तेज कर देता है। यदि मुँह फेरकर गावे तो सींचा हुआ वीर्य नष्ट हो जाय, और उत्पत्ति न हो। (स्त्री और पुरुष) एक-दूसरे की ओर मुख करके सींचे हुए वीर्य से उत्पत्ति करते हैं ।।४।।

देवों द्वारा छन्द थका दिये गये। क्योंकि छन्दों द्वारा ही देव स्वर्गलोक को गये। प्रतिगर (प्रत्युत्तर का गाना) यह है। यह जो ऋक् में मद है और यह जो साम में, वही रस है। यह रस वह छन्दों में रख देता है, अर्थात् छन्दों की थकावट दूर कर देता है। इन फिर से पुष्ट छन्दों से यज्ञ करता है ।।५।।

इसलिए यदि (होता) आधी ऋचाओं से शस्त्र पढ़े तो अध्वर्यु आधी ऋचाओं के द्वारा प्रत्युत्तर भी दे। यदि पाद-पाद करके तो प्रतिगर भी पद-पद से हो, क्योंकि शस्त्र पढ़ने में ज्योंही साँस टूटता है त्यों ही असुर राक्षस दौड़ पड़ते हैं। इसको अध्वर्यु प्रतिगर द्वारा बन्द कर देता है। इससे दुष्ट राक्षस आने नहीं पावे। इस प्रकार वह यजमान के शत्रु-लोक का नाश कर देता है ।।६।।

पहले छन्दों में चार अक्षर होते थे। उनमें से जगती सोम को लेने उड़ गई, और तीन अक्षर पीछे छोड़कर लौट आई। अब त्रिष्टुप् सोम को लेने उड़ गया और एक अक्षर छोड़कर घर लौट आया। फिर गायत्री सोम को लेने उड़ी और इन सब अक्षरों को और सोम को भी लेकर वापस आ गई। इसलिए आठ अक्षर की गायत्री हो गई। इसलिए कहते हैं कि आठ अक्षर की गायत्री होती है ।।७।।

उस (गायत्री) से प्रातःसवन किया गया। इसलिए प्रातःसवन का नाम गायत्र है।

तन्वत ताᳫं ह त्रिष्टुबुवाचोप त्वाहमायानि त्रिभिरक्षरैरुप मा ह्वयस्व मा मा यज्ञादन्तर्गा इति तथेति तामुपाह्वयत तत एकादशाक्षरा त्रिष्टुबभवत्तस्मादाहुस्त्रैष्टुभं माध्यन्दिनᳫं सवनमिति ॥८॥ तयैव तृतीयसवनमतन्वत । ताᳫं ह जगत्युवाचोप त्वाहमायान्येकेनाक्षरेणोप मा ह्वयस्व मा मा यज्ञादन्तर्गा इति तथेति तामुपाह्वयत ततो द्वादशाक्षरा जगत्यभवत्तस्मादाहुर्जागतं तृतीयसवनमिति ॥९॥ तदाहुः । गायत्राणि वै सर्वाणि सवनानि गायत्री ह्येवैतदुपसृज्यमानैदिति तस्मात्सᳫंस्थिते प्रातःसवने प्रतिगृणीयात्सᳫंसिद्धा हि गायत्र्यागच्छत्सकृन्मद्वन्माध्यन्दिने सवनऽएकᳫं हि साक्षरᳫं हित्वागच्छत्तेनैवैनामेतत्समर्धयति कृत्स्नां करोति ॥१०॥ यत्र त्रिष्टुभः शस्यन्ते । त्रिमद्वत्तृतीयसवने त्रीणि हि साक्षराणि हित्वागच्छत्तैरेवैनामेतत्समर्धयति कृत्स्नां करोति ॥११॥ ॥ शतम् २५०० ॥ ॥ यत्र द्यावापृथिव्यᳫं शस्यते । इमे ह वै द्यावापृथिवीऽइमाः प्रजा उपजीवन्ति तदनयोरेवैतद्द्यावापृथिव्यो रसं दधाति ते रसवत्याऽउपजीवनीयेऽइमाः प्रजा उपजीवन्ति स वाऽओ३मित्येव प्रतिगृणीयात्तद्धि सत्यं तद्देवा विदुः ॥१३॥ तद्धैके । ओथामोदैव वागिति प्रतिगृणन्ति वाक्प्रतिगर एतद्वाचमुपाप्नुम इति वदन्तस्तदु तथा न कुर्याद्यथा वै कथा च प्रतिगृणात्युपाप्तैवास्य वाग्भवति वाचा हि प्रतिगृणाति तस्मादो३मित्येव प्रतिगृणीयात्तद्धि सत्यं तद्देवा विदुः ॥ १३ ॥ ब्राह्मणम् ॥ ६ [३. २.] ॥ ॥

इहा३ऽइहा३ऽइत्यभिषुणोति । इन्द्रमेवैतदाच्यावयति बृहद्बृहदितीन्द्रमेवैतदाच्यावयति ॥१॥ स शुक्रामन्थिनौ प्रथमौ गृह्णाति । शुक्रवद्ध्येतत्सवनमथाग्रयणाᳫं सर्वेषु ह्येष सवनेषु गृह्यतेऽथ मरुत्वतीयमथोक्थ्यमुक्थ्यानि ह्यत्रापि भवन्ति ॥२॥ तद्धैके । उक्थ्यं गृहीत्वाथ मरुत्वतीयं गृह्णन्ति तदु तथा न कुर्यान्मरुत्वतीयमेव गृहीत्वाथोक्थ्यं गृह्णीयात् ॥३॥ तान्वाऽएतान् । पञ्च ग्रहान्गृह्णात्येष

उसी से दोपहर का सवन किया गया। उससे त्रिष्टुप् ने कहा, 'मैं अपने तीन अक्षरों के साथ आता हूँ। मुझे बुला। मुझे यज्ञ से बाहर न निकाल।' 'अच्छा' ऐसा कहकर (गायत्री ने त्रिष्टुप् को) बुला लिया। इस प्रकार त्रिष्टुप् में ग्यारह अक्षर हो गये। इसलिए कहते हैं कि दोपहर का सवन त्रैष्टुप् होता है ॥८॥

उसी गायत्री से तीसरा सवन किया। उससे जगती ने कहा, 'मैं अपने एक अक्षर के साथ तेरे पास आती हूँ, तू मुझे बुला, यज्ञ से बाहर मत निकाल।' उसने कहा 'अच्छा' और बुला लिया। तब से जगती बारह अक्षर की हो गई। इसलिए कहते हैं कि तीसरा सवन 'जागत' है ॥९॥

इस पर कुछ लोग कहते हैं कि सभी सवन 'गायत्र' हैं क्योंकि गायत्री ही तो बढ़ती गई। इसलिए प्रातःसवन में पूरा 'प्रतिगर' कहे, क्योंकि गायत्री पूरी होकर लौटी थी। दोपहर के सवन में एक बार 'मद्' शब्द कहकर प्रतिगर पढ़े, क्योंकि त्रिष्टुप् एक अक्षर छोड़कर लौटा था। उसी से वह उसको समृद्ध करता है अर्थात् उसको पूरा कर देता है जबकि—॥१०॥

त्रिष्टुप् से शस्त्र पढ़ता है। तीसरे सवन में तीन बार 'मद्' शब्द से प्रतिगर कहे, क्योंकि जब जगती लौटी तो तीन अक्षर पीछे छोड़ आई। इससे वह इसकी समृद्धि करता है, उसको पूरा करता है जबकि—॥११॥

द्यौ और पृथिवी के लिए शस्त्र पढ़ता है। यह प्रजा इन्हीं दोनों अर्थात् द्यौ और पृथिवी के सहारे रहते हैं; इसके द्वारा इन्हीं द्यौ और पृथिवी में वह रस रखता है। इन्हीं रसवाले द्यौ और पृथिवी के सहारे प्रजा उत्पन्न होती है। 'ओ३म्' ऐसा कहकर 'प्रतिगर' करे, क्योंकि यही सत्य है जिसको देव जानते हैं ॥१२॥

कुछ इस प्रकार प्रतिगर करते हैं 'ओथामो दैववाक्' अर्थात् वाणी प्रतिगर है, उसी को लेते हैं। परन्तु ऐसा न करे। क्योंकि चाहे जैसे प्रतिगर करे, वाणी ही हो जाती है, क्योंकि प्रतिगर वाणी द्वारा ही हो सकता है। इसलिए 'ओ३म्' कहकर ही प्रतिगर करे। यही सत्य है जिसको देव जानते थे ॥१३॥

माध्यन्दिनसवनम्—मरुत्वतीयग्रहादि

अध्याय ३—ब्राह्मण ३

'इहा' 'इहा' कहकर (सोमरस) निकालता है। ('इह' का अर्थ है 'यहाँ'। इसी का अन्त का अक्षर प्लुत करके 'इहा' हो गया। बुलाने में प्लुत हो ही जाता है)। इस प्रकार इन्द्र को निकट बुलाता है। 'बृहद्-बृहद्' भी कहता है; इससे भी इन्द्र को निकट बुलाता है ॥१॥

पहले शुक्र और मन्थी ग्रहों को लेता है। इससे (सोम यज्ञ) 'शुक्र-युक्त' हो जाता है। अब आग्रयण ग्रह को लेता है। यह ग्रह तो सभी सवनों में लिया जाता है। फिर मरुत्वतीय ग्रह लेता है। फिर उक्थ्य ग्रह को। क्योंकि यहाँ भी उक्थ्य मन्त्र होते हैं ॥२॥

कुछ लोग उक्थ्य ग्रह को लेकर मरुत्वतीय को लेते हैं। परन्तु ऐसा न करना चाहिए। मरुत्वतीय को लेकर उक्थ्य को ले ॥३॥

इस प्रकार यह इन पाँच ग्रहों को लेता है (शुक्र, मन्थी, आग्रयण, मरुत्वतीय और

वै वज्रो यन्माध्यन्दिनः पवमानस्तस्मात्पञ्चदशः पञ्चसामा भवति पञ्चदशो हि वज्रः स एतैः पञ्चभिर्ग्रहैः पञ्च वाऽइमा अङ्गुलयोऽङ्गुलिभिर्वै प्रहरति ॥ ४ ॥ इन्द्रो वृत्राय वज्रं प्रजहार । स वृत्रं पाप्मानꣳ हत्वा विजितेऽभयेऽनाष्ट्रे दक्षिणा निनाय तस्माद्प्येतर्हि यदैवैतेन माध्यन्दिनेन पवमानेन स्तुवतेऽथ विजितेऽभये ऽनाष्ट्रे दक्षिणा नीयन्ते तथोऽएवैष एतैः पञ्चभिर्ग्रहैः पाप्मने द्विषते भ्रातृव्याय वज्रं प्रहरति स वृत्रं पाप्मानꣳ हत्वा विजितेऽभयेऽनाष्ट्रे दक्षिणा नयति तस्माद्वाऽएतान्पञ्च ग्रहान्गृह्णाति ॥ ५ ॥ तद्यन्मरुत्वतीयान्गृह्णाति । एतद्वाऽइन्द्रस्य निष्केवल्यꣳ सवनं यन्माध्यन्दिनꣳ सवनं तेन वृत्रमजिघाꣳसत्तेन व्यजिगीषत मरुतो वाऽइत्यश्वत्थेऽपक्रम्य तस्थुः क्षत्रं वाऽइन्द्रो विशो मरुतो विशा वै क्षत्रियो बलवान्भवति तस्मादाश्वत्थेऽऋतुपात्रे स्यातां कार्ष्मर्यमये त्वेव भवतः ॥ ६ ॥ तानिन्द्र उपमन्त्रयां चक्रे । उप मावर्तध्वं युष्माभिर्बलेन वृत्रꣳ हनानीति ते होचुः किं नस्ततः स्यादिति तेभ्य एतौ मरुत्वतीयौ ग्रहावगृह्णात् ॥ ७ ॥ ते होचुः । अपनिधायैनमोज उपावर्तामहाऽइति तऽएनमपनिधायैवौज उपाववृतुस्तद्वाऽइन्द्रोऽस्पृणुतापनिधाय वै मौज उपावृतन्निति ॥ ८ ॥ स होवाच । सहैव मौजसोपावर्तध्वमिति तेभ्यो वै नस्तृतीयं ग्रहं गृहाणेति तेभ्य एतं तृतीयं ग्रहमगृह्णादुपयामगृहीतोऽसि मरुतां त्वौजसऽइति तऽएनꣳ सहैवौजसोपावर्तन्त तैर्व्यजयत तैर्वृत्रमहन्क्षत्रं वाऽइन्द्रो विशो मरुतो विशा वै क्षत्रियो बलवान्भवति तत्क्षत्रऽएवैतद्बलं दधाति तस्मान्मरुत्वतीयान्गृह्णाति ॥ ९ ॥ स वाऽइन्द्रायैव मरुत्वते गृह्णीयात् । नापि मरुद्भ्यः स यद्धापि मरुद्भ्यो गृह्णीयात्प्रत्युद्यामिनीꣳ ह क्षत्राय विशं कुर्यादथैतदिन्द्रमेवानु मरुत आभजति तत्क्षत्रायैवैतद्विशं कृतानुकरामनुवर्त्मानं करोति तस्मादिन्द्रायैव मरुत्वते गृह्णीयान्नापि मरुद्भ्यः ॥ १० ॥ अपक्रमाद्धैवेषामेतद्बिभयां चकार । यदिमे मन्नापक्रामेयुर्यन्नान्यङ्क्रियेरन्निति तानेवैतदनपक्र-

उक्थ्य)। यह जो दोपहर का पवमान है, वह वज्र है। इसमें पाँच साम होतें हैं, १५ मन्त्रवाले। वज्र पन्द्रहवाला होता है। पाँच ग्रहों के द्वारा। ये अँगुलियाँ भी पाँच हैं। इन अँगुलियों से ही तो वज्र फेंका जाता है ।।४।।

इन्द्र ने वृत्र पर वज्र फेंका। पापी वृत्र को मारकर और विजय तथा अभय प्राप्त करके दक्षिणा लाया। इसलिए ये उद्गाता लोग भी जब दोपहर के सवन में पवमान पढ़ते हैं और अभय तथा विजय प्राप्त करते हैं तो दक्षिणा को लाते हैं। इसी प्रकार यह भी इन पाँच ग्रहों द्वारा दुष्ट पापी शत्रु पर वज्र फेंकता है और पापी वृत्र को मारकर अभय तथा विजय प्राप्त होने पर दक्षिणा को ले जाता है। इसलिए इन पाँच ग्रहों को लेते हैं ।।५।।

मरुत्वतीय ग्रहों को इसलिए लेता है कि यह जो दोपहर का सवन है वह इन्द्र का निज का सवन (निष्कैवल्य) है। उसी से उसने वृत्र को मारने और जीतने की इच्छा की। इस समय मरुत् अश्वत्थ कक्षा पर घूमकर जा खड़े हुए। इन्द्र क्षत्रिय है। मरुत् वैश्य हैं। क्षत्रिय बलवान् होता है। इसलिए दो पात्र अश्वत्थ लकड़ी के हो सकते हैं। (ऐसी लोगों की राय है) परन्तु काष्मर्य लकड़ी के तो होते ही हैं ।।६।।

उनको इन्द्र ने बुलाया, 'मेरे पास आइये कि आपकी सहायता से मैं वृत्र को मार डालूं?' उन्होंने कहा, 'हमको क्या मिलेगा?' उसने इन दो मरुत्वतीय ग्रहों को उनके लिए निकाला ।।७।।

वे बोले, 'इस एक ग्रह अर्थात् आज को अलग रखकर हम आ रहे हैं।' वे इस ओज को अलग रखकर आये। परन्तु इन्द्र ने इस (ग्रह अर्थात् ओज) को भी लेना चाहा, यह सोचकर कि ये ओज को अलग रखकर आ रहे हैं। (ओज के बिना तो कुछ सफलता होती नहीं) ।।८।।

उसने कहा, 'ओज के साथ आइये।' उन्होंने उत्तर दिया, 'तो हमारे लिए एक तीसरा ग्रह और लो।' तब उनके लिए उसने एक तीसरा ग्रह निकाला, इस मन्त्र से "उपयामगृहीतोऽसि मरुतां त्वौजसे—" (यजु० ७।३६)। तब वे ओज के साथ (इन्द्र की सहायता को) गये। उनकी सहायता से विजय पाई, उनकी सहायता से वृत्र को मारा। इन्द्र क्षत्रिय है। मरुत् वैश्य है। क्षत्रिय वैश्य की सहायता से ही बलवान् होता है। इसलिए वह क्षत्रिय में बल को रखता है। इसलिए मरुत्वतीय ग्रहों को लेता है ।।९।।

उन ग्रहों को वह 'मरुत्-युक्त इन्द्र' के लिए निकाले, अकेले इन्द्र के लिए नहीं। यदि वह केवल मरुतों के लिए निकालेगा तो वैश्यों को क्षत्रियों के विरुद्ध कर देगा। इसलिए वह इन्द्र के पीछे मरुत् का भी भाग रख देता है। इस प्रकार वह वैश्य को क्षत्रिय के अधीन और उसका आज्ञाकारी बना देता है। इसलिए मरुत्-युक्त इन्द्र के लिए निकाले, न कि 'मरुतों' के लिए ।।१०।।

उस (इन्द्र) को उनके छोड़ने का भय था, 'कहीं वे मुझे छोड़ जायें और दूसरे दल में मिल जायँ।' इस प्रकार वह इस भाग के द्वारा उनको ऐसा बना देता है कि वे उसे छोड़ने न

मिणोऽकुरुत तस्मादिन्द्रायैव मरुत्वते गृह्णीयान्नापि मरुद्भ्यः ॥११॥ ऋतुपात्राभ्यां गृह्णाति । ऋतवो वै संवत्सरो यज्ञस्तेऽदः प्रातःसवने प्रत्यक्षमवकल्प्यन्ते यदृतुग्रहान्गृह्णात्यथैतत्परोऽक्षं माध्यन्दिने सवनेऽवकल्प्यन्ते यदृतुपात्राभ्यां मरुत्वतीयान्गृह्णाति विशो वै मरुतोऽन्नं वै विश ऋतवो वाऽइदꣳ सर्वमन्नाद्यं पचन्ति तस्मादृतुपात्राभ्यां मरुत्वतीयान्गृह्णाति ॥१२॥ अथातो गृह्णात्येव । इन्द्र मरुत्व इह पाहि सोमं यथा शार्यातेऽअपिबः सुतस्य । तव प्रणीती तव शूर शर्मन्नाविवासन्ति कवयः सुयज्ञाः । उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वतऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते ॥१३॥ मरुत्वन्तं वृषभम् । वावृधानमकवारिं दिव्यꣳ शासमिन्द्रम् । विश्वासाहमवसे नूतनायोग्रꣳ सहोदामिह तꣳ हुवेम । उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वतऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते । उपयामगृहीतोऽसि मरुतां त्वौजसऽइति तृतीयं ग्रहं गृह्णाति ॥१४॥ अथ माहेन्द्रं ग्रहं गृह्णाति । पाप्मना वाऽएतदिन्द्रः सꣳसृष्टोऽभूद्यद्विशा मरुद्भिः स यथा विजयस्य कामाय विशा समानि पात्रेऽश्नीयादेवं तद्यदस्माऽएतं मरुद्भिः समानं ग्रहमगृह्णन् ॥१५॥ तं देवाः । सर्वस्मिन्विजितेऽभयेऽनाष्ट्रे यथेषीकां मुञ्जाद्विवृहेदेवꣳ सर्वस्मात्पाप्मनो व्यवृहन्यन्माहेन्द्रं ग्रहमगृह्णंस्तथोऽएवैष एतद्यथेषीका विमुञ्जा स्यादेवꣳ सर्वस्मात्पाप्मनो निर्मुच्यते यन्माहेन्द्रं ग्रहं गृह्णाति ॥१६॥ यद्वेव माहेन्द्रं ग्रहं गृह्णाति । इन्द्रो वाऽएष पुरा वृत्रस्य बधादथ वृत्रꣳ हत्वा यथा महाराजो विजिग्यान एवं महेन्द्रोऽभवत्तस्मान्माहेन्द्रं ग्रहं गृह्णाति महान्तमु चैवैनमेतत्खलु करोति वृत्रस्य बधाय तस्माद्वेव माहेन्द्रं ग्रहं गृह्णाति शु पात्रेण गृह्णात्येष वै शुक्रो य एष तपत्येष उऽएव महांस्तस्माच्छुक्रपात्रेण गृह्णाति ॥१७॥ अथातो गृह्णात्येव । महाँ२॥ऽइन्द्रो नृवदा चर्षणिप्रा उत द्विबर्हा अमिनः सहोभिः । अस्मद्र्यग्वावृधे वीर्यायोरुः पृथुः सुकृतः कर्तृभिर्भूत् । उपयामगृहीतोऽसि महेन्द्राय

पावें। इसलिए भी 'मरुत्-युक्त इन्द्र' के लिए निकाले, मरुतों के लिए नहीं ॥११॥

दो ऋतु-पात्रों से निकालता है। ऋतु संवत्सर यज्ञ है। प्रातःसवन में तो प्रत्यक्ष ही लिये जाते हैं, जब ऋतु-ग्रह निकाले जाते हैं। परन्तु दोपहर के सवन में परोक्ष रूप से निकलता है जब दो मरुत्वतीय ऋतुपात्रों को निकालता है, इसलिए दो मरुत्वतीय ऋतु-पात्रों में निकालता है ॥१२॥

वह इस मन्त्र से निकालता है— "इन्द्र मरुत्व ऽ इह पाहि सोमं यथा शार्याते ऽ अपिबः सुतस्य। तव प्रणीती तव शूर शर्मन्नाविवासन्ति कवयः सुयज्ञाः। उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वत ऽ एष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते" (यजु० ७।३५, ऋ० ३।५१।७)— "हे मरुतों से युक्त इन्द्र! यहाँ सोम को पी, जैसे शर्यात के सोम को पिया था। सुयज्ञ कवि लोग तेरी प्रसन्नता और तेरी शरण की सहायता से ही यज्ञ में तेरी सेवा करते हैं। तुझे आश्रय के लिए लिया है। इन्द्र मरुत्-युक्त के लिए तुझको! यह तेरी योनि है। मरुत्-युक्त इन्द्र के लिए तुझको" ॥१३॥

दूसरे ग्रह को इस मन्त्र से निकालता है— "मरुत्वन्तं वृषभं वावृधानमकवारिं दिव्यँ् शासमिन्द्रम्। विश्वासाहमवसे नूतनायोग्रँ् सहोदामिह तँ् हुवेम। उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वत ऽ एष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते" (यजु० ७।३६, ऋ० ३।४७।५)— "मरुतोंवाले, बलवान्, वृद्धि-शील, दोष-रहित, दिव्य, शासक, सबके पालक इन्द्र को हम इस यज्ञ में नई रक्षा के लिए बुलाते हैं। आश्रय के लिए तुझे लिया जाता है। इन्द्र-मरुत्वाले के लिए तुझको। यह तेरी योनि है। इन्द्र मरुत्वाले के लिए तुझको।' इस मन्त्र से तीसरा ग्रह निकालता है— "उपयामगृहीतोसि मरुतां त्वौजसे" (यजु० ७।३६)— "तुझे आश्रय के लिए लिया गया है। मरुतों के ओज के लिए तुझको" ॥१४॥

अब वह माहेन्द्र ग्रह को लेता है। जैसे विजय की कामना के लिए वैश्यों के साथ एक ही पात्र में खा लेवे, इसी प्रकार इन्द्र भी वैश्य मरुतों के साथ मिलकर पाप-युक्त हो गया, क्योंकि मरुतों के साथ-साथ इन्द्र के लिए भी एक ही ग्रह निकाला गया ॥१५॥

तब देवों ने जीत हो जाने और अभय और शान्ति प्राप्त हो जाने पर इन्द्र को उस पाप से मुक्त किया जैसे सिरकी से मूंज निकाल लेते हैं, इस माहेन्द्र ग्रह को लेकर। जैसे सिरकी बिना मूंज के (साफ) हो जाती है इसी प्रकार माहेन्द्र ग्रह को निकालकर वह सब दोषों से दूर हो जाता है ॥१६॥

माहेन्द्र ग्रह को इसलिए भी निकालता है, वृत्र के वध से पहले वह इन्द्र था। अब किसी बड़े विजयी राजा के समान, वृत्र को मारकर माहेन्द्र बन गया। इसलिए माहेन्द्र ग्रह को लेता है। वृत्र के वध के लिए उसको बड़ा बनाता है, इसलिए भी माहेन्द्र ग्रह को लेता है। शुक्र-पात्र से लेता है। यह जो तपता है अर्थात् सूर्य, वह शुक्र है। शुक्र महान् है, इसलिए शुक्र-पात्र से निकालता है ॥१७॥

इस मन्त्र से निकालता है— "महाँ२ ऽ इन्द्रो नृवदा चर्षणिप्रा ऽ उत द्विबर्हा ऽ अमिनः सहोभिः। अस्मद्र्यग्वावृधे वीर्यायोरुः पृथुः सुकृतः कर्तृभिर्भूत्। उपयामगृहीतोऽसि महेन्द्राय

वैष ते योनिर्महेन्द्राय त्वेति सादयति महेन्द्राय ह्येनं गृह्णाति ॥१८॥ अथोपाकृत्यैतां वाचं वदति । अभिषोतारोऽभिषुणुतौलूखलानुद्वादयताग्नीदाशिरं विनय सौम्यस्य वित्तादिति ते वै तृतीयसवनायैवाभिषोतारोऽभिषुण्वन्ति तृतीयसवनायौलूखलानुद्वादयन्ति तृतीयसवनायाग्नीदाशिरं विनयति तृतीयसवनाय सौम्यं चरुꣳ श्रपयत्यैते वै शुक्रवती रसवती सवने यत्प्रातःसवनं च माध्यन्दिनं च सवनमथैतन्निर्धीतशुक्रं यत्तृतीयसवनं तदेवैतस्मान्माध्यन्दिनात्सवनान्निर्मिमीते तथो हास्यैतच्छुक्रवद्रसवत्तृतीयसवनं भवति तस्मादेतामत्र वाचं वदति ॥१९॥ ब्राह्मणम् ॥ ७ [३. ३.] ॥ द्वितीयः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या १३१ ॥ ॥

घ्नन्ति वाऽएतद्यज्ञम् । यदेनं तन्वते यन्न्वेव राजानमभिषुण्वन्ति तत्तं घ्नन्ति यत्पशुꣳ संज्ञपयन्ति विशासति तत्तं घ्नन्त्युलूखलमुसलाभ्यां दृषदुपलाभ्याꣳ हविर्यज्ञं घ्नन्ति ॥१॥ स एष यज्ञो हतो न ददक्षे । तं देवा दक्षिणाभिरदक्षयंस्तद्यदेनं दक्षिणाभिरदक्षयंस्तस्माद्दक्षिणा नाम तद्यदेवात्र यज्ञस्य हतस्य व्यथते तदेवास्यैतद्दक्षिणाभिर्दक्षयत्यथ समृद्ध एव यज्ञो भवति तस्माद्दक्षिणा ददाति ॥२॥ तद्वै षड्द्वादशेत्येव हविर्यज्ञे ददति । न ह त्वेवाशतदक्षिणः सौम्योऽध्वरः स्यादेष वै प्रत्यक्षं यज्ञो यत्प्रजापतिः पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठꣳ सोऽयꣳ शतायुः शततेजाः शतवीर्यस्तꣳ शतेनैव दक्षयति नाशतेन तस्मान्नाशतदक्षिणः सौम्योऽध्वरः स्यान्नो हैवाशतदक्षिणेन यजमानस्याऽविकस्यान्निदस्यात्विभूरसानि यमिमे हनिष्यन्त्येव न दक्षयिष्यन्तीति ॥३॥ द्वया वै देवा देवाः । अहैव देवा अथ ये ब्राह्मणाः शुश्रुवाꣳसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवास्तेषां द्वेधाविभक्त एव यज्ञ आहुतय एव देवानां दक्षिणा मनुष्यदेवानां ब्राह्मणानाꣳ शुश्रुवुषामनूचानानामाहुतिभिरेव देवान्प्रीणाति दक्षिणाभिर्मनुष्यदेवान्ब्राह्मणाञ्छुश्रुवुषोऽनूचानांस्तऽएनमुभये देवाः प्रीताः स्वर्गं लोकमभिवहन्ति ॥४॥ ता वाऽएताः । ऋत्विजामेव द-

त्वा" (यजु० ७।३९, ऋ० ६।१९।१)—"बड़ा इन्द्र ! नेता के समान, मनुष्य की कामनाओं की पूर्ति करनेवाला, दुहरे यज्ञोंवाला, अपार बलों के साथ, हमारे सामने बढ़ा वीर्य अर्थात् पराक्रम से, उस (यशवाला), पृथुः (विस्तृत) यजमानों द्वारा पूज्य हुआ।" यह पढ़कर नीचे रख देता है—"एष ते योनिर्महेन्द्राय त्वा" (यजु० ७।३९)—"यह तेरा घर है। महेन्द्र के लिए तुझको" ॥१८॥

उपाकरण करके यह वचन बोलता है, 'निचोड़नेवाला, निचोड़ो। मूसलों को जोर से चलाओ (सोम पीसने के लिए) आग्नीध्, दही को देख, सोम की खबर रख।' ये निचोड़नेवाले तीसरे सवन के लिए निचोड़ते हैं। तीसरे सवन के लिए ही मूसली चलाते हैं। तीसरे सवन के लिए ही आग्नीध् दही को बिलोता है। तीसरे सवन के लिए ही सोम के चरु को पकाता है। ये जो दो सवन थे अर्थात् प्रातः और दोपहर के, ये तो शुक्र और रसवाले थे। परन्तु तीसरा सवन शुक्र-रहित हो जाता है। इसलिए दोपहर के सवन से इसको बनाता है। इस प्रकार यह तीसरा सवन शुक्र और रसवाला हो जाता है। इसीलिए इस वाणी को इस समय बोलता है ॥१९॥

दाक्षिणहोमो दक्षिणादानश्च

अध्याय ३—ब्राह्मण ४

अब इस यज्ञ का वध करते हैं। जब यज्ञ में सोम राजा को कुचलते हैं तो मानो उसका वध करते हैं। जैसे पशु को काटते हैं तो उसका वध करते हैं, इसी प्रकार ओखली और मूसल से या दो पाटों से यज्ञ की हवि का वध किया जाता है ॥१॥

जब इस यज्ञ का बध हो गया तो उसकी शक्ति जाती रही, तब देवों ने दक्षिणाओं द्वारा पूरा किया। यह यज्ञ दक्षिणाओं द्वारा दक्ष हो गया। इसलिए इसका नाम दक्षिणा पड़ा (दक्ष बनानेवाली)। यहाँ यज्ञ के वध होने से जो कुछ कमी आ जाती है उसकी वह दक्षिणाओं से पूर्ति कर देता है। यज्ञ पूर्ण हो जाता है। इसलिए वह दक्षिणा देता है ॥२॥

हविर्यज्ञ में छः या बारह गायें दक्षिणा में दी जाती हैं। परन्तु सोम यज्ञ में सौ से कम नहीं। यह जो प्रजापति है वह प्रत्यक्ष यज्ञ है। पुरुष प्रजापति का निकटतम है। इसकी सौ वर्ष की आयु, सौ गुना तेज और सौ गुना पराक्रम होता है। सौ से ही वह इसको शक्ति-सम्पन्न करता है, सौ से कम से नहीं। इसलिए सोम यज्ञ में सौ गायों की दक्षिणा देनी चाहिए, और न किसी को ऐसे यज्ञ में ऋत्विक् बनना चाहिए जहाँ सौ से कम गायें दक्षिणा में दी जायँ, कि कहीं मैं ऐसी क्रिया का साक्षी न हो जाऊँ जहाँ यज्ञ का वध तो किया जाता है परन्तु उसकी पूर्ति नहीं की जाती ॥३॥

देव दो प्रकार के हैं—एक तो देव और दूसरे मनुष्य-देव, जो ब्राह्मण, वेदशास्त्र पढ़े हुए। इसलिए यज्ञ भी दो भागों में विभक्त है। देवों की आहुतियाँ हैं और मनुष्यदेवों की अर्थात् उन ब्राह्मणों की जो वेद-शास्त्र पढ़े हुए हैं दक्षिणा है। आहुतियों से देवों को प्रसन्न किया जाता है और मनुष्य-देव अर्थात् वेदशास्त्र पढ़े हुए ब्राह्मणों को दक्षिणाओं से। इस प्रकार दोनों देव प्रसन्न होकर यजमान को स्वर्गलोक में ले जाते हैं ॥४॥

यह दक्षिणा केवल ऋत्विजों की ही होती है। यह जो ऋक्, यजुः और साम और

दक्षिणा अन्यं वाऽएतऽएतस्यात्मानꣳ संस्कुर्वन्त्येतं यज्ञमृङ्मयं यजुर्मयꣳ साममय-
माहुतिमयꣳ सोऽस्यामुष्मिंल्लोकऽआत्मा भवति तद्ये माजीजनन्तेति तस्मादृत्विग्भ्य
एव दक्षिणा दद्यान्नानृत्विग्भ्यः ॥५॥ अथ प्रतिपरेत्य गार्हपत्यम् । दाक्षिणानि
जुहोति स दशाहोमीये वाससि हिरण्यं प्रबध्यावधाय जुहोति देवलोके मेऽप्य-
सदिति वै यजते यो यजते सोऽस्यैष यज्ञो देवलोकमेवाभिप्रैति तदनूची दक्षिणा
यां ददाति सैति दक्षिणामन्वारभ्य यजमानः ॥६॥ चतस्रो वै दक्षिणाः । हिरण्यं
गौर्वासोऽश्वो न वै तदवकल्पते यदश्वस्य पादमवदध्याद्यद्वा गोः पादमवदध्यात्त-
स्माद्दशाहोमीये वाससि हिरण्यं प्रबध्यावधाय जुहोति ॥७॥ सौरीभ्यामृग्भ्यां जु-
होति । तमसा वाऽअसौ लोकोऽन्तर्हितः स एतेन ज्योतिषा तमोऽपहत्य
स्वर्गं लोकमुपसंक्रामति तस्मात्सौरीभ्यामृग्भ्यां जुहोति ॥८॥ स जुहोति । उदु
त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः । दृशे विश्वाय सूर्यꣳ स्वाहेत्येतया गायत्र्या
गायत्री वाऽइयं पृथिवी सेयं प्रतिष्ठा तदस्यामेवैतत्प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठति ॥९॥
अथ द्वितीयां जुहोति । चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः । आप्रा
द्यावापृथिवीऽअन्तरिक्षꣳ सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहेत्येतया त्रिष्टुभा लो-
कमेवैतयोपप्रैति ॥१०॥ अथाग्नीध्रे । द्वे वैकां वा जुहोति तद्यदाग्नीध्रे द्वे वै-
कां वा जुहोत्यग्निर्वै पशूनामीष्टे तऽएनमभितः परिणिविशन्ते तमेतयाहुत्या प्री-
णाति सोऽस्मै प्रीतोऽनुमन्यते तेनानुमतां ददाति ॥१२॥ स जुहोति । अग्ने नय
सुपथा रायेऽअस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् । युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भू-
यिष्ठां ते नमऽउक्तिं विधेम स्वाहेत्यथ यद्यश्वं युक्तं वायुक्तं वा दास्यन्त्स्यादथ द्वि-
तीयां जुहुयाद्यद्यु न नाद्रियेत ॥१२॥ स जुहोति । अयं नोऽअग्निर्वरिवस्कृणो-
त्वयं मृधः पुर एतु प्रभिन्दन् । अयं वाजाञ्जयतु वाजसातावयꣳ शत्रूञ्जयतु जर्हृ-
षाणः स्वाहेति वाजसा ह्यश्वः ॥१३॥ अथ हिरण्यमादाय शालामभ्येति । दक्षि-

आहुतिमय यज्ञ है, यह यजमान का मानो एक नया आत्मा बनाया जाता है। यह इसका परलोक में आत्मा होता है। इस आत्मा को इन्हीं ऋत्विजों ने बनाया है। इसलिए यह दक्षिणा ऋत्विजों की ही होनी चाहिए, उनकी नहीं जो ऋत्विज न हों ।।५।।

गार्हपत्य के पास जाकर दक्षिणा की आहुति देता है। झालरदार कपड़े में सोने का टुकड़ा बाँधकर और उसे चमसे में रखकर आहुति देता है यह कहकर कि 'देवलोक में मेरा स्थान हो।' जो कोई यज्ञ करता है वह इसलिए करता है कि यह यज्ञ देवलोक को जाता है। और जो दक्षिणा देता है वह भी देवलोक को जाती है। और दक्षिणा से लगा हुआ यजमान भी जाता है ।।६।।

चार प्रकार की दक्षिणा होती है–सोना, गौ, कपड़ा और घोड़ा। यह उचित नहीं है कि घोड़े के पैर को चमसे में रख दे या गौ के पैर को। इसलिए झालरदार कपड़े में सोना बाँधकर रखता है और उसकी आहुति देता है ।।७।।

सूर्य की दो ऋचाओं से आहुति देता है। सूर्य की दो ऋचाओं से आहुति इसलिए देता है कि वह (पर) लोक अन्धकार से छिप गया है। वह ज्योति से अन्धकार को हटाकर स्वर्ग-लोक को जाता है ।।८।।

इस आहुति के मन्त्र ये हैं, "उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्य्यँ स्वाहा" (यजु० ७।४१, ऋ० १।५०।१)—"ये प्रकाश की किरणें उस सूर्य्य जातवेद देव सूर्य्य तक ले जाती हैं, सर्वत्र विश्व को दिखाने के लिए।" इस गायत्री से। यह पृथिवी गायत्री है। यह पृथिवी प्रतिष्ठा है। इसी प्रतिष्ठा में वह प्रतिष्ठित होता है ।।९।।

दूसरी आहुति का मन्त्र यह है, "चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणास्याग्नेः। आप्रा द्यावापृथिवी ऽ अन्तरिक्षँ सूर्य ऽ आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा" (यजु० ७।४२)—"विचित्र (आश्चर्य-युक्त) देवों अर्थात् प्रकाशों का अनीक अर्थात् समूह उदय होता है। यह मित्र, वरुण और अग्नि की आँख है अर्थात् इसी से सब प्रकाश को लेते हैं। यह सूर्य द्यौ, पृथिवी और अन्तरिक्ष में फैल जाता है। यह जंगम और स्थावर जगत् का आत्मा है। यह त्रिष्टुभ् है। इसके द्वारा स्वर्गलोक को प्राप्त करता है ।।१०।।

अब अग्नीध्र में एक या दो आहुति देता है। अग्नीध्र में एक या दो आहुतियाँ इसलिए देता है कि अग्नि पशुओं पर राज करता है। ये पशु उसको चारों ओर से घेर लेते हैं। उस अग्नि को इस आहुति से प्रसन्न करता है। वह अग्नि इससे प्रसन्न होकर अनुमति देता है। अनुमति से वह (गाय की) दक्षिणा देता है ।।११।।

आहुति का मन्त्र यह है, "अग्ने नय सुपथा राये ऽ अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज् जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमऽउक्तिं विधेम स्वाहा" (यजु० ७।४३, ऋ० १।१८९।१)—"हे अग्नि! धन के लिए हमको ठीक मार्ग पर ले चल। हे देव, तू सब कर्मों को जानता है। हमको पाप से बचा कि हम तेरी बहुत-बहुत स्तुति कर सकें।" अब यदि युक्त (सजे हुए) या अयुक्त (बेसजे) घोड़े को देना चाहे तो एक और आहुति पढ़े, अन्यथा नहीं ।।१२।।

वह आहुति का मन्त्र यह है, "अयं नो ऽ अग्निर्वरिवस्कृणोत्वयं मृधः पुर ऽ एतु प्रभिन्दन्। अयं वाजान् जयतु वाजसातावयँ शत्रून् जयतु जर्हृषाणोः स्वाहा" (यजु० ७।४४)—"यह अग्नि होम को धन (वरिवः = धनं) दे। यह युद्धों का भेद न करते हुए आगे बढ़े। यह अन्नों को जीते। यह जोश में आकर शत्रुओं पर विजय प्राप्त करे।" घोड़ा विजय प्राप्त करनेवाला है ।।१३।।

अब सोने को लेकर शाला में जाता है। वेदी के दक्षिण की ओर दक्षिण की गौएँ खड़ी

णेन वेदिं दक्षिणा उपतिष्ठन्ते सोऽग्रेण शालां तिष्ठन्नभिमन्त्रयते रूपेण वो रूप-
मभ्यागामिति न ह वाऽअग्रे पशवो दानाय चक्षमिरे तेऽपनिधाय स्वानि रूपा-
णि शरीरैः प्रत्युपातिष्ठन्त तानेतद्देवाः स्वैरेव रूपैर्यज्ञस्यार्धादुपायंस्ते स्वानि रू-
पाणि जानाना अभ्यवायंस्ते शातमनसोऽलं दानायाभवंस्तथोऽएवैनानेष एतत्स्वै-
रेव रूपैर्यज्ञस्यार्धादुपैति ते स्वानि रूपाणि जानाना अभ्यवयन्ति ते शातमनसो
ऽलं दानाय भवन्ति ॥१४॥ तुथो वो विश्ववेदा विभजत्विति । ब्रह्म वै तुथस्त-
देना ब्रह्मणा विभजति ब्रह्म वै दक्षिणीयं चादक्षिणीयं च वेद तथो हास्यैता
दक्षिणीयायैव दत्ता भवन्ति नादक्षिणीयाय ॥१५॥ ऋतस्य पथा प्रेतेति । यो वै
देवानां पथैति स ऋतस्य पथैति चन्द्रदक्षिणा इति तदेतेन ज्योतिषा यन्ति
॥१६॥ अथ सदोऽभ्येति । वि स्वः पश्य व्यन्तरिक्षमिति वि त्वया दक्षिणया लो-
कं ख्येषमित्येवैतदाह ॥१७॥ अथ सदः प्रेक्षते । यतस्व सदस्यैरिति मा त्वा स-
दस्या अतिरिक्षतेत्येवैतदाह ॥१८॥ अथ हिरण्यमादायाग्नीध्रमभ्येति । ब्राह्मणम-
द्य विदेयं पितृमन्तं पैतृमत्यमिति यो वै ज्ञातो ज्ञातकुलीनः स पितृमान्पैतृमत्यो
या वै ज्ञातायापि कतिपयीर्दक्षिणा ददाति ताभिर्महज्जयत्यृषिमार्षेयमिति यो वै
ज्ञातोऽनूचानः स ऋषिरार्षेयः सुधातुदक्षिणमिति स हि सुधातुदक्षिणः ॥ १९ ॥
अथैवमुपसद्य । अग्नीधे हिरण्यं ददात्यस्मद्राता देवत्रा गच्छतेति यां वै शातमना
अविचिकित्सन्दक्षिणां ददाति तया महज्जयति देवत्रा गच्छतेति देवलोके मेऽप्य-
सदिति वै यजते यो यजते तद्देवलोकऽएवैनमेतदपित्विनं करोति प्रदातारमावि-
शतेति मामाविशतेत्येवैतदाह तथो हास्मादेताः पराच्यो न प्रणश्यन्ति तद्यदग्नी-
धे प्रथमाय दक्षिणां ददात्यतो हि विश्वे देवा अमृतत्वमपाजयंस्तस्मादग्नीधे प्रथ-
माय दक्षिणां ददाति ॥२०॥ अथैवमेवोपसद्य । आत्रेयाय हिरण्यं ददाति यत्र
वाऽअदः प्रातरनुवाकमन्वाहुस्तद्ध स्मैतत्पुरा शᳪसत्यत्रिर्वाऽऋषीणाᳪं होतास-

रहती हैं। वह शाला के आगे खड़े होकर उनको सम्बोधन करता है, "रूपेण वो रूपणमभ्यागाम्" (यजु० ७।४५)—"तुम्हारे रूप से मुझे रूप मिला।" पहले-पहल पशु दान में दान दिये जाने के लिए राजी नहीं हुए। वे अपने रूपों को अलग रखकर केवल (नंगे) शरीरों के द्वारा खड़े हो गये। देव यज्ञ से उन पशुओं के अपने रूपों को ले गए। उन्होंने अपने इन रूपों को पहचाना और दान के लिए राजी हो गये। यह यजमान भी इसी प्रकार यज्ञ के सामने से पशुओं के निज रूपों को ले जाता है और वे अपने रूपों को पहचानकर दान में दिये जाने के लिए राजी हो जाते हैं ।।१४।।

"तुथो वो विश्ववेदा विभजतु" (यजु० ७।४५)—"सबको जाननेवाला तुथ (ब्राह्मण) तुमको बाँटे।" 'तुथ' है ब्राह्मण। इस प्रकार वह ब्राह्मण के द्वारा बँटवाता है। ब्राह्मण जानता है कि कौन दक्षिणा के योग्य हैं, कौन नहीं। इस प्रकार ये गायें भी उसी को दी जाती हैं जो दक्षिणा के योग्य है। उसको नहीं जो दक्षिणा के योग्य न हो ।।१५।।

"ऋतस्य पथा प्रेत" (यजु० ७।४५)—"ऋत के मार्ग से चलो।" जो देवों के मार्ग से चलता है वह ऋत के मार्ग से चलता है। "चन्द्र (चन्द्र=स्वर्ण) दक्षिणावाली।" ये गायें यजमान के दिये स्वर्ण की ज्योति से चलती हैं ।।१६।।

अब वह सदस् में जाता है, "वि स्वः पश्य व्यन्तरिक्षं" (यजु० ७।४५)—"स्वर्ग और अन्तरिक्ष को देख।" अर्थात् तुझ दक्षिणा के द्वारा मैं स्वर्ग को प्राप्त करूँ—यह उसका उद्देश्य है ।।१७।।

अब सदस् को देखता है, "यतस्व सदस्यैः" (यजु० ७।४५)—"सदस्यों के साथ यत्न कर।" अर्थात् 'सदस्य तुझसे आगे न बढ़ जाय' ऐसा कहता है ।।१८।।

अब सोने को लेकर आग्नीध्र (अग्निशाला) के पास जाता है, "ब्राह्मणमद्य विदेयं पितृमन्तं पैतृमत्यम्" (यजु० ७।४६)—"आज मैं पिता और पितामह वाले ब्राह्मण को प्राप्त करूँ।" जो अच्छे कुल का ब्राह्मण है उसी का नाम पितृमान और पैतृमत्य है। ऐसे घोड़ों को भी दक्षिणा देता है; उसको बहुत बड़ी विजय प्राप्त होती है। "ऋषिमार्षेयम्" (यजु० ७।४६)—"जो वेद पढ़ा हुआ है वह ऋषि और आर्ष है।" "सुधातु दक्षिणम्" (यजु० ७।४६)—"अच्छी दक्षिणावाला।" क्योंकि इसको अच्छी दक्षिणा दी गई है ।।१९।।

अब अग्नीध् के समीप (आदरपूर्वक) बैठकर (उपसद्य) उसे स्वर्ण देता है। "अस्मद्राता देवत्रा गच्छत" (यजु० ७।४६)—"हमारे द्वारा दिया हुआ तू देवलोक को जावे।" जो दक्षिणा उदार मन से बिना संकोच के दी जाती है उसका फल बड़ा होता है। 'देवलोक को जावे' का तात्पर्य यह है कि मेरे लिए देवलोक में स्थान कर दे। जो कोई यज्ञ करता है इस आश्रय से करता है कि देवलोक को पाऊँ। इस प्रकार वह इसके लिए देवलोक में स्थान कर देता है। "प्रदातारमाविशत" (यजु० ७।४६)—"दाता में प्रवेश करो।" अर्थात् मुझमें प्रवेश करो। इस प्रकार उन गायों से वह वंचित नहीं होता। अग्नीध् को दक्षिणा पहले दिये जाने का तात्पर्य यह है कि देवों ने इसी के द्वारा अमृतत्व को पाया था। इसलिए अग्नीध् को दक्षिणा पहले देता है ।।२०।।

अब इसी प्रकार जाकर आत्रेय (अत्रि-वंशज एक पुरुष) को स्वर्ण देता है। पहले एक बार जब वह प्रातरनुवाक को बोल रहे थे तो सामने स्तोत्र भी कह रहे थे। ऋषियों का होता

थैतत्सदोऽसुरतमसमभिपुप्रुवे तऽऋषयोऽत्रिमब्रुवन्नेहि प्रत्यङिदं तमोऽपजहीति स एतत्तमोऽपाहन्नयं वै ज्योतिर्य इदं तमोऽपावधीदिति तस्माऽएतज्ज्योतिर्हिरण्यं दक्षिणामनयञ्ज्योतिर्हि हिरण्यं तद्धि स तत्तेजसा वीर्येणाऽर्षिस्तमोऽपजघानाथैष एतेनैवैतज्ज्योतिषा तमोऽपहन्ति तस्मादात्रेयाय हिरण्यं ददाति ॥२१॥ अथ ब्रह्मणे । ब्रह्मा हि यज्ञं दक्षिणतोऽभिगोपायत्यथोद्गात्रेऽथ होत्रेऽथाध्वर्युभ्याꣳ हविर्धानऽआसीनाभ्यामथ पुनरेत्य प्रस्तोत्रेऽथ मैत्रावरुणायाथ ब्राह्मणाच्छꣳसिनेऽथ पोत्रेऽथ नेष्ट्रेऽथाच्छावाकायाथाग्नीध्रेऽथ ग्रावस्तुतेऽथ सुब्रह्मण्यायै प्रतिहर्त्रेऽउत्तमाय ददाति प्रतिहर्ता वाऽएष सोऽस्माऽएतदन्ततः प्रतिहरति तथो हास्मादेताः पराच्यो न प्रणश्यन्ति ॥२२॥ अथाहेन्द्राय मरुत्वतेऽनुब्रूहीति । यत्र वै प्रजापतिरग्नये ददौ तद्धेन्द्र ईक्षां चक्रे सर्वं वाऽअयमिदं दास्यति नास्मभ्यं किं चन परिशेक्ष्यतीति स एतं वज्रमुदयच्छदिन्द्राय मरुत्वतेऽनुब्रूहीत्यदानाय ततो नाददात्स एषोऽप्येतर्हि तथैव वज्र उद्यम्यतऽइन्द्राय मरुत्वतेऽनुब्रूहीत्यदानाय ततो न ददाति ॥२३॥ चतस्रो वै दक्षिणाः । हिरण्यमायुरेवैतेनात्मनस्त्रायतऽआयुर्हि हिरण्यं तदग्नयऽआग्नीध्रं कुर्वतेऽददात्तस्मादप्येतर्ह्याग्नीध्रे हिरण्यं दीयते ॥२४॥ अथ गौः । प्राणमेवैतयात्मनस्त्रायते प्राणो हि गौरन्नꣳ हि गौरन्नꣳ हि प्राणस्ताꣳ रुद्राय होत्रेऽददात् ॥२५॥ अथ वासः । त्वचमेवैतेनात्मनस्त्रायते त्वग्घि वासस्तद्बृहस्पतयऽउद्गायतेऽददात् ॥२६॥ अथाश्वः । वज्रो वाऽअश्वो वज्रमेवैतत्पुरोगां कुरुते यमलोके मेऽप्यसदिति वै यजते यो यजते तद्यमलोकऽएवैनमेतदपिविनं करोति तं यमाय ब्रह्मणेऽददात् ॥२७॥ स हिरण्यं प्रत्येति । अग्नये त्वा मह्यं वरुणो ददात्वित्यग्नये ह्येतद्वरुणोऽददात्सोऽमृतत्वमशीयायुर्दात्रऽएधि मयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रऽइति ॥२८॥ अथ गां प्रत्येति । रुद्राय त्वा मह्यं वरुणो ददात्विति रुद्राय ह्येतां वरुणोऽददात्सोऽमृतत्वमशीय प्राणो दात्रऽएधि वयो

अत्रि था। उस समय सदस् में असुरों का अन्धकार छा गया। ऋषियों ने अत्रि से कहा, 'यहाँ लौट आओ और अन्धकार को निकाल दो।' उसने इस अन्धकार को भगा दिया। उन्होंने यह समझकर कि यह ज्योति है, इसने अन्धकार दूर कर दिया, उसके लिए चमकीली सोने की दक्षिणा दी। स्वर्ण ज्योति है। उस ऋषि ने अपने तेज और पराक्रम से अन्धकार को दूर कर दिया। यह भी इसी ज्योति से अन्धकार को दूर करता है। इसलिए यहाँ अत्रि को स्वर्ण देता है ॥२१॥

अब ब्रह्मा को (दक्षिणा देता है)। ब्रह्मा यज्ञ की दक्षिण की ओर से रक्षा करता है। इसके बाद उद्गाता को, फिर होता को, फिर दोनों अध्वर्युओं को जो हविर्धान में बैठे हों। फिर लौटकर प्रस्तोता को, फिर मैत्रावरुण को, फिर ब्राह्मणाच्छंसी को, फिर पोता को, फिर नेष्टा को, फिर अच्छावाक को, फिर उन्नेता को, फिर ग्रावस्तोता को, फिर सुब्रह्मण्य को और सबसे पीछे प्रतिहर्ता को दक्षिणा देता है। प्रतिहर्ता इसके लिए गौवों को पकड़े रहता है। वे भागकर जाने नहीं पातीं ॥२२॥

अब (अध्वर्यु मैत्रावरुण से) कहता है कि 'इन्द्र मरुत्वत के लिए अनुवाक पढ़ो।' जब पहले प्रजापति दक्षिणा दे रहा था तो इन्द्र ने सोचा कि यह तो सब दे डालेगा। हमारे लिए कुछ भी न छोड़ेगा। उसने 'इन्द्र-मरुत्वत के लिए अनुवाक पढ़ो' इस वचनरूपी वज्र को उठाया कि वह दान देना बन्द कर दे। उसने दान बन्द कर दिया। यहाँ यह भी 'इन्द्र-मरुत्वत के लिए अनुवाक पढ़ो' यह वज्र उठाता है, दान देना बन्द करने के लिए। वह दान देना बन्द कर देता है ॥२३॥

चार तरह की दक्षिणा होती है। (१) सोना—यह आयु है। इससे वह अपने जीवन की रक्षा करता है। सोना आयु है। (प्रजापति ने) यह सोना अग्नि को दिया था जो अग्नीध् (अग्नि प्रज्वलित करनेवाले) का काम कर रही थी। इसीलिए यह भी अग्नीध् को सोना देता है ॥२४॥

अब (२) गौ—इससे प्राणी की रक्षा होती है। गौ प्राण है, अन्न गौ है, अन्न प्राण है। इसको रुद्र या होता को देता है ॥२५॥

अब (३) कपड़ा—इससे अपनी खाल की रक्षा करता है। कपड़ा खाल है। उसको गानेवाले बृहस्पति को देता है ॥२६॥

अब (४) घोड़ा—घोड़ा वज्र है, वज्र को वह इस प्रकार अपना अगुआ बनाता है। जो यज्ञ करता है वह इस आशा से करता है कि यमलोक में मुझे स्थान मिलेगा। इस प्रकार वह इसको यमलोक का हिस्सेदार कर देता है। इस (घोड़े) को वह यम या ब्रह्मा को देता है ॥२७॥

अध्वर्यु सोने को इस मन्त्र से लेता है, "अग्नये त्वा मह्यं वरुणो ददातु" (यजु० ७।४७)—"वरुण तुझे अग्नि के लिए मेरे लिए देवे।" वरुण ने अग्नि को ही तो दिया था। "सोऽमृतत्त्वमशीयायुर्दात्र ऽएधि वयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे" (यजु० ७।४७)—"मैं अमृतत्व को प्राप्त करूँ।" दाता के लिए आयु दे। मुझे लेनेवाले के लिए सुख दे" ॥२८॥

अब गाय को इस मन्त्र से लेता है, "रुद्राय त्वा मह्यं वरुणो ददातु" (यजु० ७।४७)—"वरुण तुझे रुद्र के लिए मुझे दे।" इसको वरुण ने रुद्र के लिए दिया था। "सोऽमृतत्त्वमशीय प्राणो दात्र ऽएधि वयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे" (यजु० ७।४७)—"मुझे अमृतत्व मिले। दाता को प्राण

मह्यं प्रतिग्रहीत्रऽइति ॥२९॥ अथ वासः प्रत्येति । बृहस्पतये त्वा मह्यं वरुणो ददाविति बृहस्पतये ह्येतद्वरुणोऽददात्सोऽमृतत्वमशीय त्वग्दात्रऽएधि मयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रऽइति ॥३०॥ अथाश्वं प्रत्येति । यमाय त्वा मह्यं वरुणो ददाविति यमाय ह्येतं वरुणोऽददात्सोऽमृतत्वमशीय हयो दात्रऽएधि वयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रऽइति ॥३१॥ अथ यदन्यद्ददाति । कामेनैव तद्ददातीदं मेऽप्यमुत्रासदिति तत्प्रत्येति कोऽदात्कस्माऽअदात्कामोऽदात्कामायादात् । कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामैतत्तऽइति तद्देवतायाऽअतिदिशति ॥३२॥ तदाहुः । न देवतायाऽअतिदिशेदिदं वै यां देवताᳫं समिन्द्धे सा दीप्यमाना श्वः-श्वः श्रेयसी भवतीदं वै यस्मिन्नग्नावभ्यादधति स दीप्यमान एव श्वः-श्वः श्रेयान्भवति श्वः-श्वो ह वै श्रेयान्भवति य एवं विद्वान्प्रतिगृह्णाति तद्यथा समिद्धे जुहुयादेवमेतां जुहोति याममधीयते ददाति तस्मादधीयन्नातिदिशेत् ॥३३॥ ब्राह्मणम् ॥ १ [३. ४.] ॥ ॥

त्रया वै देवाः । वसवो रुद्रा आदित्यास्तेषां विभक्तानि सवनानि वसूनामेव प्रातःसवनᳫं रुद्राणां माध्यन्दिनᳫं सवनमादित्यानां तृतीयसवनं तद्वाऽअमिश्रमेव वसूनां प्रातःसवनममिश्रᳫं रुद्राणां माध्यन्दिनᳫं सवनं मिश्रमादित्यानां तृतीयसवनम् ॥१॥ ते हादित्या ऊचुः । यथेदममिश्रं वसूनां प्रातःसवनममिश्रᳫं रुद्राणां माध्यन्दिनᳫं सवनमेवं न इमं पुरा मिश्राद्ग्रहं जुहुयेति तथेति देवा अब्रुवंस्ते सᳫंस्थितऽएव माध्यन्दिने सवने पुरा तृतीयसवनादेतमजुहवुः स एषोऽप्येतर्हि तथैव ग्रहो हूयते सᳫंस्थितऽएव माध्यन्दिने सवने पुरा तृतीयसवनात् ॥२॥ ते हादित्या ऊचुः । नेव वाऽइतरस्मिन्त्सवने स्मो नेवेतरस्मिन्यद्वै नो रक्षाᳫंसि न हिᳫंस्युरिति ॥३॥ ते ह द्विदेवत्यानूचुः । रक्षोभ्यो वै बिभीमो हन्त युष्मान्प्रविशामेति ॥४॥ ते ह द्विदेवत्या ऊचुः । किमस्माकं ततः स्यादित्यस्माभिरनुवषट्कृता भविष्यथेत्यु हादित्या ऊचुस्तथेति ते द्विदेवत्यान्प्राविशन् ॥५॥

मिलें। मुझ लेनेवाले को वय अर्थात् आयु मिले" ॥२९॥

अब कपड़ा यह पढ़कर लेता है, "बृहस्पतये त्वा मह्यं वरुणो ददातु" (यजु० ७।४७)—"वरुण तुझे बृहस्पति के लिए मुझे दे।" वरुण ने इसे बृहस्पति को ही तो दिया था। "सोऽमृतत्त्वमशीय त्वग्दात्र ऽ एधि मयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे" (यजु० ७।४७)—"मैं अमृतत्व को पाऊँ, दाता को त्वचा मिले। मुझ लेनेवाले को सुख" ॥३०॥

अब घोड़े को यह पढ़कर लेता है, "यमाय त्वा मह्यं वरुणो ददातु" (यजु० ७।४७)—"वरुण तुझे यम के लिए मुझे दे।" वरुण ने इसको यम को दिया था। "सोऽमृतत्त्वमशीय हयो दात्र ऽ एधि वयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे" (यजु० ७।४७)—"मैं अमरतत्त्व को पाऊँ, घोड़ा दाता के लिए। आयु मुझ लेनेवाले के लिए" ॥३१॥

अब और जो कुछ देता है इस कामना से देता है कि जो मैं यहाँ दूँ वह मुझको उस लोक में मिले। उसको इस मन्त्र से लेता है, "कोऽदात् कस्मा ऽ अदात् कामोऽदात् कामायादात्। कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामैतत्ते" (यजु० ७।४८)—"किसने दिया, किसको दिया, कामना ने दिया, कामना को दिया। कामना ही देनेवाली, कामना ही लेनेवाली। हे कामना! यह सब तुझको।" इस प्रकार वह इसको एक देवता के लिए निश्चित कर देता है ॥३२॥

इस पर कुछ लोग कहते हैं कि किसी देवता को अतिदेश न करे। जिस-जिस देवता को प्रज्वलित करता है वह देवता प्रकाशित होता और उसकी शोभा दिन-प्रतिदिन बढ़ती है। जिस अग्नि में ईंधन डाला जाता है वह प्रकाशित होती है और उसकी शोभा दिन-प्रतिदिन बढ़ती है। जो इस रहस्य को समझकर (दक्षिणा) लेता है उसकी शोभा दिन-प्रतिदिन बढ़ती जाती है। जैसे जलती हुई अग्नि में ही आहुति डालते हैं उसी प्रकार पढ़े हुए को ही दान देता है। इसलिए विद्वान् को चाहिए कि किसी देवता को अतिदेश न करे ॥३३॥

आदित्यग्रहः

अध्याय ३—ब्राह्मण ५

देव तीन प्रकार के हैं—वसु, रुद्र, आदित्य। सवन इन्हीं में बँटे हुए हैं। प्रातःसवन केवल वसुओं का है, दोपहर का रुद्रों का और तीसरा सवन आदित्यों का। प्रातःसवन वसुओं का, बिना साझे का है। दोपहर का सवन रुद्रों का, बिना साझे का है। लेकिन तीसरे सवन में आदित्यों के साथ दूसरों का भी साझा है ॥१॥

आदित्यों ने कहा, 'चूँकि प्रातःसवन में वसुओं के साथ किसी का साझा नहीं, दोपहर में रुद्र के साथ किसी का साझा नहीं, इसलिए इस प्रकार हमारे लिए भी एक ग्रह की आहुति दो, पूर्व इसके कि सबका मिश्रित सवन हो।' देवों ने कहा 'अच्छा।' दोपहर की समाप्ति पर तीसरे सवन से पहले-पहले उन्होंने आहुति दे दी। इसी प्रकार अब तक भी इस ग्रह की आहुति दी जाती है। दोपहर के सवन की समाप्ति पर और तीसरे सवन के पहले-पहले ॥२॥

आदित्य बोले, 'हम न तो पहले सवन में साझी हैं, न दूसरे में। ऐसा न हो कि राक्षस हमको हानि पहुँचावें' ॥३॥

उन्होंने द्विदेवत्य अर्थात् उन ग्रहों से जिनमें दो देवताओं का साझा है, कहा, 'हम राक्षसों से डरते हैं। ऐसा करो कि हम तुममें घुस बैठें' ॥४॥

उन द्विदेवत्य ग्रहों ने उत्तर दिया, 'हमको इससे क्या लाभ होगा?' आदित्यों ने कहा कि 'हमारे साथ अनुवषट्कार में तुम्हारा भी साझा होगा।' उन्होंने कहा 'अच्छा' और वे द्विदेवत्य ग्रहों में घुस बैठे ॥५॥

स यत्र प्रातःसवने । द्विदेवत्यैः प्रचरति तत्प्रतिप्रस्थातादित्यपात्रेण द्रोणकलशा-
त्प्रतिनिगृह्णीतऽउपयामगृहीतोऽसीत्येतावताध्वर्युरेवाश्रावयत्यध्वर्योरनु होमं जु-
होति प्रतिप्रस्थातादित्येभ्यस्त्वेति सꣳस्रवमवनयत्येतावतैवमेव सर्वेषु ॥६॥ तद्य-
त्प्रतिप्रस्थाता प्रतिनिगृह्णीते । द्विदेवत्यान्वै प्राविशन्नस्माभिरनुवषट्कृता भवि-
ष्यथेत्यु हादित्या ऊचुर्या वाऽअमूं द्वितीयामाहुतिं जुहोति स्विष्टकृते वै तां जु-
होति स्विष्टकृतो वाऽएतेऽनुवषट्क्रियन्ते तथो हास्यैतेऽनुवषट्कृता इष्टस्विष्ट-
कृतो भवन्त्युत्तरार्धे जुहोत्येषा ह्येतस्य देवस्य दिक्तस्मादुत्तरार्धे जुहोति ॥७॥
यद्वेव प्रतिप्रस्थाता प्रतिनिगृह्णीते । द्विदेवत्यान्वै प्राविशन्त्स यानेव प्राविशंस्ते-
भ्य एवैतन्निर्मिमीतेऽथापिदधाति रक्षोभ्यो ह्यबिभयुर्विष्णऽउरुगायैष ते सोमस्तꣳ
रक्षस्व मा त्वा दभन्निति यज्ञो वै विष्णुस्तद्यज्ञायैवैतत्परिददाति गुप्त्याऽअथाह
सꣳस्थितऽएव माध्यन्दिने सवने पुरा तृतीयसवनादेहि यजमानेति ॥८॥ ते
सम्प्रपद्यन्ते । अध्वर्युश्च यजमानश्चाग्नीध्रश्च प्रतिप्रस्थाता चोन्नेताथ योऽन्यः परिचरो
भवत्युभे द्वारेऽअपिदधति रक्षोभ्यो ह्यबिभयुरथाध्वर्युरादित्यस्थालीं चादित्यपात्रं
चादत्ते स उपर्युपरि पूतभृतं विगृह्णाति नेद्यवश्चोतादिति ॥९॥ अथ गृह्णाति । क-
दा चन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे । उपोपेन्नु मघवन्भूय इन्नु ते दानं देवस्य
पृच्यतऽआदित्येभ्यस्त्वेति ॥१०॥ तं वै नोपयामेन गृह्णीयात् । अग्रे ह्येवैष उप-
यामेन गृहीतो भवत्यजामितायै जामि ह कुर्याद्यदेनमत्राप्युपयामेन गृह्णीयात्
॥११॥ अथापगृह्य पुनरानयति । कदा चन प्रयुच्छस्युभे निपासि जन्मनी । तुरी-
यादित्य सवनं तऽइन्द्रियमातस्थावमृतं दिव्यादित्येभ्यस्त्वेति ॥१२॥ अथ दधि गृ-
ह्णाति । आदित्यानां वै तृतीयसवनमादित्यान्वाऽअनु पशवस्तत्पशुष्वेवैतत्पयो
दधाति तदिदं पशुषु पयो हितं मध्यत-इव गृह्णीयादित्याहुर्मध्यत-इव हीदं प-
शूनां पय इति पश्चादिव त्वेव गृह्णीयात्पश्चादिव हीदं पशूनां पयः ॥१३॥ यद्वेव

इसलिए जब प्रातःसवन में (अध्वर्यु) द्विदेवत्य ग्रहों को तैयार करता है तो प्रतिप्रस्थाता द्रोण कलश से आदित्य-पात्र में इस मन्त्र से सोम निकालता है, "उपयामगृहीतोऽसि" (यजु० ८।१)। अब अध्वर्यु श्रौषट् कहता है और उसके आहुति देने के पश्चात् प्रतिप्रस्थाता। "आदित्येभ्यस्त्वा" (यजु० ८।१) कहकर बचे-खुचे को (आदित्य-स्थाली में) छोड़ देता है। इसी प्रकार अन्य सब (द्विदेवत्य ग्रहों में भी ऐसा ही होता है) ।।६।।

प्रतिप्रस्थाता (सोमरस को) क्यों लेता है? इसलिए कि द्विदेवत्य ग्रहों में प्रवेश करते आदित्यों ने कहा कि हमारे अनुवषट्कार में तुम्हारा भी हिस्सा होगा। यह जो दूसरी आहुति देता है वह अग्नि-स्विष्टकृत् के लिए देता है, स्विष्टकृत् से ही अनुवषट्कार हो जाता है। इस प्रकार यह स्विष्टकृत् के लिए दी हुई आहुतियाँ अनुवषट्कार से युक्त हो जाती हैं। वह उत्तरार्द्ध में आहुति देता है क्योंकि उस देवता की दिशा यही है। इसलिए उत्तरार्द्ध में आहुति देता है ।।७।।

प्रतिप्रस्थाता इसलिए भी लेता है कि वे द्विदेवत्य ग्रहों में घुस गए। जिनमें वे घुस गए उनमें से वह लेता है। चूँकि वे राक्षसों से डरते थे, इसलिए वह इस मन्त्र से ढक देता है, "विष्ण ऽ उरुगायैँष ते सोमस्तँ् रक्षस्व मा त्वा दभन्" (यजु० ८।१)—"हे ऊर्ध्वगति वाले विष्णु, यह सोम तुम्हारे लिए है। इसकी रक्षा करो, जिससे वे तुमको हानि न पहुँचा सकें।" विष्णु यज्ञ है। यज्ञ को ही वह देता है रक्षा के लिए। अब दोपहर के सवन की समाप्ति पर और तृतीय सवन के पहले वह कहता है 'यजमान, यहाँ आओ' ।।८।।

ये सब (हविर्धान में) साथ घुसते हैं—अध्वर्यु, यजमान, आग्नीध्र, प्रतिप्रस्थाता, और इनके साथ दूसरा जो कोई परिचर हो। दोनों द्वारों को बन्द कर देता है क्योंकि वे राक्षसों से डरते थे। अब अध्वर्यु आदित्य-स्थाली और आदित्य-पात्र को लेता है और पूतभृत के ऊपर रखता है कि कहीं सोमरस गिर न जाय ।।९।।

अब वह (स्थाली में से पात्र में) इस मन्त्र से लेता है, "कदा चन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे। उपोपेन्नु मघवन् भूय ऽ इन्नु ते दानं देवस्य पृच्यत ऽ आदित्येभ्यस्त्वा" (यजु० ८।२, ऋ० ८।५१।७)—"हे इन्द्र, तू कभी संकुचित नहीं होता। तू दानशील सेवक के सदा समीप रहता है। हे शक्तिशाली मघवा! तुझ देव का दान अधिक बढ़ता है। हे ग्रह! तुझको आदित्यों के लिए" ।।१०।।

'उपयाम गृहीतोऽसि' कहकर न ले। ऐसा कहकर तो आगे ही निकाला था। पुनरुक्ति से बचने के लिए। यदि 'उपयाम' कहकर लेगा तो अवश्य ही पुनरुक्ति-दोष लगेगा ।।११।।

(उस ग्रह को एक बार कुछ) हटाकर फिर उसी में (सोम रस) लेता है, इस मन्त्र से—"कदा चन प्रयुच्छस्युभे निपासि जन्मनी। तुरीयादित्य सवनं त ऽ इन्द्रियमातस्थावमृतं दिव्यादित्येभ्यस्त्वा" (यजु० ८।३, ऋ० ८।५२।७)—"हे आदित्य! तुम कभी आलस्य नहीं करते। तुम दोनों जन्मों की रक्षा करते हो। आपका जो यह तीसरा (या चौथा) सवन है, उस दिव्य सवन में आपका 'इन्द्रियं अमृतं' अर्थात् पराक्रमशील अमरत्व रक्खा हुआ है। हे ग्रह! तुझको आदित्य के लिए ।।१२।।

अब दही लेता है। तीसरा सवन आदित्य का है। पशु आदित्यों के पीछे हैं। इस प्रकार पशुओं में दूध रखता है। इसीलिए तो पशुओं में दूध होता है। कुछ लोग कहते हैं कि 'इस ग्रह को ठीक बीच में रक्खे; क्योंकि पशुओं के मध्य में ही दूध होता है', परन्तु उसको कुछ पीछे हटाकर रखना चाहिए क्योंकि पशुओं में दूध कुछ पीछे की ओर ही होता है ।।१३।।

दधि गृह्णाति । हुतोच्छिष्टा वाऽएते सꣳस्रवा भवन्ति नालमाहुत्यै तानेवैतत्पुनराप्याययति तथालमाहुत्यै भवन्ति तस्माद्दधि गृह्णाति ॥१४॥ स गृह्णाति । यज्ञो देवानां प्रत्येति सुम्नमादित्यासो भवता मृडयन्तः । आ वोऽर्वाची सुमतिर्ववृत्यादꣳहोश्चिद्या वरिवोवित्तरासदादित्येभ्यस्त्वेति ॥१५॥ तमुपाꣳशुसवनेन मेक्षयति । विवस्वान्वाऽएष आदित्यो निदानेन यदुपाꣳशुसवन आदित्यग्रहो वाऽएष भवति तदेनꣳ स्वऽएव भागे प्रीणाति ॥१६॥ तं न दशाभिर्न पवित्रेणोपस्पृशति एते वै शुक्रवती रसवती सवने यत्प्रातःसवनं च माध्यन्दिनं च सवनमथैतन्निर्धीतशुक्रं यत्तृतीयसवनꣳ स यन्न दशाभिर्न पवित्रेणोपस्पृशति तेनो हास्यैतच्छुक्रवद्रसवत्तृतीयसवनं भवति तस्मान्न दशाभिर्न पवित्रेणोपस्पृशति ॥१७॥ स मेक्षयति । विवस्वन्नादित्यैष ते सोमपीथस्तस्मिन्मत्स्वेत्यथोन्नेत्रऽउपाꣳशुसवनं प्रयच्छत्यथाहोन्नेतारमासृज ग्राव्ण इति तानाधवनीये वासृजति चमसे वा ॥१८॥ राजानमुन्नीय । आदित्यानां वै तृतीयसवनमादित्यान्वाऽअनु ग्रावाणस्तदेनान्त्स्वऽएव भागे प्रीणात्यपोर्णुवन्ति द्वारे ॥१९॥ अथापिधायोपनिष्क्रामति । रक्षोभ्यो ह्यबिभयुरथाहादित्येभ्योऽनुब्रूहीत्यत्र सम्पश्येद्यदि कामयेताश्राव्य त्वेव सम्पश्येदादित्येभ्यः प्रेष्य प्रियेभ्यः प्रियधामभ्यः प्रियव्रतेभ्यो महस्स्वसरस्य पतिभ्य उरोरन्तरिक्षस्याध्यक्षेभ्य इति वषट्कृते जुहोति नानुवषट्करोति नेत्पशूनग्नौ प्रवृणजानीति प्रयच्छति प्रतिप्रस्थात्रे सꣳस्रवौ ॥२०॥ अथ पुनः प्रपद्य । आग्रयणमादत्तऽउदीचीनदशं पवित्रं वितन्वन्ति प्रस्कन्दयत्यध्वर्युराग्रयणस्य सम्प्रगृह्णाति प्रतिप्रस्थाता सꣳस्रवावानयत्युन्नेता चमसेन वोदञ्चनेन वा ॥२१॥ तं चतसृणां धाराणामाग्रयणं गृह्णाति । आदित्यानां वै तृतीयसवनमादित्यान्वाऽअनु गावस्तस्मादिदं गवां चतुर्धाविहितं पयस्तस्माच्चतसृणां धाराणामाग्रयणं गृह्णाति ॥२२॥ त यत्प्रतिप्रस्थाता सꣳस्रवौ सम्प्रगृह्णाति । आदित्यग्रहो वाऽएष भवति न वा

दही इसलिए लेता है कि यह जो बचा-खुचा सोमरस होता है वह आहुतियों के लिए काफी नहीं होता। उसको दही से बढ़ा लेता है और यह दही के लिए काफी हो जाता है। इसलिए दही मिलाता है ॥१४॥

वह इस मन्त्र से लेता है, "यज्ञो देवानां प्रत्येति सुम्नमादित्यासो भवता मृडयन्तः। आ वोऽर्वाची सुमतिर्ववृत्याद॑ँहोश्चिद्या वरिवोवित्तरासदात्। आदित्येभ्यस्त्वा" (यजु० ८।४; ऋ० १।१०७।१)—"यज्ञ देवों के साथ सुख के लिए आता है। हे आदित्यो! कृपा करो। आपकी सुमति हमारे समक्ष हो।" यज्ञ देवों के सुख का सम्पादन करता है। हे आदित्यो! आप हमको सुख देनेवाले हों। आपकी अच्छी मति (सुमति) हमारे समक्ष आवे (अर्थात् हम सुमतिवाले हों)। जो मति दरिद्रतायुक्त मनुष्य को भी अत्यन्त धन देनेवाली है वह भी हमारे समक्ष आवे। हे ग्रह, तुझको आदित्य के लिए" ॥१५॥

उपांशु सवन पत्थर से पीसकर उसको मिलाता है। यह जो उपांशु सवन है वह तो वास्तव में आदित्य विवस्वान् (सूर्य) ही है और यह आदित्य का ग्रह है। इस प्रकार इसको इसी के भाग से प्रसन्न करता है ॥१६॥

इसको न झालर से और न पवित्रे से छूता है। ये जो प्रातःसवन और दोपहर के सवन हैं ये दोनों शुक्रवाले और रसवाले हैं। परन्तु यह जो तीसरा सवन है वह सोम से शून्य है (सोम इसमें से निकल चुका है)। झालर या पवित्रे से न छूने से यह शुक्रवाला और रसवाला हो जाता है। इसलिए वह न झालर से और न पवित्रे से छूता है ॥१७॥

वह इस मन्त्र से मिलाता है, "विवस्वन्नादित्यैष ते सोमपीथस्तस्मिन् मत्स्व" (यजु० ८।५)—"हे प्रतापी आदित्य! आ! यह तेरा सोम-भाग है। इससे तृप्त हो।" अब उपांशु सवन को उन्नेता को दे देता है। फिर उन्नेता से कहता है, 'ग्रावा (पत्थर) को डाल दे।' उसको आधवनीय या चमसे में डाल देता है ॥१८॥

सोम राजा को निकालकर—तीसरा सवन आदित्यों का है। ये पत्थर भी आदित्य ही हैं। इस प्रकार इनको इन्हीं के भाग से प्रसन्न करता है। अब दरवाजे को खोल देते हैं ॥१९॥

उस ग्रह को ढककर बाहर निकल आता है, क्योंकि आदित्यों को राक्षसों से भय था। अब वह कहता है कि आदित्यों के लिए अनुवाक कहो। यदि चाहे तो (उनके गुणों को) गिना दे। श्रौषट् कहकर गिनावे, इस प्रकार—'प्रिय, प्रियधाम, प्रियव्रत, महान् घर के पति, बड़े अन्तरिक्ष के अधिपति, आदित्यों के लिए प्रेरणा कर।' वषट्कार करके आहुति देता है। अनु-वषट्कार नहीं किया जाता कि कहीं पशुओं को अग्नि के समर्पण न कर दे। बचा-खुचा प्रति-प्रस्थाता को दे देता है ॥२०॥

अब वह फिर (हविर्धान में) आकर आग्रयण को लेता है। उत्तर की ओर झालर और पवित्रे को फैला देते हैं। अध्वर्यु आग्रयण में से (रस) उँडेलता है। प्रतिप्रस्थाता बचे-खुचे दोनों भागों को पकड़ता है। उन्नेता (आधवनीय में से) कुछ रस मिलाता है, चमसे या उदंचन से ॥२१॥

इस प्रकार आग्रयण को चार धाराओं में लेता है। तीसरा सवन आदित्यों का है। गायें आदित्यों के पीछे हैं। इसीलिए गायों का दूध चार प्रकार का होता है। इसलिए आग्रयण को चार धाराओं में लेता है ॥२२॥

प्रतिप्रस्थाता उन बचे-खुचे दोनों भागों को इसलिए पकड़ता है कि बचा-खुचा आदित्य

ऽआदित्यग्रहस्यानुवषट्करोत्येतस्माद्धि सावित्रं ग्रहं ग्रहीष्यन्भवति तदस्य सावि-
त्रेणैवानुवषट्कृतो भवति ॥२३॥ यद्वेव प्रतिप्रस्थाता सꣳस्रवौ सम्प्रगृह्णाति ।
पुरा वाऽएभ्य एतन्मिश्राद्ग्रहमग्रहीषुः पुरा तृतीयसवनात्तृतीयसवनाय वाऽएष
ग्रहो गृह्यते तदादित्यास्तृतीयसवनमपियन्ति तथा न बहिर्धा यज्ञाद्भवन्ति तस्मा-
त्प्रतिप्रस्थाता सꣳस्रवौ सम्प्रगृह्णाति ॥२४॥ ब्राह्मणम् ॥ २ [३. ५.] ॥ तृतीयो
ऽध्यायः [२७.] ॥ ॥

मनो ह वाऽअस्य सविता । तस्मात्सावित्रं गृह्णाति प्राणो ह वाऽअस्य स-
विता तमेवास्मिन्नेतत्पुरस्तात्प्राणं दधाति यदुपाꣳशुं गृह्णाति तमेवास्मिन्नेतत्प-
श्चात्प्राणं दधाति यत्सावित्रं गृह्णाति ताविमाऽउभयतः प्राणौ हितौ यश्चायमुप-
रिष्टाद्यश्चाधस्तात् ॥१॥ ऋतवो वै संवत्सरो यज्ञः । तेऽदः प्रातःसवने प्रत्यक्षम-
वकल्पन्ते यदृतुग्रहान्गृह्णात्यथैतत्परोऽक्षं माध्यन्दिने सवनेऽवकल्पन्ते यदृतुपा-
त्राभ्यां मरुत्वतीयान्गृह्णाति न वाऽअत्रऽर्तुभ्य इति कं चन ग्रहं गृह्णन्ति नऽर्तुपा-
त्राभ्यां कश्चन ग्रहो गृह्यते ॥२॥ एष वै सविता य एष तपति । एष उऽएव
सर्वऽऋतवस्तदृतवः संवत्सरस्तृतीयसवने प्रत्यक्षमवकल्पन्ते तस्मात्सावित्रं गृ-
ह्णाति ॥३॥ तं वाऽउपाꣳशुपात्रेण गृह्णाति । मनो ह वाऽअस्य सविता प्राण
उपाꣳशुस्तस्मादुपाꣳशुपात्रेण गृह्णात्यन्तर्यामपात्रेण वा समानꣳ ह्येतद्यदुपाꣳश्वन्त-
र्यामौ प्राणोदानौ हि ॥४॥ आग्रयणाद्गृह्णाति । मनो ह वाऽअस्य सवितात्मा-
ग्रयण आत्मन्येवैतन्मनो दधाति प्राणो ह वाऽअस्य सवितात्माग्रयण आत्मन्ये-
वैतत्प्राणं दधाति ॥५॥ अथातो गृह्णात्येव । वाममद्य सवितर्वाममु श्वो दिवे-दि-
वे वाममस्मभ्यꣳ सावीः । वामस्य हि क्षयस्य देव भूरेरया धिया वामभाजः स्याम
। उपयामगृहीतोऽसि सावित्रोऽसि चनोधाश्चनोधा असि चनो मयि धेहि । जि-
न्व यज्ञं जिन्व यज्ञपतिं भगायेति ॥६॥ तं गृहीत्वा न सादयति । मनो ह वा

ग्रह का है। आदित्य ग्रह का अनुवषट्कार तो होता नहीं। इसी आदित्य ग्रह से तो सावित्र ग्रह को निकालेंगे। इस प्रकार सावित्र ग्रह के द्वारा इसका भी अनुवषट्कार हो जायगा ॥२३॥

प्रतिप्रस्थाता उन शेष भागों को इसलिए भी पकड़ता है कि इस मिश्रण कृत्य के पहले, तीसरे सवन से पहले (आदित्यों के लिए) ग्रह दिया जा चुका है। यह ग्रह तीसरे सवन के लिए है। इस प्रकार आदित्य इस सवन में भी भाग ले लेते हैं और यज्ञ से निकाले नहीं जाते। इसलिए प्रतिप्रस्थाता उन शेष भागों को लेता है ॥२४॥

सावित्रग्रहः

अध्याय ४—ब्राह्मण १

सविता इस (यज्ञ) का मन है। इसलिए सावित्र ग्रहों को लेता है। सविता इसका प्राण भी है। जब उपांशु ग्रह को लेता है तो प्राण को आगे रख लेता है, और जब सावित्र ग्रहों को लेता है तो प्राण को पीछे रख लेता है। इस प्रकार वे दोनों प्राण हितकर हो जाते हैं, वह जो ऊपर है और वह जो नीचे ॥१॥

यज्ञ ऋतुएँ या संवत्सर है। प्रातःसवन में तो ऋतुएँ प्रत्यक्ष रीति से मनाई जाती हैं क्योंकि ऋतु-ग्रहों को निकाला जाता है। दोपहर के सवन में परोक्ष रीति से, क्योंकि दोनों ऋतु-पात्रों में मरुत्वती ग्रहों को निकाला जाता है। यहाँ न तो ऋतुओं के लिए कोई ग्रह निकाला जाता है और न ऋतु-पात्रों में ही किसी ग्रह को निकालते हैं ॥२॥

यह जो तपता है वही तो सविता है। यही सब ऋतुएँ हैं। इस प्रकार ऋतुएँ या संवत्सर तीसरे सवन में प्रत्यक्ष रूप से मनाये जाते हैं। इसलिए सावित्र ग्रह को लेता है ॥३॥

उसको उपांशु पात्र में लेता है। इसका मन सविता है और प्राण उपांशुपात्र। इसलिए उपांशुपात्र से लेता है, या अन्तर्याम पात्र से। क्योंकि ये तो समान ही है। उपांशु और अन्तर्याम प्राण और उदान हैं ॥४॥

आग्रयण में से लेता है। इसका मन सविता है औरआत्मा आग्रयण। इस मन को आत्मा में ही रखता है; इसका प्राण सविता है, और आत्मा आग्रयण। इस प्रकार आत्मा में ही प्राण को रखता है ॥५॥

इस मन्त्र से लेता है, "वाममद्य सवितर्वाममु श्वो दिवे दिवे। वाममस्मभ्यꣳ सावीः। वामस्य हि क्षयस्य देव भूरेरया धिया वामभाजः स्याम॥ उपयामगृहीतोऽसि सावित्रोऽसि चनोधाश्चनोधा ऽ असि चनो मयि धेहि। जिन्व यज्ञं जिन्व यज्ञपतिं भगाय" (यजु० ८।६-७; ऋ० ६।७१।६)—"हे सविता! आज और कल, प्रतिदिन हमारे लिए उत्तम फल की प्रेरणा कर। हे देव! बहुत बड़े सुखवाले निवास को हम इस बुद्धि से पावें।"—"तुझे आश्रय के लिए लिया गया है। तू सावित्र ग्रह है। तू आनन्द देनेवाला है। मुझे आनन्द दे। यज्ञ को तृप्त कर। यज्ञपति को तृप्त कर। भाग्य के लिए" ॥६॥

उसको लेकर भूमि पर नहीं रखता। सविता इस यज्ञ का मन है। यह मन चलायमान

ऽअस्य सविता तस्मादिदमसन्नं मनः प्राणो ह वाऽअस्य सविता तस्मादयमसन्नः प्राणः संचरत्यथाह देवाय सवित्रेऽनुब्रूहीत्याश्राव्याह देवाय सवित्रे प्रेष्येति वषट्कृते जुहोति नानुवषट्करोति मनो ह वाऽअस्य सविता नेन्मनोऽग्नौ प्रवृणजानीति प्राणो ह वाऽअस्य सविता नेत्प्राणमग्नौ प्रवृणजानीति ॥७॥ अथाभह्नितेन पात्रेण । वैश्वदेवं ग्रहं गृह्णाति तद्यदभह्नितेन पात्रेण वैश्वदेवं ग्रहं गृह्णाति न वै सावित्रस्यानुवषट्करोत्येतस्माद्धि वैश्वदेवं ग्रहं ग्रहीष्यन्भवति तदस्य वैश्वदेवेनैवानुवषट्कृतो भवति ॥८॥ यद्वेव वैश्वदेवं ग्रहं गृह्णाति । मनो ह वाऽअस्य सविता सर्वमिदं विश्वे देवा इदमेवैतत्सर्वं मनसः कृतानुकरमनुवर्त्म करोति तदिदꣳ सर्वं मनसः कृतानुकरमनुवर्त्म ॥९॥ यद्वेव वैश्वदेवं ग्रहं गृह्णाति । प्राणो ह वाऽअस्य सविता सर्वमिदं विश्वे देवा अस्मिन्नेवैतत्सर्वस्मिन्प्राणोदानौ दधाति ताविमावस्मिन्त्सर्वस्मिन्प्राणोदानौ हि तौ ॥१०॥ यद्वेव वैश्वदेवं ग्रहं गृह्णाति । वैश्वदेवं वै तृतीयसवनं तदुच्यतऽएव सामतो यस्माद्वैश्वदेवं तृतीयसवनमुच्यतऽऋक्तोऽथैतदेव यजुष्टः पुरश्चरणतो यदेतं महावैश्वदेवं गृह्णाति ॥११॥ तं वै पूतभृतो गृह्णाति । वैश्वदेवो वै पूतभृत्तो हि देवेभ्य उन्नयन्त्यतो मनुष्येभ्योऽतः पितृभ्यस्तस्माद्वैश्वदेवः पूतभृत् ॥१२॥ तं वाऽअपुरोरुक्कं गृह्णाति । विश्वेभ्यो ह्येनं देवेभ्यो गृह्णाति सर्वं वै विश्वे देवा यदृचो यद्यजूꣳषि यत्सामानि स यद्वैनं विश्वेभ्यो देवेभ्यो गृह्णाति तेनो हास्यैष पुरोरुङ्मान्भवति तस्मादपुरोरुक्कं गृह्णाति ॥१३॥ अथातो गृह्णात्येव । उपयामगृहीतोऽसि सुशर्मासि सुप्रतिष्ठान इति प्राणो वै सुशर्मा सुप्रतिष्ठानो बृहदुक्षाय नम इति प्रजापतिर्वै बृहदुक्षः प्रजापतये नम इत्येवैतदाह विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य इति सादयति विश्वेभ्यो ह्येनं देवेभ्यो गृह्णात्यथेत्य प्राङुपविशति ॥१४॥ स यत्रैताꣳ होता शꣳसति । एकया च दशभिश्च स्वभूते द्वाभ्यामिष्टये

होता है। सविता इसका प्राण है। प्राण चलायमान होता है। अब वह मैत्रावरुण से कहता है 'सविता देव के लिए अनुवाक कहो।' श्रौषट् कहकर कहता है कि 'देव सविता के लिए आहुति दे।' वषट्कार आहुति देता है। अनुवषट्कार नहीं करता। सविता इसका मन है। ऐसा न हो कि मन अग्नि के अर्पण हो जाय। सविता इसका प्राण है। ऐसा न हो कि प्राण अग्नि के अर्पण हो जाय ।।७।।

अब बिना जूठा किये (अभक्षित) पात्र से वैश्वदेव ग्रह को लेता है। वैश्वदेव ग्रह को अभक्षित पात्र से इसलिए निकालता है कि सावित्र ग्रह का अनुवषट्कार तो होता नहीं। इसी से वैश्वदेव ग्रह निकालता है। इस प्रकार वैश्वदेव ग्रह के द्वारा ही उसका भी अनुवषट्कार हो जाता है ।।८।।

वैश्वदेव ग्रह इसलिए भी निकाला जाता है—सविता इस (यज्ञ) का मन है, विश्वेदेव ये सब-कुछ हैं, इस प्रकार वह इस सबको मन के आधीन कर देता है। इसीलिए यह सब-कुछ मन के आधीन होता है ।।९।।

वैश्वदेव ग्रह को इसलिए भी लेता है कि सविता इस यज्ञ का प्राण है। विश्वेदेव ये सब-कुछ हैं। इस सब में इस प्रकार प्राण और उदान को धारण कराता है। इसलिए इस सब में प्राण और उदान स्थित हैं ।।१०।।

वैश्वदेव ग्रह को इसलिए भी लेता है कि तीसरा सवन विश्वेदेवों का है। यह साम के हिसाब से भी 'वैश्वदेव' है, ऋक् के हिसाब से भी और यजुः के पुरश्चरण के हिसाब से भी, जब कि महावैश्वदेव ग्रह निकाला जाता है ।।११।।

इस ग्रह को पूतभृत में से निकालते हैं। पूतभृत वैश्वदेवों का है, क्योंकि इसी से देवों के लिए भी निकालते हैं, इसी से मनुष्यों के लिए भी और इसी से पितरों के लिए भी। इसलिए वैश्वदेव ग्रह को पूतभृत से निकालते हैं ।।१२।।

इसको बिना पुरोरुच् के निकालता है। इसको विश्वदेवों के लिए निकालता है। विश्वदेवा का अर्थ है 'सब'। अर्थात् जो कुछ ऋक् है, जो यजुः है, जो साम है। चूंकि वह इसको सब देवों के लिए निकालता है इसलिए वह इसके लिए पुरोरुच्-सम्पन्न हो जाता है। इसलिए उसको बिना पुरोरुच् के निकालता है ।।१३।।

उसको इस प्रकार निकालता है, "उपयामगृहीतोऽसि सुशर्मासि सुप्रतिष्ठानः" (यजु० ८।८)—"तू आश्रय के लिए लिया गया है। तू सुरक्षित और सुप्रतिष्ठित है।" प्राण ही सुशर्मा और सुप्रतिष्ठान है। "बृहदुक्षाय नमः" (यजु० ८।८)—'बृहदुक्ष' का अर्थ है प्रजापति, तात्पर्य यह है कि "प्रजापति के लिए नमः।" "विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य ऽएष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः" (यजु० ८।८)—"सब देवों के लिए तुझे। यह तेरा स्थान है, सब देवों के लिए तुझे।" यह कहकर उसे रख देता है क्योंकि इसको यह विश्वेदेवों के लिए लेता है। अब वह (सदस् में) जाता है और (होता के सामने) पूर्वाभिमुख बैठता है ।।१४।।

"एकया च दशभिश्च स्वभूते द्वाभ्यामिष्टये विꣳशती च। तिसृभिश्च वहसे त्रिꣳशता

विꣳशती च । तिसृभिश्च वहसे त्रिꣳशता च नियुद्भिर्वायविह ता विमुञ्चेति तदेतस्यां वायव्यायामृचि पात्राणि विमुच्यन्ते वायुप्रणेत्रा वै पशवः प्राणो वै वायुः प्राणेन हि पशवश्चरन्ति ॥१५॥ स ह देवेभ्यः पशुभिरपचक्राम । तं देवाः प्रातःसवनेऽन्वमन्त्रयन्त स नोपाववर्त तं माध्यन्दिने सवनेऽन्वमन्त्रयन्त स ह नैवोपाववर्त तं तृतीयसवनेऽन्वमन्त्रयन्त ॥१६॥ स होपावर्त्स्यन्नुवाच । यद्द उपावर्तेय किं मे ततः स्यादिति त्वय्येवैतानि पात्राणि युज्येरंस्त्वया विमुच्येरन्निति तदेनेनैतत्पात्राणि युज्यन्ते यदैन्द्रवायवाग्रान्प्रातःसवने गृह्णन्त्यथैनेनैतत्पात्राणि विमुच्यन्ते यदाह नियुद्भिर्वायविह ता विमुञ्चेति पशवो वै नियुतस्तत्पशुभिरेवैतत्पात्राणि विमुच्यन्ते ॥१७॥ स यत्प्रातःसवनऽउपावर्त्स्यत् । गायत्रं वै प्रातःसवनं ब्रह्म गायत्री ब्राह्मणेषु ह पशवोऽभविष्यन्नथ यन्माध्यन्दिने सवनऽउपावर्त्स्यदैन्द्रं वै माध्यन्दिनꣳ सवनं क्षत्रमिन्द्रः क्षत्रियेषु ह पशवोऽभविष्यन्नथ यत्तृतीयसवनऽउपावर्तत वैश्वदेवं वै तृतीयसवनꣳ सर्वमिदं विश्वे देवास्तस्मादिमे सर्वत्रैव पशवः ॥१८॥ ब्राह्मणम् ॥ ३ [४. १.] ॥ ॥

सौम्येन चरुणा प्रचरति । सोमो वै देवानाꣳ हविरथैतत्सोमायैव हविष्क्रियते तथातः सोमोऽनन्तर्हितो भवति चरुर्भवति चरुर्वै देवानामन्नमोदनो हि चरुरोदनो हि प्रत्यक्षमन्नं तस्माच्चरुर्भवति ॥१॥ तेन न प्रातःसवने प्रचरति । न माध्यन्दिने सवनऽएते वै देवानां निष्केवल्ये सवने यत्प्रातःसवनं च माध्यन्दिनं च सवनं पितृदेवत्यो वै सोमः ॥२॥ स यत्प्रातःसवने वा प्रचरेत् । माध्यन्दिने वा सवने समदꣳ ह कुर्याद्देवेभ्यश्च पितृभ्यश्च तेन तृतीयसवने प्रचरति वैश्वदेवं वै तृतीयसवनं तथा हासमदं करोति नानुवाक्यामन्वाह सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरस्तस्मान्नानुवाक्यामन्वाह ॥३॥ अथ चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा । आश्राव्याह घृतस्य यजेति वषट्कृते जुहोति तद्या अतः प्राच्य आहुतयो

च नियुद्भिर्वायविह ता विमुंचः।"—"एक और दस (ग्यारह) से अपने लिए, दो और बीस (बाईस) से इष्टि के लिए, तीन और तीस (तेंतीस) से देवों के लिए। हे वायु, तू अपने घोड़ों की जोड़ी के द्वारा इनको छोड़।" जब होता इस वायुवाली ऋचा को पढ़ता है तो पात्र छूट जाते हैं (जैसे घोड़े हल या रथ से छोड़ दिये जाते हैं उसी प्रकार)। पशु वायु के ही अनुचर हैं (वायु ही उनका अगुआ है)। वायु प्राण है। प्राण से ही पशु चलते हैं ॥१५॥

एक बार (प्राण) देवों से निकलकर पशुओं के साथ चला गया। देवों ने उसे प्रातः-सवन में बुलाया, वह नहीं आया। दोपहर के सवन में बुलाया, वह नहीं आया। तीसरे सवन में बुलाया, तब—॥१६॥

लौटने की इच्छा करके उसने कहा, 'यदि लौट आऊँ तो मुझे क्या मिलेगा?' उन्होंने उत्तर दिया कि 'तेरे ही द्वारा ये पात्र नियुक्त हो सकेंगे और तेरे ही द्वारा खुल सकेंगे।' इसलिए ये पात्र (वायु के) द्वारा ही नियुक्त होते हैं जब प्रातःसवन में इन्द्र, वायु आदि के लिए ग्रहों को निकालते हैं। और जब कहा कि 'हे वायु, तू अपनी जोड़ियों को खोल दे' तो इसी (वायु) के द्वारा वे खुलते हैं। जोड़ी का अर्थ है पशु। इस प्रकार पशुओं द्वारा ये पात्र खोले जाते हैं ॥१७॥

अगर वह प्रातःसवन में ही लौट आया होता—प्रातःसवन गायत्री का है और गायत्री ब्राह्मण है—तो पशु केवल ब्राह्मण के ही हो जाते। यदि वह दोपहर के सवन में लौट आया होता—दोपहर का सवन इन्द्र का है, इन्द्र क्षत्रिय है—तो पशु केवल क्षत्रिय के ही हो जाते। परन्तु चूंकि वह तीसरे सवन में लौटा—तीसरा सवन विश्वेदेवों का है और विश्वेदेव का अर्थ है 'सब-कुछ', इसलिए पशु भी सर्वत्र ही होते हैं ॥१८॥

सौम्यश्चरुः, पात्नीवतग्रहश्च

अध्याय ४—ब्राह्मण २

अब सोम के चरु का कृत्य आरम्भ हुआ। सोम देवों की हवि है। अब यह सोम के लिए हवि बनाई जाती है। इस प्रकार सोम इससे अलग नहीं होता। यह चरु होता है क्योंकि चरु देवों का अन्न है। चरु भात है। भात तो प्रत्यक्ष में अन्न है। इसलिए चरु बनाया जाता है ॥१॥

यह (चरु को) न तो प्रातःसवन में बनाते हैं, न दोपहर के सवन में, क्योंकि प्रातःसवन और दोपहर का सवन केवल देवों के ही हैं। सोम पितरों का है ॥२॥

यदि (चरु) प्रातःसवन में बनाता या दोपहर के सवन में, तो देवों और पितरों में झगड़ा हो जाता। वह इसको तीसरे सवन में बनाता है क्योंकि तीसरा सवन विश्वेदेवों का है। इस प्रकार वह झगड़ा नहीं होने देता। अनुवाक नहीं पड़ता, क्योंकि पितर तो एक बार ही चले गये। इसलिए अनुवाक नहीं पढ़ता ॥३॥

पहले चार पात्रों में घी लेकर और (आग्नीध्र से) श्रौषट् कहलवाकर आदेश देता है कि 'घी की आहुति दे' और वषट्कार करके आहुति देता है। अब तक जितनी आहुतियाँ दी जा चुकीं

हुता भवन्ति ताभ्य एवैतदन्तर्दधाति तथा ह्यासमदं करोति ॥४॥ ॥शतम् २६००॥॥
स आज्यस्योपस्तीर्य । द्विरवद्यत्यथोपरिष्टादाज्यस्याभिघारयत्याश्राव्याह सौ-
म्यस्य यजेति वषट्कृते जुहोति ॥५॥ अथापरं चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा । आ-
श्राव्याह घृतस्य यजेति वषट्कृते जुहोति तद्या अत ऊर्ध्वा आहुतीर्होष्यन्भवति
ताभ्य एवैतदन्तर्दधाति तथा ह्यासमदं करोति स यदि कामयेतोभयतः परियजेद्य-
द्यु कामयेतान्यतरतः परियजेत् ॥६॥ अथ प्रचरणीति स्रुग्भवति । तस्यां चतुर्गृ-
हीतमाज्यं गृहीत्वाध्वर्युः शालाकैर्धिष्ण्यान्व्याघारयति तद्यच्छालाकैर्धिष्ण्यान्व्याघा-
रयति यद्वैनानदो देवा अब्रुवंस्तृतीयसवने वो घृत्याहुतिः प्राप्स्यति न सौ-
म्यापहृतो हि युष्मत्सोमपीथस्तेन सोमाहुतिं नार्हथेति सैनानेषा तृतीयसवन
एव घृत्याहुतिः प्राप्नोति न सौम्या यच्छालाकैर्धिष्ण्यान्व्याघारयति तानेतैरेव
यजुर्भिर्यथोपकीर्णं यथापूर्वं व्याघारयति मार्जालीयऽएवोत्तमम् ॥७॥ तद्धैके ।
आग्नीध्रीये पुनराघारयन्त्युदस्मऽइदं कर्मानुसंतिष्ठाताऽइति तदु तथा न कुर्यान्मा-
र्जालीयऽएवोत्तमꣳ ॥८॥ स यत्राध्वर्युः । शालाकैर्धिष्ण्यान्व्याघारयति तत्प्रतिप्र-
स्थाता पात्नीवतं ग्रहं गृह्णाति यज्ञाद्धै प्रजाः प्रजायन्ते यज्ञात्प्रजायमाना मिथुनात्प्र-
जायन्ते मिथुनात्प्रजायमाना अन्ततो यज्ञस्य प्रजायन्ते तदेना एतदन्ततो यज्ञस्य मि-
थुनात्प्रजननात्प्रजनयति तस्मान्मिथुनात्प्रजननादन्ततो यज्ञस्येमाः प्रजाः प्रजायन्ते
तस्मात्पात्नीवतं गृह्णाति ॥९॥ तं वाऽउपाꣳशुपात्रेण गृह्णाति । यदि सावित्रमुपाꣳ-
शुपात्रेण गृह्णीयादन्तर्यामपात्रेणैतं यदि सावित्रमन्तर्यामपात्रेण गृह्णीयादुपाꣳशुपा-
त्रेणैतꣳ समानꣳ ह्येतद्यदुपाꣳश्वन्तर्यामौ प्राणो हि यो वै प्राणः स उदानो वृषा
वै प्राणो योषा पत्नी मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते ॥१०॥ तं वाऽअपुरोरुक्कं गृ-
ह्णाति । वीर्यं वै पुरोरुङ्नेत्स्त्रीषु वीर्यं दधानीति तस्मादपुरोरुक्कं गृह्णाति ॥११॥
अथातो गृह्णात्येव । उपयामगृहीतोऽसि बृहस्पतिसुतस्य देव सोम तऽइति ब्रह्म

उनसे इसको अलग कर देता है। इस प्रकार झगड़ा नहीं होने देता ॥४॥

घी की एक तह लगाकर चरु के दो भाग करता है, और ऊपर से भी घी लगा देता है। श्रौषट् कहलवाकर कहता है 'सौम्य की आहुति दे' और वषट्कार से आहुति देता है ॥५॥

फिर चार जगह घी लेकर, श्रौषट् कहलवाकर और 'आहुति दे' ऐसा आदेश देकर वषट्कार से आहुति देता है। इस प्रकार जो आहुतियाँ आगे दी जानेवाली हैं उनसे इसको अलग कर देता है। इससे झगड़ा नहीं होने पाता। चाहे तो चरु के आगे और पीछे दोनों बार घी की आहुति दे दे, चाहे एक बार ॥६॥

एक स्रुक् का नाम है 'प्रचरणी'। उसमें चारों भाग घी लेकर अध्वर्यु शलाकाओं (लकड़ी की चीपटी) से धिष्ण्या में घी छोड़ता है। धिष्ण्या में शलाकों द्वारा घी छोड़ने का कारण यह है कि पहले कभी देवों ने उन (गन्धर्व सोम-संरक्षकों) से कहा था कि तीसरे सवन में एक घृत-आहुति तुम्हारी होगी, लेकिन सोम की नहीं। सोम-पान तो तुमसे छाना जा चुका है। तुम सोम की आहुति के योग्य नहीं हो। वही घी की आहुति तीसरे सवन में उनको प्राप्त होती है, न सोम की, क्योंकि वह धिष्ण्या में शलाकाओं पर घी छोड़ता है। उनको उन्हीं यजुओं से क्रमशः पूर्व की भाँति घी से युक्त करता है। सबसे पीछे मार्जालीय को ॥७॥

कुछ लोग आग्नीध्रीय पर फिर घी छोड़ते हैं जिससे अग्नि के उत्तर की ओर इस कार्य की समाप्ति हो। परन्तु ऐसा न करे। मार्जालीय ही सबसे अन्त में होना चाहिए ॥८॥

जब अध्वर्यु शलाकाओं द्वारा धिष्ण्या में घी छोड़े, तब प्रतिप्रस्थाता पत्नीवत ग्रह को लेवे। यज्ञ से ही प्रजा उत्पन्न होती है। यज्ञ से उत्पन्न होते हुए मिथुन (जोड़े) से पैदा होते हैं। जोड़े से पैदा होते हुए यज्ञ के पिछले भाग से पैदा होते हैं। इसलिए यहाँ वह इसको मिथुन से, यज्ञ के अन्तिम भाग से उत्पन्न करता है। इसलिए वह पत्नीवत ग्रह को लेता है ॥९॥

वह इसको उपांशु पात्र के साथ लेता है। यदि उपांशु पात्र के साथ सावित्र पात्र को लिया हो तो अन्तर्याम पात्र के साथ। यदि अन्तर्याम पात्र के साथ सावित्र को ले तो इसको उपांशु पात्र के साथ। यह सब एक ही बात है। उपांशु और अन्तर्याम दोनों ही प्राण हैं। जो प्राण है वही उदान है। प्राण नर है (प्राणः-पुंल्लिग) और पत्नी नारी है। इस प्रकार जोड़े से ही उत्पत्ति होती है ॥१०॥

इस ग्रह को पुरोरुक् के बिना ही लेता है। पुरोरुक् वीर्य है। स्त्री में तो वीर्य होता नहीं। इसलिए बिना पुरोरुक् के लेता है ॥११॥

इस मन्त्र से लेता है, "उपयामगृहीतोऽसि बृहस्पतिसुतस्य देव सोम ते" (यजु० ८।९)

वै बृहस्पतिर्ब्रह्मप्रसूतस्य देव सोम तऽइत्येवैतदाहेन्दोरिन्द्रियावत इति वीर्य-
वत इत्येवैतदाह यदाहेन्दोरिन्द्रियावत इति पत्नीवतो ग्रहां२॥ऽऋध्यासमिति न
सम्प्रति पत्नीभ्यो गृह्णाति नेत्स्त्रीषु वीर्यं दधानीति तस्मान्न सम्प्रति पत्नीभ्यो गृ-
ह्णाति ॥१२॥ अथ यः प्रचरण्याꣳ सꣳस्रवः परिशिष्टो भवति । तेनेनꣳ श्रीणाति
समर्धयति वाऽअन्यान्ग्रहाञ्छ्रीणन्नेतं व्यर्धयति वज्रो वाऽआज्यमेतेन वै देवा
वज्रेणाज्येनाघ्नन्नेव पत्नीर्निराह्णुवंस्ता हता निरष्टा नात्मनश्चनेशत न दायस्य
चनेशत तथोऽएवैष एतेन वज्रेणाज्येन हन्त्येव पत्नीर्निरह्णोति ता हता नि-
रष्टा नात्मनश्चनेशते न दायस्य चनेशते ॥१३॥ स श्रीणाति । अहं परस्तादह-
मवस्ताद्यदन्तरिक्षं तदु मे पिताभूत् । अहꣳ सूर्यमुभयतो ददर्शाहं देवानां परमं
गुहा यदिति स यदहमहमिति श्रीणाति पुꣳस्वेवैतद्वीर्यं दधाति ॥१४॥ अथाहा-
ग्नीत्पात्नीवतस्य यजेति । वृषा वाऽअग्नीद्योषा पत्नी मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते
स जुहोत्यग्नाऽ३इ पत्नीवन्निति वृषा वाऽअग्निर्योषा पत्नी मिथुनमेवैतत्प्रजननं
क्रियते ॥१५॥ सजूर्देवेन त्वष्ट्रेति । त्वष्टा वै सिक्तꣳ रेतो विकरोति तदेष एवै-
तत्सिक्तꣳ रेतो विकरोति सोमं पिब स्वाहेत्युत्तरार्धे जुहोति या इतरा आहुत-
यस्ते देवा अथैताः पत्न्य एवमिव हि मिथुनं क्लृप्तमुत्तरतो हि स्त्री पुमाꣳसमुपशे-
तऽआहरत्यध्वर्युरग्नीधे भक्षꣳ स आहाध्वर्यऽउप मा ह्वयस्वेति तं न प्रत्युपह्वयेत
को हि हतस्य निरष्टस्य प्रत्युपहवस्तं वै प्रत्येवोपह्वयेत जुह्वत्यस्याग्नौ वषट्कु-
र्वन्ति तस्मात्प्रत्येवोपह्वयेत ॥१६॥ अथ सम्प्रेष्यति । अग्नीन्नेष्टुरुपस्थमासीद नेष्टः
पत्नीमुदानयोद्गात्रा संख्यापयोन्नेतर्होतुश्चमसमनून्नय सोमं मातिरीरिच इति यद्य-
ग्निष्टोमः स्यात् ॥१७॥ यद्युक्थ्यः स्यात् । सोमं प्रभावयेति ब्रूयात्स बिभ्रदेवैत-
त्पात्रमग्नीन्नेष्टुरुपस्थमासीदत्यग्निर्वाऽएष निदानेन यदाग्नीध्रो योषा नेष्टा वृषा वा
ऽअग्नीद्योषा नेष्टा मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियतऽउदानयति नेष्टा पत्नीं तामुद्गात्रा

"तू आश्रय के लिए लिया गया है, हे बृहस्पति से उत्पन्न हुए सोम तुझको।" बृहस्पति ब्रह्म है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि हे ब्रह्म से उत्पन्न हुए सोम। "इन्दोरिन्द्रियावतः।" (यजु० ८।९) अर्थात् "वीर्यवाले को।" "पत्नीवतो ग्रहाँ२ ऽ ऋध्यासम्" (यजु० ८।९)—"पत्नीवत ग्रहों को मैं पाऊँ।" वह पत्नियों के लिए नहीं निकालता क्योंकि स्त्रियों में तो वीर्य होता नहीं। इसलिए इस समय पत्नियों के लिए नहीं निकालता ॥१२॥

अब प्रचरणी में जो घी शेष रह गया हो उसमें इसको मिलाता है। घी मिलाने से और आहुतियों को तो बढ़ाता था, परन्तु इसको घटा देता है। घी वज्र है। इसी घी रूपी वज्र से देवों ने पत्नियों को मारा था। और इस प्रकार वे इतनी नष्ट हुईं कि न उनमें अपना आत्मा रहा, न वे दायभाग की भागी हुईं। इस प्रकार यह भी घी रूपी वज्र से पत्नियों को मारता है जिससे वे इतनी क्षीण हो जायें कि न उनका अपना आत्मा रहे और न उनको दायभाग मिले ॥१३॥

वह इस मन्त्र से मिलाता है, "अहं परस्तादहमवस्ताद्यदन्तरिक्षं तदु मे पिताभूत्। अहꣳ सूर्यमुभयतो ददर्शाहं देवानां परमं गुहा यत्" (यजु० ८।९)—"मैं ऊपर हूँ। मैं नीचे हूँ। जो अन्तरिक्ष है वह मेरा पिता था। मैंने सूर्य को दोनों ओर देखा। गुहा में जो कुछ है उसमें मैं देवों के लिए सर्वोत्तम हूँ।" 'अहं'-'अहं' (मैं-मैं) कहकर मिलाता है, इस प्रकार नर में ही वीर्य को रखता है ॥१४॥

अब कहता है, 'अग्नीध्! पत्नीवत् आहुति दे।' अग्नीध् नर है, पत्नी नारी है। इस प्रकार उत्पत्ति के लिए जोड़ा मिल गया। वह इस मन्त्र से आहुति देता है—"अग्ना३इ पत्नीवत्" (यजु० ८।१०)—"हे पत्नीवाले अग्नि।" अग्नि नर है, पत्नी नारी है। इस प्रकार उत्पत्ति के लिए जोड़ा मिल गया ॥१५॥

"सजूर्देवेन त्वष्ट्रा" (यजु० ८।१०)—"त्वष्ट्रा देव के साथ।" त्वष्ट्रा ही सींचे हुए वीर्य को बनाता है (विकरोति, प्रकृति से विकृत करता है)। यह भी इसी प्रकार यहाँ सींचे हुए वीर्य को बनाता है। "सोमं पिब स्वाहा" (यजु० ८।१०)–इससे उत्तर की ओर आहुति देता है। जो और आहुतियाँ हैं वे देव हैं, और ये पत्नियाँ हैं। इसी प्रकार जोड़ा मिलता है। क्योंकि स्त्री पुरुष के बायें ओर सोती है। अध्वर्यु सोम का एक घूंट अग्नीध् के पास ले जाता है। अग्नीध् कहता है 'अध्वर्यु, मुझे बुला।' यह हो सकता है कि उसे न बुलाया जाय क्योंकि क्षीण और वीर्य-हीन को कौन बुलाता है! परन्तु उसको बुलाना चाहिए। वे उसकी अग्नि में आहुति देते और वषट्कार करते हैं। इसलिए उसको बुलावा देना चाहिए ॥१६॥

अब वह आदेश देता है—'अग्नीध्, नेष्टा की गोद में बैठ! नेष्टा पत्नी को ले चल, और उद्गाता से मिला। उन्नेता होता के चमसे को भर। कुछ भी सोम शेष न रहे।' अगर अग्निष्टोम हो तो ऐसा करे ॥१७॥

लेकिन अगर उक्थ्य हो तो कहे, 'सोम को बढ़ा।' उसी पात्र को लाकर वह अग्नीध् की गोद में बैठ जाता है। अग्नीध् ही अग्नि है और नेष्टा स्त्री है। अग्नीध् नर और नेष्ट्रा रानी। इस प्रकार उत्पत्ति के लिए जोड़ा मिल जाता है। नेष्टा पत्नी को ले चलता है और उद्गाता से

संख्यापयति प्रजापतिर्वृषासि रेतोधा रेतो मयि धेहीति प्रजापतिर्वाऽउद्गाता योषा पत्नी मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते ॥ १८॥ ब्राह्मणम् ॥ ४ [४. २.] ॥ ॥

पशवो वै देवानां छन्दाᳪसि । तद्यथेदं पशवो युक्ता मनुष्येभ्यो वहन्त्येवं छन्दाᳪसि युक्तानि देवेभ्यो यज्ञं वहन्ति तद्यत्र छन्दाᳪसि देवान्त्समतर्पयन्नथ छन्दाᳪसि देवाः समतर्पयस्तदतस्तत्प्रागभूद्यच्छन्दाᳪसि युक्तानि देवेभ्यो यज्ञमवाक्षुर्यदेनान्त्समतीतृपन् ॥ १॥ अथ हारियोजनं गृह्णाति । छन्दाᳪसि वै हारियोजनश्छन्दाᳪस्येवैतत्संतर्पयति तस्माद्धारियोजनं गृह्णाति ॥ २॥ तं वाऽअतिरिक्तं गृह्णाति । यदा हि शम्योराहाथैनं गृह्णातीदं वै देवा अथ छन्दाᳪस्यतिरिक्तान्यथ मनुष्या अथ पशवोऽतिरिक्तास्तस्मादतिरिक्तं गृह्णाति ॥ ३॥ द्रोणकलशे गृह्णाति । वृत्रो वै सोम आसीत्तं यत्र देवा अघ्नंस्तस्य मूर्धोद्ववर्त स द्रोणकलशोऽभवत्तस्मिन्यावान्वा यावान्वा रसः समस्रवदतिरिक्तो वै स आसीदतिरिक्त एष ग्रहस्तदतिरिक्तऽएवैतदतिरिक्तं दधाति तस्माद्द्रोणकलशे गृह्णाति ॥ ४॥ तं वाऽअपुरोरुक्कं गृह्णाति । छन्दोभ्यो ह्येनं गृह्णाति स यदेवैनं छन्दोभ्यो गृह्णाति तेनो हास्यैष पुरोरुङ्मान्भवति तस्मादपुरोरुक्कं गृह्णाति ॥ ५॥ अथातो गृह्णात्येव । उपयामगृहीतोऽसि हरिरसि हारियोजनो हरिभ्यां त्वेत्यृक्सामे वै हरीऽऋक्सामाभ्याᳪ ह्येनं गृह्णाति ॥ ६॥ अथ धाना आवपति । हर्योर्धाना स्थ सहसोमा इन्द्रायेति तद्यदेवात्र मितं च छन्दोऽमितं च तदेवैतत्सर्वं भक्षयति ॥ ७॥ तस्योन्नेताश्रावयति । अतिरिक्तो वाऽउन्नेता न ह्येषोऽन्यस्याश्रावयत्यतिरिक्त एष ग्रहस्तदतिरिक्तऽएवैतदतिरिक्तं दधाति तस्मादुन्नेताश्रावयति ॥ ८॥ मूर्धन्नभिनिधायाश्रावयति । मूर्धा ह्यस्यैषोऽथाह धानासोमेभ्योऽनुब्रूहीत्याश्राव्याह धानासोमान्प्रस्थितान्प्रेष्येति वषट्कृते जुहोत्यनुवषट्कृतेऽथ धाना विलिप्सन्ते भक्षाय ॥ ९॥ तद्धैके । होत्रे द्रोणकलशं प्रतिपराहरन्ति वषट्कर्तुर्भक्ष इति वदन्तस्तदु तथा न

मिला देता है इस मन्त्र को पढ़कर "प्रजापतिर्वृषासि रेतोधा रेतो मयि धेहि" (यजु० ८।१०)– "तू प्रजापति नर है, वीर्य को रखनेवाला। मुझे वीर्य दे।" प्रजापति उद्गाता है और पत्नी स्त्री है। इस प्रकार जोड़े से उत्पत्ति होती है ॥१८॥

हरियोजनग्रहः

अध्याय ४—ब्राह्मण ३

छन्द देवों के पशु (वाहक या बैल) हैं। जैसे बैल जुतकर मनुष्यों का सामान ले जाते हैं, ऐसे ही छन्द जुतकर देवों के लिए यज्ञ को ले जाते हैं। जब-जब छन्दों ने देवों की तृप्ति की, तब-तब देवों ने छन्दों की तृप्ति की। जुते हुए छन्द देवों के लिए यज्ञ को ले गये, उससे पहले उन्होंने उनको तृप्त किया ॥१॥

अब हारियोजन ग्रह को लेता है। हारियोजन छन्द है। इस प्रकार वह छन्दों को तृप्त करता है, इसीलिए हारियोजन ग्रह लिया जाता है ॥२॥

इसको अतिरिक्त-ग्रह (दूसरों ग्रहों से अतिरिक्त) की भाँति लेता है। इसे उस समय लेता है जब होता 'शम्य' कहता है। देव हैं और अतिरिक्त छन्द भी है। मनुष्य हैं और अतिरिक्त पशु भी हैं। इसलिए अतिरिक्त ग्रह को लेता है ॥३॥

इसको द्रोणकलश में लेता है। सोम वृत्र था। उसको जब देवों ने मारा, उसका सिर फट गया और वह द्रोणकलश हो गया। उसमें जितना-जितना रस बहा वह अतिरिक्त था, इसी प्रकार यह ग्रह भी अतिरिक्त है। इस प्रकार अतिरिक्त में अतिरिक्त को रखता है, इसलिए द्रोण-कलश में लेता है ॥४॥

इसको बिना पुरोरुक् के लेता है क्योंकि वह इसको छन्दों के लिए लेता है। चूँकि इसको वह छन्दों के लिए लेता है इसलिए वह पुरोरुक् का काम देता है, अर्थात् पुरोरुक् के रस को लेता है ॥५॥

इसको इसमें से (आग्रायण ग्रह में से) इस मन्त्र से लेता है, "उपयामगृहीतोऽसि हरिरसि हारियोजनो हरिभ्यां त्वा" (यजु० ७।११)—"तुझे आश्रय के लिए लिया गया है, तू हरि है। हरि से युक्त है। दोनों हरियों के लिए तुझको।" दो हरियों से तात्पर्य है ऋक् और सोम का, अर्थात् ऋक् और साम द्वारा इसको लेता है ॥६॥

अब धान बोता है–"हर्योर्धाना स्थ सहसोमा ऽ इन्द्राय" (यजु० ७।११)–"तुम हरियों के धान हो। इन्द्र के लिए सोम के साथ।" मित (नपे हुए) या अमित (न नपे हुए) जितने छन्द हैं वे सब (सोम को) पीते हैं ॥७॥

इस आहुति के लिए उन्नेता श्रौषट् बोलता है। उन्नेता अतिरिक्त है। इस प्रकार किसी अन्य आहुति के लिए श्रौषट् नहीं कहता। यह आहुति भी अतिरिक्त है। इस प्रकार अति-रिक्त में अतिरिक्त को रखता है। इसलिए उन्नेता श्रौषट् बोलता है ॥८॥

(द्रोण कलश को) सिर पर रखकर श्रौषट् बोलता है। क्योंकि यह (सोम का) सिर है। पहले वह (मैत्रावरुण से) कहता है कि 'सोमों के लिए धान के साथ अनुवाक पढ़ो।' श्रौषट् कहकर बोलता है कि लाये हुए धान-सोमों की आहुति दे। वषट्कार करके आहुति देता है और अनुवषट्कार करके आहुति देता है। अब सोमपान के लिए धानों को बाँट देते हैं ॥९॥

कुछ लोग द्रोण कलश को होता के पास ले जाते हैं क्योंकि यह सोमपान वषट्कार करने-

कुर्याद्यथाचमस वाऽअन्ये भक्षा अथैषोऽतिरिक्तस्तस्मादेतस्मिन्त्सर्वेषामेव भक्षस्त-
स्माद्वाना विलिप्सन्ते भक्षाय ॥१०॥ ता न दद्भिः खादेयुः । पशवो वाऽएते ने-
त्पशून्प्रम्रदे करवामहाऽइति प्राणैरेव भक्षयन्ति यस्तेऽअश्वसनिर्भक्षो यो गोस-
निरिति पशवो ह्येते तस्मादाह यस्तेऽअश्वसनिर्भक्षो यो गोसनिरिति तस्य त
ऽइष्टयजुष स्तुतस्तोमस्येतीष्टानि हि यजूꣳषि भवन्ति स्तुता स्तोमाः शस्तोक्थ-
स्येति शस्तानि ह्युक्थानि भवन्त्युपहूतस्योपहूतो भक्षयामीत्युपहूतस्य ह्येतदु-
पहूतो भक्षयति ॥११॥ ता नाग्नौ प्रकिरेयुः । नेदुच्छिष्टमग्नौ जुहवामेत्युत्तरवेदा-
वेव निवपन्ति तथा न बहिर्धा यज्ञाद्भवन्ति ॥१२॥ अथ पूर्णपात्रान्त्समवमृशन्ति
। यानेकेऽप्सुषोमा इत्याचक्षते यथा वै युक्तो वहेदेवमेते यऽआर्त्विज्यं कुर्वन्त्युत
वै युक्तः क्षणुते वा वि वा लिशते शान्तिरापो भेषजं तद्यदेवात्र क्षणवते वा वि
वा लिशन्ते शान्तिरापस्तद्भिः शान्त्या शमयन्ते तदद्भिः संदधते तस्मात्पूर्णपात्रान्त्स-
मवमृशन्ति ॥१३॥ ते समवमृशन्ति । सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा
सꣳ शिवेन । त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टमिति यद्विवृढं
तत्संदधते ॥१४॥ अथ मुखान्युपस्पृशन्ते । द्वयं तद्यस्मान्मुखान्युपस्पृशन्तेऽमृतं वा
ऽआपोऽमृतेनैवैतत्सꣳस्पृशन्तऽएतदु चैवैतत्कर्मात्मन्कुर्वते तस्मान्मुखान्युपस्पृश-
न्ते ॥१५॥ ब्राह्मणम् ॥५ [४. ३.] ॥ ॥

तानि वाऽएतानि । नव समिष्टयजूꣳषि जुहोति तद्यन्नव समिष्टयजूꣳषि जु-
होति नव वाऽअमूर्बहिष्पवमाने स्तोत्रिया भवन्ति सैषोभयतो न्यूना विराट्
प्रजननायेतस्माद्वाऽउभयतो न्यूनात्प्रजननात्प्रजापतिः प्रजाः ससृजऽइतश्चोर्ध्वा इत-
श्चावाचीस्तथोऽएवैष एतस्मादुभयत एव न्यूनात्प्रजननात्प्रजाः सृजत इतश्चोर्ध्वा
इतश्चावाचीः ॥१॥ हिङ्कार स्तोत्रियाणां दशमः । स्वाहाकार एतेषां तथो हा-
स्यैषा न्यूना विराड्दशंदशिनी भवति ॥२॥ अथ यस्मात्समिष्टयजूꣳषि नाम । या

वाले के लिए है। परन्तु ऐसा न करना चाहिए, क्योंकि और पान तो चमसों के अनुसार होते है और यह अतिरिक्त है। इसलिए इसमें सबका भाग शामिल है। इसलिए धानों को सोम-पान के लिए बाँट लेते हैं ।।१०।।

उनको दाँत से न चबाना चाहिए। ये पशु हैं। कहीं ऐसा न हो कि पशुओं को हानि पहुँचे। केवल प्राणों के द्वारा पीते हैं, इस मन्त्र से—"यस्ते ऽ अश्वसनिर्भक्षो यो गोसनिः" (यजु० ८।१२)—"जो तेरा पान घोड़ों का दाता और गौओं का दाता है।" यह पशु है। इसलिए कहा यह घोड़ों का दाता है, गौओं का दाता है। "त ऽ इष्टयजुष स्तुतस्तोमस्य" (यजु० ८।१२)—"यजु से आहुति दी गई और स्तोमों से स्तुति की गई।" क्योंकि यजुओं से आहुति दी गई और स्तोमों से स्तुति की गई। "शस्तोक्थस्य।" (यजु० ८।१२)—क्योंकि उक्थ्य कहे गये। "उपहूतस्योपहूतो भक्षयामि" (यजु० ८।१२)—"बुलाया हुआ मैं बुलाये हुए को पीता हूँ।" क्योंकि निमन्त्रित निमन्त्रित को पीता है ।।११।।

उनको आग में न डालना चाहिए। ऐसा न हो कि अग्नि में उच्छिष्ट (जूठा) वस्तु पड़ जाय। उनको उत्तर वेदी में रख देते हैं। इस प्रकार ये यज्ञ से बहिष्कृत नहीं होते ।।१२।।

अब वे भरे हुए पात्रों को छूते हैं जिनको कुछ लोग 'अप्सु षोमा' (जलों में सोम) कहते हैं। जैसे जुता हुआ घोड़ा ले जाता है इसी प्रकार ये भी ऋत्विज का काम करते हैं। परन्तु जुते हुए घोड़े के घाव हो जाता है या वह खुजलाता है। जल शान्ति और ओषधि है। यहाँ यज्ञ में भी जब कभी घाव हो जाय या खुजलावें तो जल शान्तिदायक होने के कारण जलों से ही शान्ति लेते हैं; जलों को ही धारण करते हैं इसलिए वे भरे हुए पात्रों को छूते हैं ।।१३।।

वे इस मन्त्र से छूते हैं "सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सँ शिवेन। त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद् विलिष्टम्" (यजु० ८।१४)—"तेज, रस और शरीरों से तथा कल्याणकारी मन से हम मिलें। अच्छा दानी त्वष्टा हमको धन दे और हमारे शरीर में जो घाव (त्रुटियाँ) हों उनको चंगा कर दे।" इस प्रकार जो घाव है उसको चंगा करता है ।।१४।।

अब वे अपने मुँह को छूते हैं। दो कारण हैं जिनसे मुख को छूते हैं। जल अमृत है। अमृत से ही वे छूते हैं। इसके अतिरिक्त वे इस कर्म (यज्ञ) को अपने में धारण करते हैं। इसलिए मुखों को छूते हैं ।।१५।।

समिष्टयजुर्होमः

अध्याय ४—ब्राह्मण ४

इस अवसर पर वह नौ समिष्ट यजुओं से आहुति देता है। नौ समिष्ट यजुओं से आहुति देने का तात्पर्य यह है कि ये बहिष्पवमाने स्तोत्र नौ होते हैं। इस प्रकार दोनों ओर विराट् न्यून रहता है उत्पत्ति के लिए (विराट् में १० अक्षर चाहिएँ)। इसी दो ओर की न्यूनता से प्रजापति ने प्रजा को उत्पन्न किया। एक से ऊर्ध्व (ऊपर को चढ़ानेवाले) और दूसरे से नीचे जानेवाले ।।१।।

स्तोत्रों में हिङ्कार दसवाँ है। इन समिष्ट-यजुओं में स्वाहा दसवाँ है। इस प्रकार यह न्यून विराट् रसवाला हो जाता है ।।२।।

समिष्ट-यजु नाम इसलिए पड़ा कि इस यज्ञ से जिस देवता को बुलाते हैं या जिन देवताओं

वाऽएतेन यज्ञेन देवता ह्वयति याभ्य एष यज्ञस्तायते सर्वा वै तत्ताः समिष्टा भवन्ति तद्यत्तासु सर्वासु समिष्टास्वथैतानि जुहोति तस्मात्समिष्टयजूꣳषि नाम ॥३॥ अथ यस्मात्समिष्टयजूꣳषि जुहोति । रिरिचानऽइव वाऽएतदीजानस्यात्मा भवति यद्धास्य भवति तस्य हि ददाति तमेवातस्त्रिभिः पुनराप्याययति ॥४॥ अथ यान्युत्तराणि त्रीणि जुहोति । या वाऽएतेन यज्ञेन देवता ह्वयति याभ्य एष यज्ञस्तायतऽउप हैव ता आसते यावन्न समिष्टयजूꣳषि जुह्वतीमानि नु नो जुह्ववीति ता एवैतद्यथायथं व्यवसृजति यत्र-यत्रासां चरणं तदनु ॥५॥ अथ यान्युत्तमानि त्रीणि जुहोति । यज्ञं वाऽएतदजीजनत यदेनमतत तं जनयित्वा यत्रास्य प्रतिष्ठा तत्प्रतिष्ठापयति तस्मात्समिष्टयजूꣳषि जुहोति ॥६॥ स जुहोति । समिन्द्र णो मनसा नेषि गोभिरिति मनसेति तन्मनसा रिरिचानमाप्याययति गोभिरिति तद्गोभी रिरिचानमाप्याययति सꣳ सूरिभिर्मघवन्त्सꣳ स्वस्त्या । सं ब्रह्मणा देवकृतं यदस्तीति ब्रह्मणेति तद्ब्रह्मणा रिरिचानमाप्याययति सं देवानाꣳ सुमतौ यज्ञियानाꣳ स्वाहा ॥७॥ सं वर्चसा । पयसा सं तनूभिरिति वर्चसेति तद्वर्चसा रिरिचानमाप्याययति पयसेति रसो वै पयस्तत्पयसा रिरिचानमाप्याययत्यगन्महि मनसा सꣳ शिवेन । त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टमिति विवृꣳ तत्संदधाति ॥८॥ धाता रातिः । सवितेदं जुषन्तां प्रजापतिर्निधिपा देवोऽअग्निः । त्वष्टा विष्णुः प्रजया सꣳरराणा यजमानाय द्रविणं दधात स्वाहेति तद्वेव रिरिचानं पुनराप्याययति यदाह यजमानाय द्रविणं दधात स्वाहेति ॥९॥ सुगा वो देवाः । सदना अकर्म यऽआजग्मेदꣳ सवनं जुषाणा इति सुगानि वो देवाः सदनान्यकर्म यऽआगन्तेदꣳ सवनं जुषाणा इत्येवैतदाह भरमाणा वहमाना हवीꣳषीति तद्देवता व्यवसृजति भरमाणा अह ते यन्तु येऽवाहना वहमाना उ ते यन्तु ये वाहनवन्त इत्येवैतदाह तस्मादाह भरमाणा वहमाना हवीꣳष्यस्मे

के लिए यज्ञ रचाते हैं वे सब समिष्ट (चाहे हुए) हो जाते हैं। उन सब समिष्टों में इनकी आहुति दी जाती है इसलिए इनको समिष्ट-यजु कहते हैं ।।३।।

समिष्ट यजुओं की आहुति इसलिए दी जाती है कि यज्ञ करनेवाले का आत्मा तो खाली हो जाता है, क्योंकि जो कुछ उसका होता है उसको वह दे चुकता है, इनमें से तीन आहुतियों से उसी की पूर्ति की जाती है ।।४।।

और जो अन्य तीन आहुतियाँ दी जाती हैं, इस यज्ञ से जिस देवता को बुलाता है, या जिन देवताओं के लिए यज्ञ रचता है, वे सब देवता प्रतीक्षा करते रहते हैं जब तक कि समिष्ट-यजुओं की आहुति नहीं पड़ती कि यह हमारे लिए आहुतियाँ देगा। इन्हीं देवताओं का वह यथाविधि विसर्जन कर देता है। जहाँ-जहाँ वे जाना चाहें क्रम से ।।५।।

और जो तीन अन्तिम आहुतियाँ हैं, उनसे यज्ञ की उत्पत्ति की, और उत्पत्ति करके उसने यहाँ उसकी प्रतिष्ठा की। चूंकि वह उसकी प्रतिष्ठा करता है इसलिए वह समिष्ट-यजुओं से आहुति देता है ।।६।।

वह इस मन्त्र से आहुति देता है—"समिन्द्र णो मनसा नेषि गोभिः" (यजु० ८।१५, ऋ० ५।४२।४)—"हे इन्द्र, तू हमको मन से और गौओं से प्राप्त होता है।" जो मन (विचार) से खाली था उसको मन से और जो गौओं से खाली था उसको गौओं से भरता है। "सँ सूरिभिर्मघवन्त्सँ स्वस्त्या। सं ब्रह्मणा देवकृतं यदस्ति" (यजु०८।१५)—"हे इन्द्र, विद्वानों से, कल्याण से और देवकृत-स्तुति।" जो स्तुति से खाली था उसकी स्तुति द्वारा पूर्ति करता है। "सं देवानाँ सुमतौ यज्ञियानाँ स्वाहा" (यजु० ८।१५)—"यज्ञ करनेवाले देवों की सुमति से" ।।७।।

"सं वर्चसा पयसा सं तनूभिः" (यजु० ८।१६)—"तेज से खाली को तेज से, रस से खाली को रस से भरता है क्योंकि 'पय' नाम है रस का।" "अगन्महि मनसा संशिवेन। त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम्" (यजु० ८।१६)—"(यह वही है जो ८।१४ है। इसका अर्थ ऊपर आ चुका) उस प्रकार जो व्रण था उसको चंगा करता है ।।८।।

तीसरी आहुति इस मन्त्र से—"धाता रातिः सवितेदं जुषन्तां प्रजापतिर्निधिपा देवोऽअग्निः। त्वष्टा विष्णुः प्रजया सँ रराणा यजमानाय द्रविणं दधात स्वाहा" (यजु० ८।१७, अथर्व ७।१७।४)—"कृपालु धाता, सविता, कोष की रक्षा करनेवाला प्रजापति, अग्निदेव इस आहुति को लेवे। त्वष्टा विष्णु यजमान के लिए धन और सन्तान दे।" 'यजमान को धन दे' ऐसा कहने से प्रयोजन यह है कि यह जो खाली हो गया था उसको भरता है ।।९।।

चौथी आहुति इससे—"सुगा वो देवाः सदना ऽ अकर्म य ऽ आजग्मेदँ सवनं जुषाणाः" (यजु० ८।१८)—"अर्थात् हे देवो! जो इस सोम-भाग में आये हुए हो, तुम्हारे लिए हमने ऐसे घर बनाये हुए हैं जिनमें तुम सुगमता से जा सको।" "भरमाणा वहमाना हवीँषि" (यजु० ८।१८)—"हवियों को ढोते हुए या गाड़ियों में ले-जाते हुए।" ऐसा कहकर वह कतिपय देवों का विसर्जन करता है। जिनके पास सवारियाँ नहीं हैं वे स्वयं हवियों को ढोते हैं और जिनके पास सवारियाँ हैं वे सवारी में ले जाते हैं। इसलिए कहा 'भरमाणा' अर्थात् ढोते हुए और

धत्त वसवो वसूनि स्वाहा ॥१०॥ यां२॥ऽआवहः । उशतो देव देवांस्तान्प्रेरय स्वेऽअग्ने सधस्थऽइत्यग्निं वाऽआहामूंदेवानावहामूंदेवानावहेति तमेवैतदाह यान्देवानावाक्षीस्तान्गमय यत्र-यत्रैषां चरणं तदन्विति जक्षिवाꣳसः पपिवाꣳसश्च विश्वऽइति जक्षिवाꣳसो हि पशुं पुरोडाशं भवन्ति पपिवाꣳस इति पपिवाꣳसो हि सोमꣳ राजानं भवन्ति तस्मादाह जक्षिवाꣳसः पपिवाꣳसश्च विश्वेऽसुं घर्मꣳ स्वरातिष्ठतानु स्वाहेति तद्वेव देवता व्यवसृजति ॥११॥ वयꣳ हि त्वा । प्रयति यज्ञेऽअस्मिन्नग्ने होतारमवृणीमहीह । ऋधगया ऋधगुताशमिष्ठाः प्रजानन्यज्ञमुपयाहि विद्वान्स्वाहेत्यग्निमेवैतया विमुञ्चत्यग्निं व्यवसृजति ॥१२॥ देवा गातुविद इति । गातुविदो हि देवा गातुं वित्त्वेति यज्ञं वित्त्वेत्येवैतदाह गातमितेति तदेतेन यथायथं व्यवसृजति मनसस्पतऽइमं देव यज्ञꣳ स्वाहा वाते धा इत्ययं वै यज्ञो योऽयं पवते तदिमं यज्ञꣳ सम्भृत्यैतस्मिन्यज्ञे प्रतिष्ठापयति यज्ञेन यज्ञꣳ संदधाति तस्मादाह स्वाहा वाते धा इति ॥१३॥ यज्ञ यज्ञं गच्छ । यज्ञपतिं गच्छ स्वां योनिं गच्छ स्वाहेति तत्प्रतिष्ठितमेवैतद्यज्ञꣳ सन्तꣳ स्वायां योनौ प्रतिष्ठापयत्येष ते यज्ञो यज्ञपते सहसूक्तवाकः सर्ववीरस्तं जुषस्व स्वाहेति तत्प्रतिष्ठितमेवैतद्यज्ञꣳ सन्तꣳ सहसूक्तवाकꣳ सर्ववीरं यजमानेऽन्ततः प्रतिष्ठापयति ॥१४॥

ब्राह्मणम् ॥ ६ [४. ४.] ॥ ॥तृतीयः प्रपाठकः॥ कण्डिकासंख्या १२२॥॥

स वाऽअवभृथमभ्यवैति । तद्यदवभृथमभ्यवैति यो वाऽअस्य रसोऽभूदाहुतिभ्यो वाऽअस्य तमजीजनद्यैतच्छरीरं तस्मिन्न रसोऽस्ति तन्न परास्यं तदपोऽभ्यवहरन्ति रसो वाऽआपस्तदस्मिन्नेतꣳ रसं दधाति तदेनमेतेन रसेन संगमयन्ति तदेनमतो जनयति स एनं जात एव सञ्जनयति तद्यदपोऽभ्यवहरन्ति तस्मादवभृथः ॥१॥ अथ समिष्टयजूꣳषि जुहोति । समिष्टयजूꣳषि ह्येवान्तो यज्ञस्य स ह-वेव समिष्टयजूꣳषि यदेतमभितो भवति तेन चात्वालमुपसमायन्ति स कृष्णविषा-

'वहमाना' अर्थात् गाड़ियों में ले-जाते हुए। "अस्मे धत्त वसवो वसूनि स्वाहा" (यजु० ८।१८)—"हे वसुओ, हमारे लिए धन दो" ॥१०॥

पाँचवीं इस मन्त्र से—"यां२ ऽ आवह ऽ उशतो देव देवाँस्तान् प्रेरय स्वे ऽ अग्ने सधस्थे" (यजु० ८।१९)—"हे देव, जिन इच्छुक देवों को तुम यहाँ लाये हो, हे अग्नि, तुम उनको अपने-अपने घर पहुँचा दो।" पहले तो अग्नि से कहा था कि इन देवों को लाओ, इन देवों को लाओ। अब अग्नि से कहता है कि जिन-जिन देवों को तुम लाये हो उन उनको अपने-अपने घर पहुँचा दो। "जक्षिवाँ॑सः पपिवाँ॑सश्च विश्वे" (यजु० ८।१९)—"तुम सबने खा भी लिया और पी भी लिया।" अर्थात् पशु पुरोडाश को खा लिया और सोम राजा को पी लिया। "असुं घर्मं स्वरातिष्ठतानु स्वाहा" (यजु० ८।१९)—"प्राण या वायु को, धर्म या आदित्य लोक को, स्व अर्थात् द्यौलोक को जाओ" ऐसा कहकर उन देवों को विदा करता है ॥११॥

इससे छठी—"वयँ हि त्वा प्रयति यज्ञे ऽ अस्मिन्नग्ने होतारमवृणीमहीह। ऋधगया-ऽऋधगुताशमिष्ठाः प्रजानन् यज्ञमुपयाहि विद्वान्त्स्वाहा" (यजु० ८।२०)—"हे अग्नि, इस यज्ञ से आरम्भ में हमने तुमको होता बनाया है। तू समृद्धि के साथ आया और तूने समृद्धि के साथ शयन किया। तू अपने अधिकार को जानते हुए यज्ञ में आ।" इससे वह अग्नि को छोड़ देता है, उसका विसर्जन कर देता है ॥१२॥

सातवीं इस मन्त्र से—"देवा गातुविदः" (यजु० ८।२१)—"मार्ग जाननेवाले देवो।" क्योंकि देव मार्ग को जानते हैं। "गातुं वित्त्वा" (यजु० ८।२१)—"मार्ग अर्थात् यज्ञ को मालूम करके।" "गातुमित" (यजु० ८।२१)—"जाइये।" इससे वह उनको उचित रीति से विदा कर देता है। "मनसस्पत ऽ इमं देव यज्ञँ स्वाहा वाते धाः" (८।२१)—"हे मन के पति देव, इस यज्ञ को वायु में रख।" यह जो वायु है वही यज्ञ है। यज्ञ को समाप्त करके वह इसको इस प्रकार यज्ञ में ही स्थापित करता है। यज्ञ को यज्ञ से मिला देता है, इसलिए कहता है यज्ञ को वायु में रख।।१३।।

आठवीं इस मन्त्र से—"यज्ञ यज्ञं गच्छ यज्ञपतिं गच्छ स्वां योनिं गच्छ स्वाहा" (यजु० ८।२२)—"हे यज्ञ, यज्ञ को प्राप्त हो, यज्ञपति को प्राप्त हो, अपनी योनि को प्राप्त हो।" जब यज्ञ प्रतिष्ठित हो गया तो फिर उसको उसी की योनि में प्रतिष्ठित करता है। "एष ते यज्ञो यज्ञपते सहसूक्तवाकः सर्ववीरस्तं जुषस्व स्वाहा" (यजु० ८।२२)—"हे यज्ञपति, यह तेरा यज्ञ है, स्तोत्रों सहित, सब वीरों से युक्त; इसको स्वीकार कर।' इस स्तोत तथा वीरयुक्त यज्ञ को यजमान में स्थापित करता है ॥१४॥

अध्याय ४—ब्राह्मण ५

अब अवभृथ स्नान के लिए जाता है। अवभृथ स्नान के लिए इसलिए जाता है कि जो इस (सोम) का रस था, वह इसकी आहुतियों के लिए उत्पन्न हुआ था। रहा उस (सोम) का शरीर, उसमें तो रस नहीं है। उसे फेंकना तो चाहिए नहीं। अब उसको जलों के पास ले जाता है। इस प्रकार वह उसको रस से युक्त करता है और उस (सोम) को रस में से ही उत्पन्न करता है। इस प्रकार उत्पन्न हुआ सोम यजमान को उत्पन्न करता है। चूंकि सोम को जलों के पास ले जाते हैं (अभि-अव-हरन्ति) इसलिए इसका नाम अवभृथ है ॥१॥

इसके पश्चात् समिष्ट-यजुओं की आहुति देता है। समिष्ट-यजुः यज्ञ का अन्त है। समिष्ट-यजुओं की आहुतियाँ देने के पश्चात् जो कुछ उसके पास होता है उसको लेकर चात्वाल

णां च मेखलां च चात्वाले प्रास्यति ॥२॥ माहिर्भूर्मा पृदाकुरिति । असौ वा
ऽऋजीषस्य स्वगाकारो यदेनदपोऽभ्यवहरन्त्ययैष एवैतस्य स्वगाकारो रज्जुरिव
हि सर्पाः कूपा-इव हि सर्पाणामायतनान्यस्ति वै मनुष्याणां च सर्पाणां च वि-
भ्रातृव्यमिव नेत्तदतः सम्भवदिति तस्मादाह माहिर्भूर्मा पृदाकुरिति ॥३॥ अथ
वाचयति । उरुꣳ हि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवाऽउऽइति यथायमु-
रुरभयोऽनाष्ट्रः सूर्याय पन्था एवं मेऽयमुरुरभयोऽनाष्ट्रः पन्था अस्त्वित्येवैतदाह
॥४॥ अपदे पादा प्रतिधातवेऽकरिति । यदि ह वाऽअप्यपाद्भवत्यलमेव प्रतिक्र-
मणाय भवत्युतापवक्ता हृदयाविधश्चिदिति तदेनꣳ सर्वस्माद्वृज्यादेनसः पाप्मनः
प्रमुञ्चति ॥५॥ अथाह साम गायेति । साम ब्रूहीति वा गायेति त्वेव ब्रूयाद्गाय-
न्ति हि साम तद्यत्साम गायति नेदिदं बहिर्धा यज्ञाच्छरीरं नाष्ट्रा रक्षाꣳसि हि-
नसन्निति साम हि नाष्ट्राणाꣳ रक्षसामपहन्ता ॥६॥ आग्नेय्यां गायति । अग्निर्हि
रक्षसामपहन्तातिच्छन्दसि गायत्येषा वै सर्वाणि छन्दाꣳसि यदतिच्छन्दास्तस्मादति-
च्छन्दसि गायति ॥७॥ स गायति । अग्निष्टपति प्रतिदहत्यहावोऽहावऽइति त-
न्नाष्ट्रा एवैतद्रक्षाꣳस्यतोऽपहन्ति ॥८॥ तऽउदञ्चो निष्क्रामन्ति । जघनेन चात्वा-
लमग्रेणाग्नीध्रꣳ स यस्यां ततो दिश्यापो भवन्ति तद्यन्ति ॥९॥ स यः स्यन्दमाना-
नाꣳ स्थावरो ह्रदः स्यात् । तमपोऽभ्यवेयादेता वाऽअपां वरुणगृहीता याः स्य-
न्दमानानां न स्यन्दन्ते वरुण्यो वाऽअवभृथो निर्वरुणतायै यद्यु ता न विन्देदपि
या एव काश्चापोऽभ्यवेयात् ॥१०॥ तमपोऽवक्रमयन्वाचयति । नमो वरुणाया-
भिष्ठितो वरुणस्य पाश इति तदेनꣳ सर्वस्माद्वरुणपाशात्सर्वस्माद्वरुण्यात्प्रमुञ्चति
॥११॥ अथ चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा । समिधं प्रास्याभिजुहोत्यग्नेरनीकमप आ-
विवेशापां नपात्प्रतिरक्षन्नसुर्यम् । दमे-दमे समिधं यक्ष्यग्ने प्रति ते जिह्वा घृतमु-
च्चरण्यत्स्वाहेति ॥१२॥ अग्नेर्ह वै देवाः । यावद्वा यावद्वाप्सु प्रवेशयां चक्रुर्नेदतो

में जाते हैं। वह कृष्ण विशाण (हरिण के सींगों) और मेखला को चात्वाल में फेंक देता है इस मन्त्र से—॥२॥

"माहिर्भूर्मा पृदाकुः" (यजु० ८।२३)—"न सर्प हो न पृदाकू।" जब इस (सोम के फोक) को अवभृथ के लिए ले जाते हैं तो यह उनका स्वगाकार (farewell or विदाई) है। यह यजमान के लिए भी स्वगाकार है। सर्प रस्सी के समान होते हैं। सर्पों के घर कुयें के समान हैं। मनुष्य सर्पों की लड़ाई है। वह ऐसा सोचता है कि 'कहीं वह उससे उत्पन्न न हो जावे', और इसलिए वह कहता है, कि 'तू न तो अहि (adder, सर्पविशेष) बन, और न पृदाकू (viper)' ॥३॥

अब वह यजमान से कहलवाता है, "उरुँ हि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवाऽउ (यजु० ८।२३; ऋ० १।२४।८) – "राजा वरुण के सूर्य के लिए बड़ा चौड़ा मार्ग बनाया है।" इसका तात्पर्य यह है कि जैसे सूर्य के लिए भयरहित चौड़ा-चकला मार्ग है इसी प्रकार मेरे लिए भयरहित चौड़ा-चकला मार्ग हो ॥४॥

"अपदे पादा प्रतिधातवेऽकः" (यजु० ८।२३; ऋ० १।२४।८)—"पैर-रहित लोगों के पैर दिये हैं।" सूर्य यद्यपि पैर-रहित है तो भी वह चल सकता है। "उतापवक्ता हृदयाविधश्चित्" (यजु० ८।२३; ऋ० १।२४।८) —"जो चीज हृदय को बेधनेवाली है उसका अपवाद करनेवाला (निषेध करनेवाला) है।" इस प्रकार इसको सब हृदय के पाप से छुड़ा देता है ॥५॥

अब वह कहता है 'साम गाओ' या 'साम बोलो।' 'साम गाओ' ऐसा कहना चाहिए क्योंकि साम को गाते हैं। गाने का तात्पर्य यह है कि यज्ञ से बाहर शरीर को दुष्ट राक्षस न सतावें। क्योंकि साम दुष्ट राक्षसों का नाशक है ॥६॥

प्रस्तोता अग्निवाला मन्त्र बोलता है, क्योंकि अग्नि राक्षसों का नाशक है। वह अतिछन्द में गाता है। यह अतिछन्द सब छन्द हैं। इसलिए अतिछन्द में गाता है ॥७॥

वह इस मन्त्र को गाता है—"अग्निष्टपति प्रतिदहत्यहावोऽहावः" (?) "अग्नि तपता है, अग्नि जलाता है—अहवः, आहावः।" इस प्रकार दुष्ट राक्षसों को भगाता है ॥८॥

अब वे (वेदी से) उत्तर की ओर निकलते हैं, चात्वाल के पीछे और आग्नीध्र के आगे, और जिस दिशा में जल होता है उसी दिशा में जाते हैं ॥९॥

उस यजमान को चाहिए कि जिधर बहते हुए जल का ठहरा हुआ तालाब हो उसके जल में प्रवेश करे। बहते हुए जल के जो भाग स्थिर हैं वह वरुण-गृहीत (वरुण से पकड़े हुए हैं)। अवभृथ वरुण है—वरुण से छुटकारा पाने के लिए। परन्तु यदि ऐसा जल न मिले तो किसी जल में सही ॥१०॥

जब वह उसे जल में प्रवेश कराता है तो यह मन्त्र कहलवाता है, "नमो वरुणायाभिष्ठितो वरुणस्य पाशः।"—"वरुण के लिए नमस्कार हो। वरुण का पाश तोड़ डाला गया।" इस प्रकार वरुण के सब पाश से अर्थात् प्रत्येक वरुण्य (अपराध, guilt against Varuna—Eggeling) से छुड़ा देता है ॥११॥

अब चार भाग में घी लेकर और समिधा को डालकर इस मन्त्र से आहुति देता है, "अग्नेरनीकमप ऽ आविवेशापान्नपात् प्रतिरक्षन्नसुर्यम्। दमेदमे समिधं यक्ष्यग्ने प्रति ते जिह्वा घृतमुच्चरण्यत् स्वाहा" (यजु० ८।२४)—"मैं अग्नि के मुख अर्थात् जलों में घुसा हूँ। हे अपां नपात् (जलों की सन्तान)! राक्षसों से बचने के लिए। प्रत्येक घर में हे अग्नि! समिधा जला। तेरी जीभ घी की ओर लपके" '॥१२॥

एक बार देवों ने जितना-जितना सम्भव हो सका अग्नि को जलों में प्रवेश करा दिया

नाष्ट्रा रक्षाꣳस्युपोत्तिष्ठानित्यग्निर्हि रक्षसामपहन्ता तमेतया च समिधितया चाहुत्या समिन्द्धे समिद्धे देवेभ्यो जुहवानीति ॥१३॥ अथापरं चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा । आश्राव्याह समिधो यजेति सोऽपबर्हिषश्चतुरः प्रयाजान्यजति प्रजा वै बर्हिर्वरुण्यो वाऽअवभृथो नेत्प्रजा वरुणो गृह्णादिति तस्मादपबर्हिषश्चतुरः प्रयाजान्यजति ॥१४॥ अथ वारुण एककपालः पुरोडाशो भवति । यो वाऽअस्य रसोऽभूदाहुतिभ्यो वाऽअस्य तमजीजनदथैतच्छरीरं तस्मिन्न रसोऽस्ति रसो वै पुरोडाशस्तदस्मिन्नेतꣳ रसं दधाति तदेनमेतेन रसेन संगमयति तदेनमतो जनयति स एनं जात एव सञ्जनयति तस्माद्वारुण एककपालः पुरोडाशो भवति ॥१५॥ स आज्यस्योपस्तीर्य । पुरोडाशस्यावद्यन्नाह वरुणायानुब्रूहीत्यत्र हैके ऽऋजीषस्य द्विरवद्यन्ति तदु तथा न कुर्याच्छरीरं वाऽएतद्भवति नालमाहुत्यै द्विरवद्यति सकृदभिघारयति प्रत्यनक्त्यवदानेऽआश्राव्याह वरुणं यजेति वषट्कृते जुहोति ॥१६॥ अथाज्यस्योपस्तीर्य । पुरोडाशमवद्यदाहाग्नीवरुणाभ्यामनुब्रूहीति तत्स्विष्टकृते स यन्नाग्नयऽइत्याह नेदग्निं वरुणो गृह्णादिति स यद्यमुत्रऽर्जीषस्य द्विरवद्येदथात्र सकृद्यद्यु न नाद्रियेताथोपरिष्टाद्द्विराज्यस्याभिघारयत्याश्राव्याहाग्नीवरुणौ यजेति वषट्कृते जुहोति ॥१७॥ ता वाऽएताः । षडाहुतयो भवन्ति षड्वाऽऋतवः संवत्सरस्य संवत्सरो वरुणस्तस्मात्षडाहुतयो भवन्ति ॥१८॥ एतदादित्यानामयनम् । आदित्यानीमानि यजूꣳषीत्याहुः स यावदस्य वशः स्यादेवमेव चिकीर्षेद्यद्युऽएनमितरथा यजमानः कर्तवै ब्रूयादितरथो तर्हि कुर्यादेतानेव चतुरः प्रयाजानपबर्हिषो यजेद्द्वावाज्यभागौ वरुणमग्नीवरुणौ द्वावनुयाजावपबर्हिषौ तद्दश दशाक्षरा वै विराड्विराड्वै यज्ञस्तद्विराजमेवैतद्यज्ञमभिसम्पादयति ॥१९॥ एतदङ्गिरसामयनम् । अतोऽन्यतरत्कृत्वा यस्मिन्कुम्भऽऋजीषं भवति तं प्रप्लावयति समुद्रे ते हृदयमप्स्वन्तरित्यापो वै समुद्रो रसो वाऽआपस्तदस्मिन्नेतꣳ रसं दधाति

जिससे राक्षस उनमें से उठने न पावें। अग्नि राक्षसों का विनाशक है। समिधा से और आहुति से वह इसी अग्नि को प्रज्वलित करता है इसलिए कि 'मैं देवों के लिए आहुति दूं' ॥१३॥

अब फिर चार भागों में घी लेकर और (आग्नीध्र से) श्रौषट् कहलवाकर कहता है— 'समिधाओं की स्तुति कर।' अब वह बर्हि की आहुति को छोड़कर शेष चारों आहुतियाँ दे डालता है। बर्हि प्रजा है। अवभृथ वरुण का है। ऐसा न हो कि सन्तान वरुण-गृहीत हो जाय। इसीलिए बर्हि को छोड़कर शेष चार आहुतियाँ दे डालता है ॥१४॥

वरुण का एक कपाल का पुरोडाश बनता है। क्योंकि (सोम में) जो कुछ रस था वह तो आहुतियों के लिए निकाला जा चुका। अब जो शरीर (भाग) बच रहा उसमें रस है ही नहीं। पुरोडाश रस है। इस प्रकार उसमें रस डालता है। इस प्रकार वह उसको रस से युक्त कर देता है। इस प्रकार वह उसको रस में से उत्पन्न करता है। यह सोम उत्पन्न होकर यजमान को उत्पन्न करता है। इसलिए वरुण के लिए एक कपाल का पुरोडाश होता है ॥१५॥

वह घी चुपड़कर पुरोडाश को काटते समय कहता है— 'वरुण के लिए अनुवाक पढ़।' कुछ लोग इस अवसर पर सोम के फोक के दो भाग करते हैं। परन्तु ऐसा न करे, क्योंकि यह तो खाली शरीर है। आहुतियों के लिए काफी नहीं है। वह दो टुकड़े करता है और घी चुपड़ता है, अर्थात् जहाँ-जहाँ काटा था वहाँ घी लगा देता है। श्रौषट् कहलवाकर वह कहता है— 'वरुण के लिए अनुवाक पढ़।' और वषट्कार के साथ आहुति दे देता है ॥१६॥

अब घी की एक तह लगाकर और (चमचे में) पुरोडाश के टुकड़े को रखकर कहता है कि 'अग्नि और वरुण के लिए अनुवाक कह।' यह अग्नि स्विष्टकृत् के लिए है। केवल अग्नि के लिए यों नहीं कहता कि कहीं वरुण पकड़ ले। यदि सोम के फोक के दो भाग किये हों तो एक भाग करे। न किये हों तो न सही। अब वह ऊपर की ओर दो बार घी लगाता है और श्रौषट् कहलाकर कहता है 'अग्नि और वरुण के लिए अनुवाक पढ़' और वषट्कार से आहुति दे देता है ॥१७॥

ये छः आहुतियाँ होती हैं। संवत्सर में छः ऋतुएँ होती हैं। संवत्सर वरुण है। इसलिए छः आहुतियाँ होती हैं ॥१८॥

यह आदित्यों का अयन है। और 'यजुः आदित्य के हैं' ऐसा कहा जाता है। (अध्वर्यु को चाहिए) कि जितना (यजमान) कहे उतना करे। यजमान अन्यथा कहे तो अन्यथा करे। बर्हि की आहुति को छोड़कर शेष चारों आहुतियाँ दे देवे। दो आज्यभाग अग्नि और अग्नि-वरुण के लिए और दो अनुयाज; बर्हि को छोड़कर। ये दस हो गये। विराट् में दस अक्षर होते हैं। यज्ञ विराट् है। इस प्रकार यज्ञ को विराट् के समान कर देता है ॥१९॥

यह अयन अंगिराओं का है। (ऊपर कही हुई दोनों विधियों में से) किसी प्रकार (आहुति देकर) जिस पात्र में फोक होता है उसको (अध्वर्यु) इस मन्त्र से पानी पर तैराता है—"समुद्रे ते हृदयमप्स्वन्तः' (यजु० ८।२५)—"तेरा हृदय समुद्र में जलों के भीतर है।" जल समुद्र हैं। जल रस है। इस (फोक) में इस प्रकार रस रखता है। इसको इस रस से युक्त करता है। इसमें

तदेनमेतेन रसेन संगमयति तदेनमतो जनयति स एनं जात एव सञ्जनयति सं त्वा विशन्त्वोषधीरुताप इति तदस्मिन्नुभयꣳ रसं दधाति यश्चौषधिषु यश्चाप्सु यज्ञस्य त्वा यज्ञपते सूक्तोक्तौ नमोवाके विधेम यत्स्वाहेति तद्यदेव यज्ञस्य साधु तदेवास्मिन्नेतद्दधाति ॥२०॥ अथानुसृज्योपतिष्ठते । देवीराप एष वो गर्भ इत्यपाꣳ ह्येष गर्भस्तꣳ सुप्रीतꣳ सुभृतं बिभृतेति तदेनमद्भ्यः परिददाति गुप्त्यै देव सोमैष ते लोक इत्यापो ह्येतस्य लोकस्तस्मिञ्छं च वक्ष्व परि च वक्ष्वेति तस्मिन्नः शं चैधि सर्वाभ्यश्च न आर्तिभ्यो गोपायेत्येवैतदाह ॥२१॥ अथोपमारयति । अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुणः । अव देवैर्देवकृतमेनो यासिषमव मर्त्यैर्मर्त्यकृतमित्यव ह्येतद्देवैर्देवकृतमेनोऽयासीत्सोमेन राज्ञाव मर्त्यैर्मर्त्यकृतमित्यव ह्येतन्मर्त्यैर्मर्त्यकृतमेनोऽयासीत्पशुना पुरोडाशेन पुरुराव्णो देव रिषस्पाहीति सर्वाभ्यो मार्तिभ्यो गोपायेत्येवैतदाह ॥२२॥ अथाभ्यवेत्य स्नातः । अन्योऽन्यस्य पृष्ठे प्रधावतस्तावन्ये वाससी परिधायोदेतः स यथाहिस्त्वचो निर्मुच्येतैवꣳ सर्वस्मात्पाप्मनो निर्मुच्यते तस्मिन्न तावच्चनैनो भवति यावत्कुमारेऽदति स येनैव निष्क्रामन्ति तेन पुनरायन्ति पुनरेत्याहवनीये समिधमभ्यादधाति देवानाꣳ समिदसीति यजमानमेवैतया समिन्द्धे देवानाꣳ हि समिद्धिमनु यजमानः समिध्यते ॥२३॥ ब्राह्मणम् ॥ १ [४. ५.] ॥ ॥ चतुर्थोऽध्यायः ॥२८॥ ॥

आदित्येन चरुणोदयनीयेन प्रचरति । तद्यदादित्यश्चरुर्भवति यदेवैनामदो देवा अब्रुवंस्त्वयैव प्रायणीयस्त्वयोदयनीय इति तमेवास्याऽएतदुभयत्र भागं करोति ॥१॥ स यदमुत्र राजानं क्रेष्यन्नुपप्रेष्यन्यजते । तस्मात्तत्प्रायणीयं नामाथ यदत्रावभृथादुदेत्य यजते तस्मादेतदुदयनीयं नाम तद्वाऽएतत्समानमेव हविरदित्याऽएव प्रायणीयमदित्याऽउदयनीयमियꣳ ह्येवादितिः ॥२॥ स वै पथ्यामेवाग्रे स्वस्तिं यजति । तद्देवा अप्रज्ञायमाने वाचैव प्रत्यपद्यन्त वाचा हि मुग्धं प्रज्ञायते

इस रस को उत्पन्न करता है। वह (सोम) पैदा होकर इस (यजमान) को पैदा करता है। "सं त्वा विशन्त्वोषधीरुताप:" (यजु० ८।२५)—"ओषधियाँ और जल तुझसे मिलें।" इस प्रकार इसमें दोनों रसों को युक्त करता है—वह रस जो ओषधि में है और वह जो जलों में है। "यज्ञस्य त्वा यज्ञपते सूक्तोक्तौ नमोवाके विधेम यत् स्वाहा" (यजु० ८।२५)—"हे यज्ञपति, सूक्त पढ़ने और नमस्कार में तुझ यज्ञ की आराधना करें।" यज्ञ में जो कुछ भली बात है उसको वह उस (यजमान) में रखता है ॥२०॥

अब उस (सोम के फोक) को छोड़कर यह मन्त्र पढ़कर खड़ा होता है. "देवीरापऽ एष वो गर्भ:" (यजु० ८।२६)—"हे प्रकाशयुक्त जल, यह तेरा गर्भ (बच्चा) है।" यह जलों का ही तो गर्भ है।" "तँ सुप्रीतँ सुभृतं बिभ्रत" (यजु० ८।२६)—"इसको प्रीति के साथ और अच्छी तरह उठाकर ले जाओ।" इस प्रकार वह रक्षा के लिए उसको जल के सुपुर्द कर देता है। "देव सोमैष ते लोक:" (यजु० ८।२६)—"हे सोम देव, यह तुम्हारा घर है।" जल ही तो इसका घर है। "तस्मिञ्छञ्च वक्ष्व परि च वक्ष्व" (यजु० ८।३६)—अर्थात् "इसमें तू हमको कल्याण दे और सब कष्टों से बचा" ॥२१॥

अब वह रस को इस मन्त्र से डुबो देता है—"अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुण:। अव देवैर्देवकृतमेनोऽयासिषमव मर्त्यैर्मर्त्यकृतम्" (यजु० ८।२७)—"हे अवभृथ, मन्द गति से जा। यद्यपि तू तेज चलनेवाला है, तो भी मन्द गति से जा। मैंने देवों की सहायता से देवों के प्रति किये हुए पाप को और मनुष्यों की सहायता से मनुष्यों के प्रति किये पाप को दूर कर दिया।" इसने वस्तुत: देवों की सहायता से अर्थात् सोम राजा के द्वारा देवकृत पाप को दूर कर दिया और मनुष्यों की सहायता से अर्थात् पशु तथा पुरोडाश के द्वारा मनुष्यकृत पाप को दूर कर दिया। "पुरुराव्णो देव रिषस्पाहि" (यजु० ८।२७)—"हे देव, विरुद्धफलदायी वध से तू हमको बचा।" अर्थात् सब कष्टों से हमको बचा ॥२२॥

अब यजमान और उसकी पत्नी जलों में उतरकर नहाते हैं और एक-दूसरे की पीठ मलते हैं। दूसरे कपड़े पहनकर वे बाहर आते हैं। जिस प्रकार साँप केंचुल छोड़ देता है उसी प्रकार यह सब पापों से युक्त हो जाता है। उसमें इतना पाप भी नहीं रहता जितना दाँत-शून्य बच्चे में। जिस मार्ग से ये बाहर आये थे उसी से जाते हैं। लौटकर आहवनीय में समिधा रखता है (इस मन्त्र से) "देवानाँ समिदसि" (यजु० ८।२७)—"तू देवों की समिधा है।" इस प्रकार यजमान को प्रकाश-युक्त करता है, क्योंकि देवों के प्रज्वलित होने से यजमान भी प्रज्वलित होता है ॥२३॥

उदयनीयेष्टि:

अध्याय ५—ब्राह्मण १

अब अन्तिम अदिति-सम्बन्धी चरु बनाता है। अदिति का चरु इसलिए बनाता है कि पहले कभी देवों ने उससे कहा था कि तेरी ही प्रायणीय अर्थात् पहली (Opening) आहुति होगी और तेरी ही उदनीय अर्थात् पिछली (Concluding)। इसलिए पहले और पीछे दोनों भाग उसी के होते हैं ॥१॥

उस समय सोम राजा को मोल लेने की इच्छा से जाते हुए (उपप्रैष्यन्) आहुति देता है, इसलिए इसका नाम 'प्रायणीय' पड़ा और इस समय अवभृथ से लौटकर आहुति देता है, इसलिए इसका 'उदनीय' नाम हुआ। यह आहुति तो समान ही है। प्रायणीय भी अदिति की और उदयनीय भी अदिति की। यह पृथिवी ही अदिति है ॥२॥

पहले वह 'पथ्या-स्वस्ति' (कल्याणकारी मार्ग हो) इसकी इच्छा के लिए आहुति देता है। पहले देवों ने न ज़ानने की दशा में वाणी से ही मार्ग को पाया था। वाणी से ही अज्ञान को

ऽथात्र प्रज्ञाते यथापूर्वं करोति ॥३॥ सोऽग्निमेव प्रथमं यजति । अथ सोममथ
सवितारमथ पथ्याꣳ स्वस्तिमथादितिं वाग्वै पथ्या स्वस्तिरियमदितिरस्यामेव तद्दे-
वा वाचं प्रत्यष्ठापयन्त्सेयं वागस्यां प्रतिष्ठिता वदति ॥४॥ अथ मैत्रावरुणीं व-
शामनूबन्ध्यामालभते । स एषोऽन्य एव यज्ञस्तायते पशुबन्ध एव समिष्टयजूꣳषि
ह्येवान्तो यज्ञस्य ॥५॥ तद्यन्मैत्रावरुणी वशा भवति । यद्वाऽईजानस्य स्विष्टं भ-
वति मित्रोऽस्य तद्गृह्णाति यद्वस्य दुरिष्टं भवति वरुणोऽस्य तद्गृह्णाति ॥६॥ त-
दाहुः । ह्येजानोऽभूदिति तद्यदेवास्यात्र मित्रः स्विष्टं गृह्णाति तदेवास्माऽएतया
प्रीतः प्रत्यवसृजति यदु चास्य वरुणो दुरिष्टं गृह्णाति तच्चैवास्माऽएतया प्रीतः
स्विष्टं करोति तदु चास्मै प्रत्यवसृजति सोऽस्यैष स्व एव यज्ञो भवति स्वꣳ सु-
कृतम् ॥७॥ तद्यन्मैत्रावरुणी वशा भवति । यत्र वै देवा रेतः सिक्तं प्राजनयं-
स्तदाग्निमारुतमित्युक्थं तस्मिंस्तद्व्याख्यायते यथा तद्देवा रेतः प्राजनयंस्ततोऽङ्गा-
राः समभवन्नङ्गारेभ्योऽङ्गिरसस्तदन्वन्ये पशवः ॥८॥ अथ यदासाः पाꣳसवः पर्य-
शिष्यन्त । ततो गर्दभः समभवत्तस्माद्यत्र पाꣳसुलं भवति गर्दभस्थानमिव बते-
त्याहुरथ यदा न कश्चन रसः पर्यशिष्यत तत एषा मैत्रावरुणी वशा समभवत्त-
स्मादेषा न प्रजायते रसाद्धि रेतः सम्भवति रेतसः पशवस्तद्यदन्ततः समभवत्त-
स्मादन्तं यज्ञस्यानुवर्तते तस्माद्वाऽएषात्र मैत्रावरुणी वशावक्लृप्ततमा भवति यदि
वशां न विन्देदप्युक्षवश एव स्यात् ॥९॥ अथैतरं विश्वे देवा अमरीमृत्स्यन्त ।
ततो वैश्वदेवी समभवदथ बार्हस्पत्या सोऽन्तोऽन्तो हि बृहस्पतिः ॥१०॥ स यः
सहस्रं वा भूयो वा दद्यात् । स एनाः सर्वा आलभेत सर्वं वै तस्याप्तं भवति
सर्वं जितं यः सहस्रं वा भूयो वा ददाति सर्वमेता एवमेव यथापूर्वं मैत्रावरु-
णीमेवाग्रेऽथ वैश्वदेवीमथ बार्हस्पत्यम् ॥११॥ अथो ये दीर्घसत्त्रमासीरन् । सं-
वत्सरं वा भूयो वा तऽएनाः सर्वा आलभेरन्त्सर्वं वै तेषामाप्तं भवति सर्वं जितं

दूर किया जाता है। अब यहाँ ज्ञान होने पर क्रमशः ठीक-ठीक कार्य करता है ॥३॥

वह पहले अग्नि के लिए आहुति देता है, फिर सोम के लिए, फिर सविता के लिए, फिर पथ्या के लिए, फिर अदिति के लिए। वाणी ही पथ्यास्वस्ति है और पृथिवी अदिति है। इसी पृथिवी पर देवों ने वाणी को स्थापित किया और उसी पर स्थापित होकर वाणी बोलती है ॥४॥

अब मित्र और वरुण के लिए अनुबन्ध्या गाय को मारते हैं।[1] यह पशुबन्ध एक दूसरा ही यज्ञ है। यज्ञ का अन्त समष्टि-यजुः हैं ॥५॥

मित्र और वरुण के लिए गाय इसलिए होती है कि यज्ञ का जो स्विष्ट भाग (अच्छा, हितकर) है उसे मित्र लेता है और जो दुरिष्ट भाग है उसे वरुण लेता है ॥६॥

इस पर कुछ लोग कहते हैं कि यजमान का क्या हुआ? उसके जिस स्विष्ट भाग को मित्र लेता है उसको वह इस गाय के द्वारा प्रसन्न होकर उसी को लौटा देता है। और इसके दुरिष्ट भाग को वरुण लेता है। उसको वह इस गाय के द्वारा प्रसन्न होकर स्विष्ट बना देता है और उसी के लिए छोड़ देता है। इस प्रकार यह यज्ञ उसका अपना ही हो जाता है, अपना ही और भलीभाँति किया हुआ (सुकृत) ॥७॥

यह गौ मित्र वरुण की इसलिए होती है कि जब देवों ने सींचे हुए वीर्य को उगाया, उसे अग्नि-मारुत उक्थ्य कहते हैं। उसकी व्याख्या है कि देवों ने वीर्य को कैसे उगाया। उससे अंगारे हुए, अंगारों से अंगिरस, उसके पीछे दूसरे पशु ॥८॥

अब जो राख की धूलि रह गई उससे गधा उत्पन्न हुआ। इसीलिए जब कोई धूल का स्थान (बुरा स्थान) होता है तो कहते हैं कि यह तो गधे का स्थान (गर्दभ-स्थान) है। जब कुछ भी रस शेष न रहा तो उससे मित्र और वरुण की गौ उत्पन्न हुई। इसलिए यह वशा (बन्ध्या गौ) बच्चा नहीं देती। क्योंकि रस से वीर्य होता है और वीर्य से सन्तान। चूंकि वह सबसे पीछे उत्पन्न हुई, इसलिए यह यज्ञ के अन्त में लाई जाती है। इसीलिए मित्र वरुण के लिए वशा (बन्ध्या गाय) ही ठीक है। यदि बन्ध्या गाय न मिले तो बैल ही सही ॥९॥

अब विश्वेदेवों ने यत्न किया, उससे वैश्वदेवी गाय हुई, फिर बृहस्पति-सम्बन्धी गाय। बृहस्पति अन्त है, बृहस्पति ही अन्त है ॥१०॥

यह जो हजार गायें देता है वह इन सबका आलभन करता है। जो हजार या बहुत-सी गायें दान करता है उसे सब प्रकार की जय प्राप्त हो जाती है। यह सब क्रमानुसार इस प्रकार है—पहले मित्र-वरुण की, फिर वैश्वदेव की, फिर बृहस्पति की ॥११॥

जो दीर्घ सत्र करते हैं, वर्ष-भर का या अधिक काल का, वे इन सबका आलभन करते हैं। उनकी सब इच्छाएँ पूरी हो जाती हैं, सब विजय मिल जाती है, जो दीर्घ सत्र को करते हैं,

१. वेदों में तो गाय को बारम्बार 'अघ्न्या' कहा गया है; यह सन्दर्भ मांसाहारियों द्वारा प्रक्षिप्त है। —**स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती**

ये दीर्घसत्त्रमासते संवत्सरं वा भूयो वा सर्वमेता एवमेव यथापूर्वम् ॥ १२ ॥ अथोदवसानीययेष्ट्या यजते । स आग्नेयं पञ्चकपालं पुरोडाशं निर्वपति तस्य पञ्चपदाः पङ्क्त्यो याज्यानुवाक्या भवन्ति यातयामेव वाऽएतदीजानस्य यज्ञो भवति सोऽस्मात्पराङिव भवत्यग्निर्वै सर्वे यज्ञा अग्नौ हि सर्वान्यज्ञांस्तन्वते ये च पाकयज्ञा ये चेतरे तद्यज्ञमेवैतत्पुनरारभते तथास्यायातयामा यज्ञो भवति तथोऽअस्मान्न पराङ् भवति ॥ १३ ॥ तद्यत्पञ्चकपालः पुरोडाशो भवति । पञ्चपदाः पङ्क्त्यो याज्यानुवाक्याः पाङ्क्तो वै यज्ञस्तद्यज्ञमेवैतत्पुनरारभते तथास्यायातयामा यज्ञो भवति तथोऽअस्मान्न पराङ् भवति ॥ १४ ॥ तस्य हिरण्यं दक्षिणा । आग्नेयो वाऽएष यज्ञो भवत्यग्ने रेतो हिरण्यं तस्माद्धिरण्यं दक्षिणानड्वान्वा स हि वह्नेनाग्नेयोऽग्निदग्धमिव ह्यस्य वहं भवति ॥ १५ ॥ अथो चतुर्गृहीतमेवाज्यं गृहीत्वा । वैष्णव्यर्चा जुहोत्युरु विष्णो विक्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि । घृतं घृतयोने पिब प्र-प्र यज्ञपतिं तिर स्वाहेति यज्ञो वै विष्णुस्तद्यज्ञमेवैतत्पुनरारभते तथास्यायातयामा यज्ञो भवति तथोऽअस्मान्न पराङ् भवति तन्नो यच्छक्नुयात्तद्दद्यान्नादक्षिणꣳ हविः स्यादिति ह्याहुरथ यदैवैषोदवसानीयेष्टिः संतिष्ठतेऽथ सायमाहुतिं जुहोति कालऽएव प्रातराहुतिम् ॥ १६ ॥ ब्राह्मणम् ॥ २ [५. १.] ॥ ॥

वशामालभते । तामालभ्य संज्ञपयन्ति संज्ञप्याह वपामुत्खिदेत्युत्खिद्य वपामनुमर्शं गर्भमिष्टवै ब्रूयात्स यदि न विन्दन्ति किमाद्रियेरन्यद्यु विन्दन्ति तत्र प्रायश्चित्तिः क्रियते ॥ १ ॥ न वै तदवकल्पते । यदेकां मन्यमाना एकयेवैतया चरेयुर्यद्वे मन्यमाना द्वाभ्यामिव चरेयु स्थालीं चैवोष्णीषं चोपकल्पयितवै ब्रूयात् ॥ २ ॥ अथ वपया चरन्ति । यथैव तस्यै चरणं वपया चरित्वाध्वर्युश्च यजमानश्च पुनरेतः स आहाध्वर्युर्निरूहैतं गर्भमिति तꣳ ह नोदरतो निरूहेदार्ताया वै मृताया उदरतो निरूहन्ति यदा वै गर्भः समृद्धो भवति प्रजननेन वै स तर्हि प्रत्यङ्ङेति

वर्ष-भर के लिए या अधिक काल के लिए ।।१२।।

अब वह उदवसानीय इष्टि करता है। वह अग्नि के लिए पाँच कपालों का पुरोडाश बनाता है। उसके याज्य और अनुवाक पाँच पद की पंक्तिवाले होते हैं। इस समय यज्ञ करनेवाले का यज्ञ थक-सा जाता है, वह उससे विमुख-सा हो जाता है। अग्नि 'सब यज्ञ' है, क्योंकि अग्नि में ही सब यज्ञ किये जाते हैं चाहे पाक यज्ञ हों या अन्य। वह इसी यज्ञ को फिर लेता है। इस प्रकार यह यज्ञ थकने नहीं पाता, वह उससे विमुख नहीं होने पाता ।।१३।।

पाँच कपालों का पुरोडाश इसलिए होता है कि याज्य और अनुवाक में पाँच पद की पंक्तियाँ होती हैं और यज्ञ भी पाँचवाला है। इस प्रकार वह फिर यज्ञ को ही आरम्भ करता है। इस प्रकार यज्ञ थकता नहीं और इससे विमुख नहीं होता ।।१४।।

उसकी दक्षिणा सोना है। यह यज्ञ अग्नि का है। सोना अग्नि का वीर्य है। इसलिए सोना दक्षिणा है या बैल, यह ढोने के कारण अग्नि का है। क्योंकि इसका कन्धा ऐसा हो जाता है मानो अग्नि में जला दिया गया ।।१५।।

अब चार भाग घी लेकर विष्णु की ऋचा द्वारा आहुति देता है, "उरु विष्णो विक्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि । घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर स्वाहा" (यजु० ५।३८)—"हे विष्णु, चौड़ी टाँगें बढ़ाओ। हमारे लिए खुले मकान बनाओ। हे घृतयोनि, घृत पियो और यज्ञपति की उन्नति करो।" यज्ञ विष्णु है। इस प्रकार वह यज्ञ को फिर आरम्भ करता है। इस प्रकार यज्ञ थकता नहीं और वह उससे विमुख नहीं होता। इस समय जितनी शक्ति हो उतनी दक्षिणा दे, क्योंकि यज्ञ बिना दक्षिणा के नहीं होना चाहिए ऐसा कहते हैं। जब यह उदवसानीय इष्टि समाप्त हो जाय तो सायंकाल की आहुति देता है। परन्तु प्रातःकाल की आहुति प्रातःकाल ही दी जाती है ।।१६।।

आनुबन्ध्य-यागः

अध्याय ५—ब्राह्मण २

वे वशा का आलभन करते हैं और उसका आलभन करके उसे मारते हैं। मारने के बाद कहते हैं 'वपा को निकाल।' जब वपा निकल चुके तो मारनेवाले से कहना चाहिए कि गर्भ को खोजे (अर्थात् यह देखने का यत्न करे कि गाय कहीं गर्भिणी तो नहीं थी)।[1] यदि गर्भ न मिले तो अच्छा ही है। यदि मिल जाय तो इसका प्रायश्चित्त करना चाहिए ।।१।।

यह तो ठीक है नहीं कि उसको एक (अकेली गाय) मानकर ही कार्य कर डालें या उसको दो मानकर (अर्थात् गाय और उसका पेट का बच्चा) ही कार्य करें। तात्पर्य यह है कि देख-भालकर जाँच कर लेनी चाहिए और उसी के अनुसार बरतना चाहिए। अब कहे कि थाली और उष्णीष (अँगोछा या कपड़े का छोटा-सा टुकड़ा) लाओ ।।२।।

अब वपा से जैसा नियम है उसी के अनुसार कृत्य करते हैं। वपा के कृत्य के पश्चात् अध्वर्यु और यजमान दोनों लौट आते हैं। अध्वर्यु कहता है कि 'गर्भ को निकाल।' क्योंकि बिना कहे तो कोई गर्भ को निकालता नहीं, जब तक कि माता रोगी न हो या मर न गई हो। या जब गर्भ पूरा हो जाता है तो जनने के समय स्वयं ही बाहर निकल आता है। उससे कहना चाहे कि

१. गो-हत्या के ये बीभत्स कर्मकाण्ड सर्वथा प्रक्षिप्त हैं। —**स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती**

तमपि विरुज्य श्रोणी प्रत्यञ्चं निरूहतित्वै ब्रूयात् ॥३॥ तं निरूह्यमाणमभिमन्त्र-
यते । एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सहेति स यदाहैजत्विति प्राणमेवास्मिन्ने-
तद्दधाति दशमास्य इति यदा वै गर्भः समृद्धो भवत्यथ दशमास्यस्तमेतदप्यदश-
मास्यꣳ सन्तं ब्रह्मणैव यजुषा दशमास्यं करोति ॥४॥ जरायुणा सहेति । तद्यथा
दशमास्यो जरायुणा सहेयादेवमेतदाह यथायं वायुरेजति यथा समुद्र एजतीति
प्राणमेवास्मिन्नेतद्दधात्येवायं दशमास्योऽअस्रज्जरायुणा सहेति तद्यथा दशमास्यो
जरायुणा सह स्रꣳसेतैवमेतदाह ॥५॥ तदाहुः । कथमेतं गर्भं कुर्यादित्यङ्गादङ्गाद्धै-
वास्यावद्येयुर्यथैवेतरेषामवदानानामवदानं तत्तु तथा न कुर्यादुत ह्येषोऽविकृ
ताङ्गो भवत्यधस्तादेव ग्रीवा अपिकृत्यैतस्याꣳ स्थाल्यामेतं मेधꣳ श्चोतयेयुः सर्वे-
भ्यो वाऽअस्यैषोऽङ्गेभ्यो मेध श्चोतति तदस्य सर्वेषामेवाङ्गानामवत्तं भवत्यवद्य-
न्ति वशाया अवदानानि यथैव तेषामवदानम् ॥६॥ तानि पशुश्रपणे श्रपयन्ति ।
तदेवैतं मेधꣳ श्रपयन्त्युष्णीषेणावेष्ट्य गर्भं पार्श्वतः पशुश्रपणस्योपनिदधाति यदा
शृतो भवत्यथ समुद्यावदानान्येवाभिजुहोति नैतं मेधमुद्वासयन्ति पशुं तदेवैतं मे-
धमुद्वासयन्ति ॥७॥ तं जघनेन चात्वालमन्तरेण यूपं चाग्निं च हरन्ति । दक्षिणतो
निधाय प्रतिप्रस्थातावद्यत्यथ स्रुचोरुपस्तृणीतेऽथ मनोतायै हविषोऽनुवाच आ-
हावद्यन्ति वशाया अवदानानां यथैव तेषामवदानम् ॥८॥ अथ प्रचरणीति स्रु-
ग्भवति । तस्यां प्रतिप्रस्थाता मेधायोपस्तृणीते द्विरवद्यति सकृदभिघारयति प्र-
त्यनक्त्यवदानेऽअथानुवाच आहाश्राव्याह प्रेष्येति वषट्कृतेऽध्वर्युर्जुहोत्यध्वर्योरनु
होमं जुहोति प्रतिप्रस्थाता ॥९॥ यस्यै ते यज्ञियो गर्भ इति । अयज्ञिया वै गर्भा-
स्तमेतद्ब्रह्मणैव यजुषा यज्ञियं करोति यस्यै योनिर्हिरण्ययीत्यदो वाऽएतस्यै योनिं
विछिन्दन्ति यददो निष्कर्षन्त्यमृतमायुर्हिरण्यं तामेवास्या एतदमृतां योनिं करोत्य-
ङ्गान्यह्रुता यस्य तं मात्रा समजीगमꣳ स्वाहेति यदि पुमान्त्स्याद्यद्यु स्त्री स्यादङ्गा

चाहें जाँघें चीरना ही क्यों न पड़ें इस गर्भ को निकाल ले ॥३॥

जब वह (गर्भ) निकल आवे तो इस मन्त्र को पढ़े, "एजतु दशमास्यो गर्भः" (यजु० ८।२८)—"जरायुणा सह" (यजु० ८।२८)–"दश मास का गर्भ जरायु के साथ स्पन्दन करे।" 'स्पन्दन करे' यह कहकर कि वह उसमें प्राणों की स्थापना करता है। दश मास का इसलिए कहा कि दश मास में गर्भ पूर्णतया बढ़ पाता है। यहाँ यह दस मास का नहीं भी हो तो भी यजु० के मन्त्र पढ़कर वह उसे दस मास का कर देता है ॥४॥

'जरायुणा सह' (यजु० ८।२८)–दस मास का बच्चा जरायु के साथ निकलता है। इसी प्रकार यह भी निकले। "यथायं वायुरेजति यथा समुद्र ऽ एजति" (यजु० ८।२८)—"जैसे यह वायु चलता है या जैसे यह समुद्र चलता है।" इससे वह उसमें प्राणों की स्थापना करता है(?)। "एवायं दशमास्यो ऽ अस्रज्जरायुणा सह" (यजु० ८।२८)–"इसी प्रकार यह दश मास का जरायु के साथ बाहर निकल आया।" अर्थात्—जैसे दश मास का गर्भ जरायु के साथ निकलता है उसी प्रकार यह भी निकले ॥५॥

अब कुछ लोग पूछते हैं कि इस गर्भ का करना क्या चाहिए ? क्या इसके अंग-अंग काट डालने चाहिएँ, जैसे अन्यों के टुकड़े-टुकड़े किये जाते हैं ? नहीं, ऐसा नहीं करना चाहिए। इसके अंग तो अभी बन नहीं पाये। गर्दन के नीचे काटकर उसका मेध थाली में टपका देवे। यह मेध सभी अंगों से टपकता है, इसलिए सभी अंगों का भाग समझा जाता है। अब वह वशा (गाय) के इसी प्रकार भाग करते हैं जैसे किये जाते हैं ॥६॥

पशुश्रपण (पशु को पकाने की अग्नि) पर उन भागों को पकाते हैं। वहीं उस मेध को भी पकाते हैं। गर्भ को अँगोछे में चारों ओर लपेटकर पशुश्रपण के पास रख देते हैं। जब पक जाता है तो उन भागों को इकट्ठा करके आहुति देते हैं (अभिजुहोति), परन्तु मेध की नहीं। अब वे पशु को निकालते हैं और मेध को भी ॥७॥

इसको चात्वाल के पीछे अग्नि और यूप के बीच में होकर ले जाते हैं। दक्षिण की ओर रखकर प्रतिप्रस्थाता (यज्ञ के भागों को) काटता है। अब दोनों स्रुचों में घी लगाता है और (होता से) कहता है कि मनोता के लिए हवि के अवसर पर अनुवाक पढ़। अब वे वशा (गाय) के टुकड़े-टुकड़े करते हैं, उसी प्रकार जैसे करने चाहिएँ ॥८॥

प्रचरणी नाम की एक स्रुक् होती है। उसमें प्रतिप्रस्थाता मेध की एक तह लगा देता है। दो भाग काटता है। एक बार घी डालता है और उन दोनों भागों को पूरा करता है। अब अनुवाक के लिए कहता है, और श्रौषट् कहलवाकर (मैत्रावरुण से) कहता है कि अनुवाक कहलवा। वषट्कार के बाद अध्वर्यु आहुति देता है। अध्वर्यु के होम के पीछे प्रतिप्रस्थाता आहुति देता है, इस मंत्र से—॥९॥

"यस्यै ते यज्ञियो गर्भः" (यजु० ८।२९)—"तू जिसका गर्भ यज्ञ के योग्य हो गया है।" गर्भ यज्ञ के योग्य नहीं था। इसको वह मंत्र पढ़कर यज्ञ के योग्य बनाता है। "यस्यै योनिर्हिरण्ययी" (यजु० ८।२९)—"जिसकी सोने की योनि है।" पहले योनि को फाड़ा था जब उसमें से गर्भ निकाला था। सोना अमर-आयु है। इस प्रकार वह इसकी योनि को अमर बना देता हैं। "अंगान्यह्रुता यस्य तं मात्रा समजीगमं स्वाहा" (यजु० ८/२९)—"जिसके अंग टूटे नहीं हैं उसको मैंने माता के साथ जोड़ा है।" यदि गर्भ नर हो तो ऐसा कहे और यदि गर्भ मादा हो तो

न्यकृता यस्यै तां मात्रा समजीगमꣳ स्वाहेति यद्युऽअविज्ञातो गर्भो भवति पुꣳ-
स्कृत्येव जुहुयात्पुमाꣳसो हि गर्भा अङ्गान्यकृता यस्य तं मात्रा समजीगमꣳ स्वा-
हेत्यदो वाऽएतं मात्रा विष्वञ्चं कुर्वन्ति यददो निष्कर्षन्ति तमेतद्ब्रह्मणैव यजुषा
समर्ध्य मध्यतो यज्ञस्य पुनर्मात्रा सङ्गमयति ॥१०॥ अथाध्वर्युर्वनस्पतिना चरति ।
वनस्पतिनाध्वर्युश्चरित्वा यान्युपभृत्यवदानानि भवन्ति तानि समानयमान आहा-
ग्नये स्विष्टकृतेऽनुब्रूहीत्यत्याक्रामति प्रतिप्रस्थाता स एतꣳ सर्वमेव मेधं गृह्णीते
ऽथोपरिष्टाद्द्विराज्यस्याभिघारयत्याश्राव्याह प्रेष्येति वषट्कृतेऽध्वर्युर्जुहोत्यध्वर्योरनु
होमं जुहोति प्रतिप्रस्थाता ॥११॥ पुरुदस्मो विषुरूप इन्दुरिति । बहुदान इति
हैतद्यदाह पुरुदस्म इति विषुरूप इति विषुरूपा-इव हि गर्भा इन्दुरन्तर्महिमा-
नमानञ्ज धीर इत्यन्तर्ह्येष मातर्यक्तो भवत्येकपदीं द्विपदीं त्रिपदीं चतुष्पदीमष्टा-
पदीं भुवनानु प्रथन्ताꣳ स्वाहेति प्रथयत्येवैनामेतत्सुभूयो ह जयत्यष्टापद्येष्ट्वा यदु
चानष्टापद्या ॥१२॥ तदाहुः । क्वैतं गर्भं कुर्यादिति वृक्षऽएवैनमुद्दध्युरन्तरिक्षाय-
तना वै गर्भा अन्तरिक्षमिवैतद्यद्वृक्षास्तदेनꣳ स्वऽएवायतने प्रतिष्ठापयति तदु वा
ऽआहुर्य एनं तत्रानुव्याहरेद्वृक्षऽएनं मृतमुद्वास्यन्तीति तथा हैव स्यात् ॥१३॥
अप एवैनमभ्यवहरेयुः । आपो वाऽअस्य सर्वस्य प्रतिष्ठा तदेनमप्स्वेव प्रतिष्ठा-
पयति तदु वाऽआहुर्य एनं तत्रानुव्याहरेदप्स्वेव मरिष्यतीति तथा हैव स्यात्
॥१४॥ आखूत्करऽएवैनमुपकिरेयुः । इयं वाऽअस्य सर्वस्य प्रतिष्ठा तदेनमस्या-
मेव प्रतिष्ठापयति तदु वाऽआहुर्य एनं तत्रानुव्याहरेत्क्षिप्रेऽस्मै मृताय श्म-
शानं करिष्यन्तीति तथा हैव स्यात् ॥१५॥ पशुश्रपणऽएवैनं मरुद्भ्यो जुहुयात् ।
अहुतादो वै देवानां मरुतो विडहुतमिवैतद्यदशृतो गर्भ आहवनीयाद्वाऽएष
आहुतो भवति पशुश्रपणस्तथाह न बहिर्धा यज्ञाद्भवति न प्रत्यक्षमिवाहवनीये
देवानां वै मरुतस्तदेनं मरुत्स्वेव प्रतिष्ठापयति ॥१६॥ स हुत्वैव समिष्टयजूꣳषि ।

'यस्य' के स्थान में 'यस्यै' और 'तं' के स्थान में 'तां' कह दे अर्थात् "अंगान्यह्रुता यस्यै तां मात्रा समजीगमँ्स्वाहा" (यजु० ८।२९)। "यदि गर्भ में (नर-मादा का भेद) ज्ञात न हो सके तो नर मानकर ही कार्य करे क्योंकि 'गर्भ' पुंल्लिंग है अर्थात् "अंगान्यह्रुता यस्य तं मात्रा समजीगमँ्स्वाहा" (यजु० ८।२९)। पहले इसको इसकी माता से अलग किया था जब इसे माँ के गर्भ से निकाला था। अब इसको मंत्र-पाठ के द्वारा पूर्ण करके इसकी माँ से मिला देता है ॥१०॥

अब अध्वर्यु वनस्पति के लिए आहुति देता है। अध्वर्यु वनस्पति के लिए आहुति देने के पश्चात् उपभृत में जो भाग हैं उनको मिलाकर कहता है, 'अग्नि स्विष्टकृत् के लिए अनुवाक पढ़।' अब प्रतिप्रस्थाता आता है और सम्पूर्ण मेध को लाता है। उसके ऊपर दो बार घी छोड़ता है। श्रौषट् कहलवाकर अध्वर्यु कहता है 'प्रेष्य' अर्थात् आरम्भ करो। वषट्कार के पीछे अध्वर्यु आहुति देता है। अध्वर्यु के पीछे प्रतिप्रस्थाता होम करता है—॥११॥

इस मंत्र से—"पुरुदस्मो विषरूप ऽ इन्दुः" (यजु० ८।३०)—'पुरुदस्म' का अर्थ है बहु-दान (बहुत दान करनेवाला); विषरूप का अर्थ है बहुरूप वाला, क्योंकि गर्भ कई रूपों के होते हैं। "इन्दुरन्तर्महिमानमानञ्ज धीरः" (यजु० ८।३०)—"मेधावी रस ने अपने भीतर महत्ता को धारण किया।" वस्तुतः यह गर्भ माता में स्थित हुआ। "एकपदीं द्विपदीं त्रिपदीं चतुष्पदीमष्टापदीं भुवनानु प्रथन्ताँ स्वाहा" (यजु० ८।३०)—"एक पैर वाली, दो पैर वाली, तीन पैर वाली, चार पैर वाली, आठ पैर वाली में ये भुवन प्रसरित हों।" यह गाय की बड़ाई है। अष्टापदी न होने के स्थान में यदि अष्टापदी से आहुति दी जाय तो अधिक फल होगा ॥१२॥

इस पर कुछ लोग पूछते हैं कि गर्भ का क्या किया जाय? उसको वृक्ष पर फैला दें। गर्भ अन्तरिक्ष में स्थित रहते हैं। वृक्ष भी अन्तरिक्ष है, इस प्रकार इसकी इसी से प्रतिष्ठा हो जायगी, परन्तु इस पर लोग कहते हैं कि यदि कोई गाली दे कि वह 'इसको काटकर वृक्ष पर लटका देंगे' तो उसी के समान यह भी है ॥१३॥

इसको जल में छोड़ दें। क्योंकि जल तो इस सबकी प्रतिष्ठा है। इस प्रकार जल में इसकी स्थापना हो जाएगी। परन्तु इस पर भी लोग कहते हैं कि जैसे कोई गाली दे कि 'वह जल में डूबकर मर जाय' यह भी वैसा ही है ॥१४॥

उसको घूरे में गाड़ दें। यह पृथिवी तो सभी की प्रतिष्ठा है। इस प्रकार वह इसकी पृथिवी में स्थापना करता है। इस पर भी लोगों का कहना है कि यह भी वैसा ही होगा जैसे कोई गाली दे कि यह मर गया, इसके लिए श्मशान तैयार है ॥१५॥

पशुश्रपण में इसकी मरुतों के लिए आहुति दे देवे। देवों में मरुत् या साधारण पुरुष तो आहुति को खाते नहीं। बे-पका गर्भ तो आहुति में गिना नहीं जाता (अहुत है)। पशुश्रपण तो आहवनीय में से लिया जाता है। इस प्रकार इसका यज्ञ से बहिष्कार नहीं होगा, और न यह प्रत्यक्ष रूप में आहवनीय में डाला जाता है। मरुत् देवों के ही हैं। इस प्रकार वह इसकी मरुतों में स्थापना कर देता है ॥१६॥

समिष्ट यजुओं की आहुति के पीछे जब अंगारे कुछ शान्त हो रहे हों तो अंगोछे में गर्भ

प्रथमावशान्तेष्वङ्गारेष्वेतꣳ सोष्णीषं गर्भमादत्ते तं प्राङ् तिष्ठञ्जुहोति मारुत्यऽर्चा मरुतो यस्य हि क्षये पाथा दिवो विमहसः स सुगोपातमो जन इति न स्वाहाकरोत्यहुतादो वै देवानां मरुतो विडहुतमिवैतद्यदस्वाहाकृतं देवानां वै मरुतस्तदेनं मरुत्स्वेव प्रतिष्ठापयति ॥१७॥ अथाङ्गारैरभिसमूहति । मही द्यौः पृथिवी च न इमं यज्ञं मिमिक्षताम् । पिपृतां नो भरीमभिरिति ॥१८॥ ब्राह्मणम् ॥ ३ [५. २.] ॥ ॥ शतम् २७०० ॥ ॥

इन्द्रो ह वै षोडशी । तं नु सकृदिन्द्रं भूतान्यत्यरिच्यन्त प्रजा वै भूतानि ता हैनेन सदृग्भवमिवासुः ॥१॥ इन्द्रो ह वाऽईक्षां चक्रे । कथं न्वहमिदꣳ सर्वमतितिष्ठेयमर्वागेव मदिदꣳ सर्वꣳ स्यादिति स एतं ग्रहमपश्यत्तमगृह्णीत स इदꣳ सर्वमेवात्यतिष्ठदर्वागेवास्मादिदꣳ सर्वमभवत्सर्वꣳ ह वाऽइदमतितिष्ठत्यर्वागेवास्मादिदꣳ सर्वं भवति यस्यैवं विदुष एतं ग्रहं गृह्णन्ति ॥२॥ तस्मादेतदृषिणाभ्यानूक्तम् । न ते महित्वमनुभूदध द्यौर्यदन्यया स्फिग्या क्षामवस्था इति न ह वाऽअस्यासौ द्यौरन्यतरां चन स्फिगीमनुबभूव तथेदꣳ सर्वमेवात्यतिष्ठदर्वागेवास्मादिदꣳ सर्वमभवत्सर्वꣳ ह वाऽइदमतितिष्ठत्यर्वागेवास्मादिदꣳ सर्वं भवति यस्यैवं विदुष एतं ग्रहं गृह्णन्ति ॥३॥ तं वै हरिवत्यऽर्चा गृह्णाति । हरिवतीषु स्तुवते हरिवतीरनुशꣳसति वीर्यं वै हर इन्द्रोऽसुराणाꣳ सपत्नानाꣳ समवृङ्क्त तथोऽएवैष एतद्वीर्यꣳ हरः सपत्नानाꣳ संवृङ्क्ते तस्माद्धरिवत्यऽर्चा गृह्णाति हरिवतीषु स्तुवते हरिवतीरनुशꣳसति ॥४॥ तं वाऽअनुष्टुभा गृह्णाति । गायत्रं वै प्रातःसवनं त्रैष्टुभं माध्यन्दिनꣳ सवनं जागतं तृतीयसवनमथातिरिक्तानुष्टुबत्यैवैनमेतद्रेचयति तस्मादनुष्टुभा गृह्णाति ॥५॥ तं वै चतुःस्रक्तिना पात्रेण गृह्णाति । त्रयो वाऽइमे लोकास्तदिमानेव लोकांस्त्रिभिः स्रक्तिभिराप्नोत्यत्यैवैनं चतुर्थ्या स्रक्त्या रेचयति तस्माच्चतुःस्रक्तिना पात्रेण गृह्णाति ॥६॥ तं वै प्रातःसवने गृह्णी-

को लेकर पूर्वाभिमुख होकर मरुतों के लिए इस मंत्र से आहुति दे देता है, "मरुतो यस्य हि क्षये पाथा दिवो विमहसः। स सुगोपातमो जनः" (यजु० ८।३१)—"हे द्यौलोक के वीर मरुतो ! जिसके घर में तुम पीते हो वह सबसे अधिक सुरक्षित होता है।" इसके साथ 'स्वाहा' का उच्चारण नहीं होता; देवों में मरुत् (साधारण जन) आहुति दिये हुए को नहीं खाते। 'स्वाहा' के बिना जो आहुति दी जाती है वह आहुति नहीं समझी जाती। मरुत् देवों में से हैं। इस प्रकार वह इसको मरुतों के साथ प्रतिष्ठित कर देता है ।।१७।।

अब वह इसको कोयले से ढक देता है, इस मंत्र से, "मही द्यौः पृथिवी च न ऽ इमं यज्ञं मिमिक्षताम्। पिपृतां नो भरीमभिः" (यजु० ८।३२, ऋ० १।२२।१३)—"बड़े द्यौ-पृथिवी इस हमारे यज्ञ को मिलावें और हमको शक्ति देनेवाले पदार्थों से पूर्ण करें" ।।१८।।

षोडशिग्रहः

अध्याय ५—ब्राह्मण ३

षोडशी ग्रह इन्द्र है। एक बार भूत अर्थात् प्राणी-वर्ग इन्द्र से बढ़ गये। प्राणी ही प्रजा हैं। वे उसकी बराबरी करने लगे ।।१।।

इन्द्र ने सोचा मैं इन सबसे कैसे बढ़ सकूं और ये सब मुझसे नीचे किस प्रकार रहें ? उसने इस ग्रह (षोडशी) को देखा और इसको ले लिया। वह इन सबसे बढ़ गया और ये सब उससे नीचे हो गये। जो इस रहस्य को समझकर इस ग्रह को ग्रहण करता है वह सबसे बढ़ जाता है और सब उसके अधीन हो जाते हैं ।।२।।

इसीलिए तो ऋषि का वचन है—"न ते महित्वमनु भूदध द्यौर्यदन्यया स्फिग्या क्षामवस्थाः" (ऋ० ३।३२।११)—"जब तू अपनी दूसरी जाँघ के सहारे पृथिवी पर ठहरा तो द्यौलोक तेरी बड़ाई का अनुभव नहीं कर सका, या तेरी बड़ाई को न पहुँच सका।" वस्तुतः यह द्यौ उसकी दूसरी जाँघ तक न पहुँच सका। इस प्रकार वह यहाँ की सब वस्तुओं से बढ़ गया और सब वस्तुएँ उसके नीचे हो गईं। वस्तुतः इस रहस्य को समझकर यदि जिस किसी के लिए इस ग्रह को निकालते हैं, वह सबसे बढ़ जाता है और सब उसके अधीन हो जाते हैं ।।३।।

इस ग्रह को लेते समय 'हरिवती' ऋचा पढ़ी जाती है (अर्थात् वह मंत्र जिसमें 'इन्द्र हरिवान्' का उल्लेख हो)। (उद्गाता लोग) 'हरिवती' से ही स्तुति करते हैं और होता 'हरिवती' का ही पाठ करता है। इन्द्र ने अपने शत्रु असुरों का वीर्य अर्थात् 'हर' ले लिया। इसी प्रकार यह (यजमान) भी अपने शत्रुओं के 'हर' को छीन लेता है। इसीलिए वह 'हरिवान्' वाली ऋचा से ग्रह को लेता है। हरिवान् की स्तुति होती है और हरिवती ऋचाओं का ही (उद्गाता लोग) पाठ करते हैं ।।४।।

वह इसको अनुष्टुभ् छन्द से लेता है। प्रातःसवन गायत्री का है, दोपहर का सवन त्रिष्टुभ् का, तीसरा सवन जगती का। अनुष्टुभ् इन सबके ऊपर है। इसी प्रकार इस ग्रह को भी सबके ऊपर रखता है। इसीलिए इसको अनुष्टुभ् छन्द से ग्रहण करता है ।।५।।

उसको चौकोर पात्र में लेता है। ये लोक तीन हैं। तीन कोनों से वह तीन लोकों का ग्रहण करता है। चौथे कोने से वह इस सोने को सबके ऊपर स्थापित करता है। इसलिए वह इसके चौकोर पात्र लेता है ।।६।।

इसको प्रातःसवन के आग्रयण के लेने के पीछे लेना चाहिए। प्रातःसवन में लेने के पश्चात्

यात् । आग्रयणं गृहीत्वा स प्रातःसवने गृहीत ऐतस्मात्कालादुपशेते तदेनं सर्वाणि सवनान्यतिरेचयति ॥७॥ माध्यन्दिने वैनं सवने गृह्णीयात् । आग्रयणं गृहीत्वा सोऽएषा मीमांसैव प्रातःसवनऽएवैनं गृह्णीयादाग्रयणं गृहीत्वा स प्रातःसवने गृहीत ऐतस्मात्कालादुपशेते ॥८॥ अथातो गृह्णात्येव । आतिष्ठ वृत्रहन्रथं युक्ता ते ब्रह्मणा हरी । अर्वाचीनं सु ते मनो ग्रावा कृणोतु वग्नुना । उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिनऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिनऽइति ॥९॥ अनया वा । युक्ष्वा हि केशिना हरी वृषणा कक्ष्यप्रा । अथा न इन्द्र सोमपा गिरामुपश्रुतिं चर । उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिनऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिनऽइति ॥१०॥ अथैतस्य स्तोत्रमुपाकरोति । सोमोऽत्यरेच्युपावर्तध्वमित्यत्येवैनमेतद्रेचयति तं वै पुरास्तमयादुपाकरोत्यस्तमितेऽनुशंसति तदेनाहोरात्रे संदधाति तस्मात्पुरास्तमयादुपाकरोत्यस्तमितेऽनुशंसति ॥११॥ ब्राह्मणम् ॥४ [५. ३.] ॥ ॥

सर्वे ह वै देवाः । अग्रे सदृशा आसुः सर्वे पुण्यास्तेषां सर्वेषां सदृशानां सर्वेषां पुण्यानां त्रयोऽकामयन्तातिष्ठावानः स्यामेत्यग्निरिन्द्रः सूर्यः ॥१॥ तेऽर्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुः । तऽएतानतिग्राह्यान्ददृशुस्तानत्यगृह्णत तद्यदेनानत्यगृह्णत तस्मादतिग्राह्या नाम तेऽतिष्ठावानोऽभवन्यथैतऽएतदतिष्ठेवातिष्ठेव ह वै भवति यस्यैवं विदुष एतान्ग्रहान्गृह्णन्ति ॥२॥ नो ह वाऽइदमग्रेऽग्नौ वर्च आस । यदिदमस्मिन्वर्चः सोऽकामयतेदं मयि वर्चः स्यादिति स एतं ग्रहमपश्यत्तमगृह्णीत ततोऽस्मिन्नेतद्वर्च आस ॥३॥ नो ह वाऽइदमग्रऽइन्द्रऽओज आस । यदिदमस्मिन्नोजः सोऽकामयतेदं मय्योजः स्यादिति स एतं ग्रहमपश्यत्तमगृह्णीत ततोऽस्मिन्नेतदोज आस ॥४॥ नो ह वाऽइदमग्रे सूर्ये भ्राज आस । यदिदमस्मिन्भ्राजः सोऽकामयतेदं मयि भ्राजः स्यादिति स एतं ग्रहमपश्यत्तमगृह्णीत ततोऽस्मिन्नेतद्भ्राज

इस समय से रक्खा ही रहता है। इस प्रकार वह इसको सब सवनों से बढ़ा देता है ॥७॥

या आग्रयण के लेने के पीछे दोपहर के सवन में इसको लेवे। यह तो मीमांसा मात्र है। लेना तो प्रातःसवन में ही चाहिए, आग्रयण के पश्चात्। वह प्रातःसवन में लिये जाने के पश्चात् रक्खा ही रहता है ॥८॥

वह उसमें से इस मंत्र से लेता है—"आतिष्ठ वृत्रहत्रथं युक्ता ते ब्रह्मणा हरी। अर्वाचीनँ सु ते मनो ग्रावा कृणोतु वग्नुना। उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिन ऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिने" (यजु० ८।३३, ऋ० १।८४।३)—"हे वृत्र को मारनेवाले, रथ पर चढ़। तेरे घोड़े मंत्रों द्वारा जोत दिये गए। पत्थर (सोम पीसने का) अपने शब्द द्वारा तेरे मन को इधर खींचे। तू आश्रय के लिए लिया गया है षोडशी इन्द्र के लिए तुझको। यह तेरी योनि है। इन्द्र षोडशी के लिए तुझको" ॥९॥

या इस मंत्र से—"युक्ष्वा हि केशिना हरी वृषणा कक्ष्यप्रा। अथा न ऽ इन्द्र सोमपा गिरामुपश्रुतिं चर। उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिन ऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिने" (यजु० ८।३४, ऋ० १।१०।३)—"बड़े केशवाले, प्रबल और लगामवाले घोड़ों को जोतो। हे सोम या इन्द्र! हमारी वाणी सुनने के लिए यहाँ आ। तू आश्रय के लिए लिया गया है इन्द्र षोडशी के लिए तुझको। यह तेरी योनि है। तुझको इन्द्र षोडशी के लिए" ॥१०॥

अब लौटकर स्तोत्र पढ़ता है, 'सोम सबके ऊपर हो गया। लौट आओ।' वस्तुतः वह इसे ऊपर बढ़ा देता है (षोडशी ग्रह के द्वारा)। सूर्यास्त से ही पढ़ता है। सूर्यास्त के पीछे शस्त्र पढ़ा जाता है। वह सूर्यास्त से पहले इसको पढ़ता है और सूर्यास्त के पीछे शस्त्र-पाठ करता है। इस प्रकार वह रात और दिन को मिला देता है ॥११॥

अतिग्राह्या ग्रहाः

अध्याय ५—ब्राह्मण ४

पहले सब देव एकसमान थे। सब भले थे। उन सब एक-से और पुण्य-देवों में से तीन अर्थात् अग्नि, इन्द्र और सूर्य ने चाहा कि हम बढ़ जावें ॥१॥

वे पूजा और श्रम करते रहे। उन्होंने इन अतिग्राह्य (ग्रहों) को देखा और उनको (अति+ग्रह) अधिक निकाल लिया। इसलिए इनका नाम 'अतिग्राह्य' पड़ा। वे बढ़ गये जैसे कि अब तक बढ़े हैं। जो कोई इस रहस्य को समझकर इन 'अतिग्राह्य' ग्रहों को निकालता है वह बढ़ जाता है ॥२॥

अग्नि में पहले वह तेज नहीं था जो अब है। उसने चाहा कि मुझमें तेज हो जाय। उसने इस ग्रह को देखा और अपने लिए निकाल लिया। तब से उसमें यह तेज आ गया ॥३॥

इन्द्र में पहले वह ओज नहीं था जो अब है। उसने चाहा कि मुझमें यह चमक आ जाय। उसने इस ग्रह को देखा और अपने लिए निकाल लिया। तब से उसमें ओज है ॥४॥

सूर्य में पहले वह चमक न थी जो अब है। उसने चाहा कि मुझमें यह चमक आ जाय। उसने इस ग्रह को देखा और अपने लिए निकाल लिया। तब से उसमें चमक है। वस्तुतः इस

असैतानि ह वै तेजाꣳस्येतानि वीर्याण्यात्मन्धत्ते यस्यैवं विदुष एतान्ग्रहान्गृह्णन्ति ॥५॥ तान्वै प्रातःसवने गृह्णीयात् । आग्रयणं गृहीत्वात्मा वाऽआग्रयणो बहु वाऽइदमात्मन एकैकमतिरिक्तं क्लोमहृदयं व्यचत्वत् ॥ ६॥ माध्यन्दिने वैनान्त्सवने गृह्णीयात् । उक्थ्यं गृहीत्वोपाकरिष्यन्वा पूतभृतोऽयꣳ ह वाऽअस्यैषोऽनिरुक्त आत्मा यदुक्थ्यः सोऽएषा मीमाꣳसैव प्रातःसवनऽएवैनान्गृह्णीयादाग्रयणं गृहीत्वा ॥७॥ ते माहेन्द्रस्यैवानु होमꣳ हूयन्ते । एष वाऽइन्द्रस्य निष्केवल्यो ग्रहो यन्माहेन्द्रोऽप्यस्यैतन्निष्केवल्यमेव स्तोत्रं निष्केवल्यꣳ शस्त्रमिन्द्रो वै यजमानो यजमानस्य वाऽएते कामाय गृह्यन्ते तस्मान्माहेन्द्रस्यैवानु होमꣳ हूयन्ते ॥८॥ अथातो गृह्णात्येव । अग्ने पवस्व स्वपा अस्मे वर्चः सुवीर्यम् । दधद्रयिं मयि पोषम् । उपयामगृहीतोऽस्यग्नये त्वा वर्चसऽएष ते योनिरग्नये त्वा वर्चसे ॥९॥ उत्तिष्ठन्नोजसा । सह पीत्वी शिप्रेऽअवेपयः । सोममिन्द्र चमूसुतम् । उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वौजसऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वौजसे ॥ १०॥ अदृश्रमस्य केतवः । वि रश्मयो जनाँ२॥ऽअनु । भ्राजन्तो अग्नयो यथा । उपयामगृहीतोऽसि सूर्याय त्वा भ्राजायैष ते योनिः सूर्याय त्वा भ्राजायेति ॥११॥ तेषां भक्षः । अग्ने वर्चस्विन्वर्चस्वांस्त्वं देवेष्वसि वर्चस्वानहं मनुष्येषु भूयासमिन्द्रौजिष्ठौजिष्ठस्त्वं देवेष्वस्योजिष्ठोऽहं मनुष्येषु भूयासꣳ सूर्य भ्राजिष्ठ भ्राजिष्ठस्त्वं देवेष्वसि भ्राजिष्ठोऽहं मनुष्येषु भूयासमित्येतानि ह वै भ्राजाꣳस्येतानि वीर्याण्यात्मन्धत्ते यस्यैवं विदुष एतान्ग्रहान्गृह्णन्ति ॥१२॥ तान्वै पृष्ठ्ये षडहे गृह्णीयात् । पूर्वे त्र्यहऽआग्नेयमेव प्रथमेऽहन्नैन्द्रं द्वितीये सौर्यं तृतीयऽएवमेवान्वहम् ॥१३॥ तानु हैकऽउत्तरे त्र्यहे गृह्णन्ति । तदु तथा न कुर्यात्पूर्वऽएवैनांस्त्र्यहे गृह्णीयाद्यद्युत्तरे त्र्यहे ग्रहीष्यन्त्स्यात्पूर्वऽएवैनांस्त्र्यहे गृहीत्वाथोत्तरे त्र्यहे गृह्णीयादेवमेव यथापूर्वं विश्वजिति सर्वपृष्ठऽएकाहऽएव गृह्यन्ते ॥१४॥ ब्राह्मणम् ॥ ५ [५. ४.] ॥॥

रहस्य को समझकर जिसके लिए ये ग्रह निकाले जाते हैं वह इन तेज, पराक्रमोंवाला हो जाता है ॥५॥

इनको प्रातःसवन में लेना चाहिए, आग्रयण ग्रह को लेने के पीछे। आग्रयण आत्मा है। अन्य इसके एक-एक करके अतिरिक्त अंग हैं जैसे क्लोम (फेफड़े) और हृदय तथा अन्य ॥६॥

या इन ग्रहों को दोपहर के सवन में पूतमृत में से लेना चाहिए, उक्थ्य ग्रह को लेने के पीछे अथवा स्तोत्र पढ़ने के समय (उपाकरिष्यन्)। उक्थ्य इसका अनिरुक्त आत्मा है। परन्तु यह तो मीमांसा मात्र है। वस्तुतः इसको आग्रयण के पीछे प्रातःसवन में ही लेना चाहिए ॥७॥

माहेन्द्र ग्रह के पीछे इनकी आहुति दी जाती है। यह जो माहेन्द्र ग्रह है, इन्द्र का निष्केवल्य (अकेला या अपना निज का) ग्रह है। इसी प्रकार स्तोत्र तथा शस्त्र भी इन्द्र के अपने निज के (निष्केवल्य हैं।) यजमान इन्द्र है, उसी के लिए ये ग्रह निकाले जाते हैं। इसलिए माहेन्द्र ग्रह के पीछे इनकी आहुति दी जाती है ॥८॥

इन ग्रहों को इस प्रकार निकालता है (पहला इस मंत्र से)—"अग्ने पवस्व स्वपा ऽ अस्मे वर्चः सुवीर्यम्। दधद्रयिं मयि पोषम्। उपयामगृहीतोऽस्यग्नये त्वा वर्चस ऽ एष ते योनिरग्नये त्वा वर्चसे" (यजु० ८।३८, ऋ० ९।६६।२१)—"हे अग्नि, अपने कार्य में दक्ष, तू पवित्र हो, मुझे तेज और पराक्रम दे। धन और पुष्टि दे। तू आश्रय के लिए लिया गया है अग्नि के लिए तुझे, तेज के लिए। यह तेरी योनि है। अग्नि के लिए तुझको, तेज के लिए तुझको" ॥९॥

दूसरा इस मंत्र से—"उत्तिष्ठन्नोजसा सह पीत्वी शिप्रे ऽ अवेपयः। सोममिन्द्र चमू सुतम्।" उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वौजस ऽ एष ते योनिरन्द्राय त्वौजसे" (यजु० ८।३९, ऋ० ८।७६।१०) "हे इन्द्र! आपने ओज के साथ ग्रह में निकाले हुए सोम को इस प्रकार पिया है कि ठोढ़ी आदि कँप गए हैं। तू आश्रय के लिए लिया गया है। तुझे इन्द्र के लिए ओज के साथ। यह तेरी योनि है। तुझे इन्द्र के लिए, ओज के लिए" ॥१०॥

तीसरा इस मंत्र से—"अदृश्रमस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ२ ऽ अनु। भ्राजन्तो अग्नयो यथा। उपयामगृहीतोऽसि सूर्याय त्वा भ्राजायैष ते योनिः सूर्याय त्वा भ्राजाया" (यजु० ८।४०, ऋ० १।५०।३)—"जैसे तेजयुक्त अग्नियाँ दिखाई देती हैं उसी प्रकार इसके केतु और रश्मियाँ चमकें। तुझे आश्रय के लिए लिया गया। सूर्य के लिए तुझको, चमकनेवाले के लिए तुझको। यह तेरी योनि है। सूर्य के लिए तुझको, प्रकाश के लिए तुझको" ॥११॥

अब सोम-पान इस प्रकार है (पहला)—"अग्ने वर्चस्विन् वर्चस्वाँस्त्वं देवेष्वसि वर्चस्वानहं मनुष्येषु भूयासम्" (यजु० ८।३८)—"हे वर्चस्वी अग्नि! तू देवों में वर्चस्वी है। मैं मनुष्यों में वर्चस्वी हो जाऊँ।" (दूसरा)—"इन्द्रौजिष्ठौजिष्ठस्त्वं देवेष्वस्योजिष्ठोऽहं मनुष्येषु भूयासम्" (यजु० ८।३९)—"हे ओजवाले इन्द्र! तू देवों में ओजवाला है। मैं मनुष्यों में ओजिष्ठ हो जाऊँ।" (तीसरा)—"सूर्य्य भ्राजिष्ठ भ्राजिष्ठस्त्वं देवेष्वसि भ्राजिष्ठोऽहं मनुष्येषु भूयासम्" (यजु० ८।४०)—"हे तेजयुक्त सूर्य! तू देवों में तेजयुक्त है। मैं मनुष्यों में तेजयुक्त हो जाऊँ।" इस रहस्य को जाननेवाले जिस मनुष्य के लिए ये ग्रह निकाले जाते हैं उसके लिए ये ऋत्विज् उसमें तेज और पराक्रम की स्थापना करते हैं ॥१२॥

इनको पृष्ठ्य षडह (छः दिन षडह होता है) के पहले तीन दिनों में निकालना चाहिए, अर्थात् अग्नि का पहले दिन, इन्द्र का दूसरे दिन और सूर्य का तीसरे दिन। इस प्रकार एक-एक प्रतिदिन ॥१३॥

कुछ लोग इनको पिछले तीन दिन में निकालते हैं, परन्तु ऐसा न करना चाहिए। इनको पहले तीन दिन में ही निकालना चाहिए। यदि पिछले तीन दिनों में ही निकालने की इच्छा हो तो पहले इनको पहले तीन दिन में निकाल ले और फिर पिछले तीन दिन में। 'विश्वजित् सर्व-पृष्ठ' में ये तीनों ग्रह यथाक्रम एक ही दिन में निकाले जाते हैं ॥१४॥

एष वै प्रजापतिः । य एष यज्ञस्तायते यस्मादिमाः प्रजाः प्रजाता एतम्बेवा-प्येतर्ह्यनु प्रजायन्ते ॥१॥ उपाᳬशुपात्रमेवान्वजाः प्रजायन्ते । तद्वै तत्पुनर्यज्ञे प्र-युज्यते तस्मादिमाः प्रजाः पुनरभ्यावर्तं प्रजायन्ते ॥२॥ अन्तर्यामपात्रमेवान्ववयः प्रजायन्ते । तद्वै तत्पुनर्यज्ञे प्रयुज्यते तस्मादिमाः प्रजाः पुनरभ्यावर्तं प्रजायन्ते ॥३॥ अथ यदेतयोरुभयोः । सह सतोरुपाᳬशुं पूर्वं जुहोति तस्मात्तु सह सतोऽजावि-कस्योभयस्यैवाजाः पूर्वा यन्त्यनूच्योऽवयः ॥४॥ अथ यदुपाᳬशुᳬ हुत्वा । ऊर्ध्वमु-न्मार्ष्टि तस्मादिमा अजा अरा उत्तरा आक्रममाणा-इव यन्ति ॥५॥ अथ यदन्तर्या-मᳬ हुत्वा । अवाञ्चमवमार्ष्टि तस्मादिमा अवयोऽवाचीनशीर्ष्ण्यः खनन्त्य-इव य-न्त्येता वै प्रजापतेः प्रत्यक्षतमां यदजावयस्तस्मादेतास्त्रिः संवत्सरस्य विजायमाना द्वौ त्रीनिति जनयन्ति ॥६॥ शुक्रपात्रमेवानु मनुष्याः प्रजायन्ते । तद्वै तत्पुनर्यज्ञे प्रयुज्यते तस्मादिमाः प्रजाः पुनरभ्यावर्तं प्रजायन्तऽएष वै शुक्रो य एष तपत्येष उऽएवेन्द्रः पुरुषो वै पशूनामिन्द्रस्तस्मात्पशूनामीष्टे ॥७॥ ऋतुपात्रमेवान्वेकश-फं प्रजायते । तद्वै तत्पुनर्यज्ञे प्रयुज्यते तस्मादिमाः प्रजाः पुनरभ्यावर्तं प्रजायन्त ऽइतीव वाऽऋतुपात्रमितीवैकशफस्य शिर आग्रयणपात्रमुक्थ्यपात्रमादित्यपात्र-मेतान्येवानु गावः प्रजायन्ते तानि वै तानि पुनर्यज्ञे प्रयुज्यन्ते तस्मादिमाः प्रजाः पुनरभ्यावर्तं प्रजायन्ते ॥८॥ अथ यदजाः । कनिष्ठानि पात्राण्यनु प्रजायन्ते तस्मा-देतास्त्रिः संवत्सरस्य विजायमाना द्वौ त्रीनिति जनयन्त्यः कनिष्ठाः कनिष्ठानि हि पात्राण्यनु प्रजायन्ते ॥९॥ अथ यद्गावः । भूयिष्ठानि पात्राण्यनु प्रजायन्ते त-स्मादेताः सकृत्संवत्सरस्य विजायमाना एकैकं जनयन्त्यो भूयिष्ठा भूयिष्ठानि हि पात्राण्यनु प्रजायन्ते ॥१०॥ अथ द्रोणकलशे । अन्ततो हारियोजनं ग्रहं गृह्णाति प्रजापतिर्वै द्रोणकलशः स इमाः प्रजा उपावर्तते ता अवति ता अभिजिघ्रत्येत-द्वाऽएना भवति यदेनाः प्रजनयति ॥११॥ पञ्च ह त्वेव तानि पात्राणि । यानी-

अध्याय ५—ब्राह्मण ५

यह जो यज्ञ किया जाता है यही प्रजापति है जिससे प्रजाएँ उत्पन्न हुई हैं या अब तक उत्पन्न होती हैं ।।१।।

उपांशु पात्र के पीछे बकरियाँ लाई जाती हैं। इस उपांशु पात्र का प्रयोग यज्ञ में पुनः-पुनः होता है। इसलिए ये प्रजा भी फिर-फिर लाई जाती हैं ।।२।।

अन्तर्याम पात्र के पीछे भेड़ें लाई जाती हैं। इस अन्तर्याम पात्र का प्रयोग यज्ञ में पुनः-पुनः होता है। इसलिए ये प्रजा भी फिर-फिर लाई जाती हैं ।।३।।

अब चूँकि इन दोनों पात्रों के होते हुए उपांशु की आहुति पहले दी जाती है, इसी प्रकार बकरियों और भेड़ों के साथ होते हुए बकरियाँ आगे चलती हैं, भेड़ें पीछे ।।४।।

अब चूँकि उपांशु की आहुति देकर उसको ऊपर से पोंछते हैं, इसलिए जिस प्रकार तेज (गाड़ी के) आरे ऊपर को चलते हैं इसी प्रकार ये बकरियाँ भी बड़ी तेजी से चढ़ जाती हैं ।।५।।

और चूँकि अन्तर्याम की आहुति देकर उसको नीचे से पोंछते हैं, इसीलिए भेड़ें नीचे को सिर करके चलती हैं मानो खोद रही हैं। ये बकरियाँ और भेड़ें प्रजापति के सबके प्रत्यक्ष नमूने हैं। इसलिए वर्ष में तीन बार बच्चा देती हैं और दो या तीन बच्चे देती हैं ।।६।।

शुक्र पात्र के पीछे मनुष्य लाये जाते हैं। चूंकि इस पात्र का यज्ञ में पुनः-पुनः प्रयोग होता है, इसलिए प्रजा भी पुनः-पुनः लाई जाती हैं। शुक्र वही है जो तपता है (अर्थात् सूर्य); यही इन्द्र है। मनुष्य पशुओं में इन्द्र है। इसलिए यह उनके ऊपर राज्य करता है ।।७।।

ऋतु-पात्र के पीछे एक खुरवाले (पशु) लाये जाते हैं। चूंकि यज्ञ में इस पात्र का प्रयोग फिर-फिर होता है, इसलिए ये प्रजा भी फिर-फिर लाई जाती हैं। ऋतु-पात्र ऐसा होता है (हाथ से बताकर) और एक खुरवाले पशुओं का सिर भी ऐसा होता है। आग्रयण पात्र, उक्थ्य पात्र और आदित्य पात्र—इन पात्रों के पीछे गायें लाई जाती हैं। इन सबका यज्ञ में पुनः-पुनः प्रयोग होता है, इसलिए प्रजायें बार-बार लाई जाती हैं ।।८।।

चूंकि बकरियाँ कनिष्ठ पात्रों के पीछे लाई जाती हैं, इसलिए ये साल में तीन बार बच्चा देती हैं और दो या तीन बच्चे होते हैं, और कनिष्ठ होते हैं, क्योंकि ये कनिष्ठ पात्रों के पीछे लाई जाती हैं ।।९।।

और गायें चूंकि भूयिष्ठ (पुश्कल) पात्रों के पीछे लाई जाती हैं, इसलिए साल में एक बार एक ही बच्चा देकर भी वे पुश्कल होती हैं, क्योंकि भूयिष्ठ पात्रों के पीछे लाई जाती हैं ।।१०।।

अब द्रोण कलश में अन्त को हारियोजन ग्रह निकालता है। द्रोण कलश प्रजापति है। यह इन्हीं प्रजाओं का रूप हो जाता है। इनकी रक्षा करता है। इनको सूंघता है। यह इनको उत्पन्न करता है अर्थात् इन्हीं का-सा रूप हो जाता है ।।११।।

ये पात्र पाँच हैं जिनके अनुसार प्रजायें लाई जाती हैं–उपांशु और अन्तर्याम (मिलकर)

माः प्रजा अनु प्रजायन्ते समानमुपांश्वन्तर्यामयोः शुक्रपात्रमृतुपात्रमाग्रयणपात्रमु-
क्थ्यपात्रं पञ्च वाऽऋतवः संवत्सरस्य संवत्सरः प्रजापतिः प्रजापतिर्यज्ञो यद्यु ष-
डेवऽर्तवः संवत्सरस्येत्यादित्यपात्रमेवैतेषां षष्ठम् ॥१२॥ एकं ह त्वेव तत्पा-
त्रम् । यदिमाः प्रजा अनु प्रजायन्तऽउपांशुपात्रमेव प्राणो ह्युपांशुः प्राणो हि
प्रजापतिः प्रजापतिं ह्येवेदं सर्वमनु ॥१३॥ ब्राह्मणम् ॥ ६ [५. ५.] ॥

एष वै प्रजापतिः । य एष यज्ञस्तायते यस्मादिमाः प्रजाः प्रजाता एतम्वेवाप्येतर्ह्यनु प्रजायन्ते स आश्विनं ग्रहं गृहीत्वावकाशानवकाशयति ॥१॥ स उपांशुमेव प्रथममवकाशयति । प्राणाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वेत्यथोपांशुसवनं व्यानाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वेत्यथान्तर्याममुदानाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वेत्यथैन्द्रवायवं वाचे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वेत्यथ मैत्रावरुणं क्रतूदक्षाभ्यां मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वेत्यथाश्विनं श्रोत्राय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वेत्यथ शुक्रामन्थिनौ चक्षुर्भ्यां मे वर्चोदसौ वर्चसे पवेथामिति ॥२॥ अथाग्रयणम् । आत्मने मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वेत्यथोक्थ्यमोजसे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वेत्यथ ध्रुवमायुषे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वेत्यथाम्भृणौ विश्वाभ्यो मे प्रजाभ्यो वर्चोदसौ वर्चसे पवेथामिति वैश्वदेवौ वाऽअम्भृणावतो हि देवेभ्य उन्नयन्त्यतो मनुष्येभ्योऽतः पितृभ्यस्तस्माद्वैश्वदेवावम्भृणौ ॥३॥ अथ द्रोणकलशम् । कोऽसि कतमोऽसीति प्रजापतिर्वै कः कस्यासि को नामासीति प्रजापतिर्वै को नाम यस्य ते नामामन्महीति मनुते ह्यस्य नाम यं त्वा सोमेनातीतृपामेति तर्पयति ह्येनं सोमेन स आश्विनं ग्रहं गृहीत्वान्वङ्गमाशिषमाशास्ते सुप्रजाः प्रजाभिः स्यामिति तत्प्रजामाशास्ते सुवीरो वीरैरिति तद्वीरानाशास्ते सुपोषः पोषैरिति तत्पुष्टिमाशास्ते ॥४॥ तान्वै न सर्वमिवावकाशयेत् । यो न्वेव ज्ञातस्तमवकाशयेद्यो वास्य प्रियः स्याद्यो वानूचानोऽनूक्तेनैनान्प्राप्नुयात्स आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा कृत्स्नं यज्ञं

एक हुआ, शुक्र पात्र, ऋतु पात्र, आग्रयण पात्र, उक्थ्य पात्र। साल की पाँच ऋतुएँ होती हैं। वर्ष प्रजापति है, प्रजापति यज्ञ है। अगर कहें कि संवत्सर में छः ऋतुएँ होती हैं तो छठा आदित्य ग्रह भी तो है ॥१२॥

वस्तुतः एक ही पात्र है जिसके पीछे प्रजाएँ लाई जाती हैं, अर्थात् उपांशु पात्र। उपांशु प्राण है, प्रजापति प्राण है, और इस संसार में प्रत्येक वस्तु प्रजापति के पीछे है ॥१३॥

ग्रहावेक्षणम्

अध्याय ५—ब्राह्मण ६

यह जो यज्ञ किया जाता है यही प्रजापति है, इसी से प्रजाएँ उत्पन्न हुई हैं और इसी से आज तक उत्पन्न होती हैं। आश्विन ग्रह को लेने के पश्चात् वह अवकाश कृत्य को करता है (अर्थात् ग्रहों को देखना) ॥१॥

पहले उपांशु ग्रह का अवकाशन करता है, इस मन्त्र से—"प्राणाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व" (यजु० ७।२७)— "हे वर्चस् के दाता, मेरे प्राण के लिए, वर्चस् के लिए पवित्र हो।" उपांशु सवन को इस मन्त्र से—"व्यानाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व" (यजु० ७।२७)—"व्यान के लिए, हे वर्चस् के लिए दाता, वर्चस् के लिए पवित्र हो।" फिर अन्तर्याम को इस मन्त्र से—"उदानाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व" (यजु० ७।२७) —"हे वर्चस् के देनेवाले, उदान के लिए, वर्चस् के लिए पवित्र हो।" फिर ऐन्द्रवायव को इस मन्त्र से—"वाचे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व" (यजु० ७।२७) —"हे वर्चस् के देनेवाले, वाणी के लिए, वर्चस् के लिए पवित्र हो।" अब मैत्रावरुण को इस मन्त्र से—"क्रतूदक्षाभ्यां मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व"(यजु० ७।२७) —"हे वर्चस् के देनेवाले, विचार और क्रिया दोनों के लिए, वर्चस् के लिए पवित्र हो।" अब आश्विन को—"श्रोत्राय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व"(यजु० ७।२७)—"हे वर्चस् के देनेवाले, श्रोत्र के लिए, वचस् के लिए पवित्र हो।" अब शुक्र और मन्थिन ग्रहों को इस मन्त्र से—"चक्षुर्भ्यां मे वर्चोदसौ वर्चसे पवेथाम्" (यजु० ७।२७)—"हे वर्चस् के देनेवाले, तुम दोनों आँखों के लिए, वर्चस् के लिए पवित्र हो" ॥२॥

अब आग्रायण को इस मन्त्र से—"आत्मने मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व" (यजु० ७।२८)—"हे वर्चस् के दाता, मेरे आत्मा के लिए, वर्चस् के लिए पवित्र हो।" अब उक्थ्य को इस मन्त्र से—"ओजसे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व"(यजु० ७।२८)—"मेरे ओज के लिए, हे वर्चस् के दाता, वर्चस् के लिए पवित्र हो।" अब ध्रुव को—"आयुषे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व"(यजु० ७।२८)—"हे वर्चस् के दाता, मेरी आयु के लिए, वर्चस् के लिए पवित्र हो।" अब आम्भृण अर्थात् पूतभृत और आधवनीय को—"विश्वाभ्यो मे प्रजाभ्यो वर्चोदसौ वर्चसे पवेथाम्" (यजु० ७।२८)— "मेरी सब प्रजाओं के लिए, हे वर्चस् के देनेवालो, वर्चस् के लिए पवित्र हो।" ये दो पात्र विश्वेदेवों के हैं। क्योंकि इन्हीं में से सोम निकाला गया है—मनुष्य के लिए भी और पितरों के लिए भी, इसलिए ये दो पात्र विश्वेदेवों के हैं ॥३॥

अब द्रोण कलश को—"कोऽसि कतमोऽसि" (यजु० ७।२९)—'कः' प्रजापति है। "कस्यासि को नामासि" (यजु० ७।२९)—'को' नाम प्रजापति का है। "यस्य ते नामामन्महि" (यजु० ७।२९)—"जिस तेरे नाम का हम चिन्तन करते हैं।" वस्तुतः वह उसके नाम का चिन्तन करता है। "यं त्वा सोमेनातीतृपाम्"(यजु० ७।२९)—"जिस तुझको मैंने सोम से तृप्त किया।" वह इनको सोम से तृप्त करता है। आश्विन ग्रह को लेकर एक-एक अंग को आशीर्वाद कहता है—"सुप्रजाः प्रजाभिः स्याम" (यजु० ७।२९)—"सन्तानों से युक्त होऊँ।" इस प्रकार वह सन्तान के लिए प्रार्थना करता है। "सुवीरो वीरैः" (यजु० ७।२९) —"वीरों के द्वारा सुवीर होऊँ।" इस प्रकार वीरों के लिए प्रार्थना करता है। "सुपोषः पोषैः"(यजु० ७।२९)—"सम्पुष्टि-दायक पदार्थों द्वारा सुपोष होऊँ।" इस प्रकार पुष्टि के लिए प्रार्थना करता हूँ ॥४॥

सबसे अवकाशन न कराये। केवल उसी से जो ज्ञात हो, या जो अपना प्रिय हो, या जिसने वेद-पाठ द्वारा अपने को ऋचाओं से युक्त किया हो। आश्विन ग्रह को लेकर वह सब यज्ञ

जनयति तं कृत्स्नं यज्ञं जनयित्वा तमात्मन्धत्ते तमात्मन्कुरुते ॥५॥ ब्राह्मणम् ॥ ७ [५. ६.] ॥

ता वाऽएताः । चतुस्त्रिꣳशद्व्याहृतयो भवन्ति प्रायश्चित्तयो नामैष वै प्रजापतिर्य एष यज्ञस्तायते यस्मादिमाः प्रजाः प्रजाता एतम्वेवाप्येतर्ह्यनु प्रजायन्ते ॥१॥ अष्टौ वसवः । एकादश रुद्रा द्वादशादित्या इमेऽएव द्यावापृथिवी त्रयस्त्रिꣳश्यौ त्रयस्त्रिꣳशद्वै देवाः प्रजापतिश्चतुस्त्रिꣳशस्तदेनं प्रजापतिं करोत्येतद्वाऽअस्त्येतद्ध्यमृतं यद्ध्यमृतं तद्ध्यस्त्येतदु तद्यन्मर्त्यꣳ स एष प्रजापतिः सर्वं वै प्रजापतिस्तदेनं प्रजापतिं करोति तस्मादेताश्चतुस्त्रिꣳशद्व्याहृतयो भवन्ति प्रायश्चित्तयो नाम ॥२॥ ता हैके । यज्ञतन्व इत्याचक्षते यज्ञस्य ह्येवैतानि पर्वाणि स एष यज्ञस्तायमान एता एव देवता भवन्नेति ॥३॥ सा यदि घर्मदुघा व्लेत् । अन्यामुपसंक्रामेयुः स यस्यामेवैनं वेलायां पुरा पिन्वयन्ति तद्धैवैनामुदीचीꣳ स्थापयेदग्रेण वा शालां प्राचीम् ॥४॥ तस्येऽएतेऽअभितः । पुरुकाण्डꣳ शिखण्डास्येऽउद्धयाते तयोर्यद्दक्षिणं तस्मिन्नेताश्चतुस्त्रिꣳशतमाज्याहुतीर्जुहोत्येतावान्वै सर्वो यज्ञो यावत्य एताश्चतुस्त्रिꣳशद्व्याहृतयो भवन्ति तदस्यां कृत्स्नमेव सर्वं यज्ञं दधात्येषा ह्यतो घर्मं पिन्वतऽएषो तत्र प्रायश्चित्तिः क्रियते ॥५॥ अथ यद्यज्ञस्य व्लेत् । तत्समन्वीक्ष्य जुहुयाद्दीक्षोपसत्स्वाहवनीये प्रसुतऽआग्नीध्रे वि वाऽएतद्यज्ञस्य पर्व स्रꣳसते यद्व्लति स यैव तर्हि तत्र देवता भवति तयैवैतद्भिषज्यति तया संदधाति ॥६॥ अथ यदि स्कन्देत् । तदद्भिरुपनिनयेदद्भिर्वाऽइदꣳ सर्वमाप्तꣳ सर्वस्यैवाप्त्यै वैष्णववारुण्यऽर्चा यद्वाऽइदं किं चार्छति वरुण एवेदꣳ सर्वमार्पयति ययोरोजसा स्कभिता रजाꣳसि वीर्येभिर्वीरतमा शविष्ठा । या पत्येतेऽअप्रतीता सहोभिर्विष्णूऽअगन्वरुणा पूर्वहूताविति यज्ञो वै विष्णुस्तस्यैतदार्छति वरुणो वाऽआर्पयिता तद्यस्यैवैतद्देवताया आर्छति यो च देवतार्पयति ताभ्यामेवैतदुभाभ्यां

को उत्पन्न करता है और सब यज्ञ को उत्पन्न करके वह उसको अपने में धारण करता है। वह उसको अपना बना लेता है ।।५।।

सोमप्रायश्चित्तानि

अध्याय ५—ब्राह्मण ७

चौंतीस व्याहृतियाँ होती हैं जिनको प्रायश्चित्ति कहते हैं। यह जो यज्ञ किया जाता है वही प्रजापति है जिससे ये प्रजाएँ उत्पन्न हुई हैं और जिससे अब तक ये प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं ।।१।।

आठ वसु, ग्यारह रुद्र और बारह आदित्य और ये दो द्यौ तथा पृथिवी—ये हुए तेंतीस। प्रजापति है चौंतीसवाँ। यह (यजमान को) प्रजापति कर देता है। यह जो है वह अमृत है; जो अमृत है वह यह है। जो मर्त्य है वह भी प्रजापति है, क्योंकि प्रजापति सब-कुछ है। इस प्रकार वह इसको प्रजापति बनाता है। इस प्रकार ये चौंतीस व्याहृतियाँ हैं जिनको प्रायश्चित्ति कहते हैं ।।२।।

कुछ इनको 'यज्ञ का तनु' कहते हैं। ये यज्ञ के ही पर्व हैं। यह यज्ञ जब किया जाता है तो वह इन देवताओं का रूप धारण करता जाता है ।।३।।

यदि वह घर्मदुघा दूध न दें (वह गाय जिसके दूध को औटा कर घर्म बनाया जाता है घर्मदुघा कहलाती है) तो दूसरी को लेवें। और जिस स्थान पर उसको दुहते, उसी स्थान पर उसको खड़ा करें, उत्तराभिमुख या शाला की ओर मुख करके ।।४।।

और जो पूँछ की डण्डी के दोनों ओर जो शिखण्ड या निकली हुई हड्डियाँ हैं उनमें जो दाहिनी है, उसी पर वह चौंतीस आहुतियाँ देता है। ये सब यज्ञ ही तो हैं ये जो चौंतीस आहुतियाँ हैं। इस प्रकार वह उस सम्पूर्ण यज्ञ को उसमें स्थापित कर देता है। क्योंकि वहीं से घर्म निकलता है; यही उसका प्रायश्चित्त है ।।५।।

अब यज्ञ का जो भाग सफल न हो उसी के उद्देश्य से आहुति दे—उपसदों में और आहवनीय में, दीक्षा यज्ञ में, तथा सोम यज्ञ में, अग्नीध्र में। क्योंकि यज्ञ के जिस भाग में सफलता न हो वही टूटा हुआ समझो। और जो उसका देवता है उसी के द्वारा वह सम्पूर्ण होता है ।।६।।

यदि कुछ गिर जाय तो उस पर पानी डाल दे, क्योंकि वे सब जलों से ही व्याप्त हैं—सबकी प्राप्ति के लिए, विष्णु और वरुण की ऋचा पढ़कर। यहाँ जो कुछ कष्ट मनुष्य को होता है वह सब वरुण देवता के ही द्वारा होता है। "ययोरोजसा स्कभिता रजाᳬसि वीर्येभिर्वीरतमा शविष्ठा। य पत्येते ऽअप्रतीता सहोभिर्विष्णू ऽअगन्वरुणा पूर्वहूतौ" (यजु० ८।५६, अथर्व ७।२५।१)—"जिन दोनों के ओज से ये लोक ठहरे हुए हैं जो पराक्रमों के द्वारा सबसे वीर और उत्तम हैं; जो अपूर्व शक्ति से युक्त हैं। इन बुलाये हुए विष्णु और वरुण के पास (यह यज्ञ) गया है।" यज्ञ विष्णु है। यह यज्ञ ही कष्ट में है। वरुण ने कष्ट दिया है। जिस देवता की हानि होती है और जिस देवता के द्वारा हानि होती है उन दोनों के द्वारा उसका उपचार करता है।

भिषज्यत्युभाभ्याꣳ संदधाति ॥७॥ अथोऽअभ्येव मृशेत् । देवान्दिवमगन्यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु मनुष्यानन्तरिक्षमगन्यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु पितॄन्पृथिवीमगन्यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु यं कं च लोकमगन्यज्ञस्ततो मे भद्रमभूदित्येवैनदाह ॥८॥ तद्ध स्मैतदारुणिराह । किꣳ स यजेत यो यज्ञस्य व्यृद्ध्या पापीयान्मन्येत यज्ञस्य वाऽअहं व्यृद्ध्या श्रेयान्भवामीत्येतद्ध स्म स तदभ्याह यदेता आशिष उपगच्छति ॥९॥ ब्राह्मणम् ॥८ [५. ७.] ॥ ॥

तद्यत्रैतत्त्रिरात्रे सहस्रं ददाति । तदेषा साहस्री क्रियते स प्रथमेऽहंस्त्रीणि च शतानि नयति त्रयस्त्रिꣳशतं चैवमेव द्वितीयेऽहंस्त्रीणि चैव शतानि नयति त्रयस्त्रिꣳशतं चैवमेव तृतीयेऽहंस्त्रीणि चैव शतानि नयति त्रयस्त्रिꣳशतं चाथैषा साहस्र्यतिरिच्यते ॥१॥ सा वै त्रिरूपा स्यादित्याहुः । एतद्ध्यस्यै रूपतममिवेति रोहिणी ह त्वेवोपध्वस्ता स्यादेतद्धैवास्यै रूपतममिव ॥२॥ सा स्यादप्रवीता । वाग्वाऽएषा निदानेन यत्साहस्र्ययातयाम्नी वाऽइयं वागयातयाम्न्यप्रवीता तस्मादप्रवीता स्यात् ॥३॥ तां प्रथमेऽहन्नयेत् । वाग्वाऽएषा निदानेन यत्साहस्री तस्या एतत्सहस्रं वाचः प्रजातं पूर्वा ह्येषैति पश्चादेनां प्रजातमन्वेत्युत्तमे वैनामहन्नयेत्पूर्वमहास्यै प्रजातमेति पश्चादेषान्वेति सोऽएषा मीमाꣳसैवोत्तमऽएवैनामहन्नयेत्पूर्वमहास्यै प्रजातमेति पश्चादेषान्वेति ॥४॥ तामुत्तरेण हविर्धाने । दक्षिणेनाग्नीध्रं द्रोणकलशमवघ्रापयति यज्ञो वै द्रोणकलशो यज्ञमेवैनामेतद्दर्शयति ॥५॥ आजिघ्र कलशम् । मह्या त्वा विशन्त्विन्दव इति रिरिचान-इव वाऽएष भवति यः सहस्रं ददाति तमेवैतद्रिरिचानं पुनराप्याययति यदाहाजिघ्र कलशं मह्या त्वा विशन्त्विन्दव इति ॥६॥ पुनरूर्जा निवर्तस्वेति । तद्वेव रिरिचानं पुनराप्याययति यदाह पुनरूर्जा निवर्तस्वेति ॥७॥ सा नः सहस्रं धुक्ष्वेति । तत्सहस्रेण रिरिचानं पुनराप्याययति यदाह सा नः सहस्रं धुक्ष्वेति ॥८॥ उरु-

उसी के द्वारा वह इसको संयुक्त करता है ।।७।।

इस मन्त्र से स्पर्श करे—"देवान् दिवमगन् यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु मनुष्यानन्तरिक्ष-मगन् यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु पितॄन् पृथिवीमगन् यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु यं कं च लोकमगन् यज्ञस्ततो मे भद्रमभूत्" (यजु० ८।६०)—"यज्ञ देवों के पास द्यौलोक को गया। वहाँ से मुझे धन मिले। यज्ञ मनुष्य के पास अन्तरिक्ष में गया। वहाँ से मुझे धन मिले। यज्ञ पितरों के पास पृथिवी में गया। वहाँ से मुझे धन मिले। जिस किसी लोक में यज्ञ गया वहीं मेरा कल्याण हो।" इसका तात्पर्य यह है कि यज्ञ जहाँ कहीं जाय, वहीं मेरा कल्याण हो ।।८।।

इस पर आरुणि ने कहा था कि 'वह क्यों यज्ञ करे जो यज्ञ की त्रुटि पर अपने को पापी समझे। मैं तो यज्ञ की त्रुटि द्वारा अच्छा होता हूँ।' यह बात उसने आशीर्वाद को ध्यान में रखते हुए कही थी ।।९।।

सहस्र-दक्षिण।

अध्याय ५—ब्राह्मण ८

जब वह उस त्रिरात्र यज्ञ में सहस्र गायें देता है तो गायें सहस्रवीं होती हैं। पहले दिन तीन सौ तैंतीस गायें लाता है। इसी प्रकार दूसरे दिन तीन सौ तैंतीस लाता है। तीसरे दिन भी तीन सौ तैंतीस लाता है। अब हज़ारवीं रह गई ।।२।।

कुछ लोग कहते हैं कि वह तीन रंग की हो, क्योंकि यही इसका सबसे अच्छा रूप है। परन्तु वह रोहिणी (लाल) और उपध्वस्त (धब्बेदार) हो, यही उसका सबसे अच्छा रूप है ।।२।।

वह अप्रवीत (अक्षत योनि) होनी चाहिए। यह जो साहस्री है वह वस्तुतः वाणा है। यह वाणी आतयाम्नी (पूर्ण शक्तिवाली) है। जो अक्षतयोनि है वह पूर्ण शक्तिवाली है। इसलिए इसको अप्रवीत होना चाहिए ।।३।।

उसको पहले दिन ही ले आवे, क्योंकि यह साहस्री वस्तुतः बाणी है। यह जो सहस्र सन्तान (प्रजात) है वह इसी वाणी की है। वह आगे-आगे चलती है और उसकी सन्तति पीछे-पीछे। या अन्तिम दिवस लावे। उस दिन आगे-आगे उसकी सन्तति चले और पीछे-पीछे वह। परन्तु यह तो मीमांसा मात्र है। उसको अन्तिम दिवस ही लाना चाहिए और आगे-आगे उसकी सन्तति हो और वह पीछे ।।४।।

हविर्धान के उत्तम और आग्नीध्र के दक्षिण को वह द्रोण कलश को सुँघवाता है। द्रोण-कलश यज्ञ है। इस प्रकार वह उसको यज्ञ के दर्शन कराता है—।।५।।

इस मन्त्र से—"आजिघ्र कलशम्। मह्या त्वा विशन्त्विन्दवः" (यजु० ८।४२)—"कलश को सूँघ। इस तुझ महान् में सोम की बूँदें प्रवेश करें।" यह जो एक हजार गायें दान करता है वह खाली-सा हो जाता है। इसी खाली को फिर भरता है। जब वह कहता है कि 'हे बड़ी गाय! कलश को सूँघ, जिससे ये सोम की बूँदें तुझमें प्रवेश करें' ।।६।।

"पुनरूर्जा निवर्त्तस्व" (यजु० ८।४२)—"ऊर्ज के साथ फिर आ।" ऐसा कहने से वह मानो खाली चीज को भरता है ।।७।।

"सा नः सहस्रं धुक्ष्व" (यजु० ८।४२)—"हजार गुना हमारे लिए दूध दे।" ऐसा कहने से मानो वह खाली को भरता है ।।८।।

धारा पयस्वती पुनर्माविशताद्रयिरिति । तद्वेव रिरिचानं पुनराप्याययति यदाह
पुनर्माविशताद्रयिरिति ॥ ९॥ अथ दक्षिणे कर्णऽआजपति । इडे रन्ते हव्ये काम्ये
चन्द्रे ज्योतेऽदिति सरस्वति महि विश्रुति । एता तेऽअघ्न्ये नामानि देवेभ्यो मा
सुकृतं ब्रूतादिति वोचेरिति वैतानि ह वाऽअस्यै देवत्रा नामानि सा यानि ते
देवत्रा नामानि तैर्मा देवेभ्यः सुकृतं ब्रूतादित्येवैतदाह ॥ १०॥ तामवार्जन्ति । सा
यद्यपुरुषाभिवीता प्राचीयात्तत्र विद्याद्रात्सीदयं यजमानः कल्याणं लोकमजैषी-
दिति यद्युदीचीयाच्छ्रेयानस्मिंल्लोके यजमानो भविष्यतीति विद्याद्यदि प्रतीचीया-
द्भ्यतिल्विल-इव धान्यतिल्विलो भविष्यतीति विद्याद्यदि दक्षिणीयात्क्षिप्रे
ऽस्माल्लोकाद्यजमानः प्रैष्यतीति विद्यादेतानि विज्ञानानि ॥ ११॥ तस्या एतास्ति-
स्रस्तिस्रस्त्रिꣳशत्यधि भवन्ति । तास्वेतामुपसमाकुर्वन्ति वि वाऽएतां विराजं वृह-
न्ति यां व्याकुर्वन्ति विच्छिन्नोऽएषा विराड्या विवृढा दशाक्षरा वै विराट्कृत्स्नां
विराजꣳ संदधाति ताꣳ होत्रे दद्याद्धोता हि साहस्रस्तस्मात्ताꣳ होत्रे दद्यात्
॥ १२॥ द्वौ वोन्नेतारौ कुर्वीत । तयोर्यतरो नाश्रावयेत्तस्माऽएनां दद्याद्व्यृद्धो वा
ऽएष उन्नेता य ऋत्विक्सन्नाश्रावयति व्यृद्धोऽएषा विराड्या विवृढा तद्व्यृद्धऽएवै-
तद्व्यृद्धं दधाति ॥ १३॥ तदाहुः । न सहस्रेऽधि किं चन दद्यात्सहस्रेण ह्येव स-
र्वान्कामानाप्नोतीति तदु होवाचासुरिः काममेव दद्यात्सहस्रेणाह सर्वान्कामा-
नाप्नोति कामिनोऽअस्येतरद्दत्तं भवतीति ॥ १४॥ अथ यदि रथं वा युक्तं दास्य-
न्त्स्यात् । यद्वा वशायै वा वपायाꣳ हुतायां दद्यादुदवसानीयायां वेष्टौ ॥ १५॥ स
वै दक्षिणा नयन् । अन्यूना दशतो नयेद्यस्माऽएकां दास्यन्त्स्याद्दशभ्यस्तेभ्यो दश-
तमुपावर्तयेद्यस्मै द्वे दास्यन्त्स्यात्पञ्चभ्यस्तेभ्यो दशतमुपावर्तयेद्यस्मै तिस्रो दास्य-
न्त्स्यात्त्रिभ्यस्तेभ्यो दशतमुपावर्तयेद्यस्मै पञ्च दास्यन्त्स्याद्द्वाभ्यां ताभ्यां दशतमुपा-
वर्तयेदेवमा शतात्तथो हास्यैषान्यूना विराडमुष्मिंल्लोके कामदुघा भवति ॥ १६॥

"उरुधारा पयस्वती पुनर्माविशताद्रयिः" (यजु० ८।४२) —"हे बड़ी धार वाली और दूधवाली ! मुझे फिर धन मिले ।" ऐसा कहने से वह खाली को फिर भरता है ॥९॥

अब वह उसके दाहिने कान में जपता है—"इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योतेऽदिते सरस्वति महि विश्रुति । एता ते ऽअघ्न्ये[1] नामानि देवेभ्यो मा सुकृतं ब्रूतात्" (यजु० ८।४३) —"हे गाय, तेरे इतने नाम हैं—इडा, रन्ता, हव्या, काम्या, चन्द्रा, ज्योति, अदिति, सरस्वती, मही, विश्रुती । तू देवताओं से मेरे पुण्य को कह दे ।" वस्तुतः देवों में इसके यही नाम हैं । इसका यही तात्पर्य है कि देवों में तेरे जो-जो नाम प्रचलित हैं उनके द्वारा मेरे पुण्य को देवलोक में पहुँचा दे ॥१०॥

उसको छोड़ देते हैं । यदि वह किसी पुरुष की प्रेरणा के बिना ही पूर्व की ओर चल दे तो समझना चाहिए कि यह यजमान सफल हो गया; उसने कल्याणलोक को जीत लिया । यदि उत्तर को जाय तो समझना चाहिए कि यजमान इस लोक में ही यशस्वी होगा । यदि पश्चिम की ओर जाय तो समझना चाहिए कि धन-धान्य आदि से पूर्ण होगा । यदि दक्षिण की ओर जाय तो समझना चाहिए कि यजमान शीघ्र ही इस लोक से चल बसेगा । ऐसी सूचनायें हैं ॥११॥

ये जो गायें तीस से तीन-तीन हजार ऊपर होती हैं, उनमें इसको मिला देते हैं । जब विराट् छन्द को लेते हैं और उसका विश्लेषण करते हैं तो वह विच्छिन्न हो जाता है, अर्थात् उस विराट छन्द के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं । यह जो दश अक्षर का विराट् है वह पूरा-पूरा है । इस प्रकार दस अक्षर पूरा करने से विराट् छन्द पूरा हो जाता है । इस गाय को होता के अर्पण करना चाहिए । होता साहस्र (हजारवाँ) है, इसलिए इसको होता को देना चाहिए ॥१२॥

दो उन्नेताओं की नियुक्ति करनी चाहिए । इनमें से जो श्रौषट् न पढ़े उसी को इस गाय को दे । वह उन्नेता अपूर्ण है जो ऋत्विज् होता हुआ भी श्रौषट् नहीं पढ़ता । जिस विराट् छन्द का विश्लेषण कर दिया गया वह भी तो अपूर्ण है । इस प्रकार अपूर्ण में अपूर्ण को रखता है ॥१३॥

इस पर कुछ लोगों का कहना है कि हजार गायों से अधिक कुछ न देना चाहिए, क्योंकि हजार गायों का दान ही सब कामनाओं की पूर्ति कर देता है । परन्तु आसुरि का मत है कि जितनी इच्छा हो उतना देवे । अवश्य ही सहस्र गायों के दान से सब कामनायें पूर्ण हो जाती हैं । परन्तु जो अधिक दिया जाय अपनी इच्छा से दिया जाय ॥१४॥

अब यदि घोड़े जुते हुए रथ को देना हो तो या तो उसकी वशा की वपा की आहुति के पश्चात् देना चाहिए या अन्तिम आहुति के पीछे ॥१५॥

जब दक्षिणा के लिए (गायें) लावे तो दस-दस करके लावे; कम न हों । यदि किसी को एक गाय देनी हो तो दस गायें दस को दे देवे । यदि किसी को दो-दो देनी हों तो पाँच को दे देवे । यदि तीन-तीन देनी हो तो दस गायों को तीन को दे देवे । यदि पाँच-पाँच देनी हों तो उन दस को दो को दे देवे । इस प्रकार सौ तक । इस प्रकार यह पूर्ण विराट् परलोक में उसके लिए कामधेनु हो जाती है ॥१६॥

---

१. मंत्र में गाय का 'अघ्न्या' नाम भी है, किन्तु मांसाहारियों ने व्याख्या में इसलिए छोड़ दिया है कि (उनके द्वारा प्रक्षिप्त) पशु-बलि के प्रसंग झूठे न पड़ जायें ।

—**स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती**

ब्राह्मणम् ॥ १ [५. ८.] ॥ चतुर्थः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या १२५ ॥ ॥

तद्यत्रैतद्द्वादशाहेन व्यूढछन्दसा यजते । तद्ग्रहान्व्यूहति व्यूहत उद्गाता च होता च छन्दाᳬसि स एष प्रज्ञात एव पूर्वस्त्र्यहो भवति समूढछन्दास्तदैन्द्रवायवाग्रान्गृह्णाति ॥१॥ अथ चतुर्थेऽहन्व्यूहति । ग्रहान्व्यूहन्ति छन्दाᳬसि तदाग्रयणाग्रान्गृह्णाति प्राजापत्यं वाऽएतच्चतुर्थमहर्भवत्यात्मा वाऽआग्रयण आत्मा वै प्रजापतिस्तस्मादाग्रयणाग्रान्गृह्णाति ॥२॥ तं गृहीत्वा न सादयति । प्राणा वै ग्रहा नेत्प्राणान्मोहयानीति मोहयेद्ध प्राणान्यत्सादयेत्तं धारयन्त एवोपासतेऽथ ग्रहान्गृह्णात्यथ यदा ग्रहान्गृह्णात्यथ यत्रैवैतस्य कालस्तदेनᳬ हिंकृत्य सादयत्यथैतत्प्रज्ञातमेव पञ्चममहर्भवति तदैन्द्रवायवाग्रान्गृह्णाति ॥३॥ अथ षष्ठेऽहन्व्यूहति । ग्रहान्व्यूहन्ति छन्दाᳬसि तच्छुक्राग्रान्गृह्णात्यैन्द्रं वाऽएतत्षष्ठमहर्भवत्येष वै शुक्रो य एष तपत्येष उऽएवेन्द्रस्तस्माच्छुक्राग्रान्गृह्णाति ॥४॥ तं गृहीत्वा न सादयति । प्राणा वै ग्रहा नेत्प्राणान्मोहयानीति मोहयेद्ध प्राणान्यत्सादयेत्तं धारयन्त एवोपासतेऽथ ग्रहान्गृह्णात्यथ यदा ग्रहान्गृह्णात्यथ यत्रैवैतस्य कालस्तदेनᳬ सादयति ॥५॥ अथ सप्तमेऽहन्व्यूहति । ग्रहान्व्यूहन्ति छन्दाᳬसि तच्छुक्राग्रान्गृह्णाति बार्हतं वाऽएतत्सप्तममहर्भवत्येष वै शुक्रो य एष तपत्येष उऽएव बृहंस्तस्माच्छुक्राग्रान्गृह्णाति ॥६॥ तं गृहीत्वा न सादयति । प्राणा वै ग्रहा नेत्प्राणान्मोहयानीति मोहयेद्ध प्राणान्यत्सादयेत्तं धारयन्त एवोपासतेऽथ ग्रहान्गृह्णात्यथ यदा ग्रहान्गृह्णात्यथ यत्रैवैतस्य कालस्तदेनᳬ सादयत्यथैतत्प्रज्ञातमेवाष्टममहर्भवति तदैन्द्रवायवाग्रान्गृह्णाति ॥७॥ अथ नवमेऽहन्व्यूहति । ग्रहान्व्यूहन्ति छन्दाᳬसि तदाग्रयणाग्रान्गृह्णाति जागतं वाऽएतन्नवममहर्भवत्यात्मा वाऽआग्रयणः सर्वं वाऽइदमात्मा जगत्तस्मादाग्रयणाग्रान्गृह्णाति ॥८॥ तं गृहीत्वा न सादयति । प्राणा वै ग्रहा नेत्प्राणान्मोहयानीति मोहयेद्ध प्राणान्यत्सादयेत्तं

व्यूढ द्वादशाह धर्मः

अध्याय ५—ब्राह्मण ६

जब द्वादशाह यज्ञ को (जो यज्ञ बारह दिन का हो वह द्वादशाह कहलाता है) व्यूढ छन्दों से करता है तो ग्रहों का क्रम बदल देता है (जिन छन्दों का क्रम बदल दिया जाय वे व्यूढ छन्द हैं)। उद्‌गाता और होता दोनों ही छन्दों के क्रमों को बदल देते हैं। पहले तो छन्दों के सामान्य क्रम से त्र्यह (तीन दिन का यज्ञ) होता है। इसमें वह ऐन्द्रवायव आदि ग्रहों को लेता है ॥१॥

चौथे दिन ग्रहों का क्रम बदल देता है। वे छन्दों के क्रम को बदल देते हैं। इसमें वह आग्रयण आदि ग्रहों को लेता है। चौथा दिन प्रजापति का अपना है, और आग्रयण आत्मा है, प्रजापति आत्मा है। इसलिए आग्रायण से आरम्भ होनेवाले ग्रहों को लेता है ॥२॥

उस ग्रह को लेकर रखता नहीं। ये ग्रह प्राण हैं। ऐसा न हो कि प्राणों में कुछ विक्षोभ उत्पन्न हो जाय। यदि वह इसको रख देगा तो अवश्य ही प्राणों को विक्षुब्ध कर देगा। वे ग्रहों को लिये-लिये पास बैठे रहते हैं। अध्वर्यु दूसरे ग्रहों को लेता रहता है। जब वह ग्रहों को लेता है तो हर एक ग्रह की पारी आने पर वह हिङ्कार का उच्चारण करता है और ग्रह को रख देता है। अब साधारण पाँचवाँ दिन आता है। उस दिन ऐन्द्रवायव से आरम्भ होनेवाले ग्रह लिये जाते हैं ॥३॥

अब छठे दिन वह ग्रहों के क्रम को बदल देता है और वे छन्दों के क्रम को बदल देते हैं। उस दिन शुक्र से आरम्भ होनेवाले ग्रह लिये जाते हैं। यह जो छठा दिन है वह इन्द्र का अपना है। शुक्र वह है जो ऊपर तपता है (सूर्य) और वही इन्द्र है। इसलिए वह शुक्र से आरम्भ होनेवाले ग्रहों को लेता है ॥४॥

उसको लेकर रखता नहीं। ग्रह प्राण हैं। ऐसा न हो कि प्राणों में विक्षोभ हो जाय। यदि रक्खेगा तो अवश्य ही प्राणों में विक्षोभ होगा। उसको लिये-लिये पास में बैठे रहते हैं। और अध्वर्यु दूसरे ग्रहों को लेता रहता है। इन ग्रहों के लेने में जब इनकी पारी आती है तो रख देता है ॥५॥

अब सातवें दिन वह ग्रहों के क्रम को बदल देता है, और वे छन्दों के क्रम को बदल देते हैं। उस दिन वह शुक्र ग्रह से आरम्भ करता है। यह सातवाँ दिन बृहस्पति का है। शुक्र वही है जो तपता है (सूर्य), और यह बृहत् अर्थात् बड़ा है। इसलिए शुक्र ग्रह से आरम्भ करता है ॥६॥

उसको लेकर रखता है। प्राण ग्रह हैं। ऐसा न हो कि प्राणों में विक्षोभ हो जाय। यदि रख देगा तो प्राणों में अवश्य विक्षोभ हो जायगा। उनको लिये-लिये पास बैठे रहते हैं। और अध्वर्यु दूसरे ग्रह निकालता रहता है। जब उसकी पारी आती है तो उसको रख देता है। आठवाँ दिन सामान्य होता है। उस दिन ऐन्द्रवायव ग्रह से आरम्भ करते हैं ॥७॥

अब नवें दिन वह ग्रहों के क्रम को बदलता है और वे लोग छन्दों के क्रम को बदल देते हैं। उस दिन आग्रयण ग्रह से आरम्भ करते हैं। यह नवाँ दिन जगती छन्द का होता है। आत्मा आग्रयण है। यह सब जगत् आत्मा है। इसलिए आग्रयण ग्रह से आरम्भ करते हैं ॥८॥

उसको लेकर रखता नहीं। ग्रह प्राण हैं। ऐसा न हो कि प्राणों में विक्षोभ उत्पन्न हो

धारयन्त एवोपासतेऽथ ग्रहान्गृह्णात्यथ यदा ग्रहान्गृह्णात्यथ यत्रैवैतस्य कालस्त-
देनꣳ किंकृत्य सादयति ॥९॥ तदाहुः । न व्यूहेद्ग्रहान्प्राणा वै ग्रहा नेत्प्राणा-
न्मोहयानीति मोहयेद्ध प्राणान्यद्व्यूहेत्तस्मान्न व्यूहेत् ॥१०॥ तद्व व्यूहेदेव । अ-
ङ्गानि वै ग्रहाः कामं वाऽइमान्यङ्गानि व्यत्यासꣳ शेते तस्माद्व व्यूहेदेव ॥११॥
तद्व नैव व्यूहेत् । प्राणा वै ग्रहा नेत्प्राणान्मोहयानीति मोहयेद्ध प्राणान्यद्व्यू-
हेत्तस्मान्न व्यूहेत् ॥१२॥ किं नु तत्राध्वर्योः । यदुद्गाता च होता च छन्दाꣳसि
व्यूहत एतद्वाऽअध्वर्युर्व्यूहति ग्रहान्यदैन्द्रवायवाग्रान्प्रातःसवने गृह्णाति शुक्राग्रा-
न्माध्यन्दिने सवनऽआग्रयणाग्रांस्तृतीयसवने ॥१३॥ ब्राह्मणम् ॥१ [५. १.] ॥

यदि सोममपहरेयुः । विधावतेच्छतेति ब्रूयात्स यदि विन्दन्ति किमाद्रियेरन्यद्यु
न विन्दन्ति तत्र प्रायश्चित्तिः क्रियते ॥१॥ द्वयानि वै फाल्गुनानि । लोहितपु-
ष्पाणि चारुणपुष्पाणि च स यान्यरुणपुष्पाणि फाल्गुनानि तान्यभिषुणुयादेष
वै सोमस्य न्यङ्गो यदरुणपुष्पाणि फाल्गुनानि तस्मादरुणपुष्पाण्यभिषुणुयात् ॥२॥
यद्यरुणपुष्पाणि न विन्देयुः । श्येनहृतमभिषुणुयाद्यत्र वै गायत्री सोममच्छापत-
त्तस्याऽआहरन्त्यै सोमस्याꣳशुरपतत्तच्छ्येनहृतमभवत्तस्माच्छ्येनहृतमभिषुणुयात् ॥३॥
यदि श्येनहृतं न विन्देयुः । आदारानभिषुणुयाद्यत्र वै यज्ञस्य शिरोऽच्छिद्यत तस्य
यो रसो व्यप्रुष्यत्तत आदाराः समभवंस्तस्मादादारानभिषुणुयात् ॥४॥ यद्यादारान्न
विन्देयुः । अरुणदूर्वा अभिषुणुयादेष वै सोमस्य न्यङ्गो यदरुणदूर्वास्तस्मादरुण-
दूर्वा अभिषुणुयात् ॥५॥ यद्यरुणदूर्वा न विन्देयुः । अपि यानेव कांश्च हरिता-
न्कुशानभिषुणुयात्तत्राप्येकामेव गां दद्यादथावभृथादेवोदेत्य पुनर्दीक्षेत पुनर्यज्ञो
ह्येव तत्र प्रायश्चित्तिरिति नु सोमापहृतानाम् ॥६॥ अथ कलशदिराम् । यदि
कलशो दीर्येतानुलिप्सधमिति ब्रूयात्स यद्यनुलभेरन्प्रसृतमात्रं वाञ्जलिमात्रं वा
तदन्यैरेकधनैरभ्युन्नीय यथाप्रभावं प्रचरेयुर्यद्यु नानुलभेरन्नाग्रयणस्यैव प्रस्कन्द्या-

जाय। यदि रख देगा तो अवश्य ही प्राणों में विक्षोभ उत्पन्न कर देगा। उसको लिये-लिये बैठे रहते हैं और अध्वर्यु अन्य ग्रहों को लेता रहता है। जब पारी आती है तो उस-उस ग्रह को हिंकार बोलकर रख देता है ॥९॥

कुछ लोग कहते हैं कि ग्रहों का क्रम नहीं बदलना चाहिए। ग्रह प्राण हैं। कहीं ऐसा न हो कि प्राणों का क्रम बदल जाय। जब इनके ग्रहों का क्रम बदलेगा तो प्राणों में अवश्य ही विक्षोभ होगा। इसलिए ग्रहों के क्रम को न बदले ॥१०॥

परन्तु उसको बदल देना चाहिए, क्योंकि ग्रह अंग हैं और सोते में इच्छा होती है कि अंगों को एक ओर से दूसरी ओर को फेरा जाय। इसलिए क्रम को बदल देना उचित है ॥११॥

उनको कभी न बदलें। ग्रह प्राण हैं। कहीं प्राणों में गड़बड़ न हो जाय। क्योंकि जब वह ग्रहों को बदलेगा तो अवश्य ही प्राणों में गड़बड़ होगी। इसलिए न बदलना चाहिए ॥१२॥

अच्छा, जब उद्गाता और होता छन्दों के क्रम को बदलें तो अध्वर्यु क्या करे? प्रातः-सवन में वह ऐन्द्रवायव ग्रह को लेता है, दोपहर के सवन में शुक्र ग्रह को और तीसरे सवन में आग्रयण ग्रह को। इस प्रकार अध्वर्यु ग्रहों के क्रम को बदल देता है ॥१३॥

सोमापहरणादि

अध्याय ५—ब्राह्मण १०

यदि सोम चोरी जाय तो कहना चाहिए कि 'दौड़ो और तलाश करो।' यदि मिल जाय तो अच्छा ही है। परन्तु यदि न मिले तो इस प्रकार इसका प्रायश्चित्त हो जाता है ॥१॥

फाल्गुन वृक्ष दो प्रकार का होता है—लोहित-पुष्प और अरुण-पुष्प। जो अरुण-पुष्प फाल्गुन हों उनको निचोड़े, क्योंकि जो अरुण-पुष्प के फाल्गुन हैं वे सोम के समान होते हैं। इसलिए उन्हीं फाल्गुनों को पीसना चाहिए जिनके अरुण-पुष्प हों ॥२॥

यदि अरुण फूलवाले न मिलें तो श्येनहृत वृक्ष को निचोड़ना चाहिए। जब गायत्री सोम को लेने के लिए उड़ी और ला रही थी तो सोम की एक डाली उससे गिर पड़ी, वही श्येनहृत वृक्ष बन गई। इसीलिए श्येनहृत वृक्ष को निचोड़ना चाहिए ॥३॥

यदि श्येनहृत भी न मिले तो आदार वृक्ष को लेना चाहिए। जब यज्ञ का शिर काटा गया तो उससे जो रस बहा उससे आदार वृक्ष उगा। इसलिए आदार वृक्ष को निचोड़ना चाहिए ॥४॥

यदि आदार वृक्ष न मिले तो अरुण दूर्वा को पीसे। अरुण दूर्वा सोम के सदृश होती है। इसलिए अरुण दूर्वा को पीसना चाहिए ॥५॥

यदि अरुण दूर्वा न मिले तो कैसे ही हरित कुशों को पीस डाले। परन्तु एक गाय भी दान करे और अवभृथ स्नान के पीछे दीक्षा भी ले। सोम के चोरी जाने का यही प्रायश्चित्त है कि यह दूसरा यज्ञ रचा जाय ॥६॥

जिनका कलश टूट जाय उनका क्या कहना? जब कलश टूट जाय तो कहना चाहिए कि 'इसे पकड़ो।' यदि मुट्ठी-भर या पसों-भर सोम मिल जाय तो एक-धन पात्र से पानी मिलाकर यथाशक्ति काम निकालना चाहिए। परन्तु यदि कुछ भी न मिल सके तो आग्रयण में से कुछ लेकर दूसरे एक-धन पात्रों में से पानी मिलाकर यथाशक्ति काम निकालना चाहिए। यदि

न्यैरेकधनैरभ्युन्नीय यथाप्रभावं प्रचरेयुः स यद्युन्नीतासु दक्षिणासु कलशो दीर्येत तत्राप्येकामेव गां दद्यादथावभृथादुदेत्य पुनर्दीक्षेत पुनर्यज्ञो ह्येव तत्र प्रायश्चित्तिरिति नु कलशदिराम् ॥७॥ अथ सोमातिरिक्तानाम् । यद्यग्निष्टोममतिरिच्येत पूतभृत एवोक्थ्यं गृह्णीयाद्यद्युक्थ्यमतिरिच्येत षोडशिनमुपेयुर्यदि षोडशिनमतिरिच्येत रात्रिमुपेयुर्यदि रात्रिमतिरिच्येताह्नरुपेयुर्नत्वेवातीरेकोऽस्ति ॥८॥ ब्राह्मणम् ॥२ [५. १०.] ॥ पञ्चमोऽध्यायः [२१.] ॥॥

प्रजापतिर्वाऽएष यदꣳशुः । सोऽस्यैष आत्मैवात्मा ह्ययं प्रजापतिस्तदस्यैतमात्मानं कुर्वन्ति यत्रैतं गृह्णन्ति तस्मिन्नेतान्प्राणान्दधाति यथा यथैते प्राणा ग्रहा व्याख्यायन्ते स ह सर्वतनूरेव यजमानोऽमुष्मिंलोके सम्भवति ॥१॥ तदारम्भणवत् । यत्रैतं गृह्णन्त्ययैतदनारम्भणमिव यत्रैतं न गृह्णन्ति तस्माद्वाऽअꣳशुं गृह्णाति ॥२॥ तं वाऽऔदुम्बरेण पात्रेण गृह्णाति । प्रजापतिर्वा एष प्राजापत्य उदुम्बरस्तस्मादौदुम्बरेण पात्रेण गृह्णाति ॥३॥ तं वै चतुःस्रक्तिना पात्रेण गृह्णाति । त्रयो वाऽइमे लोकास्तदिमानेव लोकांस्त्रिभिराप्नोति प्रजापतिर्वाऽअतीमांलोकांश्चतुर्थस्तत्प्रजापतिमेव चतुर्थ्याप्नोति तस्माच्चतुःस्रक्तिना पात्रेण गृह्णाति ॥४॥ स वै तूष्णीमेव ग्रावाणमादत्ते । तूष्णीमꣳशून्निवपति तूष्णीमप उपसृजति तूष्णीमुद्यत्य सकृदभिषुणोति तूष्णीमेनमनवानञ्जुहोति तदेनं प्रजापतिं करोति ॥५॥ अथास्याꣳ हिरण्यं बद्धं भवति । तदुपजिघ्रति स यदेवात्र क्षणुते वा वि वा लिशतेऽमृतमायुर्हिरण्यं तदमृतमायुरात्मन्धत्ते ॥६॥ तदु होवाच राम औपतस्विनिः । काममेव प्राण्यात्काममुदन्याद्यद्धि तूष्णीं जुहोति तद्वेवैनं प्रजापतिं करोतीति ॥७॥ अथास्याꣳ हिरण्यं बद्धं भवति । तदुपजिघ्रति स यदेवात्र क्षणुते वा वि वा लिशतेऽमृतमायुर्हिरण्यं तदमृतमायुरात्मन्धत्ते ॥८॥ तदु होवाच बुडिल आश्वतराश्विः । उद्यत्यैव गृह्णीयान्नाभिषुणुयादभिषुण्वन्ति वाऽअन्याभ्यो

दक्षिणा की गायें लाने से पहले कलश टूट जाय तो एक गाय दान दे और अवभृथ स्नान के पीछे फिर दीक्षित होवे, क्योंकि यह दूसरा यज्ञ ही इसका प्रायश्चित्त है। इतना उन लोगों के लिए जिनसे कलश टूट जाय ॥७॥

अब उन लोगों के विषय में जिनसे सोम कुछ शेष रह जाय। यदि अग्निष्टोम के पीछे कुछ सोम शेष रह जाय तो पूतभृथ में से उक्थ्य ग्रह को भर ले। यदि उक्थ्य भरने पर भी शेष रहे तो षोडशी करे। यदि षोडशी पर भी बच रहे तो अतिरात्र यज्ञ करे। यदि अतिरात्र से भी बच रहे तो दिन का यज्ञ (बृहत्साम या महाव्रत) करे। इसके पीछे तो अवश्य ही कुछ न बचेगा ॥८॥

अंशुग्रहः

अध्याय ६--ब्राह्मण १

यह जो अंशु ग्रह है वह प्रजापति ही है। यह इस यज्ञ का आत्मा है, क्योंकि प्रजापति आत्मा है। 'इस प्रकार जब वे इस ग्रह को निकालते हैं तो मानो यज्ञ के आत्मा को बनाते हैं। इसमें प्राणों को स्थापित करता है, जैसे इन प्राणों अर्थात् ग्रहों की व्याख्या होती है। यजमान अपने सम्पूर्ण शरीरसहित परलोक में जन्म लेता है ॥१॥

जब इस ग्रह को ग्रहण करते हैं तो यह आरम्भण है। जब नहीं ग्रहण करते तो आरम्भण नहीं है। इसलिए अंशु ग्रह को ग्रहण करता है ॥२॥

वह उदुम्बर लकड़ी का होता है। यह प्रजापति है। उदुम्बर प्रजापति का है। इसलिए उदुम्बर लकड़ी का पात्र होता है ॥३॥

यह चौकोर पात्र होता है। लोक तीन हैं। तीन कोनों से तीन लोकों की प्राप्ति होती है। इन तीन लोकों के अतिरिक्त चौथा प्रजापति है। इस प्रकार चौथे कोने से प्रजापति की प्राप्ति करता है। इसलिए चौकोर पात्र होता है ॥४॥

सिल-बटने (ग्रावाण) को चुपके से लेता है। चुपके ही सोम अंशु को उस पर रखता है। चुपके से उस पर पानी छोड़ता है। चुपके से बटना उठाकर उसे एक बार पीसता है। चुपके से बिना साँस लिये आहुति देता है। इस प्रकार यजमान को प्रजापति बना देता है ॥५॥

इसमें एक सोने का टुकड़ा रक्खा होता है। उसको सूंघता है। यदि कहीं खुजलाये या घाव हो जाय तो सोना अमृत है। इस प्रकार अपने में अमृत को धारण करता है ॥६॥

राम औपतस्विनि का कहना है कि जितना जी चाहे साँस ले। चुपके से आहुति देने-मात्र से ही यजमान प्रजापति बन जाता है ॥७॥

उसमें सोने का टुकड़ा होता है। उसको सूंघता है। यदि खुजलाये या घाव हो जाय तो सोना अमृत है। इसलिए इसमें अमृत या दीर्घ जीवन की स्थापना करता है ॥८॥

बुडिल आश्वतराश्वि का कहना है कि केवल बटने को उठाकर इसको ले लेवे, पीसे न।

देवताभ्यस्तदन्यथा ततः करोति यथो चान्याभ्यो देवताभ्योऽथ यदुग्रहाति तदेवास्याभिषुतं भवतीति ॥९॥ तद्ध होवाच याज्ञवल्क्यः । अभ्येव षुणुयान्न सोम इन्द्रमसुतो ममाद नाब्रह्माणो मघवानꣳ सुतास इत्यृषिणाभ्यनूक्तं न वाऽअन्यस्यै कस्यै चन देवतायै सकृदभिषुणोति तदन्यथा ततः करोति यथो चान्याभ्यो देवताभ्यस्तस्माद्भ्येव षुणुयादिति ॥१०॥ तस्य द्वादश प्रथमगर्भाः । पष्ठौह्यो दक्षिणा द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य संवत्सरः प्रजापतिः प्रजापतिरꣳशुस्तदेनं प्रजापतिं करोति ॥११॥ ॥शतम् २८००॥॥ तासां द्वादश गर्भाः । ताश्चतुर्विꣳशतिश्चतुर्विꣳशतिर्वै संवत्सरस्यार्धमासाः संवत्सरः प्रजापतिः प्रजापतिरꣳशुस्तदेनं प्रजापतिं करोति ॥१२॥ तद्ध ह कौकूस्तः । चतुर्विꣳशतिमिवैताः प्रथमगर्भाः पष्ठौहीर्दक्षिणा ददावृषभं पञ्चविꣳशꣳ हिरण्यमेतद्ध ह स ददौ ॥१३॥ स वाऽएष न सर्वस्येव ग्रहीतव्यः । आत्मा ह्यस्यैष यो न्वेव ज्ञातस्तस्य ग्रहीतव्यो यो वाऽस्य प्रियः स्याद्यो वानूचानोऽनूक्तेनैनं प्राप्नुयात् ॥१४॥ सहस्रे ग्रहीतव्यः । सर्वं वै सहस्रꣳ सर्वमेष सर्ववेदसे ग्रहीतव्यः सर्वं वै सर्ववेदसꣳ सर्वमेष विश्वजिति सर्वपृष्ठे ग्रहीतव्यः सर्वं वै विश्वजित्सर्वपृष्ठः सर्वमेष वाजपेये राजसूये ग्रहीतव्यः सर्वꣳ हि तत्सत्त्रे ग्रहीतव्यः सर्वं वै सत्त्रꣳ सर्वमेष एतानि ग्रहणानि ॥१५॥ ब्राह्मणम् ॥३ [६. १.] ॥॥

एतं वाऽएते गह्णन्ति । षड्भिर्मासैर्य एष तपति ये संवत्सरमासते तदुच्यतऽएव सामतो यथैतस्य रूपं क्रियतऽउच्यतऽऋक्तोऽथैतदेव यजुष्टः पुरश्चरणातो यदेतं गृह्णन्त्येतेनोऽएवैनं गह्णन्ति ॥१॥ अथातो गृह्णात्येव । उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः । दृशे विश्वाय सूर्यम् । उपयामगृहीतोऽसि सूर्याय त्वा भ्राजायैष ते योनिः सूर्याय त्वा भ्राजायेति ॥२॥ ब्राह्मणम् ॥४ [६. २.] ॥॥

अथातः पश्वयनस्यैव । पञ्चैकादशिन्यैवेयात्स आग्नेयं प्रथमं पशुमालभतेऽथ

क्योंकि अन्य देवताओं के लिए पीसते हैं। इस प्रकार वह जैसा अन्य देवताओं के लिए करता है उससे कुछ भिन्न इसके लिए करता है। यह जो बटने का ऊपर उठाना है वही पीसने के तुल्य है ॥९॥

इस पर याज्ञवल्क्य का कहना है कि पीसना अवश्य चाहिए। ऋषि का कहना है कि "न सोम इन्द्रमसुतो ममाद नाब्रह्माणो मघवानं सुतासः" (ऋ० ७।२६।१)—"बिना पिसे सोम ने इन्द्र को तृप्त नहीं किया, न पिसे सोम ने बिना स्तुति के।" किसी अन्य देवता के लिए एक बार से अधिक नहीं पीसा जाता। इस प्रकार जैसा अन्य देवताओं के लिए किया जाता है इससे भिन्न इसके लिए। इसलिए पीसना अवश्य चाहिए ॥१०॥

इसकी दक्षिणा है बारह गर्भिणी गायें जो पहलौटी हों। वर्ष के बारह मास होते हैं। संवत्सर प्रजापति है। प्रजापति अंशु है। इस प्रकार वह यजमान को प्रजापति बना देता है॥११॥

उनके बारह गर्भ भी तो होते हैं। इस प्रकार चौबीस हुए। संवत्सर में चौबीस अर्ध-मास होते हैं। संवत्सर प्रजापति है। अंशु प्रजापति है। इस प्रकार यजमान को प्रजापति बना देता है ॥१२॥

कौकूस्त ने चौबीस प्रथम गर्भा गायें अपने पहलौटी बच्चों के साथ दी थीं और पच्चीसवाँ साँड और सोना। इतना ही दिया था ॥१३॥

यह ग्रह सबके लिए नहीं निकालना चाहिए, क्योंकि यह यज्ञ का आत्मा है। या तो उसके लिए निकाले जिससे जान-पहचान हो या, जो अध्वर्यु का मित्र हो, या जो वेदाध्ययन के द्वारा इसका अधिकारी बन गया हो ॥१४॥

हजार-गाय-दान-वाले यज्ञ में इसको निकालना चाहिए। सहस्र का अर्थ है सम्पूर्ण। यह ग्रह भी सम्पूर्ण है। सर्ववेदस् यज्ञ में इसको निकालना चाहिए (सर्ववेद वह यज्ञ है जिसमें सम्पूर्ण सम्पत्ति दान कर दी जाती है)। सर्ववेद सब-कुछ है और यह ग्रह भी सब-कुछ है। सर्वपृष्ठ विश्वजित् में इसको निकालना चाहिए। विश्वजित् सर्वपृष्ठ सब-कुछ है, और यह ग्रह भी सब-कुछ है। वाजपेय और राजसूय यज्ञ में इसको निकालना चाहिए, क्योंकि वह सब-कुछ है। सत्र में निकालना चाहिए, क्योंकि सत्र सब-कुछ है और यह सब ग्रह निकालने की क्रिया में भी सब-कुछ है ॥१५॥

अतिग्राह्यग्रहग्रहणम्

अध्याय ६—ब्राह्मण २

जो सालभर तक यज्ञ में बैठते हैं वे छः महीनों के द्वारा उसको प्राप्त होते हैं। जो वह चमकता है (अर्थात् सूर्य), ऐसा साम के अनुसार है। यह सूर्य का रूप हो जाता है ऐसा ऋक् का विधान है। यजुः के अनुसार भी यही है कि पुरश्चरण करके जो इस ग्रह को लेते हैं वे भी इसी सूर्य को प्राप्त होते हैं ॥१॥

उसको इस मन्त्र से लेता है—"उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम्। उपयामगृहीतोऽसि सूर्याय त्वा भ्राजायैष ते योनिः सूर्याय त्वा भ्राजाय' (यजु० ८।४१, ऋ० १।५०।१)—"उस सब के ज्ञाता देव सूर्य की ओर यह केतु ले जाते हैं, जिससे सब संसार की वस्तुओं को देखा जा सके। तू आश्रय के लिए लिया गया है। तुझे सूर्य के लिए, तेज के लिए। यह तेरी योनि है। सूर्य के लिए तुझको, प्रकाश के लिए तुझको ॥२॥

पश्वयनस्तोमायने

अध्याय ६—ब्राह्मण ३

पशु-अयन (पशु-याग) का यह नियम है। ग्यारह पशुओं से ही यज्ञ करे। अग्नि के लिए

वारुणमथ पुनराग्नेयमेवमेवैतया पश्वेकादशिन्येयात् ॥१॥ अथोऽअप्यैन्द्राग्नमेवाह-
रहः पशुमालभेत । अग्निर्वै सर्वा देवता अग्नौ हि सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुह्वती-
न्द्रो वै यज्ञस्य देवता तत्सर्वाश्चैवैतद्देवता नापराध्नोति यो च यज्ञस्य देवता तां
नापराध्नोति ॥२॥ अथात स्तोमायनस्यैव । आग्नेयमग्निष्टोमऽआलभेत तद्धि स-
लोम यदाग्नेयमग्निष्टोमऽआलभेत यद्युक्थ्यः स्यादैन्द्राग्नं द्वितीयमालभेतैन्द्राग्नानि
ह्युक्थानि यदि षोडशी स्यादैन्द्रं तृतीयमालभेतैन्द्रो हि षोडशी यद्यतिरात्रः
स्यात्सारस्वतं चतुर्थमालभेत वाग्वै सरस्वती योषा वै वाग्योषा रात्रिस्तद्यथा-
यथं यज्ञक्रतून्व्यावर्तयत्येतानि त्रीण्ययनानि तेषां यतमत्कामयेत तेनेयाद्द्वाऽउपा-
लभ्यौ पशू सौर्यं द्वितीयं पशुमालभते वैषुवतेऽहन्प्राजापत्यं महाव्रते ॥३॥ ब्रा-
ह्मणम् ॥५ [६. ३.] ॥॥

अथातो महाव्रतीयस्यैव । प्रजापतेर्ह वै प्रजाः ससृजानस्य पर्वाणि विसस्रꣳसुः
स विस्रस्तैः पर्वभिर्न शशाक सꣳहातुं ततो देवा अर्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुस्तऽएतं
महाव्रतीयं ददृशुस्तमस्माऽअगृह्णंस्तेनास्य पर्वाणि समदधुः ॥१॥ स सꣳहितैः
पर्वभिः । इदमन्नाद्यमभ्युत्तस्थौ यदिदं प्रजापतेरन्नाद्यं यद्धि मनुष्याणामशनं तद्देवा-
नां व्रतं महद्वाऽइदं व्रतमभूद्येनायꣳ समहास्तेति तस्मान्महाव्रतीयो नाम ॥२॥
एवं वाऽएते भवन्ति । ये संवत्सरमासते यथैव तत्प्रजापतिः प्रजाः ससृजान आ-
सीत्स यथैव तत्प्रजापतिः संवत्सरेऽन्नाद्यमभ्युदतिष्ठदेवमेवैतऽएतत्संवत्सरेऽन्नाद्य-
मभ्युत्तिष्ठन्ति येषामेवं विदुषामेतं ग्रहं गृह्णन्ति ॥३॥ तं वाऽइन्द्रायैव विमृधे गृ-
ह्णीयात् । सर्वा वै तेषां मृधो हता भवन्ति सर्वं जितं ये संवत्सरमासते तस्मा-
द्विमृधे वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः । योऽअस्माँ२॥ऽअभिदासत्य-
धरं गमया तमः । उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विमृधऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा
विमृधऽइति ॥४॥ अथो विश्वकर्मणे । विश्वं वै तेषां कर्म कृतं सर्वं जितं भवति

पहले पशु का आलभन करे— एक वरुण के लिए, फिर एक अग्नि के लिए। इस प्रकार ग्यारह पशुओं से यज्ञ करे ॥१॥

या प्रतिदिन इन्द्र-अग्नि के लिए एक-एक पशु का आलभन करे। अग्नि ही सब देवता हैं। अग्नि में ही सब देवताओं के लिए आहुति दी जाती है। इन्द्र यज्ञ का देवता है। इस प्रकार न तो वह किसी देवता को अप्रसन्न करता है, न उसको जो यज्ञ का देवता है ॥२॥

स्तोम-अयन का नियम यह है। अग्निष्टोम में अग्नि के पशु का आलभन करे। अग्निष्टोम में अग्नि के लिए आलभन करना उचित ही है। यदि उक्थ्य यज्ञ हो तो दूसरे पशु को इन्द्र और अग्नि के लिए, क्योंकि उक्थ्य इन्द्र और अग्नि के हैं। यदि षोडशी हो तो तीसरा पशु इन्द्र के लिए होना चाहिए, क्योंकि इन्द्र षोडशी है। यदि अतिरात्र हो तो सरस्वती के लिए एक पशु हो, क्योंकि सरस्वती वाणी है। वाणी स्त्री है और रात्रि भी स्त्री है। इस प्रकार यज्ञ-क्रतुओं की अलग-अलग-पहचान है। ये तीन अयन या यज्ञ की रीतियाँ हैं। जैसा चाहे वैसा करे। दो पशुओं का आलभन अवश्य करे। दूसरे पशु का सूर्य के लिए विषुवत् के दिन और प्रजापति के लिए महाव्रत के दिन ॥३॥

महाव्रतीयः

अध्याय ६—ब्राह्मण ४

अब महाव्रतीय ग्रह के विषय में यह बात है कि जब प्रजापति ने प्रजा को सृजा तो उसके शरीर के जोड़ थक गये और थके हुए जोड़ों से वह अपने को उठा न सका। तब देव अर्चना तथा श्रम करते रहे। तब उन्होंने इस महाव्रतीय ग्रह को देखा। उसको उन्होंने इस (प्रजापति) के लिए लिया और उससे इसके जोड़ स्वस्थ हो गये ॥१॥

उन स्वस्थ जोड़ों से वह उस अन्न को प्राप्त हुआ जो कुछ कि प्रजापति का अन्न है, क्योंकि जो मनुष्यों का खाना है वही देवों का व्रत है। चूंकि यह महान् व्रत था जिससे वह स्वस्थ हो गया, इसलिए इसका नाम 'महाव्रतीय' पड़ा ॥२॥

जो सालभर के यज्ञ में बैठते हैं वे उसी प्रकार के हो जाते हैं, जैसा प्रजापति हो गया था जब वह प्रजा बनाने बैठा। जिस प्रकार प्रजापति वर्षभर के पश्चात् अन्न को प्राप्त हुआ, इस प्रकार ये भी वर्षभर के पश्चात् अन्न को प्राप्त होते हैं। और जो इन रहस्यों को समझते हैं उन्हीं के लिए वे इस (महाव्रतीय) ग्रह को निकालते हैं ॥३॥

इसको इन्द्र विमृध के लिए निकालना चाहिए। जो वर्षभर के यज्ञ में बैठते हैं उनके साथ 'मृध' अर्थात् शत्रु या हँसी करनेवाले मर जाते हैं और वे सबको जीत लेते हैं, इसलिए 'इन्द्र विमृध' के लिए इस मन्त्र से, "वि न ऽ इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः। यो ऽ अस्माँ२ ऽ अभिदासत्यधरं गमया तमः। उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विमृध ऽ एष ते योनिरिन्द्राय त्वा विमृधे" (यजु० ८।४४, ऋ० १०।१५२।४)—"हे इन्द्र, हमारे शत्रुओं का नाश कर। उनको जो हमसे लड़ते हैं नीचा कर। जो हमारे ऊपर आक्षेप करते हैं, उनसे घोर निकृष्ट अन्धकार को प्राप्त करा। हे ग्रह ! तू आश्रय के लिए लिया गया है। तुझे इन्द्र मृध के लिए। यह तेरी योनि है। तुझे विमृध इन्द्र के लिए" ॥४॥

या विश्वकर्मा के लिए। जो सालभर के यज्ञ में बैठते हैं उनका सब काम पूर्ण हो जाता

ये संवत्सरमासते तस्माद्विश्वकर्मणो वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये मनोजुवं वाजे ऽग्रद्या हुवेम । स नो विश्वानि हवनानि जोषद्विश्वशम्भूरवसे साधुकर्मा । उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विश्वकर्मणऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा विश्वकर्मणऽइति ॥५॥ यद्युऽऐन्द्रीं वैश्वकर्मणीं विद्यात् । तयैव गृह्णीयाद्विश्वकर्मन्हविषा वर्धनेन त्रातारमिन्द्रमकृणोरवध्यम् । तस्मै विशः समनमन्त पूर्वीरयमुग्रो विहव्यो यथासत् । उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विश्वकर्मणऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा विश्वकर्मणऽइति ॥६॥ ब्राह्मणम् ॥ ६ [६. ४.] ॥ ॥

एष वै ग्रहः । य एष तपति येनेमाः सर्वाः प्रजा गृहीतास्तस्मादाहुर्ग्रहान्गृह्णीम इति चरन्ति ग्रहगृहीताः सन्त इति ॥१॥ वागेव ग्रहः । वाचा हीद७ सर्वं गृहीतं किमु तद्यद्वाग्ग्रहः ॥२॥ नामैव ग्रहः । नाम्ना हीद७ सर्वं गृहीतं किमु तद्यन्नाम ग्रहो बहूनां वै नामानि विद्माथ नस्तेन ते न गृहीता भवन्ति ॥३॥ अन्नमेव ग्रहः । अन्नेन हीद७ सर्वं गृहीतं तस्माद्यावन्तो नोऽशनमश्नन्ति ते नः सर्वे गृहीता भवन्त्येषैव स्थितिः ॥४॥ स य एष सोमग्रहः । अन्नं वाऽएष स यस्यै देवतायाऽएतं ग्रहं गृह्णाति सास्मै देवतैतेन ग्रहेण गृहीता तं कामं७ समर्धयति यत्काम्या गृह्णाति स उद्यन्तं वादित्यमुपतिष्ठतेऽस्तं यन्तं वा ग्रहोऽस्यमुमनयार्त्या गृह्णाणासावदो मा प्रापदिति यं द्विष्यादसावस्मै कामो मा समर्धीति वा न हैवास्मै स कामः समृध्यते यस्माऽएवमुपतिष्ठते ॥५॥ ब्राह्मणम् ॥ ७ [६. ५.] ॥ ॥

देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः । तेऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद्बिभयां चक्रुस्ते होचुः को नो दक्षिणत आसिष्यतेऽथाभयेऽनाष्ट्रऽउत्तरतो यज्ञमुपचरिष्याम इति ॥१॥ ते होचुः । य एव नो वीर्यवत्तमः स दक्षिणत आस्तामथाभयेऽनाष्ट्रऽउत्तरतो यज्ञमुपचरिष्याम इति ॥२॥ ते होचुः । इन्द्रो वै नो वीर्यवत्तम इन्द्रो दक्षिणत

है, वे सबको जीत लेते हैं, इसलिए विश्वकर्मा के लिए इस मन्त्र से–''वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये मनोजुवं वाजे ऽ अद्या हुवेम। स नो विश्वानि हवनानि जोषद् विश्वशम्भूरवसे साधुकर्मा। उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विश्वकर्मण ऽ एष ते योनिरिन्द्राय त्वा विश्वकर्मणे'(यजु० ८।४५)—''आज हम इस युद्ध में वाचस्पति विश्वकर्मा को बुलाते हैं जो हमारे मनों का प्रेरक है। वह सब प्रकार से हित करनेवाला और शुभ कर्मवाला हमारे सब हवनों को रक्षा के लिए स्वीकार करे। हे ग्रह, तू आश्रय के लिए लिया गया है। तुझको विश्वकर्मा इन्द्र के लिए। यह तेरी योनि है, तुझ के इन्द्र विश्वकर्मा के लिए ॥५॥

यदि वह इन्द्र और विश्वकर्मा वाली ऋचा को जानता हो तो इस प्रकार निकाले,''विश्वकर्मन् हविषा वर्धनेन त्रातारमिन्द्रमकृणोरवध्यम्। तस्मै विशः समनमन्त पूर्वीरयमुग्रो विहव्यो यथासत्। उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विश्वकर्मण ऽ एष ते योनिरिन्द्राय त्वा विश्वकर्मणे''(यजु० ८।४६)—''हे विश्वकर्मन्! तूने उन्नति करनेवाली हवि के द्वारा इन्द्र को त्राता (बचानेवाला) और अवध्य (न मारे जानेवाला) बना दिया। उसके लिए पूर्व लोगों ने नमस्कार किया क्योंकि वह उग्र और पूजनीय है। हे ग्रह! तू आश्रय के लिए लिया गया है। तुझे इन्द्र विश्वकर्मा के लिए। यह तेरी योनि है। तुझको विश्वकर्मा इन्द्र के लिए'' ॥६॥

ग्रहस्तुतिः

अध्याय ६—ब्राह्मण ५

यह जो तपता है और जिसने सब प्रजाओं को थाम रक्खा है वह ग्रह है। इसलिए वे कहते हैं कि हम ग्रहों को ग्रहण करते हैं, या ग्रहों से थामे हुए हम चलते हैं। (यहाँ ग्रह के दो अर्थ दिये हैं—(१) जिसको ग्रहण किया जाय, (२) जिससे थामे हुए हम चलें) ॥१॥

वाणी एक ग्रह है। वाणी से यह सब थामा हुआ है। क्या आश्चर्य यदि वाणी ग्रह है ॥२॥

नाम ग्रह है। नाम से ही यह सब थामा हुआ है। क्या आश्चर्य है यदि नाम ग्रह हो! हम बहुतों के नामों को जानते हैं, क्या वे इस प्रकार हमसे बाँधे नहीं गये? ॥३॥

अन्न भी ग्रह है। अन्न से ये सब थामे हुए हैं। इसलिए जितने हमारा अन्न खाते हैं वे हमसे थामे जाते हैं। यह स्थिति है ॥४॥

यह जो सोम ग्रह है वह अन्न है। जिस देवता के लिए यह ग्रह निकाला जाता है वह देवता इस ग्रह से बद्ध होकर उसकी कामना पूरी कर देता है जिसके लिए इस ग्रह को निकालते हैं। वे उदय होते हुए या अस्त होते हुए सूर्य की उपासना करें, यह सोचकर—'तू पकड़नेवाला (ग्रह) है। अमुक पुरुष को अमुक रोग के द्वारा पकड़। अमुक पुरुष को अमुक वस्तु न मिले।' यह उसका नाम लेकर जिससे वह द्वेष करता है, या 'अमुक पुरुष की वृद्धि न हो, वह अपनी इच्छा को पूरा न करे।' वस्तुतः यदि वह सूर्य की उपासना किसी के अहित के लिए करता है तो उस पुरुष की समृद्धि नहीं होती और न उसकी कामना पूरी होती है ॥५॥

सौमिकं ब्रह्मत्वम्

अध्याय ६—ब्राह्मण ६

यज्ञ रचाते हुए देवों को असुर राक्षसों के आक्रमण का भय हो गया। उन्होंने कहा—'हममें से कौन दक्षिण की ओर बैठेगा कि हम अभय और निश्चिन्त होकर उत्तर की ओर यज्ञ करते रहें?' ॥१॥

वे बोले—'जो हममें सबसे प्रबल हो वह दक्षिण की ओर बैठे जिससे हम अभय और निश्चिन्त होकर उत्तर की ओर यज्ञ करते रहें' ॥२॥

वे बोले—'इन्द्र ही हममें सबसे प्रबल है। इन्द्र दक्षिण की ओर बैठे जिससे हम अभय

आस्तामथाभयेऽनाष्ट्रऽउत्तरतो यज्ञमुपचरिष्याम इति ॥३॥ ते हेन्द्रमूचुः । त्वं वै नो वीर्यवत्तमोऽसि त्वं दक्षिणत आस्स्वाथाभयेऽनाष्ट्रऽउत्तरतो यज्ञमुपचरिष्याम इति ॥४॥ स होवाच । किं मे ततः स्यादिति ब्राह्मणाछंस्या ते ब्रह्मसाम तऽइति तस्माद्ब्राह्मणाछंसिनं प्रवृणीतऽइन्द्रो ब्रह्मा ब्राह्मणादितीन्द्रस्य ह्येषा स इन्द्रो दक्षिणत आस्ताथाभयेऽनाष्ट्रऽउत्तरतो यज्ञमुपाचरंस्तस्माद्य एव वीर्यवत्तमः स्यात्स दक्षिणत आसीताथाभयेऽनाष्ट्र उत्तरतो यज्ञमुपचरेयुर्यो वै ब्राह्मणानामनूचानतमः स एषां वीर्यवत्तमोऽथ यदिदं य एव कश्च ब्रह्मा भवति कुवित्तूष्णीमास्तऽइति तस्माद्य एव वीर्यवत्तमः स्यात्स दक्षिणत आसीताथाभयेऽनाष्ट्रऽउत्तरतो यज्ञमुपचरेयुस्तस्माद्ब्राह्मणा दक्षिणत आसतेऽथाभयेऽनाष्ट्रऽउत्तरतो यज्ञमुपचरन्ति ॥५॥ स यत्राह । ब्रह्मन्त्स्तोष्यामः प्रशास्तरिति तद्ब्रह्मा जपत्येतं ते देव सवितर्यज्ञं प्राहुर्बृहस्पतये ब्रह्मणे । तेन यज्ञमव तेन यज्ञपतिं तेन मामव । स्तुत सवितुः प्रसवऽइति सोऽसावेव बन्धुरेतेन न्वेव भूयिष्ठा-इवोपचरन्ति ॥६॥ अनेन त्वेवोपचरेत् । देव सवितरेतद्बृहस्पते प्रेति तत्सवितारं प्रसवायोपधावति स हि देवानां प्रसविता बृहस्पते प्रेति बृहस्पतिर्वै देवानां ब्रह्मा तद्य एव देवानां ब्रह्मा तस्माऽएवैतत्प्राह तस्मादाह बृहस्पते प्रेति ॥७॥ अथ मैत्रावरुणो जपति । प्रसूतं देवेन सवित्रा जुष्टं मित्रावरुणाभ्यामिति तत्सवितारं प्रसवायोपधावति स हि देवानां प्रसविता जुष्टं मित्रावरुणाभ्यामिति मित्रावरुणौ वै मैत्रावरुणस्य देवते तद्येऽएव मैत्रावरुणस्य देवते ताभ्यामेवैतत्प्राह तस्मादाह जुष्टं मित्रावरुणाभ्यामिति ॥८॥ ब्राह्मणम् ॥ ८ [६. ६.] ॥॥

त्रयी वै विद्या । ऋचो यजूंषि सामानीयमेवऽर्चोऽस्याछ ह्यर्चति योऽर्चति स वागेवऽर्चो वाचा ह्यर्चति योऽर्चति सोऽन्तरिक्षमेव यजूंषि द्यौः सामानि सैषा त्रयी विद्या सौम्येऽध्वरे प्रयुज्यते ॥१॥ इममेव लोकमृचा जयति । अन्तरिक्षं

और निश्चिन्त होकर उत्तर में यज्ञ करें' ।।३।।

उन्होंने इन्द्र से कहा—'तू हममें सबसे प्रबल है, तू दक्षिण की ओर बैठ जिससे हम अभय और निश्चिन्त होकर उत्तर में यज्ञ करें' ।।४।।

उसने उत्तर दिया—'तो मुझे क्या मिलेगा ?' उन्होंने कहा कि 'ब्राह्मणाच्छंसी का पद तेरा होगा, ब्रह्मसाम तेरा होगा।' इसलिए ब्राह्मणाच्छंसी का वरण करते हैं तो कहते हैं कि 'इन्द्रो ब्रह्मा ब्राह्मणात्' अर्थात् 'इन्द्र ब्राह्मण होने के कारण ब्रह्मा है।' यह पदवी इन्द्र की है। इन्द्र दक्षिण की ओर बैठा और वे अभय तथा निश्चिन्त स्थान में यज्ञ करने लगे। इसलिए जो सबसे बलिष्ठ हो उसको दक्षिण की ओर बैठना चाहिए और उत्तर की ओर अभय और निश्चिन्त स्थान में उनको यज्ञ करना चाहिए। ब्राह्मणों में जो सबसे अधिक वेद पढ़ा है वही सबसे प्रबल है। अब जो कोई ब्रह्मा हो जाता है वह क्या चुपचाप नहीं बैठता ? इसलिए जो कोई सबसे प्रबल हो उसको दक्षिण की ओर बैठना चाहिए और औरों को उत्तर की ओर अभय तथा निश्चिन्त स्थान में यज्ञ करना चाहिए। इसलिए ब्राह्मण वेदी के दक्षिण भाग में बैठते हैं और दूसरे लोग उत्तर की ओर अभय और निश्चिन्त स्थान में यज्ञ करते हैं ।।५।।

जब प्रस्तोता कहता है कि 'हे ब्रह्मन् प्रशास्ता, हम स्तुति करेंगे।' तब ब्रह्मा जपता है, "एतं ते देव सवितर्यज्ञं प्राहुर्बृहस्पतये ब्रह्मणे। तेन यज्ञमव तेन यज्ञपतिं तेन मामव" (यजु० २।१२)—"हे देव सविता ! तेरे इस यज्ञ को ब्रह्म बृहस्पति के लिए विज्ञप्त किया है। इसलिए यज्ञ की रक्षा कर, यज्ञपति की रक्षा कर, मेरी रक्षा कर।" सविता की प्रेरणा से स्तुति करो। इसका भी वही फल है। वे अधिकतर स्तुति इसी मन्त्र से करते हैं ।।६।।

ऐसा कहकर भी स्तुति हो सकती है कि 'हे देव सविता' यह, 'हे बृहस्पति, आगे बढ़िए।' इससे वह प्रेरणा के लिए सविता की उपासना करता है। वही देवों का प्रेरक है। बृहस्पति, बढ़ो' वह इसलिए कहता है कि बृहस्पति देवों का ब्रह्मा है। इस प्रकार जो देवों का ब्रह्मा है उसकी घोषणा करता है। इसलिए कहता है कि 'बृहस्पति, बढ़ो' ।।७।।

अब मैत्रावरुण जपता है, 'देव सविता से प्रेरित होकर मित्र और वरुण के लिए प्रिय हो।' इस प्रकार प्रेरणा के लिए सविता की उपासना करता है क्योंकि वह देवों का प्रेरक है। 'मित्र और वरुण के लिए प्रिय' इसलिए कि मैत्रावरुण के दो देवता हैं—मित्र और वरुण। इस प्रकार मैत्रावरुण के जो दो देवता हैं उनके प्रति घोषणा करता है। इसलिए कहता है 'मित्र और वरुण के लिए' ।।८।।

ब्रह्मत्व-सदो-हविर्धान-विधिशेषः

अध्याय ६—ब्राह्मण ७

विद्या के तीन भाग हैं—ऋक्, यजुः और साम। यह पृथिवी ऋक् है क्योंकि जो कोई ऋक् पढ़ता है यही पढ़ता है। वाणी ऋक् है क्योंकि जो कोई पढ़ता है वाणी से पढ़ता है। अन्तरिक्ष यजुः है और द्यौ साम है। सोम यज्ञ में इस तीनों भाग वाली विद्या का प्रयोग होता है ।।१।।

इस लोक को ऋक् से जीतता है, अन्तरिक्ष को यजुः से और द्यौ को साम से। इसलिए

यजुषा दिवमेव साम्ना तस्माद्यस्यैका विद्यानूक्ता स्यादन्वेवापीतरयोर्निर्मितं विवक्तेतेममेव लोकमृचा जयत्यन्तरिक्षं यजुषा दिवमेव साम्ना ॥२॥ तद्वाऽएतत् । सहस्रं वाचः प्रजातं द्वेऽइन्द्रस्तृतीये तृतीयं विष्णुर्ऋचश्च सामानि चेन्द्रो यजूꣳषि विष्णुस्तस्मात्सदस्यृक्सामाभ्यां कुर्वन्त्यैन्द्रꣳ हि सदः ॥३॥ अथैतं विष्णुं यज्ञम् । एतैर्यजुर्भिः पुर-इवैव बिभ्रति तस्मात्पुरश्चरणं नाम ॥५॥ वागेवऽर्चश्च सामानि च । मन एव यजूꣳषि सा यत्रेयं वागासीत्सर्वमेव तत्राक्रियत सर्वं प्राज्ञायताथ यत्र मन आसीन्नैव तत्र किं चनाक्रियत न प्राज्ञायत नो हि मनसा ध्यायतः कश्चनाजानाति ॥५॥ ते देवा वाचमब्रुवन् । प्राची प्रेहीदं प्रज्ञपयेति सा होवाच किं मे ततः स्यादिति यत्किं चावषट्कृतꣳ स्वाहाकारेण यज्ञे हूयते तत्तऽइति तस्माद्यत्किं चावषट्कृतꣳ स्वाहाकारेण यज्ञे हूयते तद्वाचः सा प्राची प्रेत्यैतत्प्राज्ञपयदितीदं कुरुतेतीदं कुरुतेति ॥६॥ तस्मादु कुर्वन्त्येवऽर्चा हविर्धाने । प्रातरनुवाकमन्वाह सामिधेनीरन्वाह ग्रावाणोऽभिष्टौत्येवꣳ हि सयुजावभवताम् ॥७॥ तस्मादु कुर्वन्त्येव सदसि । यजुषौदुम्बरीमुच्छ्रयन्ति सदः संमिन्वन्ति धिष्ण्यानुपकिरन्त्येवꣳ हि सयुजावभवताम् ॥८॥ तद्वाऽएतत्सदः परिश्रयन्ति । एतस्मै मिथुनाय तिर-इवेदं मिथुनं चर्याताऽइति व्यृद्धं वाऽएतन्मिथुनं यदन्यः पश्यति तस्माद्यद्यपि जायापती मिथुनं चरन्तौ पश्यन्ति व्येव द्रवत आग एव कुर्वाते तस्माद्द्वारेण सदः प्रेक्षमाणं ब्रूयान्मा प्रेक्षथा इति यथा ह मिथुनं चर्यमाणं पश्येदेवं तत्कामं द्वारेण देवकृतꣳ हि द्वारम् ॥९॥ एवमेवैतद्धविर्धानं परिश्रयन्ति । एतस्मै मिथुनाय तिर-इवेदं मिथुनं चर्याताऽइति व्यृद्धं वाऽएतन्मिथुनं यदन्यः पश्यति तस्माद्यद्यपि जायापती मिथुनं चरन्तौ पश्यन्ति व्येव द्रवत आग एव कुर्वाते तस्माद्द्वारेण हविर्धानं प्रेक्षमाणं ब्रूयान्मा प्रेक्षथा इति यथा ह मिथुनं चर्यमाणं पश्येदेवं तत्कामं द्वारेण देवकृतꣳ हि द्वारम् ॥१०॥ तद्वाऽएतद्-

जो एक विद्या को जानता हो उसको चाहिए कि अन्य दो विद्याओं को भी जान ले, क्योंकि ऋक् से पृथिवी को जीतता है, यजुः से अन्तरिक्ष को और साम से द्यौ लोक को ।।२।।

यह वाणी की सहस्र प्रजा है। इन्द्र ने दो-तिहाई ले लिया और विष्णु ने एक-तिहाई। ऋक् और साम को इन्द्र ने और यजुः को विष्णु ने। इसलिए सदस् में ऋक् और साम से स्तुति करते हैं क्योंकि सदस् इन्द्र का अपना है ।।३।।

यजुओं से इस विष्णु अर्थात् यज्ञ को आगे लाते हैं, इसलिए इसका नाम पुरश्चरण है ।।४।।

वाणी ही ऋक् और साम ह। मन ही यजुः है। जहा वाणी थी वहाँ सब काम हो गया, सब ज्ञात हो गया। जहाँ मन था वहाँ कुछ न हुआ, कुछ न ज्ञात हुआ। क्योंकि जो कोई मन में विचार करता है उसको कोई भी नहीं जानता ।।५।।

उन देवों ने वाणी से कहा, 'आगे चल और इसका ज्ञान करा।' उसने कहा, 'मुझे क्या होगा ?' उन्होंने कहा कि 'जो कुछ बिना वषट्कार के स्वाहाकार से दिया जाता है वह सब तेरा लाभ होगा।' इसलिए जो कुछ वषट्कार के बिना स्वाहाकार से दिया जाता है वह सब वाणी का होता है। वह आगे बढ़ी और यह विज्ञप्ति दी कि 'ऐसा करो, ऐसा करो' ।।६।।

इसलिए वे भी हविर्धान में ऋक् से ही यज्ञ करते हैं। (होता) प्रातःकाल अनुवाक् पढ़ता है, सामिधेनियों को पढ़ता है। वह (ग्रावस्तुत) ग्राव्ण की स्तुति करता है। इस प्रकार ये दोनों अर्थात् मन और वाणी संयुक्त हो गए ।।७।।

इसलिए सदस् में यजुः से यज्ञ करते हैं। वे उदुम्बरी को उठाते हैं, सदस् को खड़ा करते हैं। वे धिष्ण्या का निर्माण करते हैं। इस प्रकार मन और वाणी दोनों संयुक्त हो जाते हैं ।।८।।

इस सदस् को वे चारों ओर से घेर देते हैं, मैथुन के लिए, यह सोचकर कि 'गुप्त रीति से ही मैथुन (मन और वाणी का संयोग) होगा।' क्योंकि यदि कोई देख ले तो मैथुन अनुचित हो जाता है। इसीलिए जब स्त्री-पुरुष मैथुन करते हुए देख लिये जाते हैं तो वे एक-दूसरे को छोड़कर अलग हो जाते हैं क्योंकि यह बुरा लगता है। इसलिए जो कोई सदस् में द्वार के सिवाय अन्य स्थान से झाँके, उससे कहना चाहिए कि मत झाँको, क्योंकि यह ऐसी ही बात है जैसे किसी को मैथुन करते हुए देखे। द्वार की ओर से कोई देख सकता है क्योंकि द्वार तो देवों का बनाया हुआ है ।।९।।

इसी प्रकार हविर्धान को भी चारों ओर से घेर देते हैं, मैथुन के लिए, अर्थात् मैथुन गुप्त रीति से किया जाय। जो कोई दूसरा मैथुन करते देख लेता है वह मैथुन अनुचित समझा जाता है। इसलिए यदि पति-पत्नी मैथुन करते हुए देख लिये जाते हैं तो वे अलग हो जाते हैं क्योंकि यह बुरी बात समझी जाती है। इसलिए यदि कोई द्वार के अतिरिक्त और किधर से ही हविर्धान में झाँके तो उससे कहना चाहिए कि 'मत झाँको' अर्थात् मानो वह मैथुन को देख रहा है। द्वार में होकर कोई देख सकता है, क्योंकि द्वार देवों द्वारा निर्मित है ।।१०।।

षा साम । योषामृचꣳ सदस्यध्येति तस्मान्मिथुनादिन्द्रो जातस्तेजसो वै तत्तेजो जातं यदृचश्च साम्नश्चेन्द्र इन्द्र इति ह्येतमाचक्षते य एष तपति ॥११॥ अथैतद्वषा सोमः । योषा अपो हविर्धानेऽध्येति तस्मान्मिथुनाच्चन्द्रमा जात न्नाद्वै तदन्नं जातं यदद्भ्यश्च सोमाच्च चन्द्रमाश्चन्द्रमा ह्येतस्यान्नं य एष तपति तद्यजमानं चैवैतज्जनयत्यन्नाद्यं चास्मै जनयत्यृचश्च साम्नश्च यजमानं जनयत्यद्भ्यश्च सोमाच्चास्मा ऽअन्नाद्यम् ॥१२॥ यजुषा ह वै देवाः । अग्रे यज्ञं तेनिरेऽथऽर्चाथ साम्ना तदिदमप्येतर्हि यजुषैवाग्रे यज्ञं तन्वतेऽथऽर्चाथ साम्ना यजो ह वै नामैतद्यद्यजुरिति ॥१३॥ यत्र वै देवाः । इमा विद्याः कामान्दुदुह्रे तद्ध यजुर्विद्यैव भूयिष्ठान्कामान्दुदुह्रे सा निर्धीततमेवास सा नेतरे विद्ये प्रत्यास नान्तरिक्षलोक इतरौ लोकौ प्रत्यास ॥१४॥ ते देवा अकामयन्त । कथं न्वियं विद्येतरे विद्ये प्रतिस्यात्कथमन्तरिक्षलोक इतरौ लोकौ प्रतिस्यादिति ॥१५ ॥ ते होचुः । उपाꣳश्वेव यजुर्भिश्चराम तत एषा विद्येतरे विद्ये प्रतिभविष्यति ततोऽन्तरिक्षलोक इतरौ लोकौ प्रतिभविष्यतीति ॥१६॥ तैरुपाꣳश्वचरन् । आप्याययन्नेवैनानि तत्तत एषा विद्येतरे विद्ये प्रत्यासीत्ततोऽन्तरिक्षलोक इतरौ लोकौ प्रत्यासीत्तस्माद्यजूꣳषि निरुक्तानि सन्त्यनिरुक्तानि तस्मादयमन्तरिक्षलोको निरुक्तः सन्ननिरुक्तः ॥१७॥ स य उपाꣳशु यजुर्भिश्चरति । आप्याययत्येवैनानि स तान्येनमाप्यीनान्याप्याययन्त्यथ य उच्चैश्चरति रूक्षयत्येवैनानि स तान्येनꣳ रूक्षाणि रूक्षयन्ति ॥१८॥ वागेवऽर्चश्च सामानि च । मन एव यजूꣳषि स यऽऋचा च साम्ना च चरन्ति वाक्ते भवन्त्यथ ये यजुषा चरन्ति मनस्ते भवन्ति तस्मान्नानभिप्रेषितमध्वर्युणा किं चन क्रियते यद्वैवाध्वर्युराहानुब्रूहि यजेत्येव ते कुर्वन्ति यऽऋचा कुर्वन्ति यद्वैवाध्वर्युराह सोमः पवतऽउपावर्तध्वमित्येव ते कुर्वन्ति ये साम्ना कुर्वन्ति नो ह्यनभिगतं मनसा वाग्वदति ॥१९॥ तद्वाऽएतन्मनोऽध्वर्युः । पुर-इवैव चरति तस्मात्पु-

इस सदस् में नर-साम नारी-ऋक् की कामना करता है। इनके मैथुन से इन्द्र उत्पन्न होता है। तेज ही तेज उत्पन्न हुआ। ऋक् और साम से इन्द्र हुआ क्योंकि इन्द्र उसी को कहते हैं जो तपता है (सूर्य) ॥११॥

इस हविर्धान में नर-सोम नारी-जल (संस्कृत में 'आप' स्त्रीलिंग है। अर्बी और हीब्रू में भी जल के वाचक स्त्रीलिंग मिलते हैं) की कामना करता है। इसके मैथुन से चाँद उत्पन्न होता है। यह जो जल और सोम के मैथुन से चाँद उत्पन्न हुआ, मानो अन्न से अन्न उत्पन्न हुआ, क्योंकि चन्द्रमा उसका अन्न है जो तपता है (सूर्य का)। इस प्रकार वह यजमान को उत्पन्न करता है, और उसके लिए अन्न को उत्पन्न करता है। ऋक् और साम से वह यजमान को उत्पन्न करता है और सोम-जल से वह उसके लिए अन्न उत्पन्न करता है ॥१२॥

देवों ने पहले यजुः से यज्ञ किया, फिर ऋक् से, फिर साम से। इसीलिए ये भी पहले यजुः से यज्ञ करते हैं, फिर ऋक् से, फिर साम से, क्योंकि वे कहते हैं कि 'यज' ही 'यजुः' है ॥१३॥

जब देवों ने इन विद्याओं से अपनी कामनाओं को दुहा तो सबसे अधिक यजुः मे दुहा। इस प्रकार यह खाली-सा हो गया। यह उन दो विद्याओं के बराबर न रहा, अन्तरिक्ष दोनों लोकों के बराबर न था ॥१४॥

देवों ने चाहा कि यह विद्या उन दो विद्याओं के बराबर कैसे हो? यह अन्तरिक्ष उन दो लोकों के बराबर कैसे हो? ॥१५॥

उन्होंने कहा, 'धीमी आवाज से यजुः से यज्ञ करें, तब यह विद्या उन दो विद्याओं के बराबर हो जायगी। तब अन्तरिक्ष इन दो लोकों के बराबर हो जायगा' ॥१६॥

उनके धीमी आवाज से यज्ञ करने से यजुओं की शक्ति बढ़ गई। यह विद्या दूसरी दो विद्याओं के बराबर हो गई। इस प्रकार अन्तरिक्षलोक अन्य दो लोकों के तुल्य हो गया। इसलिए यजुः निरुक्त (स्पष्ट) होते हुए भी अनिरुक्त है, इसलिए अन्तरिक्ष निरुक्त होते हुए भी अनिरुक्त है ॥१७॥

जो यजुओं को धीमी आवाज से पढ़ता है वह यजुओं को शक्तिशाली करता है और ये शक्तिशाली होकर उसको शक्तिशाली करते हैं। जो यजुओं को उच्चस्वर से पढ़ता है वह उनको निर्बल बनाता है और वे निर्बल होकर उसको निर्बल कर देते हैं ॥१८॥

ऋक् और साम वाणी हैं। मन ही यजुः है। जो ऋक् और साम से यज्ञ करते हैं वे वाणी हैं और जो यजुः से यज्ञ करते हैं वे मन हैं। इसलिए बिना अध्वर्यु की आज्ञा के कुछ काम नहीं किया जाता। जब अध्वर्यु कहता है 'अनुवाक् कहो, यज्ञ करो' तब वे यज्ञ करते हैं जो ऋक् से यज्ञ करते हैं। जब अध्वर्यु कहता है कि 'सोम पवित्र हो गया, लौटो' तो वे यज्ञ करते हैं जो साम से यज्ञ करते हैं। मन के द्वारा विचारे बिना तो वाणी कुछ कहती नहीं ॥१९॥'

इस प्रकार मनरूपी अध्वर्यु आगे-आगे चलता है। इसीलिए पुरश्चरण नाम पड़ा। जो

श्चरणं नाम पुर-इव ह वै श्रिया यशसा भवति य एवमेतद्वेद ॥२०॥ तद्वाऽए-तदेव पुरश्चरणम् । य एष तपति स एतस्यैवावृता चरेद्गृहे गृहीवैतस्यैवावृतमन्वावर्तेत प्रतिगीर्यैतस्यैवावृतमन्वावर्तेत ग्रहं७ जुह्वैतस्यैवावृतमन्वावर्तेत स हैष भर्ता स यो हैवं विद्वानेतस्यावृता शक्नोति चरितु७ शक्नोति हैव भार्यान्भर्तुम् ॥२१॥ ब्राह्मणम् ॥ १ [६. ७.] ॥

या वै दीक्षा सा निषत् । तत्सत्त्रं तस्मादेनानासतऽइत्याहुरथ यत्ततो यज्ञं तन्वते तद्यन्ति तन्नयति यो नेता भवति स तस्मादेनान्यन्तीत्याहुः ॥१॥ या ह दीक्षा सा निषत् । तत्सत्त्रं तदयनं तत्सत्त्रायणमथ यत्ततो यज्ञस्योदृचं गच्छन्ति तदुत्थानं तस्मादेनानुदस्थुरित्याहुरिति नु पुरस्ताद्वदनम् ॥२॥ अथ दीक्षिष्यम[ाण]ाः समवस्यन्ति । ते यद्यग्निं चेष्यमाणा भवन्त्यरणिष्वेवाग्नीन्त्समारोह्योपसमायन्ति यत्र प्राजापत्येन पशुना यक्ष्यमाणा भवन्ति मथित्वोपसमाधायोद्धृत्याहवनीयं यजन्तऽएतेन प्राजापत्येन पशुना ॥३॥ तस्य शिरो निदधति । तेषां यदि तदहर्दीक्षा न समैत्यरणिष्वेवाग्नीन्त्समारोह्य यथायथं विपरेत्य जुह्वति ॥४॥ अथ यदहरेषां दीक्षा समैति । अरणिष्वेवाग्नीन्त्समारोह्योपसमायन्ति यत्र दीक्षिष्यमाणा भवन्ति गृहपतिरेव प्रथमो मन्थते मध्यं प्रति शालाया अथेतरेषामर्धा दक्षिणत उपविशन्त्यर्धा उत्तरतो मथित्वोपसमाधायैकैकमेवोल्मुकमादायोपसमायन्ति गृहपतेर्गार्हपत्यं गृहपतेरेव गार्हपत्यादुद्धृत्याहवनीयं दीक्षन्ते तेषा७ समान आहवनी[यो] भवति नाना गार्हपत्या दीक्षोपसत्सु ॥५॥ अथ यदहरेषां क्रयो भवति । तदहर्गार्हपत्यां चितिमुपदधात्यथैतरेभ्य उपवसथे धिष्ण्यान्वैसर्जिनानां काले प्राच्यः पत्न्य उपसमायन्ति प्रजहत्येतानपरानग्नीन्कुतऽएव वैसर्जिने ॥६॥ राजानं प्रणयति । उद्यत एवैष आग्नीध्रीयोऽग्निर्भवत्यथैतऽएकैकमेवोल्मुकमादाय यथाधिष्ण्यं विपरायन्ति तैरेव तेषामुल्मुकैः प्रघ्नन्तीति ह स्माह याज्ञवल्क्यो ये तथा

इस रहस्य को समझता है वह श्री और यश में आगे होता है ।।२०।।

यह पुरश्चरण वही है जो तपता है (अर्थात् सूर्य्य) । उसी की चाल के अनुसार चलना चाहिए । जब सोम ग्रह को लेवे तो उसी की चाल के अनुसार घुमावे । जब वे होता के गीत का अनुसरण करें, तो भी सूर्य्य की चाल का ही अनुसरण करना चाहिए । जब वे ग्रह की आहुति दें तब भी सूर्य्य की चाल का ही अनुसरण करना चाहिए । सूर्य्य ही भर्त्ता है । जो इस रहस्य को समझकर सूर्य्य का अनुसरण करता है वह अपने आश्रितों (भार्या) का पालन कर सकता है ।।२१।।

सत्रायणम्

अध्याय ६—ब्राह्मण ८

यह जो दीक्षा है उसका नाम है निषत् (बैठना)। उसी को सत्र (बैठक, session) कहते हैं। इसीलिए कहते हैं कि 'आसत्' अर्थात् वे बैठे हैं । और इसके पश्चात् जब यज्ञ करते हैं तब वे 'यन्ति' अर्थात् 'जाते हैं' । इनमें जो 'नयति' अर्थात् अगुआ होता है वह 'नेता' होता है । इसलिए इनको कहते हैं कि ये जाते हैं । (तात्पर्य यह है कि 'दीक्षा' के लिए 'बैठने' का और यज्ञ करने के लिए 'जानें' शब्द का प्रयोग होता है) ।।१।।

जो दीक्षा है वह निषत् या बैठना है। वही सत्र (बैठक) है। वह 'अयन' (जाना) भी है। वह 'सत्रायण' अर्थात् 'बैठने के लिए जाना' है। और जब यज्ञ की समाप्ति पर उठते हैं उसको 'उत्थान' कहते हैं। इसलिए कहते हैं कि 'वे उठ बैठे।' यह हुआ प्राक्कथन (पुरस्ताद् वदनम्) ।।२।।

जिनको दीक्षित होना है वे (समय तथा स्थान को) तै कर लेते हैं। जिनको वेदी बनानी है वे अरणियों में अग्नियों को लेकर वहाँ चले जाते हैं जहाँ प्रजापति के लिए पशु का आलभन करना है। आग को मथकर उसमें प्रजापति-सम्बन्धी पशु-यज्ञ करते हैं ।।३।।

उसके सिर को रख लेते हैं। यदि उसी दिन उनकी दीक्षा नहीं होनी है तो अरणियों में ही फिर आग लेकर अपने-अपने घर चले जाते हैं और दैनिक आहुतियों में ही देते हैं ।।४।।

यदि उनकी दीक्षा उसी दिन होती है तो अरणियों में ही अग्नि को लेकर उस स्थान पर आ जाते हैं जहाँ दीक्षा होनी है। शाला के बीच में वहीं पर गृहपति पहले (आग को) मथता है। इनमें से आधे उसकी दक्षिण की ओर बैठते हैं, आधे उत्तर की ओर। जब आग मथ जाती है और उस पर समिधा रख जाती है तो वे एक-एक लकड़ी को लेकर गृहपति की गार्हपत्य अग्नि तक आते हैं। गृहपति को ही गार्हपत्य से आहवनीय लेकर दीक्षा लेते हैं। दीक्षा और उपसद् में आहवनीय एक ही होती है और गार्हपत्य अलग-अलग ।।५।।

जिस दिन इनको (सोम) मोल लेना है, उस दिन गार्हपत्य को चिनते हैं और उपवास के दिन (सोमयज्ञ से पूर्व दिन को उपवसथ करते हैं) दूसरों के लिए धिष्ण्या चिनते हैं। विसर्जन के दिन पत्नियाँ भी साथ आती हैं। और यजमान उन दूसरी अग्नियों को (गार्हपत्यों को) छोड़ जाते हैं। जब वैसर्जिन आहुति हो चुकती है तो—।।६।।

सोम राजा को लाते हैं। आग्नीध्रीय अग्नि उसी समय अभी लाई हुई होती है। वे इसमें से एक-एक लकड़ी लेकर अपनी-अपनी धिष्ण्या में चले जाते हैं। (याज्ञवल्क्य ने) कहा है कि

कुर्वन्तीत्येतन्न्वेकमयनम् ॥७॥ अथेदं द्वितीयम् । अरणिष्वेवाग्नीन्त्समारोह्योपस-
मायन्ति यत्र प्राजापत्येन पशुना यक्ष्यमाणा भवन्ति मथित्वोपसमाधायोद्धृत्याहव-
नीयं यजन्तऽएतेन प्राजापत्येन पशुना ॥८॥ तस्य शिरो निदधति । तेषां यदि
तदहर्दीक्षा न समैत्यरणिष्वेवाग्नीन्त्समारोह्य यथायथं विपरेत्य जुह्वति ॥९॥ अथ
यदहरेषां दीक्षा समैति । अरणिष्वेवाग्नीन्त्समारोह्योपसमायन्ति यत्र दीक्षिष्यमा-
णा भवन्ति गृहपतिरेव प्रथमो मन्थतेऽथेतरे पर्युपविश्य मन्थन्ते ते जातं-जातमे-
वानुप्रहरन्ति गृहपतेर्गार्हपत्ये गृहपतेरेव गार्हपत्यादुद्धृत्याहवनीयं दीक्षन्ते ते-
षाᳫ समान आहवनीयो भवति समानो गार्हपत्यो दीक्षोपसत्सु ॥१०॥ अथ
यदहरेषां क्रयो भवति । तदहर्गार्हपत्यां चितिमुपदधात्यथेतरेभ्य उपवसथे धि-
ष्ण्यान्वैसर्जिनानां काले प्राच्यः पत्न्य उपसमायन्ति प्रजहत्येतमपरमग्निᳫ हुतऽएव
वैसर्जिने ॥११॥ राजानं प्रणयति । उद्यत एवैष आग्नीध्रीयोऽग्निर्भवत्यथेतऽएकै-
कमेवोल्मुकमादाय यथाधिष्ण्यं विपरायन्ति समदमु हैव ते कुर्वन्ति समर्द्धैनान्वि-
न्दत्यर्तुका ह भवन्त्यपि ह तमर्धᳫ समद्विन्दति यस्मिन्नर्धे यजन्ते ये तथा कुर्वन्त्ये-
तद्द्वितीयमयनम् ॥१२॥ अथेदं तृतीयम् । गृहपतेरेवारण्योः संवदन्ते य इतो
ऽग्निर्जनिष्यते स नः सह यदनेन यज्ञेन ञेष्यामोऽनेन पशुबन्धेन तन्नः सह सह
नः साधुकृत्या य एव पापं करवत्तस्यैव तदित्येवमुक्त्वा गृहपतिरेव प्रथमः समा-
रोहयतेऽथेतरेभ्यः समारोहयति स्वयं वैव समारोहयन्ते तऽआयन्ति यत्र प्राजा-
पत्येन पशुना यक्ष्यमाणा भवन्ति मथित्वोपसमाधायोद्धृत्याहवनीयं यजन्तऽएतेन
प्राजापत्येन पशुना ॥१३॥ तस्य शिरो निदधति । तेषां यदि तदहर्दीक्षा न स-
मैत्यरणिष्वेवाग्नीन्त्समारोह्य यथायथं विपरेत्य जुह्वति ॥१४॥ अथ यदहरेषां दी-
क्षा समैति । गृहपतेरेवारण्योः संवदन्ते य इतोऽग्निर्जनिष्यते स नः सह यदनेन
यज्ञेन ञेष्यामोऽनेन सत्रेण तन्नः सह सह नः साधुकृत्या य एव पापं करवत्तस्यैव

ये इन्हीं लकड़ियों से वध करते हैं। यह रीति है ॥७॥

दूसरी यह है —अरणियों पर अग्नियों को लेकर वहाँ जाते हैं जहाँ प्रजापति-सम्बन्धी पशु-यज्ञ करना है। आग मथकर उस पर समिधा रखके उसमें मे आहवनीय को लेकर प्रजापति-सम्बन्धी पशु-यज्ञ करते हैं ॥८॥

उसके सिर को रख लेते हैं। यदि उस दिन दीक्षा नहीं होनी होती तो अरणियों पर अग्नियों को लेकर अपने-अपने घर चले जाते हैं और वहाँ (दैनिक) आहुतियाँ देते हैं ॥९॥

यदि दीक्षा उसी दिन लेनी हो तो अरणियों पर अग्नियों को लेकर वहाँ चले आते हैं जहाँ दीक्षा लेनी है। पहले गृहपति ही मथता है, फिर और उसके पास बैठकर मथते हैं। और जो-जो अपनी आग मथता है वह उसको गृहपति के ही गार्हपत्य में डाल देता है। गृहपति के ही गार्हपत्य से आहवनीय लेकर दीक्षा लेते हैं, उनकी आहवनीय एक ही होती है और एक ही गार्हपत्य दीक्षा में भी और उपसदों में भी ॥१०॥

जिस दिन उनको सोम का क्रय करना हो (मोल लेना हो) उस दिन गार्हपत्य को चिनते हैं, और उपवास के दिन दूसरों के लिए धिष्ण्या। विसर्जन के समय पत्नियाँ आगे आती हैं और यजमान इस दूसरी अग्नि को छोड़ जाता है। और जब विसर्जन की आहुति दी जाती है—॥११॥

तभी सोम राजा को लाता है। आग्नीध्र अग्नि उस समय लाई हुई होती है। उसमें से एक-एक लकड़ी को लेकर अपनी-अपनी धिष्ण्या में लाते हैं। जो इस प्रकार करते हैं वे झगड़ा करते हैं। झगड़ा उनके बीच में आ जाता है। वे झगड़ा कर बैठते हैं जो इस प्रकार यज्ञ करते हैं। यह दूसरी रीति है ॥१२॥

यह तीसरी रीति है—गृहपति की ही अरणियों में साझी हो जाते हैं। 'जो अग्नि इनसे उत्पन्न होगी इसमें हमारा भाग है। इस यज्ञ के करने से जो फल होगा, या पशु-बन्ध से, इसमें हमारा भाग है। जो पुण्य कर्म है उसमें हम सब शामिल हैं। जो पाप करे वह उसका अपना है।' ऐसा कहकर गृहपति पहले अपने लिए आग लेता है, फिर दूसरों के लिए, या वे स्वयं अपने लिए लेते हैं। वे उस स्थान पर आते हैं जहाँ प्रजापति का पशुयाग होना होता है। आग मथकर, समिधा रखकर आहवनीय को लेते हैं और प्रजापति-सम्बन्धी पशु-यज्ञ करते हैं ॥१३॥

उसके सिर को रख लेते हैं। यदि उस दिन उनकी दीक्षा नहीं होनी होती तो अरणियों पर अग्नियों को लेकर अपने-अपने घर चले जाते हैं और आहुतियाँ दे लेते हैं ॥१४॥

यदि इस दिन दीक्षा होनी होती है तो गृहपति की ही अरणियों में साझा कर लेते हैं कि 'जो अग्नि उत्पन्न होगी उसमें हमारा भाग है और जो इस होनेवाले यज्ञ तथा सत्र से फल होना है उसमें हमारा साझा है। जो-जो पुण्य करना है उसमें हमारा साझा है। जो पाप हो जाय वह

तदित्येवमुक्त्वा गृहपतिरेव प्रथमः समारोहयतेऽथेतरेभ्यः समारोहयन्ति स्वयं वैव समारोहयन्ते तऽआयन्ति यत्र दीक्षिष्यमाणा भवन्ति मथित्वोपसमाधायोद्धृत्याहवनीये दीक्षन्ते तेषाᳪ समान आहवनीयो भवति समानो गार्हपत्यो दीक्षोपसत्सु ॥१५॥ अथ यदहरेषां क्रयो भवति । तदहर्गार्हपत्यां चितिमुपदधात्यथेतरेभ्य उपवसथे धिष्ण्यान्वैसर्जिनानां काले प्राच्यः पत्न्य उपसमायन्ति प्रज्ञहृत्येतमपरमग्निᳪ हुतऽएव वैसर्जिने ॥१६॥ राजानं प्रणयति । उच्यत एवैष आग्नीध्रीयोऽग्निर्भवत्यथेतऽएकैकमेवोल्मुकमादाय यथाधिष्ण्यं विपरायन्ति तत्तत्कृतं नाकृतं यन्नानाधिष्ण्या भवन्ति वरीयानवकाशोऽसत्परिचरणायेत्यथ यन्नानापुरोडाशा भूयो हविरुच्छिष्टमसत्समाश्याऽइति ॥१७॥ अथ येन सत्त्रेण देवाः । क्षिप्रऽएव पाप्मानमपाघ्नतेमां जितिमजयन्यैषामियं जितिस्तदुत उच्यतऽएकगृहपतिका वै देवा एकपुरोडाशा एकधिष्ण्याः क्षिप्रऽएव पाप्मानमपाघ्नत क्षिप्रे प्राजायन्त तथोऽएवैतऽएकगृहपतिका एकपुरोडाशा एकधिष्ण्याः क्षिप्रऽएव पाप्मानमपघ्नते क्षिप्रे प्रजायन्ते ॥१८॥ अथाहः पूर्वस्मिन्नुदीचीनवᳪशा शाला भवति । तन्मानुषᳪ समान आहवनीयो भवति नाना गार्हपत्यास्तद्विकृष्टं गृहपतेरेव गार्हपत्ये जाघन्या पत्नीः संयाजयन्त्यान्येनेतरे प्रतियजन्तऽआसते तद्विकृष्टम् ॥१९॥ अथात्र प्राचीनवᳪशा शाला भवति । तद्देवत्रा समान आहवनीयो भवति समानो गार्हपत्यः समान आग्नीध्रीयस्तदेतत्सत्त्रᳪ समृद्धं यथैकाहः समृद्ध एवं तस्य न ह्वलास्ति तस्यैषैव समान्यावृद्यदन्यद्धिष्ण्येभ्यः ॥२०॥ ब्राह्मणम् ॥१० [६. ८.] ॥ ॥

देवा ह वै सत्त्रमासत । श्रियं गच्छेम यशः स्यामान्नादाः स्यामेति तेभ्य एतदन्नाद्यमभिजितमपाचिक्रमिषत्पशवो वाऽअन्नं पशवो हैवैभ्यस्तदपाचिक्रमिषन्न्यद्वै न इमे श्रान्ता न द्विᳪस्युः कथमिव स्विन्नः सच्यन्तऽइति ॥१॥ तऽएते गार्हपत्ये द्वेऽआहुतीऽअजुहवुः । गृहा वै गार्हपत्यो गृहा वै प्रतिष्ठा तदेनान्गृहेष्वेव

हर एक का अपना-अपना है।' ऐसा कहकर पहले गृहपति अरणियों पर अपने लिए मथता है, फिर दूसरों के लिए, या वे स्वयं अपने लिए मथ लेते हैं। अब वे वहाँ आते हैं जहाँ दीक्षा होनी होती है। मथकर, समिधा रखकर आहवनीय को लाते हैं और उसमें दीक्षा लेते हैं। दीक्षा और उपसद में इनकी एक ही आहवनीय होती है और एक ही गार्हपत्य ।।१५।।

अब जिस दिन सोम-क्रय करना हो उस दिन गार्हपत्य को चिनते हैं, और उपवास के दिन दूसरों के लिए धिष्ण्या। विसर्जन के समय पत्नियाँ आगे आती हैं। यजमान उस दूसरी अग्नि को छोड़ जाता है। विसर्जन की आहुति होने पर—।।१६।।

सोम राजा को लाता है। आग्नीध्र अग्नि लाई हुई होती है। उसमें से एक-एक लकड़ी लेकर अपनी-अपनी धिष्ण्या में लाते हैं। इस प्रकार यह हो जाता है; अधूरा (अहत) नहीं रहता। अलग-अलग धिष्ण्या इसलिए होती है कि बीच में आने-जाने के लिए अवकाश रहे। पुरोडाश अलग-अलग इसलिए होता है कि यज्ञ की समाप्ति के लिए अधिक हव्य बच रहे ।।१७।।

जिस सत्र से देवों ने शीघ्र ही पाप को मार डाला और वह विजय पा ली जो इस समय उनको प्राप्त है, उसकी व्याख्या हो चुकी। एक गृहपति, एक पुरोडाश, एक धिष्ण्या से उन्होंने पाप को शीघ्र ही भगा दिया और शीघ्र ही उत्पन्न हो गये। इसी प्रकार यह भी एक गृहपति, एक पुरोडाश और एक धिष्ण्या से पाप को शीघ्र ही भगा देते हैं और फिर उत्पन्न हो जाते हैं ।।१८।।

पहली दशा में एक शाला होती है जिसमें बाँस दक्षिण से उत्तर की ओर होते हैं। यह मानुषी विधि है। एक ही आहवनीय होती है और भिन्न-भिन्न गार्हपत्य। यह विकृष्टि अर्थात् भिन्नता है। गृहपति के ही गार्हपत्य में पशु के पिछले भाग से पत्नी संयाज आहुतियाँ देते हैं, और दूसरे बैठकर घी की आहुति देते हैं। यह विकृष्टि अर्थात् भिन्नता है ।।१६।।

परन्तु यहाँ ऐसी शाला होती है जिसमें पश्चिम से पूर्व की ओर बाँस होते हैं। यहाँ एक ही आहवनीय होती है और एक ही गार्हपत्य, एक आग्नीध्रीय। इस प्रकार यह सत्र सफल होता है जैसे एकाह (एक दिन का यज्ञ) सफल हुआ। इसमें कोई वैफल्य नहीं। धिष्ण्या को छोड़कर यहाँ हर बात में समानता है ।।२०।।

सत्रधर्माः

अध्याय ६—ब्राह्मण ६

देव एक सत्र में बैठे इस इच्छा से कि श्री और यश मिले; अन्न को खानेवाले हो जायँ। उनसे वह अन्न जो उन्होंने जीता था भाग गया। पशु अन्न हैं। पशु ही उनसे भाग गये, यह सोचकर कि ये देव थक गये हैं, कहीं हमको हानि न पहुंचावें, और न जाने हमारे साथ कैसा वर्ताव करें ।।१।।

उन्होंने गार्हपत्य में इन दो आहुतियों को दिया। गार्हपत्य गृह हैं। गृह प्रतिष्ठा हैं। इस

न्ययच्छंस्तथैभ्य एतदन्नाद्यमभिजितं नापाक्रामत् ॥२॥ तथोऽएवेमे सत्त्रमासते ।
ये सत्त्रमासते श्रियं गच्छेम यशः स्यामान्नादाः स्यामेति तेभ्य एतदन्नाद्यमभिजितम-
पचिक्रमिषति पशवो वाऽअन्नं पशवो हैवैभ्यस्तदपचिक्रमिषन्ति यद्वै न इमे आ-
न्ता न हिꣳस्युः कथमिव स्विन्नः सद्यन्तऽइति ॥३॥ तऽएते गार्हपत्ये द्वेऽआहु-
ती जुह्वति । गृहा वै गार्हपत्यो गृहा वै प्रतिष्ठा तदेनान्गृहेष्वेव नियच्छन्ति त-
थैभ्य एतदन्नाद्यमभिजितं नापक्रामति ॥४॥ तथोऽएवैतस्मात् । एतदन्नाद्यमुपा-
हृतमपचिक्रमिषति यद्वै मायं न हिꣳस्यात्कथमिव स्विन्मा सद्यतऽइति ॥४॥
तस्य परस्तादिवाग्रेऽल्पश-इव प्राश्नाति । तदेनदुपनिमदति तद्वेद न वै तथाभू-
द्यथामꣳसि न वै माहिꣳसीदिति तदेनमुपावश्रयते स ह प्रिय एवान्नस्यान्नादो
भवति य एवं विद्वानेतस्य व्रतꣳ शक्नोति चरितुम् ॥५॥ तद्वाऽएतत् । दशमे
ऽहन्त्सत्त्रोत्थानं क्रियते तेषामेकैक एव वाचंयम आस्ते वाचमाप्याययंस्तथापीन-
यायातयाम्न्योत्तरमहस्तन्वतेऽथेतरे विसृज्यन्ते समिद्धारा वा स्वाध्यायं वा तत्रा-
प्यश्नन्ति ॥६॥ तेऽपराह्णेऽउपसमेत्य । अप उपस्पृश्य पत्नीशालꣳ सम्प्रपद्यन्ते तेषु
समन्वारब्धेष्वेतेऽआहुती जुहोतीह रतिरिह रमध्वमिह धृतिरिह स्वधृतिः स्वा-
हेति पशूनेवैतदाह पशूनेवैतदात्मन्नियच्छन्ते ॥८॥ अथ द्वितीयां जुहोति । उपसृ-
जन्धरुणं मात्रऽइत्यग्निमेवैतत्पृथिव्याऽउपसृजन्नाह धरुणो मातरं धयन्नित्यग्निमे-
वैतत्पृथिवीं धयन्तमाह रायस्पोषमस्मासु दीधरत्स्वाहेति पशवो वै रायस्पोषः
पशूनेवैतदात्मन्नियच्छन्ते ॥९॥ ते प्राञ्च उपनिष्क्रामन्ति । ते पश्चात्प्राञ्चो हविर्धाने
सम्प्रपद्यन्ते पुरस्ताद्वै प्रत्यञ्चस्तꣳस्यमाना अथैवꣳ सत्रोत्थाने ॥१०॥ तऽउत्तरस्य
हविर्धानस्य । जघन्यायां कूबर्याꣳ सामाभिगायन्ति सत्त्रस्यऽऋद्धिरिति राद्धिमेवैत-
दभ्युत्तिष्ठन्त्युत्तरवेदेर्वोत्तरायाꣳ श्रोणावितरं तु कृततरम् ॥११॥ यद्वुत्तरस्य हवि-
र्धानस्य । जघन्यायां कूबर्यामगन्म ज्योतिरमृता अभूमेति ज्योतिर्वाऽएते भवन्त्य-

प्रकार उन्होंने इनको गृहों में ही थाम लिया, इस प्रकार इनसे जीता हुआ अन्न न भागा ।।२।।

इसी प्रकार ये लोग भी जो सत्र में बैठते हैं इस आशा से बैठते हैं कि श्री और यश मिले, अन्न को खानेवाले हो जायँ । जो अन्न उन्होंने जीता है वह उनसे भागना चाहता है। पशु अन्न हैं, अर्थात् पशु भागना चाहते हैं यह सोचकर कि ये थके हुए हैं, कहीं हमको हानि न पहुँचावें, (न जाने) हमसे कैसा वर्ताव करें ।।३।।

वे गार्हपत्य में दो आहुतियाँ देते हैं। गृह गार्हपत्य हैं। गृह प्रतिष्ठा हैं। इस प्रकार उनको गृहों में ही थाम लेते हैं। इस प्रकार यही जीता हुआ अन्न उनसे भाग नहीं सकता ।।४।।

इसी प्रकार जीता हुआ अन्न उनसे भागना चाहता है कि कहीं ये मुझे हानि न पहुँचावें। न जाने कैसे वर्ताव करें ।।५।।

इसमें से पीछे की ओर से थोड़ा-सा खाता है। इस प्रकार वह उसका साहस बढ़ाता है। तब वह जानता है कि वैसा नहीं हुआ जैसा मैंने समझा था। इन्होंने मुझे हानि नहीं पहुँचाई। इस प्रकार वे उसके आश्रय हो जाते हैं। वह अन्न का प्रिय हो जाता है, अन्न का खानेवाला हो जाता है यदि वह इस रहस्य को समझकर व्रत कर सकता है ।।६।।

यह कृत्य दसवें दिन सत्रोत्थान के समय होता है। हर एक चुप बैठता है इस प्रकार वाणी को शक्ति देते हुए। उस शक्तिशाली और पूर्ण वाणी से वे अन्तिम दिवस का कृत्य करते हैं। अब दूसरों का विसर्जन हो जाता है या तो समिधा लेने के लिए या स्वाध्याय के लिए। अब खाना खाते हैं ।।७।।

तीसरे पहर को साथ आकर और जल का स्पर्श करके पत्नीशाला में जाते हैं। जब वे उसके पास होते हैं वह आहुति दे देता है इस मन्त्र से—"इह रतिरिह रमध्वमिह धृतिरिह स्वधृतिः स्वाहा" (यजु० ८।५१)—"यहाँ प्रसन्नता है, यहाँ आनन्द मनाइये। यहाँ धृति है। यहाँ आपकी अपनी धृति है—स्वाहा।" वह पशुओं से ऐसा कहता है। इस प्रकार वे अपने लिए पशुओं को प्राप्त कर लेते हैं ।।८।।

अब दूसरी आहुति देता है—"उपसृजन् धरुणं मात्रे" (यजु० ८।५१)—"बछड़े को माता के लिए छोड़ते हुए।" इसका तात्पर्य है कि अग्नि को पृथिवी के पास छोड़ते हुए। "धरुणो मातरं धयन्" (यजु० ८।५१)—"बछड़ा माता का दूध पीता हुआ अर्थात् अग्नि पृथिवी से दूध पीती हुई। "रायस्पोषमस्मासु दीधरत् स्वाहा" (यजु० ८।५१)—"वह हममें धन को जारी रक्खे।" इस प्रकार वह पशुओं को अपने में स्थित रखता है ।।९।।

वे पूर्व की ओर निकलते हैं और पीछे से पूर्व की ओर हविर्धान में प्रवेश करते हैं। आगे से पीछे को उस समय गये थे जब यज्ञ करना था। सत्रोत्थान में इस प्रकार—।।१०।।

उत्तरी हविर्धान के पिछले भाग में सामगान करते हैं जिसको 'सत्र की ऋद्धि' (यजु० ८।५२) कहते हैं। यहीं वे ऋद्धि को प्राप्त होते हैं, या उत्तर वेदी के उत्तर भाग में। परन्तु दूसरी विधि अधिक प्रचलित है—।।११।।

अर्थात् उत्तरी हविर्धान के पिछले भाग में। "अगन्म ज्योतिरमृता ऽ अभूम" (यजु० ८।५२)—"हमको ज्योति मिल गई। हम अमर हो गये।" जो सत्र में बैठते हैं उनको ज्योति

मृता भवन्ति ये सत्त्रमासते दिवं पृथिव्या अध्यारुह्मामेति दिवं वाऽएते पृथिव्या अध्यारोहन्ति ये सत्त्रमासतेऽविदाम देवानिति विन्दन्ति हि देवान्त्स्वर्ज्योतिरिति त्रिर्निधनमुपावयन्ति स्वर्ह्येते ज्योतिर्ह्येते भवन्ति तद्यद्देवैतस्य साम्नो रूपं तद्दे-वैते भवन्ति ये सत्त्रमासते ॥१२॥ ते दक्षिणस्य हविर्धानस्य । अधोऽधोऽक्ष७ सर्पन्ति स यथाहिस्त्वचो निर्मुच्येतैव७ सर्वस्मात्पाप्मनो निर्मुच्यन्तेऽतिछन्दसा स-र्पन्त्येषा वै सर्वाणि छन्दा७सि यदतिछन्दास्तथैनान्पाप्मा नान्वत्येति तस्मादतिछ-न्दसा सर्पन्ति ॥१३॥ ते सर्पन्ति । युवं तमिन्द्रापर्वता पुरोयुधा यो नः पृतन्यादप तं-तमिद्धतं वज्रेण तं-तमिद्धतम् । दूरे चत्ताय छन्त्सद्गहनं यदिनक्षत् । अस्माक७ शत्रून्परि शूर विश्वतो दर्मा दर्षीष्ट विश्वत इति ॥१४॥ ते प्राञ्च उपनिष्क्रामन्ति । ते पुरस्तात्प्रत्यञ्चः सदः सम्प्रपद्यन्ते पश्चाद्धि प्राञ्चस्त७स्यमाना अथैव७ सत्रोत्था-ने ॥१५॥ ते यथाधिष्ण्यमेवोपविशन्ति । देवेभ्यो ह वै वाचो रसोऽभिजितोऽप-चिक्रमिषां चकार स इमामेव पराङत्यसिसृप्सदियं वै वाक्तस्या एष रसो यदोष-धयो यद्वनस्पतयस्तमेतेन साम्नाप्नुवन्त्स एनानात्तोऽभ्यावर्तत तस्मादस्यामूर्ध्वा ओ-षधयो जायन्तऽऊर्ध्वा वनस्पतयस्तथोऽएवैतेभ्य एतद्वाचो रसोऽभिजितोऽपचिक्र-मिषति स इमामेव पराङतिसिसृप्सतीयं वै वाक्तस्या एष रसो यदोषधयो यद्वन-स्पतयस्तमेतेन साम्नाप्नुवन्ति स एनानात्तोऽभ्यावर्तते तस्मादस्यामूर्ध्वा ओषधयो जायन्तऽऊर्ध्वा वनस्पतयः ॥१६॥ सर्पराज्ञ्या ऋक्षु स्तुवते । इयं वै पृथिवी सर्परा-ज्ञी तदनयैवैतत्सर्वमाप्नुवन्ति स्वयम्प्रस्तुतमनुपगीतं यथा नान्य उपशृणुयादति ह रेचयेद्यदन्यः प्रस्तुयादतिरेचयेद्यदन्य उपगायेदतिरेचयेद्यदन्य उपशृणुयात्तस्मात्स्व-यम्प्रस्तुतमनुपगीतम् ॥१७॥ चतुर्होतॄन्होता व्याचष्टे । एतद्वैतत्स्तुतमनुशं७स-ति यदि होता न विद्याद्गृहपतिर्व्याचक्षीत होतुस्त्वेव व्याख्यानम् ॥१८॥ अथा-ध्वर्योः प्रतिगरः । आरात्सुरिमे यजमाना भद्रमेभ्योऽभूदिति कल्याणमेवैतन्मानुष्यै

मिल जाती है। ये अमर हो जाते हैं। "दिवं पृथिव्या ऽ अध्यारुहाम" (यजु० ८।५२)—"हम पृथिवी से द्यौलोक में पहुँच गये।" जो सत्र में बैठते हैं वे पृथिवी से द्यौलोक में पहुँच जाते हैं। "विदाम देवान्" (यजु० ८।५२)—"हमने देवों को प्राप्त किया।" क्योंकि वे वस्तुतः देवों को पा जाते हैं। "स्वर्ज्योतिः" (यजु० ८।५२)—"स्वर्ग को और ज्योति को।" इसको तीन बार कहते हैं। यही स्वर्ग और ज्योति के भागी हो जाते हैं। इस प्रकार जो सत्र में बैठते हैं उनका वही रूप हो जाता है जो साम का रूप है ॥१२॥

वे दक्षिणी हविर्धान के धुरे के नीचे रेंगते हैं। जिस प्रकार साँप अपनी केंचुल छोड़ देता है उसी प्रकार ये अपने पापों से मुक्त हो जाते हैं। अतिछन्दस् से रेंगते हैं। ये जो अतिछन्दस् हैं वे ही सब छन्द हैं। इस प्रकार पाप उनको नहीं लगता। इसलिए वे अतिछन्दस् से रेंगते हैं ॥१३॥

वे इस मन्त्र को पढ़कर रेंगते हैं—"युवं तमिन्द्रापर्वता पुरोयुधा यो नः पृतन्यादप तंतमिद्धतं वज्रेण तन्तमिद्धतम्। दूरे चत्ताय छन्त्सद् गहनं यदिनक्षत्। अस्माकँ शत्रून् परि शूर विश्वतो दर्मा दर्षीष्ट विश्वतः' (यजु० ८।५३)—"हे इन्द्र और पर्वत! तुम दोनों उसको जो हमसे युद्ध में लड़ता है मारो। वज्र से उसको मारो। उसको भी जो दूर देश में जाकर छिप गया हो। हे शूर! हमारे शत्रुओं को फाड़ डालनेवाला चारों ओर से फाड़ डाले—चारों ओर से" ॥१४॥

वे पूर्व की ओर निकलते हैं और सदस् में आगे से पीछे की ओर प्रवेश करते हैं। पीछे से आगे की ओर उस समय आये थे जब यज्ञ करना था। सत्रोत्थान के अवसर पर इस प्रकार—॥१५॥

वे अपनी-अपनी धिष्ण्या के पास बैठ जाते हैं। एक बार वाणी के रस ने देवों से, जिन्होंने इसको जीत लिया था, अलग होना चाहा। उसने पृथिवी पर रेंग-रेंगकर भागने का यत्न किया। पृथिवी ही वाणी है। ये जो ओषधियाँ या बनस्पतियाँ हैं यही इसका रस हैं। उसको इसी साम के द्वारा पकड़ा। इस प्रकार पकड़ने पर वह लौट आया। इसीलिए भूमि पर ओषधियाँ और वनस्पतियाँ ऊपर को उगीं। इसी प्रकार वाणी का रस इन यजमानों को भी जिन्होंने इसको जीत लिया है छोड़ना चाहता है, और इस भूमि पर बहकर भागने की कोशिश करता है। क्योंकि यह पृथिवी वाणी है और इसका रस ये ओषधियाँ और वनस्पतियाँ हैं। इसी साम के द्वारा वे इसको पकड़ते हैं और पकड़ा जाने पर वह लौट आता है, इसलिए इस पृथिवी पर ओषधियाँ ऊपर को उगती हैं और वनस्पतियाँ भी ऊपर को ही उगती हैं ॥१६॥

सर्पराज्ञी ऋचाओं से स्तुति करते हैं। यह पृथिवी सर्पराज्ञी है। इसके द्वारा ये सब चीजों की प्राप्ति करते हैं। उद्गाता अकेले ही स्तुति करता है (बिना प्रस्तोता के) और उपगाता भी साथ में नहीं होते, इसलिए कि कोई इसे सुन न ले। अति हो जाय यदि कोई दूसरा स्तुति करे। अति हो जाय यदि दूसरा गावे। अति हो जाय यदि दूसरा सुन ले। इसलिए बिना उपगाता की सहायता के उद्गाता स्वयं ही स्तुति करता है ॥१७॥

होता चतुर्होतृ का पाठ करता है और उस स्तुति के बाद शस्त्र पढ़ता है। यदि होता उनको न जानता हो तो गृहपति पढ़े। परन्तु है तो यह होता के पढ़ने के लिए ही ॥१८॥

अब अध्वर्यु प्रत्युत्तर देता है—'ये यजमान सफल हो गये। इनका कल्याण हो।' इस

वाचो वदति ॥१९॥ अथ वाकोवाक्यं ब्रह्मोद्यं वदन्ति । सर्वं वै तेषामाप्तं भवति सर्वं जितं ये सत्त्रमासतेऽचारिषुर्यजुर्भिस्तत्तान्यापंस्तदु वाहुस्ततोऽशꣳसिषुर्ऋग्भिस्तत्ता आपंस्तदु वाहुस्ततोऽस्तोषत सामभिस्तत्तान्यापंस्तदु वाहुस्ततोऽथैषामेतद्देवानामाप्तमनवरुद्धं भवति यद्वाकोवाक्यं ब्राह्मणं तदेवैतेनाप्नुवन्ति तदवरुन्धते ॥२०॥ औदुम्बरीमुपसꣳस्पृश्य वाचं यच्छन्ति । विदुहन्ति वाऽएते यज्ञं निर्धयन्ति ये वाचा यज्ञं तन्वते वाग्घि यज्ञस्तामेषां पुरैकैक एव वाचंयम आस्ते वाचमाप्याययंस्तयापीनयायातयाम्न्योत्तरमहस्तन्वतेऽथात्र सर्वैव वागाप्ता भवत्यपवृक्ता ताꣳ सर्व ऽएव वाचंयमा वाचमाप्याययन्ति तयापीनयायातयाम्न्यातिरात्रं तन्वते ॥२१॥ औदुम्बरीमन्वारभ्यासते । अन्नं वाऽऊर्गुदुम्बर ऊर्जैवैतद्वाचमाप्याययन्ति ॥२२॥ तेऽस्तमिते प्राञ्च उपनिष्क्रामन्ति । ते जघनेनाहवनीयमासतेऽग्रेण हविर्धाने तान्वाचंयमानेव वाचंयमः प्रतिप्रस्थाता वसतीवरीभिरभिपरिहरति ते यत्कामा आसीरंस्तेन वाचं विसृजेरन्कामैर्ह स्म वै पुरर्षयः सत्त्रमासतेऽसौ नः कामः स नः समृध्यतामिति यद्यु अनेककामाः स्युर्लोककामा वा प्रजाकामा वा पशुकामा वा ॥२३॥ अनेनैव वाचं विसृजेरन् । भूर्भुवः स्वरिति तत्सत्येनैवैतद्वाचꣳ समर्धयन्ति तया समृद्धयाशिष आशासते सुप्रजाः प्रजाभिः स्यामेति तत्प्रजामाशासते सुवीरा वीरैरिति तद्वीरानाशासते सुपोषाः पोषैरिति तत्पुष्टिमाशासते ॥२४॥ अथ गृहपतिः सुब्रह्मण्यामाह्वयति । यं वा गृहपतिर्ब्रूयात्पृथगु हैवैके सुब्रह्मण्यामाह्वयन्त गृहपतिस्त्वेव सुब्रह्मण्यामाह्वयेद्यं वा गृहपतिर्ब्रूयात्तस्मिन्त्समुपहवमिष्ट्वा समिधोऽभ्यादधति ॥२५॥ ब्राह्मणम् ॥११ [६. ९.] ॥ पञ्चमः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या१२६ ॥ ॥ षष्ठोऽध्यायः [३०.] ॥ ॥ अस्मिन्काण्डे कण्डिकासंख्या६४८ ॥ ॥

इति माध्यन्दिनीये शतपथब्राह्मणे ग्रहनाम चतुर्थं काण्डं समाप्तम् ॥४॥

प्रकार वह मानुषी वाणी के लिए कल्याण चाहता है ।।१९।।

अब वाकोवाक्य के रूप में ब्रह्मोद्य पढ़ते हैं । उनको सभी कुछ प्राप्त हो जाता है, सब जीत लिया जाता है जो सत्र में बैठते हैं । इन्होंने यजुओं से यज्ञ किया, इतना उनको मिल गया, इतना प्राप्त हो गया । उन्होंने ऋचाएँ पढ़ीं, उनको इतना मिल गया, इतना प्राप्त हो गया । उन्होंने साम से स्तुति की, उनको इतना मिल गया, इतना प्राप्त हो गया । परन्तु इतना नहीं मिला, इतना नहीं प्राप्त हुआ अर्थात् वाकोवाक्य या ब्राह्मण, इसको वे इसके द्वारा प्राप्त करते हैं ।।२०।।

औदुम्बरी के पास पहुँचकर वे वाणी को रोक लेते हैं । जो वाणी से यज्ञ करते हैं वे यज्ञ को दुह लेते या चूस लेते हैं, क्योंकि वाणी यज्ञ है । इससे पहले हर एक वाणी को रोककर बैठता है अर्थात् उसको प्रबल बनाता है । इस रुकी हुई और प्रबल हुई वाणी के द्वारा वे अन्त के दिन यज्ञ करते हैं । परन्तु इस वाकोवाक्य में समस्त वाणी थक जाती है । वे सब इस वाणी को चुप होकर शक्तिशाली करते हैं । इस प्रकार प्रबल और शक्ति-सम्पन्ना वाणी से वे अतिरात्र करते हैं ।।२१।।

औदुम्बरी को छूकर बैठते हैं । अन्न शक्ति है । उदुम्बर शक्ति है । उदुम्बर से ही वे वाणी को शक्ति देते हैं ।।२२।।

सूर्यास्त पर वे सदस् से पूर्व की ओर बाहर आते हैं, और हविर्धान के सामने आहवनीय के पीछे बैठते हैं । जब वे चुपचाप बैठे होते हैं तो प्रतिप्रस्थाता उनके चारों ओर वस्तीवरी जलों को फिराता है । जिस कामना के लिए उन्होंने यह सत्र रचा उसी कामना से उनको इस वाणी को छोड़ना चाहिए (अर्थात् मौन तोड़ते समय उसी समय बात को कहना चाहिए) । क्योंकि पहले समय में ऋषियों ने भिन्न-भिन्न कामनाओं से सत्र किये थे अर्थात् यह हमारी इच्छा है, हमको यह मिले इत्यादि । और यदि उनकी कामनाएँ अनेक हों अर्थात् लोक की कामना, सन्तान की कामना या पशुओं की कामना, तो —।।२३।।

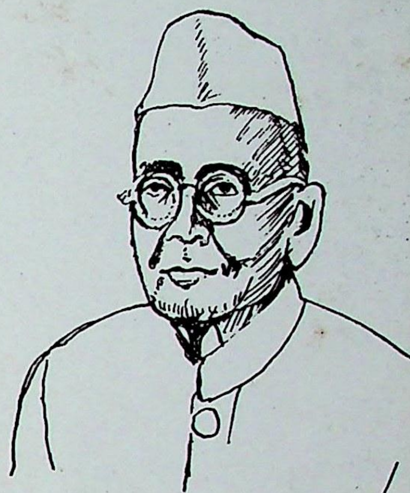
'भूः भुवः स्वः' कहकर मौन तोड़ना चाहिए । इस प्रकार सत्य के द्वारा वाणी को शक्तिशाली बनाते हैं, और इसी शक्तिशाली वाणी से आशीर्वाद देते हैं । "सुप्रजाः प्रजाभिः स्याम" (यजु० ८।५३) —"हम सन्तानवाले हों ।" इससे सन्तान की प्रार्थना करते हैं । "सुवीराः वीरैः" (यजु० ८।५३)—"वीर पुरुषों से युक्त हों ।" इससे वीर पुरुषों के लिए प्रार्थना करते हैं । "सुपोषाः पोषैः" (यजु० ८।५३)–"सम्पत्तिशाली हों ।" इससे सम्पत्ति के लिए प्रार्थना ।।२४।।

अब गृहपति सुब्रह्मण्या को पढ़ता है, या वह पुरुष जिसको गृहपति नियुक्त कर दें । कुछ लोग सुब्रह्मण्या को पृथक्-पृथक् पढ़ते हैं, परन्तु गृहपति को ही सुब्रह्मण्या पढ़नी चाहिए या उसको जिसे गृहपति आज्ञा दे । (अतिरात्र भोज में) निमंत्रण की इच्छा करके वे आग पर समिधाएँ रख देते हैं ।।२५।।

माध्यन्दिनीय शतपथब्राह्मण की श्रीमत् पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय कृत 'रत्नकुमारी-दीपिका' भाषा व्याख्या का ग्रहनाम चतुर्थ काण्ड समाप्त हुआ ।

चतुर्थ काण्ड

प्रपाठक	कण्डिका-संख्या
प्रथम [४. २. १]	१३६
द्वितीय [४. ३. ३]	१३९
तृतीय [४. ४. ४]	१२२
चतुर्थ [४. ५. ८]	१२५
पञ्चम [४. ६ ९]	१२६
योग	६४८
पूर्व के काण्डों का योग	२२४६
पूर्णयोग	२८९४



पं. गंगाप्रसाद उपाध्याय

जन्म 6 दिसम्बर 1881 ई0, मृत्यु 29 अगस्त 1968; जन्मशती समारोह सितम्बर 1981; प्राइवेट परीक्षा से प्रयाग विश्वविद्यालय से एम.ए. (अंग्रेजी) 1912; द्वितीय एम.ए. (दर्शन) 1923, 1918–39 डी.ए.वी. हाई स्कूल प्रयाग में प्रधानाध्यापक, हिन्दी लेखन कार्य 1908 से आरम्भ। हिन्दी शेक्सपियर 1913 (प्रथम संस्करण) द्वितीय संस्करण (1985) मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्रसिद्ध ग्रन्थ आस्तिकवाद पर (1931) ऐतरेय ब्राह्मण और शतपथ ब्राह्मण के हिन्दी अनुवाद, जीवात्मा, अद्वैतवाद, जीवन–चक्र, मनुस्मृति, आर्य स्मृति, आर्योदय काव्यम् और अनेक हिन्दी अंग्रेजी ग्रन्थों के रचयिता। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के महामंत्री (1946–1951) सत्यार्थ प्रकाश का अंग्रेजी अनुवाद, दयानन्द फिलोसॉफी आदि ग्रन्थों के रचयिता अनेक साहित्यिक पुरस्कारों से सम्मानित।

विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द

नई सड़क, दिल्ली



विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द

४४०८, नई सड़क, दिल्ली - ६